जीवराज जैन ग्रन्थमाला, हिन्दी विभाग पुष्प २७

श्रावकाचार संग्रह

(रत्नकरण्डक आदि ९ श्रावकाचारों का संग्रह)

(भाग १)

●

सम्पादक एवं अनुवादक

स्व. पं. हीरालाल सिद्धान्तालंकार, न्यायतीर्थ

प्रकाशक

अरविंद रावजी

अध्यक्ष, जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, शोलापुर (महाराष्ट्र)

वी. नि. सं. २५१५)   मूल्य ५० रुपये   (ई सन् १९८८

सस्थापक

जैन संस्कृती संरक्षक संघ, सोलापूर.

ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी

जन्म इ स १८८०　　　　मृत्यू इ. स १९५७

श्री जीवराज जैन ग्रंथमाला

परिचय

सोलापुर निवासी स्व. ब्र जीवराज गौतमचद दोशी कई वर्षो से उदासीन होकर धर्म-कार्यमे अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० मे उनकी प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित संपत्तिका उपयोग विशेषरूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमे करे। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतिया इस बातकी सग्रह की, कि कौनसे कार्यमे सपत्तिका उपयोग किया जाय। स्फुट मनसचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्मकालमे ब्रह्मचारीजीने सिद्धक्षेत्र गजपथ (नाशिक) के शीतल वातावरणमें विद्वानोकी समाज एकत्रित की। और ऊहापोहपूर्वक निर्णयके लिये उक्त विषय प्रस्तुत किया।

विद्वान् सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैनसस्कृति तथा जैनसाहित्यके समस्त अगोके संरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतु **'जैन सस्कृति सरक्षक संघ'** नामक सस्थाकी स्थापना की। उसके लिये रु. ३०,००० के दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढती वई। सन् १९४४ मे उन्होने लगभग दो लाख की अपनी संपूर्णसपत्ति सघको ट्रस्टरूपसे अर्पण की। इसी सघके अंतर्गत 'जीवराज जैन ग्रथमाला' द्वारा प्राचीन प्राकृत-सस्कृत-हिंदी तथा मराठी पुस्तकोका प्रकाशन हो रहा है।

आजतक इस ग्रथमालासे हिंदी विभागमे ४५ पुस्तके, कन्नड विभागमे ३ पुस्तके, तथा मराठी विभागमे ७८ व धवलामे ९ पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है।

प्रस्तुत ग्रथ इस ग्रंथमालाका हिंदी विभागका २७ वाँ पुष्प है।

प्रकाशकीय निवेदन

यह श्रावकाचार सग्रह ग्रथ उपासकाध्ययनागका चरणानुयोगका प्रकाशक अनुपम ग्रथ है। इसमे सब श्रावकाचारोका संग्रह एकत्रित किया है। श्रावक धर्मका स्वरूप क्या है, आत्मधर्मके उपासककी दिनचर्या कैसी होनी चाहिये, परिणामोकी विशुद्धिके लिये क्रमपूर्वक व्रत-सयमका अनुष्ठान नितात आवश्यक है इसका विस्तारपूर्वक विवरण इस ग्रथका पठन-पाठन करनेसे ज्ञात हो सकता है। स्व. श्रीमान् डॉ ए एन. उपाध्ये ने सब श्रावकाचार ग्रथोकी नामावली भेजकर यह ग्रंथ प्रकाशित करनेके लिये मूलप्रेरणा दी इसलिये यह सस्था उनकी कृतज्ञ है।

इस ग्रंथका हिंदी अनुवाद श्री स्व. प. हीरालालजीशास्त्री ब्यावर ने तैयार करके ग्रथ-मालाको जिनवाणीका प्रचार करनेमे सहयोग दिया है, जिसके लिये हम उक्त जैनधर्मसिद्धातके मर्मज्ञ विद्वान्को हार्दिक धन्यवाद समर्पण करते है।

तथा इस ग्रथका मुद्रण कार्य सुचारु रूपसे करनेमे मुद्रण सम्राट सोलापूर के सचालकवर्ग ने सहयोग दिया है इसलिये हम उनका भी आभार मानते है।

अतमे इस ग्रथका पठन-पाठन घर-घरमे होकर श्रावकधर्मकी प्रशस्त तीर्थप्रवृत्ति अखड प्रवाहसे सदैव कायम रहे यह मंगल भावना हम प्रकट करते हैं।

रतनचंद सखाराम

मंत्री, श्री जैनसंस्कृतिसरक्षक सघ

संपादकीय वक्तव्य

आजसे लगभग १० वर्ष पूर्वकी बात है कि इस संस्थाके मानद मंत्री श्रीमान् सेठ बालचंद्र देवचंद्रजी शहाका विचार हुआ कि इस सस्थासे दि जैन सम्प्रदायमे उपलब्ध सभी श्रावकाचारो का सकलन करके प्रकाशित हो तो अभ्यासियोके लिए बहुत उपयोगी रहे। उन्होने अपना अभिप्राय अपने अनन्य सहयोगी स्व डॉ ए एन. उपाध्ये से कहा। डॉक्टर सा. ने एक रूप-रेखा बनाकर आपके पास भेजी। और आपने उसे मेरे पास भेजकर प्रेरणा की कि इस कार्य-भारको आप स्वीकार करे। मै उस समय ऐ पन्नालाल दि जैन सरस्वती भवनका व्यवस्थापक होकर व्यावर आया ही था, इसलिए मैने यह सोचकर इस कार्यको सहर्ष स्वीकार कर लिया कि सरस्वती भवनका विशाल-ग्रथ-सग्रह इस कार्यमे सहायक होगा।

स्व डॉ उपाध्ये सा ने १५ श्रावकाचारोके नाम अपने पत्रमे सुझाये थे। सरस्वती भवनकी ग्रन्थ-सूचीसे कुछ और भी श्रावकाचारोके नाम ज्ञात हुए और मैने उनकी प्रेसकापी करना प्रारम्भ कर दिया।

स्व डॉ उपाध्येने जिस काल-क्रमसे श्रावकाचारोंके सकलनका सुझाव दिया था, उन्हे और नये उपलब्ध श्रावकाचारो के नाम अपने विचार से काल-क्रमसे लिखकर २१ श्रावकाचारोंकी सूची दि २१।४।७१ को श्रीमान् प कैलाशचन्द्रजीके पास बनारस भेजी और कालक्रमका निर्णय चाहा। उन्होने उसी पत्र पर अपना निर्णय देकर यह भी सुझाव दिया कि पद्मनन्दिपचविशतिका, वरागचरित, हरिवंशपुराण आदिमे भी जो श्रावक धर्मका प्रतिपादन किया गया है उसे भी सकलित करके प्रस्तुत सग्रहमे दे दिया जाना अच्छा रहेगा। तदनुसार चारित्रप्राभृत, तत्त्वार्थसुत्रका सप्तम अध्याय, पद्मनन्दिपचविशतिका, पद्मचरित, हरिवश पुराण, वराङ्ग चरित से भी श्रावकाचारका सकलन किया गया। स्व डॉ उपाध्येके सुझाव से यह भी निर्णय किया गया कि जो श्रावकाचार स्वतन्त्ररूपसे निर्मित है, और जो कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा तथा महापुराणके श्रावक धर्मके वर्णन करनेवाले पर्व है उन्हे तो क्रमश काल-क्रमके अनुसार स्थान दिया जावे। शेष जो अन्य ग्रन्थोसे उद्धृत हो, अन्तमे परिशिष्टके रूपसे दिया जावे।

प्रस्तुत सकलनके मुद्रणका निर्णय वर्द्धमान मुद्रणालयमें किया गया और चार वर्ष पूर्व इसकी प्रारम्भिक प्रेसकापी बनारस भेज दी गई। परन्तु वहासे प्रूफ मेरे पास आने-जानेमे समय बहुत लगता था अत तीन वर्षमे लगभग ३० ही फॉर्म छप सके। सस्थाके मानद-मंत्रीजी चाहते थे कि इस वीर निर्वाणशताब्दी पर तो श्रावकाचार-सग्रहका प्रथम भाग प्रकाशित हो ही जाना चाहिए। पर वहा प्रूफ-सशोधन कौन करे, यह समस्या सामने थी। अन्तमें संस्थाके मत्रीजीके परामर्शसे मै बनारस गया और श्री प. महादेवजी व्याकरणाचार्यसे—जो कि प्रूफ-सशोधनके कार्यमे अतिकुशल है—इसे स्वीकार करनेका आग्रह किया। हर्ष है कि उन्होने उसे स्वीकार किया और लगभग आधे भागका उन्होने इस वर्षमे प्रूफ—सशोधन किया, जिससे कि यह प्रथम भाग पाठकोके सम्मुख पहुँच सका है।

प्रस्तुत प्रथम भागमे १. रत्नकरण्डक, २. स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा-गत अंग, ३. महापुराण-गत अंश, ४. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ५. यशस्तिलक-गत अश, ६. चारित्रसार-गत अंश, ७ अमितगति-श्रावकाचार, ८. वसुनन्दिश्रावकाचार और ९. सावयधम्मदोहा, ये नौ श्रावकाचार संकलित है।

द्वितीय भागमे १ सागारधर्मामृत, २. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, ३. गुणभूषण श्रावकाचार, ४. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, ५. धर्मपीयूष श्रावकाचार, ६. व्रतोद्योतन श्रावकाचार, ७. लाटीसंहिता, ८. उमास्वाति श्रावकाचार, ९. पूज्यपाद श्रावकाचार आदि रहेगे।

चारित्र प्राभृत, तत्त्वार्थसूत्र, पद्मचरित आदि से उद्धृत अंश परिशिष्ट में रहेगे।

इस प्रथम भागमे जिन श्रावकाचारोंका संग्रह किया गया है, वे सभी विभिन्न स्थानोसे पूर्व प्रकाशित है किन्तु सभीके मूल पाठोंका संशोधन और पाठ-मिलान ऐ. प. दि. जैन सरस्वती भवनके हस्तलिखित मूल श्रावकाचारोंसे किया गया है। यशस्तिलकगत श्रावकाचार 'उपासका-ध्ययन' के नामसे भारतीयज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है, उसीके आधार परसे केवल श्लोकोका संकलन प्रस्तुत संग्रहमे किया हैं। पूजन सम्बन्धी गद्यभाग एवं कथानकोंका गद्यभाग स्व. डॉ उपाध्येके परामर्श से नही लिया गया है।

इस भागके साथ प्रस्तावना नही दी जा रही हैं। हाँ, दूसरे भागके साथ विस्तृत प्रस्तावना दी जावेगी, जिसमें सकलित श्रावकाचारोंकी समीक्षाके साथ श्रावकाचारका क्रमिक विकास भी दिया जावेगा। तथा संकलित श्रावकाचारोंके कर्त्ताओंका परिचय भी दिया जावेगा। सम्पादनमें प्राचीन प्रतियोका उपयोग किया गया है, उनका भी परिचय दूसरे भागमे दिया जायेगा। दूसरे भागमें ही समस्त श्रावकाचारोके श्लोकोंकी अकारादि-अनुक्रमणिका भी दी जायगी, एव अन्य आवश्यक पारिभाषिक शब्दकोष आदि भी परिशिष्ट मे ही दिये जावेगे।

अन्तमें मै संस्थाके मानद मंत्री, स्व डॉ उपाध्ये और श्रीमान् प. कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्रीका बहुत आभारी हूँ, जिन्होने इस प्रकाशनके लिए समय-समय पर सत्परामर्श दिया है। श्री. प. महादेवजी चतुर्वेदीका भी आभारी हूँ कि उन्होने प्रूफ-सशोधनका भार स्वीकार करके प्रथम भागको शीघ्र प्रकाशित करनेमे सहयोग दिया है। शुद्ध और स्वच्छ मुद्रणके लिए वर्द्धमान मुद्रणालयका भी आभारी हूँ।

ऐ. पन्नालाल दि. जैन सरस्वती }
२।२।७६ }

—हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशकीय निवेदन

चरणानुयोगके अनेक श्रावकाचारोंका संग्रह रूप यह ग्रंथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इसका प्रथमसंस्करण अल्प कालमें समाप्त होकर यह द्वितीय संस्करण ही इसकी उपयोगिता को सूचित करता है। इसका पठन पाठन कर जिनवाणी के प्रचार में मुमुक्षु पाठक सहयोग देवें यही नम्र प्रार्थना है।

मंत्री
रतनचंद सखाराम
जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर

श्रावकाचार-संग्रह

की

विषय-सूची

रत्नकरण्डश्रावकाचार

नम श्रीवर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने । सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ।। १
देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम् । ससारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।। २
सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदु । यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ।। ३
श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् । त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।। ४
आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञनाऽऽगमेशिना । भवितव्य नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ।।५
क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मया न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्त स प्रकीर्त्यते ।। ६
परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमल कृती । सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्त सार्व. शास्तोपलाल्यते ।।७
अनात्मार्थं विना रागै शास्ता शास्ति सतो हितम् ध्वनन् शिल्पिक रस्पर्शान्मुरज किमपेक्षते ।
आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम । तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापयघट्टनम् ।। ९

जिन्होने अपनी आत्मासे राग-द्वेषादिरूप पापमलको सर्वथा धो डाला है और जिनकी केवल-ज्ञानरूपी विद्या अलोकाकाश-सहित त्रिलोकोंको जानने के लिए दर्पण के समान है,ऐसे श्री वर्द्ध-मान् स्वामीके लिए नमस्कार हो ।।१।। मै (समन्तभद्र) कर्मो के नाश करने वाले उस यथार्थ धर्मका उपदेश करता हूँ जो कि जीवोको ससारके दु खोसे निकाल कर उत्तम सुखमे धारण करता है ।।२।। धर्मके ईश्वर तीर्थंकरादि देवोने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा है। इनके प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ससारके कारण है ।। ३ ।। **सम्यग्दर्शन का स्वरूप**-सत्यार्थ आप्त, आगम और गुरुका तीन मूढतासे रहित, आठ स्मय (मद) से रहित और आठ अङ्गेसे सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ।। ४ ।। **सत्यार्थ आप्त (देव) का लक्षण**–जिसनें राग-द्वेषादि दोषोका विनाश कर दिया है, जो सर्व चराचर जगत्का जानने वाला सर्वज्ञ है और वस्तु-स्वरूपके प्रतिपादक आगमका स्वामी अर्थात् मोक्ष मार्गका प्रनेता है वही पुरुष नियमसे सच्चा आप्त होनेके योग्य है। अन्यथा आप्तपणा हो नही सकता । अर्थात् जो वीतरागी,सर्वज्ञ और हितोपदेशी नही है ऐसा पुरुष कभी सच्चा देव नही हो सकता हैं ।।५।। **निर्दोष वीतरागी आप्त का लक्षण**–जिसके भूख, प्यास, जरा, रोग, जन्म, मरण भय, मद, राग, द्वेष, मोह और 'च' शब्द से सूचित चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद, प्रस्वेद और खेद ये दोष नही है, वह पुरुष वीतरागी आप्त कहा जाता है ।।६।। ऐसे ही आप्तको परमेष्ठी, परज्योति, वीतराग, विमल, कृती, सर्वज्ञ, आदि-मध्य-अन्तसे रहित, अनादि-अनन्त और सार्व सबका हितैषी) शास्ता या मोक्षमार्गप्रणेता कहते है ।।७।. वह शास्ता विना किसी अपने प्रयोजनके केवल निस्वार्थ भावसे रागके विना सन्त जनोको हितका उपदेश देता है । बजाने वाले शिल्पीके हाथके स्पर्शसे ध्वनि करता हुआ मृदग किसी से क्या अपेक्षा रखता है ? ।।८।। भावार्थ–जैसे बजता हुआ मृदग शिल्पीसे या अन्य किसीसे कोई अपेक्षा नही रखता है। इसी प्रकार वीतराग पुरुष भी भव्योको उपदेश देते हुए किसीसे कुछ अपेक्षा नही रखते है । जैसे मृदगका स्वभाव बजनेका है, वह बजाने वालेके हाथका निमित्त पाते ही बजने लगता है, इसी प्रकार शास्ताका स्वभाव उपदेश देनेका है, भव्य जीवोका निमित्त पाते ही उसके द्वारा दिव्य उपदेश प्रकट होने लगता है। **सत्यार्थ आगम (शास्त्र) का लक्षण**–जो आप्तके द्वारा उपदिष्ट हो, वादी-प्रतिवादीके द्वारा जिसका उल्लघन नहीं किया जा सके, प्रत्यक्ष और अनु-

**विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह. । ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १०
इदमेवेदृशं चैव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा । इत्यकम्पाऽऽयसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥११
कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये । पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥१२
स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते । निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥१३
कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः । असम्पृक्तिरनुत्कीर्त्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥१४
शुद्धं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् । वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥१५
दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलै. । प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमच्यते ॥१६
स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथाऽपेतकैतवा । प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥१७
अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् । जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥१८
तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमती स्मृता । उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥१९**

मानादिक प्रमाणोसे जिसमे कोई विरोध नही आता हो, जो प्रयोजन भूत तत्त्वोका उपदेश करता हो, सर्व प्राणियोंका हितकारक हो और कुमार्गका विनाशक हो, उसे सत्यार्थ शास्त्र या आगम कहते है ॥९॥ **सत्यार्थ गुरुका लक्षण-** जो पचेन्द्रियोंकी आशाके वशसे रहित हो, खेती-पशुपालन आदि आरम्भ से रहित हो, धन-धान्यादि परिग्रहसे रहित हो, ज्ञानाभ्यास, ध्यान-समाधि और तपश्चरणमे निरत हो, ऐसा तपस्वी निर्ग्रन्थ गुरु प्रशसनीय होता है ॥१०॥ **अब सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका वर्णन करते हुए सर्वप्रथम निःशंकित अंगका लक्षण कहते हैं-** तत्त्व अर्थात् वस्तुका स्वरूप यही है, ऐसा ही है, इससे भिन्न नही और न अन्य प्रकार से संभव है. इस प्रकार लोह-निर्मित खड्ग् आदि पर चढे हुए पानीके सदृश सन्मार्गमें संशय-रहित अकम्प अविचल रुचि या श्रद्धाको निःशंकित अग कहते है ॥११॥ दूसरे निःकांक्षित अङ्गका लक्षण-समारका सुख कर्मके अधीन है, अन्त-सहित है, जिसका उदय दुःखोसे अन्तरित है, अर्थात्, सुख-काल के मध्यमे भी दुःखोंका उदय आता रहता हैं, और पापका-बीज है, ऐसे इन्द्रियज सुखमे आस्था और श्रद्धा नही रखना, अर्थात् संसारके सुखकी आकांक्षा नही करना, यह निःकांक्षित अङ्ग माना गया है ॥१२॥**तीसरे निर्विचिकित्सा अङ्गका लक्षण**-स्वभावसे अपवित्र किन्तु रत्नत्रयके धारण करनेसे पवित्र ऐसे धार्मिक पुरुषो के मलिन शरीरको देखकर भी उसमे ग्लानि नही करना और उनके गुणोमें प्रीति करना निर्विचिकित्सा अङ्ग माना गया है ॥१३॥ **चौथे अमूढदृष्टि अंगका लक्षण**-दुःखोंके कारणभूत कुमार्गमे और कुमार्ग पर स्थित पुरुष मे मनसे सम्मति नहीं देना, कायसे सराहना नही करना और वचनसे प्रशंसा नही करना अमूढदृष्टि अंग कहा जाता है ॥ १४ ॥ **पांचवे उपगूहन अंगका लक्षण**-स्वय शुद्ध निर्दोष सन्मार्गकी बाल (अज्ञानी) और अशक्त जनोके आश्रयसे होने वाली निन्दाको जो दूर करते हैं, उसे ज्ञानी जन उपगूहन अंग कहते हैं ॥१५॥ **छठे स्थितीकरण अंगका लक्षण** सम्यग्दर्शन-से अथवा सम्यक्-चरित्रसे चलायमान होनेवाले लोगोका धर्मवत्सल जनोंके द्वारा पुनः अवस्थापन करनेको प्राज्ञ पुरुष स्थितीकरण अंग कहते है ॥१६॥ **सातवे वात्सल्य अंगका लक्षण**- अपने साधर्मी समाजके प्रति सदभावसहित, छल-कपट-रहित यथोचित स्नेहमयी प्रवृत्तिको वात्सल्य अग कहते है ॥ १७ ॥ **आठवे प्रभावना अंगका लक्षण**- अज्ञानरूप अन्धकारके प्रसारके यथासंभव उपायोके द्वारा दूर करके जिन शासनके माहात्म्यको जगत्में प्रकाशित करना प्रभावना अंग है ॥ १८ ॥ उपर्युक्त आठ अंगोंमे से प्रथम अग मे अञ्जन चौर, दूसरे अंगमे अनन्तमती, तीसरे अंगमे

ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः । विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्षतां गतौ ॥२०
नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम् । न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥२१
आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताऽश्मनाम् । गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥२२
वरोपलिप्सयाऽऽशावान् रागद्वेषमलीमसाः । देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥२३
सग्रन्थाऽऽरम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम् । पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥२४
ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः । अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥२५
स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः । सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥२६

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् । अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ।
सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् । देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ।
श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात् । कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥२९

उद्दायन राजा - चौथे अगमे रेवती रानी पाचवे अगमे जिनेन्द्रभक्त सेठ, छठे अगमे वारिषेण राजकुमार, सातवे अंगमे विष्णुकुमारमुनि और आठवे अगमे अज्रकुमारमुनि इस युगमे प्रसिद्धिको प्राप्त हुए है। १९-२०॥ उक्त आठ अगोमेसे किसीभी अगसे हीन सम्यग्दशन संसारकी परम्पराको छेदनेके लिए समर्थ नही है। जैसे कि एक अक्षरसे भी न्यून मत्र विषकी वेदनाको नष्ट करनेके लिए समर्थ नही होता है। अत: आठो अगोके साथ ही सम्यग्दर्शनका धारण आवश्यक है ॥२१॥ अब तीन मूढ़ताओमेसे पहले लोकमूढ़ता कहते है-धर्म बुद्धिसे गगादि नदियो और समुद्रमे स्नान करना, वालु और पत्थरोका ऊँचा ढेर लगाना, पर्वतसे गिरना, अग्निमे प्रवेश करना, तथा च शब्दसे सूचित इसी प्रकारके अन्य कार्य-सूर्यको अर्घ चढ़ाना, संक्रान्तिके समय तिलदान करना आदिको लोकमूढता कहा जाता है ॥२२॥ दूसरी देवमूढताका लक्षण-आशा-तृष्णाके वशीभूत होकर वर पानेकी इच्छासे राग-द्वेषसे मलिन देवताओकी जो उपासनाकी जाती है वह देवमूढता कही जाती हैं॥ २३॥ तीसरी पाषण्डिमूढ़का लक्षण-परिग्रह, आरम्भ और हिंसासे युक्त, ससारके गोरखधन्धे रूप भंव-रोके मध्य पडे हुए पाखण्डी लोगोका आदर-सत्कार करना पाषण्डिमूढ़ता जानना चाहिए॥२४॥ अब मदोका वर्णन किया जाता है-- ज्ञान, पूजा, कुल, जाति बल, ऋद्धि, तप और शरीर, इन आठ बातोका आश्रय लेकर अभिमान करनेको गर्व-रहित आचार्य स्मय या मद कहते है॥२५॥ अभिमान-युक्त चित्तवाला जो पुरुप मदसे अन्य धर्मात्मा जनोका तिरस्कार करता है, वह अपने ही धर्मका अपमान करता है। क्योंकि धार्मिकजनोके विना धर्म निराश्रित नही रह सकता हैं॥ २६॥ सम्यग्दृष्टि विचारता है कि यदि पापके आस्रवका निरोध है, तो फिर मुझे अन्य सम्पदामे क्या प्रयोजन है। और यदि पापका आस्रव हो रहा है, तो भी मुझे अन्य सम्पत्तिसे क्या प्रयो-जन है॥२७॥ भावार्थ- पापका निरोध होनेपर ऋद्धिबल आदि सम्पदा स्वय प्राप्त होती है, अतः उसका अहकार करना व्यर्थ है। और जब पाप का आस्रव हो रहा है, तब प्राप्त वैभवादिका अहकार करनेपर भी उनका विनाश होगा और दुर्गतियोमे गमन करना पड़ेगा, अत. उस दशामे भी अन्य सम्पदाओका गर्व करना व्यर्थ है। गणधरदेव सम्यग्दर्शनसे सयुक्त चाण्डाल-पुत्रको भी भस्म(राख) से आच्छादित और अन्तरंगमे तेजसे युक्त अगारके समान देव या आराध्य कहते है॥ २८॥ धर्मके प्रभावसे कुत्ता भी देव हो जाता है और पापके उदयसे देव भी कुत्ता बन जाता है। इसलिए जीवोके धर्मसे अन्य और कौन सी कौन सी सम्पत्ति श्रेष्ट हो सकती? नहीं हो

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवाऽऽगमलिङ्गिनाम् । प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥३०
दर्शनं ज्ञान-चारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते । दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते ॥३१
विद्या-वृत्तस्य सम्भूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः । न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥३२
गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् । अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥३३
न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि । श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥३४

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-तिर्यङ्-नपुंसक-स्त्रीत्वानि ।
दुष्कुल-विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ ३५ ॥
ओजस्तेजो विद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः ।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥ ३६ ॥
अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः ।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥ ३७ ॥
नवनिधि-सप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्त्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥ ३८ ॥
अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः ।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥ ३९ ॥

सकती है, अतः धर्म का ही आचरण करना चाहिए और अहंकार नहीं करना चाहिए ॥ २९ ॥ सम्यग्दृष्टि जीवोंको भय, आशा, स्नेह और लोभसे कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओंकी वन्दना और विनय नही करना चाहिए ॥३०॥ सम्यग्दर्शनकी ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा प्रधानतासे उपासना की जाती हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शनको मोक्षमार्गमे कर्णधार (खेवटिया) कहा जाता हैं ॥ ३१ ॥ जैसे बीजके अभावमे वृक्षकी उत्पत्ति स्थिति, वृद्धि और फलकी प्राप्ति असभव है, उसी प्रकार सम्यक्त्वके अभावमे ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलकी प्राप्ति नही होती है ॥ ३२ ॥ सम्यग्दर्शका अवरोध करने वाले मोहसे अर्थात् दर्शन मोहनीय कर्मसे रहित गृहस्थ मोक्षमार्गपर अवस्थित है, किन्तु दर्शनमोहवाला मुनि मोक्षमार्गपर स्थित नहीं हैं। अतएव मोहवान् मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ हैं॥३३॥ सम्यग्दर्शनके समान तीन काल और तीन लोकमे प्राणियोंकी कल्याण-कारण अन्य कोई वस्तु नही है और मिथ्यात्वके समान अन्य कोई अकल्याण-कारक नही हैं ॥३४॥ अव्रती भी शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नारकी, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री पर्यायको प्राप्त नही होते है। तथा खोटे कुलको, विकल अंगको, अल्प आयुको और दरिद्रताको भी प्राप्त नही होते हैं ॥२५॥ सम्यग्दर्शनसे पवित्र जीव यदि मनुष्योमे उत्पन्न होते हैं, तो ओज (उत्साह), तेज (प्रताप), विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि (उन्नति) विजय और वैभवसे सयुक्त, महान् कुलोमें उत्पन्न होने वाले, महान् पुरुषार्थी, मानव-तिलक या मनुष्य-शिरोमणि होते हैं ॥ ३६ ॥ सम्यग्दर्शनसे विशिष्ट जिनेन्द्र भक्त पुरुष यदि स्वर्गमे उत्पन्न होते है तो अणिमा-महिमादि आठ ऋद्धि रूप गुणोकी प्राप्तिसे सदा प्रमुदित और उत्कृष्ट शोभा से संयुक्त होकर देवो और अप्सराओंकी सभामे चिरकाल तक आनन्दका उपभोग करते है ॥३७॥ निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव नौ निधि और चौदह रत्नोंके स्वामी और सर्वभूमिके अधिपति होकर सुदर्शन चक्रको चलानेमें समर्थ होते हैं और नमस्कार करते हुए क्षत्रिय राजाओसे मुकुटोकी

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम् ।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥ ४० ॥
देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥ ४१ ॥

इति श्रीस्वामीसमन्तभद्राचार्य-विरचिते रत्नकरण्डकाऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने
सम्यग्दर्शनवर्णन नाम प्रथममध्ययनम् ॥ १ ॥

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् । निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२
प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् । बोधि-समाधिनिदानं बोधति बोधः समीचीनः ॥४३
लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च । आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥४४

मालाओसे उनके चरण व्याप्त रहते है ॥३८॥ सम्यग्दर्शनके द्वारा जिन्होने तत्त्वार्थका भली-भाँतिसे निश्चय किया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव अमरपति (ऊर्ध्व लोकके स्वामी इन्द्र) असुरपति (अधो लोकके स्वामी धरणेन्द्र) नरपति (मनुष्यलोकके स्वामी चक्रवर्ती) और यमधरपतियों (संयम-धारक साधुओके स्वामी गणधर देवो) से जिनके चरम-कमल पूजे जाते हैं, जो लोकको शरण देनेके योग्य है ऐसे धर्मचक्रके धारक तीर्थंकर होते हैं ॥३९॥ सम्यग्दर्शनकी शरण लेने वाले जीव अजर (जरा-रहित अरुज (रोग-रहित) अक्षय (अविनाशी) अव्याबाध (बाधा-रहित) शोक-भय और शकासे रहित, चरमसीमाको प्राप्त सुख और ज्ञानके वैभव वाले ऐसे निर्मल शिव (परम निःश्रेयसरूप मोक्ष) को प्राप्त होते है ॥ ४० ॥ इस प्रकार जिनेन्द्र देवकी भक्ति करनेवाला सम्यग्दृष्टि भव्य जीव अपरिमित प्रमाणवाली देवेन्द्र-समूह की महिमा को पाकर, मुकुटबद्ध राजाओके शिरोंसे अर्चनीय राजेन्द्रचक्र चक्रवर्तीके पदको पाकर और सर्व लोकको अपना उपासक बनाने वाले धर्मेन्द्रचक्र रूप तीर्थंकर पदको पाकर अन्तमें शिवपदको प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

इस प्रकार स्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचित रत्नकरण्डक नामके उपासकाध्ययनमे
सम्यग्दर्शनका वर्णन करनेवाला प्रथम अध्ययन समाप्त हुआ ।

-: o :-

सम्यग्ज्ञानका लक्षण- जो न्यूनतासे रहित, अधिकतासे रहित, सन्देहसे रहित और विपरीततासे रहित वस्तुस्वरूपको यथार्थ जानता है, उसे आगमके ज्ञाता पुरुष 'सम्यग्ज्ञान' कहते हैं ॥ ४२ ॥ यद्यपि सम्यग्ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि मन पर्यय और केवलज्ञान ये पाँच भेद हैं, तथापि ग्रन्थकार तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए उपयोगी समझकर श्रुतज्ञानके चार अनुयोगोका वर्णन करते हुए सबके पहले प्रथमानुयोगका स्वरूप कहते है- पुण्यरूप अर्थका व्याख्यान करने वाले चरितको, पुराणको तथा बोधि-समाधिके निधानभूत कथा-वर्णनको सम्यग्ज्ञान प्रथमानुयोग जानता है ॥४३॥ भावार्थ- एक पुरुषके कथानकको चरित्र कहते है । अनेक पुरुषोके कथानकोके वर्णन करनेको पुराण कहते है । आज तक नही प्राप्त हुए ऐसे सम्यग्दर्शनादि गुणोकी प्राप्तिको बोधि कहते है और प्राप्त हुए रत्नत्रयकी भलिभाँतिसे रक्षा करते हुए उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि करने को समाधि कहते है । धर्मध्यान और शुक्लध्यान भी समाधि कहलाते है । इस प्रकार पुण्य-वर्धक चरित और पुराणोको, तथा धर्म-वर्धक बोधि-समाधिके वर्णन करनेवाले शास्त्रो

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्ति-वृद्धि-रक्षाङ्गम । चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ।।४९
जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च । द्रव्यानुयोगदीप· श्रुतविद्याऽऽलोकमातनुते ।.४६

इति श्रीस्वामीसमन्तभद्राचार्य-विरचिते रत्नकरण्डकाऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने सम्यग्दर्शनवर्णन नाम द्वितीयमध्ययनम् ।। १ ।।

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञान. । रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधु ।।४७
रागद्वेषनिवृत्तेर्हिसादिनिवर्तना कृता भवति । अनपेक्षितार्थवृत्ति· क पुरुषः सेवते नृपतीन् ।।४८
हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च । पापप्रणालिकाभ्यो विरति सज्ञस्य चारित्रम् ।।४९
सकलं विकलं चरणं तत्सकल सर्वसगङ्विरतानाम् । अनगाराणां विकल सागाराणां ससङ्गानाम्।।५०
गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु-गुण-शिक्षाव्रतात्मक चरणम् । पच त्रिचतुर्भेदं त्रय यथासख्यमाख्यातम् ।.५१
प्राणातिपात-वितथव्याहार-स्तेय-काम-मूर्छेभ्य । स्थूलेभ्य पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति।।५२

को प्रथमानुयोग कहते है। धर्मसे अनभित पुरुषको सर्वप्रथम उपयोगी होनेसे इसे प्रथमानुयोग कहा जाता है। दूसरे करणानुयोगका स्वरूप-जो लोक और अलोकके विभागको कालके परिवर्तनका और चारो गतियोके वर्णनको दर्पणके समान जानता है, उसे सम्यग्ज्ञान करणानुयोग कहता हैं ।। ४४ ।। तीसरे चरणानुयोगका स्वरूप-गृहस्थ और मुनियोंके चारित्रको उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षाके कारणभूत शास्त्रको सम्यग्ज्ञान चरणानुयोग कहता है ।।४४।। जीव-अजीव तत्त्वको, पुण्य-पापको और बन्ध-मोक्षको प्रकाशित करनेवाला द्रव्यानुयोग रूप दीपक है, जो कि श्रुतज्ञान के प्रकाशको विस्तृत करता है।। ४६।। भावार्थ-लोक युगपरिवर्तन आदिके वर्णन करनेको, करणानुयोग, मुनि-श्रावकके चारित्र वर्णन करनेको चरणानुयोग और षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व एव नव पदार्थो के वर्णन करनेको द्रव्यानुयोग कहते हैं ।

इस प्रकार स्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचित रत्नकरण्डक नामके उपासकाध्ययनमे सम्यग्दर्शनका वर्णन करनेवाला दूसरा अध्ययन समाप्त हुआ ।

—: ० :—

अब आचार्य सम्यक् चारित्रका वर्णन करते है- दर्शनमोहरूप अन्धकारके दूर होनेपर सम्यग्दर्शनके लाभसे जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है, ऐसा साधु पुरुष राग और द्वेषकी निवृत्तिके लिए चारित्रको स्वीकार करता है ।।४७।। क्योकि राग और द्वेपकी निवृत्तिसे हिंसा आदि पापोंकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है। धनकी अपेक्षासे रहित ऐसा कौन पुरुष है, जो राजाओकी सेवा करता हो? भावार्थ- धनकी इच्छा या सगके बिना कोई किसीकी सेवा नही करता है उसी प्रकार राग-द्वेषके विना कोई भी पुरुष हिंसा आदि पापोंको भी नही करता है ।। ४८ ।। सम्यक् चारित्रका स्वरूप-पापोके आनेके द्वार-स्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन-सेवन और परिग्रहसे विरक्त होना सम्यग्ज्ञानी पुरुषका चारित्र है, अर्थात् पाँच पापोके परित्यागको सम्यक् चारित्र कहते हैं ।।४९।। वह चारित्र दो प्रकारका है-सकलचारित्र और विकलचारित्र । सर्व प्रकारके परिग्रहसे रहित मुनिजनोके सकलचरित्र होता है और परिग्रह-सहित गृहस्थोके विकलचारित्र होता है ।। ५० ।। अब आचार्य विकलचारित्रका वर्णन करते हैं- गृहस्थोके विकलचारित्र अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतरूप है । ये तीनो यथा क्रमसे पाँच, तीन और चार भेदवाले कहे गये है ।। ५१ ।। अणुव्रतका स्वरूप-स्थूल, प्राण घातसे, स्थूल असत्य-भाषणसे, स्थूल चोरीसे स्थूल

सङ्कल्पात् कृत-कारित-मननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान् । न हिनस्ति यत्तदाहुःस्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः
छेदन-बन्धन-पीडनमतिभारारोपणं व्यतीचारा । आहारवारणापि च स्थूलवधाद्-व्युपरतेःपञ्च ।।५४

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे ।
यत्तद्वदन्ति सन्त स्थूलमृषावादवैरमणम् ।। ५५
परिवाद-रहोऽभ्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरण च ।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमा पञ्च सत्यस्य ।। ५६
निहित वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम् ।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ।। ५७
चौर प्रयोग चौरार्थादान-विलोप-सदृशसम्मिश्राः ।
हीनाधिकविनिमानं पञ्चाऽस्तेये व्यतीपाताः ।। ५८
न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् ।
सा परदारनिवृत्ति स्वदारसन्तोषनामापि ।। ५९
अन्यविवाहाकरणानङगक्रीडाविटत्वविपुलतृषः ।
इत्वरिकागमन चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ।। ६०

काम-वनसे और स्थूल ममता-भावरूप मूर्च्छासे, इन पाँच स्थूल पापोसे विरक्त होना, अर्थात् स्थूल पापोका त्याग करना अणुव्रत कहलाता है ।। ५२ ।। **अहिंसाणुव्रतका स्वरूप-** मन वचन काय इन तीनो योगोके सकल्पसे, कृत कारित और अनुमोदनासे जो त्रसजीवोंको नही मारता है, उसे धर्ममे निपुण ज्ञानियोने स्थूल हिंसासे विरमणरूप अहिंसाणुव्रत कहा है ।।५३।। इस अहिंसाणु व्रतके पाँच अतीचार (दोष) हैं- पशु-पक्षी आदि जीवोके अंगोका छेद करना रस्सी आदिसे बाँधना, डडे आदिसे पीडा देना, शक्तिसे अधिक भार लादना और उनके आहार(खान-पान)का रोक देना । ऐसे कार्य करनेसे अहिंसाणु व्रतमें दोष लगता है ।। ४५ ।। **सत्याणु व्रतका स्वरूप--** जो लोक-विरुद्ध, राज्य-विरुद्ध एव धर्म-विघातक ऐसी स्थूल झूठ न तो स्वयं बोलता है और न दूसरोसें बुलवाता है, तथा दूसरेकी विपत्तिके लिए कारणभूत सत्यको भी न स्वय कहता है और न दूसरोसे कहलवाता हैं, उसे सन्तजन स्थूल मृषावादसे विरमण अर्थात् सत्याणुव्रत कहते है ।.५५।। **इस सत्याणुव्रतके पाच अतीचार है**-दूसरेकी निन्दा करना, दूसरेकी एकान्त या गुप्त बातको प्रकट करना, चुगली खाना, नकली दस्तावेज आदि लिखना और दूसरेकी धरोहर अपहरण करनेवाले वचन बोलना ।। ५६ ।। **अचौर्याणुव्रतका स्वरूप-** दूसरेकी रखी हुई, गिरी हुई, भूली हुई वस्तुको और विना दिए धनको जो न तो स्वय लेता है और न उठाकर तुसरेको देता है, उसे स्थूल चोरीसे विरक्त होने रूप अचोर्याणुव्रत कहते हैं ।।५७ । **इस अणुव्रतके भी पाँच अतीचार है**-किसीको चोरीके लिए भेजना, चोरीकी वस्तुको लेना, राज्य-नियमोका उल्लंघन करना, बहुमूल्य वस्तुमे समान रूपवाली अल्प मूल्यकी वस्तु मिलाकर वेचना और देनेके लिए कम और लेनेके लिए अधिक नाप-तौल करना ।। ५८ ।। **ब्रह्मचार्याणुव्रतका स्वरूप-** जो पापके भयसे पराई स्त्रियोके पास न तो स्वमं जाता है और न दूसरोंको भेजता है, वह परदार-निवृत्ति अथवा स्वदारसन्तोष नामका ब्रम्हचर्याणुव्रत हैं ।। ५९ ।। इस ब्रम्हचर्यव्रतके भी पाँच अतीचार है--

धन-धान्यादिग्रन्थ परिमाय ततोऽधिकेषु नि.स्पृहता ।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥ ६१ ॥
अतिवाहनातिसंग्रह-विस्मय-लोभातिभारवहनानि ।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ॥ ६२ ॥
पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणा. फलन्ति सुरलोकम् ।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीर च लभ्यन्ते ॥ ६३ ॥

मातङ्गो धनदेवश्च वारिषेणस्तत. परः । नीली जयश्च सम्प्राप्ता. पूजातिशयमुत्तमम् ॥ ६४ ॥
धनश्री-सत्यघोषौ च तापसाऽऽरक्षकावपि । उपाख्येयास्तथा श्मश्रु नवनीतो यथाक्रमम् ॥ ६५ ॥
मद्य-मांस-मधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् । अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ ६६ ॥

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचिते रत्नकरण्डकाऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने
अणुव्रतवर्णन नाम तृतीयमध्ययनम् ॥ ३ ॥

दूसरोका विवाह कराना, काम-सेवनके अङ्गोके सिवाय अन्य अङ्गोसे काम-सेवन करना, अश्लील वचन या कामोत्तेजक वचन कहना, काम-सेवनकी अधिक तृष्णा रखना और व्यभिचारिणी स्त्रियोके यहाँ गमन करना ॥६०॥ परिग्रह परिमाणाणुव्रतका स्वरूप-धन धान्य आदि परिग्रहका परिणाम करके उससे अधिकमे निःस्पृह रहना, परिमित परिग्रहव्रत है, इसीका दूसरा नाम इच्छापरिमाणव्रत भी है ॥ ६१ ॥ इस व्रतके भी पांच अतिचार है–आवश्यकतासे अधिक वाहनो (रथ, घोडे, आदि सवारीके साधनों) को रखना, अधिक वस्तुओका संग्रह करना, दूसरोके लाभादिकको देखकर आश्चर्य करना, अधिक लोभ करना और घोडे आदिको उनकी शक्तिसे अधिक जोतना, लादना, उन पर अधिक बोझा ढोना ॥ ६२ ॥ उपर्युक्त अतीचारोसे रहित होकर धारण की गई पाँच अणुव्रतरूप निधियाँ देवलोकको फलती है, जहाँ पर कि अवधिज्ञान, अणिमादि आठ ऋद्धियाँ और दिव्यशरीर प्राप्त होता है ॥६३॥ अणुव्रतके धारण करनेवालोमे अहिंसाणुव्रतमे मातग चाण्डाल, सत्याणुव्रतमे धनदेव सेठ, अचौर्याणुव्रतमे वारिषेण राजकुमार, ब्रह्मचर्याणुव्रतमे नीलीबाई और परिग्रह परिमाणाणुव्रतमें जयकुमार उत्तम पूजाके अतिशयको प्राप्त हुए है ॥६४॥ हिंसा पापमे धनश्री सेठानी झूठ पापमे सत्यघोष पुरोहित चोरीमें तावस, कुशीलमे आरक्षक (कोटपाल) और परिग्रह पापमे श्मश्रुनवनीत प्रसिद्ध हुए है ॥ ६५ ॥ मद्य मास और मधुके त्यागके साथ पाँच अणुव्रतोके धारण करनेको उत्तम मुनियोने गृहस्थोके आठ मूलगुण कहे हैं ॥ ६६ ॥

इस प्रकार स्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचित रत्नकरण्डक नामवाले उपासकाध्ययनमे
अणुव्रतोका वर्णन करनेवाला यह तीसरा अध्ययन समाप्त हुआ ।

—o o—

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम् । अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रताख्यार्याः ।।६७
दिग्वलयं परिगणितं कृत्वाऽतोऽहं बहिर्न यास्यामि । इति सङ्कल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै।।६८
मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्यादाः । प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ।।६९
अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् । पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ।।७०
प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः । सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ।।७१
पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः । कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ।।७२
ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम् । विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ।।७३
अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः । विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ।।७४
पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च । प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ।।७५
तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम् । कथाप्रसङ्गप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ।। ७६
परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गिशृङ्खलादीनाम् । वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः।।७७

अब आचार्य गुणव्रतोका स्वरूप कहते है– दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण-व्रत इन तीनोको पूर्वोक्त अष्टमूलगुणोकी वृद्धि करनेसे आर्य पुरुष इन्हे गुणव्रत कहते हैं ।।६७।। दिग्व्रतका स्वरूप दिग्वलय अर्थात् दशों दिशाओकी मर्यादा करके सूक्ष्म पापोंकी निवृत्तिके लिए 'मैं इस मर्यादासे बाहर नही जाऊँगा' इस प्रकारका मरण-पर्यन्तके लिए सकल्प करना दिग्व्रत हैं ।।६८।। दसों दिशाओके प्रतिसहारमे अर्थात् दिग्व्रत ग्रहण करनेमें प्रसिद्ध समुद्र, नदी, अटवी, पर्वत, जनपद(देश) और योजनोके परिमाणको मर्यादा जानना चाहिए । भावार्थ–जिस दिशामे जो पर्वत, समुद्र आदि प्रसिद्ध स्थान हो, उसको आश्रय लेकर और प्रसिद्ध स्थानके अभावमें योजनोंकी सख्याका नियम लेकर दिग्व्रतको ग्रहन करना चाहिए।।६९।। अब आचार्य दिग्व्रतको धारण करने-का फल बतलाते है–दिग्व्रतकी मर्यादाके बाहर सूक्ष्म पापोंकी भी निवृत्ति होनेसे दिग्व्रतको धारण करनेवाले श्रावकोके पाँच अणुव्रत भी पाँच महाव्रतोकी परिणत्तिको प्राप्त हो जाते हैं । क्योंकि स्थूल और सूक्ष्म पापोके त्यागको ही महाव्रत कहते है ।। ७० ।। प्रत्याख्यानावरण कषायके कृश होनेसे अत्यन्त मन्दताको प्राप्त हुए चारित्र मोहके वे परिणाम–जिनकी सत्ताका निश्चय करना भी कठिन है–महाव्रतके लिए कल्पित किए जाते है ।। ७१ ।। महाव्रतका स्वरूप–हिंसादिक पाँचों पापोका मन-वचन-कायसे और कृत कारित अनुमोदसे त्याग करना महाव्रत है और यह महापुरुषोके होता है ।। ७२ ।। दिग्व्रतके ये पाँच अतिचार माने जाते है–ऊर्ध्वदिशाको मर्यादाका उल्लंघन करना, अधोदिशाकी मर्यादाका उल्लघन करना,पूर्वादि तिर्यग्दिशाओकी मर्यादाका उल्लंघन करना,मर्यादित क्षेत्रको वृद्ध कर लेना और मर्यादाओको भूल जाना ।७३।। अनर्थदण्डका स्वरूप–दिशाओकी मर्यादाके भीतर निरर्थक पाप-योगोसे विरमण करनेको व्रतधारियोमे अग्रणी गणधरादिने अनर्थदण्ड व्रत कहा है ।।७४।। पापोके नही धारण करनेवाले निष्पाप आचार्योने अनर्थदण्डके पाँच भेद कहे है–पापोपदेश, हिंसादान. अपध्यान. दुःश्रुति और प्रमादचर्या ।। ७५ ।। पापोपदेश अनर्थदण्डका स्वरूप–तिर्यञ्चोको क्लेश पहुँचानेका–उन्हे बधिया करने आदिका उपदेश देना, तिर्यञ्चोके व्यापार करनेका उपदेश देना, हिसा, आरम्भ और दूसरोंको छल-कपटसे ठगनेकी कथाओका प्रसंग उठाना, ऐसी कथाओका वार-वार कहना, यह पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड माना गया है।।७६।।हिंसादान-अनर्थदण्डका स्वरूप–हिंसाके कारणभूत फरसा. तलवार, कुदाली, आग, अस्त्र-शस्त्र, विष और साकल आदिके देनेको ज्ञानी जन हिंसादान नामका अनर्थदण्ड कहते हैं ।।७७।।अपध्यान-अनर्थदण्ड-

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद् रागाच्च परकलत्रादेः । आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदा॥७८
आरम्भसङ्गसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः । चेतःकलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥७९
क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम् । सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते॥८०
कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च । असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः॥८१
अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम् । अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥८२॥
भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिःपञ्चेन्द्रियोविषय॥८३
त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये । मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः॥८४
अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि । नवनीत-निम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥८५
यदनिष्टं तद् व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतंभवति८६
नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे । नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते८७

का स्वरूप–द्वेषसे किसी प्राणीके वध बन्ध और छेदनादिका चिन्तवन करना तथा रागसे परस्त्री आदिका चिन्तवन करना, इसे जिन शासनमे निपुण पुरुषोने अपध्यान नामका अनर्थदण्ड कहा है ॥७८॥ दुःश्रुति-अनर्थदण्डका स्वरूप–आरम्भ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मद और काम भावके प्रतिपादन-द्वारा चित्तको कलुषित करनेवाले शास्त्रोंका सुनना दुःश्रुति नामका अनर्थदण्ड है ॥७९॥ प्रमादचर्या अनर्थदण्डका स्वरूप-प्रयोजनके विना भूमिका खोदना, पानीका ढोलना, अग्निका जलाना, पवनका चलाना और वनस्पतीका छेदन करना तथा निष्प्रयोजन स्वयं घूमना और दूसरोको घुमाना, इत्यादि प्रमादयुक्त निष्फल कार्योके करनेको ज्ञानीजन प्रमादचर्या नामका अनर्थदण्ड कहते है ॥८०॥ उपर्युक्त पाँचों प्रकारके अनर्थदण्डोके त्यागको अनर्थदण्डव्रत कहते हे । उसके पांच अतिचार इस प्रकार हैं–कन्दर्प (रागकी बहुलतासे युक्त हँसीमिश्रित अश्लील वचन बोलना) कौत्कुच्य (कायकी कुचेष्टा करना), मौखर्य (व्यर्थ बकवाद करना), अति प्रसाधन (आवश्यकतासे अधिक भोग-उपभोग वस्तुओंका संग्रह करना) और विना सोचे-विचारे कार्यको करना ॥८१॥ तीसरे भोगोपभोगपरिमाण गुणव्रतका स्वरूप–परिग्रहपरिमाणव्रतमे ली हुई मर्यादाके भीतर भी राग और आसक्तिके कृश करनेके लिए प्रयोजनभूत भी इन्द्रियोके विषयोकी सख्याके सीमित करनेको भोगोपभोगपरिमाणव्रत कहते है ॥८२॥ पाँच इन्द्रियोके विषयभूत जो भोजन–वस्त्र आदिक पदार्थ एक वार भोग करके छोड़ दिए जावे, वे भोग कहलाते है और जो एक वार भोग करके भी पुनः भोगने योग्य होते है, वे उपभोग कहलाते हैं । अर्थात् भोजनादि पदार्थ भोग है और वस्त्रादिक उपभोग है ॥८३॥ जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी शरणको प्राप्त होनेवाले पुरुषोंको त्रस जीवोंकी हिंसाके परिहारके लिए मांस और मधुको तथा प्रमादको दूर करनेके लिए मद्यको छोड़ देना चाहिए ॥८४॥ इसी प्रकार जिनके खानेमे शारीरिक लाभ अल्प है और त्रस-थावर जीवोकी हिंसा अधिक है, ऐसे मूल, कन्द, गीला अदरक, मक्खन, नीमके फूल, केतकीके फूल, तथा इसी प्रकारके अन्य पदार्थ पच उदुम्बर फल आदिका सेवन छोड देना चाहिये॥८५॥जो वस्तु शरीरके लिए अनिष्ट या हानिकारक हो उसका भी त्याग करे तथा जो कुलीन पुरुषोके द्वारा सेवनके योग्य नही हो, उसे भी छोडे । सेवनके योग्य भी विषयसे अभिप्रायपूर्वक जो त्याग किया जाता है वह भी व्रत कहलाता है ॥८६॥ भोगोपभोग-परिमाणव्रतमें दो प्रकारसे त्यागका विधान किया गया है–नियमरूप और यमरूप । अल्पकालके लिए जो त्याग किया जाता हैं, उसे नियम कहते हैं और यावज्जीवनके लिए जो त्याग किया जाता हैं, उसे यम कहते हैं, ॥ ८७ ॥ (अभक्ष्य और अनुपसेव्य वस्तुओंका तो जीवन

भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु । ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु ॥८८
अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा । इति कालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः॥८९
विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ । भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥ ९०

इति श्रीस्वामीसमन्तभद्राचार्य-विरचिते रत्नकरण्डकाऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने
सम्यग्दर्शनवर्णन नाम चतुर्थमध्ययनम् ॥

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा । वैयावृत्त्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि॥९१
देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य । प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥९२
गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥९३
संवत्सरमृतुरयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च । देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥९४
सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात् । देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥९५
प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्ति-पुद्गलक्षेपौ । देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥ ९६

भरके लिए ही त्यागरूप यम धारणा करना चाहिये और जो भोग्य या सेव्य है ऐसे) भोजन वाहन, शयन, स्नान, केशर-चन्दन आदिका विलेपन, पुष्प धारण, सूंघन आदिमें तथा ताम्बूल, वस्त्र, आभूषण, काम-सेवन, संगीत और गीत-श्रवण आदि भोग्य और सेव्य पदार्थोमें आजका दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु (दो मास), अयन (छह मास) और वर्ष आदि कालकी मर्यादाके साथ जो वस्तुका प्रत्याख्यान (त्याग) किया जाता है, वह नियम कहलाता है ॥८८-८९॥ भोगोपभोग-परिमाणव्रतके पाँच अतिचार इस प्रकार कहे गये—विषयरूप विषके सेवनसे उपेक्षा नहीं होना, अर्थात् इन्द्रियोंके विषयसेवनमें आसक्ति बनी रहना, पूर्वमें भोगे हुए विषयोंका बार-बार स्मरण करना, वर्तमान विषयोंमें अतिलोलुपता रखना, भविष्यकालमें विषय-सेवनकी अतितृष्णा या गृद्धि रखना, और नियतकालमें भी भोगोपभोगकी वस्तुओंका अधिक मात्रामें अनुभव करना अर्थात् उन्हें अधिक भोगना, इन पाँचो प्रकारके अतिचारोंके सेवनसे व्रत मलिन एवं सदोष होता है ॥९०॥

इस प्रकार स्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचित रत्नकरण्डक नामके उपासकाध्ययनमें
सम्यग्दर्शनका वर्णन करनेवाला छठा अध्ययन समाप्त हुआ ।

—: ० :—

अब आचार्य शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते है—जिनेन्द्रदेवने देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत कहे है ॥९१॥ देशावकाशिकशिक्षाव्रतका स्वरूप—दिग्व्रतमें ग्रहण किये विशाल देशका कालकी मर्यादासे प्रतिदिन संकोच करना अणुव्रतधारी श्रावकोका देशावकाशिकव्रत है ॥९२॥ घर, मोहल्ला, ग्राम, खेत, नदी, वन और योजनोंकी मर्यादा करनेको वृद्ध तपस्वी जन देशावकाशिकव्रतकी सीमा बतलाते हैं। अर्थात् मैं अमुक समय तक अमुक देशसे बाहर नहीं जाऊँगा, ऐसा नियम करना देशावकाशिकव्रत हैं॥९३॥ वर्ष, ऋतु, अयन, मास, चातुर्मास, पक्ष और नक्षत्रके आश्रयसे नियत प्रदेशमें रहनेके नियम करनेको ज्ञानी जन देशावकाशिकव्रतकी कालमर्यादा कहते हैं॥ ९३ ॥ सीमाओंके अन्तसे परवर्ती क्षेत्रमें स्थूल और पाँचो पापोंके त्याग हो जानेसे देशावकाशिकव्रतके द्वारा महाव्रतोंका साधन किया जाता है ॥९५॥ देशावकाशिकव्रतके पाँच अतिचार इस प्रकार कहे गये है—देशव्रती सीमासे बाहर किसीको भेजना, किसीको शब्द सुनाना, किसीको बुलाना, अपना रूप दिखाकर संकेत करना और कंकर-पत्थर फेंककर दूसरेका

आसमयमुक्ति मुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन । सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ॥९७
मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं पर्यङ्कबन्धनं चापि । स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥९८
एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च । चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया॥९९
व्यापार-वैमनस्याद् विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या । सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा ॥१००
सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यम् । व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन॥१०१
सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि । चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्॥१०२
शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः । सामयिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः॥१०३
अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम् । मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके॥१०४

ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना । इन कार्योंको करनेसे सीमाके बाहर स्वयं नहीं जानेपर भी व्रतमें दोष लगता है ॥९६॥ अब सामायिक शिक्षाव्रतका वर्णन करते हैं-सामायिकका समय पूर्ण होने तक हिंसादि पाँचों भावोका पूर्णरूपसे अर्थात् मन-वचन-काय और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करनेको आगमके ज्ञाता पुरुष सामायिक कहते हैं ॥९७॥ केशबन्धन, मुष्टिबन्धन, वस्त्रबन्धन, पर्यङ्कासनबन्धन, स्थान (खडे रहना) और उपवेशन (बैठना) इनको सामायिकके जानकार सामायिकका समय जानते हैं ॥ ९८ ॥ भावार्थ–जिस प्रकार तीसरी प्रतिमाधारी श्रावकको कमसे कम दो घडी और अधिकसे अधिक छह घडी सामायिककालका निदेश किया गया है उस प्रकारका बन्धन बारहव्रतोंका अभ्यास करनेवाले गृहस्थके लिए नहीं है । गृहस्थ सामायियका अभ्यास धीरे-धीरे अल्पकालसे प्रारम्भ करता है और उत्तरोत्तर समयको बढाता जाता है । उसका मुख्य लक्ष्य आर्त्त और रौद्रध्यानसे तथा संक्लेशभावसे बचकर आत्मामे स्थिर होनेका है । प्रारम्भिक अभ्यासीको जबतक किसी प्रकारकी आकुलता नहीं होती है, तभी तक वह सामायिकमें स्थिर होकर बैठ सकता है । सामायिक प्रारम्भ करनेके पूर्व वह शिर-केश चोटी आदिकी गाँठ लगाता है पहिने और ओढे हुए वस्त्रकी गाँठ लगाता है, जिसका भाव यह है कि सामायिक करते समय वायुसे उडकर ये मनको व्याकुळ न करे । सामायिकमे बैठते हुए पद्मासनमे हाथोकी मुट्ठिको बाँधना है अर्थात् दाहिनी हथेलीको बाईं हथेलीके ऊपर रखता है तथा कभी खडे होकर भी सामायिक करता है । इन सबमे यही भाव निहित है कि जब तक मुझे बैठने या खडे रहनेमे आकुलता नहीं होगी, तब तक मैं सामायिक करूँगा । इस प्रकार जबतक मेरे केशबन्ध आदि रहेंगे, तबतक मैं सामायिक करूँगा, ऐसी मर्यादाको सामायिकका काल जानना चाहिए । जहाँपर चित्तमे विक्षोभ उत्पन्न न हो ऐसे एकान्त स्थानमे, वनोंमे, वसतिकाओमे अथवा चैत्यालयोंमे प्रसन्न चित्तसे सामायिककी वृद्धि करना चाहिए ॥९९॥ उपवास अथवा एकाशनके दिन गृहव्यापार और मनकी व्यग्रताको दूर करके अन्तरात्मामे उत्पन्न होनेवाले विकल्पोंकी निवृत्तिके साथ सामायिकका अनुष्ठान प्रारम्भ करे ॥ १०० ॥ पुन. आलस्य-रहित होकर सावधानीके साथ पाँचों व्रतोकी पूर्णता करनेके कारणभूत सामायिकका प्रतिदिन अभ्यास बढाना चाहिए ॥१०१॥ यत. सामायिककालमे आरम्भसहित सभी परिग्रह नहीं होवे हैं, अतः उस समय गृहस्थ वस्त्रसे वेष्टित मुनिके समान मुनिपनेको प्राप्त होता है ॥१०२॥ सामायिकको प्राप्त हुए गृहस्थोको चाहिए कि वे सामायिकके समय शीत, उष्ण और दंश-मशक आदि परिषहको तथा अकस्मात् आये हुए उपसर्गको भी मौन-धारण करते हुए अचलयोगी होकर अर्थात् मन-वचन-कायकी दृढताके साथ सहन करे ॥१०३॥ सामायिकके समय श्रावकको ऐसा विचार करना चाहिए कि जिस संसारमें मैं रह रहा हूँ वह अशरण है, अशुभ है, अनित्य है, दुःखरूप है और मेरे आत्म–

वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे । सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥ १०५
पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु । चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदिच्छाभिः ॥१०६
पञ्चानां पापानामलङ्क्रियाऽऽरम्भगन्धपुष्पाणाम् । स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् १०७
धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान् । ज्ञान-ध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥१०८
चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद् भुक्तिः । स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥१०९
ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे । यत्प्रोषधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ११०
दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये । अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥१११
व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् । वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥११२
नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन । अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥११३

स्वरूपसे भिन्न है तथा मोक्ष इससे विपरीत स्वभाववाला है, अर्थात् शरणरूप है, शुद्धरूप है, नित्य है, सुखमय है और आत्मस्वरूप है। भावार्थ- संसार, देह और भोगोंसे उदासीन होनेके लिए अनित्य, अशरण आदि भावनाओंका तथा मोक्षप्राप्तिके लिए उसके नित्य शाश्वत सुखरूपका चिन्तवन करे ॥१०४॥ इस सामायिक शिक्षाव्रतके ये पाँच अतिचार है-सामायिक करते समय वचनका दुरुपयोग करना, मनमें संकल्प-विकल्प करना, कायका हलन-चलन करना, सामायिकमे अनादर करना और सामायिक करना भूल जाना। इनको सामायिक करते समय नही करना चाहिये ॥ १०५ ॥ अब प्रोषधोपवास शिक्षा व्रतका वर्णन करते है-चतुर्दशी और अष्टमीके दिन सद्- उपवासके दिन हिंसादिक पाँचो पापोका, अलकार, आरम्भ, गन्ध पुष्प, स्नान, अंजन और सूघनी आदिका परित्याग करे ॥१०७॥ उपवास करनेवाले श्रावकको चाहिए कि वह तन्द्रा और आलस्य- से रहित होकर उपवास करते हुए अति उत्कण्ठाके साथ धर्मरूप अमृतको दोनो कानोंसे पान करे और दूसरोंको भी पिलावे तथा ज्ञान और ध्यानमे तत्पर रहे ॥१०८॥ चारो प्रकारके आहार- का त्याग करना उपवास कहलाता हैं और एक वार भोजन करनेको प्रोषध कहते है। इस प्रकार एकाशनरूप प्रोषधके साथ उपवास करनेको प्रोषधोपवास कहते है। इस प्रकारके प्रोषधोपवासको करके ही श्रावक गृहस्थीके आरम्भको करता हैं। अर्थात् प्रोषधोपवासके कालमे वह सर्व प्रकारके गृहारम्भसे रहित रहता है ॥१०९॥ इस प्रोषधोपवासव्रतके उल्लघन करनेवाले पाँच अतिचार इस प्रकार हैं-उपवासके दिन विना-देखे-शोधे किसी वस्तुका ग्रहण करना, विना देखे-शोधे मल-मूत्रादि- का उत्सर्ग करना, विना देखे-शोधे विस्तरादिका बिछाना, उपवास करनेमे आदर नही करना और उपवास करना भूल जाना। अतः उपवासके दिन धर्म-साधन देख-शोधकर आदर और उत्साहके साथ सावधानीसे करे॥११०॥ अब आचार्य वैयावृत्य नामक चौथे शिक्षाव्रतका वर्णन करते हैं- गृहसे रहित अर्थात् गृहत्यागी, गुणनिधान, तपोधनको अपना धर्म पालन करनेके लिए उपचार (प्रतिदान) और उपकारकी अपेक्षासे रहित होकर विधिपूर्वक अपने विभवके अनुसार दान देनेको वैयावृत्य कहते है ॥१११॥ गुणानुरागसे सयमी पुरुषोकी आपत्तियोको दूर करना, उनके चरणोका मर्दन करना (दावना) तथा इसी प्रकारकी और भी जो उनकी सेवा-टहल या सार-सँभाल की जाती हैं वह सब वैयावृत्य है ॥११२॥ पाँचसूनारूप पापकार्योंसे रहित आर्य पुरुषोंको नौ पुण्योके साथ शुद्ध सप्त गुणसे सयुक्त श्रावकके द्वारा जो आहारादि देनेके रूपमे आदर-सत्कार किया जाता है, वह दान कहा जाता है ॥११३॥ विशेषार्थ-ओखली, चक्की, चौका-चूल्हा, जलघटी

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् ॥
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥ ११४
उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात् पूजा । भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥११५
क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले ।
फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥ ११६
आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन । वैयावृत्त्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्रा ॥ ११७
श्रीषेण-वृषभसेने कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः । वैयावृत्त्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥ ११८
देवाधिदेवचरणे परिचरण सर्वदुःखनिर्हरणम् । कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ११९
हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि । वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते॥१२१

इति स्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिते रत्नकरण्डकापरनाम्नि उपासकाध्ययने
शिक्षाव्रतवर्णन नाम पञ्चममध्ययनम् ।

और बुहारी, इन पाँचके आरम्भको पचसूना कहते हैं । जो इनसे रहित है वही पात्र कहलानेके योग्य हैं । साधुके आहारार्थ द्वारके आगे आने पर उन्हे पडिगाहना, ऊँचे आसन-पर बैठाना, पाद-प्रक्षालन करना, अर्चन-पूजन करना, प्रणाम करना, मन शुद्ध रखना, वचन शुद्ध बोलना, काय शुद्ध रखना और भोजनकी शुद्धि रखना, ये नौ पुण्य है, जोकि नवधा भक्तिके नामसे प्रसिद्ध है । श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्य ये दाताके सात गुण होते है । इन गुणोसे युक्त दाताको पंचसूनासे रहित साधुओंके लिए नवधा भक्तिसे आहारादिकके देनेको दान कहते हैं । अब आचार्य दानका फल बतलाते है—गृहसे रहित अतिथिजनोको पूजा-सत्कारके साथ दिया गया दान गृहस्थोके गृह-कार्योसे संचित पापकर्मको दूर कर देता है। जैसे कि जल रक्तको अच्छी तरह धो डालता हैं ॥११४। तपोनिधि साधुओको नमस्कार करनेसे उच्च गोत्र, दान देनेसे भोग, उपासना करनेसे पूजा, भक्ति करनेसे सुन्दर रूप और स्तुति करनेसे कीर्ति प्राप्त होती हैं ॥११५॥ उत्तम भूमिमे बोये गये वटके छोटेसे भी बीजके समान पात्रमे दिया गया अल्प भी दान समय आनेपर प्राणियोके छायारूप वैभवके साथ भारी मिष्ट फलको देता हैं ॥ ११६ ॥ वैयावृत्य भेद और उनके देनेवालोमे प्रसिद्ध पुरुषोंका वर्णन है-आहार, औषधि, उपकरण (ज्ञान-संयमके साधन शास्त्र, पीछी कमंडलु) और आवास (वसतिका) के दानसे वैयावृत्त्यको ज्ञानी जन चार प्रकारका कहते ॥११७॥ इस चार भेदरूप वैयावृत्त्यके क्रमश. श्रीषेणः राजा, वृषभसेना वणिक् पुत्री, कौण्डेशमुनि और सूकरको दृष्टान्त जानना चाहिए। अर्थात् ये चारो क्रमसे आहारादि दानोके देनेवालोंमे सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए हैं ॥ ११८॥ अब आचार्य बतलाते है कि वैयावृत्य करनेवाले गृहस्थको जिन-पूजन भी आवश्यक हैं--आदरपूर्वक नित्य सर्वकामनाओके पूर्ण करनेवाले और कामविकारके जलानेवाले देवाधिदेव श्रीजिनेन्द्र भगवानकी सर्व दु.खोको विनाशक परिचर्या अर्थात् पूजा-अर्चा भी करनी चाहिए।।११९। राजगृह नगरमें अति प्रमोदको प्राप्त मेढकने एक पुष्पके द्वारा पूजनके भावसे अरहन्तदेवके चरणोंकी पूजाके माहात्म्यको महात्मा पुरुषोके आगे प्रकट किया है ॥ १२० ॥ इस वैयावृत्य शिक्षाव्रतके पॉच अतिचार इस प्रकार कहे गये हैं—हरित पत्रसे ढकी वस्तुको आहारमे देना, हरित पत्रपर रखी वस्तुको आहारमे देना, अनादरपूर्वक आहा-

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१२२
अन्तक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते। तस्माद्यावद्विभवं समाधिकरणे प्रयतितव्यम्॥१२३
स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः। स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः॥१२४
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्। आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम्॥१२५
शोकं भयमवसादं क्लेदं कलुष्यमरतिमपि हित्वा। सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः॥१२६
आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत्पानम्। स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः॥१२७
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या। पंचनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥१२८
जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः। सल्लेखनातिचाराः पंच जिनेन्द्रैः समादिष्टाः॥१२९
निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्। निष्पिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥१३०

रादि देना, दान देनेको और दानविधिको भूल जाना तथा अन्य दाताके साथ मत्सर भाव रखना। इनका त्यागकर दान देना चाहिए ॥ १२१ ॥

इस स्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचित रत्नकरण्डक नामवाले उपासकाध्ययनमे
शिक्षाव्रतोका वर्णन करनेवाला पाँचवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

—: o :—

अब आचार्य सल्लेखनाका वर्णन करते हैं—निष्प्रतीकार उपसर्ग दुर्भिक्ष, बुढापा और रोगके उपस्थित होनेपर धर्मकी रक्षाके लिए शरीरके परित्याग करनेको आर्य पुरुष सल्लेखना कहते हैं ॥१२२॥ जीवनके अन्त समयमें सन्यासरूप क्रियाका आश्रय लेना ही जीवन भरकी तपस्याका फल है, ऐसा सर्वदर्शी भगवन्तोने कहा है। इसलिए जबतक शक्ति रहे, तब तक समाधिमरण करनेमे प्रयत्न करते रहना चाहिए ॥१२३॥ सल्लेखना धारण करते हुए कुटुम्ब-मित्रादिसे स्नेह दूर कर, शत्रुजनोंसे बैर भाव हटाकर, बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहका परित्यागकर, शुद्ध मन होकर स्वजनों और परिजनोको क्षमा करके प्रिय वचनोके द्वारा उनसे भी क्षमा माँगे ॥१२४॥ पुनः जीवन भरके कृत, कारित और अनुमोदित सर्वपापोकी निश्छल भावसे आलोचना करके मरणपर्यन्त स्थिर रहनेवाले सर्व महाव्रतोंको धारण करे ॥१२५॥ इस प्रकार सल्लेखना स्वीकार करनेके पश्चात् शोक, भय, विषाद, क्लेश, कालुष्य और अरति भावको भी छोड़कर बल और उत्साहको प्रकटकर अमृतमय श्रुतके वचनोसे मनको प्रसन्न रखे ॥१२६॥ साथ ही क्रमसे अन्नके आहारको घटाकर दुग्धादिरूप स्निग्धपानको बढावे। पुनः क्रमसे स्निग्धपानको भी घटाकर छांछ—उष्णजल आदि खर-पानको बढ़ावे ॥१२७॥ पुनः धीरे-धीरे खर-पानको घटाकर और अपनी शक्तिके अनुसार उपवासको भी करके पचनमस्कार मंत्रको मनमे जपते और उसका चिन्तवन करते हुए सम्पूर्ण प्रयत्नके साथ सावधानीपूर्वक शरीरको छोडे। १२८। जिनेन्द्र देवोने सल्लेखनाके ये पॉच अतिचार कहे है—सल्लेखना स्वीकार करनेके पश्चात् जीनेकी आकाक्षा करना, मरनेकी आकांक्षा करना, परीषह—उपसर्गादिसे डरना, मित्रोंका स्मरण करना और आगामी भवमे सुख-पानेके लिए निदान करना। इनसे रहित हो करके ही समाधिमरण करना चाहिए॥१२९॥ अब आचार्य अतीचार-रहित सल्लेखना करनेका फल बतलाते है—जिसने रत्नत्रयरूप धर्मका पान किया है, ऐसा पुरुष सर्व दुःखोसे रहित होकर उस निःश्रेयरूप सुखके सागरका अनुभव करता हैं, जो निस्तीर है—जिसका अन्त नही है और जो अतिदुस्तर है—जिसका पाना अति कठिन हैं, ऐसें अहमिन्द्रादि पदरूप अभ्युदयका

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् । निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥१३१
विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रल्हादतृप्तिशुद्धियुजः। निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम् १३२

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या ।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः ॥ १३३
निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते ।
निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मान. १३४

पूजार्थाऽऽज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठै । अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः॥१३५

इति श्रीस्वामीसमन्तभद्राचार्य-विरचिते रत्नकरण्डकाऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने
सम्यग्दर्शनवर्णनं नाम षष्ठमध्ययनम् ॥ १ ॥

—: ० :—

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु । स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः॥१३६
सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः । पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः॥१३७
निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकचापि।धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः १३८

भी अनुभव करता है। अर्थात् सल्लेखना करनेवाला संसारके सर्व अभ्युदय सुखको भोगकर अन्तमे मोक्षके सुखको भोगता हैं ॥१३०॥ वह निःश्रेयस जन्म जरा मरण शोक दुःख और भयसे सर्वथा रहित है, नित्य और जहाँपर शुद्ध आत्मिक सुख है, उसीको निर्वाण मुक्ति और शिव आदि कहते है ॥१३१॥ उस निःश्रेयसरूप मोक्षमे रहनेवाले सिद्ध भगवान अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त-वीर्य और अनन्तसुखमय परम स्वास्थ, आनन्द, तृप्ति एवं शुद्धिसे संयुक्त रहते हैं, वे हीनाधिक भावसे रहित समान अनन्त गुणोंके धारक है और अनन्तकाल तक सुखपूर्वक उस निश्रेयसमे निवास करते हैं ॥१३२॥ यदि तीनो लोकोंको उलट-पुलट करनेमे समर्थ कोई महान् उत्पात भी होवे, तो भी तथा सैकडों कल्पकालोंके बीत जानेपर भी मुक्त जीवोके किसी प्रकारका विकार नही होता है ॥१३३॥ उस निःश्रेयसको प्राप्त हुए जीव कीट और कालिमासे रहित स्वच्छ सुवर्णके समान देदीप्यमान आत्मस्वरूपके धारक होकर त्रैलोक्यके चूडामणिरत्नकी शोभाको धारण करते है॥१३४॥ तथा वह समीचीन-सत्यधर्म पूजा, सम्पत्ति, आज्ञा, ऐश्वर्यंसे तथा परिजन और मनोऽनुकूल भोगो-की अधिकतासे लोकातिशायी अद्भूत अभ्युदयको, अर्थात् स्वर्गादिके सासारिक सुखोको भी फलता हैं ॥ १३५॥

इस प्रकार स्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचित रत्नकरण्डक नामके उपासकाध्ययनमें
सम्यग्दर्शनका वर्णन करनेवाला छठा अध्ययन समाप्त हुआ।

—: ० :—

अब आचार्य श्रावकके ग्यारह पद या प्रतिमाओंका वर्णन करते है-श्रीतीर्थंकर देवोने श्रावकके ग्यारह पद कहे है, जिनमें निश्चयसे प्रत्येक पदके गुण अपनेसे पूर्ववर्ती गुणोके साथ क्रमसे बढ़ते हुए रहते हैं ॥ १३६ ॥ पहले दार्शनिक पदका स्वरूप—जो अतीचार-रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक है, संसार, शरीर और इन्द्रियोके भोगोसे विरक्त है, पंच परमेष्ठीके चरणोकी शरणको प्राप्त है और जो तात्त्विक सन्मार्ग केग्रहण करनेका पक्ष रखता है, वह दार्शनिक श्रावक है॥१३७॥ दूसरे व्रतिक पदका स्वरूप—जो पुरुष माया मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योसे रहित होकर

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतु प्रणामः स्थितो यथाजातः ।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ।। १३९

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य । प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः १४०
मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि । नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः १४१
अन्नं पान खाद्य लेह्य नाश्नाति यो विभावर्याम् । स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः १४२

निरतीचार पाँचो अणुव्रतोको भी और तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत रूप सातो शीलोको भी धारण करता है, वह व्रतीजनोके मध्यमे व्रतिक श्रावक कहलाता है ।।१३८।। तीसरे सामायिक पद-धारी श्रावकका स्वरूप–चार वार तीन तीन आवर्त और चार वार नमस्कार करने वाला, यथाजातरूपसे अवस्थित. ऊर्ध्व कायोत्सर्ग और पद्मासनका धारक, मन-वचन-काय इन तीनो योगों की शुद्धिवाला और प्रात., मध्यान्ह और सायकाल इन तीनो सन्ध्याओंमे वन्दना को करनेंवाला सामायिकी श्रावक है ।।१३९।। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए प्रभाचन्द्राचार्यने लिखा है कि एक एक कायोत्सर्ग करते समय 'णमो अरहताण' इत्यादि सामायिक दण्डक और 'थोस्सामिहं जिणवरे तित्थयरे केवली अणतजिणे' इत्यादि स्तवदण्डक पढ जाते है । इन दोनो दण्डको के आदि और अन्तमे तीन-तीन आवर्तो के साथ एक एक नमस्कार करे । इस प्रकार बारह आवर्त और चार प्रणामोका विधान जानना चाहिए। दोनो हाथोको मुकुलित करके उन्हे प्रदक्षिणाके रूपमे घुमानेको आवर्त कहते है । वर्तमानमे सामायिक करनेके पूर्व चारो दिशाओमे एक एक कायोत्सर्ग करके तीन तीन आवर्त करके नमस्कार करने की विधि प्रचलित है. पर उसका लिखित आगम आधार उपलब्ध नही है । प्रभाचन्द्राचार्य–रचित मुद्रित क्रियाकलापमे सामायिक दण्डक और स्तवदण्डक सकलित है, उनको वहाँ से जानना चाहिये । चारित्रसार और अनगारधर्मामृत आदि मे उक्त विधि कुछ अन्तर से दृष्टिगोचर होती है । मूल श्लोकमे पठित 'यथाजात' पद विशेषरूपसे विचारणीय है, क्योकि इस पदका सीधा अर्थ जन्मकाल जैसी नग्नता का होता है । पूर्वमे वर्णित सामायिक शिक्षाव्रतमे इस पदका नही देना और इस तीसरी प्रतिमाके वर्णनमे उसका देना यह सूचित करता है कि तीसरी प्रतिमाधारीको नग्न होकरके सामायिक करना चाहिए । टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य 'यथाजात' पदका अर्थ बाह्य आभ्यन्तर परिग्रहकी चिन्तासे रहित ऐसा करते है । पर समन्तभद्र-स्वामी तो इसकी सूचना 'सामायिके सारम्भा परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्' इस श्लोक (सख्या १०२) मे सामायिक शिक्षाव्रतके वर्णनमे कर चुके है और उसे वस्त्र-वेष्टित मुनिके तुल्य बतला आये है। अत. इस तीसरी प्रतिमाके वर्णनमे 'यथाजात' पद देकर उन्होने स्पष्ट रूपसें नग्न दिगम्बर वेषमे सामायिक करनेका विधान किया है। यत. सामायिकको एकान्तमे करनेका विधान हैं, अत तीसरी प्रतिमाधारी कें लिए वैसा करना संभव भी हैं। चौथे प्रोषध पदधारी श्रावक पदका स्वरूप–प्रत्येक मासके चारो ही पर्वदिनोमे अपनी शक्तिको नही छिपाकर सावधान होकर प्रोषधोपवासको नियमपूर्वक करनेवाला प्रोषधोपवासी श्रावक कहलाता है ।। १४० ।। पाँचवे सचित्त विरत पदका स्वरूप-जो दयामूर्ति श्रावक कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा (कोपल) करीर (कैर) कन्द, फूल और बीजो को नही खाता है, वह सचित्त विरत पदका धारी श्रावक है ।।१४१।। छठे रात्रिभुक्तिविरत पदका स्वरूप-जो पुरुष प्राणियो पर दयार्द्र-चित्त होकर रात्रिमे अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चारो ही प्रकारके आहारको नही खाता है, वह

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सम् । पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी स ॥१४३
सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति । प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥१४४
बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः । स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः १४५
अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा ।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥१४६
गृहतो मुनिवनमित्वा गुरुपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य । भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१४७
पापमरातिधर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् । समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति ॥१४८
येन स्वयं वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम् ।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥ १४९

रात्रिभुक्ति विरतश्रावक है ॥१४२॥ सातवे ब्रह्मचारी श्रावक पदका स्वरूप–जो पुरुष मलका बीज मलका आधार, मलको बहनेवाला, दुर्गन्धसे युक्त और बीभत्स आकार वाले स्त्रीके अंगको देखकर अनंगसेवनसे विराम लेता है, अर्थात् स्त्री सेवनका सर्वथा त्याग करता है, वह ब्रह्मचारी श्रावक है ॥१४३॥ आठवे आरम्भ विरत श्रावक पदका स्वरूप–जो जीवहिंसाके कारणभूत सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भसे निवृत्त होता है वह आरम्भविनिवृत्त श्रावक कहा जाते है ॥१४४॥नवे परिग्रह विरत श्रावक-पदका स्वरूपजोधन धान्यादि बाह्य दशों प्रकारकी वस्तुओमें ममत्वको छोडकर निर्ममत्व भावनामे निरत रहता है, मायाचार आदिको छोडकर स्वस्थ आत्मस्थ) रहता है और परम सन्तोषको धारण करता है, वह चित्तमे ससार रूपसे बसे हुए परिग्रहमे विरत श्रावक जानना चाहिए ॥१४५॥ दशवे अनुमति विरत पदधारी श्रावकका स्वरूप–जिसके निश्चयसे गृहके कृषि आदि आरम्भमे, परिग्रहमे और इस लोक सम्बन्धी लौकिक कार्योमे अनुमोदना नही है वह समभाव का धारक अनुमतिविरत श्रावक मानना चाहिए ॥१४६॥ ग्यारहवे उद्दिष्टविरत पदधारी श्रावक का स्वरूप–जो घरसे मुनियोंके निवास वाले वनमें जाकर और गुरुके समीप व्रतोका ग्रहण करके भिक्षावृत्तिसे आहार ग्रहण करते हुए तपस्या करता हैं और वस्त्र-खण्डको धारण करता हैं, वह उत्कृष्ट श्रावक हे ।१४७। यद्यपि ग्रन्थकारने इस पदके भेदोको नही कहा हैं, तथापि 'चेलखण्ड-धर' पदसे लंगोटी रखने वाले एक छोटा वस्त्र रखनेंवाले ऐलक और क्षुल्लकका ग्रहण हो जाता हैं । ☐

ग्रन्थका उपसंहार

जीवका 'पाप शत्रु है, और धम बन्धु है,' ऐसा हृदयमे निश्चय करता हुआ पुरुष यदि समय (आगम) को जातना हैं, तो वह निश्चय से वह श्रेयो ज्ञाता अर्थात् आत्म कल्याणका जानकार है ॥१४८॥

धर्मके फलका उपसहार

जिस भव्य जीवने अपने आत्माको निर्दोष विद्या (सम्यग्ज्ञान) निर्दोप दृष्टि (सम्यग्दर्शन) और निर्दोप क्रिया (सम्यक्चारित्र) रूप रत्नोंके पिटारे या भाजनके रूपमे परिणत किया है,

---

☐ विशेष के लिए देखें–वसुनन्दिश्रावकाचारमे मेरी लिखी प्रस्तावना ।

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु ।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका सम्पुनीताज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥ १५०

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिते रत्नकरण्डकापरनाम्नि उपासकाध्ययने
श्रावकपदवर्णनं नाम सप्तमाध्ययनं ॥ ७ ॥

उसे तीनो लोकोमे सर्व पुरुषार्थोकी सिद्धि स्वय प्राप्त होती है । जैसे कि स्वय वरण करनेवाली कन्या योग्य पतिको स्वय प्राप्त होती है ॥ १४९ ॥

अन्तिम मंगल

जिनेन्द्र देवके चरण–कमलोको देखने वाली सुखो को भूमि ऐसी सम्यग्दर्शनरूपी दृष्टि लक्ष्मी मुझे उसी प्रकार सुखी करे, जिस प्रकार कि कामी पुरुषको उसकी कामिनी स्त्री सुखी करती है, वह दृष्टिलक्ष्मी शुद्ध शीलवाली जननीके समान मेरी रक्षा करे और वह दृष्टलक्ष्मी मुझे उस प्रकारसे पवित्र करे, जैसे कि गुण–भूषित कन्या कुलको पवित्र करती है ॥ १५० ॥

इस प्रकार स्वामि समन्तभद्राचार्य-विरचित रत्नकरण्डक नामवाले उपासकाध्ययनमे
श्रावक के ग्यारह पदोका वर्णन करनेवाला सातवा अध्ययन समाप्त हुआ ।

स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षागत श्रावकधर्म-वर्णन

जो जाणदि पच्चक्खं तियाल-गुण-पज्जएहिं संजुत्तं । लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो ॥१
जो ण हवदि सव्वण्हू ता को जाणदि अदिंदियं अत्थ । इंदियणाणं ण मुणदि थूलंपि असेसपज्जाय ॥२
तेणुवइट्ठि धम्मो सगासत्ताण तह असंगाणं । पढमो बारहभेओ दहभेओ भासिओ विदिओ ॥३
सम्मद्दंसणसुद्धो रहिओ मज्जाइ-थूल-दोसेहिं । वयधारी सामाइउ पव्ववई पासुयाहारी ॥४
राईभोयणविरओ मेहुण-सारंभ-संगचत्तो य । कज्जाणुमोयविरओ उद्दिट्ठाहारविरदो य ॥५
चदुगदिभव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाण पज्जत्तो । संसारतडे णियडो णाणी पावेइ सम्मत्तं ॥६
सत्तण्हं पयडीणं उवसमदो होदि उवसमं सम्मं । खयदो य होदि खइयं केवलिमूले मणुस्सस्स ॥७
अण-उदयादो छण्हं सजाइरूवेण उदयमाणाणं । सम्मत्तकम्म-उदये खयउवसमियं हवे सम्मं ॥८
गिण्हदि मुंचदि जीवो वे सम्मत्ते असंखयाराओ । पढम कसाय विणास देसवय कुणदि उक्कस्सं॥९
जो तच्चमणेयंत णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं ।लोयाण पण्हवसदो ववहारपवत्तणट्ठं च ॥१०
जो आयरेण मण्णदि जीवाजीवादि णवविह अत्थ। सुदण णेण णएहि य सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो॥११

जो त्रिकालवर्ती गुण-पर्यायो से सयुक्त समस्त लोक और अलोक को (और उनमे वर्तमान द्रव्योंको) प्रत्यक्ष जानता है, वह सर्वज्ञ देव है ॥१॥ यदि सर्वज्ञ न होता, तो अतीन्द्रिय पदार्थको कौन जानता? इन्द्रिय ज्ञान तो समस्त स्थूल पर्यायोंको भी नही जानता है ।।२॥ उस त्रिलोक-त्रिकालज्ञ सर्वज्ञके द्वारा कहा हुआ धर्म दो प्रकारका है—एक तो परिग्रहासक्त गृहस्थोका धर्म और दूसरा परिग्रह-रहित मुनियो का धर्म । पहला धर्म बारह भेदवाला और दूसरा धर्म दश भेद वाला कहा गया है ॥३॥ उनमे से गृहस्थ या श्रावक धर्म के बारह भेद इस:प्रकार है - १ शकादि दोषो से रहित शुद्धसम्यग्दृष्टि, २. मद्य-मांसादि-भक्षणरूप स्थूल दोषो से रहित सम्यग्दृष्टि,३. व्रतधारी, ४. सामायिकव्रती, ५ पर्वव्रती, ६ प्रासुकाहारी, ७. रात्रि भोजनत्यागी,८. मैथुनत्यागी, ९ आरम्भत्यागी, १०,परिग्रहत्यागी,११.कार्यानुमोदविरत और१२.उद्दिष्ट-आहार-विरत ।।४-५।। अब श्रावकके प्रथम भेदका वर्णन करते हुए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के योग्य जीवका वर्णन करते है—चारो गतियोमे उत्पन्न हुआ भव्य सज्ञी विशुद्ध परिणामी जागता हुआ पर्याप्तक ज्ञानी जीव संसार-तटके निकट आने पर सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ।।६।। दर्शनमोहनीय कर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति, तथा चारित्र मोह कर्म की अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, और लोभ, इन सात प्रकृतियोके उपशमसे उपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है । तथा इन ही सातो प्रकृतियोका केवलीके पादमूलमें क्षय करनेवाले मनुष्यके क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है ।। ७ ।। उपर्युक्त सात प्रकृतियो में समान जातीय प्रकृतियोके रूपसे उदय होने वाली छह प्रकृतियोके अनुदयसे और सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है ।। ८ ।। औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व, प्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्कका विनाश अर्थात विसयोजन और देशव्रत इनको यह जीव उत्कर्षसे असख्य वार ग्रहण करता और छोडता है । ।९।। भावार्थ— उक्त चारोको यह जीव अधिक से अधिक पल्यसे असंख्यातवे भाग वार ग्रहण कर छोड सकता है । अब सम्यग्दृष्टि के तत्वश्रद्धान आदि परिणति का विशेष वर्णन करते है— जो लोगोके प्रश्नो के

जो ण य कुव्वदि गव्वं पुत्त-कलत्ताइ सव्व अत्थेसु ।
उवसमभावे भावदि अप्पाणं मुणदि तिणमेत्तं ॥१२

विसयासत्तो वि सया सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि । मोहविलासो एसो इदि सव्वं मण्णदे हेयं ॥१३
उत्तमगुणगहणरओ उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो । साहम्मिय-अणुराई सो सद्दिट्ठि हवे परमो ॥१४

देहमिलियं पि जीवं णियणाणगुणेण मुणदि जो भिण्णं ।
जीवमिलियं पि देहं कंचुवसरिसं वियाणेदि ॥१५

णिज्जियदोसं देव सव्वजिवाणं दयावर धम्मं । वज्जियगंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सुद्दिट्ठी॥१६
दोससहियं पि देवं जीवहिंसाइसजुदं धम्मं । गथासत्तं च गुरु जो मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥१७

ण य कोवि देदि लच्छी ण कोवि जीवस्स कुणदि उवयारं ।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥१८

भत्तीएँ पुज्जमाणो वितरदेवोवि देदि जदि लच्छी । तो किं धम्मे कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी॥१९

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥२०
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कदि वारेदुं इन्दो वा अह जिणिंदो वा ॥२१

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वाणि सव्वपज्जाए।सो सद्दिट्ठि सुद्धोजो सकदि सो हु कुद्दिट्ठि२२

वशसे और व्यवहारको चलानेके लिए सप्तभगी के द्वारा नियमसे अनेकान्तात्मक तत्त्वका श्रद्धान करता है, जो आदरके साथ जीव-अजीव आदि नौ प्रकारके पदार्थोका श्रुतज्ञानसे और नयोसे भलीभाँति जानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ।।१०-११।। जो पुत्र-स्त्री आदि सर्व पदार्थोमें गर्वको नही करता है, उपशमभावको भाता है और अपनेको तृण-समान समझता हैं, विषयोमे आसक्त होता हुआ भी और सदा सर्व आरम्भोमे प्रवृत्त होता हुआ भी जो 'यह मोहकर्मका विलास है' ऐसा समझकर सबको हेय मानता है, जो उत्तम गुणोके ग्रहण करनेमे तत्पर रहता हैं, उत्तम साधुओंकी विनय करता है और साधर्मी जनो का अनुरागी है, वह परम सम्यग्दृष्टि हैं,॥१२-१४॥ जो देहमे मिले हुए भी जीवको अपने ज्ञानगुणसे अर्थात् भेदविज्ञानसे भिन्न जानता है और जीवसे मिले हुए भी देहको साँप की काचली के समान भिन्न जानता हैं, जो रागादि दोषोके विजता अरिहन्त को देव मानता है, सर्व जीवो पर दया करनेको परम धर्म मानता है और परिग्रह-के त्यागीको गुरु मानता है, वह निश्चयसे सम्यग्दृष्टि है ॥१५-१६॥ जो दोष-सहित व्यक्तिको देव मानता है, जीव-हिंसादिसे सयुक्त कार्यको धर्म मानता है और परिग्रहमे आसक्त पुरुषको गुरु मानता हैं, वह निश्चयसे मिथ्यादृष्टि हैं ॥१७॥ जो लोग हरि-हरादिकको लक्ष्मी-दाता मानकर पूजते है. उन्हे लक्ष्य करके आचार्य कहते है कि न तो कोई किसीको लक्ष्मी देता है और न कोई अन्य पुरुष जीवका उपकार ही करता है। पूर्वमे किये हुए शुभ और अशुभ कर्म ही जीवका उपकार और अपकार करते है ।।१८।। यदि भक्तिसे पूजा गया व्यन्तर देव भी लक्ष्मी दे सकता हैं, तो फिर धर्म करने की क्या आवश्यकता है इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने मन मे विचार करता है ।।१९।। जिस जीव-के जिस देशमे, जिस कालमे जिस प्रकारसे जो जन्म अथवा मरण जिन देवने नियत रूपसे जाना हे, उस जीवके उसी देशमे, उसी कालमे और उसी प्रकारके अवश्य होगा। उसे निवारण करनेके लिए इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई भी नही रोक सकता ।।२०-२१।। इस प्रकार

जो ण विजाणदि तच्च सो जिणवयणे करेदि सद्दहण ।
ज जिणवरेहि भणियं त सव्वमह समिच्छामि ।। २३

रयणाण महारयणं सव्व जोयाण उत्तम जोय । रिद्धीण महारिद्धी सम्मत्त सव्वसिद्धियर ।।२४

सम्मत्तगुणपहाणो देविंद-णरिंद-वंदिओ होदि चत्तवओ वि य पावदि सग्गसुहं उत्तमं विविहं ।।२५

सम्माइट्ठी जीवो दुग्गविहेदुदु ण बधदे कम्म । जं बहुभवेसु बद्धं दुक्कम्म तं पि णासेदि ।।२६

बहुतससम ण्णदं ज मज्जं मंसादि णिंदिद दव्व । जो ण य सेवदि णियद सो दसणसावओ होदि ।।२७

जो दिढचित्तो कीरदि एय पि वयं णियाण-परिहीणो ।
वेरग्गभावियमणो सो वि य दंसणगुणो होदि ।। २८

पंचाणुव्वयधारी गुणवय-सिक्खावएहिं संजुत्तो । दिढचित्तो समजुत्तो णाणी वयसावओ होदि ।।२९

जो वावरेइ सदओ अप्पाणसमं पर पि मण्णतो । णिंदण-गरहणजुत्तो परिहरमाणो महारंभे ।।३०

तसघादं जो ण करदि मण-वय-काएहि णेव कारयदि ।
कुव्वंतं पि ण इच्छदि पढमवयं जायदे तस्स ।। ३१

हिंसा वयण ण वयदि कक्कस-वयण पि जो ण भ सेवि ।
णिट्ठुर-वयणं पि तहा ण भासदे गुज्झ-वयणं पि ।। ३२

निश्चय से सर्वद्रव्यो और सर्वपर्यायो को जानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो उनके अस्तित्व-मे शका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है ।।२२।। जो तत्त्वको नही जानता है, किन्तु जिन-वचनमे श्र द्धान करता है कि जिनेन्द्रोने जो कहा है, उस सबकी मै श्रद्धा करता हूँ, ऐसा निश्चयवाला जीव भी सम्यग्दृष्टि है ।। २३ ।। सम्यग्दर्शन सर्व रत्नोमे महारत्न है, सर्वयोगोमे उत्तम योग है, सर्व ऋद्धियोंमे महाऋद्धि है और सर्व प्रकारकी सिद्धिका करने वाला है ।।२४।। सम्यक्त्व गुणकी प्रधानता वाला जीव देवेन्द्रोसे और नरेन्द्रोसे वन्दनीय होता है और व्रत–रहित होने पर भी नाना प्रकारके उत्तम स्वर्गसुखको पाता है ।। २५ ।। सम्यग्दृष्टि जीव दुर्गतिके कारणभूत पापकर्म को नही बाँधता है और पूर्वके अनेक भवों मे बंधा हुआ जो दुष्कर्म है, उसका भी नाश करता है ।।२६।। अब पहले दार्शनिक श्रावकका स्वरूप कहते है–जो सम्यक्त्वी जीव अनेक त्रसजीवोसे भरे हुए मद्य-मासादि निन्द्य द्रव्यका नियमसे सेवन नही करता है, वह दार्शनिक श्रावक है ।।२७।। जो दृढचित्त होकर उक्त एक भी व्रतका पालन करता है, निदानसे रहित है, और वैराग्यसे जिसका मन भरा हुआ है, वह पुरुष दर्शन गुण वाला श्रावक है ।।२८।। अब दूसरे व्रतिक श्रावकाका स्वरूप कहते है—जो ज्ञानी पाच अणुव्रतोका धारक है, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोसे सयुक्त है, दृढचित्त है और समभावी है, वह व्रतिक श्रावक है ।।२९।। अब अहिसाणुव्रतका स्वरूप कहते हैं–जो अपने समान दूसरेको भी मानता हुआ उनके साथ दया-सहित व्यवहार करता है, अपनी निन्दा और गर्हामे युक्त है, महान् आरम्भोका परिहार करता हुआ जो त्रसजीवोके घात–को मन वचन कायसे न स्वय करता है, न दूसरोसे कराता है और न करते हुए पुरुष की अनु–मोदना ही करता हैं, उसके पहला अहिसाणुव्रत होता है ।।३०-३१।। अब सत्याणुव्रत का स्वरूप कहते है–जो हिंसा करनेवाले वचन नही बोलता है, कर्कश वचन भी नही कहता है, तथा निष्ठुर वचन और दूसरे की गुप्त बात को भी प्रकट नही करता है, किन्तु सर्व जीवो को सन्तुष्ट करनेवाले हित मित प्रिय, एव धर्म–प्रकाशक वचन बोलता है, वह दूसरे सत्याणुव्रत का धारक श्रावक है

हिद-मिदवयणं भासदि संतोसकरं तु सव्वजीवाणं ।
धम्म-पयासणवयणं अणुव्वदी होदि सो विदिओ ।। ३३

जो बहुमुल्ल वत्थु अप्पयमूल्लेण णेव गिण्हेदि । वीसरिय पि ण गिण्हदि लाहे थोवे वि तूसेदि ।।३४

जो परद्रव्वं ण हरदि माया-लोहेण कोह-माणेंण । दिढचित्तो सुद्धमई अणुव्वई सो हवे तिदिओ।।३५

असुइमय दुग्गंध महिलादेहं विरज्जमाणो जो । रूवं लावण्ण पि य मणमोहण-कारण मुणइ ।।३६

जो मण्णदि परमहिलं जणणी-बहिणी-सुआइ सारिच्छं ।
मण-वयणे काएण वि बंमवई सो हवे थूलो ।। ३७

जो लोह णिहणित्ता सतोसरसायणेण संतुट्ठो । णिहणदि तिण्हा दुट्ठा मण्णंतो विणस्सरं सव्वं ।।३८

जो परिमाण कुव्वदि धण-धण्ण-सुवण्ण-खित्तमाईणं ।
उवओगं जाणित्ता अणुव्वद पचमं तस्स ।। ३९

जह लोहणासणट्ठ संगपमाण हवेइ जोवस्स । सव्वदिसाण पमाण तह लोहं णासए णियमा ।।४०

जं परिमाण कीरदि दिसाण सव्वाण सुप्पसिद्धाण । उवओग जाणित्ता गुणव्वदं जाण त पढमं ।।४१

कज्जं किंपि ण साहदि णिच्चं पावं करेदि जो अत्थो ।
सो खलु हवदि अणत्थो पचपयारो वि सो विविहो ।।४२

परदोसाण वि गहणं परलच्छीण समीहण ज च पर-इत्थी-अवलोओ पर-कलहालोयण पढम ।।४३

।।३२-३३ ।। अब तीसरे अचौर्याणुव्रतका स्वरूप कहते है- जो बहुत मूल्यवाली वस्तुको अल्प मूल्यसे नही लेता है, दूसरे का भूली हुई भी वस्तुको नहीं ग्रहण करता है, जो अल्प लाभमे भी सन्तोष धारण करता है, जो पराये द्रव्यको, मायासे, लोभसे, क्रोधसे और मानसे अपहरण नही करता है, जो धर्ममें दृढ चित्त है और शुद्ध बुद्धिका धारक है, वह तीसरे अणुव्रतका धारी श्रावक है ।। ३४-३५ ।। अब चौथे ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप कहते है-जो पुरुष स्त्रीके देहको अशुचिमय और दुर्गन्धित देखकर उससे विरक्त होता हुआ उनके रूप लावण्यको भी मनके मोहित करनेका कारण मानता है· और जो पराई स्त्रियोंको अपनी माता, बहिण और पुत्रीके सदृश मन, वचन कायसे समझता है, वह स्थूल ब्रह्मचर्यव्रतका धारक है ।। ३६-३७ ।। अब पाँचवे परिग्रह-परिमाणाणुव्रतका स्वरूप कहते है-जो पुरुष लोभको जीतकर सन्तोषरूप रसायनसे सन्तुष्ट रहता है और ससारकी सर्व वस्तुओको बिनश्वर मानता हुआ दुष्ट तृष्णाका विनाश करता है, तथा अपने उपयोगको जानकर आवश्यक धन धान्य सुवर्ण क्षेत्र आदि दश प्रकारके परिग्रहका परिमाण करता है, उसके पाचवा अणुव्रत होता है ।। ३८-३९ ।। अब तीन गुणव्रतोंमेसे पहले दिग्व्रतनामक गुणव्रत का स्वरूप कहते है-जिस प्रकार लोभके नाश करनेके लिए जीवके परिग्रहका प्रमाण होता है, उसी प्रकार लोभका नाश करनेके लिए नियमसे सर्व दिशाओका भी प्रमाण करना आवश्यक है । जो पुरुष उपयोगी जानकर सुप्रसिद्ध सभी दिशाओमे जाने-आनेका जीवन भरके लिए परिमाण करता है, उसके प्रथम गुणव्रत जानना चाहिए ।। ४०-४१ ।। अब दूसरे अनर्थदण्डव्रत नामक गुणव्रतका स्वरूप कहते है-जो पदार्थ अपना कुछ भी कार्य नही साधता है, किन्तु नित्य ही पापको करता है, वह पदार्थ अनर्थ कहलाता है, वह अनर्थ दण्ड पाच प्रकारका है और प्रत्येक भेद अनेक रूप भेद है ।। ४२ ।। अन्य पुरुषके दोषोको ग्रहण करना, दूसरे की लक्ष्मीका चाहना, परस्त्रीका अवलोकन करना और अन्यकी कलहको देखना, यह अपध्यान नामका प्रथम अनर्थदण्ड है ।। ४३ ।। खेती

जो उवएसो दिज्जदि किसि-पसुपालण-वणिज्जपमुहेसु ।
पुरिसित्थी-संजोए अणत्थदंडो हवे विदिओ ।। ४४·
विहलो जो वावारो पुढवी-तोयाण अग्गि-वाऊण ।
तह वि वणप्फदि-छेदो अणत्थदंडो हवे तिदिओ ।। ४५
मज्जार पहुदि-धरणं आउह-लोहादिविक्कणं जं च ।
लक्खा-खलादिगहणं अणत्थदंडो हवे तुरियो ।। ४६

जं सवणं सत्थाणं भंडण-वसियरण-कामसत्थाणं । परदोसाणं च तहा अणत्थदंडो हवे चरिमो ।।४७
एवं पंचपयार अणत्थदंडं दुहावहं णिच्चं । जो परिहरेदि णाणी गुणव्वदी सो हवे विदिओ ।।४८
जाणित्ता संपत्ती भोयण-तंबोल-वत्थमादीणं । जं परिपाणं कीरदि भोउवभोयं वय तस्स ।। ४९
जो परिहरेइ संतं तस्स वयं थुव्वदे सुरिंदो वि । जो मणलड्डु ब्रंभक्खदि तस्स वयं अप्पसिद्धियर ।।५०
सामाइयस्स करणे खेत्त काल च आसणं विलओ । मण-वयण-कायसुद्धी णायव्या हुति सत्तेय ।।५१
जत्थ ण कलयलसद्दो बहुजणसंघट्टणं ण जत्थत्थि । जत्थ ण दसादीया एस पसत्थो हवे देसो ।।५२
पुव्वण्हे मज्झण्हेअवरण्हे तिहिवि ण लिया-छक्को । सामइयस्स कालो सविणय णिस्सेस-णिद्दिट्ठो।।५३
बंधित्ता पज्जंक अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा । कालपमाणं किच्चा इंदियवावार-वज्जिदो होउ।।५४

करनेका, पशु-पालनका और वाणिज्य आदि आरम्भ कार्योंका जो उपदेश दिया जाता है, तथा पुरुष और स्त्रीके विवाह आदिके रूपमे सयोग करने-करानेका कथन किया जाता है, वह दूसरा पापोपदेशनामका अनर्थण्ड है ।। ४४ ।। पृथिवी, जल, अग्नि, और वायुका निष्फल व्यापार करना, तथा वनस्पतीका निष्प्रयोजन विच्छेद करना सो प्रमादचर्या नामका तीसरा अअर्थ दण्ड है ।।४५।। बिल्ली-कुत्ता आदि मास-पक्षी पशुओका पालना, आयुध और लोहा आदिका बेचना, लाख और खली आदिका सग्रह करना यह हिंसादान नामका चौथा अनर्थ दण्ड है ।।४६।। कुमार्ग-प्रतिपादक शास्त्रोका सुनना, भंडन, वशीकरण और कामशास्त्रका सुनना, तथा अन्य पुरुषोके दोषोका सुनना, यह दुःश्रुतिनामका अन्तिम अर्थात् पाँचवा अनर्थ दण्ड है ।। ४७ ।। ऐसे पाच प्रकारके दु.खदायक अनर्थ दण्डोंके जानकर जो ज्ञानी नित्य ही उनका परिहार करता है, वह दूसरे अनर्थदण्ड त्याग नामक गुणव्रतका धारक श्रावक हैं।।४८।। अब तीसरे भोगोपभोगपरिमाण गुणव्रतका स्वरूप कहते है-जो पुरुष अपने वित्त और शक्तिके अनुसार भोजन, ताम्बूल आदि भोगोवाली वस्त्र-भवन आदि उपभोगोवाली वस्तुसम्पदाका परिणाम करता है, उसके भोगोपभोगपरिमाणनामक तीसरा गुण-व्रत होता है।।४९। जो पुरुप घरमे विद्यमान भी भोग और उपभोगकी वस्तुका परित्याग करता है, उसके व्रतकी देवेन्द्र भी स्तुति-प्रसशा करते है। और जो मनके लड्डू खाता ह, उसका व्रत अल्प सिद्धिका करनेबाला होता है।। ५० ।। अब शिक्षाव्रतका वर्णन करते हुए उसके चार भेदोमेसे पहले सामायिक शिक्षाव्रतका स्वरूप कहते है-सामायिक करनेके लिए क्षेत्र, काल, आसन, विलय, मन.शुद्धि और वचनशुद्धि और कायशुद्धि ये सातो ही वाते जाननेके योग्य है ।।५१।। जहा पर कल-कल शब्द न होता हो, जहांपर बहुत जनोका जमघट या आवागमन न हो, और न जहापर डांस-मच्छर आदिक हो, ऐसा प्रशस्त स्थान सामायिक करनेके योग्य क्षेत्र है ।।५२।। विनय युक्त गणधरादिने पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न इन तीन कालो छह-छह घडी काल सामायिकका कहा है ।।५३।। पर्यंक आसनको बाधकर अथवा सीधा खडा होकर कालका प्रमाण करके, इन्द्रियोके

जिणवयणेयग्गमणो संवुडकाओ य अंजलिं किच्चा । स-सरूवे सलोणो वंदण-अत्थं विचिंततो ।।५५
किच्चा देसपमाणं सव्व सावज्जवज्जिदो होउ । जो कुव्वदि सामइय सो मुणिसरिसो हवे ताव ।।५६
ण्हाण-विलेवण-भूसण-इत्थीसंसग्ग गंध-धूवादि । जो परिहरेदि णाणी वेरग्गाभूसणं किच्चा ।।५७
दोसु वि पव्वेसु सया उववास एयमत्त णिव्वियडी । जो कुणदि एवमाई तस्स वय पोसहं विदियं ।।५८
तिविहे पत्तम्मि सया सद्धाइगुणेहि सजुदो णाणी । दाण जो देदि सय णवदाणविहीहि सजुत्तो ।५९
सिक्खावयं च तिदिय तस्स हवे सव्वसिद्धिसोक्खयर । दाणं चउव्विहं पिय सव्वेंदाणाण सारयर ।।६०
भोयणदाणं सोक्ख ओसहदाणेण सत्थदाण च । जीवाण अभयदाण सुदुल्लह सव्वदाणेसु ।। ६१

भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणिहोंति दिण्णाणि ।
भुक्ख-तिसाए वाही दिणे दिणे होंति देहीण ।। ६२

भोयणबलेण साहू सत्थ सेवेदि रत्ति दिवस पि । भोयणदाणे दिण्णं पाणा वि य रक्खि होंति ।६३
इह-परलोयणिरीहो दाण जो देदि परमभत्तीए । रयणत्तए सुठविदो सघो सयलो हवे तेण ।। ६४
उत्तमपत्तविसेसे उत्तमभत्तीएँ उत्तम दाण । एयदिणे वि य दिण्णं इंदसुह उत्तमं देदि ।। ६५

पुव्वपमाणकदाण सव्वदिसाणं पुणो वि सवरण ।
इदियविसयाणं तहा पुणो वि जो कुणदि सवरण । ६६

वासादिकयपमाणं दिणे दिणे लोह-कामसमणठ्ठं । सावज्जवज्जणट्ठं तस्स चउत्थ वयं होदि ।।६७

व्यापारसे रहित होकर, जिन-वचनमे मनको एकाग्र करके, कायको सकोच कर, हाथकी अजलि बाँध कर, अपने स्वरूपमे लीन होकर, अथवा वन्दनापाठके अर्थका चिन्तवन करता हुआ, देशका प्रमाण करके और सर्व सावद्य योगको छोडकर जो श्रावक सामायिक करता है, वह उस समय (वस्त्र-वेष्टित) मुनिकें सदृश होता है ।।५४–५६।। अव दूसरे प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतका वर्णन करते है– जो ज्ञानी श्रावक सदा ही अष्टमी और चतुर्दशी इन दोनो पर्वोमे स्नान विलेपन भूषण स्त्री–ससर्ग गध धूप आदिका परिहार करता है और वैराग्यरूप आभूषण धारण करके उपवास,एकाशन अथवा निर्विकार नीरस भोजन आदिको करता है, उसके प्रोषधोपवास नामका दूसरा शिक्षाव्रत होता है ।।५७–५८।। अब तीसरे अतिथि सविभाग शिक्षाव्रतका वर्णन करते है–जो श्रद्धा आदि गुणोसे सयुक्त ज्ञानी पुरुष सदा तीन प्रकारके पात्रोको नौ प्रकारकी दानविधिसे अर्थात् नवधाभक्तिसे सयुक्त होकर स्वय दान देता है, उसके यह तीसरा शिक्षाव्रत होता है । यह चार प्रकारका दान सव दानो-में सारभूत है और सब सुखोका तथा सिद्धियोका करनेवाला है ।।५९–६०।। औषधिदानके साथ भोजनदानसे सुख प्राप्त होता है । शास्त्रदान और जीवोका अभयदान देना सर्वदानोमे अति दुर्लभ है ।।६१।। भोजनदानके देनेपर शेष तीनो ही दान दिये गये होते है । क्योकि प्राणियोको भूख और प्यासकी व्याधि दिन प्रतिदिन होती है ।।६२।। भोजनके बलसे ही साधु रात-दिन शास्त्रका अभ्यास करता है और भोजनदानके देनेपर प्राण भी सुरक्षित रहते है ।।६३।। जो पुरुष इस लोक और पर–लोकके फलकी इच्छासे रहित होकर परम भक्तिसे दान देता है, वह सर्वसघको रत्नत्रय धर्ममे स्था–पित करता है । उत्तम पात्रविशेषको उत्तम भक्तिसे एक दिन भी दिया उत्तम दान इन्द्रलोकके सुख-को देता है ।।६४-६५।। अब चोथे देशावकाशिक शिक्षाव्रतको कहते है–जो पुरुष लोभ और काम बिकारके शमन करनेके लिए तथा पापोके छोडनेके लिए वर्ष आदिका प्रमाण करके पूर्वमे किये हुए सर्व दिशाओके प्रमाणको फिर भी सवरण करता है और इन्द्रियोके भोग उपभोगरूप विषयोका फिर भी दिन दिन सवरण करता है, उसके यह देशावकाशिक नामका चौथा शिक्षाव्रत होता है ।।६६-६७।।

बारस-वएहिं जुत्तो सल्लिहणं जो कुणेदि उवसंतो ।
सो सुरसोक्खं पाविय कमेण सोक्खं परं लहदि ॥६८

एक्कं पि वयं विमलं सद्दिट्ठी जइ कुणेदि दिढचित्तो । दो विविहरिद्धिजुत्तं इंदत्त पावए णियमा ॥६९
जो कुणदि काउस्सग्गं बारस-आवत्त-संजुदो धीरो । णमणदुग पि कुणंतो चदुप्पाणामो पसण्णप्पा ॥७०
चिंततो ससरूवं जिणबिंबं अह व अक्खरं परमं । झायदि कम्मविवायं तस्स वयं होदि सामइयं ॥७१

सत्तमि-तेरसि-दिवसे अवरण्हे जाइऊण जिणभवणे ।
किच्चा किरियाकम्म उववासं चउविहं गहिय ॥७२

गिहवावार चत्ता रत्ति गमिऊण धम्मचिंताए । पच्चूसे उट्ठित्ता किरियाकम्मं च कादूण ॥७३
सत्थब्भासेण पुणो दिवसं गमिऊण वंदण किच्चा । रत्ति णेदूण तहा पच्चूसे वंदणं किच्चा ॥७४
पुज्जणविहिं च किच्चा पत्तं गहिऊण णवरि तिविहंपि । भुंजाविउण पत्तं भुंजतो पोसहो होदि ॥७५
एक्कं पि णिरारंभो उववास जो करेदि उवसतो । बहुभवसंचियसंकम्मं सो णाणी खवदि लीलाए॥७६
उववासं कुव्वंतो आरभं जो करेदि मोहादो । सो णियदेहं सोसदि ण झाडए कम्मलेसं पि ॥७७

सच्चित्तं पत्त-फलं छल्ली मूलं च किसलयं बीयं ।
जो ण य भक्खदि णाणी सचित्तविरदो हवे सों दु ॥७८
जो ण य भक्खेदि सयं तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दाउं ।
भुत्तस्स भोजिदस्स हि णत्थि विसेसो जदो को वि ॥७९

जो श्रावक बारह व्रतोको पालता हुआ जीवनके अन्तमे कषायोको उपशान्त करता हुआ सल्लेखना करता है, वह स्वर्गके सुखको पाकरके क्रमसे मोक्षके परम सुखको प्राप्त करता है ॥६८॥ जो सम्यग्दृष्टि पुरुष दृढचित्त होकर यदि एक भी व्रतको निरतिचार निर्मल पालन करता हैं, तो वह भी नियमसे अनेक प्रकारकी ऋद्धियोसे युक्त इन्द्रपदको पाता है ।।६९।। अब सामायिकप्रतिमा-का वर्णत करते हैं–जो धीर वीर श्रावक बारह आवर्त–सहित चार प्रणाम और दो नमस्कारोको करता हुआ प्रसन्नचित्त होकर कायोत्सर्ग करता है, और उस समय अपने स्वरूपका, जिन-प्रतिबिम्ब-का, अथवा परमेष्ठिके वाचक अक्षरोका, अथवा कर्मोके विपाक (फल) का चिन्तवन करता हुआ ध्यान करता हैं, उसके सामायिक प्रतिमारूप व्रत होता है ॥७०-७१॥ अब प्रोषधप्रतिमाका वर्णन करते हैं—सप्तमी और त्रयोदशीके दिन अपरान्हके समय जिन-मन्दिरमे जाकर आवश्यक क्रिया कर्म करके चार प्रकारका आहार त्यागकर उपवासको ग्रहण करे और घरके सब व्यापार-कार्योको छोड-कर धर्मध्यानपूर्वक रात बितावे । पुन प्रात काल उठकर और क्रिया कर्मको करके शास्त्राभ्यासके साथ दिन बिताकर सामायिक-वन्दनादि करो पुन. धर्मध्यानपूर्वक रात बिताकर उषाकालमे सामायिक-वन्दनादि करके और पूजन-विधान भी करके और यथावसर प्राप्त तीनों प्रकारके पात्रोंका पड़गाह करके उन्हे भोजन कराकर पीछे स्वय भोजन करनेवाले श्रावकके प्रौपधप्रतिमारूप व्रत होता है ॥७२–७५॥ जो ज्ञानी उपशम भावको धारण करता हुआ आरम्भ-रहित एक भी उपवासको करता है, वह बहुत भवोंके सचित कर्मको लीलामात्रसे क्षय कर देता है ॥७६॥ किन्तु जो उपवास करते हुए मोहवश आरम्भिक कार्य करता है, वह केवल अपनी देहको सुखाता है, पर लेशमात्र भी कर्मकी वह निर्जरा नही करता ॥७७॥ अब सचित्त त्याग प्रतिमाका वर्णन करते है—जो ज्ञानी पुरुष सचित्त पत्र सचित्त फल, सचित्त छाल, सचित्त मूल. सचित्त कोपल और सचित्त बीजको नही खाता है, वह

जो वज्जेदि सचित्तं दुज्जय जीहा णिणिज्जिया तेण।
दयभावो होदि कओ जिणवयण पालियं तेण ।।८०
जो चउविहं पि भोज्जं रयणीए णेव भुंजदे णाणी ।
ण य भुंजावदि अण्ण णिसिविरओ सो हवे भोज्जो ।।८१
जो णिसिभुत्ति वज्जदि सो उववासं करेदि छम्मास । सवच्छरस्स मज्झे आरभंचयदि रयणीए ।।८२
सव्वेसिं इत्थीण जो अहिलासं ण कुव्वदे णाणी । मण-वाया-काएण य बंभवई सो हवे सदओ ।।८३
जो कय-कारय-मोयण-मण-वय-काएण मेहुण चयदि । बंभपवज्जारूढो बभवई सो हवे सदओ ।।८४
जो आरंभं ण कुणदि अण्ण कारयदि णेव अणुमण्णे । हिंसासतट्ठमणो चत्तारभो हवे सो हु ।।८५
जो परिवज्जइ गंथ अब्भतर बाहिर च साणंदो । पावं ति मण्णमाणो णिग्गथो सो हवे णाणी ।।८६
बाहिरगथविहीणा दलिद्दमणुवा सहावदो होंति । अब्भंतरगथं पुण ण सक्कदे को वि छडेदुं ।।८७
जो अणुमणण ण कुणदि गिहत्थकज्जेसु पावमूलेसु । भवियव्वं भ वंतो अणुमणविरओ हवे सो दु ।।८८
जो पुण चिंतदि कज्ज सुहासुहं राय- दोससजुत्तो । उवओगेण विहीणं स कुणदि पाव विणा कज्जं ।।८९

सचित्तविरत प्रतिमाधारी श्रावक है। जो पुरुष जिस सचित्त वस्तुका स्वय नही खाता है, उसे दूसरे को खानेके लिए देना योग्य नही है। क्योकि खाने और खिलानेमे कोई अन्तर नही है ।।७८-७९।। जिस पुरुषने सचित्त वस्तुके खानेका त्याग कर दिया है, उसने अपनी दुर्जय जिव्हाको जीत लिया है। उसने दयाभाव भी प्रकट किया और जिनेन्द्रदेवके वचनोका भी पालन किया है ।।८०।। अव रात्रिभोजनत्यागप्रतिमाका वर्णन करते है–जो ज्ञानी पुरुष खाद्य (दाल-भात आदि)स्वाद्य मिठाई आदि)लेह्य(अवलेह चटनी आदि)और पेय (पानी दूध आदि) इन चारो ही प्रकारके भोजनको रात्रिमे न स्वय खाता है और न दूसरोको खिलाता है, वह रात्रिभोजनविरतप्रतिमाधारी श्रावक है ।।८१।। जो पुरुष रात्रि–भोजनका त्याग करता है, वह एक वर्षमे छह मास उपवास करता है क्योकि वह रात्रिमे आरम्भका त्याग करता है ।।८२।। अव ब्रह्मचर्यप्रतिमाका वर्णन करते है–जो ज्ञानी श्रावक मन, वचन और कायसे सभी प्रकारकी स्त्रियोकी अभिलाषा नही करता, वह दयालु ब्रह्मचर्यव्रतका धारक है ।।८३।। जो कृत कारित अनुमोदना, मन–वचन और कायसे मैथुन–सेवन छोडता है, वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यप्रतिमारूढ दयालु श्रावक है ।।८४।। भावार्थ–उक्त दोनो ही गाथाओमे 'सदय' पद प्रयुक्त हुआ है, जिसका अभिप्राय यह है कि स्त्रीका सेवन करनेवाला पुरुष स्त्रीकी योनिमे उत्पन्न होनेवाले असख्य सूक्ष्म त्रस-जन्तुओका घात करता है और स्त्री–सेवनका त्यागी उनकी रक्षा करता है, अत वह दयालु है। अव आरम्भत्याग प्रतिमाका वर्णन करते है– हिंसासे दुखित मनवाला जो श्रावक कृषि, व्यापारादि आरम्भ कार्यको न स्वय करता है, न औरसे कराता है और न आरम्भ करनेवालोको अनुमोदना ही करता है, वह आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी श्रावक है ।।८५।। अब परिग्रहत्यागप्रतिमाका वर्णन करते है–जो ज्ञानी पुरुष वाहिरी ओर भीतरी परिग्रहको पाप मानता हुआ प्रसन्नता पूर्वक उसे छोडता है, वह निर्ग्रन्थ परिग्रह-त्यागी है ।।८६।। क्योकि दरिद्र मनुष्य तो स्वभावसे ही वाहिरी परिग्रहसे रहित होते हे। किन्तु भीतरी परिग्रहको छोडनेके लिए कोई भी समर्थ नही होता है ।।८७।। अव अनुमतित्यागप्रतिमाका वर्णन करते है–जो पुरुष पापमूलक गृहस्थीके कार्योकी अनुमोदना नही करता है, किन्तु पुत्र–पौत्रादिका भविष्य उनके भवितव्यके अधीन है, ऐसी भावना करता हुआ गृहकार्योसे उदासीन रहता है, वह अनुमति विरत प्रतिमाधारी है ।।८८।। जो पुरुष राग-द्वेपके सयुक्त होकर अपने उपयोग या प्रयोजनसे रहित शुभ–

जो णवकोडिविसुद्धं भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जं। जायणरहियं जोग्गं उद्दिट्ठाहार विरदो सो ॥९०
जो सावयवयसुद्धो अंते आराहणं परं कुणदि। सो अच्चुदम्हि सग्गे इंदो सुर-सेविदो होदि ॥९१

— o —

अशुभ कार्योंका चिन्तवन करता है, वह कार्यसे विना ही पापका संचय करता है ॥८९॥ अब उद्दिष्ट-त्यागप्रतिमाका वर्णन करते हैं—जो श्रावक (गृह-वास छोडकर) भिक्षावृत्तिसे याचना-रहित, नव-कोटिसे विशुद्ध योग्य आहारको खाता है, वह उद्दिष्टाहार-विरत प्रतिमाका धारक है ॥ ९० ॥

अब आचार्य श्रावकधर्मके वर्णनका उपसंहार करते हुए अन्तिम सल्लेखना और उसके फलका वर्णन करते हैं—इस प्रकार जो पुरुष श्रावकके उपर्युक्त व्रतोंका अतीचार-रहित शुद्ध पालन करता हुआ जीवनके अन्तमें परम आराधना अर्थात् सल्लेखनाको धारण कर मरण करता है, वह अच्युत स्वर्गमें देवोंसे सेवित इन्द्र होता है ॥९३॥

इस प्रकार स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा गत श्रावकधर्मका वर्णन समाप्त हुआ।

महापुराणान्तर्गत-अष्टत्रिंशत्तमं पर्व

जयन्त्यखिलवाङ्मार्गगामिन्य सूक्तयोऽर्हताम्, धूतान्धतमसा दीप्रा यस्त्विषोंऽशुमतामिव ।।१
सजीयाद्वृषभो मोहविषसुप्तमिद जवात् । पटविद्येव यद्विद्या सद्य समुदतिष्ठपत् ।।२
त नत्वा-परम ज्योतिर्वृषभ वीरमन्वत । द्विजन्मनामथोत्पत्ति वक्ष्ये श्रेणिक भो: शृणु । ३
भरतो भारत वर्ष निर्जित्य सह पार्थिवै । षष्टया वर्षसहस्रैस्तु दिशा निववृते जयात् । ४
कृतकृत्यस्य तस्यान्तश्चिन्तेयमुदपद्यत । परार्थे सम्पदास्माकी सोपयोगा कथ भवेत् ।।५
महामहमहं कृत्वा जिनेन्द्रस्य महोदयम् । प्रीणयामि जगद्विश्वं विष्वक् विश्राणयन् धनम् । ६
नानगारा वसून्यस्मत् प्रतिगृण्हन्ति नि स्पृहा । सागार कतम: पूज्यो धनधान्यसमृद्धिभि ।।७
येंऽणव्रतधरा धीरा धौरेया गृहमेधिनाम् । तर्पणीयाहि तेऽस्माभिरीप्सितैर्वसुवाहनै: ।।८
इति निश्चित्य राजेन्द्र· सत्कर्तुमुचितानिमान् । परीचिक्षिषुराव्हास्त तदा सर्वान् महीभुज. ।।९
सदाचारै निजैरिष्टै: अनुजीविभिरन्विता. । अद्यास्मदुत्सवे यूयं आयातेति पृथक पृथक ।।१०
हरितैरङ्कुरै पुष्पै: फलैश्चाकीर्णमङ्गणम् । सम्राडचीकरत्तेषां परीक्षायै स्ववेश्मनि ।।११

समस्त भाषाओमे परिणत होनेवाली, अज्ञानरूप गाढ अन्धकारका नाश करनेवाली और सूर्यकी किरणोके समान उज्ज्वल प्रकाशवाली अर्हन्त भगवन्तो की सूक्तियाँ सदा जयवन्त रहे। १।। मोह रूपी विषसे सुप्त (व्यास) इस समस्त जगत्को गारुडी विद्याके समान जिनकी विद्याने अति-शीघ्र जगाकर सावधान और स्वस्थ कर दिया, वे वृषभ भगवान् सर्वदा जयशील रहे ।२।। गौतम स्वामी राजा श्रेणिकको सम्बोधन करते हुए कहते है कि हे श्रेणिक, मै उन परम ज्योति वाले ऋषभ देवको तथा वीरनाथको नमस्कार कर अब द्विजन्मो ब्राह्मणो की उत्पत्तिको कहूगा, सो तू सावधान होकर सुन ।।३।। ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र आदि चक्रवर्ती भरत महाराज राजाओके साथ ही इस भारतवर्षको जीतकर साठ हजार वर्षमे दिग्विजय करके वापिस अयोध्याको लौटे ।।४।। जब वे करनेके योग्य सभी राज-कार्योको कर चुके तब उनके हृदयमे यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि दूसरोके उपकारमे हमारी इस सम्पदाका सदुपयोग कैसे होवे ।.५।। उनके चित्तमे विचार आया कि मैं जिनेद्र देवकी महान् उदयवाली 'महामह' नामक पूजा को करके और सर्व जगत्को अपना यह धन देता हुआ उसे प्रसन्न करूँ । ६।। परिग्रहकी इच्छा रहित निर्ग्रन्थ मुनिजन तो हम गृहस्थो मे धन लेते नही है । फिर कौन सा सागार (गृहस्थ) धन धान्यरूप समृद्धिके द्वारा पूज्य है । ७।। तब भरतके मनमे उचित विचार उदित हुआ कि जो मनुष्य अणुव्रतोके धारक है, धीर वीर है, और गृहस्थोमे अग्रणी या प्रमुख है, ऐसे पुरुष ही हमारे द्वारा अभीष्ट धन और वाहनो (गज-अपूवादि) के द्वारा दान देकर सन्तुष्ट करनेके योग्य है ।।८।। इस प्रकार निश्चयकर परिक्षा करनेके इच्छुक भरतराज ने सत्कार करनेके योग्य उन गृहस्थोको तथा सभी राजाओ को उस समय बुलवाया ।।९।। और सबकी यह सन्देश भेजा कि आपलोक अपने सदाचारी इष्ट बन्धुओ और परिजनोके साथ आज हमारे उत्सवमे पथक्-पृथक् आवे ।।१०।। इधर सम्राट भरतने उन लोगोंकी परीक्षाके लिए अपने राज-भवनमे आगनको हरे दूर्वा-अकुरोसे, पुष्पो और फलोसे व्याप्त करा दिया ।।११।। उन आमंत्रित व्यक्ति

तेष्वव्रता विना सङ्गात् प्राविक्षन् नृपमन्दिरम् । तानेकत समुत्सार्य शेषानाण्हययत् प्रभु ॥१२
ते तू स्वव्रतसिद्धचर्थमीहमाना महान्वयाः । नैषुः प्रवेशनं तावद् यावदार्द्राड्कुराः पथि ॥१३
सधान्यैर्हरितै. कीर्णमनाक्रम्य नृपाङ्गणम् । निश्चक्रमुः कृपालुत्वात् केचित् सावद्यभीरव ॥४१
कृतानुबन्धना भूयश्चक्रिणः किल तेऽन्तिकम् । प्रासुकेन पथाऽन्येन भेजु क्रान्त्वा नृपाङ्गणम् ॥१५
प्राक् केन हेतुना यूयं नायाता पुनरागताः । केन ब्रूतेति पृष्टास्ते प्रत्यभाषन्त चक्रिणम् ॥१६
प्रवालपत्रपुष्पादेः पर्वणि व्यपरोपणम् । न कल्पतेऽद्य तज्जानां जन्तूनां नोऽनभिद्रुहाम् ॥१७
सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वङ्कुरादिषु । निगोता इति सार्वज्ञं देवास्माभि श्रुतं वच ॥१८
तस्मान्नास्माभिराक्रान्तमद्यत्वे त्वद् गृहाङ्गणम् । कृतोपहारमार्द्रार्द्रै॰ फलपुष्पाङ्कु रादिभि॰ ॥१९
इति तद्वचनात् सर्वान् सोऽभिनन्द्य दृढव्रतान् । पूजयामास लक्ष्मीवान् दानमानादिसत्कृतै. ॥२०
तेषां कृतानि चिन्हानि सूत्रै पद्माण्हयान्निधे । उपात्तै ब्रंह्मसूत्राण्हैरेकाद्येकादशान्तकै. ॥२१
गुणभूमिकृताद् भेदात् क्लृप्तयज्ञोपवीतिनाम् । सत्कार. क्रियते स्मैषामव्रताश्च बहि कृताः ॥२२
अथ ते कृतसन्मानाः चक्रिणा व्रतधारिण भजन्तिस्म पर दार्ढ्यं लोकश्चैनानपूजयत् ॥२३
इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तप. । श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥२४

योमे जो अव्रती थे, वे लोग किसी प्रकारका विचार किये विना राज–मन्दिर प्रविष्ट हो गये । तव भरत नरेशने उन्हे एक ओर हटा कर वाहिर खडे हुए शेष लोगोको वुलवाया ।।१२।। किन्तु उत्तम वंशवाले और अपने अहिंसाव्रतकी सिद्धि या सुरक्षा के इच्छुक उच्चकुलीन लोगोने जव तक आनेके मार्गमे जलसे गीले और हरे अकुर विद्यमान हैं, तव तक राज–मन्दिरमे प्रवेश करनेकी इच्छा नहीं की ।।१३।। और दयालु होनेसे कितने ही पाप–भीरु लोग हरे धान्योमे व्याप्त राजभवनके आँगन का उल्लंघन किये विना ही वापिस लोट गये ।।१४। पुन भरतराजके द्वारा वहुत अनुनय–विनय किये जाने पर वापिस लौटे हुए वे लोक दूसरे प्रासुक (जीव-रहित अचित्त) मार्गसे राजाङ्गणका उल्लघन कर चक्रवर्ती भरतके समीप पहुचे ।।१५।। तव चक्रवर्तीने उन लोगोसे पूछा कि आप लोग पहले किस कारणसे नही आये थे और पुन. किस कारणसे आये ? तव उन लोगोने चक्रवर्तीसे कहा ।।१६।। आज पर्वके दिन हम लोग प्रवाल, पत्र, पुष्पादिक की, तथा उनमे उत्पन्न हुए और हमारा कुछ भी विघात नही करनेवाले जन्तुओकी हिसा नही करते हैं ।।१७। हे देव, 'हरित' अकुरादिकमे अनन्त निगोदिया जीव होते हैं' ऐसा सर्वज्ञोक्त वचन हम लोगोने सुना है ।।१८।। इसलिए अत्यन्त गीले फल, फूल और अकुरादिसे शोभायमान किये गये आपके गृहाङ्गणको आज पर्व के दिन हम लोगोने उल्लघन नही किया है ।।१९।। इस प्रकार उनके वचनोंसे प्रसन्न हुए उस श्रीमान् भरतराजने दान मानादि सत्कारोंसे अभिनन्दन कर उन दृढव्रती लोगोकी पूजा की ।।२०।। तथा पद्म नामक निधिसे व्रत-चिन्ह स्वरूप ब्रह्म सूत्र नामक सूत्रसे प्रथम प्रतिमाका आदि लेकर ग्यारहवी प्रतिमा तक के श्रावकोंके एकसे आदि लेकर ग्यारह तककी सख्याम व्रत–परिचायक चिन्ह किये । अर्थात् जो श्रावक जितनी प्रतिमाओंका धारक था, उसे उतने ही ब्रह्मसूत्र पहनाये ।।२१।। इस प्रकार श्रावक व्रतरूप गुणोंकी प्रतिमारूप भूमिके आधारके भेदसे उन व्रती श्रावकोंको यज्ञोपवीत पहनाकर चक्रवर्तीने उनका सत्कार किया और जो अव्रती लोग थे, उन्हे वाहिर निकाल दिया । २२।। अनन्तर चक्रवर्तीके द्वारा सन्मानको प्राप्त हुए वे व्रत–धारी लोग अपने अपने व्रतोंका और भी दृढता से पालन करने लगे और सब लोग उनका आदर–सत्कार करने लगे ।।२३।। भरतराजने उपास–

कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनम् । तदा भरतराजर्षिरन्ववोचदनुक्रमात् ।।२५
प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम् । चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमाश्चाष्टान्हिकोपि च ।।२६
तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति । स्वगृहान्नीयमानाऽर्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ।। २७
चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापण च यत् । शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम् ।।२८
याच पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी । स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पित· ।।२९
महामुकुटबद्धश्च क्रियमाणो महामहः । चतुर्मुखः स बिज्ञेय सर्वतोभद्र इत्यपि ।।३०
दत्वा किमिच्छक दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते । कल्पद्रुममह. सोऽयं जगदाशाप्रपूरण ।।३१
आष्टान्हिका मह सार्वजनिका रूढ एव स । महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो महः ।।३२
बलिस्नपनमित्यन्यस्त्रिसन्ध्यासेवया समम । उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् ।।३३
एवंविधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम् । विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्ति प्राथमकल्पिकीम् ।।३४
वार्ता विशुद्धवृत्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः । चतुर्धा वर्णितादत्ति. दया-पात्र-समान्वये ।।३५

काध्ययन नामक सातवे अगसे उन व्रती लोगोके लिए इज्या(पूज्या)वार्ता, दत्ति (दान) स्वाध्याय, सयम और तपका उपदेश दिया ।।२४।। पूजा आदि षट्कर्मोका पालन करना इन गृहस्थोका कुलधर्म है, ऐसा विचार कर भरतराजर्षिने उस समय उन व्रती गृहस्थोके लिए अनुक्रमसे अर्हत्पूजा आदि पट्कर्त्तव्योका उपदेश दिया ।।२५।। भरतने बताया कि उपासकाध्ययन सूत्रमे अर्हन्तदेवकी पूजा चार प्रकारकी कही गई है– नित्यमह (सदार्पण), चतुर्मुख मह, कल्पद्रुम और आष्टन्हिक पूजा । २६।। उनमेसे प्रतिदिन अपने गृहसे जिनालयमे ले जाये गये गन्ध पुष्प, अक्षत आदिके द्वारा जिन भगवानकी पूजा करना निञ्यमह कहलाता है ।।२७।। अथवा भक्तिसे जिन बिम्ब और जिनालय आदिका निर्माण कराना, तथा उनके सरक्षणके निए ग्राम आदिका राज्यशासनके अनुसार पजीकरण करा करके दान देना भी नित्यमह कहलाता हे ।।२८।। तथा अपनी शक्तिके अनुसार मुनीश्वरोकी निल्य आहारादि दान देतेके साथ जो पूजाकी जाती है, वह भी नित्यमह जानना चाहिए । ३९।। महामुकुटबद्ध राजाओके द्वाराकी जानेवाली महापूजाको महामह कहते है। उसीके चतुर्मुख और सर्वतोभद्र नाम भी जानना चाहिए ।।३० । चक्रवर्तियोके द्वारा 'तुम लोग क्या चाहते हो' इस प्रकार अर्थी या याचक जनोसे पूछ पूछ कर जगज्की आशाको पूर्ण करने वाला जो किमिच्छक दान दिया जाता है वह कल्पद्रुममह या कल्पवृक्षयज्ञ कहलाता है ।। ३१ ।। अष्टान्हिका पर्व मे सर्व साधारण जनोके द्वारा किया जानेवाला पूजन अष्टान्हिक मह कहलाता है, जो कि ससारमे प्रसिद्ध है। इन चार प्रकारके महो(पूजनो)के सिवाय इन्द्रोके द्वारा की जानेवाली महान् पूजनको इन्द्रध्वजमह कहते हैं । (आजके युगमे प्रतिमाकी प्रतिष्ठाके निमित्त प्रतिष्ठाकारकोके द्वारा जो पचकल्याणक पूजन की जाती है उसे भी इन्द्रध्वज मह जानना चाहिए।)।।३२।। इनके अतिरिक्त जो वलि (नैवेद्य) चढाना, अभिपेक करना, आरती करना आदि कार्य तीनो सन्ध्याकालो मे की जाने वालि सेवा-उपासनाके साथ किये जाते है, तथा इसी प्रकारके अन्य जो भी पूजा-आराधनाके कार्य गृहस्थो द्वारा प्रति दिन किये जाते है, उन सवको उपर्युक्त पूजनके भेदो मे ही अन्तर्गत जानना चाहिए । ३३।। इस प्रकारके विधि-विधानसे जिनेन्द्रदेवकी जो महापूजाकी जाती है, उमे विधिवेत्ता आचार्य श्रावकके षट्कर्त्तव्योमे सर्व प्रथमकी जानेवाली इज्या वृत्ति कहते है ।।३४।। विशुद्ध प्रवृत्तिके साथ कृपि आदिक आजीविकाका अनुष्ठान करना वार्ता नामक गृहस्त्रका दूसरा कर्तव्य है। श्रावकका तीसरा कर्तव्य दत्ति अर्थात् दान देता है । वह दयादत्ति पात्रदत्ति मम और अन्वयदत्ति

सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा । त्रिशुद्धचनुगता सेय दयादत्तिर्मता बुधै ॥३६
महातपोधनायार्या-प्रतिग्रहपुरःसरम् । प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते ॥ ३७
समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः । निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम् ॥३८
समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते । समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयाऽन्विता ॥३९
आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषत । समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनम् ॥४०
सैषा सकलदत्ति स्यात स्वाध्याय श्रुतभावना । तपोऽनशनवृत्त्यादि संयमो व्रतधारणम् ॥४१
विशुद्धा वृत्तिरेषेषां षट्तयीष्टा द्विजन्मनाम् । योऽतिक्रामेदिमां सोऽज्ञो नाम्नैव न गुण द्विज. ॥४२
तप श्रुतञ्च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम् । तपश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव स ॥४३
अपापोपहता वृत्तिः स्यादेषां जातिरुत्तमा । दत्तीज्याधीतिमुख्यत्वाद् व्रतशुद्धया सुसस्कृता ॥४३
मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा । वृत्ति भेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥४५

ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रिया शस्त्रधारणात् ।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥४६

तप.श्रुताभ्यामेवातो जातिसंस्कार इष्यते । असस्कृतस्तु यस्ताभ्यां जातिमात्रेण स द्विज· ॥४७

के भेदसे चार प्रकारकी वृर्णन की गई है ॥३५॥ अनुग्रह करनेके योग्य-दयाके पात्र दीन प्राणिसमुदाय पर मन, वचन, कायकी निर्मलताके साथ अनुकम्पा पूर्वक उनके भय दूर करनेको विद्वान लोकोने दयादत्ति कहा है ॥ ३६ ॥ महान् तपस्वी साधुजनोके लिए प्रतिग्रह (पडिगाहन) आदि नवधा भक्ति पूर्वक आहार, औषध आदिका देना पात्रदत्ति कही जाती है ॥३७॥ क्रिया, मत्र और व्रत आदिसे जो अपने समान है, ऐसे अन्य साधर्मी बन्धुके लिए और ससार-तारक उत्तम गृहस्थके लिए भूमि, सुवर्ण आदि देना समदत्ति है । तथा मध्यमपात्रमें समान सम्मानकी भावनाके साथ श्रद्धासे युक्त जो दान दिया जाता है, वह भी समानदत्ति हे । ३८-३९॥ अपने वंशको स्थिर रखनेके लिए पुत्रको कुलधर्म ओर धनके साथ जो कुटुम्ब-रक्षाका भार पूर्ण रूपसे समर्पण किया जाता है, उसे सकलदत्ति कहते है । श्रुतज्ञानकी भावना करना अर्थात् शास्त्रोका मनन-चिन्तन और पठन-पाठनादि करना स्वाध्याय कहलाताहै उपवासआदिकरनातप है और व्रत-धारण करनेकोसयमकहते है।४०-४१। यह ऊपर कही गयी छह प्रकारकी विशुद्ध वृत्ति द्विजन्मा-ब्रह्मसूत्रधारी गृहस्थोको करना चाहिये । जो इनका उल्लघन करे, वह अज्ञानी नामसे ही द्विज है, गुणोसे द्विज नही समझना चाहिये ॥४२॥[1] तप, श्रुत और जाति ये तीन द्विज या ब्राह्मणपनेके कारण है । जो गृहस्थ तप और श्रुतसे रहित हैं, वह केवल जातिसे ब्राह्मण है । गुण या कर्मसे नही, ऐसा समझना चाहिये ॥४३॥ इन द्विजन्मा ब्राह्मणोंको वृत्ति पापसे रहित है । इसलिए इसकी जाति उत्तम कहलाती है । तथा दान, पूजन, अध्ययन आदि कार्योकी मुख्यतासे व्रतोकी शुद्धि होनेके कारण वह ब्राह्मण जाति और भी सुसस्कृत हो गई है, अर्थात् अच्छे सस्कारवाली बन गई है ॥४४॥ यद्यपि मनुष्य जातिनामक नामकार्यके उदयसे उत्पन्न हुई यह मनुष्य जाति एक ही है, तथापि आजीविकाके भेदसे प्राप्त हुई विभिन्नताके कारण वह ससारमे चार भेदोको प्राप्त हो गई है।४५॥व्रतोके सस्कारसे ब्राह्मण शास्त्रोके धारण करनेसे क्षत्रिय, न्याय पूर्वक अर्थके उपार्जन करनेसे वैश्य और निम्न वृत्तिका आश्रय लेनेसे मनुष्य शूद्र कहलाते है।४६॥ अतएव द्विजोका जातिसंस्कार तप और श्रुतके अभ्याससे ही माना जाता है । जो द्विज इन दोनोसे

---

१. न अ गुणैर्द्विज ।

द्विर्जातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च य । क्रियामन्त्रविहीनस्तु केवलं नाम धारक ॥४८
तदेषां जातिसंस्कारं द्रढयन्निति सोधिराट् । सप्रोवाच द्विजन्मभ्य क्रियाभेदानशेषत ॥४९
ताश्च क्रियास्त्रिधाऽऽम्नाताः श्रावकाध्यायसङ्ग्रहे । सद्दृष्टिभिरनुष्ठेया महोदर्का. शुभ वहाः॥५०
गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रिया । कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैवं बुधैर्मता ॥५१
आधानाद्यास्त्रिपञ्चाशत् ज्ञेया गर्भान्वियक्रिया । चत्वारिंशदथाष्टौ च स्मृता दीक्षान्वयक्रिया. ॥५२
कर्त्रन्वयाक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञ समुच्चिता: । तासां यथाक्रमं नामनिर्देशोऽयमनूद्यते ॥५३
अङ्गानां सप्तमादङ्गाद् दुस्तरादर्णवादपि । श्लोकैरष्टाभिरुन्नेष्ये प्राप्तं ज्ञानलव मया ॥५४
आधानं प्रीतिसुप्रीती धृतिर्मोद प्रियोद्भवः । नामकर्मबहिर्यानिनिषद्या प्राशनं तथा ॥५५
व्युष्टिश्च केशवापश्च लिपिसङ्ख्यानसङ्ग्रह । उपनीतिर्व्रतं चर्या व्रतावतरणं तथा ॥५६
विवाहो वर्णलाभश्च कुलचर्या गृहीशिता । प्रशान्तिश्च गृहत्यागो दीक्षाद्य जिनरूपता ॥५७
मौनाध्ययनवृत्तत्व तीर्थकृत्त्वस्य भावना । गुरुस्थानाभ्युपगमोगणोपग्रहण तथा ।.५८
स्वगुरुस्थानसंक्रान्ति निस्सङ्गत्वात्मभावना । योग निर्वाण सम्प्राप्ति, योगनिर्वाण साधनम् ।५९
इन्द्रोपपादाभिषेकौ विधिदान सुखोदयः । इन्द्रत्यागावतारौ च हिरण्योत्कृष्टजन्मता ।.६०
मन्दरेन्द्राभिषेकश्च गुरुपूजोपलम्भनम् । यौवराज्य स्वराज्यं च चक्रलाभो दिशाञ्जय. ॥६१
चक्राभिषेकसाम्राज्ये निष्क्रान्तिर्योगसम्महः आर्हन्त्य तद्विहारश्च यं गत्यागोऽग्रनिर्वृति. ॥६२
त्रयः पंचाशदेता हि मता गर्भान्वयक्रियाः । गर्भाधानादिनिर्वाणपर्यन्ता. परमागमे ॥६३

असस्कृत है, वह् जातिमात्रसे द्विज कहलाता है ॥४७॥ जिसका एक वार गर्भसे और दूसरी वार क्रियाओके सस्कारसे जिसका जन्म हुआ है, वह द्विज कहलाता है। किन्तु जो क्रिया और मन्त्रसे रहित है, वह तो केवल नामधारक द्विज है वास्तविक नही, ॥४८॥ इसलिए इन द्विजोके जाति-सस्कारोको दृढ करते हुए उस सम्राट भरतराजने उन द्विजोके लिए वक्ष्यप्रमाण प्रकारसे समस्त क्रिया-भेदोको कहा ॥ ४९ ॥ श्रावकोके उपासकाध्ययनसूत्रमे वे क्रियाएँ तीन प्रकारकी कही गयी है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थोको उन क्रियाओका अवश्य पालन करना चाहिये, क्योकि वे क्रियाएँ उत्तम फल–दायिनी और कल्याणकारिणी है ॥ ५० ॥ बुद्धिमान् लोगोने वे क्रियाएँ तीन प्रकारकी कही है–गर्भान्वयक्रिया, दीक्षान्वयक्रिया और कर्त्रन्वयक्रिया ॥ ५१ ॥ गर्भाधान आदि तिरेपन गर्भान्वय–क्रियाएँ जानना चाहिए। तथा दीक्षान्वयक्रियाएँ अडतालीस मानी गई है ॥५२॥ इनके अतिरिक्त क्रियाशास्त्रके वेत्ताओने कर्त्रन्वयक्रियाएँ समुच्चयरूपमे सात कही हैं। अब आगे यथाक्रमसे उन क्रियाओके भेदोंका नाम निर्देश किया जाता है॥५३॥ श्रुतज्ञानके बारह अङ्गोमे समुद्रसे भी दुस्तर सप्तम उपासकाध्ययन अङ्गसे मुझे जो लेशमात्रज्ञान प्राप्त हुआ है, उसके द्वारा मे आठ श्लोकोसे उन क्रिया-भेदोको कहता हूँ–१, गर्भाधान, २ प्रीति,३ सुप्रीति,४ धृति,५ मोद,६ प्रियोद्भव,७ नाम-कर्म, ८ वहिर्यान, ९ निषद्या, १० प्राशन, ११ व्युष्टि, १२ केशवाप, १३ लिपिसंख्यानसग्रह. १४,उप-नीति, १५ व्रतचर्या, १६ व्रतावतरण, १७ विवाह, १८ वर्णलाभ, १९ कुलचर्या.२० गृहीशिता, २१, प्रशान्ति, २२ गृहत्याग, २३ दीक्षाद्य, २४. जिनरूपता, २५ मौनाध्ययनवृत्तत्व, २६ तीर्थकृत्त्वभावना, २७ गुरुस्थानाभ्युपगम, २८ गणोपग्रह, २९ स्वगुरुस्थानसंक्रान्ति, ३० निःसगत्वभावना, ३१ योगनि-र्वाणसप्राप्ति, ३२ योगनिर्वाणसाधन,३३ इन्द्रोपपाद, ३४.अभिषेक, ३५.विधिदान ३६ सुखोदय,३७. न्द्रत्याग, ३८,अवतार, ३९ हिरण्योत्कृष्टजन्मता, ४० मन्दरेन्द्राभिषेक. ४१ गुरुपूजोपलम्भन, ४२.

अवतारो वृत्तलाभ. स्थानलाभो गणग्रहः। पूजाराध्यपुण्ययज्ञौ दृढचर्योपयोगिता ॥ ६४
इत्युद्दिष्टाभिरष्टाभिरुपनीत्यादय क्रियाः। चत्वारिंशत्प्रमायक्ता· ताः स्युर्दीक्षान्वयक्रियाः॥ ६५
तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया या प्राप्याः पुण्यकर्तृभि । फलरूपतया वृत्ताः सन्मार्गाराधनस्य वै ॥ ६६
सज्जाति. सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता। साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परनिर्वाणमित्यपि॥ ६७
स्थानान्येतानि सप्त स्यु. परमाणि जगत्त्रये। अर्हद्वागमृतास्वादात् प्रतिलभ्यानि देहिनाम्॥ ६८
क्रियाकल्पोऽयमाम्नातो बहुभेदो महर्षिभि· । सङ्क्षेपतस्तु तल्लक्ष्म वक्ष्ये सञ्चक्ष्य विस्तरम्॥६९
आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मंत्रपूर्वकः। पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया ॥ ७०
तत्रार्चनाविधौ चक्रत्रयं छत्रत्रयान्वितम्। जिनार्चामभित स्थाप्य समं पुण्याग्निभिस्त्रिभि ॥ ७१
त्रयोऽग्न्योऽर्हद्गणभृच्छेषकेवलिनिर्वृतौ । ये हुतास्ते प्रणेतव्याः सिद्धार्चावेद्युपाश्रयाः ॥ ७२
तेष्वर्हदिज्याशेषांशैराहुतिर्मन्त्रपूर्विका। विधेया शुचिभिर्द्रव्यैः पुंस्पुत्रोत्पत्तिकाम्यया ॥ ७३
तन्मन्त्रास्तु यथाम्नायं वक्ष्यन्तेऽन्यत्र पर्वणि। सप्तधा पीठिकाजातिमन्त्रादिप्रविभागत ॥ ७४
विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां मतो जिनै। अव्यामोहादतस्तज्ज्ञै प्रयोज्यास्त उपासकै ॥ ७५

यौवराज्य, ४३ स्वराज्य, ४४ चक्रलाभ, ४५ दिग्विजय. ४६ चक्राभिषेक, ४७ साम्राज्य, ४८ निष्क्रान्ति, ४९ योगसम्मह, ५०. आर्हन्त्य, ५१ अर्हद्विहार, ५२ योगत्याग और ५३ अग्रनिर्वृत्ति। इस प्रकार गर्भाधानसे लेकर निर्वाणपर्यन्त तिरेपन क्रियाएँ परमागममे वर्णन की गई है ॥ ५४-६३ ॥ १ अवतार, २ वृत्तलाभ, ३. स्थानलाभ, ४ गणग्रह, ५ पूजाराध्य, ६ पुण्ययज्ञ, ७ दृढचर्या और ८ उपयोगिता इन आठ क्रियाओके साथ पूर्वोक्त चौदहवी उपनीति क्रियासे लेकर तिरेपनवी निर्वाण क्रिया पर्यन्त चालीस क्रियाएँ मिलाकर कुल अडतालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ होती है ॥ ६४-६५ ॥ कर्त्रन्वयक्रियाएँ उन्हे जानना चाहिए जो पुण्यकार्य करनेवाले मनुष्योको प्राप्त होनेके योग्य है और जो निश्चयसे सन्मार्गकी आराधनाके फलरूपसे प्रवृत्त होती है ॥ ६६ ॥ वे कर्त्रन्वयक्रियाएँ सात है– १ सज्जाति, २ सद्-गृहित्व, ३ पारिव्राज्य, ४ सुरेन्द्रता, ५ साम्राज्य, ६ परमार्हन्त्य और ७ परमनिर्वाण। ये सातो ही तीनो लोकोमे परमस्थान माने गये है और इनकी प्राप्ति प्राणियोको अरहन्तदेवकी वाणीरूपी अमृतके आस्वादनसे अर्थात् जिन वाणीके अभ्याससे होती है ॥ ६७-६८ ॥ यद्यपि महान् ऋषियोने इन सब क्रियाओंका विधान अनेक भेदवाला वर्णन किया है, तथापि मै विस्तारको छोडकर सक्षेपसे ही उन क्रियाओका लक्षण कहूगा ॥६९॥ रजस्वला पत्नीको चौथे दिन स्नान करके शुद्ध होनेके पश्चात् उसे आगे करके गर्भ-धारण करनेके पूर्व अरहन्तदेवकी पूजाके साथ मन्त्र-पूर्वक जो सस्कार किया जाता है, उसे आधान क्रिया कहते है ॥ ७० ॥ इस आधान क्रियाकी पूजामे जिनप्रतिमाके दायी ओर तीन चक्र, बायी ओर तीन छत्र और सामने तीन प्रकारकी पुण्याग्निको स्थापित करे ॥७१॥ तीर्थंकर अर्हन्तदेवके निर्वाण होनेपर गणधर देवोके निर्वाण होनेपर और सामान्य केवलियोके निर्वाण होनेपर उनके अन्तिम सस्कारके समय जिन अग्नियोमे हवन किया गया था उन तीनो पवित्र अग्नियोको सिद्ध प्रतिमाकी वेदीके समीप तैयार करना चाहिए ॥७२॥ अर्हन्तदेवकी पूजा करनेके पश्चात् बचे हुए शेष द्रव्याशसे, तथा अन्य पवित्र द्रव्योके द्वारा उत्तम-पुत्रके उत्पत्तिकी कामनासे मत्रपूर्वक उक्त तीनो अग्नियोमे आहुति देना चाहिए ॥७३॥ आहुति देनेके वे मन्त्र आगेके पर्वमे आम्नायके अनुसार कहे जावेगे। वे पीठिकामन्त्र जातिमन्त्र आदिके भेदसे सात प्रकारके है ॥ ७४ ॥ जिन भगवन्तोने इन मन्त्रोका प्रयोग सभी क्रियाओमे बतलाया है, अतएव उस विषयके

गर्भाधानक्रियामेनां प्रयुज्यादौ यथाविधि । सन्तानार्थं विना रागाद् दम्पतिभ्यां विधीयताम् ॥७६
(इति गर्भाधानम्)
गर्भाधानात् परं मासे तृतीये सम्प्रवर्तते । प्रीतिर्नाम क्रिया प्रीतैः याऽनुष्ठेया द्विजन्मभिः ॥७७
तत्रापि पूर्ववन्मन्त्रपूर्वा पूजा जिनेशिनाम् । द्वारि तोरणविन्यासः पूर्णकुम्भौ च सम्मतौ ॥७८
तदादि प्रत्यहं भेरीशब्दो घण्टाध्वनान्वितः । यथाविभवमेवैतैः प्रयोज्यो गृहमेधिभिः । ७९
(इति प्रीतिः)
आधानात् पचमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते । या सुप्रीतैः प्रयोक्तव्या परमोपासकव्रतैः ॥८०
तत्राप्युक्तो विधिः पूर्वः सर्वोऽर्हद्‌बिम्बसन्निधौ । कार्यो मन्त्रविधानज्ञैः साक्षीकृत्याग्निदेवताः ॥८१
(इति सुप्रीतिः)
धृतिस्तु सप्तमे मासि कार्या तद्वत् क्रियादरैः । गृहमेधिभिरव्यग्रमनोभिर्गर्भवृद्धये॥८२॥ (इति धृतिः)
नवमे मास्यतोऽभ्यर्णे मोदो नाम क्रियाविधिः । तद्वदेवाहृतैः कार्यो गर्भपुष्ट्यै द्विजोत्तमैः ॥८३
तत्रेष्टो गात्रिकाबन्धो माङ्गल्यं च प्रसाधनम् । रक्षासूत्रविधानं च गर्भिण्या द्विजसत्तमैः ॥८४
(इति मोदः)
प्रियोद्भवः प्रसूतायां जातकर्मविधिः स्मृतः । जिनजातकमाध्याय प्रवर्त्यो यो यथाविधि ॥८५
अवान्तरविशेषोऽत्र क्रियामन्त्रादिलक्षणः । भूयान् समस्त्यसौ ज्ञेयो मूलोपासकसूत्रतः ॥८६ (प्रियोद्भवः)
द्वादशाहात् परं नामकर्म जन्मदिनान्मतम् । अनुकूले सुतस्यास्य पित्रोरपि सुखावहे ॥८७

जाननेवाले श्रावकोको व्यामोह (हठाग्रह) छोडकर जिन मन्त्रोका प्रयोग करना चाहिए ॥७५॥ इस गर्भाधान क्रियाको पहले विधिपूर्वक करके पीछे स्त्री और पुरुष विषयानुरागके विना केवल सन्तानकी प्राप्तिके लिए समागम करे।॥७६॥ (यह पहली गर्भाधान क्रिया है) गर्भाधानके पश्चात् तीसरे मासमे प्रीति नामकी क्रिया की जाती है, जो प्रीतिको प्राप्त द्विजोके द्वारा अनुष्ठान करनेके योग्य है ॥ ७७ ॥ इस क्रियामे भी पहलेके समान मत्र-पूर्वक जिनेश्वरदेवकी पूजा करना चाहिये, तथा द्वारपर तोरण बाँधना चाहिए और दो जलसे भरे कलश स्थापन करना चाहिए ॥ ७८ ॥ उस दिनसे लेकर इन द्विज गृहस्थोको प्रतिदिन अपने वैभवके अनुसार घण्टा और नगाडे वजवाना चाहिये ॥७९।(यह दुसरी प्रीतिक्रिया है)गर्भाधानसे पाँचवे मासमे सुप्रीति क्रिया की जाती है। इसे भी अतिप्रीतिको प्राप्त परम श्रावकोको करना चाहिए। ८०॥ इस क्रियामे भी पूर्वोक्त सर्वविधि अर्हद्-बिम्बके समीप मत्र-विधानके ज्ञाता गृहस्थोको अग्नि और देवताकी साक्षी करके करना चाहिए ॥ ८१ ॥(यह तीसरी सुप्रीति क्रिया है) गर्भाधानसे सातवे मासमे आदर पूर्वक स्थिर चित्तवाले गृहस्थोको पूर्वके समान ही गर्भकी वृद्धिके लिए धृति नामकी क्रिया करना चाहिए ॥८२। (यह चौथी धृतिक्रिया है) इसके पश्चात् नवम मासके समीप आनेपर मोदनामक क्रियाविधि पूर्वके समान ही आदर युक्त उत्तम द्विज गृहस्थोको गर्भकी पुष्टिके लिए करना चाहिए ॥८३। इन क्रियामे उत्तम द्विजोको गर्भिणीके शरीरपर गात्रिका वन्ध करना चाहिए, अर्थात् मन्त्र-पूर्वक बीजाक्षर लिखना चाहिये, मगलाचार करना चाहिए, गर्भिणीको आभूषण पहिराना चाहिए और उसकी रक्षाके लिए रक्षासूत्र बाँधना चाहिए ॥८४।(यह पाँचवी मोदक्रिया है)पुत्रके उत्पन्न होनेपर प्रियोद्भव नामकी क्रिया की जाती है। इसे जातकर्म विधि कहते है। इस क्रियाको जिन भगवान्‌का जन्मसमय स्मरण कर शास्त्रोक्त विधिसे करना चाहिए ॥८५॥ इस क्रियामे क्रियामत्र आदि अवान्तर विशेष कार्य बहुत होते है, वे सब मूल उपासकाध्ययन सूत्रसे जानना चाहिये ॥८६॥ (यह छठी प्रियोद्भव क्रिया है) पुत्रके

यथाविभवमत्रेष्टं देवर्षिद्विजपूजनम् । शस्तं च नामधेयं तत् स्थाप्यमन्वयवृद्धिकृत् ॥ ८८
अष्टोत्तरसहस्राद्वा जिननामदम्बकात् । घटपत्रविधानेन ग्राह्यमन्यतमं शुभम् ॥ ८९

(इति नामकर्म)

बहिर्यानं ततोद्वित्रैः मासैस्त्रिचतुरैरुत । यथानुकूलमिष्टेऽन्हि कार्यं तूर्यादिमङ्गलै. ॥ ९०
तत्रप्रभृत्यभीष्टं हि शिशोः प्रसववेश्मन । बहि प्रणयनं मात्रा धात्र्युत्सङ्गगतस्य वा ॥ ९१
तत्र बन्धुजनादर्थलाभो य' पारितोषिकः ।
स तस्योत्तरकालेऽर्प्यो धनं पित्र्यं यदाप्स्यति ॥ ९२ ॥ (इति बहिर्यानम्)

तत. परं निषद्यास्य क्रिया बालस्य कल्प्यते । तद्योगतल्प आस्तीर्ण कृतमङ्गलसन्निधौ ॥ ९३
सिद्धार्चनादिक. सर्वो विधि पूर्ववदत्र च ।
यतो दिव्यासनार्हत्वमस्य स्यादुत्तरोत्तरम् ॥ ९४ (इति निषिद्या)
गते मासपृथक्त्वे च जन्माद्यस्य यथाक्रमम् ।
अन्नप्राशनमाम्नात पूजाविधिपुर.सरम् ॥ ९५ (इति अन्नप्राशनम्)

जन्म-दिनसे बारह दिनके बाद जो दिन पुत्रके अनुकूल हो, तथा माता-पिताको सुखदायक हो, उस दिन नामकर्मकी क्रिया की जाती है ॥८७॥ इस क्रियामे अपने वैभवके अनुसार अरहन्त देव और निर्ग्रन्थ गुरुओकी पूजा और ब्राह्मणोंका यथोचित सत्कार करना चाहिए । तथा वंशकी वृद्धि करने-वाला कोई सुन्दर नाम बालकका रखना चाहिए ॥८८॥ अथवा जिनदेवके एक हजार आठ नामो-मेसे घट-पत्रविधानसे कोई एक शुभ नाम रखना चाहिए ॥८९॥भावार्थ-जिनेन्द्र देवके एक हजार आठ नामोको कागजके अलग अलग टुकडो पर अष्टगध या केशरसे सुवर्ण या अनारकी लेखनीसे लिखकर उनकी गोलिया बना लेवे । पुन' उन्हे एक घटमे भरकर पीत वस्त्र और नारियलसे ढक देवे । तदनन्तर एक कागज पर 'नाम'ऐसा शब्द लिखकर गोली बनावे और एक हजार सात कोरे कागजोके टुकडोंकी भी गोलियाँ बनाकर उन सबको दूसरे घडेमे भरकर ढक देवे । तत्पश्चात् किसी छोटे अबोध बालक या बालिकासे दोनों घडोमेसे एक एक गोली निकलवा ले । जिस नामकी गोली-के साथ'नाम'लिखी गोली निकले, वही नाम बालकका रखना चाहिए । यह घटपत्रविधि कह-लाती है । यह सातवी नामकर्म सस्कार क्रिया है । तत्पश्चात् दूसरे-तीसरे अथवा तीसरे चौथे मास मे किसी शुभदिन तुरही आदि मागलिक बाजोको बजवाते हुए अपने अनुकूल वैभवके साथ बहिर्यान क्रिया करना चाहिए ॥ ९० ॥ जिस दिन यह क्रिया की जाय, उसी दिनसे माता अथवा धायकी गोदीमे बैठे हुए बालकका प्रसूतिगृहसे बाहिर ले जाना शास्त्र-सम्मत माना गया है॥९१॥ इस क्रियाके करते समय उस बालकको बन्धुजनोसे जो भी पारितोषिक(भेट) रूपसे धनका लाभ हो,वह सब उसे उस समय समर्पित करना चाहिए,जब कि वह पिताका उत्तराधिकारी बन कर पिता के धनको प्राप्त करे । अर्थात् पिताके गृहवास छोडते समय देना चाहिए॥९२॥ यह आठवी बहि-र्यानक्रिया है । तदनन्तर उस बालककी निषद्याक्रिया की जाती है । इस क्रियामे अन्य माँगलिक कार्योंके साथ बालकके योग्य बिछायी गयी शय्या पर उसे बैठाया जाता है । इस क्रियामे सिद्ध-पूजनादिक सर्व विधि पूर्वके समान ही करना चाहिए, जिससे कि उस बालकको उत्तरोत्तर दिव्य आसन पर बैठनेकी योग्यता प्राप्त हो ॥९३-९४॥ यह नवमी निषद्याक्रिया है । इस प्रकार यथा क्रमसे जन्म-दिनके पश्चात् सात-आठ मास व्यतीत होने पर जिनेन्द्रदेवकी पूजन आदि विधिपूर्वक बालक

ततोऽस्य हायने पूर्णे व्युष्टिर्नाम क्रिया मता । वर्षकर्धनपर्यायशब्दवाच्या यथाश्रुतम् ।। ९६
अत्रापि पूर्ववद्दानं जैनीं पूजा च पूर्ववत् ।
इष्टबन्धुसमान्हानं समाशादिश्च लक्ष्यताम् ।। ९७ (इति व्युष्टिः)
केशवापस्तु केशानां शुभेऽन्हि व्यपरोपणम् । क्षौरेण कर्मणा देवगरुपूजापुरःसरम् ।। ९८
गन्धोदकार्द्रितान् कृत्वा केशान् शेषाक्षतोचितान् ।
मौण्ड्यमस्य विधेयं स्यात् सचूलं स्वाऽन्वयोचितम् ।। ९९
स्नपनोदकधौताङ्गमनुलिप्तं सभूषणम् । प्रणमय्य मुनीन् पश्चाद् योजयेद् बन्धुनाशिषा ।। १००
चोलाख्यया प्रतीतेयं कृत पुण्याहमगङ्ला ।
क्रियास्यामादृतो लोको यतते परया मुदा ।। १०१ (इति केशवाप)
ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे प्रथमाक्षरदर्शने । ज्ञेय क्रियाविधिर्नाम्ना लिपिसंख्यानसङ्ग्रह ।। १०२
यथाविभवमत्रापि ज्ञेय पूजापरिच्छद । उपाध्यायपदे चास्य मतोऽधीती गृहव्रती ।। १०३
(इति लिपिसङ्ख्यानङ्ग्रह)
क्रियोपनीतिर्नामास्य वर्षे गर्भाष्टमे मता । यत्रापनीतकेशस्य मौञ्जीसव्रतबन्धना ।। १०४
कृतार्हत्पूजनस्यास्य मौञ्जीबन्धो जिनालये । गुरुसाक्षि विधातव्यो व्रतार्पणपुरस्सरम् ।। १०५
शिखी सितांशुक सान्तर्वासा निर्वेषविक्रिय । व्रतचिन्ह दधत्सूत्र तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ ।। १०६

को अन्न खिलाना चाहिए ।।९५। यह दशवी अन्नप्राशन क्रिया है तत्पश्चात् वालकको एक वर्षका होनेपर व्युष्टि नामकी क्रिया की जाती है । इस क्रियाका शास्त्रानुसार दूसरा नाम वर्षवर्धन या वर्षगाठ है ।। ९६ ।। इस क्रियामे भी पर्व क्रियाके समान दान देना चाहिए और पूर्ववत् ही जिनपूजा करना चाहिए । इस समय इष्ट बन्धुओको बुलाना चाहिए और भोजनादि करना चाहिए।।९७।। यह ग्यारहवी व्युष्टि क्रिया है । तदनन्तर किसी शुभ दिन देव और गुरुकी पूजा बालकके केशोंका क्षौरकर्मसे अपनयन करावे । यह केशवाप क्रिया कहलाती है ।। ९८ ।। इस समय बालकके बालोको गन्धोदकसे गीला कर और उन पर पूजनसे शेप रहे अक्षतोको रखकर चोटी-सहित याअपने वशकी पद्धतिके अनुसार मुडवाना चाहिए ।।९९।। पुन स्नानके योग्य जलसे उसका शरीर धोवे, चन्दन आदिका लेप करे,भूषण पहिनावे और मुनि जनोको नमस्कार कराकर पीछे बन्धुजनोसे आशीष दिलावे ।।१००।। यह चौलक्रिया नामसे प्रसिद्ध है । इस क्रियामे पुण्याह मगल किया जाता है और कुटुम्बीजन परम हर्षके साथ आदर पूर्वक इसमे सम्मिलित होते है ।।१०१।। यह वारहवी केशवाप क्रिया है । तत्पश्चात् पाँचवे वर्षमे वालकको सर्वप्रथम अक्षरोका दर्शन करानेमे जो क्रियाविधि की जाती है,उसका 'लिपि सख्यान सग्रह'यह नाम जानना चाहिए । इसे करते समय अपनी सामर्थ्य-के अनुसार पूजन-दान आदि करना चाहिए और जो अध्ययन करानेमे कुशल गृहस्थ विद्वान् हो,उसे वालकका उपाध्याय नियुक्त करे ।१०२-१०३।। यह तेरहवी लिपिसख्यान क्रिया है । तदनन्तर गर्भ-मे आठवे वर्षमे उस बालककी उपनीति (यज्ञोपवीतधारण) क्रिया होती है । इस क्रियामे केशोका मुण्डन, व्रत-बन्धन और मौजीबन्धन किया जाता है ।। १०४ ।। प्रथम ही बालकको जिनालयमे ले जाकर उससे अरहन्त देवकी पूजन करावे । पुन गुरुकी साक्षी पूर्वक उसे व्रत दिलाकर मौजी बधन-करना चाहिए। अर्थात् बालककी कमरमे मूजकी रस्सी बाँधे ।।१०५।। जो शिखा (चोटी)सेयुक्त है,श्वेत वस्त्रका धोती और दुपट्टा धारण किये है, निर्विकार वेषका धारक है, ऐसा वह बालक

चरणोचितमन्यच्च नामधेयं तदस्य वै । वृत्तिश्च भिक्षयाऽन्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात् ॥१०७
सोऽन्तःपुरे चरेत् पात्र्यां नियोग इति केवलम् । तदग्रं देवसात्कृत्य ततोऽन्नं योग्यमाहरेत् ॥१०८
(इत्युपनीतिः)
व्रतचर्यामतो वक्ष्ये क्रियामस्योपबिभ्रतः । कटयूरुउरःशिरोलिङ्गमनूचानव्रतोचितम् ॥१०९
कटीलिङ्गं भवेदस्य मौञ्जी बन्धात्त्रिभिर्गुणैः । रत्नत्रितयशुद्ध्यङ्गं तद्धि चिन्हं द्विजात्मनाम् ॥११०
तस्येष्टमूरुलिङ्गं च सुधौतसितशाटकम् । आर्हतानां कुलं पूतं विशालं चेति सूचने ॥१११
उरोलिङ्गमथास्य स्याद् ग्रथितं सप्तभिर्गुणैः यज्ञोपवीतकं सप्तपरमस्थानसूचकम् ॥११२
शिरोलिङ्गञ्च तस्येष्टं परं मौण्ड्यमनाविलम् । मौण्ड्यं मनोवचःकायगतमस्योपबृंहयत् ॥११३
एवं प्रायेणलिङ्गेन विशुद्धं धारयेद् व्रतम् । स्थूलहिंसाविरत्यादिब्रह्मचर्योपबृंहितम् ॥११४
दन्तकाष्ठग्रहो नास्य न ताम्बूलं न चाञ्जनम् । न हरिद्रादिभिः स्नानं शुद्धस्नानं दिनं प्रति ॥११५
न खट्वाशयनं तस्य नान्याङ्गपरिघट्टनम् । भूमौ केवलमेकाकी शयीत् व्रतशुद्धये ॥११६
यावद् विद्यासमाप्तिःस्यात् तावदस्येदृशव्रतम् । ततोऽप्यूर्ध्वं व्रतं तत् स्याद् यन्मूलं गृहमेधिनाम् ॥११७
सूत्रमौपासिकं चास्य स्यादध्येयं गुरोर्मुखात् । विनयेन ततोऽन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम् ॥११८

व्रतके चिन्हस्वरूप उस यज्ञोपवीतसूत्रको धारण करता हुआ उस समयसे ब्रह्मचारी कहा जाता है ॥१०६॥ उस समय उसके आचरणके योग्य अन्य भी नाम रखे जा सकते हैं। ऐश्वर्यशाली राजपुत्रोंको छोडकर शेष सब ब्रह्मचारी भिक्षावृत्तिसे अपना निर्वाह करे। तथा जो राजपुत्र है, वह भी अन्तःपुरमें जाकर माता आदिसे किसी पात्रमें भिक्षा माँगे क्योंकि उस समय भिक्षा माँगनेका यह केवल नियोग है। भिक्षामें प्राप्त आहारका मुख्य भाग अरहन्तदेवको समर्पण कर शेष योग्य अन्नका स्वयं आहार करे ॥१०७-१०८॥ यह चौदहवी उपनीति क्रिया है। अब ब्रह्मचर्यव्रतके योग्य कटि, जाँघ वक्षःस्थल और शिरके चिन्हको धारण करनेवाले उस ब्रह्मचारी बालकके धारण करने योग्य व्रतचर्या नामकी क्रियाको कहते हैं ॥१०९॥ तीन लडीवाली मूँजकी रस्सी कमरमें बाँधना कटिचिन्ह है। यह मौंजी बन्धन-रत्नत्रयकी विशुद्धिका अंग हैं और द्विज लोगोंका एक चिन्ह है ॥११०॥ भली भाँतिसे धुली हुई श्वेत धोती धारण करना जाँघका चिन्ह है यह उज्ज्वल धोती अरहन्त देवोंके पवित्र और विशाल कुलकी सूचक है ॥१११॥ सात लडका गूँथा हुआ यज्ञोपवीत वक्षःस्थलका चिन्ह है। यह यज्ञोपवीत सात परमस्थानोंका सूचक है ॥११२॥ उस ब्रह्मचारीके शिरका चिन्ह स्वच्छ उत्तम मुण्डन है। यह मुण्डन उसके मन, वचन और कायके मुण्डनको अर्थात् विषयोंकी अनासक्तिको बढानेवाला है ॥११३॥ प्राय इस प्रकारके चिन्होंसे विशुद्ध और ब्रह्मचर्य व्रतसे वृद्धिको प्राप्त हुए ऐसे स्थूलहिंसाविरति आदि अणुव्रत उसे धारण करना चाहिए ॥११४॥ यह ब्रह्मचारी न काठकी दातुन करे, न ताम्बूल खावे, न आँखोंमें अंजन लगावे और न हलदी आदिसे स्नान ही करे। किन्तु प्रतिदिन केवल शुद्ध जलसे स्नान करे ॥११५॥ उसे खाट या पलंग पर नहीं सोना चाहिए, न उसे दूसरेके शरीरसे अपना शरीर ही रगडना चाहिए। किन्तु अपने व्रतकी शुद्धिके लिए वह भूमिपर केवल अकेला ही सोवे ॥११६॥ जब तक इसका विद्याभ्यास सम्पूर्ण न हो, तब तक उसे इस प्रकारके व्रतोंका धारण करना आवश्यक है। विद्याभ्यास समाप्त होनेके पश्चात् उसे गृहस्थोंके वे प्रसिद्ध अष्ट मूलगुण धारण करना चाहिए ॥११७॥ इस ब्रह्मचारीको सर्वप्रथम गुरुके मुखसे विनयके साथ उपासकाध्ययनसूत्रका अध्ययन करना चाहिए। पुनः अध्यात्म विषयक अन्य भी शास्त्र

शब्दविद्यार्थशास्त्रादि चाध्येयं नास्य दुष्यति । सुसंस्कारप्रबोधाय वैयात्यख्यातयेऽपि च ॥ ११९
ज्योतिर्ज्ञानमथच्छन्दो ज्ञान ज्ञानं च शाकुनम् । सङ्ख्याज्ञानमितीदं च तेनाध्येयं विशेषत ॥१२०
(इति व्रतचर्या)
ततोऽस्याधीतविद्यस्य व्रतवृत्त्यवतारणम् । विशेषविषयं तच्च स्थितस्यौत्सर्गिके व्रते ॥ १२१
मधुमांसपरित्याग पञ्चोदुम्बरवर्जनम् । हिंसादिविरतिश्चास्य व्रत स्यात् सार्वकालिकम् ॥ १२२
व्रतावतरणं चेद गुरुसाक्षी कृतार्चनम् वत्सराद् द्वादशादूर्ध्वमथवा षोडशात् परम् ॥ १२३
कृतद्विजार्चनस्यास्य व्रतावतरणोचितम् । वस्त्राभरणमाल्यादिग्रहण गुर्वनुज्ञया ॥ १२४
शस्त्रोपजीविवर्ग्यश्चेद् धारयेच्छास्त्रमप्यद । स्ववृत्तिपरिरक्षार्थं शोभार्थं चास्य तद्ग्रहः ॥ १२५
भोगब्रह्मव्रतादेवमवतीर्णो भवेत्तदा । कामब्रह्मव्रत त्वस्य तावद्यावत्क्रियोत्तरा ॥ १२६
(इति व्रतावतरणम्)
ततोऽस्य गुर्वनुज्ञानादिष्टा वैवाहिकी क्रिया । वैवाहिके कुले कन्यामुचितां परिणेष्यत ॥ १२७
सिद्धार्चनविधिसम्यक् निर्वर्त्य द्विजसत्तमा । कृताग्नित्रयसम्पूजाः कुर्युस्तत्साक्षितां क्रियाम् ॥ १२८
पुण्याश्रमे क्वचित् सिद्धप्रतिमाभिमुख तयोः । दम्पत्यो. परया भूत्या कार्यं पाणिग्रहोत्सव ॥१२९
वेद्यां प्रणीतभग्नीनां त्रयं द्वयमथैककम् । तत. प्रदक्षिणीकृत्य प्रसज्य विनिवेशनम् ॥ १३०

पढना चाहिए ॥११८॥ तत्पश्चात् संस्कारोको जागृत करनेके लिए तथा विद्वत्ता प्राप्त करनेके लिए शब्द विद्या (व्याकरण) अर्थशास्त्र, न्यायशास्त्र आदिका अध्ययन उसके लिए दोषकारक नही है ॥ ११९ ॥ इसके पश्चात् उसे विशेष रूपसे ज्योतिर्ज्ञान, छन्दोज्ञान, शाकुनज्ञान, सख्याज्ञान, बढानेके लिए तद्विषयक शास्त्रोको भी पढना चाहिए ॥ १२० ॥ यह पन्दरहवी,व्रतचर्या-क्रिया है। विद्याध्ययनके पश्चात् उसके व्रतावरण क्रिया की जाती है । इस क्रियामे वह औत्सिर्गिक व्रतरूप मूलगुणोमे स्थित रहते हुए अध्ययनके समयके लिए हुए विशेष व्रतोका अवतरण या त्याग कर देता है ॥ १२१ ॥ उस समय उसके मधुत्याग, मास-परित्याग, पच उदुम्बर फल-भक्षण-परिहार और हिंसादि पापोमे विरतिरूप सार्वकालिक औत्सर्गिक व्रत जन्मपर्यन्त रहते है ॥ १२२ ॥यह व्रतावतरणक्रिया गुरुकी साक्षी पूर्वक भगवान्की पूजाकर बारह वर्षके बाद अथवा सोलह वर्षके पश्चात् करना चाहिए ॥१२३॥ प्रथम ही द्विजोका आदर-सत्कार करके व्रतावतरण क्रिया करना उचित है। तत्पश्चात् गुरुकी आज्ञा लेकर वस्त्र-आभूषण और माला आदिको धारण करना चाहिए॥१२४॥ इसके पश्चात् वह बालक यदि शस्त्रोपजीवी क्षत्रिय वर्गका है, तो अपनी जीविकाकी रक्षाके लिए शस्त्रोको भी धारण कर सकता है । अथवा केवल शोभाके लिए भी शस्त्र-धारण कर सकता है ॥ १२५ ॥ इस प्रकार इस क्रियाके समय तक भोग-उपभोगके परित्यागके साथ जो ब्रह्मचर्यव्रत ले रखा था, उसका उसके यद्यपि त्याग हो जाता है, तथापि जब तक आगेकी वैवाहिकी क्रिया सम्पन्न नही होती है, तब तक उसके विषय-सेवनके त्यागरूप ब्रह्मचर्य व्रत बना रहता है ॥१२६। यह सोलहवी व्रतावतरण क्रिया है। तदनन्तर जो विवाह करना चाहता है उसके गुरुकी अनुज्ञा लेकर विवाहके योग्य कुलमे उत्पन्न हुई योग्य कन्याके साथ विवाह करते समय वैवाहिकी क्रिया होती है । १२७ ॥ उत्तम द्विजोको चाहिए कि वे सर्वप्रथम भली भाँतिसे सिद्ध भगवान्की पूजन करके पुनः तीनो अग्नियोकी जतन करके उसकी साक्षीपूर्वक विवाहकी क्रियाको करे ॥१२८॥ किसी पुण्याश्रम या पवित्र स्थानपर सिद्धभगवान्की प्रतिमाके सम्मुख उन दम्पति बननेवाले वर-वधूको बडी विभूतिके साथ विवाहका उत्सव करना चाहिए ॥ १२९ ॥ विवाहके समय वेदी पर जो तीन,दो

पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम् । आसप्ताह चरेद् ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकम् ॥१३१
क्रान्त्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमीर्विहृत्य च । स्वगृहं प्रविशेद् भूत्या परया तद्वधूवरम् ॥१३२
विमुक्तकङ्कणं पश्चाद् स्वगृहे शयनीयकम् । अधिशय्य यथाकालं भोगाङ्गैरुपलालितम् ॥१३३
सन्तानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत् । शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥१३४
(इति विवाहक्रिया ।)

एवं कृतविवाहस्य गार्हस्थ्यमनुतिष्ठत । स्वधर्मानतिवृत्यर्थं वर्णलाभमतो ब्रुवे ॥१३५
ऊढभार्योऽप्ययं तावदस्वतन्त्रो गुरोर्गृहे । तत स्वातन्त्र्यसिद्ध्यर्थं वर्णलाभोऽस्य वर्णित ॥१३६
गुरोरनुज्ञया लब्धधनधान्यादिसम्पद । पृथक्कृतालयस्यास्यै वृत्तिर्वर्णाप्तिरिष्यते ॥१३७
तदापि पूर्ववत्सिद्धप्रतिमानर्चमग्रत. । कृत्वाऽस्योपासकान् मुख्यान् साक्षीकृत्यार्पयेद्धनम् ॥१३८
धनमेतदुपादाय स्थित्वाऽस्मिन् स्वगृहे पृथक् । गृहिधर्मस्त्वया धार्यः कृत्स्नो दानादिलक्षण ॥१३९
यथाऽस्मत्पितृदत्तेन धनेनास्माभिरर्जितम् । यशोधर्मश्च तद्वत्त्वं यशोधर्मानुपार्जय ॥१४०
इत्येवमनुशिष्यैनं वर्णलाभे नियोजयेत् । सदारः सोऽपि तं धर्मं तथानुष्ठातुमर्हति ॥१४१
(इति वर्णलाभक्रिया)

लब्धवर्णस्य तस्येति कुलचर्याऽनुकीर्त्यते । सात्विज्यादत्तिवार्त्तादिलक्षणा प्राक्प्रपञ्चिता ॥१४२

अथवा एक अग्नि उत्पन्न की है, उसकी प्रदक्षिणाएँ देकर वर–वधूको समीप ही बैठना चाहिए ॥१३०। इस पाणिग्रहण (विवाह) की दीक्षामे नियुक्त उन वर–वधूको देव और अग्निकी साक्षी पूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना चाहिए ॥ १३१ ॥ पुन अपने योग्य किसी देशमे परिभ्रमण कर, अथवा तीर्थभूमियो पर विहार करके वर और वधू परम विभूतिके साथ अपने घरमे प्रवेश करे॥१३२॥तत्पश्चात् ककण–बधनसे विमुक्त हुए वे वर–वधू अपने घरमे भोगोपभोगके साधनोसे सुशोभित शय्यापर योग्यकालमे शयन कर केवल सन्तान प्राप्तिके लिए ही ऋतुकालमे परस्पर काम-सेवन करे । काम-सेवनका यह क्रम शक्ति और समयकी अपेक्षा रखता है । अत. अशक्त स्त्री–पुरुषको इससे विपरीत करना चाहिए, अर्थात्, ब्रह्मचर्यमे रहना चाहिए ॥१३३-१३४॥ यह सत्तरहवी वैवाहिकी क्रिया है । इस प्रकारसे विवाह करनेवाले और गृहस्थ धर्मका पालन करनेवाले पुरुषके लिए अपने धर्मका उल्लघन न करे, इस कारण अब वर्णलाभ क्रियाको कहते है ॥१३५॥ विवाहित भी यह पुरुष जब तक पिताके घरमे रहता है, तब तक वह स्वतन्त्र नही है, अत स्वतन्त्रता-प्राप्त करनेके लिए यह वर्णलाभ क्रिया वर्णन की गई है ॥१३६॥ पिताकी अनुज्ञासे जिसे धन-धान्यादि सम्पदाएँ प्राप्त हो गई है और रहनेके लिए जिसे आलय भी पृथक् मिल गया है, ऐसे पुरुषकी स्वतंत्र आजीविकामे लगनेको वर्णलाभ कहते है ॥१३७॥ इस क्रियामे भी पूर्वके समान सर्वप्रथम सिद्धप्रतिमाकी पूजन करके पिता अन्य प्रमुख श्रावकोको साक्षी बनाकर पुत्रको अपना धन अर्पण करे और कहे कि हे वत्स, तुम इस धनको लेकर इस अपने घरमे पृथक् रहो और तुम्हे दान-पूजा आदि करते हुए पूर्ण गृहस्थधर्म धारण करना चाहिए ॥ १३८-१३९ ॥ जिस प्रकार हमारे पिताके द्वारा दिये गये धनसे हमने यश और धर्मका उपार्जन किया है, उसी प्रकार तुम भी गृहस्थ धर्मको पालते हुए यश और धर्मका उपार्जन करो ॥१४०॥ इस प्रकारसे पुत्रको उचित शिक्षा देकर पिता उसे वर्णलाभमे नियुक्त करे, अर्थात् अपनी आजीविकाके उपार्जनके लिए स्वतन्त्र कर देवे । पुन उस पुत्रको भी अपनी स्त्रीके साथ पिता-द्वारा बतलाये गये मार्गमे गृहस्थधर्मका पालन करना चाहिए ॥१४१॥ यह अठारहवी वर्णलाभ क्रिया है । वर्णलाभ क्रियाके

विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्तनम् । गृहिणां कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ।। १४३ ।।
(इति कुलचर्या क्रिया ।)
कुलचर्यामनुप्राप्तो धर्मे दार्ढ्यमथोद्वहन् । गृहस्थाचार्यभावेन संश्रयेत् स गृहीशिताम् ।। १४४ ।।
ततो वर्णोत्तमत्वेन स्थापयेत् स्वां गृहीशिताम् । शुभवृत्तिक्रियामन्त्रविवाहैः सोत्तरक्रियैः ।।१४५।।
अनन्यसदृशैरेभिः श्रुतवृत्तिक्रियादिभिः । स्वमुन्नतिं नयन्नेष तदाऽर्हति गृहीशिताम् ।। १४६ ।।
वर्णोत्तमो महीदेव सुश्रुतो द्विजसत्तमः । निस्तारको ग्रामपतिः मानार्हश्चेति मानितः ।। १४७ ।।
(इति गृहीशिता ।)
सोऽनुरूपं ततो लब्ध्वा सूनुमात्मभरक्षमम् । तत्रारोपितगार्हस्थ्यः सन् प्रशान्तिमतः श्रयेत् ।।१४८।।
विषयेष्वनभिष्वङ्गो नित्यस्वाध्यायशीलता । नानाविधोपवासैश्च वृत्तिरिष्टा प्रशान्तता ।।१४९।।
(इति प्रशान्तिः ।)
ततः कृतार्थमात्मानं मन्यमानो गृहाश्रमे । यदोद्यतो गृहत्यागे तदाऽस्यैष क्रियाविधिः ।। १५० ।।
सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य सर्वानाहूय सम्मतान् । तत्साक्षि सूनवे सर्वं निवेद्यातो गृहं त्यजेत् ।। १५१ ।।
कुलक्रमस्त्वया तात सम्पाल्योऽस्मत्परोक्षतः । त्रिधा कृतं च नो द्रव्यं त्वयेत्थं विनियोज्यताम् ।।१५२।।

द्वारा स्वतत्र वृत्ति करनेवाले उस गृहस्थके लिए कुलचर्या नामकी क्रिया कही जाती है। पूजा,दत्ति वार्ता आदि लक्षणवाली इस कुलचर्याका वर्णन पहले विस्तारसे कह आये है।।१४२।। विशुद्धरीतिसे आजीविका करना, तथा आर्य पुरुषोके करने योग्य देवपूजा आदि षट् आवश्यक कर्मोका पालना गृहस्थोकी कुलचर्या मानी गई है और यही कुलधर्म कहलाता है ।। १४३ ।। यह उन्नीसवी कुलचर्या है। तत्पश्चात् कुलचर्याको प्राप्त वह श्रावक धर्ममे दृढताको धारण करता हुआ गृहस्थाचार्यके रूपसे गृहीशिताको स्वीकार करे,अर्थात् उसे गृहस्थाचार्य बनकर सब गृहस्थोका स्वामी बनना चाहिए ।। १४४ ।। गृहस्थोका स्वामी बननेके लिए आवश्यक है कि वह अपने आपको उत्तम वर्णवाला मान कर अपनेमे शुभ वृत्ति, क्रिया, मत्र,विवाह आदि अनुत्तर या अनुपम क्रियाओके द्वारा गृहीशिता स्थापित करे।।१४५।।अन्य गृहस्थोमे नही पाई जानेवाली पवित्र वृत्ति, क्रिया और श्रुतज्ञानकी प्राप्ति आदिके द्वारा अपनी उन्नति करता हुआ यह गृहस्थ गृहीशिताको पानेके लिए योग्य होता है ।। १४६ ।। गृहीशिता, गृहस्थ-स्वामी,या गृहस्थाचार्यके पदको प्राप्त करनेवाला वह श्रावक वर्णोत्तम (तीनो वर्णोमे श्रेष्ठ) महीदेव (भूदेव) सुश्रुत (उत्तम शास्त्रज्ञ) द्विजसत्तम (श्रेष्ठब्राह्मण) निस्तारक (ससारसे पार उतारनेवाला) ग्रामपति (नगर स्वामी) और सम्माननीय आदि नामो के द्वारा लोगोसे सम्मानको प्राप्त होता है ।।१४७।। यह बीसवी गृहीशिता क्रिया है। तदनन्तर वह गृहस्थाचार्य अपने अनुरूप और अपने निजके गृह-भार सँभालनेमे समर्थ पुत्रको पाकरके उस पर गृहस्थीका भार समर्पण करता हुआ स्वय परम शान्तिवृत्तिका आश्रय लेवे।। १४८ ।। पचेन्द्रियोके विषयोमे आसक्ति नही रखना,नित्य स्वाध्याय करना और नाना प्रकारके उपवास करते हुए समय बिताना प्रशान्तवृत्ति कहलाती है ।। १४९ ।। यह इक्कीसवी प्रशान्तिक्रिया है। इस प्रकार प्रशातवृत्तिको पालन करता हुआ और गृहाश्रममे अपनेको कृतार्थ मानता हुआ वह श्रावक जब गृहत्यागके लिए उद्यत होता है,तब उसके यह कही जानेवाली गृहत्यागक्रिया होती है ।। १५० ।। इस क्रियामे सिद्ध-पूजाको सर्व प्रथम करके अपने सर्व इष्टजनोको बुलाकर उनकी साक्षीपूर्वक अपने पुत्र के लिए सब कुछ समर्पण कर उसे घरका त्याग कर देना चाहिए ।।१५१।। उस समय अपने ज्येष्ठ

एकोंऽशो धर्मकार्येऽतो द्वितीयः स्वगृहव्यये । तृतीय संविभागाय भवेत्त्वत्सह जन्मनाम् ॥ १५३ ॥
पुत्र्यश्च संविभागार्हाः समं पुत्रैः समांशकैः । त्व तु भूत्वा कुलज्येष्ठः सन्तति नोऽनुपालय ॥१५४॥
श्रुतवृत्तक्रियामन्त्रविधिज्ञस्त्वमतन्द्रितः । प्रपालय कुलाम्नायं गुरुं देवांश्च पूजयन् ॥१५५॥
इत्येवमनुशिष्य स्वं ज्येष्ठ सूनुमनाकुलः । ततो दीक्षामुपादातुं द्विज स्व गृहमुत्सृजेत् ॥१५६॥
(इति गृहत्यागः।)

त्यक्तागारस्य सद्दृष्टे प्रशान्तस्य गृहीशिन । प्राग्दीक्षौपयिकात् कालादेकशाटकधारिण ॥१५७॥
यत्पुरश्चरणं दीक्षाग्रहणं प्रतिधार्यते । दीक्षाद्य नाम तज्ज्ञेय क्रिया जातां द्विजन्मन ॥ १५८ ॥
(इति दीक्षाद्यम्।)

त्यक्ताचेलादिसङ्गस्य जैनीं दीक्षामुपेयुष । धारण जातरूपस्य यत्तत् स्याज्जिनरूपता ॥ १५९ ॥
अशक्यधारणं चेदं जन्तूनां कातरात्मनाम् । जैनं निस्सङ्गतामुख्यं रूपं धीरैर्निषेव्यते ॥१६०॥
(इति जिनरूपता।)

कृतदीक्षोपवासस्य प्रवृत्तेः पारणाविधौ । मौनाध्ययनवृत्तत्वमिष्टमाश्रुतनिष्ठितेः ॥ १६१ ॥
वाचंयमो विनीतात्मा विशुद्धकरणत्रयः । सोऽधीयीत श्रुत कृत्स्नमामूलाद्गुरुसन्निधौ ॥ १६२ ॥
श्रुतं हि विधिनानेन भव्यात्मभिरुपासितम् । योग्यतामिह पुष्णाति परत्रापि प्रसीदति॥ १६३ ॥
(अत्र मौनाध्ययनवृत्तत्वम्।)

पुत्रसे कहे—हे तात, हमारे परोक्षमे (पीछे) कुल-परम्परासे आया हुआ यह कुलधर्म तुम्हे भली भातिसे पालन करना चाहिए। तथा मैने अपने धनके जो तीन भाग किये है, उनका तुम्हे इस प्रकार विनियोग करना चाहिए—एक भाग तो धर्म-कार्यमे लगाना, दूसरा भाग अपने घरके कार्यो मे व्यय करना और तीसरा भाग अपने सहजन्मा वन्धुओको वरावर वॉट देना। पुत्रोके साथ पुत्रियाँ भी समान भाग पानेके योग्य है। हे वत्स, तू कुलका ज्येष्ठ पुरुप है, यह ध्यानमे रख कर हमारी सन्तानका पालन करना ॥ १५२-१५४ ॥ हे पुत्र, तू शास्त्र, सदाचार, क्रिया, मत्र, आदिकी विधिका वेत्ता है, अतः प्रमाद-रहित होकर देव और गुरुकी पूजा करते हुए कुल-परम्पराका विधिवत् पालन करना ॥ १५५ ॥ इस प्रकारसे अपने ज्येष्ठ पुत्रको भली-भाँतिसे अनुशासित करके निराकुल होकर जिनदीक्षा ग्रहण करनेके लिए वह द्विज अपना घर छोड देवे ॥ १५६ ॥ यह वाईसवी गृहत्याग क्रिया है। इस प्रकार गृहका त्याग करनेवाले, सम्यग्दृष्टि, प्रशान्तचित्त, एक वस्त्र-धारी उस गृहस्थोके स्वामीके जिनदीक्षाको ग्रहण करनेके पूर्व कालमे जिन व्रतोको धारण किया जाता है, उन सब व्रत-क्रियाओके समुदायको द्विजकी दीक्षाद्य क्रिया कहते है। भावार्थ-जिन-(मुनि-)दीक्षाके पूर्व क्षुल्लकके व्रत-धारण करनेका नाम दीक्षाद्य क्रिया है ॥ १५७-१५८ ॥ यह तेईसवी दीक्षाद्यक्रिया है। पुनः वस्त्र आदि सर्व परिग्रहका त्यागकर जैनीदीक्षाको प्राप्त होनेवाले उक्त पुरुषका यथाजात (नग्न-) रूप धारण करना जिनरूपता क्रिया है ॥ १५९ ॥ जिनका आत्मा कातर या दीन हैं, ऐसे मनुष्योको इस जिनरूप मुद्राका धारण करना अशक्य है। निष्परिग्रहकी मुख्यतावाले इस जैन (दिगम्वर) रूपको धीर वीर पुरुष ही धारण करते है ॥ १६० ॥ यह चौवीसवी जिनरूपता क्रिया है। जिसने दीक्षा धारणकर उपवास किया है, तथा विधिपूर्वक पारणा करनेमे प्रवृत्ति की है ऐसा वह साधु श्रुतके अभ्यास की समाप्ति पर्यन्त मौन धारणकर शास्त्रोके अभ्यासमे सलग्न रहता है, इसे मौनाध्ययनवृत्ति कहते है ॥ १६१ ॥ वचन-सयमी, विनय-शील, मन-कायसे विशुद्ध उस साधु-वचनको गुरुके समीपमे रहकर आदिसे लेकर अन्त तक समस्त शास्त्रोका अध्ययन करना चाहिये ॥ १६२ ॥ इसप्रकारकी विधिसे भव्यात्माओके द्वारा उपासना किया गया यह शास्त्रज्ञान इस भवमे योग्यताको

ततोऽधीताखिलाचारः शास्त्रादिश्रुतविस्तर । विशुद्धाचरणोऽभ्यस्येत् तीर्थकृत्त्वस्य भावनाम् ।।१६४
सा तु षोडशधाऽऽम्नाता महाभ्युदयसाधिनी । सम्यग्दर्शनशुद्धयादिलक्षणा प्राक्प्रपञ्चिता ।। १६५ ।।
(इति तीर्थकृद्भावना ।)
ततोऽस्य विदिताशेषवेद्यस्य विजितात्मन । गुरुस्थानाभ्युपगमः सम्मतो गुर्वनुग्रहात् ।। १६६ ।।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः स्वगुरोरभिसम्मतः । विनीतो धर्मशीलश्च य· सोऽर्हति गुरोः पदम् ।।१६७ ।।
(गुरुस्थानाभ्युपगम ।)
ततः सुविहितस्यास्य युक्तस्य गणपोषणे । गणोपग्रहणं नाम क्रियाम्नाता महर्षिभि· ।। १६८ ।।
श्रावकानार्यिकासङ्घं श्राविका. सयतानपि । सन्मार्गे वर्तयन्नेष गणपोषणमाचरेत् । १६९ ।।
श्रुतार्थिभ्य· श्रुतं दद्यात् दीक्षार्थिभ्यश्च दीक्षणम् । धर्मार्थिभ्योऽपि सद्धर्मं स शश्वत् प्रतिपादयेत्।। १७०
सद्वृत्तान् धारयन् सूरिरसद्वृत्तान्निवारयन् । शोधयंश्च कृतादागोमलान् स बिभृयाद् गणम् ।। १७१
(इति गणोपग्रहणम् ।)
गणपोषणमित्याविष्कुर्वन्नाचार्यसत्तम । ततोऽय स्वगुरुस्थानसंक्रान्तो यत्नवान् भवेत् ।। १७२ ।।
अधीतविद्य तद्विद्यैरावृतं मुनिसत्तमं । योग्य शिष्यमथाहूय तस्मै स्वं भारमर्पयेत् ।। १७३

पुष्ट करता है और परभवमे प्रसन्न रखता है ।। १६३ ।। यह पचीसवी मौनाध्ययनवृत्ति किया है। तदनन्तर जिसने समस्त आचार-शास्त्रोका अध्ययन किया है, तथा शेष शास्त्रोके अध्ययनसे जिसने समस्त श्रुतज्ञानका विस्तार प्राप्त कर लिया है और जिसका आचरण विशुद्ध है,ऐसा वह साधु तीर्थकर पदको प्राप्त करनेवाली भावनाओका अभ्यास करे ।। १६४ ।। महान् अभ्युदयकी साधक वे भावनाएँ सोलह कही गई है । सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि आदि उन सोलह भावनाओका पहले विस्तार-से वर्णन किया गया है ' ।। १६५ ।। यह छब्बीसवी तीर्थकृद्-भावना नामकी क्रिया है । तदनन्तर जिसने समस्त विद्याएँ जान ली है और जिसने अपने आत्मापर विजय प्राप्तकर ली है, ऐसे उस साधुका गुरुके अनुग्रहसे गुरुका स्थान स्वीकार करना शास्त्र-सम्मत है ।। १६६ ।। क्योकिजो ज्ञान और विज्ञानसे सम्पन्न हो,अपने गुरुको अभीष्ट हो,विनीत हो और धार्मिक स्वभाववाला हो, ऐसा साधु ही गुरुके पदको धारण करनेके योग्य होता है ।। १६७ ।। यह सत्ताईसवी गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया है । तदनन्तर विधिपूर्वक साधुका आचार पालनेवाले और साधुगणोके पालन-पोषणमे समुद्यत साधुके गणोपग्रहण नामकी क्रिया महर्षियोने कही है ।।१६८।। इस क्रियाके धारक आचार्य—को चाहिये कि वह मुनि, आर्यिका,श्रावक और श्राविकारूप चतुर्विध सघको सन्मार्गमे लगाते हुए समस्त गणका पोषण करे ।। १६९ ।। ऐसे आचार्यका कर्त्तव्य है कि वह शास्त्राध्ययनके इच्छुक जनोको शास्त्राध्ययन करावे, दीक्षाके इच्छुक जनोको दीक्षा देवे और धर्म—श्रवणके इच्छुक लोगोको निरन्तर सद्-धर्मका उपदेश करे । वह आचार्य सदाचार धारण करनेवालोको गणमे रखे, असद् आचरण करनेवालोको गणसे दूर करे और अपराध या दोप करनेवालोके दोपोका शोधन करते हुए समस्त गणकी रक्षा करे । १७०-१७१ ।। यह अट्ठाईसवी गणोपग्रहणक्रिया है । इस प्रकारसे गणका पोषण करता हुआ वह श्रेष्ठ आचार्य अपने गुरुका स्थान प्राप्त करनेके लिए प्रयत्नशील हो ।। १७२ ।। पुन वह समस्त विद्याओके अध्येता और विद्वान् श्रेष्ठ मुनियोसे आदरको प्राप्त ऐसे किसी योग्य शिष्यको बुलाकर उसे अपने आचार्य पदके भारको सौप देवे ।। १७३ ।। गुरुको अनुमतिसे वह शिष्य भी गुरुके स्थानपर अधिष्ठित होकर गुरुके

गुरोरनुमतात् सोऽपि गुरुस्थानमधिष्ठितः । गुरुवृत्ती स्वयं तिष्ठन् वर्तयेदखिलं गणम् ॥ १७४॥
(इति स्वगुरुस्थानावाप्ति ।)
तत्रारोप्य भरं कृत्स्नं काले कस्मिश्चिदव्यथ.। कुर्यादेकविहारी स नि सङ्गत्वात्मभावनाम् ॥ १७५
नि:सङ्गवृत्तिरेकाकी विहरन् स महातपा: । चिकीर्षुरात्मसंस्कारं नान्यं संस्कर्तुमर्हति ॥१७६॥
अपि रागं समुत्सृज्य शिष्यप्रवचनादिषु । निर्ममत्वैकतान: संश्चर्याशुद्धि तदाऽऽश्रयेत् ॥१७७॥
(इति नि सङ्गत्वात्मभावना ।)
कृत्वैवमात्मसंस्कारं तत. सल्लेखनोद्यतः । कृतात्मशुद्धिरध्यात्मं योगनिर्वाणमाप्नुयात् ॥१७८॥
योगो ध्यानं तदर्थो यो यत्नः संवेगपूर्वक । तमाहुर्योगनिर्वाणसंप्राप्तं परम तप ॥१७९ ॥
कृत्वा परिकरं योग्यं तनुशोधनपूर्वकम् । शरीरं कर्शयेद्दोषैः समं रागादिभिस्तदा ॥१८०॥
तदेतद्योगनिर्वाणं संन्यासे पूर्वभावना । जीविताशां मृतीच्छां च हित्वा भव्यात्मलब्धये ॥१८१॥
रागद्वेषौ समुत्सृज्य श्रेयोऽवाप्तौ च संशयम् । अनात्मीयेषु चात्मीयसङ्कल्पाद् विरमेत्तदा॥१८२॥
नाहं देहो मनो नास्मि न वाणी न च कारणम् । तत्त्रयस्येत्यनुद्विग्नो भजेदन्यत्वभावनाम् ॥१८३॥
अहमेको न मे कश्चिन्नैवाहमपि कस्यचित् । इत्यदीनमना सम्यगेकत्वमपि भावदेत् ॥१८४॥

कर्त्तव्य और आचरणका स्वय पालन करे और समस्त सघसे पालन करावे ॥ १७४ ॥ यह उनतीसवी स्वगुरुस्थानावाप्ति क्रिया है। इसप्रकार सुयोग्य शिष्यपर अपने आचार्य पदका सम्पूर्ण भार सौंपकर किसी भी कालमे व्यथाको नही प्राप्त होनेवाला वह साधु अकेला विहार करता हुआ मेरा आत्मा सर्वपरिग्रहसे रहित है, ऐसी भावनाको करे ॥ १७५ ॥ पूर्ण अपरिग्रहवृत्तिवाला वह महा तपस्वी साधु केवल अपने आत्माका संस्कार करनेका इच्छुक होकर एकाकी विहार करे। वह अन्य साधुके सस्कारको करनेके योग्य नही है। अर्थात् उसे केवल आत्म-शुद्धिका ही प्रयत्न करना चाहिये, अन्यके उद्धारकी वह चिन्ता न करे ॥ १७६ ॥ उसे उस समय शिष्य और शास्त्र-प्रवचन आदि मे भी रागको छोडकर और एक मात्र निर्ममत्व-भावनामे निरत होकर अपने चर्याकी शुद्धि का आश्रय लेना चाहिये ॥ १७७ ॥ यह तीसवी नि संगत्वात्मभावना है। इसप्रकार आत्म-सस्कार-को करके पुन सल्लेखना धारण करनेके लिए उद्यत होकर आत्म-शुद्धि करते हुए वह साधु अध्यात्म-विषयक योगनिर्वाणको प्राप्त होवे ॥ १७८ ॥ योग नाम ध्यानका है, उसकी प्राप्तिके लिए सवेग-पूर्वक जो प्रयत्न किया जाता है, उस परमतपको योगनिर्वाण-सम्प्राप्ति कहते है ॥ १७९ ॥ उस समय उसे समाधिमरणके योग्य सर्वआवश्यक परिकर्म करके विरेचन,वस्तिकर्म आदिके द्वारा शरीर शोधनपूर्वक रागादि दोषोके साथ अपने शरीरको कृश करना चाहिये ॥ १८० ॥ संन्यास धारण करनेके समय इस प्रकारकी पूर्व भावना करनेको योगनिर्वाण कहते हैं। उस समय उसे 'भव्यात्म' नामकी प्राप्तिके लिए जीनेकी आशा और मरनेकी इच्छाको छोडकर,तथा राग-द्वेषको-दूर कर आत्म-कल्याणकी प्राप्तिमे संलग्न रहना चाहिये और अपनी आत्मासे भिन्न समस्त चेतन-अचेतन पदार्थोंमे आत्मीय सकल्पको छोड देना चाहिये ॥ १८१-१८२ ॥ उस समय उद्वेगसे रहित होकर इससे भिन्न अन्यत्वभावनाका इसप्रकारसे चिन्तन करे—मै देह नही हू मन नही हूं, वाणी या करण भी नही हूं और न इन तीनोका कारण ही हूं ॥ १८३ ॥ तथा एकत्व भावनाका इसप्रकार चिन्तन करे— मै अकेला हूं, न मेरा कोई है और न मै किसीका हूं। इस प्रकार अदीन होकर सदा एकत्वकी भी इस प्रकार भावना करनी चाहिये ॥ १८४ ॥ उस समय वह योगी निराकुल [illegible]

यतिमाधाय लोकाग्रे नित्यानन्तसुखास्पदे । भावयेद् योगनिर्वाणं स योगी योगसिद्धये ॥ १८५ ॥
(इति निर्वाणसम्प्राप्तिः ।)
ततो निःशेषमाहारं शरीरं च समुत्सृजन् । योगीन्द्रो योगनिर्वाणसाधनायोद्यतो भवेत् ॥ १८६ ॥
उत्तमार्थे कृतास्थानः सन्यस्ततनुरुद्धधीः । ध्यायन् मन वच कायान् बहिर्भूतान् स्वकान् स्वतः ॥१८७
प्रणिधाय मनोवृत्ति पदेषु परमेष्ठिनाम् । जीवितान्ते स्वसात्कुर्याद् योगनिर्वाणसाधनम् ॥ १८८ ॥
योगः समाधिर्निर्वाणं तत्कृता चित्तनिर्वृतिः । तेनेष्टं साधनं यत्तद् योगनिर्वाणसाधनम् ॥ १८९ ॥
(इति योगनिर्वाणसाधनम् ।)
तथा योगं समाधाय कृतप्राणविसर्जनः । इन्द्रोपपादमाप्नोति गते पुण्ये पुरोगताम् ॥ १९० ॥
इन्द्राः स्युस्त्रिदशाधीशाः तेषूत्पादस्तपोबलात् । यः स इन्द्रोपपादः स्यात् क्रियाऽर्हन्मार्गसेविनाम् ॥ १९१
ततोऽसौ दिव्यशय्यायां क्षणादापूर्णयौवनः । परमानन्दसाद्भूतो दीप्तो दिव्येन तेजसा ॥ १९२ ॥
अणिमादिभिरष्टाभिः युतोऽसाधारणैर्गुणैः । सहजाम्बरदिव्यस्रग् मणिभूषणभूषितः ॥ १९३ ॥
दिव्यानुभावसम्भूतप्रभावं परमुद्वहन् । बोबुध्यते तदाऽऽत्मीयमैन्द्रं दिव्यावधित्विषा ॥ १९४ ॥
(इति इन्द्रोपपादक्रिया ।)
पर्याप्तमात्र एवाय प्राप्तजन्मावबोधनः । पुनरिन्द्राभिषकेण योज्यतेऽमरसत्तमैः ॥ १९५ ॥

धाम लोकके अग्रभाग (सिद्धस्थान) पर अपनी बुद्धिको लगाकर योगनिर्वाणकी भावना भावे। अर्थात् उस योगीको सर्व ओरसे अपना चित्त हटाकर एकमात्र मोक्ष-प्राप्तिकी ही भावना करना चाहिये ॥ १८५ ॥ यह इकतीसवी योगनिर्वाणसम्प्राप्ति क्रिया है । तदनन्तर वह योगीन्द्र समस्त प्रकारके आहारको और शरीरको त्यागकर योगनिर्वाणके साधनके लिए समुद्यत होवे ॥ १८६ ॥ उत्तम मोक्ष पुरुषार्थमें आस्था रखनेवाला तथा सन्यास धारणकर देहसे आत्मबुद्धिको दूर करनेवाला वह योगिराज, मन,वचन,कायको अपनेसे भिन्न चिन्तवन करता हुआ और पचपरमेष्ठियोके चरणोमे अपनी मनोवृत्तिको निश्चल करके जीवनके अन्त समयमे योगनिर्वाणके साधनको आत्मसात करे ।।१८७-१८८।। योग नाम समाधिका है, उस समाधिके द्वारा चित्तकी जो निराकुलतारूप वृत्ति होती है,उसे निर्वाण कहते है । उस योगनिर्वाणके द्वारा जो इष्ट मोक्षका साधन होता है,उसे योगनिर्वाणसाधन कहते है ॥ १८९ ॥ यह बत्तीसवी योगनिर्वाणसाधन क्रिया है । उपर्युक्त प्रकारसे मन-वचन-कायरूप योगोका समाधान करके अपने प्राणोका विसर्जनकर पुण्यके पुरोगामी होनेपर वह इन्द्रोमे उत्पन्न करानेवाली इन्द्रोपपाद क्रियाको प्राप्त होता है ॥ १९० ॥ देवोके स्वामी इन्द्र कहलाते है । तपोबलसे उनमे जो उपपाद (जन्म) होता है, उसे इन्द्रोपपाद कहते है । यह इन्द्रोपपाद क्रिया अर्हत्प्रणीत मोक्षमार्गका सेवन करनेवाले जीवोके ही होती है ॥ १९१ ॥ समाधिसे मरणको प्राप्त हुआ वह योगिराज इन्द्रपदमे उत्पन्न होनेके पश्चात् उसी दिव्य उपपादशय्यापर क्षण भरमे पूर्ण युवावस्थाको प्राप्त हो जाता है और दिव्य तेजसे देदीप्यमान होता हुआ परमआनन्दमे निमग्न हो जाता है ॥ १९२ ॥ अणिमा महिमा आदि आठ असाधारण गुणोसे सयुक्त होकर वह जन्मके साथ ही उत्पन्न हुए दिव्य वस्त्र, माला और मणिमय आभूषणो से विभूषित हो जाता है ॥१९३॥ तब देवलोक के दिव्य माहात्म्य से उत्पन्न हुए महा प्रभावको धारण करता हुआ वह इन्द्र दिव्य अवधिज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा जान लेता है कि मै इन्द्र पदमे उत्पन्न हुआ हूँ ॥ १९४ ॥ यह इन्द्रोपपाद नामकी तेतीसवी क्रिया है । पर्याप्तियोके पूर्ण होते ही जिसे अपने जन्मका ज्ञान प्राप्तहुआ है ऐसे

दिव्यसङ्गीतवादित्रमङ्गलोद्गीतिनिःस्वनैः। विचित्रैश्चाप्सरोनृत्तैः निवृत्तेन्द्राभिषेचनः ॥१९६॥
किरीटमुद्वहन् दीप्रं स्वसाम्राज्यैकलाञ्छनम्। सुरकोटिभिरारूढप्रमदैर्जयकारितः ॥१९७॥
स्रग्वी सदंशुको दीप्त भूषितो दिव्यभूषणैः ऐन्द्रविष्टरमारूढो महानेष महीयते ॥१९८॥
(इति इन्द्राभिषेक।)
ततोऽयमानतानेतान् सत्कृत्य सुरसत्तमान्। पदेषु स्थापयन् स्वेषु विधिदाने प्रवर्तते ॥१९९॥)
स्वविमानर्द्धिदानेन प्रीणितैर्विबुधैर्वृत। सोऽनुभुङ्क्ते चिरं काल सुकृती सुखमामरम् ॥२००॥
तदेतद्विधिदानेन्द्रसुखोदयविकल्पितम। क्रियाद्वयं समाम्नातं स्वर्लोकप्रभवोचितम् ॥२०१॥
(इति विधिदानसुखोदयौ।)
प्रोक्तास्त्विन्द्रोपपादाभिषेकदानसुखोदयाः। इन्द्रत्यागाख्यामधुना सप्रवक्ष्ये क्रियान्तरम् ॥२०२॥
किंचिन्मात्रावशिष्टायां स्वस्यामायुः स्थितौ सुरेट् बुद्ध्वा स्वर्गावतारं स्वं सोऽनुशास्त्यमरा-
निति ॥२०३॥
भो भोःसुधाशना यूयअस्माभि पालिताश्चिरम्।केचित् पित्रीयिताःकेचित् पुत्रप्रीत्योपलालिताः॥२०४
पुरोधोमन्त्र्यमात्यानां पदे केचिन्नियोजिताः। वयस्यपीठमर्दीयस्थाने दृष्टाश्च केचन ॥२०५॥
स्वप्राणनिर्विशेषञ्च केचित् त्राणाय सम्मता। केचिन्मान्यपदे दृष्टा. पालका स्वर्निवासिनाम् ॥२०६

उस इन्द्रका उत्तम देवगण इन्द्राभिषेक करते है ॥ १९५ ॥ दिव्य संगीत,वादित्र और मगलगीतोंके शब्दोसे और अप्सराओके नाना प्रकारके नृत्योसे इन्द्रका अभिषेक सम्पन्न होता है ॥१९६॥ तदनन्तर वह अपने साम्राज्य के अद्वितीय चिन्ह स्वरूप देदीप्यमान मुकुटको धारण करता है। उस समय आनन्दको प्राप्त करोडो देवगण उसका जय-जयकार करते है ॥१९७॥ उस समयवह दिव्य मालाको और दिव्य उत्तम वस्त्रोको धारणकर तथा देदीप्यमान दिव्य आभूषणोसे विभूपित होकर इन्द्रासन पर आरूढ होकर महान् महिमाको प्राप्त होता है ॥ १९८ ॥ यह चौतीसवी इन्द्राभिषेक क्रिया है। तदनन्तर नमस्कार करते हुए उन उत्तम देवोको अपने अपने पदो पर स्थापित करता हुआ वह इन्द्र विधिदान क्रियामे प्रवृत्त होता है, अर्थात् आज्ञानुसारी सर्व देवोको अपने-अपने पदो पर नियुक्त करना ही विधिदान क्रिया कहलाती है ॥ १९९ ॥ अपने-अपने विमानोकी ऋद्धियोंके देनेसे अति प्रसन्न हुए देवोके द्वारा वेष्टित हुआ वह सौभाग्यभाली इन्द्र चिरकाल तक देव लोकके सुखोंको भोगता है ॥ २०० ॥ इस प्रकार स्वर्ग लोकमे किये जानेके योग्य ऐसी ये विधिदान और इन्द्र सुखोदय भेदवाली दो क्रियाएँ कही गयी है ॥ २०१ ॥ यह पैंतीसवी विधिदान और छत्तीसवी सुखोदय क्रिया है। इस प्रकार इन्द्रोपपाद,इन्द्राभिषेक, विधिदान और सुखोदय, ये इन्द्रसम्बन्धी चार क्रियाएँ कही। अब इन्द्रत्याग नामकी अन्य क्रियाको कहते हैं ॥ २०२ वह इद्र अपनी आयुकी स्थितिके किंचिन्मात्र अवशिष्ट रह जाने पर अपना स्वर्गसे अवतरण जानकर देवलोकोको इस प्रकारसे समझाता है ॥ २०३ ॥ भो-भो अमृत-भोजी देव लोगो, हमने तुम्हे चिरकाल तक पाला है,कितने ही देवोको पिताके तुल्य माना है, कितने ही देवोका पुत्रके समान प्रेमसे लालन-पालन किया है ॥२०४॥ कितने ही देवो को पुरोहित, मत्री और अमात्य के पद पर नियुक्त किया है, कितने ही देवोंको मैंने मित्र के समान देखा है और कितनो ही को अपने समान माना है ॥ २०५ ॥ कितने ही देवो को अपने प्राणो के समान मानकर उन्हे अपने शरीरकी रक्षाके लिए नियुक्त किया है और कितनो हीको स्वर्ग-निवासियोकी रक्षाके लिए सम्मान्य

केचिच्चमूचरस्थाने केचिच्च स्वजनास्तथा । प्रजासामान्यमन्ये च केचिच्चानुचराः पृथक् ॥२०७॥
केचित् परिजनस्थाने केचिच्चान्त पुरे चरा । काश्चिद् वल्लभिका देव्यो महादेव्यश्च काश्चन ॥२०८
इत्यसाधारणा प्रीतिर्मया युष्मासु दर्शिता । स्वामिभक्तिश्च युष्माभिर्मय्यसाधारणी धृता ॥२०९॥
साम्प्रतं स्वर्गभोगेषु गतो मन्देच्छतामहम् । प्रत्यासन्ना हि मे लक्ष्मीरद्यभूलोकगोचरा ॥ २१० ॥
युष्मत्साक्षितत कृत्स्नं स्वःसाम्राज्य मयोज्झितम् यश्चान्यो मत्समो भावी तस्मै सर्व समर्पितम्॥२११
इत्यनुत्सुकतां तेषु भावयन्ननुशिष्य तान् । कुर्वन्निन्द्रपदत्यागं स व्यथां नैति धीरधी ॥ २१२ ॥
इन्द्रत्यागक्रिया सैषा तत्स्वर्भोगातिसर्जनम् । धीरास्त्यजन्त्यनायासादैश्र्यं तादृशमप्य हो ॥ २१३ ॥
(इति इन्द्रत्यागः ।)

अवतारक्रियाऽस्यान्या ततः सपरिवर्तते । कृतार्हत्पूजनस्यान्ते स्वर्गादवतरिष्यत. ॥२१४॥
सोऽयं नृजन्मसंप्राप्त्या सिद्धि द्रागभिलाषुकः । चेत सिद्धनमस्यायां समाधत्ते सुराधिराट् ॥२१५॥
शुभैः षोडशभिः स्वप्नं ससूचितमहोदय । तदा स्वर्गावताराख्यां कल्याणीमश्नुते क्रियाम् । २१६॥
(इति इन्द्रावतारः ।)

ततोऽवतीर्णो गर्भेऽसौ रत्नगर्भगृहोपमे । जनयित्र्या महादेव्या श्रीदेवीभिर्विशोधिते ॥ २१७ ॥

पद पर नियुक्त किया है ॥ २०६ ॥ कितने ही देवोको सेनापतिके स्थान पर नियुक्त किया है और कितनों ही को अपने परिवारके लोगोके समान समझा है। कितने ही देवोको सामान्य प्रजाके समन माना और कितनो ही को पृथक रूपसे अनुचर नियुक्त किया ॥ २०७ ॥ कितने ही देवोंको परि-जनके समान कुटुम्बी माना और कितनो को ही अन्त पुर-चारी वनाया । कितनी ही देवियोंको वल्लभिका माना और कितनी ही देवियोको महादेवीके पद पर नियुक्त किया ॥२०८॥इस प्रकार से मैने तुम लोगोमे असाधारण प्रीति दिखाई और तुम लोगोने भी मेरे पर असाधारण स्वामिभक्ति प्रकट की है ॥ २०९ ॥ इस समय स्वर्गके भोगोमे मेरी इच्छा मन्द हो गयी है और निश्चय ही भू-लोक-सम्बन्धी लक्ष्मी मेरे समीप आ रही है ॥ २१० ॥ इसलिए आज तुम लोगोकी साक्षीपूर्वक यह समस्त स्वर्गका साम्राज्य मै छोड रहा हूँ और जो मेरे समान ही अन्य इन्द्र होने वाला है, उसके लिए यह समर्पण कर रहा हूँ ॥ २११ ॥ इस प्रकारसे उन सब देवोमे अपनी अनुत्सुकता या उदासीनताकी भावना करता हुआ वह धीर-बुद्धिवाला इन्द्र उन सब देवोको शिक्षा देकर इन्द्रपद-का त्याग करता हुआ किसी प्रकारकी व्यथाको नही प्राप्त होता है अर्थात् सहर्ष इन्द्र पदका त्याग करता है ॥ २१२ ॥ इस प्रकार उन स्वर्गीय भोगोका परित्याग करना, यह इन्द्रत्याग क्रिया कह-लाती हे । अहो, यह आश्चर्य है कि धीर वीर पुरुष अनायास ही उस प्रकारके भी परम ऐश्वर्यको सहज मे छोड देते है ॥ २१३ ॥ यह सैंतीसवी इन्द्रत्याग क्रिया है तदनन्तर जीवन के अन्तमे अरहन्त देवकी पूजन करके स्वर्गसे अवतरित होने वाले उस इन्द्रके यह अन्य अवतार क्रिया प्रवृत्त होती है ॥ २१४ ॥ अभी तक इन्द्र पदका धारक मै मनुष्यजन्म पाकर अतिशीघ्र सिद्धि (मुक्ति लक्ष्मी) का अभिलाषी हुआ हूँ, यह विचार कर वह देवो का अधिराज इन्द्र अपना चित्त सिद्ध भगवान्को नमस्कार करनेमे लगाता है ॥ २१५ ॥ तब वह इन्द्र शुभ सोलह स्वप्नोंके द्वारा (भावी माता-पिताको) अपना महान् उदय सूचित करता हुआ स्वर्गावतार नामकी कल्याणकारिणी क्रिया को प्राप्त होता है ॥ २१६ ॥ यह अडतीसवी इन्द्रावतार क्रिया है । तदनन्तर वह इन्द्र जन्म देने वाली महादेवीके श्री ह्री आदि देवियोके द्वारा सशोधित और रत्नोंके गर्भगृहके समान गर्भ मे अव-

हिरण्यवृष्टि धनदे प्राक् षण्मासान् प्रवर्षति । अन्वायान्त्यामिवानन्दात् स्वर्गसम्पदि भूतलम् ॥२१८॥
अमृतश्वसने मंदमवाति व्याप्तसौरभे । भूदेव्या इव निःश्वासे प्रक्लृप्ते पवनामरैः ॥ २१९ ॥
दुन्दुभिध्वनिते मंद्रमुत्थिते पथि वार्मुचाम् । अकालस्तनिताशङ्कामतन्वति शिखण्डिनाम् ॥२२०॥
मन्दारस्रजमम्लानिममोदाहूतषट्पदाम् । मुञ्चत्सु गुह्यकाख्येषु निकायेष्वमृताशिनाम् ॥२२१॥
देवीषूपचरन्तीषु देवीं भुवनमातरम् । लक्ष्म्या समं समागत्य श्रीन्हीधीधृतिकीर्तिषु ॥२२२॥
कस्मिंश्चित् सुकृतावासे पुण्ये राजर्षिमंदिरे । हिरण्यगर्भो धत्तेऽसौ हिरण्योत्कृष्टजन्मताम् ॥२२३॥
हिरण्यसूचितोत्कृष्ट जन्यत्वात् स तथा श्रुतिम् । बिभ्राणां तां क्रियां धत्ते गर्भस्थोऽपि त्रिबोधभृत् ॥२२४

(इति हिरण्यजन्मता ।)

विश्वेश्वरी जगन्माता महादेवी महासती । पूज्या सुमङ्गला चेति धत्ते रूढिं जिनाम्बिका ॥२२५॥
कुलाद्रिनिलया देव्यः श्रीन्हीधीधृतिकीर्तयः । समं लक्ष्म्या षडेताश्च सम्मता जिनमातृकाः ॥२२६॥
जन्मानंतरमायाते सुरेन्द्रैर्मेरुमूर्द्धनि । योऽभिषेकविधिः क्षीरपयोधेः शुचिभिर्जलैः ॥२२७॥
मन्दरेन्द्राभिषेकोऽसौ क्रियाऽस्य परमेष्ठिनः । सा पुनः सुप्रतीतत्वाद् भूयो नेह प्रतन्यते ॥ २२८ ॥

(इति मन्दरेन्द्राभिषेक)

ततोऽविद्योपदेशोऽस्य स्वतन्त्रस्य स्वयंभुवः । शिष्यभावव्यतिक्रान्ति गुरुपूजोपलम्भनम् ॥२२९॥

तीर्ण होता है ॥ २१७ ॥ गर्भ मे आनेके छह मास पूर्व से ही कुबेर जननी के घर पर हिरण्यवृष्टि करता है, उस समय ऐसा जान पडता है मानो आनन्दसे स्वर्गकी सम्पदा ही भगवान्‌के साथ इस भूतल पर आ रही है ॥ २१८ ॥ उस समय अमृतके समान सुखदायक मन्द मन्द पवनके भूलोकमें व्याप्त होनेसे ऐसा जान पडता है मानो वायुकुमार देवोके द्वारा निर्माण किया हुआ भूदेवोका निःश्वास ही है ॥ २१९ ॥ जब आकाशमे वजते हुए दुदुभियोंकी गम्भीर ध्वनिके फैलने से असमयमे ही मयूरोंको मेघोंके गरजनेकी आशंका हो रही हो,जब यक्ष जातिके देवोके समूह कभी नही मुरझाने-वाली और सुगन्धिसे भौंरोको अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली कल्पवृक्षोके फूलो की मालाएँ आकाश-से वरसा रहे हो, एव जव श्री,न्ही,बुद्धि,धृति और कीर्ति नामकी देवियाँ लक्ष्मीदेवीके साथ आकर जगन्माता महादेवीकी स्वय सेवा-उपचारकर रही हो उस समय पुण्यके आवासवाले किसी पुण्य-वान् राजर्षिके राजमन्दिरमें वे हिरण्यगर्भ भगवान् हिरण्योत्कृष्ट जन्मको धारण करते है ॥२२०-२२३ ॥ जो गर्भमे रहते हुए भी मति,श्रुत,अवधि इन तीन ज्ञानके धारक है,ऐसे वे भगवान् हिरण्य (सुवर्ण)की वर्षासे जन्मकी उत्कृष्टता सूचित होनेके कारण 'हिरण्योत्कृष्टजन्म' इस सार्थक नामको धारण करनेवाली क्रियाको प्राप्त होते है ॥२२४॥ यह उनतालीसवी हिरण्योत्कृष्ट जन्मता क्रिया है । उस समय जिन भगवान्‌की माता विश्वेश्वरी, जगन्माता, महादेवी, महासती, पूज्या और सुमगला इत्यादि नामोको धारण करती है ॥२२५॥ कुलाचलों पर रहनेवाली श्री,न्ही,बुद्धि धृति, कीर्ति और लक्ष्मी ये छह देवियाँ जिनमातृका अर्थात् जिनभगवान्‌की माताकी सेविका मानी गई है ॥२२६॥ जिनभगवान्‌का जन्म होनेके अनन्तर स्वर्गलोकसे आये हुए सुरेन्द्रोके द्वारा सुमेरुके शिखर-पर क्षीरसागरके पवित्र जलसे जो भगवान्‌की अभिषेकविधि की जाती है,वह उन परमेष्ठीकी मन्द-रेन्द्राभिषेक क्रिया है । यह क्रिया सुविज्ञात होनेसे पुन यहाँ पर नही कही जा रही है ॥२२७-२२८॥ यह चालीसवी मन्दराभिषेक क्रिया है । तदनन्तर उस स्वतन्त्र स्वयम्भू भगवानको किसीके द्वारा विद्याओंका उपदेश नही दिया जाता है । वे किसी गुरुका शिष्यत्व स्वीकार किये बिना ही गुरुपदकी पूजाको प्राप्त होते है ॥२२९॥ उस समय इन्द्र लोग आकर इस लोक-त्राता त्रिजगद्गुरुकी पूजा

तदेन्द्रा पूजयन्त्येन त्रातारं त्रिजगद्गुरुम् । अशिक्षितोऽपि देवत्वं सम्मतोऽसीति विस्मिता ॥ २३०
(इति गुरुपूजनम् ।)
तत. कुमारकालेऽस्य यौवराज्योपलम्भनम् । पट्टबन्धोऽभिषेकश्च तदास्य स्यान्महौजस ॥ २३१
(इति यौवराज्यम् ।)
स्वराज्यमधिराज्येऽभिषिक्तस्यास्याक्षितीश्वरै. । शासत सार्णवामेनां क्षितिमप्रतिशासनाम् ॥२३२
(इति स्वराज्यम् ।)
चक्रलाभो भवेदस्य निधिरत्न समुद्भवे । निजप्रकृतिभि· पूजा साभिषेकाऽधिराडिति ॥ २३३
(इति चक्रलाभ ।)
दिशाञ्जयः स विज्ञेयो योऽस्य दिग्विजयोद्यम । चक्ररत्नं पुरस्कृत्य जयतः सार्णवां महीम् ॥ २३४
(इति दिशाञ्जय· ।)
सिद्धदिग्विजयस्यास्य स्वपुरानुप्रवेशने । क्रिया चक्राभिषेकाव्हा साऽधुना सम्प्रकीर्त्यते ॥ २३५
चक्ररत्नं पुरोधाय प्रविष्ट. स्वनिकेतनम् । परार्ध्यविभवोपेत स्वर्विमानापहासि यत् ॥ २३६
तत्र क्षणमिवासीने रम्ये प्रमदमण्डपे । चामरैर्वीज्यमानोऽयं सनिर्झर इवाद्रिराट् ॥ २३७
सम्पूज्य निधिरत्नानि कृतचक्रमहोत्सव । दत्वाकिमिच्छकं दान मान्यान् सम्मान्य पार्थिवान् ॥२३८
ततोऽभिषेकमाप्नोति पार्थिवैर्महितान्वयै· । नान्दीतूर्येषु गम्भीर प्रध्वनत्सु सहस्रश ॥ २३९
यथावदभिषिक्तस्य तिरीटारोपण ततः । क्रियते पार्थिवैर्मुख्यै चतुर्भि. प्रथितान्वयै. ॥ २४०

करते है और विस्मित होते हुए कहते हैं कि हे देव, तुम किसीके द्वारा शिक्षित नही होनेपर भी सबके द्वारा गुरु रूपसे सम्मान्यको प्राप्त हुए हो ॥ २३० ॥ यह इकतालीसवी गुरुपूजन क्रिया है। तदनन्तर कुमारकालके प्राप्त होनेपर उन्हे युवराजका पद प्राप्त होता है। उस समय उन महातेजस्वी भगवान्‌का पट्टबन्ध और अभिषेक किया जाता है॥ २३१ ॥ यह बियालीसवी यौवराज्य क्रिया है। तदनन्तर राजा लोग आकर इनको महाराजके पदपर स्थापित करके राज्याभिषेक करते है और भगवान् अन्यके शासनसे रहित इस समुद्रान्त पृथिवीका एकछत्र शासन करते हुए स्वराज्यको प्राप्त होते है ॥ २३२ ॥ यह तेतालीसवी स्वराज्य प्राप्ति क्रिया है । तत्पश्चात् नौ निधियो और चौदह रत्नोके प्राप्त होनेपर उनके चक्ररत्नकी प्राप्ति होती है । उस समय सारी प्रजा उन्हे राजाधिराज मानकर उनकी अभिषेकके साथ पूजा करती हैं ॥ २३३ ॥ यह चवालीसवी चक्ररत्न क्रिया है। तदनन्तर चक्ररत्नको आगे करके सागरान्त समस्त पृथिवीको जीतनेवाले उन तीर्थंकर भगवान्‌का जो दिग्विजय करनेके लिए उद्यम होता हैं, उसे दिशांजय जानना चाहिए ॥ २३४ ॥ यह पैंतालीसवी दिशाजय क्रिया है । जब तीर्थंकर भगवान् दिग्विजयको सिद्ध करके अपने नगरमे प्रवेश करते है, उस समय चक्राभिषेक नामकी क्रिया होती है, अब उसे कहते है ॥ २३५ ॥ वे चक्रवर्ती तीर्थंकर चक्ररत्नको आगे करके बहुमूल्य वैभवसे सयुक्त, स्वर्गके विमानोका उपहास करनेवाले अपने राजभवनमे प्रवेश करते हैं ॥ २३६ ॥ वहा परमरम्य आनन्द मडपमे विराजमान होनेपर जब उनके ऊपर चॅवर ढुलाये जाते है उस समय वे निर्झरनोसे युक्त पर्वतराज सुमेरुके सदृश प्रतीत होते है ॥ २३७ ॥ उस समय वे निधियो और रत्नोकी पूजाकर चक्ररत्न पानेका महान् उत्सव करते है और किमिच्छक दान देकर माननीय राजाओका सन्मान करते है ॥ २३८ ॥ तदनन्तर मङ्गलो मांगलिक वादित्रोकी गम्भीर ध्वनि होनेपर वे पूज्य कुलोत्पन्न राजाओके द्वारा अभिषेकको प्राप्त होते है ॥ २३९ ॥ तदनन्तर यथाविधि अभिषिक्त उनके मस्तकपर प्रसिद्ध वशवाले चार प्रमुख राजाओके

महाभिषेकसामग्र्या कृतचक्राभिषेचन । कृतमङ्गलनेपथ्य पार्थिवैः प्रणितोऽभित ॥ २४१
तिरीटं स्फुटरत्नांशु जटिलीकृतदिग्मुखम् । दधानश्चक्रसाम्राज्यककुदं नृपपुङ्गव ॥ २४२
रत्नांशुच्छुरितं बिभ्रत् कर्णाभ्यां कुण्डलद्वयम् । यद्वाग्देव्या समाक्रीडारथचक्रद्वयायितम् ॥ २४३
तारालितरलस्थूलमुक्ताफलमुरोगृहे । धारयन् हारमाबद्धमिव मङ्गलतोरणम् ॥ २४४
विलसद् ब्रह्मसूत्रेण प्रविभक्ततनून्नति । तटनिर्झरसम्पातरम्यमूर्तिरिवाद्रिप ॥ २४५
सद्रत्नकटकं प्रोच्चै शिखरं भुजयोर्युगम् । द्राघिमश्लाघि बिभ्राण कुलक्ष्माध्रद्वयायितम् ॥ २४६
कटिमण्डलसंसक्तलसत्काञ्चीपरिच्छद । महाद्वीप इवोपान्तरत्नवेदपरिष्कृत ॥ २४७
मन्दारकुसुमामोदलग्नालिकुलझंकृतैः । किमप्यारब्धसङगीतमिव शेखरमुद्वहन् ॥ २४८
तत्कालोचितमन्यच्च दधन्मङ्गलभूषणम् । स तदा लक्ष्यते साक्षाल्लक्ष्म्या पुञ्ज इवोच्छ्रिख ॥२४९
प्रीताश्चाभिष्टुवन्त्येनं तदामी नृपसत्तमा । विश्वञ्जयो दिशाञ्जेता दिव्यमूर्तिर्भवानिति ॥ २५०
पौरा प्रकृतिमुख्याश्च कृतपादाभिषेचना. । तत्क्रमार्चनमादाय कुर्वन्ति स्वशिरोधृतम् ॥ २५१
श्रीदेव्यश्च सरिद्देव्यो देव्यो विश्वेश्वरा अपि । समुपेत्य नियोगै स्वैस्तदैनं पर्युपासते ॥ २५२
(इति चक्राभिषेक)

द्वारा मुकुट रक्खा जाता है ॥ २४० ॥ इसप्रकार महाभिषेककी सामग्रीसे जिनका चक्राभिषेक किया गया हैं, जिन्होने मागलिक वेश-भूषा धारण की है,जिन्हे सर्व ओरसे राजालोग नमस्कार कर रहे है ॥ २४१ ॥ जो स्फुरायमान रत्नोकी किरणोसे समस्त दिशाओको व्याप्त करनेवाले,तथा चक्रवर्तीके साम्राज्यके चिन्हस्वरूप मुकुटको धारणकर रहे है, जो राजाओमे सर्वश्रेष्ठ है ॥ २४२॥ जो दोनों कानोंमे रत्नोंकी किरणोसे व्याप्त तथा सरस्वतीके क्रीडा-रथके दोनों चक्रोकी शोभाके समान प्रतीक होनेवाले दो कुण्डलोको धारणकर रहे है ॥ २४३ ॥ जो वक्षस्थलरूप गृहके द्वारपर बँधे मागलिक तोरणके समान प्रतीत होनेवाले और ताराओकी पंक्तिके समान चचल स्थूल मोतियोवाले हारको धारण किये हुए हैं ॥२४४॥ शोभायमान ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) से जिनके शरीरकी उच्चता प्रकट हो रही है, अत एव जो तटपर गिरते हुए निर्झरनोसे सुरम्य मूर्त्ति सुमेरुगिरिके सदृश प्रतीत हो रहे हैं ॥ २४५ ॥ जो उत्तम रत्नमय कटक युक्त, उन्नत शिखरवाले विशाल एव प्रशसनीय भुजा-युगलको धारण करते हुए ऐसे प्रतीत होते है,मानो दो कुलाचलोको ही धारणकर रहे है । क्योकि कुलाचलोके कटक भाग रत्न-जडित होते है, उनके शिखर उन्नत होते है,वे अतिदीर्घ और विशाल होते है ॥ २४६ ॥ कटि-मडलपर सटी हुई शोभायमान करधनीको पहिने हुए वे भगवान् समीपवर्ती रत्नमय वेदिकासे घिरे हुए महाद्वीपसे मालूम पडते है ॥२४७॥ मन्दारकल्पवृक्षके पुष्पोकी सुगधिसे आकृष्ट होकर सलग्न भौरोके समूहकी झकारोसे कुछ सगीत-गान करते हुए के समान सुन्दर शेखरको धारण कर रहे है ॥ २४८ ॥ उस समय चक्राभिषेक-कालके उचित अन्य भी मागलिक आभूषणोको धारण करते हुए वे भगवान् उन्नत शिखावाले साक्षात् लक्ष्मीके पुजके ही समान प्रतीत होते है ॥ २४९ ॥ उस समय अति प्रीतिको प्राप्त श्रेष्ठ राजा लोग उनकी इस प्रकार स्तुति करते है-भगवन् आप विश्वविजयी है, दिग्विजेता है और दिव्यमूर्त्ति है ॥ २५० ॥ पुर-वासी लोग तथा अन्य प्रमुख पदाधिकारी गण उनके चरणोका अभिषेक करते है और उनके चरण-चर्चित जलको लेकर अपने अपने शिरोपर धारण करते है ॥ २५१ ॥ उस समय श्री,ह्री आदि कुमारिका देवियाँ, गगा-सिन्धु आदि सरिद्देवियाँ, तथा विश्वेश्वरा आदि अन्य अनेको देवियाँ आ-आकर अपने अपने नियोगो

चक्राभिषेक इत्येक समाख्यात क्रियाविधि । तदनन्तरमस्य स्यात् साम्राज्याख्यं क्रियान्तरम्।।२५३
अपरेद्युर्दिनारम्भे धृतपुण्यप्रसाधन । मध्ये महानृपसभ नृपासनमधिष्ठित ।। २५४
दीप्रै प्रकीर्णकव्रातै स्वर्धुनीसीकरोज्ज्वलै । वारनारीकराधूतैर्वीज्यमान समन्तत ।। २५५
सेवागतैः पृथिव्यादिदेवतांशै परिष्कृत । धृतिप्रशान्तदीप्त्योजो निर्मलत्वोपमादिभि ।। २५६
तान् प्रजानुग्रहे नित्यं समाधानेन योजयन् । सम्मानदानविश्रम्भै प्रकृतीरनुरञ्जयन् ।। २५७
पार्थिवान् प्रणतान् यूय न्यायै पालयत प्रजाः । अन्यायेषु प्रवृत्ताश्चेद् वृत्तिलोपो ध्रुव हि व ।।२५८
न्यायश्च द्वितयो दुष्टनिग्रह· शिष्टपालनम् । सोऽय सनातन क्षात्रो धर्मो रक्ष्य. प्रजेश्वरैः ।।२५९
दिव्यास्त्रदेवताश्च सूराराध्या स्यु विधानत । ताभिस्तु सुप्रसन्नाभिरवश्य भावुको जय ।। २६०
राजवृत्तिमिमा सम्यक् पालयद्भिरतन्द्रितै । प्रजासु वर्तितव्यं भो भवद्भिर्न्यायवर्त्मना ।। २६१
पालयन्न इम धर्म स धर्मविजयी भवेत् · क्ष्मां जयत् विजितात्मा हि क्षत्रियो न्यायजीविक ।।२६२
इहैव स्याद् यशोलाभो भूलाभश्च महोदय· । अमुत्राभ्युदयावाप्तिः क्रमात् त्रैलोक्यनिर्जय· ।। २६३
इति भूयोऽनुशिष्यैतान् प्रजापालनसंविधौ । स्वय च पालयत्येनान् योगक्षेमानुचिन्तनै ।। २६४

अनुसार भगवान् की उपासना करती है ।। २५२ । यह छियालीसवी चक्राभिषेक क्रिया है । इस प्रकार यह अद्वितीय चक्राभिषेक क्रियाकी विधि कही । अब इसके पश्चात् साम्राज्य नामकी अन्य क्रियाको कहते है ।। २५३ ।। दूसरे दिन प्रात काल वे चक्रवर्ती महाराज पवित्र अलकारोको धारण-कर महान् राजाओकी सभाके मध्य भागमे अवस्थित राजसिहासनपर विराजमान होते है।।२५४।। उस समय अति देदीप्यमान गगानदीके जलकणोके समान उज्ज्वल एव वारवनिताओके हाथोसे सर्व ओर ढुलाये जाते हुए चॅवरोसे सुशोभित, तथा सेवाके लिए आये हुए धृति, प्रशान्ति,दीप्ति,ओज और निर्मलताके उत्पादक पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश आदि देवताओके अशोसे अर्थात् उनके वैक्रियिक शरीरोसे वेष्टित वे महाराज उन देवताओको समाधान-पूर्वक सदा प्रजाके अनुग्रह करनेमे लगाते है और सन्मान, दान एव विश्वास,धैर्य आदिको देकर प्रजाको प्रसन्न करते है।।२५५-२५७ ।। उस समय नमस्कार करते हुए राजा-महाराजा लोगोको सम्बोधनकर वे चक्रवर्ती सम्राट् उन्हे आदेश देते है कि तुम लोग न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करो । यदि तुम्हारी अन्यायके कार्योमे प्रवृत्ति होगी, तो तुम लोगोकी वृत्तिका लोप निश्चयसे हो जायगा, अर्थात् तुम्हारा राज्य नष्ट हो जायगा ।। २५८ ।। न्याय दो प्रकारका होता है-एक तो दुष्टजनोका निग्रह करना और दूसरा शिष्ट पुरुषोका पालन करना । यह दो प्रकारका क्षत्रियोका सनातन धर्म है । राजाओको अच्छी तरहसे इस क्षात्रधर्मकी रक्षा करना चाहिए ।२५९।। अग्निबाण आदि दिव्य अस्त्रोके अधिष्ठाता देवताओकी भी विधिपूर्वक आराधना करनी चाहिये, क्योकि आराधनासे अति प्रसन्न हुए देवताओसे अवश्य-म्भावी विजय होती है ।। २६० ।। हे राजा लोगो, आप सब इस राजधर्मको प्रमाद-रहित होकर सम्यक् प्रकारसे पालन करते हुए प्रजाओमे न्यायमार्गसे व्यवहार करे ।। २६१ ।। जो राजा इस राजधर्मका भलि-भाँतिसे पालन करता है, वह धर्मविजयी होता है,क्योकि अपनी आत्मापर विजय पानेवाला और न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करनेवाला क्षत्रिय ही इस पृथ्वीको जीत सकता है।।२६२।। इसप्रकार न्यायपूर्वक राजधर्मके पालन करनेसे इस लोकमे यशका लाभ होता है, पृथिवीकी प्राप्ति होती है और महान् भाग्यका उदय होता है । तथा परलोकमे स्वर्गीय अभ्युदय की प्राप्ति होती है और अनुक्रमसे वह त्रैलोक्य-विजयी सिद्ध पदको प्राप्त करता है । २६३ ।। इस प्रकार वे महाराज प्रजा-पालन करने की विधिमे बार-बार उन राजाओको शिक्षण देकर स्वय योग और क्षेमका विचार

तदिदं तस्य साम्राज्यं नाम धर्म्यं क्रियान्तरम् । येनानुपालितेनायमिहामुत्र च नन्दति ।। २६५
(इति साम्राज्यम् ।)

एवं प्रजा प्रजापालानपि पालयतश्चिरम् । काले कस्मिँश्चिदुत्पन्नबोधे दीक्षोद्यमो भवेत् ।। २६६
सैषा निष्क्रान्तिरस्येष्टा क्रिया राज्याद् विरज्यत. । लौकान्तिकामरैं भूँयो बोधितस्य समागतैं.।।२६७
कृतराज्यार्पणो ज्येष्ठे सूनौ पार्थिवसाक्षिकम् । सन्तानपालने चास्य करोतीत्यनुशासनम् ।। २६८
त्वया न्यायधनेनाङ्ग भवितव्यं प्रजाधृतौ । प्रजा कामदुधा धेनुः मता न्यायेन योजिता ।। २६९
राजवृत्तमिदं विद्धि यन्न्यायेन धनार्जनम् । वर्धन रक्षणं चास्य तीर्थे च प्रतिपादनम् ।। २७०
प्रजानां पालनार्थं च मतं मत्यनुपालनम् । मतिर्हिता हितज्ञानमात्रिकामुत्रिकार्थयो. ।। २७१
तत. कृतेन्द्रियजयो वृद्धसंयोगसम्पदा । धर्मार्थशास्त्रविज्ञानात् प्रज्ञां संस्कर्तुमर्हसि ।। २७२
अन्यथा विमति भूँपो युक्तायुक्तनभिज्ञकः । अन्यथाऽन्यैः प्रणेय स्यान्मिथ्याज्ञानलवोद्धतैं. ।। २७३
कुलानुपालने चायं महान्तं यत्नमाचरेत् । अज्ञातकुलधर्मो हि दुर्वृत्तैर्दूषयेत् कुलम् ।। २७४
तथायमात्मरक्षायां सदा यत्नपरो भवेत् । रक्षित हि भवेत् सर्वं नृपेणात्मनि रक्षिते ।। २७५

करते हुए उन राजाओका पालन करते है ।। २६४ ।। भावार्थ—अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति करनेको योग कहते हैं और प्राप्त हुई वस्तुके सरक्षण करनेको क्षेम कहते हैं । इस प्रकार यह उनकी धर्म-युक्त साम्राज्य नामकी वह क्रिया है, जिसके कि पालन करनेसे यह जीव इस लोक और परलोक दोनोही स्थानोमे सदा आनन्द पाता है ।। २६५ ।। यह सैतालीसवी साम्राज्य क्रिया है । इस प्रकार प्रजा और प्रजा-पालकोंका चिरकाल तक पालन करते हुए किसी समय प्रवोधके प्रकट होने पर वे दीक्षा लेनेको उद्यमी होते है ।। २६६ ।। राज्यसे विरागको प्राप्त होनेवाले और ब्रह्मलोकसे आयेहुए लौकान्तिक देवोके द्वारा पुनरपि सम्बोधित उनकी यह निष्क्रान्ति नामक क्रिया मानी गई है ।। २६७ ।। उस समय वे महाराज, राजाओकी साक्षीपूर्वक ज्येष्ठ पुत्र पर राज्यका भार समर्पण कर प्रजा-पालन करनेके लिए इस प्रकार शिक्षा देते है ।। २६८ ।। हे पुत्र, प्रजाके पालन करनेमे तू न्यायरूपी धनसे युक्त रहना,अर्थात् न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करना, क्योंकि न्यायसे पालन की गई प्रजा मनोरथो को पूर्ण करनेवाली कामधेनु मानी गई है ।। २६९ । हे वत्स, तू इसे ही राजधर्म समझ कि न्यायसे धन उपार्जन करना, उसकी वृद्धि करना, उसका सरक्षण करना और स्थावर तीर्थ सिद्धक्षेत्र आदि तथा जगमतीर्थ पात्र आदि मे दान देना ।। २७० ।। प्रजाका पालन करनेके लिए सबसे पहले अपनी मति (वुद्धि)की रक्षा करना आवश्यक माना गया है । इस लोक और परलोक-सम्बन्धी पदार्थोके विपयमे हित और अहितका ज्ञान होना ही मति या वुद्धि कहलाती है ।। २७१ ।। अतएव इन्द्रिय-विजयी होकर वृद्धजनोकी सगतिरूप सम्पदाद्वारा धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रके विशिष्ट ज्ञानसे तुम्हे अपनी वुद्धिको भलीभाँति सुसस्कृत करना चाहिए ।। २७२ ।। यदि राजा अपनी वुद्धिको सुसस्कृत नहीं वनायेगा, तो वह योग्य-अयोग्यमे अनभिज्ञ रहकर विपरीत वुद्धिवाला हो जायेगा और तव वह मिथ्याज्ञानके लेश मात्रसे उद्धत अन्य कुमार्गगामियोके द्वारा कुमार्गगामी वना दिया जायगा ।।२७३।। राजाओका कुलकी मर्यादा पालन करनेके लिए महान् यत्न करना चाहिए, क्योकि कुल धर्मसे अनभिज्ञ मनुष्य दुराचरणोंसे अपने कुलको दूपित कर देता है ।। २७४ ।। तथा राजाको अपनी आत्म-रक्षामे भी सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए,क्योकि राजाके द्वारा आत्म-रक्षा किये जाने पर ही सब सुरक्षित रह सकता है, अन्यथा नहीं ।। २७५ ।। अपनी रक्षा नहीं करनेवाले राजाका शत्रुओंसे,तथा

अपायो हि सपत्नेभ्यो नृपस्यारक्षितात्मन । आत्मानुजीविवर्गाच्च क्रुद्धलुब्धविमानितात ॥२७६
तस्माद् रसदतीक्ष्णादि नपायानरियोजितान् । परिहृत्य निजैरिष्टैः स्व प्रयत्नेन पालयेत् ॥ २७७
स्यात् समञ्जसवृत्तित्वमस्यात्माभिरक्षणे । असमञ्जसवर्त्तो हि निजैरप्यभिभूयते ॥ २७८
समञ्जसत्वमस्येष्टं प्रजास्वविषमेक्षिता । अनृशंस्यमवाग्दण्डपारुष्यादिविशेषितम् ॥ २७९
ततो जितारिषड्वर्ग स्वा वृत्तिं पालयन्निमाम् । स्वराज्ये सुस्थितो राजा प्रेत्य चेह च नन्दति ॥२८०
समं समञ्जसत्वेन कुलमत्यात्मपालनम् । प्रजानुपालनं चेति प्रोक्ता वृत्तिर्महीक्षिताम् ॥ २८१
तत क्षात्रमिम धर्मं यथोक्तमनुपालयन् । स्थितो राज्ये यशो धर्मं विजयं च त्वमाप्नुहि ॥ २८२
प्रशान्तधीः समुत्पन्नबोधिरित्यनुशिष्य तम् । परिनिष्क्रान्तिकल्याणे सुरेन्द्रैरभिपूजित ॥ २८३
महादानमथो दत्वा साम्राज्यपदमुत्सृजन् । स राजराजो राजर्षिर्निष्क्रामति गृहाद् वनम् ॥ २८४
धौरेयैः पार्थिवैः किञ्चित् समुत्क्षिप्तां महीतलात् । स्कन्धाधिरोपितां भूय सुरेन्द्रैर्भक्तिनिर्भरैः ॥२८५
आरूढः शिबिकां दिव्यां दीप्तरत्नविनिर्मिताम् । विमानवसतिं भानोरिवाऽऽयातां महीतलम् ॥२८६
पुरस्सरेषु निःशेषनिरुद्धव्योमवीथिषु । सुरासुरेषु तन्वत्सु, सन्दिग्धार्कप्रभ नभः ॥ २८७
अनूत्थितेषु सम्प्रीत्या पार्थिवेषु ससंभ्रमम् । कुमारमग्रत. कृत्वा प्राप्तराज्य नवोदयम् ॥ २८८

रुष्ट, लुब्ध एवं अपमानित अपने ही अनुजीवी वर्गसे विनाश हो जाता है ॥२७६॥ इसलिए शत्रुओके द्वारा योजित, प्रारम्भमे सुखद, किन्तु परिणाममे अति दुखद अपायोको दूरकर अपने इष्ट जनोके द्वारा प्रयत्नके साथ अपनी रक्षा करना चाहिए ॥ २७७ ॥ इसके अतिरिक्त राजाको अपनी रक्षा करनेमे समजञ्जस वृत्तिवाला होना चाहिए, क्योकि असमञ्जस वृत्तिवाला अपने स्वजनोसे भी पराभव को प्राप्त होता है ॥२७८॥ समस्त प्रजा पर पक्षपात-रहित समदृष्टि रखना, क्रूर-व्यवहार नही करना, कठोर वचन नही बोलना और कठिन दण्ड नही देना आदि विशेषताओसेयुक्त समदर्शीपनाको समञ्जसवृत्ति कहते है ॥ २७९ ॥ इस प्रकार जो राजा काम, क्रोध, लोभ. मोह, मद और मात्सर्य इन छह अन्तरग शत्रुओको जीतकर और अपनी उपर्युक्त समञ्जस राजवृत्तिको पालन करता हुआ अपने राज्यमे स्थिर रहता है, वह इस लोक ओर परलोकमे आनन्द को प्राप्त करता है ॥२८०॥ पक्षपात-रहित समञ्जसवृत्तिके साथ कुलकी मर्यादा पा लेना, बुद्धिकी रक्षा करना, अपनी रक्षा करना और प्रजाका भलिभाँतिसे पालन करना यह सब राजाओकी वृत्ति कहलाती है॥२८१॥ अतएव हे पुत्र, इस क्षात्रधर्मको यथोक्त रीतिसे परिपालन करते हुए राज्यमे स्थिर होकर अपने यश, धर्म और विजय को प्राप्त करो ॥ २८२ ॥ इस प्रकारसे पुत्रको अनुशासित कर वे प्रशान्त बुद्धि और प्रबोधको प्राप्त भगवान् परिनिष्क्रमण कल्याणकके समय देवेन्द्रोके द्वारा पूजे जाते है॥२८३॥ तदनन्तर महान् किमिच्छक दानको देकर साम्राज्य पदको छोडकर वे राजाधिराज राजर्षि वनको जानेके लिए घरसे निकलते है ॥ २८४ ॥ जिस पालखी पर भगवान् विराजमान होते है, उसे सर्व प्रथम मुख्य मुख्य राजा लोग महीतलसे उठाकर और अपने कधो पर रखकर कुछ दूर ले जाते है, पुन भक्तिसे भरे हुए इन्द्र लोग अपने कधो पर रखकर चलते है ॥ २८५ ॥ जिस दिव्य पालखी पर भगवान् आरूढ होते है, वह देदीप्यमान रत्नो से निर्मित होती है, अत महीतल पर आये हुए सूर्यके विमानके समान जान पडती है ॥ २८६ ॥ उस समय समस्त आकाश-मार्गको रोकते हुए और अपनी कान्तिसे आकाशमे सूर्यकी प्रभाका सन्देह उत्पन्न करते हुए सुर और असुर गण आगे चलते हैं ॥ २८७ ॥ राज्य को प्राप्त करनेसे नवीन भाग्योदयवाले कुमारको आगे करके आश्चर्य-चकित

अनुयायिनि तत्त्यागादिवमन्दीभवद्द्युतौ । निधीनां सह रत्नानां सन्दोहेऽभ्यर्णसंक्षये ॥ २८९
सैन्ये च कृतसन्नाहे शनैः समनुगच्छति । मरुद्धूतध्वजव्रातनिरुद्धपवनाध्वनि ॥२९०
ध्वनत्सु सुरतूर्येषु नृत्यत्यप्सरसां गणे । गायन्तीषु कलक्वाण किन्नरीषु च मङ्गलम् ॥२९१
भगवानभिनिष्क्रान्तः पुण्ये कस्मिंश्चिदाश्रमे । स्थितः शिलातले स्वस्मिंश्चेतसीवातिविस्तृते ॥२९२
निर्वाणदीक्षयात्मानं योजयन्नभ्दुतोदय । कुराधिपैः सुतानन्दैर्माचित परयेज्यया ॥ २९३
योऽत्र शेषो विधिर्युक्त केशपूजादिलक्षणः । प्रागेव स तु निर्णीतो निष्क्रान्तौ वृषभेशिन. ॥ २९४
(इति निष्क्रान्ति ।)

परिनिष्क्रान्तिरेषा स्यात् क्रिया निर्वाणदायिनी । अत. परं भवेदस्य मुमुक्षोर्योगसम्मह ॥ २९५
यदायं त्यक्तबाह्यान्तस्सङ्गो नि सङ्गमाचरेत् । स दुश्चर तपोयोगं जिनकल्पमनुत्तरम् ॥ २९६
तदास्य क्षपकश्रेणीमारूढस्योचिते पदे । शुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धघातिकर्मघनाटवेः ॥ २९७
प्रादुर्भवति निःशेषबहिरन्तर्मलक्षयात् । केवलाख्यं परं ज्योतिर्लोकालोकप्रकाशकम् ॥ २९८
तदेतत्सिद्धसाध्यस्य प्रायुषः परमं मह. । योगसम्मह इत्याख्यामनुधत्ते क्रियान्तरम् ॥ २९९
ज्ञानध्यानसमायोगो योगो यस्तत्कृतो महः । महिमातिशय सोऽयमाम्नातो योग सम्मह ॥ ३००
(इति योगसम्मह ।)

ततोऽस्य केवलोत्पत्तौ पूजितस्यामरेश्वरैः । बहि र्विभूतिरुद्भूता प्रातिहार्यादिलक्षणा ॥ ३०१

राजा लोक अति प्रीतिसे भगवान्‌के समीप अवस्थित रहते है ॥२८८॥ भगवान्‌के द्वारा त्यागी जानेसे मन्द कान्तिको प्राप्त हुई निधियोका और रत्नोंका समूह उनके पीछे-पीछे आता है॥२८९॥ वायुके द्वारा उडती हुई ध्वजाओसे पवनका मार्ग (आकाश) अवरुद्ध करने वाली विशेष रूपसे सजी हुई सेना धीरे-धीरे उनके पीछे-पीछे चलती है ॥२९०॥ उस समय देव-दुन्दुभियोके बजने पर, अप्सरा-गणके नृत्य करने पर, किन्नरियों द्वारा मागलिक सुन्दर गीतोके गाये जाने पर, भगवान् पालकीमें से निकलकर किसी पुण्यवान् आश्रममे अपने चित्तके समान् अति विशाल शिलातल पर विराजमान होकर अपनी आत्माको निर्वाणकी दीक्षासे सयुक्त करते है, अर्थात् जिन-दीक्षा लेते है। उस समय उस अद्भुत उदयवाले भगवान्‌को इन्द्रलोक आनन्दके साथ उत्तम सामग्रीके द्वारा महान् पूजन करते है ।। २९१-२९३।। इस समय केशलुच करना, पूजन करना आदि जो विधि कहनेसे शेष है, वह सब वृषभेश्वरकी दीक्षाके समय पहले ही वर्णन की जा चुकी है ।।२९४।। यह अडतालीसवी निष्क्रान्ति-क्रिया है यह निर्वाणको देनेवाली परिनिष्क्रान्ति क्रिया है । अब इसके पश्चात् उन मुमुक्षु भगवान्‌के योग-सग्रह नामकी क्रिया होती है ॥ २९५ ॥ जब वे भगवान् बाह्य और आभ्यन्तर सर्व परिग्रहको छोडकर पूर्ण नि सगताको धारण कर अति दुर्धर, जिनकल्पी अनुपम तपोयोगका आचरण करते है, तब क्षपकश्रेणी-पर आरूढ भगवान्‌के उचित गुणस्थानरूप पदमें शुक्लध्यान रूपी अग्निसे घातिया कर्मरूपी सघन अटवीके जला देने पर समस्त बहिरग और अन्तरग मलोके क्षयसे लोकालोकको प्रकाशक केवलज्ञान नामकी परम ज्योति प्रगट होती है।। २९६-२९८ ।। इस प्रकार साध्यको सिद्ध करनेवाले और परम तेजको प्राप्त हुए उन भगवान्‌के योगसम्मह नामकी एक और क्रिया होती है ।।२९९।। ज्ञान और ध्यानके समायोगको योग कहते है और उस योगमे जो अतिशय महिमाशाली तेज प्रगट होना है, वह योगसम्मह कहलाता है ।। ३०० ।। यह उनचासवी योगसम्महक्रिया है । तदनन्तर केवल ज्ञानकी उत्पत्ति होने पर अमरेन्द्रोके द्वारा पूजित उन तीर्थंकर भगवान्‌के प्रातिहार्यादि लक्षण वाली बाह्य विभूति प्रगट होती है ।। ३०१।। दिव्य आठ-प्रातिहार्योका प्रगट होना, द्वादश प्रकारकी

प्रातिहार्याष्टकं दिव्यं गणो द्वादशधोदित. । स्तूपहर्म्यावलीसालवलयः केतुमालिका ॥ ३०२
इत्यादिकामिमां भूतिमद्भुतामुपबिभ्रत । स्यादार्हन्त्यमिति ख्यातं क्रियान्तरमनन्तरम् ॥ ३०३
(इति आर्हन्त्यक्रिया ।)

विहारस्तु प्रतीतार्थो धर्मचक्रपुरस्सर । प्रपञ्चितश्च प्रागेव ततो न पुनरुच्यते ॥ ३०४
(इति विहारक्रिया ।)

तत परार्थसम्पत्त्यै धममार्गोपदेशनैः । कृततीर्थविहारस्य योगत्याग परा क्रिया ॥ ३०
विहारस्योपसंहार सहृतिश्च सभावने । वृत्तिश्च योगरोधार्था योगत्याग. स उच्यते ॥ ३०६
यच्च दण्डकपाटादिप्रतीतार्थं क्रियान्तरम् । तदन्तर्भूतमेवातस्ततो न पृथगुच्यते ॥ ३०७
(इति योगत्यागक्रिया ।)

ततो निरुद्धनि शेषयोगस्यास्य जिनेशिन । प्राप्तशैलेश्यवस्थस्य प्रक्षीणाघातिकर्मणः ॥ ३०८
क्रियाग्रनिवृतिर्नाम परिनिर्वाणमयुष । स्वभावजनितामूर्ध्वव्रज्यामास्कन्दतो मता ॥ ३०९
(इति अग्रनिर्वृति)

इति निर्वाणपर्यन्ता क्रियागर्भादिका सदा भव्यात्मभिरनुष्ठेया. त्रिपञ्चाशत्समुच्चयात् ॥३१०
यथोक्तविधिनैता स्युरनुष्ठेया द्विजन्मभि । योऽप्यत्रान्तर्गतो भेदस्तं वक्ष्म्युत्तरपर्वणि ॥ ३११

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्युच्चैर्भरताधिप स्वसमये संस्थापयन् तान् द्विजान्–
सम्प्रोवाच कृती सतां बहुमता गर्भान्वयोत्था क्रिया ।

सभाओमें देव-मनुष्य और पशुगणका समवेतहोना,स्तूप,हर्म्यावली,प्राकार-वलय और ध्वजमालिका आदि अद्भुत समवसरण विभूतिको धारण करनेवाले उन भगवान्के आर्हन्त्य नामसे प्रसिद्ध एक और क्रिया होती हैं ॥ ३०२-३०३ ॥ यह पचासवी आर्हन्त्य क्रिया हे । तत्पश्चात् धर्मचक्रको आगे करके भगवान्का जो विहार होता हैं,वह विहार नामकी क्रिया है । यह विहार जगत्प्रसिद्ध एव सर्व विदित है,पहले ही विस्तारसे कहा जा चुका है, इसलिए उसे पुन नही कहते है ॥ ३०४ ॥ यह इक्यावनवी विहार क्रिया हे । इस प्रकार धर्ममार्गके उपदेश द्वारा विहार करनेवाले अरहन्तके परम पुरुषार्थ मोक्षकी सम्प्राप्तिके लिए योगत्याग नामकी श्रेष्ठ क्रिया होती है ॥३०५॥ विहारका उपसहार होना, सभाभूमि (समवसरण) का विघटना, और योग-निरोधके लिएप्रवृत्ति होना यह योगत्याग कहलाता है ॥३०६॥ दण्ड,कपाट आदि रूपसे प्रसिद्ध और सुप्रतीत केवलिसमुद्घात-रूप क्रिया है वह इसी योगत्याग क्रियाके अन्तर्गत हैं, अत उसे पृथक् नही कह रहे है ॥३०७ ॥ यह बावनवी योगत्याग क्रिया है । तदनन्तर समस्त योगोका निरोध करनेवाले,शैलेशी अवस्थाको प्राप्त अघातिया कर्मोके क्षय कर्त्ता उन जिनेश्वर देवके स्वभाव-जनित ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होकर परम निर्वाणको प्राप्त करते हुए अग्रनिर्वृति नामकी क्रिया होती है ॥३०८-३०९॥यह तिरपनवी अग्रनि-र्वृति क्रिया है । इस प्रकार गर्भाधान क्रियासे लेकर निर्वाणपर्यन्त समुच्चयरूपसे सब क्रियाएँ तिरे-पन है । भव्यात्मा पुरुषोको इनका सदा अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ३१० ॥ द्विज लोगोको उपर्युक्त विधिके अनुसार इन क्रियाओका पालन करना चाहिए । इन क्रियाओमे जो अन्तर्गत और भेद हैं, उसे आगेके पर्वमे कहेगें ॥ ३११ ॥ इस प्रकार उन पुणवान् महाराज भरतने द्विजोको स्वसमय अर्थात् जैनमार्गमे स्थापित करते हुए गर्भाधानसे लेकर निर्वाण-गमन तककी सज्जनोको सम्मान्य

गर्भाद्या: परनिर्वृतिप्रगमनप्रान्तस्त्रिपञ्चाशतं
प्रारेभेऽथ पुन: प्रवक्तुमुचिता दीक्षान्वयाख्या: क्रिया ॥ ३१२
यस्त्वेता: द्विजसत्तमैरभिमता गर्भादिका: सत्क्रिया:,
श्रुत्वा सम्यगधीत्य भावितमतिर्जैनेश्वरे दर्शने ।
सामग्रीमुचितां स्वतश्च परत: सम्पादयन्नाचरेद्
भव्यात्मा स समग्रधीस्त्रिजगतीचूडामणित्वं भजेत् ॥ ३१३

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणमङ्ग्रहे द्विजोत्पत्तौ गर्भान्वयक्रियावर्णन नाम अष्टत्रिंशत्तम पर्व ।

— ० —

तिरेपन गर्भान्वय क्रियाएँ कही । तत्पश्चात् कहनेके योग्य दीक्षान्वयाओका कहना आरम्भ किया ॥३१२॥श्रेष्ठ द्विजोकेद्वारा सन्मानीय इन गर्भाधानादि सत्-क्रियाओको सुनकर और सम्यक् प्रकारसे उनका अध्ययन कर जो जिनेश्वरोक्त दर्शनमे अपनी बुद्धिको सलग्न करता है और उचित सामग्रीको प्राप्त कर दूसरोसे आचरण करता हुआ स्वय भी इनका आचरण करता है,वह भव्यात्मा पुरुष पूर्ण ज्ञानी होकर तीन लोकके चूडामणिपनेको प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्तकर त्रिलोकके शिखर पर जा विराजता है ॥ ३१३ ॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण सग्रहमे द्विजोंको उत्पत्ति और गर्भान्वय क्रियाओका वर्णन करनेवाला अडतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व

अथाब्रवीद् द्विजन्मभ्यो मनुर्दीक्षान्वयक्रिया । यास्ता नि श्रेयसोदर्काश्चत्वारिंशदथाष्ट च ॥ १
श्रूयतां भो द्विजन्मानो वक्ष्ये वे श्रेयसीः क्रियाः । अवतारादिनिर्वाणपर्यन्ता दीक्षितोचिता ॥ २
व्रताविष्करणं दीक्षा द्विधाम्नातं च तद्व्रतम् । महच्चाणु च दोषाणां कृत्स्नदेशनिवृत्तितः ॥ ३
महाव्रतं भवेत् कृत्स्नहिंसाद्यागोविवर्जितम् । विरति स्थूलहिंसादिदोषेभ्योऽणुव्रत मतम् ॥ ४
तदुन्मुखस्य या वृत्ति पुंसो दीक्षेत्यसौ मता । तामन्विता क्रिया या तु सा स्याद् दीक्षान्वया क्रिया ॥५
तस्यास्तु भेदसङ्ख्यान प्राग्निर्णीत षडष्टकम् । क्रियते तद्विकल्पानामधुना लक्ष्मवर्णनम् ॥ ६
तत्रावतारसञ्ज्ञा स्यादाद्या दीक्षान्वयक्रिया । मिथ्यात्वदूषिते भव्ये सन्मार्गग्रहणोन्मुखे ॥ ७
स तु संसृत्य योगीन्द्रं युक्ताचार महाधियम् । गृहस्थाचार्यमथवा पृच्छतीति विचक्षण ॥ ८
ब्रूत यूय महाप्रज्ञा मह्य धर्ममनाविलम् । प्रायो मतानि तीर्थ्यानां हेयानि प्रतिभान्ति मे ॥ ९
श्रौतान्यपि हि वाक्यानि सम्मतानि क्रियाविधौ । न विचारसहिष्णूनि दुःप्रणीतानि तान्यपि ॥ १०
इति पृष्ठवते तस्मै व्याचष्टे स विदांवर । तथ्यं मुक्तिपथं धर्म विचारपरिनिष्ठितम् ॥ ११
विद्धि सत्योद्यमाप्तीयं वच श्रेयोऽनुशासनम् । अनाप्तोपज्ञमन्यत्तु वचो वाङ्मलमेव तत् ॥ १२

अथानन्तर सोहलवे मनु भरतमहाराजने उन द्विजोके लिए अन्तमे मोक्ष फल देनेवाली अड-तालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ कहना प्रारम्भ किया ॥ १ ॥ वे बोले—हे द्विजो, मै अवतारसे आदि लेकर निर्वाण तककी कल्याणकारिणी दीक्षान्वय क्रियाओको कहता हूँ,सो सुनो ॥२॥ व्रतोके धारण करनेको दीक्षा कहते है और वे व्रत हिसादि दोषोके सम्पूर्ण तथा एक देश त्याग करनेकी अपेक्षा महाव्रत और अणुव्रतके भेदसे दो प्रकारके माने गये है। ३॥ सूक्ष्म और स्थूल सभी प्रकारके हिसादि पापोका त्याग करना महाव्रत कहलता है और स्थूल हिसादि दोषोसे विरत होनेको अणुव्रत माना गया है ॥४॥ उन व्रतोके ग्रहण करनेके लिए उन्मुख हुए पुरुषकी जो प्रवृत्ति होती है,वह दीक्षा कह-लाती है और उस दीक्षासे सयुक्त जो क्रियाएँ होती है, वे दीक्षान्वय-क्रियाएँ कही जाती है॥५॥ उस दीक्षान्वयक्रियाके भेदोकी सख्या अडतालीस है,जिनका कि निर्णय पहले कर आये है । अब उन भेदोके लक्षणोका वर्णन करते है ॥६॥ उन दीक्षान्वय क्रियाओमे पहली अवतार नामकी क्रिया है। मिथ्यात्वसे दूषित कोई भव्य पुरुष जब सन्मार्गको ग्रहण करनेके सन्मुख होता है,तब यह अवतार क्रिया की जाती हैं ॥७॥ प्रथम ही वह विचक्षण भव्यपुरुष योग्य आचरणवाले महान् बुद्धिशाली योगिराजके समीप जाकर, अथवा किसी गृहस्थाचार्यके समीप जाकर उनसे इस प्रकार पूछता है कि हे महाप्राज्ञ, आप मेरे लिए निर्दोष धर्मका स्वरूप कहिये, क्योकि मुझे अन्य तीर्थिक लोगोके मत प्राय हेय प्रतीत होते है ॥८-९॥ धार्मिक क्रियाओके करनेमे जो वेदोके वाक्य प्रमाण माने जाते हैं, वे भी विचारको सहन नही कर सकते, अर्थात् ऊहापोह करने पर वे नि सार प्रतीत होते हैं,क्योंकि वे दुष्ट जनोके द्वारा प्रणीत है ॥१०॥ इस प्रकार पूछनेवाले उस भव्यपुरुषके लिए विद्वानोमे श्रेष्ठ वे योगिराज अथवा गृहस्थाचार्य सत्ययुक्त, विचारसे परिपूर्ण एव मोक्षके मार्गस्वरूप धर्मका व्या-ख्यान करते है ॥११॥ वे कहते है—हे भव्य, तुम मोक्षका उपदेश देनेवाले आप्त कथित वचनको ही सत्य वचन समझो । अन्य वचन जो आप्त-कथित नही है, वे तो केवल वचन-मल ही है,सत्य नही

विराग. सर्ववित् सार्व सूक्तसूनृतपूतवाक् । आप्तः सन्मार्गदेशी यस्तदाभासास्ततोऽपरे ।। १३
रूपतेजोगुणस्थानध्यानलक्ष्मर्द्धिदत्तिभि· । कान्तता-विजयज्ञानदृष्टिवीर्यसुखामृतं ।। १४
प्रकृष्टो यो गुणैरेभिः चक्रिकल्पाधिपादिसु । स आप्त स च सर्वज्ञ स लोकपरमेश्वर· ।। १५
तत. श्रेयोऽर्थिना श्रेयं मतमाप्तप्रणेतृकम् । अव्याहतमनालीढपूर्व सर्वज्ञमानिभि ।। १६
हेत्वाज्ञायुक्तमद्वैतं दीप्तं गंभीरशासनम् । अल्पाक्षरमसन्दिग्धं वाक्यंस्वायंभुवं विदु ।। १७
इतश्च तत्प्रमाणं स्याद् श्रुतमन्त्रक्रियादय । पदार्था. सुस्थितास्तत्र यतो नान्यमतोचिता । १८
यथाक्रममतो ब्रूम तान्पदार्थान्प्रपञ्चत. । यै. संनिकृष्यमाणा स्युः दु.स्थिता. परसूक्तय ।। १९
वेद पुराणं स्मृतयः चारित्रं च क्रियाविधि । मन्त्राश्च देवतालिङ्गमाहाराद्याश्च शुद्धय ।। २०
एतेऽर्था. यत्र तत्त्वेन प्रणीता परमर्षिणा । स धर्म. स च सन्मार्ग· तदाभासा स्युरन्यथा ।। २१
श्रुतं सुविहित वेदो द्वादशाङ्गमकल्मषम् । हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक् ।। २२
पुराणं धर्मशास्त्रं च तत्स्यात् वधनिषेधि यत् । वधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकम् ।। २३
सावद्यविरतिर्वृत्तम् आर्यषट्कर्मलक्षणम् । चातुराश्रम्यवृत्तं तु परोक्तमसदञ्जसा ।। २४

है ।।१२।। जो वीतराग है, सर्ववेत्ता है, सव प्राणियोका कल्याण करनेवाला है,सन्मार्गका उपदेशक हैं और जिसके वचन पूर्वापर विरोध-रहित,सत्य और पवित्र हैं,वह आप्त कहलाता है। उक्त लक्षणो से रहित सभी पुरुषोको आप्ताभास या मिथ्याभाषी जानना चाहिए।।१३।।जो रूप, तेज, गुणस्थान, ध्यान, लक्षण, ऋद्धि, दान, सौन्दर्य, विजय, ज्ञान, दर्शन,वीर्य और सुखामृत इन गुणोके द्वारा चक्रवर्ती और इन्द्रादिकोसे भी उत्कृष्ट है,वही सर्वज्ञ है और वही सर्व लोकोका परमेश्वर है ।।१४-१५।। इसलिए कल्याणके चाहनेवाले लोगोंका इसी आप्त प्रणीत मत का आश्रय लेना चाहिए,क्योकि वह युक्तियोंसे अवाधित हैं और अपनेको सर्वज्ञ माननेवाले आप्ताभासियोंसे असस्पृष्ट है,अर्थात् असर्वज्ञ लोग जिसका स्पर्श भी नहीं कर सके हैं ।।१६।। जो युक्ति और आगमसे युक्त है,अद्वितीय है, जगत्प्रकाश है, गम्भीर शासनवाला है, अल्पअक्षर-संयुक्त है और असदिग्ध है, ऐसे वचनको ही स्वयम्भू सर्वज्ञ-प्रणीत जानना चाहिए ।।१७।। यत सर्वज्ञ-प्रणीत मतमे शास्त्र,मत्र,और क्रिया आदिक पदार्थ सुव्यवस्थित है और अन्य मतोमे वे वैसे नही पाये जाते है, अत. सर्वज्ञ-प्रणीत मत ही प्रमाणभूत है ।।१८।। हे भव्य,मैं यथाक्रमसे उन पदार्थोका विस्तार-पूर्वक निरूपण करता हूँ, क्योकि उन तत्त्वोके साथ भली-भाँति सन्निकर्षकी गई अर्थात् कसौटी कसी गई पर-मतकी सूक्तियाँ दोष-युक्तप्रतीत होने लगती है ।।१९।। जिस मतमे वेद,पुराण,स्मृति, चारित्र, क्रियाओंकी विधि,मत्र, देवता, लिंग (वेष)और आहार आदिकी शुद्धि,इन पदार्थोका यथार्थ रीतिसे परम-ऋषियोने निरूपण किया है, वही धर्म है और वही सन्मार्ग है । जिन मतोमे इससे अन्यथा कथन है,उन सबको धर्माभास और मार्गाभास जानना चाहिए।।२०-२१।। सदाचार-प्ररूपक,द्वादशाङ्गरूप निर्दोष श्रुतज्ञान ही सच्चा वेद (ज्ञान)है।जो वाक्य हिंसाका उपदेश देनेवाला है, वह वेद नही है,उसे तो यमराजके वाक्य ही समझना चाहिए ।।२२।।पुराण और धर्मशास्त्र वे ही वाक्य माने जा सकते है,जो कि हिंसाके निषेध करनेवाले हों । जो पुराण या धर्मशास्त्र हिंसाके उपदेशक है,उन्हे तो धूर्तजनोसे प्रणीत ही जानना चाहिए ।।२३।। पापोसे विरक्तिको चारित्र कहते है । वह चारित्र आर्यपुरुषोके करने योग्य पूजा,वार्त्ता आदि षट्कर्मस्वरूप है। दूसरे मतावलम्बियोंके द्वारा कहा गया चार प्रकारके आश्रमरूप चारित्र तो निश्चयसे असत् ही है ।।२४।। गर्भाधानसे लेकर निर्वाण तककी जो क्रियाएँ पहले कही गई है, वेही

क्रिया गर्भादिका यास्ता निर्वाणान्ता पुरोदिता । आधानादिश्मशानान्ता न ता सम्यक् क्रियामता २५
मन्त्रास्त एव धर्म्याः स्यु ये क्रियासु नियोजिता । दुर्मन्त्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ता प्राणिमारणे ॥ २६
विश्वेश्वरादयो ज्ञया देवता शान्तिहेतवः । क्रूरास्तु देवता हेया यासां स्याद् वृत्तिरामिषै ॥ २७
निर्वाणसाधन यत् स्यात्तल्लिङ्गं जिनदेशितम् । एणाजिनादिचिन्हं तु कुलिंगं तद्विधै कृतम् ॥ २८
स्यान्निरामिषभोजित्वं शुद्धिराहारगोचरा । सर्वङ्कषास्तु ते ज्ञेया ये स्युरामिषभोजिन ॥ २९
अहिंसाशुद्धिरेषां स्याद् ये नि सङ्गा दयालव । रता पशुवधे ये तु न ते शुद्धा दुराशया ॥ ३०
कामशुद्धिर्मता तेषां विकामा ये जितेन्द्रिया । सन्तुष्टाश्च स्वदारेषु शेषा सर्वे विडम्बका ॥ ३१
इति शुद्ध मतं यस्य विचारपरिनिष्ठितम् । स एवाप्तस्तदुन्नीतो धर्म श्रेयो हितार्थिनाम् ॥ ३२
श्रुत्वेति देशनां तस्माद् भव्योऽसौ देशिकोत्तमात् । सन्मार्गे मतिमाधत्ते दुर्मार्गरतिमुत्सृजन् ॥ ३३
गुरुर्जनयिता तत्त्वज्ञान गर्भं सुसंस्कृत । तदा तत्रावतीर्णोऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना ॥ ३४
अवतारक्रियाऽस्यैषा गर्भाधानवदिष्यते । यतो जन्मपरिप्राप्तिरुभयत्र न विद्यते ॥ ३५

इत्यवतारक्रिया ।

ततोऽस्य वृत्तलाभ· स्यात् तदैव गुरुपादयो । प्रणतस्य व्रतव्रातं विधानेनोपसेदुष· ॥ ३६

इतिवृत्तलाभ

सच्ची क्रियाएँ है । इनके अतिरिक्त गर्भसे लेकर श्मशान तककी जो क्रियाएँ अन्य लोगोने कही है, वे सच्ची क्रियाएँ नही है ॥२५॥ जो गर्भाधानादि क्रियाओमे प्रतिपादित उपयुक्तमत्र है, वे धार्मिक मत्र है । किन्तु जो प्राणियोके मारनेमे प्रयुक्त मत्र है, उन्हे तो दुर्मन्त्र ही समझना चाहिए ॥२६॥ शान्ति करनेवाले विश्वके ईश्वर तीर्थकर आदि ही सच्चे देवता समझना चाहिए। किन्तु जिनकी वृत्तिमाससे हे, वे क्रूर देवता है, अत उनका परित्याग करना चाहिए ॥२७॥ जो साक्षात् निर्वाणका कारण है, ऐसा जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थपना ही सच्चा लिंग है। इसके अतिरिक्त मृग, व्याघ्र आदिके चर्म-चिन्हवाले लिग तो कुलिग ही है, क्योकि वे कुलिगियोके द्वारा बनाये गये है ॥२८॥ मास-रहित भोजन करना ही आहार–विषयक शुद्धि कहलाती है । मास-भोजी है, उन्हे तो सर्व-भक्षी हिंसक या कषायी जानना चाहिए ॥२९॥ अहिसा-शुद्धि उन्ही पुरुषोके होती है, जो परिग्रह-रहित और दयालु है । किन्तु जो पशु-वधमे तत्पर रहते है, वे दुष्ट अभिप्रायवाले शुद्ध नही है ॥३०॥ जो काम-विकारसे रहित जितेन्द्रिय पुरुष है और जो अपनी स्त्रियोमे सन्तुष्ट है ऐसे मुनियो और गृहस्थोके काम-विषयक शुद्धि मानी गई है। इनके अतिरिक्त शेष सर्व मनुष्य ब्रह्मचर्यकी विडम्बना करनेवाले है ॥३१॥ इस प्रकारके विचारोमे परीक्षित किया गया जिसका मत शुद्ध हो, वही पुरुष आप्त कहलानेके योग्य है और उसीके द्वारा कहा हुआ धर्म हितके चाहनेवाले लोगोको कल्याणकारी हो सकता है ॥३२॥ उत्तम उपदेशकसे इस प्रकारकी धर्म-देशनाको सुनकर वह भव्य पुरुप कुमार्गके प्रेमको छोडता हुआ सन्मार्गमे अपनी बुद्धिको लगाता है ॥ ३३ ॥ उस समय गुरु ही उसका जनक है और तत्त्वज्ञान ही सुसंस्कृत गर्भ है । वह भव्यात्मा धर्मरूप जन्मके द्वारा उस तत्त्वज्ञानरूपी गर्भमे अवतीर्ण होता है ॥३४॥ इस भव्य पुरुषकी यह अवतार क्रिया गर्भाधानके समान मानी जाती है, क्योकि जन्मकी प्राप्ति न तो गर्भाधानक्रियामे है और न अवतार क्रियामे ही है ॥३५॥ भावार्थ–जीव सदा ही सत्-स्वरूप हे अत उसका कभी वस्तुत जन्म होता ही नही है । यह पहली अवतार क्रिया है । तदनन्तर उसी समय गुरुके चरणोमे नमस्कार कर विधिपूर्वक व्रतोके समुदायको ग्रहण करने-वाले उस भव्यात्माके वृत्तलाभ नामकी क्रिया होती है ॥ ३६ ॥ यह दूसरी वृत्तलाभ है ।

ततः कृतोपवासस्य पूजाविधिपुरःसरः । स्थानलाभो भवेदस्य तत्रायमुचितो विधिः ॥ ३७
जिनालये शुचौ रङ्गे पद्ममष्टदलं लिखेत् । विलिखेद् वा जिनास्थानमण्डलं समवृत्तकम् ॥ ३८
श्लक्ष्णेन पिष्टचूर्णेन सलिलालोडितेन वा । वर्तनं मण्डलस्येष्टं चन्दनादिद्रवेण वा ॥ ३९
तस्मिन्नष्टदले पद्मे जैने वाऽऽस्थानमण्डले । विधिना लिखिते तज्ज्ञैर्विष्वग्विरचितार्चने ॥ ४०
जिनार्चाभिमुखं सूरिः विधिनैनं निवेशयेत् । तवोपासकदीक्षेयमिति मूर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥ ४१
पञ्चमुष्टिविधानेन स्पृष्ट्वैनमस्तकम् । पूतोऽसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषां च लम्भयेत् ॥ ४२
ततः पञ्चनमस्कारपदान्यस्मा उपदिशेत् । मन्त्रोऽयमखिलात् पापात्त्वां पुनीतादितीरयन् ॥ ४३
कृत्वा विधिमिमं पश्चात् पारणाय विसर्जयेत् । गुरोरनुग्रहात् सोऽपि सम्प्रीतः स्वगृहं व्रजेत् ॥ ४४
इति स्थानलाभः ।

निर्दिष्टस्थानलाभस्य पुनरस्य गणग्रहः । स्यान्मिथ्यादेवताः स्वस्माद् विनिःसारयतो गृहात् ॥ ४५
इयन्तं कालमज्ञानात् पूजिताः स्थ कृतादरम् । पूज्यास्त्विदानीमस्माभिः अस्मत्समयदेवताः ॥ ४६
ततोऽपमृषितेनालमन्यत्र स्वैरमास्यताम् । इति प्रकाशमेवैतान् नीत्वाऽन्यत्र क्वचित्त्यजेत् ॥ ४७
गणग्रहः स एष स्यात् प्राक्तनं देवतागणम् । विसृज्यार्चयतः शान्ताः देवताः समयोचिताः ॥ ४८
इति ग्रहणक्रिया ।

पूजाराध्याख्ययाख्याता क्रियाऽस्य स्यन्दतः परा । पूजोपवाससम्पत्त्या शृण्वतोऽङ्गार्थसङ्ग्रहम् ॥ ४९
इति पूजाराध्यक्रिया ।

तत्पश्चात् जिसने उपवास किया है, ऐसे उस भव्य पुरुषके पूजाको विधि-पूर्वक स्थानलाभ नामकी क्रिया होती है । इसमे यह वक्ष्यमाण विधि करना उचित है ॥३७॥ जिनालयमे किसी शुद्ध स्थान-पर अष्टदलवाले कमलको लिखे, अथवा गोल आकारवाले समवरणके मंडलकी रचना करे ॥३८॥ इस कमलकी, अथवा समवसरण-मंडलकी रचना जलमें घोले हुए वारीक पिसे चूर्णसे अथवा घिसे हुए चन्दन-केशर आदिके रसके करना चाहिए ॥३९॥ मडल-रचनाके जानकर लोगोके द्वारा लिखित उस अष्टदल कमलकी, अथवा जैन आस्थामडल (समवसरण) की विधिपूर्वक पूजन हो जानेपर आचार्य उस भव्यपुरुषको जिनप्रतिमाके सन्मुख विठावे और उसके मस्तकका वार-वारस्पर्श करता हुआ उससे कहे कि यह तेरी श्रावकदीक्षा है ॥४०-४१॥ पुन पंचमुष्टि विधानसे उनके मस्तकका स्पर्शकर और 'तू इस दीक्षामे पवित्र हुआ' इसप्रकार कहकर पूजनसे शेप रहे अक्षत उसके मस्तकपर डाले ॥४२॥ तदनन्तर 'यह मन्त्र तुझे समस्त पापोसे पवित्र करे' ऐसा कहकर उसे पञ्चनमस्कार मन्त्रका उपदेश देवे ॥४३॥ यह सब विधि करके आचार्य उसे पारणाके लिए विदा करे और वह भव्य भी उसके अनुग्रहसे अति प्रसन्न होता हुआ अपने घरको जावे ॥४४॥ यह तीसरी स्थानलाभ क्रिया है । जिसकी स्थानलाभ क्रिया अभी कही गई है, उस भव्यके मिथ्या देवताओंको अपने घरसे वाहर करते समय गणग्रह क्रिया होती है ॥४५॥ उस समय वह अभी तक घरमे स्थापित उन देव-ताओंसे कहे कि "मैंने इतने कालतक अज्ञानसे आदरपूर्वक तुम्हारी पूजा की अब हमे हमारे ही मतके देवता पूज्य हैं, इसलिए क्रोध न करे और अपनी इच्छानुसार अन्यत्र रहे" इसप्रकार स्पष्ट कहकर और उन देवताओंको ले जाकर किसी अन्य स्थानपर छोड़ आवे ॥४६-४७॥ इसप्रकार पहले-के देवताओका विसर्जनकर अपने मतके शान्त देवताओंकी पूजा करनेवाले उन भव्यकी यह गणग्रह क्रिया है ॥४८॥ यह चौथी गणग्रह क्रिया है । तदनन्तर जिनदेवकी पूजन करने और यथा-

ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रियापुण्यानुबन्धिनी । शृण्वतः पूर्वविद्यानामर्थं सब्रह्मचारिणः ।। ५०

इति पुण्ययज्ञक्रिया ।

तथाऽस्य दृढचर्या स्यात् क्रिया स्वसमयश्रुतम् । निष्ठाय शृण्वतो ग्रन्थान् बाह्यानन्यांश्च कांश्चन।।५१

इति दृढचर्याक्रिया ।

दृढव्रतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता । पर्वोपवासपर्यन्ते प्रतिमायोगधारणम् ।। ५२

इति उपयोगिताक्रिया ।

क्रियाकलापेनोक्तेन शुद्धिमस्योपबिभ्रतः । उपनीतिरनूचानयोग्यलिङ्गग्रहो भवेत् ।। ५३
उपनीतिर्हि वेषस्य वृत्तस्य समयस्य च । देवतागुरुसाक्षि स्याद् विधिवत्प्रतिपालनम् ।। ५४
शुक्लवस्त्रोपवीतादिधारणं वेष उच्यते । आर्यषट्कर्मजीवित्वं वृत्तमस्य प्रचक्षते ।। ५५
जैनोपासकदीक्षा स्यात् समयः समयोचितम् । दधतो गोत्रजात्यादि नामान्तरमतः परम् ।। ५६

इत्युपनीतिक्रिया ।

ततोऽयमुपनीतः सन् व्रतचर्यां समाश्रयेत् । सूत्रमौपासकं सम्यगभ्यस्य ग्रन्थतोऽर्थतः ।। ५७

इति व्रतचर्याक्रिया ।

व्रतावतारणं तस्य भूयो भूषादिसङ्ग्रहः । भवेदधीतविद्यस्य यथावद् गुरुसन्निधौ ।। ५८

इति व्रतावरणक्रिया ।

विवाहस्तु भवेदस्य नियुञ्जानस्य दीक्षया । सुव्रतोचितया सम्यक् स्वां धर्मसहचारिणीम् ।। ५९

सभव उपवास करते हुए द्वादशाङ्गवाणी-प्रोक्त तत्त्वोके अर्थके सुननेवाले उस भव्यके पूजाराध्य नामसे प्रसिद्ध क्रिया होती है ।।४९।। यह पाँचवी पूजाराध्य क्रिया है। तत्पश्चात् अपने सहाध्यायी बन्धुओके साथ चौदह पूर्व विद्याओका अर्थ सुननेवाले उस भव्यके पुण्यानुबन्धिनी पुण्ययज्ञ नामकी क्रिया होती है ।।५०।। यह छठी पुण्ययज्ञ क्रिया है । इसप्रकार स्वसमयके शास्त्रोका भली भाँतिसे अध्ययन करके परसमयके अन्य किन्ही ग्रन्थोको सुननेवाले उस नवदीक्षित पुरुषके दृढचर्या नामकी क्रिया होती है ।।५१।। यह सातवी दृढचर्या क्रिया है। तदनन्तर व्रतोमे दृढताको प्राप्त उस भव्यके आठवी उपयोगिता क्रिया होती है । पर्वके दिन उपवासके अन्तमे रात्रिके समय प्रतिमायोगके धारण करनेको उपयोगिता कहते है ।।५२।। यह आठवी उपयोगिता क्रिया है। उपर्युक्त क्रिया-कलापके द्वारा शुद्धिको धारण करनेवाले उस भव्य जीवके उत्तम पुरुषोके योग्य चिन्हको धारण करने रूप उपनीति क्रिया होती है । ५३।। देवता और गुरुकी साक्षीपूर्वक विधिके अनुसार अपने वेष,वृत्त (चारित्र) और समयका प्रतिपालन करना उपनीति क्रिया कहलाती है ।।५४।। श्वेत वस्त्र और यज्ञोपवीत आदिको धारण करना वेष कहलाता है । देवपूजा आदि आर्योंके करने योग्य छह कर्मोका पालन करना वृत्त कहा जाता है ।।५५।। तदनन्तर शास्त्रानुसार गोत्र,जाति आदि दूसरे नाम धारण करनेवाले पुरुषके जो जैन उपासककी दीक्षा होती है,उसे समय कहते है ।।५६।। यह नवमी उपनीति क्रिया है । तदनन्तर यज्ञोपवीतको धारणकर यह भव्यपुरुष शब्द और अर्थ दोनो प्रकारसे भली-भाँति उपासकाध्ययन सूत्रका अभ्यासकर श्रावकव्रतोको पालते हुए व्रतचर्याको धारण करे ।।५७।। यह दशवी व्रतचर्या क्रिया है । जब उक्त भव्य विद्या पढना समाप्त करता है और गुरुके समीप विधिपूर्वक पुन वस्त्र-आभूषणादिको ग्रहण करता है, तब उसके व्रतावरण क्रिया होती है ।।५८।। यह ग्यारहवी व्रतावतरण क्रिया है । जब वह भव्य अपनी धर्मसहचारिणी स्त्रीको उत्तम व्रतोंके

पुनर्विवाहसंस्कार पूर्व· सर्वोऽस्य सम्मतः सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य पत्न्याः सस्कारमिच्छत· ।। ६०
इति विवाहक्रिया ।

वर्णलाभस्ततोऽस्य स्यात् सम्बन्धं सविधित्सत. समानाजीविभिर्लब्धवर्णैरन्यैरुपासकै ।। ६१
चतुर. श्रावकज्येष्ठादाहूयकृतसत्क्रियान् । तान ब्रूयादस्म्यनुग्राह्यो भवद्भि. स्वसमीकृत ।। ६२
यूयं निस्तारका देवब्राह्मणा लोकपूजिता । अहं च कृतदीक्षोऽस्मि गृहीतोपासकव्रतः ।। ६३
मया तु चरितो धर्मः पुष्कलो गृहमेधिनाम् । दत्तान्यपि च दानानि कृत च गुरुपूजनम् ।। ६४
अयोनिसंभवं जन्म लब्ध्वाहं गुर्वनुग्रहात । चिरभावितमुत्सृज्य प्राप्तो वृत्तमभावितम् ।। ६५
व्रतसिद्धयर्थमेवाहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम् । कृतविद्यश्च जातोऽस्मि स्वधीतोपासकश्रुतः ।। ६६
व्रतावतरणस्यान्ते स्वीकृताभरणोऽस्म्यहम् । पत्नी च संस्कृताऽऽत्मीया कृतपाणिग्रहा पुनः ।। ६७
एवं कृतव्रतस्याद्य वर्णलाभो ममोचितः । सुलभ सोऽपि युष्माकमनुज्ञानात् सधर्मणाम् ।। ६८
इत्युक्तास्ते च तं सत्यमेवमस्तु समञ्जसम् । त्वयोक्तं श्लाघ्यमेवैतत् कोऽन्यस्त्वत्सदृशो द्विज ।। ६९
युष्मादृशामलाभे तु मिथ्यादृष्टिभिरप्यमा । समानाजीविभि कर्तुं सम्बन्धोऽभिमतो हि न ।। ७०
इत्युक्त्वैनं समाश्वास्य वर्णलाभेन युञ्जते । विधिवत् सोऽपि तं लब्ध्वा याति तत्समकक्षताम् ।।७१
इति वर्णलाभक्रिया ।

योग्य श्रावककी दीक्षासे नियुक्त करता हैं, तव उसके विवाह नामकी क्रिया होती है। ५९।। अपनी पत्नीके सस्कारको चाहनेवाले उस भव्यका उसी स्त्रीके साथ सिद्ध भगवान्‌की पूजन पूर्वक पुन विवाह-संस्कार करना आवश्यक माना गया हैं ।.६०।। यह वारहवी विवाह क्रिया है । तदनन्तर समान आजीविका करनेवाले वर्णलाभको प्राप्त अन्य श्रावकोके साथ सम्वन्ध स्थापित करनेकी इच्छामे इस भव्यके वर्णलाभ नामकी क्रिया होती है ।।६१।। इस क्रियाके करते समय वह भव्य चार प्रमुख श्रावकोको वुलाकर और उनका आदर-सत्कारकर उनसे कहे कि आप लोग मुझे अपने समान वनाकर मेरेपर अनुग्रह करे ।।६२।। आपलोग ससार तारक देव ब्राह्मण है. लोक-पूजितहै और मैं उपासक व्रतधारक नवशिक्षित हूँ ।।६३।। मैंने गृहस्थोका धर्म भलीभाँति आचरण किया है सर्व-प्रकारके दान भी दिये है और गुरुजनोका पूजन भी किया है ।६४।। मैंने गुरुके अनुग्रहसे अयोनि-संभव (मातृयोनिके विना ही मन्त्र-संस्कारवाला) जन्म पाकर चिरकालसे पालन किया हुआ मिथ्यात्व आचरण छोडकर पूर्व-अभावित इस सम्यक्‌चारित्रको पाया है ।।६५।। व्रतोकी सिद्धिके लिये ही मैंने इससमय यह यज्ञोपवीत धारण किया है और श्रावकाचार पढकर तथा अन्य विद्याओका अभ्यासकर विद्वत्ता भी प्राप्त की है ।।६६।। व्रतावतरण क्रियाके पश्चात् ही मैंने आभूषण स्वीकार किये है, मैंने अपनी पत्नी भी संस्कार-युक्त की है और उसके साथ पुन विवाह-संस्कार भी किया है ।।६७।। इसप्रकारका व्रत-धारण करनेवाले मुझे इससमय वर्णलाभ करना उचित ही है और वह भी आप सब साधर्मीजनोकी अनुज्ञासे सहजमे सुलभ है ।।६८।। इसप्रकार कहनेपर वे देव ब्राह्मण कहे कि तुमने सत्य ही कहा है, तुम्हारा कथन समीचीन और प्रशंसनीय है। तुम्हारे सदृश अन्य कौन द्विज है ।। ६९ ।। आप जैसे साधर्मीजनोके प्राप्त नही होनेपर हम लोगोको समान आजीविका करनेवाले मिथ्यादृष्टियोके साथ भी अपना विवाहादि सम्बन्ध करना पडता है।।७०।। इस प्रकार कह कर और उसे आश्वासन देकर वे लोग उसे वर्णलाभसे संयुक्त करते है और वह भव्य भी विधिपूर्वक वर्णलाभको पाकर उन श्रावकोकी समानताको प्राप्त होता है।।७१।। यह तेर-

वर्णलाभोऽयमुद्दिष्ट कुलचर्याऽधुनोच्यते । आर्यषट्कर्मवृत्तिः स्यात् कुलचर्याऽस्य पुष्कला ।। ७२

इति कुलचर्या ।

विशुद्धस्तेन वृत्तेन ततोऽभ्येति गृहीशिताम् । वृत्ताध्ययनसम्पत्त्या परानुग्रहणक्षमः । ७३

प्रायश्चित्तविधानज्ञ श्रुतिस्मृतिपुराणवित् । गृहस्थाचार्यतां प्राप्तः तदा धत्ते गृहीशिताम् ।। ७४

इति गृहीशिताक्रिया ।

तत पूर्ववदेवास्य भवेदिष्टा प्रशान्तता । नान विधोपवासादिभावना समुपेयुषः ।। ७५

इति प्रशान्तताक्रिया ।

गृहत्यागस्ततोऽस्य स्याद् गृहवासाद् विरज्यत । योग्यं सूनुं यथान्यायमनुशिष्य गहोज्झनम् ।। ७६

इति गृहत्यागक्रिया ।

त्यक्तागारस्य तस्य तस्तपोवनमुपेयुष । एकशाटकधारित्वं प्राग्वद्दीक्षाद्यमिष्यते ।। ७७

इति दीक्षाद्यक्रिया ।

ततोऽस्य जिनरूपत्वमिष्यते त्यक्तवासस । धारण जातरूपस्य युक्ताचाराद् गणेशिन ।। ७८

इति जिनरूपता ।

क्रियाशेषास्तु नि शेषा प्रोक्ता गर्भान्वये यथा । तथैव प्रतिपाद्याः स्यु न भेदोऽस्त्यत्र कश्चन ।।७९

यस्त्वेतास्तत्त्वतो ज्ञात्वा भव्य समनुतिष्ठति । सोऽधिगच्छति निर्वाणमचिरात्सुखसाद्भवन् ।। ८०

- इति दीक्षान्वयक्रिया ।

अथात सम्प्रवक्ष्यामि द्विजा कर्त्रन्वयक्रिया । या प्रत्यासन्नमिष्टस्य भवेयुर्भव्यदेहिन. ।। ८१

हवी वर्णलाभ क्रिया है । यह वर्णलाभ क्रिया कही । अब कुलचर्या कहते है—आर्यपुरुपोके करने योग्य कुलागत—देवपूजादि षट्कर्मोका भली-भाँति पालन करना कुलचर्या कहलाती है।।७२।। यह चौदहवी कुलचर्या क्रिया है । तदनन्तर उन गृहीत व्रतोसे विशुद्ध हुआ वह श्रावक गृहीशिता क्रियाको प्राप्त होता है । जब वह चारित्र और विद्याध्ययनरूपी सम्पत्तिसे अन्यलोगोके अनुग्रह करनेमे समर्थ हो जाता है, प्रायश्चित्त विधानका ज्ञाता और श्रुति,स्मृति एव पुराणका वेत्ता बन जाता है, तब वह गृहस्थाचार्यके पदको प्राप्त होकर गृहीशिता क्रियाको धारण करता है ।।७३-७४।। यह पन्द्रहवी गृहीशिता क्रिया है । तत्पश्चात् नाना प्रकारके उपवास आदिकी भावनाओको प्राप्त होनेवाले उस गृहस्थाचार्यके पूर्व-वर्णित प्रकारसे प्रशान्तता क्रिया मानी गई है ।।७५।। यह सोलहवी प्रशान्तता क्रिया है । तदन्तर गृह-वाससे विरक्त होनेवाले उस प्रशान्तबुद्धि श्रावकका योग्य पुत्रको न्याय्य नीतिके अनुसार शिक्षादेकर घरको छोडना गृहत्याग क्रिया है ।।७६।।यह सत्तरहवी गृहत्याग क्रिया है । इसके पश्चात् घरको छोडकर तपोवनको प्राप्त होनेवाले उस भव्यका पहले किये गये वर्णनके समान एक वस्त्रको धारण कर क्षुल्लकके व्रतोको पालना दीक्षाद्यक्रिया कहलाती है ।।७७।। यह अठारहवी दीक्षाद्यक्रिया है । तदन्तर वस्त्रका त्याग कर योग्य आचारवाले गणस्वामी आचार्यसे यथाजात दिगम्बररूपका धारण करना जिनरूपता क्रिया है ।।७८।। यह उन्नीसवी जिनरूपता क्रिया है । इससे आगेकी जानेवाली शेप समस्त क्रियाओका जिस प्रकारसे गर्भान्वय क्रियाओमे वर्णन किया है, उसी प्रकारसे करना आवश्यक है,क्योकि इन आगेकी दीक्षान्वयक्रियाओका उन गर्भान्वय क्रियाओमे कोई भेद नही है ।।७९।। जो भव्य इन क्रियाओको यथार्थ रीतिसे जानकर इनका भली-भाँतिसे पालन करता है,वह शीघ्रही अनन्तसुखको आत्मसात् करता हुआ निर्वाणको प्राप्त होता है।।८०। इस प्रकार दीक्षान्वय क्रियाओका वर्णन पूर्ण हुआ । अब इससे आगे हे ब्राह्मणो मैं उन कर्त्रन्वय

तत्र सज्जातिरित्याद्या क्रिया श्रेयोऽनुबन्धिनी । या सा वाऽऽसन्नभव्यस्य नृजन्मोपगमे भवेत् ॥ ८२
सनृजन्मपरिप्राप्तो दीक्षायोग्ये सदन्वये । विशुद्ध लभते जन्म सैषा सज्जातिरिष्यते ॥ ८३
विशुद्धकुलजात्यादि संपत्सज्जातिरुच्यते । उदितोदितवंशत्वं यतोऽभ्येति पुमान् कृती ॥ ८४
पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुल परिभाष्यते । मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते ॥ ८५
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुर्वाणता । यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैर्गुणै ॥ ८६
सज्जन्मप्रतिलम्भोऽयमार्यावर्तविशेषत । सत्यां देहादिसामग्र्यां श्रेय सूते हि देहिनाम् ॥ ८७
शरीरजन्मना सैषा सज्जातिरुपवर्णिता । एतन्मूला यत सर्वा पुंसामिष्टार्थसिद्धय ॥ ८८
संस्कारजन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते । यामासाद्य द्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाश्नुते ॥ ८९
विशुद्धाकरसम्भूतो मणि सस्कारयोगत । यात्युत्कर्षं यथाऽऽत्मैवं क्रियामन्त्रै सुसस्कृत. ॥ ९०
सुवर्णधातुरथवा शुद्ध्येदासाद्य सस्क्रियाम् । यथा तथैव भव्यात्मा शुद्ध्यत्यासादितक्रिय ॥ ९१
ज्ञानज. स तु संस्कार: सम्यग्ज्ञानमनुत्तरम् । यदाथ लभते साक्षात् सर्वविन्मुखत. कृती ॥ ९२
तदैष परमज्ञानगर्भात् संस्कारजन्मना । जातो भवेद् द्विजन्मेति व्रतै शीलैश्च भूषित ॥ ९३
व्रतचिन्हं भवेदस्य सूत्रं मन्त्रपुर सरम् । सर्वज्ञाज्ञाप्रधानस्य द्रव्यभावविकल्पितम् ॥ ९४
यज्ञोपवीतमस्य स्याद् द्रव्यतस्त्रिगुणात्मकम् । सूत्रमौपासिकं तु स्याद् भावारूढैस्त्रिभिर्गुणै. ॥ ९५

क्रियाओको कहता हूँ, जो कि अतिनिकट भव्य प्राणीको प्राप्त होती है ॥ ८१ ॥ उन कर्त्रन्वय क्रियाओमे कल्याण करनेवाली सवसे पहली क्रिया सज्जाति है, जो किसी आसन्न भव्यको मनुष्य जन्मको प्राप्ति होनेपर होती है ॥ ८२ ॥ मनुष्यजन्मकी प्राप्ति होनेपर जव वह दीक्षाके योग्य उत्तम वंशमे विशुद्ध जन्म धारण करता है, तव उसके यह सज्जाति क्रिया कही जाती है ॥ ८३ ॥ विशुद्ध कुल और उत्तम जाति आदि सम्पदाके पानेको सज्जाति कहते है । इस सज्जातिसे ही पुण्यवान् पुरुष उत्तरोत्तर अभ्युदयवाले उत्तम वंगको प्राप्त होता है ॥८४॥ पिताके वशकी जो शुद्धि है, वह कुल कहलाता है और माताके वंगकी शुद्धि जाति कही जाती है ॥८५॥ कुल और जाति इन दोनो की विशुद्धिको सज्जाति कहा गया है,इस सज्जातिके प्राप्त होनेपर अनायास प्राप्त हुए गुणोके द्वारा रत्नत्रयरूप वोधिका पाना सुलभ हो जाता है ॥ ८६ ॥ आर्यावर्तमे जन्म लेनेकी विशेषतासे यह सज्जातित्वकी प्राप्ति शरीर आदि योग्य सामग्रीके मिलनेपर जीवोके नानाप्रकारसे कल्याणोको उत्पन्न करती है ॥ ८७ ॥ शरीरके साथ ही यह सज्जाति वर्णन की गई है, क्योकि पुरुषोके समस्त इष्ट पदार्थोकी सिद्धिका मूल कारण यही प्रथम सज्जाति है ॥८८॥ सस्काररूप जन्मसे उत्पन्न होनेवाली सज्जाति दूसरी है । उसे पाकर भव्यात्मा द्विजपनेको प्राप्त होता है ॥ ८९ ॥ जैसे विशुद्ध खानिमे उत्पन्न हुआ रत्न सस्कारके योगसे उत्कर्पको प्राप्त होता है, वैसे ही क्रिया और मन्त्रोसे सुसस्कारको प्राप्त हुआ आत्मा भी परम उत्कर्षको प्राप्त होता है ॥ ९० ॥ अथवा जिस प्रकर सुवर्णधातु अग्नि आदिके द्वारा सस्कारको प्राप्त होकर शुद्ध हो जाती है,उसीप्रकार भव्य जीव भी सत्-क्रियाओको पाकर शुद्ध हो जाता है ॥९१॥ वह वास्तविक सस्कार ज्ञानसे उत्पन्न होता है और सवमे उत्कृष्ट ज्ञान सम्यग्ज्ञान है । जव भाग्यशाली भव्य साक्षात् सर्वज्ञके मुखसे उस सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करता है, उस समय वह परमज्ञानरूप गर्भमे सस्काररूपी जन्म लेकर उत्पन्न होता है और पंच अणुव्रत तथा सप्तशीलव्रतोमे विभूपित होकर द्विज कहलाता है॥९२-९३॥सर्वज्ञदेवकी आज्ञाको प्रधान माननेवाले उस द्विजके मन्त्र पूर्वक यज्ञोपवीतसूत्रका धारण करना उसका व्रतचिन्ह है । यह यज्ञोपवीतरूप सूत्र द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है ॥ ९४ ॥ तीन लरका यज्ञोपवीत उस

यदैव लब्धसंस्कारः परं ब्रह्माधिगच्छति । तदैनमभिनन्द्याशीर्वचोभिर्गणनायकाः ॥ ९६
लम्भयन्त्युचितां शेषां जैनीं पुष्पैरथाक्षतैः । स्थिरीकरणमेतद्धि धर्मप्रोत्साहनं परम् ॥ ९७
अयोनिसम्भवं दिव्यज्ञानगर्भसमुद्भवम् । सोऽधिगम्य परं जन्म तदा सज्जातिभाग्भवेत् ॥ ९८
ततोऽधिगतसज्जातिः सद्गृहित्वमसौ भजेत् । गृहमेधी भवन्नार्यषट्कर्माण्यनुपालयन् ॥ ९९
यदुक्तं गृहचर्यायामनुष्ठानं विशुद्धिमत् । तदाप्तविहितं कृत्स्नमतन्द्रालुः समाचरेत् ॥ १००
जिनेन्द्राल्लब्धसज्जन्मा गणेन्द्रैरनुशिक्षितः । स धत्ते परमं ब्रह्मवर्चसं द्विजसत्तमः ॥ १०१
तमेनं धर्मसाद्भूतं श्लाघन्ते धार्मिका जनाः । परं तेज इव ब्राह्ममवतीर्णं महीतलम् ॥ १०२
स यजन् याजयन् धीमान् यजमानैरुपासितः । अध्यापयन्नधीयानो वेदवेदाङ्गविस्तरम् ॥ १०३
स्पृशन्नपि महीं नैव स्पृष्टो दोषैर्महीगतैः । देवत्वमात्मसात्कुर्यादिहैवाभ्यर्चितैर्गुणैः ॥ १०४
नाणिमा महिमैवास्य गरिमैव न लाघवम् । प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चेति तद्गुणाः ॥ १०५
गुणैरेभिरुपारूढमहिमा देवसाद्भवम् । बिभ्रल्लोकातिगं धाम मह्यामेष महीयते ॥ १०६
धर्म्यैराचरितैः सत्यशौचक्षान्तिदमादिभिः । देवब्राह्मणतां श्लाघ्यां स्वस्मिन् सम्भावयत्यसौ॥१०७
अथ जातिमदावेशात् कश्चिदेनं द्विजब्रुवः । ब्रूयादेवं किमद्यैव देवभूयं गतो भवान् ॥ १०८

द्विजका द्रव्यसूत्र है । तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप भावात्मक तीन गुणोवाला जो श्रावकधर्म रूप सूत्र है,वह भावसूत्र कहलाता है ॥९५॥ जब यह भव्य जीव सस्कारोको पाकर परम ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है तब गण-नायक आचार्य-गण आशीर्वादात्मक वचनोसे उनका अभिनन्दनकर श्रीजिनेन्द्र-देवकी पूजामे शेष रहे पुष्प अथवा अक्षतोके द्वारा उसे आशिका ग्रहण कराते है । यह आशिका-ग्रहण एक प्रकारका धर्ममे स्थिरीकरण है और धर्म-पालन करनेमे उत्साह बढानेवाला है ॥९६-९७॥ इसप्रकार जब यह भव्य जीव अयोनिसभव और दिव्यज्ञानरूप गर्भसे उत्पन्न हुए उत्कृष्ट जन्मको प्राप्त होता है, तब वह सज्जातिका धारक होता है ॥९८॥ यह पहली सज्जाति क्रिया है । इसके पश्चात् सज्जातिको प्राप्त हुआ वह भव्य सद्-गृहस्थ होकर षट् आर्य कर्मोका परिपालन करता हुआ सद्-गृहित्व क्रियाको प्राप्त होता है ॥९९॥ पहले गृहचर्यामे जो-जो सर्वज्ञोक्त कर्तव्यपालन करनेके लिए कह आए है,उन सबको उसे निर्दोषरीतिसे आलस्य-रहित होकर पालन करना चाहिए॥१००॥ इस प्रकार जिनेन्द्रदेवके प्रसादसे सज्जन्मको प्राप्त और गणाधीश आचार्योंसे अनुशासित वह श्रेष्ठ द्विज ब्रह्म तेजको धारण करता है ॥१०१॥धर्मको आत्मसात् करनेवाले उस द्विजको धार्मिक जन यह कहते हुए प्रशसा करते है कि तू इस महीतलपर अवतीर्ण परमब्रह्म तेजके समान है ॥१०२॥ वह बुद्धि-मान् स्वय जिनेन्द्र देवका पूजन करते हुए अन्य लोगोसे भी कराता है,स्वय वेद-वेदागके विस्तारको पढता हुआ दूसरोको भी पढाता है और भूमिका स्पर्श करते हुए भी भूमिगत दोपोसे स्पष्ट नही होता है इसप्रकार वह पूजनीय गुणोके द्वारा इस लोकमे ही देवपनेको प्राप्त कर लेता है॥१०३-१०४॥इस प्रकारसे देवत्वको प्राप्त करनेपरउनकेअणिमाऋद्धि (छोटापन) नहीहै किन्तु महिमाऋद्धि (बडप्पन) है। उसके गरिमा ऋद्धि है, किन्तु लघिमा (लघुता) नही है । इसीप्रकार उसके प्राप्ति (रत्नत्रयका लाभ) प्राकाम्य (सर्वप्रियत्व) ईशित्व (सर्वस्वामित्व) और वशित्व (सबको वशमे करना) ये गुण भी उसमे रहते है ॥१०५॥इन देवोचित गुणोके द्वारा महिमाको प्राप्त,लोकातिशायी तेजका धारक वह देवरूप भवको धारण करता हुआ इस भूमण्डल पर ही पूजा जाता है ॥१०६ ॥ सत्य,शौच,क्षमा, इन्द्रिय आदि धर्मानुकूल आचरणोसे वह अपनेमे प्रशसनीय देवब्रह्मत्वको उत्पन्न करता है

त्व मामुष्यायण: किन्न किन्तेऽम्बाऽमुष्य पुत्रिका । येनैवमुन्नसो भूत्वा यास्यसत्कृत्यमद्विधान् ।।१०९
जातिः सैव कुलं तच्च सोऽसि योऽसि प्रगेतन । तथापि देवतात्मानमात्मानं मन्यते भवान् ।।११०
देवतातिथिपित्रग्निकार्येष्वप्रयतो भवान् । गुरुद्विजातिदेवानां प्रणामाच्च पराङ्मुख ।। १११
दीक्षां जैनीं प्रपन्नस्य जात. कोऽतिशयस्तव । यतोऽद्यापि मनुष्यस्त्वं पादचारी महीं स्पृशन्।।११२
इत्युपारूढसंरम्भमुपालब्ध: स केनचित् । ददात्युत्तरमित्यस्मै वचोभिर्युक्तिपेशलै. ।। ११३
श्रूयतां भो द्विजम्मन्य त्वयाऽस्मद्दिव्यसम्भवः । जिनो जनयिताऽस्माकं ज्ञानं गर्भोऽतिनिर्मल: ।।११४
तत्रार्हतीं त्रिधा भिन्नां शक्ति त्रैगुण्यसश्रिताम् । स्वसात् कृत्य समुद्भूता वयं संस्कार जन्मना ।।११५
अयोनिसम्भवास्तेन देवा एव न मानुषाः । वयं वयमिवान्येऽपि सन्ति चेद् ब्रूहि तद्विधान् ।। ११६
स्वायम्भुवान्मुखाज्जाताः ततो देवद्विजा वयम् । व्रतचिन्हं च नः सूत्रं पवित्रं सूत्रदर्शितम् ।।११७
पापसूत्रानुगा यूयं न द्विजा सूत्रकण्ठकाः । सन्मार्गकण्टकास्तीक्ष्णा. केवलं मलदूषिता ।। ११८
शरीरजन्म संस्कारजन्म चेति द्विधा मतम् । जन्माङ्गिनां मृतिश्चैव द्विधाम्नाता जिनागमे।।११९
देहान्तरपरिप्राप्ति. पूर्वदेहपरिक्षयात् । शरीरजन्म विज्ञेय देहभाजां भवान्तरे ।। १२०
तथालब्धात्मलाभस्य पुनः संस्कारयोगतः । द्विजन्मतापरिप्राप्तिर्जन्म संस्कारजं स्मृतम् ।। १२१

।।१०७।। अब यदि अपनेको ब्राह्मण कहनेवाला कोई पुरुष इस देवब्राह्मणको जातिमदके आवेगसे इसप्रकार कहे कि क्या आप आज ही देवपनेको प्राप्त हो गये हैं? ।।१०८।।क्या तू अमुक प्रसिद्ध पुरुषका पुत्र नही है और क्या तेरी माता अमुककी पुत्री नही है? जिससे कि तू इस प्रकार ऊँची नाक करके मेरे जैसे पुरुषोका सत्कार किये विना ही जाता है ।।१०९।। यद्यपि तेरी जाति वही है, कुल वही है और तू भी वही है जो कि प्रभात काल था तथापि तू अपने आपको देवतारूप मान रहा है ।।११०।। तू देवता, अतिथि, पितृगण और अग्नि-हवनादि कार्योमे प्रयत्नशील नही है और गुरु द्विजाति और देवोको प्रणाम करनेसे भी विमुख है।।१११।। जैनी दीक्षाको प्राप्त हुए तेरेकौन-सा अतिशय उत्पन्न हो गया है? तू तो अभी पृथ्वीका स्पर्श करनेवाला पादचारी मनुष्य ही है ।।११२।।इसप्रकार अतिक्रोधित होकर कोई ब्राह्मण उपालंभ देवे,तो उसके लिये सुन्दर युक्तियोसे भरे हुए वचनोसे इसप्रकार उत्तर दे ।।११३।। हे द्विजम्मन्य,(अपने आपको ब्राह्मण माननेवाले) तू मेरा दिव्य जन्म सुन, श्री जिनदेव ही हमारे जनयिता(जनक)है और ज्ञान ही अत्यन्त निर्मल गर्भ है ।।११४।।उस गर्भमे उपलब्धि,उपयोग और संस्कार इन तीन गुणोके आश्रित रहनेवाली जो रत्नत्रय स्वरूपा आर्हती शक्ति है, उसे आत्मसात् करके हम संस्काररूप जन्मसे उत्पन्न हुए है ।।११५।। हमलोग अयोनिजन्मा है, अत. देव ही है, मनुष्य नही है । यदि हमारे सदृश और भी अयोनिजन्मा देव ब्राह्मण हो, तो तू उन्हे भी देवब्राह्मण ही कह।।११६।।हम लोग स्वयम्भू सर्वज्ञके मुखमे उत्पन्न हुए है, अत हम देवद्विज ही है और व्रतोका चिन्ह यह शास्त्रोक्त पवित्र यज्ञोपवीत सूत्र है ।।११७।। आपलोग तो केवल पापसूत्रो(कुशास्त्रो) के अनुयायी है,केवल कठमे सूत्र धारण करनेमे द्विज नही कहला सकते है । वस्तुत. आपलोग केवल सन्मार्गके तीक्ष्ण कंटक है और मलोंसे दूषित है ।।११८।। जीवोका जन्म दो प्रकारका होता है एक तो शरीरजन्म और दूसरा संस्कारजन्म । इसीप्रकार जिनागममे मरण भी दो प्रकारका माना गया है ।।११९।। पूर्व देहके विनाशसे देहधारियोके अन्यभवमे जो अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है,उसे शरीरजन्म जानना चाहिए ।।१२०।।इसीप्रकार क्रियाओंके संस्कारयोगसे आत्मलाभ करनेवाले जीवके जो द्विजपनाकी प्राप्ति

शरीरमरणं स्वायुरन्ते देहविसर्जनम् । संस्कारमरणं प्राप्तव्रतस्याग समुज्झनम् ।। १२२
यतोऽयं लब्धसस्कारो विजहाति प्रगेतनम् । मिथ्यादर्शनपर्याय ततस्तेन मृतो भवेत् ।। १२३
तत्र संस्कारजन्मेदमपापोपहतं परम् । जात नो गुर्वनुज्ञानादतो देवद्विजा वयम् ।। १२४
इत्यात्मनो गुणोत्कर्ष ख्यापयन्न्यायवर्त्मना । गृहमेधी भवेत् प्राप्य सद्गृहित्वमनुत्तरम् ।। १२५
भूयोऽपि संप्रवक्ष्यामि ब्राह्मणान् सत्क्रियोचितान् । जातिवादावलेपस्य निरासार्थमत. परम् ।।१२६
ब्रह्मणोऽपत्यमित्येवं ब्राह्मणा. समुदाहृताः । ब्रह्मा स्वयम्भूर्भगवान् परमेष्ठी जिनोत्तम ।। १२७
स ह्यादिपरमब्रह्मा जिनेन्द्रो गुणबृंहणात् । परं ब्रह्म यदायत्तमामनन्ति मुनीश्वरा ।। १२८
नैणाजिनधरो ब्रह्मा जटाकूर्चादिलक्षण । यः कामगर्दभो भूत्वा प्रच्युतो ब्रह्मवर्चसात् ।। १२९
दिव्यमूर्तेर्जिनेन्द्रस्य ज्ञानगर्भादनाविलात् । समासादिजन्मानो द्विजन्मानस्ततो मता ।। १३०
वर्णान्तःपातिनो नैते मन्तव्या द्विजसत्तमा । व्रतमन्त्रादिसस्कारसमारोपितगौरवा ।। १३१
वर्णोत्तमानिमान्विद्म क्षान्तिशौचपरायणान् । सन्तुष्टान्प्राप्तवैशिष्ट्यानक्लिष्टाचारभूषणान् ।।१३२
क्लिष्टाचारा परे नैव ब्राह्मणा द्विजमानिन । पापारम्भरता शश्वदाहृत्य पशुघातिन ।।१३३
सर्वमेधमयं धर्ममभ्युपेत्य पशुघ्नताम् । का नाम गतिरेषां स्याद् पापशास्त्रोपजीविनाम् ।। १३४
चोदनालक्षणं धर्ममधर्मं प्रतिजानते । ये तेभ्य कर्मचाण्डालान् पश्यामो नापरान् भुवि ।। १३५

होती है, वह सस्कारज जन्म कहलाता है ।।१२१।। अपनी आयुके अन्तमे देहका छूटना-शरीर मरण है और व्रतोको प्राप्त पुरुषका पापोको छोडना सस्कार-मरण है ।।१२२।।सस्कारको प्राप्त हुआ पुरुष यत पूर्वकी मिथ्यादर्शन पर्यायको छोडता है, अत वह पूर्वपर्यायके त्यागकी अपेक्षा मरा हुआ ही जानना चाहिए ।।१२३।।उन दोनो प्रकारके जन्मोमेसे पाप-रहित यह निर्दोष सस्कार जन्म हमे गुरुकी अनुज्ञासे प्राप्त हुआ है, अत हम देवद्विज है।। १२४।। इसप्रकार न्यायमार्गसे अपने गुणोका उत्कर्ष प्रकट करता हुआ वह देवद्विज अनुपम सद्-गृहीत्व पदको पाकर सद्-गृहस्थ होता है ।।१२५।। अव मै इससे आगे ब्राह्मणोके जातिवादका मद दूर करनेके लिए सत्क्रियाओके करने योग्य ब्राह्मणो-को और भी कथन करता हूँ ।।१२६।।'ब्रह्मणोऽपत्य ब्राह्मण ' इस निरुक्तिके अनुसार ब्रह्माकी सन्तान को ब्राह्मण कहते है । जिनोत्तम परमेष्ठी स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा कहलाते है ।। १२७ ।। वे श्री जिनेन्द्रदेव ही आदि परम ब्रह्मा है, क्योकि वे ही आत्माके सम्यग्दर्शनादि गुणोको बढाते है । मुनी-श्वर-उत्कृष्ट ब्रह्म (ज्ञान) उन्ही जिनेन्द्रदेवके अधीन मानते है ।।१२८ । किन्तु मृगचर्मका धारक, दाढी-जटादि रखनेवाला पुरुष ब्रह्मा नही माना जा सकता है, क्योकि वह कामके वश गर्दभ-मुख बनकर ब्रह्मचर्यरूप तेजसे परिभ्रष्ट हुआ है ।।१२९।। इसलिए दिव्यमूर्तिवाले जिनेन्द्रदेवके निर्मल ज्ञानरूप गर्भसे जन्म प्राप्त करनेवाले व्यक्ति ही द्विजन्मा माने गये है।।१३०।। व्रत और मत्रादिके सस्कारोसे गौरवको प्राप्त करनेवाले इन श्रेष्ठ देवब्रह्मणोको अन्तर्गत नही मानना चाहिए । अर्थात् ये सामान्य त्रिवर्णी जनोसे उत्कृष्ट है ।।१३१।। हम तो उन्हे ही वर्णोत्तम ब्राह्मण मानते है जो क्षमा-शौच आदि गुणोमे परायण है, सन्तोषधारक है, और निर्दोष आचरणरूप आभूषणोको धारण करनेसे विशिष्टताको प्राप्त है ।।१३२।। किन्तु जो सदोष आचारवाले है,सदापापारम्भमे निरत रहते है और आग्रहपूर्वक पशुओके घातक है, ऐसे द्विजाभिमानी लोक ब्राह्मण नही माने जा सकते है ।।१३३।। सर्वहिंसामय धर्मको स्वीकार कर पशुओके घातक और पापोपदेशी शास्त्रोसे आजीविका करनेवाले इन द्विजाभिमानियोकी मरकर न जाने कौन-सी गति होती? ।।१३४।।पशु-यज्ञकी प्रेरणा

पार्थिवैर्दण्डनीयाश्च लुण्टाका पापपण्डिता । तेऽमी धर्मजुषां बाह्या ये निघ्नन्त्यघृणा पशून्॥ १३६
पशुहत्यासमारम्भात् क्रव्यादेभ्योऽपि निष्कृपाः । यद्युच्छ्रितिमुशन्त्येते हन्तैवं धार्मिका हता । १३७
मलिनाचारिता ह्येते कृष्णवर्गे द्विजब्रुवा । जैनास्तु निर्मलाचारा शुक्लवर्गे मता बुधैः ॥ १३८
श्रुतिस्मृतिपुरावृत्तवृत्तमन्त्रक्रियाश्रिता । देवतालिङ्गकामान्तकृता शुद्धिर्द्विजन्मनाम् ॥ १३९
ये विशुद्धतरां वृत्तिं तत्कृतां समुपाश्रिताः । ते शुक्लवर्गे बोद्धव्या शेषा शुद्धे. वहि. कृता ॥ १४०
तच्छुद्ध्यशुद्धी बोद्धव्ये न्यायान्यायप्रवृत्तितः । न्यायो दयार्द्रवृत्तित्वमन्याय प्राणिमारणम् ॥ १४१
वि शुद्धवृत्तयस्तस्माज्जैना वर्णोत्तमा द्विजा । वर्णान्तःपातिनो नैते जगन्मान्या इति स्थितम् ॥ १४२

स्यादारेका च षट्कर्मजोविनां गृहमेधिनाम् ।
हिंसादोषोऽनुषङ्गी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनाम् ॥ १४३

इत्यत्र ब्रूमहे सत्यमल्पसावद्यसङ्गति । तत्रास्त्येव तथाप्येषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिता ॥ १४४
अपि चैषां विशुद्ध्यङ्ग पक्षश्चर्या च साधनम् । इति त्रितयमस्त्येव तदिदानीं विवृण्महे ॥ १४५
तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्नहिंसाविवर्जनम् । मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यैरुपबृंहितम् ॥ १४६

करनेवाले अधर्मको ही जो धर्म मानते है,हम उनसे अन्य किसीको भी संसारमे कर्मचाण्डाल नही देखते है ॥१३५॥ जो निर्दय होकर पशुओको मारते हैं, प्रजाको धर्मके वहाने लूटते हैं, पापरूपी कार्योंके पण्डित है,वे धर्मात्मा लोगोसे वाह्य है, अत वे राजाओके द्वारा दण्डनीय है ॥१३६॥ पशु-हत्याके समारम्भकी अपेक्षा जो राक्षसोसे भी अधिक निर्दयी है, यदि ऐसे ही पुरुष उत्कृष्ट माने जावेगे, तो वडे दुखके साथ कहना होगा कि इसप्रकार धर्मात्मा लोग व्यर्थ ही मारे गये॥१३७॥ मलिन आचरण करनेवाले इन द्विजम्मा ब्राह्मणोको विद्वानोने कृष्णवर्गमे और निर्मल आचरण करने वाले जैन लोगोको शुक्लवर्गमे माना है ॥१३८॥ भावार्थ–हिंसानुयायी ब्राह्मण पापवर्गी है और अहिंसाधर्मानुयायी ब्राह्मण पुण्यवर्गी है । द्विजन्मा ब्राह्मणोंकी शुद्धि श्रुति, स्मृति,पुराण,सदाचार, मत्र और क्रियाओके आश्रित है,तथा उत्तम देवताओकी उपासना करनेसे उत्तम लिग (वेप) को धारण करनेसे और कामदेवका अन्त करनेसे भी उनकी शुद्धी मानी गई है ॥१३९॥ जो लोग अति विशुद्ध श्रुति-स्मृति आदि धर्मशास्त्रोक्त वृत्तिको धारण करते है,उन्हे शुक्लवर्गमे समझना चाहिये। शेष जो मलिनाचारी पापोपदेशी हिंसक मनुष्य है,वे सव शुद्धि या शुक्लवर्गसे वहिष्कृत है, अर्थात् उन्हे कृष्णवर्गी मानना चाहिये ॥१४०॥ उन द्विजोंकी शुद्धि और अशुद्धि न्याय और अन्यायरूप प्रवृत्तिसे जाननी चाहिये । दयासे आर्द्र (भीगी या मृदु) प्रवृत्ति न्याय है और प्राणियोका मारना अन्याय है ॥१४१॥ इस सर्व कथनसे यह वात निश्चित होती है कि विशुद्ध वृत्तिवाले जैन ही वर्णोत्तम द्विज है, अत वे ही जगन्मान्य हैं। केवल वर्णान्त पाती नही ॥१४२॥ भावार्थ-जो सदाचारी और अहिसाधर्मके अनुयायी है, वे ही उत्तम ब्राह्मण है । केवल द्विज वर्णमे जन्म लेनेसे ही कोई उत्तम द्विज नही माना जा सकता । यहा यदि कोई यह आशंका करे कि असि मसी आदि षट् कर्मोंसे आजीविका करनेवाले गृहस्थोके और जैन द्विजोके भी हिंसाका दोष लग सकते है? तो इसपर हम कहते ह कि आपका कहना सत्य है, इन षट्कर्मोंको करते हुए गृहस्थोके अल्पपापका समागम होता ही है,तथापि उनकी शुद्धि भी तो शास्त्रोमे दिखाई गई है ॥१४३-१४४॥ उन गृहस्थोके दोपोकी विशुद्धिके तीन अग है-पक्ष, चर्या और साधन । अव हम इन तीनोका ही निरूपणकरतेहैं॥१४५॥ मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओसे वृद्धिको प्राप्त हुआ समस्त हिंसाका परिहार जैनो-

चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्ध्यर्थमेव वा । औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टितम् ॥ १४७
तत्राकामकृते शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते । पश्चाच्चात्मालयं सूनौ व्यवस्थाप्य गृहोज्झनम् ॥ १४८
चर्यैषा गृहिणां प्रोक्ता जीवितान्ते तु साधनम् । देहाहारेहितत्यागात् ध्यानशुद्ध्यात्मशोधनम् ॥ १४९
त्रिष्वेतेषु न संस्पर्शो वधेनार्हद्द्विजन्मनाम् । इत्यात्मपक्षनिक्षिप्तदोषाणां स्यान्निराकृतिः ॥ १५०
चतुर्णामाश्रमाणां च शुद्धिः स्यादार्हते मते । चातुराश्रम्यमन्येषामविचारितसुन्दरम् ॥ १५१
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥ १५२
ज्ञातव्याः स्युः प्रपञ्चेन सान्तर्भेदाः पृथग्विधाः । ग्रन्थगौरवभीत्या तु नात्रैतेषां प्रपञ्चना ॥ १५३
सद्गृहित्वमिदं ज्ञेयं गुणैरात्मोपबृंहणम् । पारिव्राज्यमितो वक्ष्ये सुविशुद्धं क्रियान्तरम् ॥ १५४
इतिसद्गृहित्वम् ।
गार्हस्थ्यमनुपाल्यैवं गृहवासाद् विरज्यतः । यद्दीक्षाग्रहणं तद्धि पारिव्राज्यं प्रचक्षते ॥ १५५
पारिव्राज्यं पारिव्राजो भावो निर्वाणदीक्षणम् । तत्र निर्ममता वृत्त्या जातरूपस्य धारणम् ॥ १५६
प्रशस्ततिथिनक्षत्रयोगलग्नग्रहांशके । निर्ग्रंथाचार्यमाश्रित्य दीक्षा ग्राह्या मुमुक्षुणा ॥ १५७
विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मतः । दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः ॥ १५८
ग्रहोपरागग्रहणं परिवेषेन्द्रचापयोः । वक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेऽम्बरे ॥ १५९

का पक्ष कहलाता है ।।१४६।। देवताके लिए या मत्रसिद्धिके लिए अथवा औषधि या आहार निर्माण के लिए मैं किसी भी जीवकी हिसा नही करूँगा,ऐसी प्रतिज्ञाकार अहिसक आचरण करनेको चर्या कहते है।।१४७।। इस प्रतिज्ञामे यदि इच्छाके न रहनेपर भी प्रमादसे दोष लग जावे,तो प्रायश्चित्तसे उसकी शुद्धि की जाती है । पश्चात् पुत्रपर अपने सर्वकुटुम्बका भार छोडकर गृहका त्याग किया जाता है ।।१४८।। यह गृहस्थोकी चर्या कही । जीवनके अन्तमे देह,आहार और सर्व प्रकारकी इच्छाओका त्यागकर ध्यानकी शुद्धि-द्वारा आत्मशोधन करनेको साधन कहते है ।।१४९।। पक्ष, चर्या और साधन इन तीनोमे अर्हन्मतानुयायी द्विजोका हिसाके साथ सस्पर्श भी नही होताहै,इसप्रकार हमारे जैन पक्षपर लगाये गये दोषो का निराकरण हो जाता है।।१५०।। चारो आश्रमोकी शुद्धिता भी आर्हतमतमे ही है । अन्य लोगोकी चतुराश्रमव्यवस्था तो अविचारितरम्य है,अर्थात् जब तक उसपर विचार नही किया जाता,तब तक ही सुन्दर प्रतीत होती है ।।१५१।। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक, ये जैनोके चार आश्रम उत्तरोत्तर शुद्धिसे प्राप्त होते है ।।१५२।। ये चारो ही आश्रम अपने-अपने अन्तर्भेदोसे अनेक प्रकारके है,उनका विस्तारके साथ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, किन्तु ग्रन्थ-गौरवके भयसे यहाँ उनका निरूपण नहीं किया जा रहा है ।।१५३।। इसप्रकार सद्-गुणोके द्वारा आत्माकी वृद्धि करना यह सद्-गृहित्व क्रिया है । अव इससे आगे परिव्राज्य नामकी अति विशुद्ध अन्य क्रिया को कहते है ।।१५४।। यह दूसरी सद्गृहित्व क्रिया है। उपर्युक्त प्रकारसे गृहस्थ धर्मका विधिवत् परिपालन करके गृहवाससे विरक्त होनेवाले श्रावकका जो दीक्षाग्रहण करना है, वह पारिव्राज्य क्रिया है ।। १५५ ।। परिव्राट् (गृहत्यागी) के निर्वाणदीक्षारूप भावको पारिव्राज्य कहते है । इस पारिव्राज्यक्रियामे निर्ममत्व वृत्तिसे जातरूप दिगम्बर वेपको धारण किया जाता है ।।१५६।। मुमुक्षु श्रावकको शुभ तिथि,शुभ नक्षत्र,शुभ योग,शुभ लग्न और शुभ ग्रहांश(मुहूर्त) मे निर्ग्रन्थ आचार्यके पास जाकरके दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए ।।१५७।। जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है,चरित्र उत्तम है,शरीर सुदृढ है,मुख सुन्दर है और जिसकी बुद्धि उत्तम है ऐसे पुरुषके

नष्टाधिमासदिनयोः सक्रान्तौ हानिमत्तिथौ । दीक्षाविधिं मुमुक्षूणां नेच्छन्ति कृतबुद्धय. ।। १६०
सम्प्रदायमनादृत्य यस्त्विमं दीक्षयदधी. । स साधुभिर्बहि· कार्यो वृद्धात्यासादनारत· ।। १६१
तत्र सूत्रपदान्याहु· योगीन्द्राः सप्तविंशतिम् । येनिर्णीतैं र्भवेत्साक्षात् पारिव्राज्यस्य लक्षणम्।।१६२
जातिर्मूर्त्तिश्च तत्रस्थं लक्षण सुन्दराङ्गता । प्रभामण्डलचक्राणि तथाभिषवनाथते ।। १६३
सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषण· । अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभावगाहने ।। १६४
क्षेत्रज्ञाऽऽज्ञा सभाः कीर्तिर्वन्द्यता वाहनानि च । भाषाहारसुखानीति जात्यादि सप्तविंशतिः।।१६५
जात्यादिकानिमान सप्तविंशति परमेष्ठिनाम् । गुणानाहुर्भजेद्दीक्षां स्वेषु तेष्वकृतादर. ।। १६६
जातिमानप्यनुत्सिक्तः सम्भजेदर्हतां क्रमौ । यतो जात्यन्तरे जात्यां याति जातिचतुष्टयीम्।।१६७
जातिरैन्द्री भवेद्दिव्या चक्रिणां विजयाश्रिता । परमा जातिरार्हन्त्ये स्वात्मोत्था सिद्धिमीयुषाम्।।१६८
मूर्त्यादिष्वपि नेतव्या कल्पनेयं चतुष्टयी । पुराणज्ञैरसम्मोहात् क्वचिच्च त्रितयी मता ।। १६९
कर्शयेन्मूर्त्तिमात्मीयां रक्षन्मूर्त्तीः शरीरिणाम् । तपोऽधितिष्ठेद् दिव्यादिमूर्तीराप्तुमना मुनि ।।१७०
स्वलक्षणमनिर्देश्यं मन्यमानो जिनेशिनाम् । लक्षणान्यभिसन्धाय तपस्येत् कृतलक्षण ।। १७१

ही दीक्षा ग्रहण करनेकी योग्यता मानी गई है ।।१५८।। जिस दिन ग्रहोका उपराग हो,सूर्य-चन्द्रका ग्रहण हो अथवा उनपर (परिवेष) मण्डल हो,इन्द्र-धनुष प्रकट हो रहा हो,वक्र या क्रूर ग्रहोका उदय हो, आकाश मेघ-पटलसे आच्छादित हो, क्षयमास या अधिक मासका दिन हो, सक्रान्तिका समय हो, अथवा तिथिका क्षय हो,उस दिन ज्ञानियोने मुमुक्षुजनोका दीक्षा विधान स्वीकार नही किया है, अर्थात् उक्त प्रकारके अवसरोपर जिन-दीक्षा नही देना चाहिये ।।१५९-१६०।।जो अज्ञानी इस दीक्षा-सम्प्रदायका अनादर करके किसी नवीन शिष्यको दीक्षा दे देता है,साधुजनोको उसका बहिष्कार करना चाहिए, क्योंकि वह वृद्धजनोकी आम्नायकी आसादना करनेमे तत्पर है।।१६१।। इस पारिव्रज्य क्रियामे योगीन्द्रोने सत्ताईस सूत्रपद कहे है,जिनका कि निर्णय होनेपर पारिव्राज्यका साक्षात् स्वरूप प्रकट होता है ।।१६२।। वे सत्ताईस सूत्र–पद इसप्रकार है–१ जाति, २ मूर्ति, ३. मूर्तिगत लक्षण, ४ अग-सौन्दर्य, ५ प्रभा, ६ मडल, ७. चक्र, ८ अभिषेक, ९. नाथता, १०. सिंहासन, ११ उपधान, १२ छत्र, १३ चामर, १४ घोषणा, १५ अशोकवृक्ष, १६ निधि, १७ गृहशोभा, १८ अवगाहन, १९ क्षेत्रज, २० आज्ञा, २१ सभा, २२ कीर्ति, २३ वन्दनीयता, २४ वाहन, २५ भाषा, २६ आहार और २७ सुख । ये जाति आदिक सत्ताईस सूत्रपद परमेष्ठियोके गुण स्वरूप कहे गये है । इन सूत्रपदोंमे आदर करते हुए, तथा अपनी जाति,मूर्ति आदिमे आदर न करते हुए ही भव्य पुरुषको दीक्षा धारण करना चाहिये ।।१६३-१६६।। दीक्षा-धारक उत्तम जातिका भी हो,तो भी उसे अहकार छोडकर अर्हन्तदेवोके चरणोकी सेवा करनी चाहिये जिससे कि दूसरे जन्ममे उत्पन्न होनेपर दिव्या,विजयाश्रिता,परमा और स्वात्मोत्था इन चार उत्तम जातियोको प्राप्त हो ।।१६७।।इन्द्रकी दिव्या जाति है,चक्रवर्त्तियोकी विजयाश्रिता जाति है, अरहन्तोकी परमा जाति है और सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करनेवालोकी स्वात्मोत्था जाति है।।१६८।।इन चारों गुण विशेषोंकी कल्पना मूर्ति आदिक शेष पदोमें भी पुराणज्ञोको बिना किसी व्यामोहके कर लेना चाहिए। किसी पदमें तीन ही पदोंकी कल्पना मानी गई है ।।१६९।। जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियोंको प्राप्त करना चाहता है, वह अपनी मूर्तिको कृश करे और प्राणियोंकी मूर्तियोंकी रक्षा करता हुआ तपका आचरण करे।।१७०।।इसीप्रकार अनेक लक्षणोंको धारण करनेपर भी अपने लक्षणोंको अनि-

म्लापयन् स्वाङ्गसौन्दर्यं मुनिरुग्रं तपश्चरेत् । वाञ्छन्दिव्यादि सौन्दर्यमनिवार्यपरम्परम् ॥ १७२
मलीमसाङ्गो व्युत्सृष्टस्वकायप्रभवप्रभ । प्रभो प्रभां मुनिर्ध्यायन् भवेत् क्षिप्रं प्रभास्वर. ॥१७३
स्वं मणिस्नेहदीपादितेजोऽपास्य जिनं भजन् । तेजोमयमयं योगी स्यात्तेजोवलयोज्ज्वल ॥ १७४

त्यक्त्वाऽस्त्रवस्त्रशस्त्राणि प्राक्तनानि प्रशान्तिभाक्
जिनमाराध्य योगीन्द्रो धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥ १७५

त्यक्तस्नानादिसंस्कार संश्रित्य स्नातक जिनम् । मूर्ध्नि मेरोरवाप्नोति पर जन्माभिषेचनम् ॥१७६
स्वं स्व म्यमैहिकं त्यक्त्वा परमस्वामिनं जिनम् । सेवित्वा सेवनीयत्वमेष्यत्येष जगज्जनै ॥ १७७
स्वोचितासनभेदानां त्यागात्यक्ताम्बरो मुनि । सैह विष्टरमध्यास्य तीर्थप्रख्यापको भवेत् ॥१७८
स्वोपधानाद्यनादृत्य योऽभून्निरुपधिर्भुवि । शयान स्थण्डिले बाहुमात्रार्पितशिरस्त ॥ १७९
स महाभ्युदयं प्राप्य जिनो भूत्वाऽऽप्तसत्क्रिय. । देवैर्विरचितं दीप्रमास्कन्दत्युपधानकम् ॥ १८०
त्यक्तशीतातपत्राणसकलात्मपरिच्छद । त्रिभिश्छत्रै समुद्भासिरत्नैरुद्भासते स्वयम् १८१
विविधव्यजनत्यागादनुष्ठिततपोनिधि । चामराणां चतु षष्ठ्या वीज्यते जिनपर्यये ॥ १८२
उज्झितानकसङ्गीतघोष कृत्वा तपोविधिम् । स्याद्दुन्दुभिनिर्घोषै र्घुष्यम णजयोदय ॥ १८३
उद्यानादिकृतां छाय मपास्य स्वां तपो व्यधात् । यतोऽयमत एवास्य स्यादशोकमहाद्रुमः ॥ १८४
स्वं स्वापतेयमुचित त्यक्त्वा निर्ममतामित । स्वयं निधिभिरभ्येत्य सेव्यते द्वारि दूरतः ॥ १८५

खनीय नही मानता हुआ वह साधु जिनेश्वरोके लक्षणोका चिन्तवन कर तपश्चरण करे॥१७१॥ अनिवार्यपरम्परावले दिव्य सौंदर्य आदिका इच्छुक वह साधु अपने शरीरके सौदर्यको मलिन करता हुआ उग्र तपश्चरण करे ॥१७२॥ अपने शरीरसे उत्पन्न हुई प्रभाका परित्यागकर मलिन अगवाला वह साधु जिन प्रभुकी प्रभाका ध्यान करता हुआ शीघ्र ही महाप्रभाका धारक हो जाता है॥ १७३ ॥ जो योगी मणि, तैलदीपक आदिके समान अपने तेजको छोडकर तेजोमय जिन भगवान्‌की सेवा करता है, वह भामडलसे समुज्ज्वल होता है ॥१७४॥जो परम शान्तिको धारक साधु गृहस्थावस्थावाले अस्त्र,शस्त्र और वस्त्रको छोडकर-जिनदेवकी आराधना करता है, वह धर्मचक्रका स्वामी होता है ॥१७५॥ जो मुनि स्नान आदि सस्कार छोडकर स्नातक जिनदेवका आश्रय लेता है, वह सुमेरुके शिखरपर परमजन्माभिषेकसे प्राप्त होता है॥१७६॥जो मुनि अपने इस लोकसम्बन्धी स्वामित्वको छोडकर परम स्वामी जिनदेव की सेवा करता है,वह जगत्‌के जीवो द्वारा सेवनीय होता है ॥१७७॥ जो मुनि नाना प्रकारके आसनोको छोडकर दिगम्बर होता है, वह सिंहासन पर बैठकर तीर्थका प्रस्थापक होता है ॥ ७८॥ जो मुनि उपधान (तकिया) आदिका अनादर करके परिग्रह-रहित होता है और केवल अपनी भुजापर शिरका किनारा रखकर पृथ्वीके नीचे-ऊँचे प्रदेशपर सोता हैं,वह स्वर्गादिके महान् अभ्युदयोको पाकर जिन बनकर और जगत्‌से सत्कार प्राप्तकर देवोंसे रचित दीप्तिमान उपधानको पाता है ॥१७ -१८०॥ जो मुनि शीत और आतपसे रक्षा करनेवाले अपने छत्र आदि राजवैभवको छोडता है, वह प्रकाशमान रत्नवाले तीन छत्रोसे स्वय सुशोभित होता है ॥१८१॥ जो नानाप्रकारके वीजनोके परित्याग-पूर्वक तपोविधिका अनुष्ठान करता है, वह जिन-पर्यायमे अर्थात् तीर्थंकर बननेपर चौसठ चवरोसे वीज्यमान होता है ॥१८२॥ जो वाद्य, संगीत आदि के शब्दोको सुननेका त्यागकर विधिवत् तपको करता हे, वह दुन्दुभियोके निर्घोप-द्वारा जय-जय-काररूप घोषणाको प्राप्त होता है॥१८३॥ जिसने अपने उद्यान आदिके वृक्षोकी छायाको छोडकर तप

गृहशोभां कृतारक्षां दूरीकृत्य तपस्यतः । श्रीमण्डपादिशोभाऽस्य स्वतोऽभ्येति पुरोगताम् ॥ १८६
तपोऽवगाहनादस्य गहनान्यधितिष्ठत. । त्रिजगज्जनतास्थानसहं स्यादवगाहनम् ॥ १८७
क्षेत्रवास्तुसमुत्सर्गात् क्षेत्रज्ञत्वमुपेयुष. । स्वाधीनत्रिजगत्क्षेत्रमैश्यमस्योपजायते ॥ १८८
आज्ञाभिमानमुत्सृज्य मौनमास्थितवानयम् । प्राप्नोति परमामाज्ञां सुरासुरशिरोधृताम् ॥ १८९
स्वामिष्टभृत्यबन्ध्वादिसभामुत्सृष्टवानयम् । परमाप्तपदप्राप्ताविध्यास्ते त्रिजगत्सभाम् ॥ १९०
स्वगुणोत्कीर्तन त्यक्त्वा त्यक्तकामो महातपा । स्तुतिनिन्दासमो भूय कीर्त्यते भुवनेश्वरैः ॥१९१
वन्दित्वा वन्द्यमर्हन्तं यतोऽनुष्ठितवांस्तप । ततोऽयं वन्द्यते वन्द्यैरनिद्यगुणसन्निधि ॥ १९२
तपोऽयमनुपानत्क. पादचारी विवाहन । कृतवान् पद्मगर्भेषु चरणन्यासमर्हति ॥ १९३

वाग्गुप्तो हितवाग्वृत्त्या यतोऽयं तपसि स्थित ।
ततोऽस्य दिव्यभाषा स्यात् प्रीणयन्त्यखिलां सभाम् ॥ १९४

अनाश्वाञ्नियताहारपारणोऽतप्त यत्तप । तदस्य दिव्यविजयपरमामृततृप्तय. ॥ १९५
त्यक्तकामसुखो भूत्वा तपस्यस्थाच्चिरं यत: । ततोऽय सुखसाद्भूत्वा परमानन्दथुं भजेत् ॥ १९६
किमत्र बहुनोक्तेन यद्यदिष्टं यथाविधम् । त्यजेन्मुनिरसंकल्पस्तत्तत्सूतेऽस्य तत्तपः ॥ १९७

किया है, इसीकारणसे अरहन्त अवस्थामे उसे अगोक महावृक्ष प्राप्त होता है ॥१८४॥ जो अपने योग्य धनको छोडकर निर्ममत्व भावको प्राप्त होता हैं,वह स्वय आकर दूर समवसरण-द्वारपर खडी हुई निधियोसे सेवित होता है ॥१८५॥जो सर्व ओरसे सुरक्षित गृहकी गोभाको छोडकर तपश्चरण करता हैं, उसके श्रीमण्डप (समवसरण)आदिकी गोभा अपने आप ही सम्मुख आती है॥१८६॥ जो गहन वनोमे निवासकर तपोका अवगाहन करता है,उसके समवसरणमें तीन जगत्‌की जनताको स्थान देनेवाली अवगाहन गक्ति प्राप्त होती है॥१८७॥जो क्षेत्र-वास्तु आदिका परित्यागकर अपने गुद्ध आत्मरूप क्षेत्रज्ञताको प्राप्त करता है, उसके तीनों जगत्‌के क्षेत्रको स्वाधीन रखनेवाला परम ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥१८८॥ जो अपने आज्ञाभिमानको छोडकर मौनको धारण करता है,वह सुर-असुरोद्वारा गिरोधार्य परम आज्ञाको प्राप्त होता है ॥१८९॥जो अपने इष्टसेवक-बंधु आदि की सभा को छोडकर तप करता हैं, वह परम आप्तपद प्राप्त होनेपर त्रिजगत् की सभा (समवसरण) में विराजमान होता हैं॥१९०॥जो अपने गुणोंकी प्रगंसा करना छोडकर,इच्छा-रहित हो महान् तपश्चरण करता हैं और अपनी स्तुति-निन्दामे समान रहता है,उसका यग भुवनके ईश्वर इन्द्रादिकोद्वारा गाया जाता है ॥१९१॥जिसने वन्दनीय अर्हन्तकी वन्दना करके तपका अनुष्ठान किया है,वह अनिन्द्य (प्रगसनीय) गुणोका भण्डार वनकर वन्दनीय गणधरादि देवोके द्वारा वन्दना किया जाता है ॥१९२॥ जो पादत्राण (जूता) और वाहनका परित्यागकर और पादचारी वनकर तपश्चरण करता है, वह देव-स्थापित पद्मोके मध्य भागपर पाद-न्यासके योग्य होता है ॥१९३॥ जो वचन गुप्तिको धारणकर,अथवा हितकारिणी वाणी वोलता हुआ तपमे स्थित रहता है,उसके समस्त सभाको प्रसन्न करनेवाली दिव्यभाषा प्राप्त होती हैं ॥१९४॥ जो अनगन करके अथवा नियमित आहार और पारणाएँ करके तपको तपता है, उसके दिव्यतृप्ति, परमतृप्ति और अमृततृप्ति ये चारो ही तृप्तियाँ प्राप्त होती हैं॥१९५॥जो मुनि काम-जनित सुखको छोडकर चिरकाल तक तपमें स्थित रहता है, वह सुखस्वरूप होकर परमानन्द पदको प्राप्त करता है॥१९६॥इस विषयमें बहुत कुछ कहनेसे क्या लाभ है । संक्षेपमे इतना ही समझना चाहिए कि जो मुनि संकल्प-रहित होकर जिस जिस प्रकारकी वस्तुका त्याग करता है,उसका तपश्चरण उसी प्रकारकी उत्तम वस्तुको उत्पन्न

प्रात्पोत्कर्ष तदस्य स्यात्तपश्चिन्तामणे· फलम् । यतोऽर्हज्जातिमूर्त्यादिप्राप्तिः सैषाऽनुवर्णिता॥ १९८
जैनेश्वरीं परमाज्ञां सूत्रोद्दिष्टां प्रमाणयन् । तपस्यां यदुपाधत्ते पारिव्राज्यं तदाञ्जसम् ॥ १९९
अन्यैश्च वहुवाग्जाले निबद्ध युक्तिवाधितम् । पारिव्राज्य परित्यज्य ग्राह्य चेदमनुत्तरम् ॥ २००

इतिपारिव्राज्यम् ।

या सुरेन्द्रपदप्राप्तिः पारिव्राज्यफलोदयात् । सैषा सुरेन्द्रता नाम क्रिया प्रागनुवर्णिता ॥ २०१

इतिसुरेन्द्रता ।

साम्राज्यमाधिराज्यं स्याच्चक्ररत्नपुरःसरम् । निधि·रत्नसमुद्भूत भोगसम्पत्परम्परम् ॥ २०२

इतिसाम्राज्यम्।

आर्हन्त्यमर्हतो भावो कर्म वेति परा क्रिया । यत्र स्वर्गावतारादिमहाकल्याणसम्पद ॥ २०३
याऽसौ दिवोऽवतीर्णस्य प्राप्ति कल्याणसम्पदाम् । तदार्हन्त्यमिति ज्ञयं त्रैलोक्यक्षोभकारणम्॥२०४

इत्यार्हन्त्यम् ।

भवबन्धनमुक्तस्य यावस्था परमात्मनः । परिनिर्वृत्तिरिष्टा सा पर निर्वाणमित्यपि॥ २०५
कृत्स्नकर्ममलापायात् सशुद्धिर्याऽन्तरात्मनः ।
सिद्धि· स्वात्मोपलब्धि सा नाभावो न गुणोच्छिदा ॥ २०६

इतिनिर्वृत्तिः ।

इत्यागमानुसारेण प्रोक्ता. कर्त्रन्वयक्रिया· । सप्तैता. परमस्थानसङ्गतिर्यत्र योगिनाम् ॥ २०७
योऽनुतिष्ठत्यतन्द्रालुः क्रियाह्येतास्त्रिधोदिता।सोऽधिगच्छत् पर धाम यत्सम्प्राप्तो परं शिवम्॥२०८

कर देता है॥१९७॥ जिस तपश्चरणरूपी चिन्तामणिका फल परम उत्कर्षको प्राप्त कराना है और जिससे अर्हन्त देवकी जाति और मूर्ति आदिकी प्राप्ति होती है,ऐसी इस पारिव्राज्य क्रियाका वर्णन किया ॥१९८॥ जो आगमोक्त जैनेश्वरी परम आज्ञाको प्रमाण मानता हुआ तपस्याको धारण करता है,उसीके वास्तविक पारिव्राज्य क्रिया होती है ॥१९९॥ अन्य लोगोके द्वारा वहुतसे वचन जालमे निवद्ध और युक्तिसे वाधित पारिव्राज्यको छोडकर इस जैनेश्वरीय अनुपम पारिव्राज्यको ग्रहण करना चाहिए ॥२००॥ इसप्रकार यह तीसरी पारिव्राज्य क्रिया है। पारिव्राज्य धारण करनेके फलोदयसे जो सुरेन्द्रपदकी प्राप्ति होती हे,वही सुरेन्द्रता नामकी क्रिया है, जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है ॥२०१॥ यह चौथी सुरेन्द्रता क्रिया है। जिसमे चक्ररत्नके साथ निधियो और रत्नोसे उत्पन्न हुई भोगोपभोगरूप सम्पदाकी परम्परा प्राप्त होती है, ऐसा चक्रवर्तीका महान् राज्य साम्राज्य कहलाता है ॥२०२॥ यह पॉचवी साम्राज्य क्रिया है। अर्हत्परमेष्ठीके भाव या कर्मरूप जो उत्कृष्ट क्रिया है, उसे आर्हन्त्य क्रिया कहते है। इस क्रियामे स्वर्गावतार आदि पच महाकल्याणरूप सम्पदा प्राप्त होती है॥२०३॥ स्वर्गसे अवतीर्ण तीर्थंकरके जो कल्याणकरूप सम्पदाकी प्राप्ति होती है और त्रैलोक्यमे क्षोभका कारण है,उसे आर्हन्त्य क्रिया जाननी चाहिए ॥२०४॥ यहछठी आर्हन्त्य-क्रिया है। भववन्धनसे मुक्त हुए परमात्माकी जो अवस्था होनी है,उसे परिनिर्वृति कहते है, इसका दूसरा नाम परिनिर्वाण भी है॥२०५॥ समस्त कर्ममलके दूर हो जानेसे जो अन्तरात्माकी शुद्धि होती है, उसे सिद्धि कहते है। वह अपने आत्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप है। यह सिद्धि न अभावरूप है और न ज्ञानादि गुणोके उच्छेदरूप है ॥२०६॥यह सातवी परिनिर्वृति क्रिया है।इसप्रकार आगम-के अनुसार ये सात कर्त्रन्वय क्रियाएँ कही गई है। इन क्रियाओंका पालन करनेमे योगियोको परम

पुष्पिताग्रावृत्तम्

जिनमतविहितं पुराणधर्मं य इममनुस्मरति क्रियानिबद्धम् ।
अनुचरति च पुण्यधी. स भव्यो भवभयबन्धनमाशु निर्धुनाति ॥ २०९
परमजिनपदानुरक्तधीः भजति पुमान् य इमं क्रियाविधिम् ।
स धुतनिखिलकर्मबन्धनो जननजरामरणान्तकृद् भवेत् ॥ २१०

शार्दूलविक्रीडितम्

भव्यात्मा समवाप्य जातिमुचितां जातस्तत सद्गृही ।
पारिव्राज्यमनुत्तरं गुरुमतादासाद्य यातो दिवम् ।
तत्रैन्द्रीं श्रियमाप्तवान् पुनरतश्च्युत्वा गतश्चक्रिताम् ।
प्राप्तार्हन्त्यपदः समग्रमहिमा प्राप्नोत्यतो निर्वृतिम् ॥ २११

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे दीक्षाकर्त्रन्वय-क्रियावर्णनं नाम एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥ ३९ ॥

स्थानकी प्राप्ति होती हैं ॥२०७॥ जो भव्य अतन्द्रालु होकर इन तीनो प्रकारकी कही गई क्रियाओं-का अनुष्ठान करता हैं, वह उस परमधामको प्राप्त करता हैं, जिसके पानेपर परम शिव (सुख) प्राप्त होता है ॥२०८॥ जो पुण्यबुद्धि भव्यपुरुष इस जिनमत-कथित क्रियानिवद्ध पुरातन धर्मको सुनता हैं,स्मरण करता है और आचरण करता हैं, वह शीघ्र ही भवभयवन्धनको: नष्ट कर देता है ॥२०९॥ परम जिन-पदोमे अनुरक्त वुद्धिवाला जो पुरुष इस क्रियाविधिको पालता है,वह सकल कर्म-वन्धनसे रहित होकर जन्म, जरा और मरणका अन्त करता है ॥२१०॥ भव्यात्मा जीव प्रथम ही योग्य जाति पाकर सद्-गृहस्थ होता है,पुन: गुरुकी अनुज्ञानसे उत्कृष्ट पारिव्राज्यको प्राप्तकर स्वर्ग-को जाता है । वहाँ पद इन्द्रकी लक्ष्मीको पाता हैं । तदनन्तर वहांसे च्युत होकर चक्रवर्तीके पदको पाता हैं । पुन. अरहन्त पर पाकर समग्र महिमाका धारक होता है और तत्पश्चात् निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ २११ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिपष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमे दीक्षान्वय और, कर्त्रन्वयक्रियाओका वर्णन करनेवाला यह उन्चालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

चत्वारिंशत्तमं पर्व

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि क्रियासूत्तरचूलिकाम् । विशेषनिर्णयो यत्र क्रियाणां तिसृणामपि ।। १
तत्रादौ तावदुन्नेष्ये क्रियाकल्पप्रवलृप्तये । मन्त्रोद्धार क्रियासिद्धिः मन्त्राधीनाः हि योगिनाम् ।। २
आधानादिक्रियारम्भे पूर्वमेव निवेशयेत् । त्रीणिच्छात्राणि चक्राणां त्रयं त्रींश्च हविर्भुजः ।। ३
मध्येवेदि जिनेन्द्रार्चा स्थापयेच्च यथाविधि । मन्त्रकल्पोऽयमाम्नातस्तत्र तत्पूजनाविधौ ।। ४
नमोऽन्तो नीरजश्शब्दश्चतुर्थ्यन्तोऽत्र पठ्यताम् । जलेन भूमिबन्धार्थं परा शुद्धिस्तु तत्फलम् ।। ५

(नीरजसे नमः)

दर्भास्तरणसम्बन्धस्तत पश्चादुदीर्यताम् । विघ्नोपशान्तये दर्पमथनाय नम. पदम् ।। ६

(दर्पमथनाय नमः)

गन्धप्रदानमन्त्रश्च शीलगन्धाय वै नम । (शीलगन्धाय नम.)
पुष्पप्रदानमन्त्रोऽपि विमलाय नम पदम् ।। ७ (विमलाय नम.)
कुर्यादक्षतपूजार्थमक्षताय नम पदम् । (अक्षताय नमः)
धूपार्थे श्रुतधूपाय नम पदमुदाहरेत् ।। ८ (श्रुतधूपाय नम)
ज्ञानोद्योताय पूर्वं च दीपदाने नमः पदम् (ज्ञानोद्योताय नम)
मन्त्र परमसिद्धाय नम इत्यमृतोद्धृतौ ।। ९ (परमसिद्धाय नमः)

अब इससे आगे क्रियाओकी उत्तरचूलिका कहते है। इस उत्तरचूलिकामे तीनो प्रकारकी क्रियाओका विशेष निर्णय किया जायगा ।।१।। इस उत्तर चूलिकामे सर्वप्रथम क्रियाकल्पकी सिद्धिके लिए मंत्रोका उद्धार किया जायगा,क्योकि योगियोके भी क्रियाकी सिद्धि मत्रोके अधीन मानी गई है ।।२।। गर्भाधानादि क्रियाओके आरम्भमे सबसे पहिले तीन छत्र, तीन चक्र और तीनों अग्नियाँ स्थापित करना चाहिए ।।३।। वेदीके मध्यभागमे विधिपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा स्थापन करनी चाहिए । गर्भाधानादि क्रियाओके प्रारम्भमे छत्र,चक्र,अग्नि और जिन-पूजनके समय यह वक्ष्यमाण विधि मत्रकल्प माना गया है ।।४।। इन क्रियाओके करते समय जलसे भूमि शुद्धि करनेके लिए नीर-जस् शव्दको चतुर्थी विभक्ति लगाकर अन्तमे 'नम' पद बोलना चाहिए । अर्थात् 'नीरजसे नम' (कर्म-रजसे रहित जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो ।) यह मत्र बोलकर भूमिपर जल-सिचन करे। इस मत्रका फल भूमिका परम शुद्धि है ।।५।। तदनन्तर डाभका आसन ग्रहण करते हुए विघ्नोकी उप-शान्तिके लिए 'दर्पमथनाय नम' (अहकारके मथन करनेवाले जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो) यह पद बोलना चाहिए ।।६।। भूमिको गन्ध-समर्पण करते हुए'शीलगन्धाय नम'(शीलरूप सुगन्धको धारण करनेवाले जिनेन्द्र देवको नमस्कार हो) यह मत्र बोलना चाहिए। पुष्प-प्रदान करते समय 'विमलाय नम' (मल-रहित जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो)यह मत्र वोलना चाहिए ।।७।। अक्षतसे पूजा करनेके लिए 'अक्षताय नम'(क्षय-रहित जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो) यह मंत्र बोले । धूपसे पूजन करते समय 'श्रुतधूपाय नम'(सर्वत्र सुने जानेवाले यशरूप गन्धके धारक जिनेन्द्रको नमस्कार हो) यह मत्र बोले ।।८।। दीप चढाते समय 'ज्ञानोद्योताय नम (केवल ज्ञानरूप प्रकाशके धारक जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो) यह मत्र बोले । अमृतमय नैवेद्यके चढाते समय 'परम सिद्धाय नम.'

मन्त्रैरेभिस्तु संस्कृत्य यथावज्जगतीतलम् । ततोऽन्वक् पीठिकामन्त्रः पठनीयो द्विजोत्तमैः ॥ १०

पीठिकामन्त्र :— सत्यजातपदं पूर्वं चतुर्थ्यन्तं नमः परम् ।
ततोऽर्हज्जातशब्दश्च तदन्तस्तत्परो मतः ॥ ११

ततः परमजाताय नम इत्यपरं पदम् । ततोऽनुपमजाताय नम इत्यपरं पदम् ॥ १२
ततश्च स्वप्रधानाय नम इत्युत्तरो ध्वनिः । अचलाय नमः शब्दादक्षयाय नम परम् ॥ १३
अव्याबाधपदं चान्यदनन्तज्ञानशब्दनम् । अनन्तदर्शनानन्तवीर्यशब्दौ ततः पृथक् ॥ १४
अनन्तसुखशब्दश्च नीरजः शब्द एव च । निर्मलाच्छेद्यशब्दौ च तथाऽभेद्याजरश्रुती ॥ १५
ततोऽमरा प्रमेयोक्ती सागर्भावासशब्दने । ततोऽक्षोभ्याविलीनोक्ती परमादिर्घनध्वनि ॥ १६
पृथक्पृथगिमे शब्दास्तदन्तास्तत्परा मताः । उत्तराण्यनुसन्धाय पदान्येभिः पदैर्वदेत् ॥ १७
आदौ परमकाष्ठेति योगरूपाय वाक्परम् । नमः शब्दमुदीर्यान्ते मन्त्रविन्मन्त्रमुद्धरेत् ॥ १८

(सर्वोत्कृष्ट सिद्धपरमेष्ठीको नमस्कार हो) यह मंत्र बोले ॥९॥ इन मंत्रोके द्वारा भूमितलको विधि पूर्वक सस्कार-युक्त शुद्ध करके तत्पश्चात् उत्तम द्विजोको वक्ष्यमाण पीठिकामंत्र पढना चाहिए ॥१०॥ वे पीठिकामंत्र इस प्रकार हैं—पहले सत्यजात पदके अन्तमे चतुर्थी विभक्ति लगाकर अन्तमें 'नम' पद बोले—'सत्यजाताय नमः' (सत्यरूप जन्मके धारक जिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो) । पुन अर्हज्जात शब्दके अन्तमे चतुर्थी विभक्तिके साथ 'नम.' पद बोले— 'अर्हज्जाताय नम.' (पूज्य एव प्रशसनीय जन्मके धारक जिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो) ॥११॥ तत्पश्चात् 'परमजाताय नम' (उत्कृष्ट जन्मवाले जिनेन्द्रको नमस्कार हो) और 'अनुपमजाताय नम' (अनुपम जन्मवाले जिनेन्द्रको नमस्कार हो) इन पदोको बोले ॥१२॥ पुन. 'स्वप्रधानाय नम' (स्वयं ही प्रधानताको प्राप्त जिनेन्द्रको नमस्कार हो), 'अचलाय नम.' (स्वरूपमें अचल रहनेवाले देवको नमस्कार हो), और 'अक्षयाय नम' (अविनश्वर परमेश्वरको नमस्कार हो) इन पदोको वोले ॥१३ । तदनन्तर 'अव्यावाधाय नम.' (सर्व बाधाओंसे रहित देवको नमस्कार हो), 'अनन्त ज्ञानाय नम.' (अनन्त ज्ञानी देवको नमस्कार हो), 'अनन्त दर्शनाय नम.' (अनन्त दर्शनवाले देवको नमस्कार हो) और 'अनन्तवीर्याय नम' (अनन्त वीर्यके धारक देवको नमस्कार हो), इन पदोंको बोले ॥१४॥ पुन 'अनन्त सुखाय नम.' (अनन्त सुखके धारक देवको नमस्कार हो), 'नीरजसे नम' (कर्म-रजसे रहित देवको नमस्कार हो)' 'निर्मलाय नम' (पाप-मलसे रहित देवको नमस्कार हो), 'अछेद्याय नम' (जिनका किसी प्रकारसे छेदन नही किया जा सके ऐसे देवको नमस्कार हो), 'अभेद्याय नम' (किसी भी प्रकारसे भेदको नही प्राप्त होनेवाले देवको नमस्कार हो), और 'अजराय नम (वृद्धावस्थासे रहित देवको नमस्कार हो) इन पदोको वोले ॥१५॥ तदनन्तर 'अमराय नम' (मरणरहित देवको नमस्कार हो), 'अप्रमेयाय नम' (अल्पज्ञानीके अगम्य देवको नमस्कार हो), 'अगर्भवासाय नम' (गर्भ-वाससे रहित देवको नमस्कार हो), 'अक्षोभ्याय नम' (कभी किसीके द्वारा क्षोभित नहीं होनेवाले देवको नमस्कार हो), 'अविलीनाय नम.' (कभी विलयको नही प्राप्त होनेवाले देवको नमस्कार हो) और 'परम घनाय नम' (परम सघनताको प्राप्त देवके लिए नमस्कार हो) इन पदोको बोले ॥१६॥ इस प्रकार श्लोक-पठित 'अव्याबाध' आदि शब्दोंके साथ चतुर्थी विभक्ति लगाते हुए अन्त में 'नम' पदका प्रयोग करे । इसी प्रकार आगेके श्लोकोंमे कहे जानेवाले शब्दोंके साथ चतुर्थी विभक्ति लगाकर अन्तमे 'नम' बोले ॥१७॥ पुन मंत्रको जाननेवाला द्विज आदिमें परम-

लोकाग्रवासिने शब्दात्पर कार्यो नमो नम । एव परमसिद्धेभ्योऽर्हत्-सिद्धेभ्य इत्यपि ॥ १९
एवं केवलिसिद्धेभ्य· पदाद् भूयोऽन्तकृत्पदात् । सिद्धेभ्य इत्यमुष्माच्च परम्परपदादपि ॥ २०
अनादिपदपूर्वाच्च तस्मादेव पदात्परम् । अनाद्यनुपमादिभ्य सिद्धेभ्यश्च नमो नम. ॥ २१
इतिमन्त्रपदान्युक्त्वा पदानीमान्यत पठेत् । द्विरुक्त्वाऽऽमन्त्र्य वक्तव्य सम्यग्दृष्टिपदं तत ॥ २२
आसन्नभव्य शब्दश्च द्विर्वाच्यस्तद्वदेव हि । निर्वाणादिश्च पूजार्ह स्वाहान्तोऽग्नीन्द्र इत्यपि ॥ २३
काम्यमन्त्रः– तत स्वकाम्यसिद्ध्यर्थमिद पदमुदाहरेत् ।

सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु तत्परम् ॥ २४

अपमृत्युविनाशनं भवत्वन्तं पद भवेत् । भवत्वन्तमतो वाच्यं समाधिमरणाक्षरम् ॥ २५

चूर्णिः– सत्यजाताय नम , अर्हज्जाताय नम परमजाताय नम , अनुपमजाताय नमः, स्वप्रधानाय नम ,अचलाय नम अक्षयाय नम अव्याबाधाय नम , अनन्तज्ञानाय नमः, अनन्तदर्शनाय नम , अनन्तवीर्याय नमः अनन्तसुखाय नम , नीरजसे नम , निर्मलाय नम , अच्छेद्याय नम अभेद्याय नम.,अजराय नम ,अमराय नमः, अप्रमेयाय नम , अगर्भवासाय नम अक्षोभ्याय नम अविलीनाय नम , परमघनाय नम , परमकाष्ठायोगरूपाय नम , लोकाग्रवासिने नमो नमः, परमसिद्धेभ्यो नमो नम अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नम , केवलिसिद्धेभ्यो नमो नम ,अन्तकृद्सिद्धेभ्यो नमो नम ,परम्परसिद्धेभ्यो नम·, अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः, अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नमः ।

सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्य आसन्नभव्य निर्वाणपूजार्ह, निर्वाणपूजार्ह अग्नीन्द्र स्वाहा,सेवाफल षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।
पीठिकामन्त्र एष स्यात् पदैरेभि समुच्चितै । जातिमन्त्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतमनुक्रमात् ॥ २६

काष्ठ' और अन्तमे 'योगरूपाय' पदको जोडकर अन्तमे नम शब्दको बोले। अर्थात् 'परमकाष्ठयोगरूपाय नम '(चरम सीमाको प्राप्त योगस्वरूपवाले देवको नमस्कार हो)॥ १८॥इससे आगेके पदोके अन्तमे'नमो नम ' लगाकर बोलना चाहिए । यथा-'लोकाग्रवासिने नमो नम ' (लोक-शिखरपर निवास करनेवाले सिद्ध परमेष्ठीको वार-वार नमस्कार हो), 'परमसिद्धेभ्यो नमो नम '(परम सिद्ध भगवन्तोको बार-वार नमस्कार हो),'अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नम '(अरहन्त-सिद्धोको वार-वार नमस्कार हो) 'केवलिसिद्धेभ्यो नमो नम ' (केवली सिद्धोको वार-दार नमस्कार हो),'अन्तकृत्सिद्धेभ्यो नमो नम ' (अन्तकृत् केवली होकर सिद्ध होनेवाले सिद्धोको वार-वार नमस्कार हो), 'परम्परसिद्धेभ्यो नमो नम ' (परम्परासे हुए सिद्धोको वार-वार नमस्कार हो), अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमो नम ' (अनादि कालसे होनेवाले परम्परा-सिद्धोको नमस्कार हो), 'अनाद्यनुपम सिद्धेभ्यो नमो नम ' (अनादि कालसे हुए उपमा-रहित सिद्धोको वार-वार नमस्कार) । इन मन्त्रोको बोलकर वक्ष्यमाण पदोको सम्बोधनरूपसे दो-दो वार उच्चारण कर पढना चाहिए। यथा- "हे सम्यग्दृष्टे, हे सम्यग्दृष्टे, हे आसन्नभव्य, हे असन्नभव्य. हे निर्वाणपूजार्ह, हे निर्वाणपूजार्ह", बोलकर अन्तमे 'अग्नीन्द्र स्वाहा' वोले । (इस मन्त्रका अर्थ यह है-हे सम्यग्दृष्टि,हे निकट भव्य, हे निर्वाणपूजाके योग्य अग्निकुमार देवोके इन्द्र,तेरे लिए यह हव्य द्रव्य समर्पण करता हूँ ।) ॥१९-२३॥ तदनन्तर अपनी इष्टसिद्धिके लिए यह काम्य मन्त्र बोले-'सेवाफल षट् परमस्थान भवतु,

सत्यजन्मपदं तान्तमादौ शरणध्यत: । प्रपद्यामीति वाच्यं स्यादर्हज्जन्म पदं तथा ॥ २७
अर्हन्मातृपदं तद्वत्स्वन्मर्हत्सुताक्षरम् । अनादिगमनस्येति तथाऽनुपमजन्मन ॥ २८
रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामीत्यत परम् । बोद्ध्यन्तं च ततः सम्यग्दृष्टि द्वित्वेन योजयेत् ॥ २९
ज्ञानमूर्तिपदं तद्वत्सरस्वतिपद तथा । स्वाहान्तमन्ते वक्तव्यं काम्यमन्त्रश्च पूर्ववत् ॥ ३०

चूर्णिः— सत्यजन्मन शरणं प्रपद्यामि, अर्हज्जन्मन शरणं प्रपद्यापि, अर्हन्मान्तु शरण प्रपद्यामि, अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपजन्मन शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरण प्रपद्यामि,हे सम्यग्दृष्टे,हे सम्यग्दृष्टे, हे ज्ञानमूर्त्ते, हे ज्ञानमूर्त्ते, हे सरस्वति,हे सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थान भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु ।

जातिमन्त्रोऽयमाम्नातो जातिसस्कार कारणम् । मन्त्र निस्तारकादि च यथाम्नायमितो ब्रुवे ॥३१

निस्तारकमन्त्रः— स्वाहान्तं सत्यजाताय पदमादावनुस्मृतम् ।
तदन्तमर्हज्जाताय पदं स्यात्तदनन्तरम् ॥ ३२

ततः षट्कर्मणे स्वाहा पदमुच्चारयेत् द्विज । स्याद्ग्रामयतय स्वाहा पदं तस्मादनन्तरम् ॥ ३३
अनादिश्रोत्रियायेति ब्रूयाद् स्वाहापदं तत । तद्वच्च स्नातकायेति श्रावकायेति च द्वयम् ॥ ३४

हो, अपमृत्युका विनाश हो और समाधिमरण प्राप्त हो)॥२४-२५॥ ऊपर कहे गये सर्व (पीठिका) मंत्रोंका सग्रह मूलमे दिया गया है । ये सब पीठिकामत्र है। अव इससे आगे आगमानुसार अनुक्रमसे जाति मत्र कहेगे ॥२६॥ तान्त अर्थात् षष्ठी विभक्त्यन्त सत्यजन्म पदके आगे शरण और उसके आगे 'प्रपद्यापि' यह पद बोले, अर्थात् 'सत्यजन्मन. शरणं प्रपद्यामि' (मै सत्यरूप जन्मके धारक अरहन्त देवकी शरणको प्राप्त होता हूँ),तदनन्तर 'अर्हज्जन्मन शरणं प्रपद्यामि' (मै अरहन्तपद के योग्य जन्म लेनेवालेको शरणको प्राप्त होता हूँ)॥ २७ ॥ तत्पश्चात् अर्हन्मातृ पद,अर्हत्सुत पद, अनादि-गमन पद और अनुपम जन्म पदके आगे षष्ठी विभक्ति लगाकर 'शरण प्रपद्यामि' पद लगावे । तद्यथा—'अर्हन्मातु शरण प्रपद्यामि' (अरहन्त देवकी माताके शरणको प्राप्त होता हूँ), 'अर्हत्सु-तस्य शरणं प्रपद्यामि' (अरहन्त देवके पुत्रकी शरणको प्राप्त होता हूँ), 'अनादिगमनस्य शरण प्रपद्यामि' (अनादि-अनन्त ज्ञानके धारककी शरणको प्राप्त होता हूँ), और 'अनुपम जन्मन शरण प्रपद्यामि' (अनुपम जन्मके धारककी शरणको प्राप्त होता हूँ)॥२८॥ तदनन्तर 'रत्नत्रयस्य शरण प्रपद्यामि' (रत्नत्रय धर्मकी शरणको प्राप्त होता हूँ) यह मत्र बोले । पुन सम्यग्दृष्टि,ज्ञानमूर्त्ति और सरस्वतीके सम्बोधन विभक्तिवाले पदोको दो-दो वार वोलकर अन्तमे स्वाहा शब्दका उच्चारण करे । तद्यथा—'हे सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, ज्ञानमूर्त्ते, ज्ञानमूर्त्ते, सरस्वति सरस्वति स्वाहा (हे सम्य-ग्दृष्टि, ज्ञानमूर्त्ति सरस्वती देवि, मै तेरे लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ) । तत्पश्चात् काम्य मत्र पूर्वके ही समान पढना चाहिए ॥२९-३०॥ ऊपर कहे गये सर्व जाति मन्त्रोका सग्रह मूलमें दिया गया हैं । ये सब जाति मत्र सस्कारके कारण है । अव इससे आगे निस्तारक मत्र कहते है ॥ ३१ ॥ उनमे सर्वप्रथम 'सत्य जाताय स्वाहा' (सत्यरूप जन्मवाले देवके लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र स्मरण किया गया है। पुन 'अर्हज्जाताय स्वाहा' (अरहन्तरूप जन्म के धारक देवके लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोले ॥३२॥ पुन 'षट्कर्मणे स्वाहा' (देवपूजादि षट्कर्म करनेवालेके लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ), इस मन्त्रको द्विज उच्चारण करे। उसके पश्चात् 'ग्रामयतये स्वाहा' (ग्रामयतिके लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोले॥ ३३ ॥ तदनन्तर

स्याद्देवब्राह्मणायेति स्वाहेत्यन्तमत पदम् सुब्राह्मणाय स्वाहान्त स्वाहान्ताऽनुपमायगी ॥ ३५
सम्यग्दृष्टिपद चैव तथा निधिपतिश्रुतिम् । ब्रूयाद् वैश्रवणोक्ति च द्विःस्वाहेति तत. परम् ॥ ३६
काम्यमन्त्रमतो ब्रूयाद् पूर्ववन्मन्त्रविद् द्विज । ऋषिमन्त्रमितो वक्ष्ये यथाऽऽहोपासकश्रुति ॥ ३७

चूर्णिः— सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामयतये स्वाहा, अनादि-श्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे, सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा, सेवाफल षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्यु विनाशनं भवतु, समाधिमरण भवतु ।

ऋषिमन्त्रः— प्रथमं सत्यजाताय नमः पदमुदीरयेत् ।
गृह्णीयादर्हज्जाताय नम शब्द ततः परम् ॥ ३८
निर्ग्रन्थाय नमो वीतरागाय नम इत्यपि । महाव्रताय पूर्वं च नम पदमनन्तरम् ॥ ३९
त्रिगुप्ताय नमो महायोगाय नम इत्यत । ततो विविधयोगाय नम इत्यनुपठ्यताम् ॥ ४०
विविधर्द्धिपद चास्मान्नमः शब्देन योजितम् । ततोऽङ्गधर पूर्वञ्च पठेत् पूर्वधरध्वनिम् ॥ ४१
नमः शब्दपरौ चेतौ चतुर्थ्यन्त्यावनुस्मृतौ । ततो गणधरायेति पदं युक्तनम.पदम् ॥ ४२
परमर्षिभ्य इत्यस्मात्पर वाच्य नमो नम । ततोऽनुपमजाताय नमो नम इतीरयेत् ॥ ४३
सम्यग्दृष्टिपदं चान्ते बोध्यन्त द्विरुदाहरेत् । ततो भूपतिशब्दश्च नागरोपपद पति ॥ ४४

अनादि श्रोत्रियाय स्वाहा' (अनादिकालिक श्रुत के अध्येताको यह हव्य समर्पण करता हूँ) । तदनन्तर 'स्नातकाय स्वाहा' (स्नातक अर्हन्तके लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ), 'श्रावकाय स्वाहा' (श्रावकके लिए हव्य समर्पण करता हूँ), ये दो मन्त्र बोले ॥३४॥ तत्पश्चात् 'देवब्राह्मणाय स्वाहा' (देव ब्राह्मणके लिए हव्य समर्पण करता हूँ), 'सुब्राह्मणाय स्वाहा' (सुब्राह्मणके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) और 'अनुपमाय स्वाहा' (अनुपम देवके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) ये पद बोलना चाहिए ॥३५॥ तदनन्तर सम्यग्दृष्टि, निधिपति और वैश्रवण शब्दका दो दो बार सम्बोधन कर अन्तमे स्वाहा पद बोले । यथा—'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, निधिपते निधिपते, वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा' (हे सम्यग्दृष्टि और निधियोके स्वामी कुबेर, मै तुम्हे यह हव्य समर्पण करता हूँ) ॥३६॥ तत्पश्चात् मन्त्रवेत्ता द्विज पूर्ववत् काम्यमन्त्र बोले । उपर्युक्त सर्व निस्तारकमन्त्रोका सग्रह मूलमे दिया गया है । अब इससे आगे उपासकाध्ययनशास्त्रके अनुसार ऋषिमन्त्र कहता हूँ ॥३७॥ वे ऋषिमन्त्र इस प्रकार है-प्रथम ही 'सत्यजाताय नम ' (सत्यजन्मके धारक जिनदेवको नमस्कार हो) यह पद बोले । तत्पश्चात् 'अर्हज्जाताय नम ' 'अर्हन्तरूप जन्मके धारक देवको नमस्कार हो), इस पदका उच्चारण करे ॥३८॥ तदनन्तर 'नर्ग्रन्थाय नम '(निर्ग्रन्थगुरुको नमस्कार हो) 'वीतरागाय नम ' (वीतराग देवको नमस्कार हो), 'महाव्रताय नम (महाव्रत-धारी को नमस्कार हो), 'त्रिगुप्ताय नम '(तीन गुप्तियोके धारकको नमस्कार हो) 'महायोगायनम '(महान् योगके धारकको नमस्कार हो), और 'विविधयोगाय नम '(अनेक प्रकारके योगोके धारकको नमस्कार हो), ये मन्त्र पढना चाहिए ॥३९-४०॥ पुन विविधर्द्धि आदि शब्दोकी चतुर्थी विभक्तिके साथ 'नम ' पद बोले-'विविधर्द्धये नम ' (विविध ऋद्धियोके धारकके लिए नमस्कार हो), तदनन्तर 'अगधराय नम ' (अगोके पारगामीको नमस्कार हो), 'पूर्वधराय नम ' (पूर्व धारियोको नमस्कार हो), और 'गणधराय नम '(गणधरदेवके लिए नमस्कार हो ॥४१-४२॥ पुन 'परमर्षिभ्य 'इस पदमे परे

द्विर्वाच्यौ ताविमौ शब्दौ बोध्यन्तौ मन्त्रवेदिभिः । मन्त्रशेषोऽप्ययं तस्मादनन्तरमुदीर्यताम् ॥ ४५
कालश्रमणशब्दं च द्विरुक्त्वाऽऽमन्त्रणे ततः । स्वाहेति पदमुच्चार्य प्राग्वत्काम्यानि चोद्धरेत् ॥ ४६
चूर्णिः— सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, निर्ग्रन्थाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविधयोगाय नमः, विविधर्द्धये नमः, अङ्गधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमर्षिभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु । अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।
मुनिमन्त्रोऽयमाम्नातो मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । वक्ष्ये सुरेन्द्रमन्त्रं च यथा स्साहर्षभी श्रुतिः ॥ ४७
प्रथमं सत्यजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततः स्यादर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्परं पदम् ॥ ४८
ततश्च दिव्यजाताय स्वाहेत्येवमुदाहरेत् । ततो दिव्यार्चजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् ॥ ४९
ब्रूयाच्च नेमिनाथाय स्वाहेत्येतदनन्तरम् । सौधर्माय पदं चास्मात्स्वाहोक्त्यन्तमनुस्मरेत् ॥ ५०
कल्पाधिपतये स्वाहापदं वाच्यमतः परम् । भूयोऽप्यनुचरायादि स्वाहाशब्दमुदीरयेत् ॥ ५१
ततः परम्परेन्द्राय स्वाहेत्युच्चारयेत्पदम् । सम्पेठदहमिन्द्राय स्वाहेत्येतदनन्तरम् ॥ ५२
ततः परमार्हताय स्वाहेत्येतत् पदं पठेत् । ततोऽप्यनुपमायेति पदं स्वाहापदान्वितम् ॥ ५३

'नमो नमः' पद कहना चाहिए । अर्थात् 'परमर्षिभ्यो नमो नमः' (परमऋषियोंको बार-बार नमस्कार हो) । तत्पश्चात् 'अनुपमजाताय नमोनमः' (अनुपम जन्मके धारक जिनदेवको नमस्कार हो) यह मन्त्र बोले ॥४३॥ अन्तमें मन्त्रवेत्ता लोक सम्बोधन विभक्त्यन्त सम्यग्दृष्टि, भूपति, नगरपति और कालश्रमण इन पदोंको दो-दो बार बोलकर अन्तमें स्वाहा पदका उच्चारण करे । यथा-'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, भूपते भूपते, नगरपते नगरपते, कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा' (हे सम्यग्दृष्टि, भूपति, नगरपति, कालश्रमण, मैं तेरे लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ ।) पश्चात् पूर्ववत् काम्यमन्त्र पढ़े ॥४४-४६॥ उपर्युक्त सर्व ऋषिमन्त्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है । ये सर्वऋषिमन्त्र तत्त्वदर्शी ऋषियोंने कहे हैं । अब आगे ऋषभदेव-प्रणीत श्रुतिके अनुसार सुरेन्द्र मन्त्रों को कहता हूँ॥४७॥ सर्वप्रथम ही 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्यजन्म लेनेवाले को हव्य समर्पण करता हूँ) यह मन्त्रपद बोले । तदनन्तर 'अर्हज्जाताय स्वाहा' अर्हन्तके योग्य जन्म लेनेवालेको हव्य समर्पणकरता हूँ।) यह परम पद पढना चाहिए ॥४८॥ पुनः 'दिव्यजाताय स्वाहा' (दिव्य जन्म लेनेवालेको हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद बोले । पुनः 'दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा' (दिव्य तेज स्वरूप जन्म लेनेवालेको हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद पढे ॥४९॥ तदनन्तर 'नेमिनाथाय स्वाहा' (नेमिनाथके लिए, अथवा धर्मचक्रकी धुरीके स्वामी जिनदेवके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोले । इसके पश्चात् 'सौधर्माय स्वाहा' (सौधर्मेन्द्रके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) इस पद का स्मरण करे ॥५०॥ पुनः 'कल्पाधिपतये स्वाहा' (स्वर्गके अधिपतिके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद बोलना चाहिए। पुनः 'अनुचराय स्वाहा' (इन्द्र के अनुचरके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद उच्चारण करे ॥५१॥ तत्पश्चात् 'परम्परेन्द्राय स्वाहा' (परम्परासे होनेवाले इन्द्रवर्गके लिए हव्य समर्पण करता हूँ यह पद बोले । तदनन्तर 'अहमिन्द्राय स्वाहा' (अहमिन्द्रवर्गके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद पढे ॥५२॥ पुनः 'परमार्हताय स्वाहा' (परम आर्हन्तके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद पढे । तदनन्तर 'अनुपमाय स्वाहा' (उपमा-रहित देवके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह

सम्यग्दृष्टिपद चास्माद् बोध्यन्तं द्विरुदीरयेत् । तथा कल्पपतिं चापि दिव्यमूर्ति च सम्पठेत् ।।५४
द्विर्वाच्यं वज्रनामेति तत स्वाहेति सहरेत् । पूर्ववत् काम्यमन्त्रोऽपि पाठ्योऽस्यान्ते त्रिभिः पदैः ।।५५

चूर्णि:— सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परेंद्राय स्वाहा, अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा । सेवाफल षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशन भवतु, समाधिमरण भवतु—

सुरेन्द्रमन्त्र एष. स्यात् सुरेन्द्रस्यानुतर्पणम् । मन्त्र परमराजादि वक्ष्यामीतो यथाश्रुतम् ।। ५६
प्रागत्र सत्यजाताय स्वाहेत्येतत् पद पठेत् । तत स्यादर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्परं पदम् ।। ५७
ततश्चानुपमेन्द्राय स्वाहेत्येतत्पद मतम् । विजयार्च्यादिजाताय पदं स्वाहान्तमन्वत ।। ५८
ततोऽपि नेमिनाथाय स्वाहेत्येतत्पद पठेत् । तत परमराजाय स्वाहेत्येतदुदाहरेत् ।। ५९
परमार्हताय स्वाहा पदस्मात्पर पठेत् । स्वाहान्तमनुपायोक्तिरतो वाच्या द्विजन्मभिः ।। ६०
सम्यग्दृष्टिपद चास्माद् बोध्यन्तं द्विरुदीरयेत् उग्रतेज पदं चैव दिशाञ्जयपदं तथा ।। ६१
नेम्यादिविजयं चैव कुर्यात स्वाहापदोत्तरम् । काम्यमन्त्रं च तं ब्रूयात् प्राग्वदन्ते पदैस्त्रिभिः ।।६२

चूर्णि:— सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा विजयार्च्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमराजाय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेज. उग्रतेज दिशांजय दिशांजय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा, सेवाफल षट्परम—स्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशन भवतु, समाधिमरण भवतु ।

पद बोले ।।५३।। तत्पश्चात् सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पद दो बार बोले, तथा कल्पपति और दिव्य—मूर्ति पद भी सम्बोधनान्त दो-दो बार बोले । पुन वज्रनामन् शब्द भी दो बार उच्चारणकरे । यथा—'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, कल्पपते कल्पपते, दिव्यमूर्त्ते, दिव्यमूर्त्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा' (हे सम्यग्दृष्टि, हे स्वर्गाधिपति, हे दिव्यमूर्त्ति, हे वज्रनामन्, मै तेरे लिए हव्य समर्पण करता हूँ) इस मत्रके पश्चात् अन्तमे तीन पदो के द्वारा काम्यमन्त्र पढना चाहिए ।।५४-५५।। इन सर्वमन्त्रो का सग्रह मूलमे दिया हुआ है । यह सुरेन्द्रको तृप्त करनेवाला सुरेन्द्रमन्त्र है । अब इससे आगे शास्त्रोके अनुसार परमराजादिमन्त्र कहते हे ।।५६।। इन मन्त्रोमे सर्वप्रथम 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्य जन्मके धारण करनेवालेको हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद पढे । पुन 'अर्हज्जाताय स्वाहा' (अरहन्त-पदके योग्य जन्म धारण करनेवालेको हव्य समर्पण करता हूँ । यद पद पढे ।। ५७ ।। तत्पश्चात् 'अनुपमेन्द्राय स्वाहा' (अनुपम इन्द्रके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यद पद कहे । पुन 'विजयार्च्य-जाताय स्वाहा' (विजययुक्त पूज्य जन्मवाले को हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद उच्चारण करे ।।५८।। तदनन्तर 'नेमिनाथाय स्वाहा' (नेमिनाथके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद पढे । पुन. 'परमजाताय स्वाहा' (सर्वोत्तम जन्म-धारकके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद बोले ।।५९।। इसके पश्चात् 'परमार्हताय स्वाहा' (परम आर्हताके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद पढे । इसके पश्चात् 'अनुपमाय स्वाहा' (उपमारहित देव के लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद द्विजो-को बोलना चाहिए ।। ६० ।। तदनन्तर सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पद दो बार बोले, तथा उग्रतेज. पद, दिशाजय पद और नेमिविजय पद दो-दो बार बोलकर अन्तमे स्वाहा पदका उच्चारण करे ।

मन्त्र परमराजादिर्मतोऽयं परमेष्ठिनाम् । परं मन्त्रमितो वक्ष्ये यथाऽऽह परमा श्रुति ॥ ६३
तत्रादौ सत्यजाताय नमः पदमुदीरयेत् । वाच्य ततोऽर्हज्जाताय नम इत्युत्तरं पदम् ॥ ६४
तत परमजाताय नम पदमुदाहरेत् । परमार्हतशब्दंच चतुर्थ्यन्तं नमः परम् ॥ ६५
तत परमरूपाय नमः परमतेजसे । नम इत्युभयं वाच्यं पदमध्यात्मदर्शिभिः ॥ ६६
परमादिगुणायेति पदं चान्यन्नमोयुतम् । परमस्थानशब्दश्च चतुर्थ्यन्तो नमोऽन्वित. ॥ ६७
उदाहार्यं क्रमं ज्ञात्वा तत परमयोगिने । नम परमभाग्याय नम इत्युभय पदम् ॥ ६८
परमर्द्धिपदं चान्यच्चतुर्थ्यन्त नम. परम् । स्यात्परमप्रसादाय नम इत्युत्तरं पदम् ६९
स्यात्परमकाङ्क्षिताय नम इत्यत उत्तरम् । स्यात्परमविजयाय नम. इत्युत्तरं वचः ॥ ७०
स्यात्परमविज्ञानाय नमो वाक्तदनन्तरम् । स्यात्परमदर्शनाय नम पदमतः परम् ॥ ७१
तत. परमवीर्याय पदं चास्मान्नमः परम् । परमादि सुखायेति पदमस्मादनन्तरम् ॥ ७२
सर्वज्ञाय नमो वाक्यमर्हते नम इत्यपि । नमो नम पदं चास्मात्स्यात्परं परमेष्ठिने ७३

यथा-'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, उग्रतेज उग्रतेज , दिशाजय दिशाजय, नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा' (हे सम्यग्दृष्टि, हे उग्रतेजोधारक, हे दिशाओके जीतनेवाले,हे नेमिविजय, मै तुम्हारे लिए हव्य समर्पण करता हूँ) । तत्पश्चात् पूर्वके समान ही तीन पदोके द्वारा काम्यमत्र बोले ॥६१-६२॥ इन परमराजादि मंत्रोका संग्रह मूलमे दिया गया है । ये परमराजादि मत्र माने गये है। अब आगे परमेष्ठियोके अन्य मंत्र जिस प्रकारसे परमागममें कहे गये है,उसी प्रकारसे कहते है॥६३॥ उनमेंसे सबके आदिमे 'सत्यजाताय नम '(सत्यरूप जन्मवालेके लिए नमस्कार हो) यह पद बोले । तत्पश्चात् 'अर्हज्जाताय नम.' (अर्हन्तके योग्य जन्म-धारकके लिए नमस्कार हो)यह पद कहे॥६४॥ तदनन्तर 'परमजाताय नम ' (उत्तम जन्म लेनेवालेके लिए नमस्कार हो) यह पद बोले। पुन चतुर्थीविभक्त्यन्त परमार्हत शब्दके अन्तमे 'नम 'पद लगाकर 'परमार्हताय नम ' (परम आर्हतके लिए नमस्कार हो) यह मत्र पढे ॥६५॥ पुन 'परमरूपाय नम ' (उत्कृष्ट निर्ग्रन्थरूपके धारकको नमस्कार हो) और 'परमतेजसे नम ' (परम तेजस्वी देव को नमस्कार हो) ये दोनो मत्रपद अध्यात्मदर्शी द्विजो को बोलना चाहिए ॥६६॥ पुन नम. शब्दके साथ परमगुणाय,अर्थात् 'परमगुणाय नम.' (उत्तमगुणवालेके लिए नमस्कार हो) यह मत्र कहे । तत्पश्चात् नम पदके साथ चतुर्थीविभक्त्यन्त परमस्थान पद कहे, अर्थात् 'परमस्थानाय नम ' (मोक्षरूप परमस्थानके लिए नमस्कार हो) ॥६७॥ तदनन्तर मत्रक्रम को जानकर 'परमयोगिने नम ' (परमयोगीके लिए नमस्कार हो) और 'परमभाग्याय नम ' (परमभाग्यशाली तीर्थंकर देवके लिए नमस्कार हो)इन दोनो मत्रपदोको बोले ॥६८॥ पुन चतुर्थीविभक्त्यन्त परमर्द्धिपदके आगे नम. पद लगाकर परमर्द्धये नम ' (परमऋद्धि-धारकके लिए नमस्कार हो,और 'परमप्रसादाय नम ' (उत्तमप्रसन्नताके धारकके लिए नमस्कार हो) ये दो मत्र पढे॥६९॥ पुन 'परमकाक्षिताय नम '(परम आनन्द की आकाक्षा वाले को नमस्कार हो)और 'परमविजयाय नम ' (कर्मशत्रुओ पर परम विजय पानेवालेके लिए नमस्कार हो) ये दो मत्र बोले ॥७०॥तदनन्तर 'परमविज्ञानाय नम ' (परमविज्ञानशाली के लिए नमस्कार हो) और पुन 'परमदर्शनाय नम '(अनन्त दर्शन गुणवालेके लिए नमस्कार हो) ये पद पढे॥७१॥ तत्पश्चात् 'परमवीर्याय नम.' (अनन्तवलशालीके लिए नमस्कार हो) और तदनन्तर 'परम सुखाय नम.' परमसुखके धारकको नमस्कार हो) ये मत्र कहे ॥७२॥ पुन. 'सर्वज्ञाय नम '

परमादिपदान्नेत्र इत्यस्माच्च नमो नम । सम्यग्दृष्टिपदं चान्ते बोध्यन्तं द्वि प्रयुज्यताम् ।। ७४
द्वि· स्तां त्रिलोकविजयधर्ममूर्तिपदे तत· । धर्मनेमिपद वाच्य द्वि· स्वाहेति ततः परम् ।। ७५
काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात्पूर्ववद्विधिवद्द्विज । काम्यसिद्धिप्रधाना हि सर्वे मन्त्रा स्मृता बुधै ।। ७६

चूर्णिः– सत्यजाताय नम , अर्हज्जाताय नम , परमजाताय नम परमार्हताय नम·, परमरूपाय नम परमतेजसे नम , परमगुणाय नमः,परमस्थानाय नम·, परमयोगिने नम परमभाग्याय नम , परमर्द्धये नम , परमप्रसादाय नम , परमकाङ्क्षिताय नम परम-विजयाय नम , परमविज्ञानाय नम , परमदर्शनाय नम· परमवीर्याय नम , परमसुखाय नम , सर्वज्ञाय नम , अर्हते नम , परमेष्ठिने नमोनम , परमनेत्र नमोनम . सम्यग्दृष्टे, सम्यग्दृष्टे त्रिलोकविजय धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा । सेवाफल षट्परम-स्थान भवतु अपमृत्युविनाशनंभवतु. समाधिमरणं भवतु ।

एते तु पीठिकामन्त्रा सप्त ज्ञेया द्विजोत्तमैः । एतै सिद्धार्चनं कुर्यादाधानादिक्रियाविधौ ।। ७७
क्रियामन्त्रास्त एते स्युराधानादिक्रियाविधौ सूत्रे गणधरोद्धार्ये यान्ति साधनमन्त्रताम् ।। ७८
सन्ध्यास्वग्नित्रये देवपूजने नित्यकर्मणि । भवन्त्याहुतिमन्त्राश्च त एते विधिसाधिता· ।। ७९
सिद्धार्चासन्निधौ मन्त्रान् जपेदष्टोत्तर शतम् । गन्धपुष्पाक्षतार्घादिनिवेदनपुर सरम् ।। ८०
सिद्धविद्यस्ततो मन्त्रैरेभि कर्म समाचरेत् । शुक्लवासा शुचिर्यज्ञोपवीत्यव्यग्रमानस ।। ८१
त्रयोऽग्नय प्रणेया स्युः कर्मारम्भे द्विजोत्तमै· । रत्नत्रितयसङ्कल्पादग्नीन्द्रमुकुटोद्भवा ।। ८२
तीर्थकृद्गणभृच्छेषकेवल्यन्तमहोत्सवे । पूजाङ्गत्वं समासाद्य पवित्रत्वमुपागताः ।। ८३

(सर्वज्ञके लिए नमस्कार हो),'अर्हते नम ' (अरहन्तदेवके लिए नमस्कार हो) और 'परमेष्ठिनेनमोनम (परमेष्ठीके लिए बार-बार नमस्कार हो) ये मत्र बोले ।।७३।।तत्पश्चात् 'परमनेत्रे नमो नम ' (उत्तम नेताके लिए वार-वार नमस्कार हो),यह मत्र बोले । पुन सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पद दो वार प्रयोग करे।।७४।।इसी प्रकार त्रिलोकविजय,धर्ममूर्त्तिऔर धर्मनेमि पद भी चतुर्थीविभक्तिके साथ दो-दोवार वोलकर अन्तमे स्वाहा शब्द कहे । यथा–'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे,त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय,धर्म-मूर्त्ते-धर्ममूर्त्ते,धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाह ' (हे सम्यग्दृष्टि, हे त्रिलोकविजयी, हे धर्ममूर्त्ति, हे धर्मप्रवर्तक, मै तेरे लिए यह समर्पण करता हूँ।।७५।। इसके पश्चात् द्विज विविधत् पूर्वके समान काम्यमत्र बोले,क्योकि विद्वज्जनो ने सभी मत्रोको अभीष्ट सिद्धि-प्रधान माना है।।७६।।इन सर्व परमेष्ठी मत्रो-का सग्रह मूलमे दिया गया है । उत्तम ब्राह्मणोको ये उपर्युक्त सात पीठिकामत्र जानना चाहिए । गर्भाधानादि क्रियाओकी विधि करते समय इन मत्रोसे सिद्ध भगवान्का पूजन करे।।७७।। गर्भा-धानादि क्रियाओंकी विधि करनेमे ये पीठिकामत्र क्रियामत्र कहलाते हैं और गणधर-प्रतिपादित सूत्रमे ये ही साधनमत्रपनेको प्राप्त हो जाते है ।।७८।। विधिपूर्वक सिद्ध किये हुए ये ही मत्र तीनो सन्ध्याओ के समय तीनो अग्नियोमे देव-पूजनरूप नित्यकर्म करते समय आहुतिमत्र कहे जाते है ।।७९।। सिद्ध-प्रतिमाके समीप गन्ध,पुष्प,अक्षत,और अर्घ आदि समर्पण कर एक सौ आठ वार इन मत्रोका जप करना चाहिए ।।८०।। तत्पश्चात् विद्याकी सिद्धिको प्राप्त, श्वेत वस्त्र और यज्ञो-पवीतका धारक द्विज निराकुल चित्त होकर इन मत्रोके द्वारा अन्य क्रियाओको करे।।८१।। गर्भाधानादि क्रियाओ के प्रारम्भ मे उत्तम द्विज रत्नत्रयके सकल्प से अग्निकुमार देवोके इन्द्रके मुकुटसे उद्भूत तीन अग्नियोको उत्पन्न करे।।८२।।ये तीनों ही महा अग्नियाँ तीर्थंकर, गणधर और

कुण्डत्रये प्रणेतव्यास्त्रय एते महाग्नयः । गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निप्रसिद्धय ॥ ८४
अस्मिन्नग्नित्रये पूजां मन्त्रै कुर्वन् द्विजोत्तम. । आहिताग्निरिति ज्ञेयो नित्येज्या यस्य सद्मनि॥८५
हविष्पाके च धूपे च दीपोद्बोधनसविधौ । वन्हीनां विनियोग: स्यादमीषां नित्यपूजने ॥ ८६
प्रयत्नेनाभिरक्ष्यं स्यादिदमग्नित्रय गृहे । नैव दातव्यमन्येभ्यस्तेऽन्ये ये स्युरसस्कृता ॥ ८७
न स्वतोऽग्नेः पवित्रत्व देवतारूपमेव वा । किन्त्वर्हद्दिव्यमूर्तीज्यासम्बन्धनात् पवनोऽनल ॥ ८८
तत पूजाङ्गतामस्य मत्वार्चन्ति द्विजोत्तमा । निर्वाणक्षेत्रपूजावत्तत्पूजाऽतो न दुष्यति ॥ ८९
व्यवहारनयापेक्षा तस्येष्टा पूज्यता द्विजैः । जैनैरध्यवहार्योऽयं नयोऽद्यत्वेऽग्रजन्मभि ॥ ९०
साधारणास्त्विमे मन्त्राः सर्वत्रैव क्रियाविधौ । यथा सम्भवमुन्नेष्ये विशेषविषयाश्च तान् ॥९१

गर्भाधानमन्त्रा:—

सज्जातिभागी भव सद्गृहिभागी भवेति च । पदद्वयमुदीर्यादौ पदानीमान्यत पठेत् ॥ ९२
आदौ मुनीन्द्रभागीति भवेत्यन्ते पदं वदेत् । सुरेन्द्रभागो परमराज्यभागीति च द्वयम् ॥ ९३
आर्हन्त्यभागी भवति पदमस्मादनन्तरम् । तत परमनिर्वाणभागी भव पदं भवेत् ॥ ९४
आधाने मन्त्र एषः स्यात् पूर्वमन्त्रपुर सर । विनियोगश्च मन्त्राणां यथाम्नाय प्रदर्शित ॥ ९५

चूर्णि:— सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्यभागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाण भागी भव । (आधान मन्त्र)

सामान्यकेवलीके अन्तिम निर्वाणमहोत्सव मे पूजाका अग बनकर पवित्रता को प्राप्त हुई है ॥८३॥ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि नाम से प्रसिद्ध तीनों अग्नियो को तीन कुण्डो मे स्थापित करना चाहिए ॥८४॥ इन तीनो प्रकारकी अग्नियोमे मत्रोके द्वारा पूजा करने वाला पुरुष द्विजोत्तम कहलाता है और जिसके घर इस प्रकारकी पूजा नित्य होती है वह आहिताग्नि या अग्निहोत्री ब्राह्मण जानना चाहिए । ८५॥ नित्य पूजन करते समय इन तीनों प्रकारकी अग्नियोका विनियोग क्रमश नैवेद्यके पकानेमे, धूपखेनेमे और दीपक जलानेमे होता है ॥८६॥बडे प्रयत्नके साथ इन तीनो अग्नियोकी घरमे रक्षा करे और जो क्रिया-सस्कारसे रहित है, ऐसे अन्य लोगो को यह अग्नि कभी नही देना चाहिए ॥८७॥ अग्निमे स्वत पवित्रता नही है और न वह देवतारूप ही है । किन्तु अरहन्तदेवकी दिव्यमूर्त्तिकी पूजाके सम्बन्धसे अग्नि पवित्र मानी गई है ॥८८॥ अतएव द्विजोत्तम लोक इसे पूजाका अग मानकर इसकी पूजा करते है और इसी कारणसे निर्वाणक्षेत्रकी पूजाके समान अग्निकी पूजा करनेमे कोई दोप नही है ॥८९॥ व्यवहारनय की अपेक्षा द्विजोको अग्निकी पूज्यता इष्ट हैं, इसलिए द्विजन्मा जैनोको यह नय आज के समयमे व्यवहार करनेके योग्य है॥९०॥ये ऊपर कहे हुए सर्वमंत्र सभी क्रियाविधिमे साधारण है । अब आगे विशेष क्रिया-विषयक मंत्रोको यथा सम्भव कहता हूँ ॥९१॥ गर्भधान क्रियाके मंत्र इस प्रकार है—यह गर्भस्थ जीव 'सज्जाति भागी भव' (उत्तम जातिका धारण करनेवाला हो), 'सद्-गृहिभागी भव' (सद् गृहस्थ पदका धारक हो), पहले इन दोनो मत्रपदोको वोलकर तत्पश्चात् इन मत्रपदोको पढे ॥९२॥ प्रथम 'मुनीन्द्रभागी भव' (महामुनि-पदको प्राप्त करनेवाला हो) यह पद वोले । तत्पश्चात् 'सुरेन्द्रभागी भव' (इन्द्रपदका भोक्ता हो). तथा 'परमराज्यभावी भव' (उत्कृष्टराज्यका स्वामी हो) इन पदोको वोले ॥ ९३ ॥ तदनन्तर 'आर्हन्त्यभागी भव' (अर्हन्तपदका धारक हो) यह पद पढे । तत्पश्चात् 'परमनिर्वाणभागी भव' (परम मोक्षका पानेवाला हो) यह पद बोले ॥९४॥ गर्भाधानक्रियामे पूर्वोक्त पीठिका मन्त्रोके साथ

स्यात्प्रीतिमन्त्रस्त्रैलोक्यनाथो भवपदादिक । त्रैलोक्यज्ञानी भव त्रिरत्नस्वामी भवेत्ययम् ।। ९६

चूर्णिः— त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैलोक्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव । (प्रीतिमन्त्र)

मन्त्रोऽवतारकल्याणभागी भवपदादिक । सुप्रीतौ मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणवाक्पर ।। ९७
भागी भव पदोपेतस्ततो निष्क्रांतिवाक्पर । कल्याणमध्यमो भागी भवेत्येतेन योजितः ।। ९८
ततश्चार्हन्त्यकल्याणभागी भवपदान्वितः । तत परमनिर्वाणकल्याणपदसङ्गत ।। ९९
भागी भवपदान्तश्च क्रमाद्वाच्यो मनीषिभि । धृतिमन्त्रमितो वक्ष्ये प्रेत्या शृणुत भो द्विजा।।१००

चूर्णिः— अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव । (सुप्रीतिमन्त्र)

धृतिक्रियामन्त्रः—

आधानमन्त्र एवात्र सर्वत्राहितदातृवाक् । मध्ये यथाक्रमं वाच्यो नान्यो भेदोऽत्र कश्चन ।। १०१

चूर्णिः— सज्जातिदातृभागी भव,सद्गृहिदातृभागी भव,मुनीन्द्रदातृभागी भव,सुरेन्द्रदातृभागीभव परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यपददातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव । (धृतिक्रियामन्त्रः)

मोदक्रियामन्त्रः—

मन्त्रो मोदक्रियायां च मतोऽय मुनिसत्तमं । पूर्वं सज्जातिकल्याणभागी भव पद वदेत् ।। १०२
ततः सद्गृहिकल्याणभागी भव पद पठेत् । ततो वैवाहकल्याणभागी भव पद मतम् ।। १०३

इन मत्रोका उपयोग करे । मत्रोका यह विनियोग आम्नायके अनुसार दिखाया गया है।।९५।।गर्भाधानक्रियाके मत्रोका सग्रह मूलमे दिया हुआ है । अब प्रीतिक्रियाके मत्र कहते है—यह गर्भस्थ शिश 'त्रैलोक्यनाथो भव'(तीनो लोकोका स्वामी हो),'त्रैकाल्यज्ञानी भव' (तीनो कालोका ज्ञानी हो) और 'त्रिरत्नस्वामी भव'(रत्नत्रयका स्वामी हो)।।९६।। इन प्रीतिमत्रोका सग्रह मूलमें दिया हुआ है । अब सुप्रीति क्रियाके मत्र कहते हैं—यह गर्भस्थ बालक 'अवतारकल्याण भागी भव' (गर्भावतार-कल्याणकका भोक्ता हो) 'मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव'(सुमेरुपर्वत पर इन्द्रोके द्वारा जन्माभिषेक कल्याणकको प्राप्त करने वाला हो), 'निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव'(निष्क्रमण कल्याणका स्वामी हो),'आर्हन्त्यकल्याणभागी भव'(केवलकल्याणकका भोक्ता हो),और 'परमनिर्वाणकल्याण भागीभव'(उत्कृष्ट निर्वाणकल्याणकका धारक हो)येमत्र मनीषी जनोको क्रमसे बोलना चाहिए।। ९७-१००।। सुप्रीति मत्रोका सग्रह मूलमें दिया गया है । अव आगे धृतिक्रियाके मत्र कहेगे, हे ब्राह्मणो, तुम लोग प्रीतिके साथ सुनो। गर्भाधानक्रियाके सर्व मत्रोके मध्यमे 'दातृ' शब्द यथाक्रममे लगाकर बोलना चाहिए । इसके अतिरिक्त और कोई भेद नही है । १०१।। यथा-'सज्जातिदातृभागी भव' यह गर्भस्थ पुत्र (उत्तम जातिको देनेवाला हो), 'सद्गृहिदातृभागी भव' (सद्-गृहस्थ पदका दाता हो), 'मुनीन्द्रदातृभागी भव' (महामुनिपदका दाता हो)सुरेन्द्रदातृभागी भव'(सुरेन्द्रपदका दाता हो) 'परमराज्यदातृभागी भव' (परमराज्यका दाता हो), 'आर्हन्त्यदातृभागी भव' (अरहन्त पदका दाता हो), 'परमनिर्वाणदातृभागी भव' (उत्कृष्ट निर्वाणपदका दाता हो) । धृतिक्रियामे इन मत्रोको बोले । सर्वमत्रोका सग्रह मूलमे दिया हुआ है । अव मोदक्रियाके मंत्र कहते है। उत्तम मुनियोने मोदक्रियाके मत्र इस प्रकार माने है-सर्वप्रथम 'सज्जातिकल्याणभागी भव' (सज्जातिके कल्याणका धारक हो)यह पद बोले।।१०२।। पुन 'सद्-गृहिकल्याणभागी भव'(सद्गृहस्थके कल्याण-

ततो मुनीन्द्रकल्याणभागी भव पदं स्मृतम् । पुनः सुरेन्द्रकल्याणभागी भव पदात्परम् ॥ १०४
मन्दराभिषेककल्याणभागीति च भवेति च । तस्माच्च यौवराज्यादिकल्याणपदसंयुतम् ॥ १०५
भागी भवपदं वाच्य मन्त्रयोगविशारदैः । स्यान्महाराज्यकल्याणभागी भव पदं परम् ॥ १०६
भूय. परमराज्यादिकल्याणोपहितं मतम् । भागी भवेत्यथार्हन्त्यकल्याणेन च योजितम् १०७

चूर्णिः— सज्जातिकल्याणभागी भव सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनीन्द्र कल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्य-कल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्य-कल्याणभागी भव । (मोदक्रियामन्त्र.)

प्रियोद्भवमन्त्रः—

प्रियोद्भवे च मन्त्रोऽयं सिद्धार्चनपुरःसरम् । दिव्यनेमिविजयाय पदात्परमनेमिवाक् ॥ १०८
विजयायेत्यथार्हन्त्यनेम्यादिविजयाय च । युक्तो मन्त्राक्षरैरेभि स्वाहान्तः सम्मतो द्विजैः ॥ १०९

चूर्णिः— दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा । (प्रियोद्भवमन्त्र)

जन्मसंस्कारमन्त्रोऽयमेतेनार्भकमादितः । सिद्धाभिषेकगन्धाम्बुसंसिक्तं शिरसि स्थितम् ॥ ११०
कुलजातिवयोरूपगुणैः शीलप्रजान्वयैः । भाग्याविधवतासौम्यमूर्तित्वैः समधिष्ठिता ॥ १११
सम्यग्दृष्टिस्तवाम्बेयमतस्त्वमपि पुत्रक । सम्प्रीतिमाप्नुहि त्रीणि प्राप्य चक्राण्यनुक्रमात् ॥ ११२

का धारक हो) यह पद पढे । पुन 'वैवाहकल्याणभागी भव' (विवाहोत्सवका धारक हो) यह पद उच्चारण करे ॥१०३॥ तत्पश्चात् 'मुनीन्द्रकल्याणभागी भव' (महामुनि पदके कल्याणका धारक हो) यह पद बोले । तदनन्तर 'सुरेन्द्र कल्याण भव' (इन्द्र पदके कल्याणका धारक हो) यह पदकहे॥१०४॥पुन 'मन्दराभिभिषेक कल्याणभागी भव' (सुमेरु पर जन्माभिषेक कल्याणकको प्राप्त हो, तत्पश्चात् 'यौवराज्यकल्याणभागी भव' (युवराज पदके कल्याणका भागी हो) यह पद पढे ॥१०५॥ तदनन्तर मत्रोके प्रयोग करनेमे विशारद लोग 'महाराज्यकल्याणभागी भव' (महाराज पदके कल्याणकका भोक्ता हो) यह मत्र बोले ॥१०६॥ पुन 'परणराज्यकल्याणभागी भव' (परम राज्यके कल्याणका भागी हो) यह पद पढे । तदनन्तर 'आर्हन्त्यकल्याणभागी भव' (अरहन्त पदके कल्याणकका भोक्ता हो) यह पद बोले ॥१०७॥ मोदक्रियाके सर्व मत्रोका सग्रह मूलमे दिया हुआ है । अब 'प्रियोद्भव क्रियाके मत्र कहते है । 'प्रियोद्भव क्रियामे सिद्धोकी पूजा करनेके पश्चात् इस प्रकार मत्रोको पढे-'दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा' (दिव्यनेमिके द्वारा कर्म-शत्रुओपर विजय पानेवालेके लिए यह द्रव्य समर्पण करता हूँ) 'परमनेमि विजयाय स्वाहा (परमनेमिके द्वारा कर्म-शत्रुओं पर विजय पानेवालेके लिए द्रव्य समर्पण करता हूँ) और आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा' (अरहन्त पदरूप नेमिके द्वारा कर्म-शत्रुओं पर विजय पाने वालेके लिए द्रव्य समर्पण करता हूँ) इन मत्रोंको प्रियोद्भव क्रियाके लिए आवश्यक माना गया है ॥१०८-१०९॥ मोदक्रियाके मत्रोंका सग्रह मूलमें दिया हुआ है । अब जन्म-संस्कारके मत्र कहते हैं-सर्वप्रथम सिद्ध-प्रतिमाका अभिषेक कर [illegible] उत्पन्न हुए बालकका अभिनन्दन कर यह मत्र पढे [illegible] [illegible] [illegible]

इत्यङ्गानि स्पृशेदस्य प्राय सारूप्ययोगत । तत्राधायात्मसङ्कल्प तत' सूक्तमिदं पठेत् ॥ ११३
अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादपि जायसे । आत्मा वै पुत्र नामासि सजीव शरदः शतम् ॥११४
क्षीराज्यममृतं पूत नाभावावर्ज्य युक्तिभिः । घातिञ्जयो भवेत्यस्य न्हासयेन्नाभिनालकम् ॥११५
श्रीदेव्यो जात ते जातक्रियां कुर्वन्त्विति ब्रुवन् । तत्तनुं चूर्णवासेन शनैरुद्वर्त्य यत्नत ॥ ११६
त्वं मन्दराभिषेकार्हो भवेति स्नपयेत्तत । गन्धाम्बुभिश्चिरं जीव्या इत्याशास्याक्षत क्षिपेत्॥११७
नश्यात् कर्ममल कृत्स्नमित्यास्येऽस्य सनासिके । घृतमौषधसांसिद्धम वपेन्मात्रया द्विज ॥ ११८
ततो विश्वेश्वरान्यभागी भूया इतीरयन् । मातुस्तनमुपामन्त्र्य वदनेऽस्य समासजेत् ॥ ११९
प्राग्वर्णितमथानन्द प्रीतिदानपुर सरम् । विधाय विधिवत्तस्य जातकर्म समापयत् ॥ १२०
जरायुपटलं चास्य नाभिनालसमायुतम् । शुचौ भूमौ निखातायां विक्षिपेन्मन्त्रमापठन् ॥ १२१
सम्यग्दृष्टि पद बोध्ये सर्वमातेति चापरम् । वसुन्धरापद चैव स्वाहान्त द्विरुदाहरेत् ॥ १२२

चूर्णिः— सम्यग्दृष्टे, सम्यग्दृष्टे सर्वमातः सर्वमात वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा ।

मन्त्रेणानेन सम्मन्त्र्य भूमौ सोदकमक्षतम् । क्षिप्त्वा गर्भमल न्यस्तपञ्चरत्नतले क्षिपेत् ॥१२३
त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्रा भूयासुश्चिरजीविन । इत्युदाहृत्य सस्यार्हे तत्क्षेप्तव्यं महीतले ॥ १२४

सत्प्रीति को प्राप्त हो ॥११०-११२॥ इस प्रकार आशीर्वाद देकर पिता उसके सर्व अगोका स्पर्श करे और फिर प्राय अपने सदृश होनेसे उसमे अपना सकल्प कर अर्थात् 'यह मै ही हूँ' ऐसा आरोपकर ये सुन्दर वाक्य कहे—हे पुत्र, तू मेरे प्रत्येक अगसे उत्पन्न हुआ है और हृदयसे भी उत्पन्न हुआ है, अत पुत्र-नामको धारण करनेवाला तू मेरा आत्मा ही है तू सैकडो वर्षोतक जीवित रह ॥ ११३-११४॥ तदनन्तर दूध और घी रूपी पवित्र अमृत उसकी नाभिपर 'घातिञ्जयो भव' (तू घातिया कर्मोको जीतनेवाला हो) यह मत्र पढकर सावधानीसे उसकी नाभिका नाल काटे ॥११५॥ तत्पश्चात् 'हे जात, श्रीदेव्य ते जातक्रिया कुर्वन्तु' (हे पुत्र श्री ण्ही आदि देवियाँ तेरे जन्मक्रिया का उत्सव करे) यह कहते हुए धीरे-धीरे यत्नपूर्वक सुगन्धित चूर्णसे उस बालकके शरीरका उबटन करे और 'त्व मन्दराभिषेकार्हो भव' (तू सुमेरु पर अभिषेक किये जानेके योग्य हो) यह मत्र पढकर सुगन्धित जलसे उसे स्नान करावे । तदनन्तर 'चिर जीव्या' (तू चिरकाल तक जीवित रह) इस प्रकार आशीर्वाद देकर उस पर अक्षत क्षेपण करे।॥११६-११७॥तत्पश्चात् 'नश्यात् कर्ममल कृत्स्नम्' (तेरे सर्व कर्म-मल नष्ट हों) यह मत्र पढकर उसके मुख और नाकमे औषधि मिलाकर तैयार किया हुआ घी मात्राके अनुसार थोडा-सा डाले ॥११८ । तत्पश्चात् 'विश्वेश्वरीस्तन्यभागी भूया.' (तू तीर्थंकरको माताके स्तनका दुध-पान करनेवाला हो) यह कहता हुआ माताके स्तनको मत्रित कर उसे बालकके मुखमे लगा देवे ॥११९॥ तदनन्तर पूर्व-वर्णित प्रकारसे प्रीतिपूर्वक दान देते हुए उत्सव कर विधिवत् जातकर्म (जन्मकाल की क्रिया) समाप्त करे ॥१२०॥ उसके जरायु-पटलको नाभि-नालके साथ किसी पवित्र भूमिको खोदकर यह मत्र पढते हुए गाड देवे ॥१२१॥ (हे सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, सर्वमात सर्वमात , वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा' (हे सम्यग्दृष्टि सर्वकी माता वसुन्धरा, तुझे यह समर्पण करता हूँ) इस मत्रसे मत्रित कर उस भूमिमे जल और अक्षत डालकर पॉच प्रकार के रत्नो के नीचे वह गर्भ-मल (जरायुपटल और नाभिनाल) रख देना चाहिए॥१२२-१२३॥अथवा, त्वत्पुत्राइव मत्पुत्रा इव मत्पुत्रा चिरञ्जीविनो भूयासु' (हेवसुन्धरे, तेरेपुत्रकुल-पर्वतोके समान मेरे पुत्र भी चिरजीवो हो) यह कहकर धान्योत्पत्तिके योग्य खेतमे उस गर्भ-मलको डाल देना

क्षीरवृक्षोपशाखाभिः उपहृत्य च भूतलम् । स्नाप्या तत्रास्य माताऽसौ सुखोष्णैर्मन्त्रितैर्जलैः ॥१२५
सम्यग्दृष्टिपदं बोध्यविषयं द्विरुदीरयेत् । पदमासन्न भव्येति तद्वद्विश्वेश्वरेत्यपि ॥ १२६
तत ऊर्जितपुण्येति जिनमातृपदं तथा । स्वाहान्तो मन्त्र एषः स्यान्मातुः स्नानसंविधौ ॥ १२७

चूर्णि—: सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरे विश्वेश्वरे ऊर्जितपुण्ये ऊर्जित-पुण्ये, जिनमातः जिनमातः स्वाहा ।

यथा जिनाम्बिकापुत्रकल्याणान्यभिपश्यति । तथेयमपि मत्पत्नीत्यास्थयेमं विधिं भजेत् ॥ १२८
तृतीयेऽहनि चानन्तज्ञानदर्शी भवेत्यमुम् । आलोकयेत्समुत्क्षिप्य निशि ताराङ्कितं नभः ॥ १२९
पुण्याहघोषणापूर्वं कुर्याद् दानं च शक्तितः । यथायोग्यं विदध्याच्च सर्वस्याभयघोषणाम् ॥ १३०
जातकर्मविधिः सोऽयमाम्नातः पूर्वसूरिभिः । यथायोगमनुष्ठेयः सोऽद्यत्वेऽपि द्विजोत्तमैः ॥ १३१
नामकर्मविधाने च मन्त्रोऽयमनुकीर्त्यते । सिद्धार्चनविधौ सप्तमन्त्राः प्रागनुवर्णिताः ॥ १३२
ततो दिव्याष्टसहस्रनामभागी भवादिकम् । पदत्रितयमुच्चार्य मन्त्रोऽत्र परिवर्त्यताम् ॥ १३३

चूर्णिः— दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनाम भागी भव ।

शेषो विधिस्तु निःशेषप्रागुक्तो नोच्यते पुनः । बहिर्यानक्रियामन्त्रस्ततोऽयमनुगम्यताम् ॥ १३४

चाहिए ॥१२४॥ तदनन्तर वड, पीपल आदि क्षीरी (दूधवाले) वृक्षोंकी कोमल डालियोंसे पृथ्वीको शोभित कर और उस पर पुत्रकी माताको बिठाकर मंत्रित सुहाते उष्ण जलसे स्नान कराना चाहिए ॥१२५॥ माताको स्नान करानेका मंत्र यह है-प्रथम ही सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पद दो बार कहे, तदनन्तर आसन्नभव्या, विश्वेश्वरी, ऊर्जितपुण्या और जिनमाता इन पदोंको भी सम्बोधनान्त कर दो-दो बार बोले और अन्तमें स्वाहा शब्द कहे। अर्थात् 'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि, ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये जिनमातः जिनमातः स्वाहा' (हे सम्यग्दर्शनधारिणी) निकटभव्य, सर्वस्वामिनि, उत्कृष्ट पुण्यशालिनि जिनमाता तू कल्याणकारिणी हो) यह मंत्र पुत्रकी माताको स्नान कराते समय बोलना चाहिए ॥१२३-१२७॥ जिसप्रकार तीर्थंकरोंकी माता पुत्रके कल्याणकोंको देखती है, उसी प्रकार मेरी यह पत्नी भी देखे, इस आस्थाके साथ स्नानकी विधि करे ॥१२८॥ तीसरे दिन रात्रिके समय 'अनन्तज्ञानदर्शी भव (तू अनन्तज्ञान-दर्शी हो) यह मंत्र पढ़कर उस पुत्रको उठाकर ताराओंसे व्याप्त आकाश दिखाना चाहिए ॥१२९॥ उसी दिन पुण्याहवाचनके साथ शक्तिके अनुसार दान करे और यथासंभव सब जीवोंके अभय-घोषणा करनी चाहिए ॥१३०॥ पूर्वाचार्यों-ने यह जातकर्म या जन्मोत्सवकी विधि कही है आजके समयमें भी ब्राह्मणोंको यथायोग्य यह विधि करना चाहिए ॥१३१॥ अब नाम कर्मकी विधिके समय बोले जाने वाले मंत्रोंको कहते हैं—नाम-संस्कारके समय सिद्धोंकी पूजा करनेके लिए प्रयुक्त होनेवाले सप्तपीठिका मंत्र तो पूर्ववर्णित हैं ? तत्पश्चात् 'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव' आदि तीन पदोंका उच्चारण कर मंत्र-परिवर्तन कर लेना चाहिए। अर्थात् 'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव' (दिव्य एक हजार आठ नामोंका धारक हो), 'विजयाष्टसहस्रनामभागी भव' (विजयरूप एक हजार आठ नामोंका धारक हो) 'परमाष्टसहस्र-नामभागी भव' (अति उत्कृष्ट एक हजार आठ नामोंका धारक हो) ये मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥१३२-१३३॥ [illegible] पहले कहा जा चुका है। [illegible]

बहिर्यानक्रिया—

तत्रोपनयननिष्क्रान्तिभागी भव पदात्परम् । भवेद् वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव पदं तत ॥ १३५
क्रमान्मुनीन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव पद वदेत् । तत सुरेन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव पद स्मृतम् ॥ १३६
मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव पद तत । यौवराज्यमहाराज्यपदे भागी भवान्विते ॥ १३७
निष्क्रान्तिपदमध्ये स्तां परराज्यपद तथा । आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव शिखापदम् ॥ १३८
पदैरेभिरयं मन्त्रस्तद्विद्भिरनुजप्यताम् । प्रागुक्तो विधिरन्यस्तु निषद्यामन्त्र उत्तर ॥ १३९

चूर्णि:— उपनयननिष्क्रान्तिभागी भव,वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव,परमराज्य निष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव । (बहिर्यानमन्त्रः)

निषद्या:— दिव्यसिंहासनपदाद्भागी भव पदं भवेत् । एवं विजयपरमसिंहासनपदद्वयात् ॥ १४०

चूर्णि:— दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव । (इतिनिषद्यामन्त्र)

अन्नप्राशनक्रिया:—

प्राशनेऽपि तथा मन्त्र पदैस्त्रिभिरुदाहरेत् । तानि स्युर्दिव्यविजयाक्षीणामृतपदानि वै ।१४१
भागी भव पदेनान्ते युक्तेनानुगतानि तु । पदैरेभिरय मन्त्र प्रयोज्य प्राशने बुधै ॥ १४२

चुकी है,इसलिए उसे पुन नही कहते है । अब इसके पश्चात् बहिर्यानक्रियाके मन्त्र इस प्रकार जानना चाहिये ॥१३४॥ उनमे सर्वप्रथम 'उपनयननिष्क्रान्ति भागीभव' (हे वत्स,तू उपनयन-संस्कारके लिए निष्क्रान्ति अर्थात् बाहिर निकलनेका भागी हो),वैवाहनिष्क्रान्ति भागीभव' (विवाहके लिएनिष्क्राति भागी हो),ये मत्र पढे ॥१३५॥ तत्पश्चात् अनुक्रमसे 'मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव' (मुनिपदके लिए निष्क्रमणकल्याणका भागी हो) यह पद बोले । पुन 'सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव' (सुरेन्द्रपदकी प्राप्तिके लिए निष्क्रमण करने वाला हो) यह पद स्मरणीय है ॥१३६॥ तदनन्तर 'मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव' (सुमेरुपर जन्माभिषेकके लिए निष्क्रमणका भागी हो) यह मत्र बोले । पुन 'यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (युवराज पदके लिए निष्क्रमणका भागी हो) तदनन्तर 'महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव'(महाराज पदके लिए निष्क्रमण-भागी हो) तत्पश्चात्'परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (चक्रवर्ती पदके लिए निष्क्रमण भागी हो) पुन 'आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (अरहन्त पदके लिए निष्क्रमण भागी हो ।) यह अन्तिम शिखा पद बोले ॥१३७-१३८॥ इस प्रकार इन पदोके द्वारा मत्र-वेत्ता द्विज बहिर्यान क्रियाके मत्रोको पढे । शेष समस्त विधि पूर्वोक्त ही है। अब आगे निषद्यामत्र कहते है ॥१३९॥ बहिर्यान क्रियाके मत्रोका सग्रह मूलमे दिया गया है । निषद्यामत्र इस प्रकार है—'दिव्यसिंहासनभागी भव' (इन्द्रके दिव्य सिंहासनका भोक्ता हो) इसीप्रकार 'विजयसिंहासनभागी भव'(चक्रवर्तीके विजयसिंहासनका भोक्ता हो) और 'परमसिंहासनभागी भव' (तीर्थकरके परम सिंहासनका भोक्ता हो) इन मत्रोको बोले ॥१४०॥ उक्त मत्रोका सग्रह मूलमे दिया गया है । अब अन्नप्राशन क्रियाके मत्र कहते है—अन्नप्राशन क्रिया के समय भी तीन पदोके द्वारा मंत्रका उद्धार करे । वे पद दिव्यामृत, विजयामृत और अक्षीणामृत

चूर्णि–: दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव।

व्युष्टि:– व्युष्टिक्रियाश्रित मन्त्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतम्। तत्रोपनयनं जन्मवर्षवर्द्धनवाग्युतम्॥१४३
भागी भव पद ज्ञेयमदो शेषपदाष्टके। वैवाहनिष्ठशब्देन मुनिजन्मपदेन च॥ १४४
सुरेन्द्रजन्मना मन्दराभिषेकपदेन च। यौवराज्यमहाराज्यपदाभ्यामप्यनुक्रमात्॥ १४५
परमार्हन्त्यराज्याभ्यां वर्षवर्द्धनसंयुतम्। भागी भव पदं योज्यं ततो मन्त्रोऽयमुद्भवेत् १४६

चूर्णि:– उपनयन-जन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्द्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव। (व्युष्टिक्रियामन्त्र)

चौलकर्म:–

चौलकर्मण्यथो मन्त्र: स्याच्चोपयनादिकम्। मुण्डभागी भवान्तं च पदमादावनुस्मृतम्॥ १४७
ततो निर्ग्रन्थमुण्डादिभागी भव पदं परम्। ततो निष्क्रान्तिमुण्डादिभागी भव पदं परम्॥१४८

हैं। इनके अन्तमे'भागी भव'इस पदके सयुक्त कर देनेमे वे तीन मत्र वन जाते है। इन पदोके द्वारा निर्मित मत्रोंका प्रयोग वुधजन अन्न प्राशन क्रियाके समय करे॥१४१-१४२॥ वे मत्र इस प्रकार हैं–'दिव्यामृतभागी भव' (इन्द्रके दिव्य अमृतका भोक्ता हो) 'विजयामृतभागी भव' (चक्रवर्तीके विजय अमृतका भोक्ता हो) और 'अक्षीणामृतभागी भव' (तीर्थंकरके अक्षीण अमृतका भोक्ता हो)। इन मंत्रोंका संग्रह मूलमे दिया गया है। अव यहाँसे आगे शास्त्रानुसार व्युष्टि-क्रियाके मंत्र कहते है-उनमे सर्वप्रथम'उपनयन 'पदके आगे 'जन्मवर्षवर्धन' पद लगाकर 'भागी भव' पद लगाना चाहिए। तत्पश्चात् अनुक्रमसे वैवाहनिष्ठ, मुनीन्द्रजन्म, सुरेन्द्रजन्म, मन्दराभिषेक, यौवराज्य,महाराज्य,परमराज्य और आर्हन्त्यराज्य,इन शेष आठ पदोके साथ 'वर्षवर्धन 'और 'भागी भव' पद लगावे। तव व्युष्टिक्रियाके मंत्र इस प्रकार हो जाते हैं-'उपनयनवर्षवर्धनभागी भव' (उपनयनरूप जन्मके वर्षका वढानेवाला हो), 'वैवाहनिष्ठवर्षवर्धनभागी भव' (विवाहक्रियाके वर्षका वढानेवाला हो),'मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्धन भागी भव' (मुनिपदके जन्मरूपवर्षका वढानेवाला हो) 'सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव' (इन्द्रपदके जन्मरूप वर्षका वढानेवाला हो) 'मन्दराभिषेकवर्षवर्धन भागी भव (सुमेरुपर होनेवाले जन्माभिषेकके वर्षका वढानेवाला हो), यौवराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (युवराजपदके वर्षका वढानेवाला हो)। 'महाराज्यवर्षवर्धन भागी भव' (महाराजपदके वर्षका वढानेवाला हो) 'परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (चक्रवर्ती पदके वर्षका वढानेवालाहो),औरआर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (अर्हन्तपदके राज्यके वर्षकावढानेवालाहो)॥१४३-१४६॥उक्तसर्वमत्रोका संग्रह मूलमे दिया हुआ है। अव चौलक्रियाके मंत्र कहते है-आदिमे 'उपनयन' पद और अन्तमे 'मुण्डभागी भव'पद वोलने प्रथम मंत्र वनता है–'उपनयनमुण्डभागी भव' (उपनयद क्रियामे मुण्डनक्रियाको प्राप्त हो) यह चौलक्रियाका प्रथम मंत्र है।॥१४७॥ पुन. 'निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव (निर्ग्रन्थ जिनदीक्षा लेते समय मुण्डनको प्राप्त हो) यह दूसरा मत्र है। तदनन्तर 'निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव (मुनि-

स्यात्परमनिस्तारककेशभागी भवेत्यतः । परमेन्द्रपदादिश्च केशभागी भवध्वनिः ॥ १४९
परमार्हन्त्यराज्यादिकेशभागीति वाग्द्वयम् । भवेत्यन्तपदोपेत मन्त्रोऽस्मिन्स्याच्छिखापदम् ॥ १५०
शिखामेतेन मन्त्रेण स्थापयेद्विधिवद् द्विजः । ततो मन्त्रोऽयमाम्नातो लिपिसख्यातसङ्ग्रहे । १५१

चूर्णिः— उपनयनमुण्डभागी भव,निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव,परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेन्द्र केशभागी भव,परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव ।

(इतिचौलक्रियामन्त्र.)

शब्दपारभागी भव, अर्थपारभागी भव । पदशब्दार्थसम्बन्धपारभागी भवेत्यपि ॥ १५२

चूर्णिः— शब्दपारगामी (भागी) भव,अर्थपारगामी (भागी) भव,शब्दार्थपारगामी (भागी) भव ।

(लिपिसङ्ख्यानमन्त्र.)

उपनीतक्रियामन्त्र स्मरन्तीमं द्विजोत्तमा । परमनिस्तारकादिलिङ्गभागी भवेत्यत ॥ १५३
युक्तं परमर्षिलिङ्गेन भागी भव पद भवेत् । परमेन्द्रादिलिङ्गादिभागी भव पदं परम् ॥ १५४
एव परमराज्यादि परमार्हन्त्यादि च क्रमात । युक्त परमनिर्वाणपदेन च शिखापदम् ॥ १५५

चूर्णिः— परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव,परमर्षिलिङ्गभागी भव,परमेन्द्रलिङ्गभागी भव,परम राज्यलिङ्गभागी भव, परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव, परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव ।

(इत्युपनीतिक्रियामन्त्रः)

मन्त्रेणानेन शिष्यस्य कृत्वा संस्कारमादित । निर्विकारेण वस्त्रेण कुर्यादेनं सवाससम ॥ १५६

पदमे केशलुञ्चरूप मुण्डनको प्राप्त हो) यह तीसरा मत्र है ॥१४८॥ तत्पश्चात् 'परमनिस्तारक-केशभागी भव' (ससार-समुद्रसे पार उतारनेवाले आचार्य केशोको प्राप्त हो) यह चौथा मंत्र है । तदनन्तर 'परमेन्द्रकेशभागी भव' (इन्द्रपदके केशोका धारक हो) यह पाँचवाँ मत्र बोले ॥१४९॥ पुन 'परमराज्यकेशभागी भव (चक्रवर्तीके केशोको प्राप्त हो) यह छठा मत्र है। और 'आर्हन्त्य-राज्यकेशभागी भव' कैवल्य साम्राज्यवाले अरहन्तके केशोका धारक हो) यह सातवाँ अन्तिम मत्र है। द्विज इन मत्रोको बोलकर विधिपूर्वक शिरपर शिखा (चोटी) मात्र रखकर मुण्डन करावे । अब इससे आगे लिपिसख्यानक्रियाके मत्र कहते है॥१५०-१५०॥ चौल क्रियाके मत्रोंका सग्रह मूलमे दिया हुआ है । लिपिसख्यान क्रियाके मत्र—'शब्दपारभागी भव' (शब्दशास्त्रका पारगामी हो) 'अर्थपारभागी भव' (सर्व अर्थका पारगामी हो) और शब्दार्थसम्बन्धपारभागी भव (शब्द और अर्थके सम्बन्धका पारगामी हो) ये मत्र लिपिसख्यान क्रियाके समय बोले ॥१५२॥ उक्त मत्रोका सग्रह मूलमे दिया गया है । उत्तम द्विज उपनीति क्रियाके मत्र इस प्रकार स्मरण करते है-'परम निस्तारकलिगभागी भव' (हे वत्स, तू परम निस्तारक आचार्यका चिन्ह-धारक हो) परमर्षिलिग-भागी भव' (परम ऋषिका चिन्हधारक हो) और 'परमेन्द्रलिगभागी भव' (परम इन्द्रका चिन्हधारक हो) ये मत्र बोले । पुन क्रमसे परमराज्य, परमार्हन्त्य और परमनिर्वाण पदके साथ 'लिंगभागी भव' पद जोडकर इस प्रकारसे मत्र बोले 'परमराज्यलिगभागी भव' (परमराज्यका चिन्ह-धारक हो) 'परमार्हन्त्यलिगभावी भव' (परम अर्हन्तपदका चिन्ह-धारक हो) और 'परम निर्वाणलिगभागी भव (परम निर्वाणका चिन्ह-धारक हो) ॥१५३-१५५॥ इन मत्रोका सग्रह मूलमे दिया गया है । इन मंत्रोसे प्रथम ही शिष्यका सस्कार कर उसे निर्विकार वस्त्रसे सवस्त्र करे अर्थात् सादा वस्त्र पहि-

कौपीनाच्छादनं चैनमन्तर्वासेन कारयेत् । मौञ्जीबन्धमतः कुर्यादनुबद्धत्रिमेखलम् ॥ १५७
सूत्रं गणधरैरुब्धं व्रतचिन्हं नियोजयेत् । मन्त्रपूतसूतो यज्ञोपवीती स्यादसौ द्विज ॥ १५८
जात्येव ब्राह्मण पूर्वमिदानीं व्रतसंस्कृत. । द्विर्जातो द्विज इत्येव रूढिमास्तिघ्नुते गुणं. ॥ १५९
देयान्यणुव्रतान्यस्मै गुरुसाक्षि यथाविधि । गुणशीलानुगैश्चैनं संस्कुर्याद् व्रतजातकैः ॥ १६०
ततोऽतिबालविद्यादीन्नियोगादस्य निर्दिशेत् । दत्वोपासकाध्ययन नामापि चरणोचितम् ॥ १६१
ततोऽयं कृतसंस्कार: सिद्धार्चनपुर.सरम् । यथाविधानमाचार्यपूजां कुर्यादत· परम् ॥ १६२
तस्मिन्दिने प्रविष्टस्य भिक्षार्थं जातिवेश्मसु । योऽर्थलाभ. स देय स्यादुपाध्यायाय सादरम् ॥ १६३
शेषो विधिस्तु प्राक्प्रोक्तमनूनं समाचरेत् । यावत्सोऽधीतविद्य: सन् भजेत् सब्रह्मचारिताम् ॥ १६४
अथातोऽस्य प्रवक्ष्यामि व्रतचर्यामनुक्रमात् । स्याद्यत्रोपासकाध्याय समासेनानु संहृत ॥ १६५
शिरोलिङ्गमुरोलिङ्ग लिङ्गकट्यूरुसश्रितम् । लिङ्गमस्योपनीतस्य प्राग्निर्णीतं चतुर्विधम् ॥१६६
तत्तु स्यादसिवृत्त्या वा मष्या कृष्या वणिज्यया । यथास्व वर्तमानानां सद्दृष्टीनां द्विजन्मनाम्॥१६७
कुतश्चित्कारणाद् यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणम्।सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत् स्वं यदाकुलम्॥१६८
तदास्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसन्ततौ । न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजा ॥ १६९

रावे ॥१५६॥ इसे वस्त्रके भीतर कौपीन (लंगोट)से आच्छादित करे और उसपर मूजकी तीन लड-वाली रस्सी बाँधे ॥१५७॥ तत्पश्चात् वह द्विज गणधर देवोसे प्रतिपादित, व्रतोंका चिन्हस्वरूप मंत्रोसे पवित्र किया हुआ यज्ञोपवीत पहिरावे । इसप्रकारसे यज्ञोपवीतधारण करनेवाला वह बालक द्विज हो जाता है॥१५८॥इसके पूर्व वह बालक जन्मसे ही द्विज था और अव व्रतोसे सस्कृत होकर दूसरी वार उत्पन्न हुआ है, अतएव दोवार जन्म लेनेसे वह 'द्विज' इस प्रकारकी रूढिको गुणोसे प्राप्त होता है ॥१५९॥ उस समय उस पुत्रके लिए यथाविधि गुरु-साक्षीपूर्वक पच अणुव्रत देना चाहिए । तथा गुणव्रत और शिक्षाव्रतके अनुगामी व्रतोके समूहसे उसका संस्कार करना चाहिए ॥१६०॥ तदनन्तर गुरु उसे उपासकाध्ययनसूत्र पढाकर और चारित्रके योग्य उसका नाम रखकर वक्ष्यमाण अतिवालविद्या आदिका उपदेश देवे ॥१६१॥ इसप्रकारसे सस्कारको प्राप्त वह बालक पुन सिद्धोकी पूजा-पूर्वक यथाविधि आचार्यकी पूजा करे ॥१६२॥ उस दिन उस वालकको अपनी जातिवालोके घरोमें जाकर भिक्षा माँगना चाहिए । उस भिक्षामें जो कुछ अर्थ-लाभ हो, उसे आदर-पूर्वक उपाध्यायको दे (और स्वय भिक्षासे प्राप्त आहारको खावे) ॥१६३॥ शेष पूर्वोक्त सर्वविधि पूर्णरूपसे करे । इसके अतिरिक्त जब तक वह विद्या पढे,तब तक पूर्ण ब्रह्मचर्यमे रहे ॥१६४॥ अब इससे आगे व्रतचर्याको अनुक्रमसे कहूँगा,जिसमे कि उपासकाध्ययनका सक्षेपसे सग्रह किया गया है॥१६५॥पूर्वोक्त प्रकारसे उपनीतसस्कारवाले वालकको शिरका चिन्ह मुण्डन, वक्ष स्थलका चिन्ह यज्ञोपवीत कटिका चिन्ह मौंजीवन्धन और जंघाका चिन्ह श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए । इनका निर्णय पहले कर आये है ॥१६६॥ जो लोग अपनी योग्यताके अनुसार असि आदि शस्त्रोंके द्वारा मषी आदिसे लेखनकलाके द्वारा,कृषिके द्वारा और वाणिज्यके द्वारा अपनी आजीविका करते हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि द्विजोको यज्ञोपवीत आदि चारो प्रकारके चिन्ह-धारण करना चाहिए॥१६७॥ यदि कदाचित् किसी कारणसे जिस किसी उच्च वर्णी पुरुषका कुल दूषणको प्राप्त हो जाय तो वह भी राजा आदिकी सम्मतिसे जब अपने कुलको शुद्ध कर ले,तब यदि उसके पूर्वज लोग दीक्षा धारण करनेके योग्य कुलमें उत्पन्न हुए हो,तो उसके पुत्र-पौत्रादि सन्तानके लिए उपनयन सस्कारकी योग्यता

अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः । एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसम्मत ।। १७०
तेषां स्यादुचितं लिङ्ग स्वयोग्यव्रतधारिणाम् । एकशाटकधारित्वं सन्यासमरणावधि ।। १७१
स्यान्निरामिषभोजित्वं कुलस्त्रीसेवनव्रतम् । अनारम्भवधोत्सर्गो ह्यभक्ष्यापेयवर्जनम् ।। १७२
इति शुद्धतरां वृत्ति व्रतपूतामुपेयिवान् । यो द्विजस्तस्य सम्पूर्णो व्रतचर्याविधिः स्मृत ।। १७३
दशाधिकारास्तस्योक्ता सूत्रेणौपासिकेन हि । तान्यथाक्रममुद्देशमात्रेणानुप्रचक्ष्महे ।। १७४
तत्रातिबालविद्याऽऽद्या कुलावधिरनन्तरम् । वर्णोत्तमत्वपात्रत्वे तथा सृष्ट्यधिकारिता ।। १७५
व्यवहारेशिताऽन्या स्यादवध्यत्वमदण्ड्यता । मानार्हता प्रजासम्बन्धान्तरं चेत्यनुक्रमात् ।। १७६
दशाधिकारि वास्तूनि स्युरुपासकसङ्ग्रहे । तानीमानि यथोद्देश सङ्क्षेपेण विवृण्महे ।। १७७
बाल्यात्प्रभृति या विद्याशिक्षोद्योगात् द्विजन्मनः । प्रोक्तातिबालविद्येति सा क्रिया द्विजसम्मता।। १७८
तस्यामसत्यां मूढात्मा हेयादेयानभिज्ञक । मिथ्याश्रुति प्रपद्येत द्विजन्मान्यै प्रतारित ।। १७९
बाल्य एव ततोऽभ्यस्येद् द्विजन्मौपासिकीं श्रुतिम् । स तया प्राप्तसंस्कार स्वपरोत्तारको भवेत्।। १८०
कुलावधि कुलाचाररक्षणं स्याद् द्विजन्मनः । तस्मिन्नसत्यसौ नष्टक्रियोऽन्यकुलतां भजेत् ।। १८१
वर्णोत्तमत्वं वर्णेषु सर्वेष्वाधिक्यमस्य वै । तेनायं श्लाघ्यतामेति स्वपरोद्धारणक्षम. ।। १८२
वर्णोत्तमत्व यद्यस्य न स्यान्न स्यात्प्रकृष्टता । अप्रकृष्टश्च नात्मानं शोधयेन्न परानपि ।। १८३

कही निषेध नही है ।।१६८-१६९।।जो दीक्षाके अयोग्य कुलमे उत्पन्न हुए है और नृत्य-गान आदि विद्या एवं शिल्पसे अपनी आजीविका करते है,ऐसे पुरुषोको उपनयन आदि सस्कार करनेकी आज्ञा नही है।।१७०।।किन्तु ऐसे लोग यदि अपनी योग्यताके अनुसार व्रत-धारण करे तो उनके योग्य चिन्ह यह है कि वे सन्यास-मरण-पर्यन्त एक धोती धारण करे,निरामिष-भोजन करे, विवाहित कुलस्त्रीके ही सेवनका व्रत पाले, साकल्पिक हिसाका त्याग करे और अभक्ष्य वस्तुओके भक्षणका एव अपेय मद्यादिके पीनेका त्याग करे ।।१७१-१७२।। इस प्रकार जो द्विज व्रतोसे पवित्र, अतिशुद्ध वृत्तिको धारण करता है,उसके व्रतचर्याकी सम्पूर्ण विधि मानी गई है।।१७३ । व्रती द्विजोके लिए उपासकाध्ययन सूत्रमे दश अधिकार कहे गये है, उन्हे अब आगे यथाक्रमसे नाम-निर्देशपूर्वक कहते है ।।१७४।। उन अधिकारोमे पहला अतिबालविद्या,दूसरा कुलावधि, तीसरा वर्णोत्तमत्व, चौथा पात्रत्व, पाँचवाँ सृष्टि-अधिकारिता,छठा व्यवहारेशिता, सातवाँ अवध्यत्व, आठवाँ अदण्डत्व, नवाँ मानार्हत्व और दशवाँ प्रजा-सम्बन्धान्तर है उपासक सग्रहमे अनुक्रमसे ये दश अधिकार वस्तुएँ प्रतिपादित की गई है,उन सबका नाम-निर्देशके अनुसार सक्षेपसे वर्णन करते है ।।१७५-१७७।। द्विजको बाल्य-कालसे जो विद्या सिखानेका उद्योग किया जाता है, उसे ब्राह्मण लोग अति बालविद्या नामकी क्रिया कहते है।।१७८।। इस अतिबालविद्याके अभावमे द्विज मूढात्मा रहता है,उसे हेय उपादेयको ज्ञान नही हो पाता और वह द्विजाभि मानी द्विजाभासियोसे प्रतारित होकर मिथ्याश्रुतिको प्राप्त होजाताहै।।१७९।। इसलिए द्विजोको बाल्यकालम ही उपासकाध्ययन शास्त्रका अभ्यास करना चाहिए, क्योकि उपासाध्ययनके अभ्याससे सस्कारको प्राप्त हुआ द्विज स्व और परका तारनेवाला हो जाता है।।१८०।। अपने कुलके आचारका रक्षण करना द्विजकी कुलावधि क्रिया है।कुलके आचारका पालन नही करने पर द्विजकी समस्त क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह अन्य कुलको प्राप्त हो जाता है।।१८१।।समस्त वर्णोमे श्रेष्ठ होना ही द्विजकी वर्णोत्तम क्रिया है।इस वर्णोत्तम क्रियासे वह प्रशसाको प्राप्त होता हैं और स्व-परके उद्धार करनेमे समर्थहोताहै।।१८२।।यदि इसके वर्णोत्तमत्व नही है,तो उसके प्रकृष्टता

ततोऽय शुद्धिकाम. सन् सेवेतान्यं कुलिङ्गिनम् ।
कुब्रह्म वा ततस्तज्जान् दोषान् प्राप्नोत्यसंशयम् ॥ १८४

प्रदानार्हत्वमस्येष्टं पात्रत्वं गुणगौरवात् । गुणाधिकोहि लोकेऽस्मिन् पूज्य स्याल्लोकपूजितै ॥१८५
ततो गुणकृतां स्वस्मिन् पात्रतां द्रढयेद्द्विज । तदभावे विमान्यत्वात् ह्रियतेऽस्य धन नृपै· ॥ १८६
रक्ष्य: सृष्ट्यधिकारोऽपि द्विजैरुत्तमसृष्टिभि । असद्दृष्टिकृतां सृष्टिं परिहृत्य विदूरत ॥ १८७
अन्यथा सृष्टिवादेन दुर्दृष्टेन कुदृष्टय· । लोकं नृपांश्च सम्मोह्य नयन्त्युत्पथगामिताम् ॥ १८८
सृष्टयन्तरमतो दूरमपास्य नयतत्त्ववित् । अनादिक्षत्रियैं सृष्टां धर्मसृष्टिं प्रभावयेत् ॥ १८९
तीर्थकृद्भिरियं सृष्टां धर्मसृष्टि: सनातनी । तां संश्रितान्नृपान्नेव सृष्टिहेतून् प्रकाशयेत् ॥ १९०
अन्यथाऽन्यकृतां सृष्टिं प्रपन्ना स्युर्नृपोत्तमा । ततो नैश्वर्यमेषां स्यात्तत्रस्थाश्च स्युरार्हता ॥१९१
व्यवहारेशितां प्राहु· प्रायश्चित्तादिकर्मणि । स्वतन्त्रतां द्विजस्यास्य श्रितस्य परमां श्रुतिम् ॥१९२
तदभावे स्वमन्यांश्च न शोधयितुमर्हति । अशुद्ध परत शुद्धिमाभीप्सन्न्यवकृतो भवेत् ॥ १९३
स्यादवध्याधिकारेऽपि स्थिरात्मा द्विजसत्तम. । ब्राह्मणो हि गुणोत्कर्षान्नान्यतो वधमर्हति ॥१९४
सर्व. प्राणी न हन्तव्यो ब्राह्मणस्तु विशेषत । गुणोत्कर्षापकर्षाभ्यां वधेपि द्वयात्मता मता ॥१९५

भी नही हो सकती । और जो उत्कृष्टताको प्राप्त नही है,वह न तो अपने आपको शुद्ध कर सकता है और न दूसरोंको ही शुद्ध कर सकता है।।१८३।।तब यह अपनी शुद्धिका इच्छुक होता हुआ अन्य कुलिंगियोकी सेवा करता है,अथवा कुदेवोंकी सेवा करता हैं और उसके फलस्वरूप तज्जनित दोषोको असन्दिग्ध रूपसे प्राप्त होता है।।१८४।।गुणोके गौरवसे दान देनेके योग्य पात्रता भी इन्ही द्विजोमे मानी जाती है,क्योंकि इस लोकमे अधिक गुणवान् पुरुष लोक-पूजित जनोके द्वारा भी पूजा जाता है।।१८५।। इसलिए द्विजको चाहिए कि वह अपने भीतर गुणोके द्वारा उत्पन्न होनेवाली पात्रताको और भी दृढ करे, क्योकि पात्रताके अभावमे लोक-सन्मान नही प्राप्त होता और उसके न होनेमे राजाओके द्वारा उसका धन हरण कर लिया जाता है ॥१८६।।आगे सृष्ट्यधिकारको कहते है-उत्तम सृष्टिवाले द्विजोंको अपने सृष्टिअधिकारकी रक्षा करनी चाहिए और मिथ्यादृष्टियोके द्वारा चलाईगई धर्मसृष्टिको दूरसे ही त्यागना चाहिए ॥१८७॥ अन्यथा मिथ्यादृष्टिलोग दूषित सृष्टिवादसे लोगोको और राजाओंको मोहितकरउन्हे कुपथगामी कर देगे।।१८८।।अतएव अन्य मिथ्यादृष्टियो द्वारा प्रवर्तित सृष्टिको दूरसे ही छोडकर नयतत्त्वज्ञ द्विज अनादिकालिक क्षत्रियवशी तीर्थङ्करोसे द्वारा रचित धर्मसृष्टिकी प्रभावना करे।।१८९।।तथाइस धर्मसृष्टिका आश्रय लेनेवाले राजाओसे सृष्टिकेकारणोके इसप्रकार कहे कि यह धर्मसृष्टि तीर्थकरोके द्वारा रचित है, अत सनातनी है, अर्थात् अनादिकालमे चली आ रही है, अत इसकी रक्षा करना आपका कर्तव्य है।।१९०।।यदि द्विज लोक राजाओंसे ऐसा नही कहेगे तो वे नृपोत्तम अन्य लोगोके द्वारा की हुई सृष्टिको मानने लगेगे,जिससे उनका ऐश्वर्य नही रह सकेगा,तथा आर्हतमतानुयायी जैन लोग भी उसी धर्मको मानने लगेंगे।।१९१।।परमागमका आश्रय लेनेवाले द्विजोको प्रायश्चित्तादि कार्योमे जो स्वतत्रता है,उसे ही व्यवहारेशिता कहते है ।।१९२।। इस व्यवहारेशिताके अभावमे द्विज न अपने आपको शुद्ध करनेके लिए योग्य रहता है और न दूसरोको ही शुद्ध कर सकता है तथा अन्यसे शुद्धिको चाहनेवाला अशुद्ध द्विज समाजमे तिरस्कारको प्राप्त होता है।।१९३।।गुणोमे स्थिर रहनेवाला श्रेष्ठ द्विज अवध्याधिकारमे भी स्थिर रहता है, क्योकि गुणोके उत्कर्षसे ब्राह्मण अन्य राजा आदिके द्वारा वधको प्राप्त नहीं होता, अर्थात् अवध्य रहता है।।१९४।।सभी प्राणी हन्तव्य नही है, अर्थात् किसी भी प्राणीको नही मारना चाहिए और

तस्मादवध्यतामेष पोषयेद् धार्मिके जने । धर्मस्य तद्धि माहात्म्यं तत्स्थो यन्नाभिभूयते ।। १९६
तदभावे च वध्यत्वमयमृच्छति सर्वतः। एवं च सति धर्मस्य नश्येत् प्रामाण्यमर्हताम् ।। १९७
ततः सर्वप्रयत्नेन रक्ष्यो धर्मः सनातनः । स हि संरक्षितो रक्षां करोति सचराचरे ।। १९८
स्याददण्ड्यत्वमप्येवमस्य धर्मे स्थिरात्मनः । धर्मस्थो हि जनोऽन्यस्य दण्डप्रस्थापने प्रभुः ।। १९९
तद्धर्मस्थीयमाम्नायं भावयन् धर्मदर्शिभिः । अधर्मस्थेषु दण्डस्य प्रणेता धार्मिको नृपः ।। २००
परिहार्यं यथा देवगुरुद्रव्यं हितार्थिभिः । ब्रह्मस्वं च तथा भूतं न दण्डार्हस्ततो द्विजः ।। २०१
युक्त्याऽनया गुणाधिक्यमात्मन्यारोपयन् वशी । अदण्ड्यपक्षे स्वात्मानं स्थापयेद्दण्डधारिणाम् ।।२०२
अधिकारे ह्यसत्यस्मिन् स्याद्दण्ड्योऽयं यथेतरः । ततश्च निःस्वतां प्राप्तो नेहामुत्र च नन्दति ।।२०३

मान्यत्वमस्य सन्धत्ते मानार्हत्वं सुभावितम् ।
गुणाधिको हि मान्यः स्याद् वन्द्यः पूज्यश्च सत्तमैः ।। २०४

असत्यस्मिन्नमान्यत्वमस्य स्यात् सम्मतर्जनैः । ततश्च स्थानमानादिलाभाभावात् पदच्युतिः ।।२०५
तस्मादयं गुणैर्यत्नादात्मन्यारोप्यतां द्विजैः । यत्नश्च ज्ञानवृत्तादिसम्पत्तिः सोज्झतां न तैः ।। २०६

खास तौरसे ब्राह्मणको नही मारे, क्योकि गुणोके उत्कर्ष और अपकर्षसे हिसामेभी द्विरूपता मानी गई है। १९५। अतएव ब्राह्मण गुणोके उत्कर्ष-द्वारा धार्मिक जनोमे अपनी अवध्यताको पुष्ट करे। यह धर्मका ही माहात्म्य है कि जो अपने धर्ममे स्थित रहता है वह किसीके द्वारा अपमानित नही होता है।।१९६।। जो ब्राह्मण गुणोके उत्कर्ष-द्वारा अपनी अवध्यताको सिद्ध नही करता है, प्रत्युत गुणोके अपकर्षसे अपनी हीनताको प्रकट करता है,वह सभीसे वध्यताको प्राप्त होता है। और ऐसा होनेपर अरहन्त देवके इस जैन धर्मकी प्रामाणिकता नष्ट हो जायगी।।१९७।।इसलिए सर्व प्रकारके प्रयत्नोसे इन सनातन धर्मकी रक्षा करनी चाहिए, क्योकि भली-भाँतिसे सरक्षित धर्म ही इस चर (त्रस), अचर (स्थावर)प्राणियोसे भरे जगत्मे जोवकी रक्षा करता है।।१९८।। इसीप्रकार धर्ममे स्थिर रहनेवाले द्विजको अपने अदण्डत्वका भी अधिकार है,क्योकि धर्मस्थ पुरुष ही दूसरे अपराधीको दण्ड देनेमे समर्थ हो सकता है।।१९९।। इसलिए धर्म-दर्शी लोगोके द्वारा बतलायी गयी धर्मात्मा जनोकी आम्नायका विचार करता हुआ धार्मिक राजा अधर्मस्थ लोगोमे दण्डका प्रणेता माना गया है,अर्थात् धार्मिक राजा ही अधर्मियोको दण्ड देनेका अधिकारी हैं।।२००।।जिस प्रकार अपना हित चाहनेवाले लोगोको देव-द्रव्य और गुरु-द्रव्यका परिहार (त्याग)करना आवश्यक है,उसी प्रकार ब्राह्मणका धन भी त्याग करनेके योग्य है और इसीलिए ही द्विज दण्ड देनेके योग्य नही है।।२०१।। इस युक्तिसे अपनेमे अधिक गुणोका आरोप करता हुआ वह जितेन्द्रिय ब्राह्मण दण्ड देनेके अधिकारी राजा आदि पुरुषोके सम्मुख अपने आपको अदण्ड्य अर्थात् दण्ड न देनेके योग्य पक्षमे स्थापित करे ।।२०२।। इस अदण्ड्य अधिकारके अभावमे अन्य पुरुषोके समान ब्राह्मण भी दण्डनीय हो जायगा और उसके फलस्वरूप वह दरिद्रताको प्राप्त होकर न इस लोकमे ही सुखी रह सकेगा और न पर-लोकमे ही सुखी हो सकेगा।।२०३।।भलीभाँतिसे चिरकाल तक सुभावित सम्मानके योग्य आचरण ही ब्राह्मणको मान्यपना प्रदान करता है,क्योकि अधिक गुणोवाला पुरुष ही उत्तम पुरुषोके द्वारा मान्य, वन्द्य और पूजनीय होता है।।२०४।।सम्मानके योग्य गुणोके अभावमे इस द्विजको उत्तम पुरुषोके द्वारा मान्यपना नही प्राप्त होगा और इस कारण उनसे स्थान,मान,आसनादिके न मिलनेसे वह ब्राह्मण अपने पदसे च्युत हो जावेगा। इसलिए द्विजको चाहिए कि वह यह मान्यत्वगुण बड़े यत्नसे अपने

**स्यात् प्रजान्तरसम्बन्धे स्वोन्नतेरपरिच्युति.। याऽस्य सोक्ता प्रजासम्बन्धान्तरं नामतो गुण। २०७
यथा कालायसाविद्धं स्वर्णं याति विवर्णताम्। न तथाऽस्यान्यसम्बन्धे स्वगुणोत्कर्षविप्लव ॥२०८
किन्तु प्रजान्तरं स्वेन सम्बद्धं स्वगुणानयम्। प्रापयत्यचिरादेव लोहधातुं यथा रस.॥ २०९
ततो महानयं धर्मप्रभावोद्योतको गुण। येनायं स्वगुणैरन्यानात्मसात्कर्तुमर्हति॥ २१०**

**असत्यस्मिन् गुणेऽन्यस्मात् प्राप्नुयात् स्वगुणच्युतिम्।
सत्येवं गुणवत्तास्य निष्कृष्येत द्विजन्मनः॥ २११**

**अतोऽतिबालविद्यादीन्नियोगान् दशधोदितान्। यथार्हमात्मसात्कुर्वन् द्विज. स्याल्लोकसम्मत॥२१२
गुणेष्वेव विशेषोऽन्यो यो वाच्यो बहुविस्तर.। स उपासकसिद्धान्तादधिगम्य प्रपञ्चत॥ २१३
क्रियामन्त्रानुषङ्गेण व्रतचर्याक्रियाविधौ। दशाधिकारा व्याख्याता सद्वृत्तैराहृता द्विजै॥ २१४
क्रियामन्त्रास्त्विह ज्ञेया ये पूर्वमनुर्वाणिताः। सामान्यविषयाः सप्त पीठिका मन्त्ररूढय.॥ २१५
ते हि साधारणा सर्वक्रियासु विनियोगिनः। तत औत्सर्गिकानेतान् मन्त्रान् मन्त्रविदो विदु.॥२१६**

भीतर सम्पादन करे। ज्ञान और चरित्र आदिका धारण करना ही मान्यत्व प्राप्त करनेका प्रयत्न कहलाता हैं,अतएव द्विजोंको ज्ञान और चारित्ररूपी सम्पत्ति कभी नहीं छोडना चाहिए।।२०५-२०६॥ अव आगे ब्राह्मणका प्रजान्तर सम्वन्ध गुण कहते हैं—प्रजान्तर अर्थात् अन्य धर्मावलम्बियोंके साथ सम्वन्ध होनेपर भी अपनी उन्नतिसे च्युत नही होना ही ब्राह्मणका प्रजान्तरसम्वन्ध नामक गुण कहा गया हैं॥२०७॥ जिस प्रकार काले लोहेके साथ मिला हुआ सुवर्ण विरूपताको प्राप्त हो जाता हैं,उस प्रकारसे अन्य पुरुषोंके साथ सम्वन्ध होनेपर भी इस ब्राह्मणके अपने गुणोके उत्कर्षमे कोई विप्लव या वाधाका प्रादुर्भाव नही होता हैं. अर्थात् लोहे के सम्वन्धसे सोना तो खराव हो जाता हैं,पर उत्तम द्विजमे अन्य धर्मावलम्बियोंके साथ सम्वन्ध होनेपर भी कोई खरावी नही आती है ॥२०८॥किन्तु जैसे रसायन अपने साथ सम्वन्ध रखनेवाले लोहेको शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देती है,अर्थात् सोना वना देती है,उसी प्रकार यह ब्राह्मण भी अपने साथ सम्वन्ध रखनेवाले अन्य पुरुषोको शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देता है॥२०९॥ इस लिए कहना चाहिए कि यह प्रजान्तर सम्वन्ध धर्मके प्रभावका उद्योत करनेवाला महान् गुण है,क्योंकि इसीके द्वारा यह द्विज अपने गुणों से अन्य लोगोंको आत्मसात् करनेके योग्य होता है,अर्थात् उन्हे अपने समान वना लेता है॥२१०॥ इस गुणके अभावमे अन्य लोगोके सम्वन्धसे यह अपने गुणोसे च्युत हो सकता है और ऐसा होनेपर इस द्विजकी गुणवत्ता ही नष्ट हो जायगी॥ २११॥ अतएव अतिवालविद्या आदि जो दश प्रकारके अधिकार निरूपण किये हैं,उन्हे यथायोग्य रीतिसे आत्मसात् करनेवाला द्विज ही लोगोंका मान्य हो सकता है॥२१२॥ इन गुणरूप दश अधिकारोमें जो अन्य विशेष गुण वहुत विस्तारके साथ विवेचन करनेके योग्य है,उन्हें उपासकाध्ययनसिद्धान्तसे विस्तारके साथ जान लेना चाहिए॥२१३॥ इस प्रकार व्रतचर्या नामक क्रियाकी विधिका वर्णन करते समय उस क्रियाके योग्य मन्त्रोंके प्रसगसे सदाचार-सम्पन्न द्विजोंके द्वारा आदरणीय दश अधिकारोंका निरूपण किया॥२१४॥इस प्रकरणमें जिनका वर्णन पहले किया गया है,उन्हें क्रियामंत्र जानना चाहिए और जो सात पीठिकामंत्र नामसे प्रसिद्ध है,उन्हे सर्व क्रियाओमे प्रयोग किये जानेवाले सामान्य मंत्र जानना चाहिए॥२१५॥ ये पीठिका नामवाले साधारण मंत्र सभी क्रियाओंमें काम आते है,अत मंत्रवेत्ता विद्वान् इन्हे औत्स-

विशेषविषया. मन्त्राः क्रियासूक्तासु दर्शिता । इत प्रभृति चाभ्यूह्यास्ते यथाम्नायमग्रजैः ॥२१७
मन्त्रानिम न् यथायोग य क्रियासु नियोजयेत्।सलोके सम्मति याति युक्ताचारो द्विजोत्तमः ॥२१८
क्रियामन्त्रविहीनास्तु प्रयोक्तृणां न सिद्धये । यथा सुकृतसन्नाहा सेनाध्यक्षा विनायकाः ॥ २१९
ततो विधिममुं सम्यगवगम्य कृतागमै. । विधानेन प्रयोक्तव्या क्रियामन्त्रपुरस्कृता. ॥ २२०

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं स धर्मविजयी भरताधिराजो, धर्मक्रियासु कृतधीर्नृपलोकसाक्षि ।
तान् सुव्रतान् द्विजवरान् विनियम्य सम्यक्, धर्मप्रिय. समसृजत् द्विजलोकसर्गम्॥२२१

मालिनी

इति भरतनरेन्द्रात् प्राप्तसत्कारयोगा व्रतपरिचयचारूदारवृत्ता: श्रुताढ्या: ।
जिनवृषभमतानुव्रज्यया पुज्यमाना जगति बहुमतास्ते ब्राह्मणा: ख्यातिमीयुः ॥२२२

वृतस्थानथ तान् विधाय सभवानिक्ष्वाकुचूडामणि',
जैने वर्त्मनि सुस्थितान् द्विजवरान् सम्मानयन् प्रत्यहम् ।
स्व मेने कृतिन मुदा परिगतां स्वां सृष्टिमुच्चै कृतां,
पश्यन् क सुकृती कृतार्थपदवीं नात्मानमारोपयेत् ॥ २२३

गिक मत्र कहते है॥२१६। इनके अतिरिक्त जो विशेष मत्र है,वे ऊपर कही हुई क्रियाओमे बतला आये है? अबवतचर्यासे आगेके जो मत्र है,वे अग्रजन्मा द्विजोको आम्नायके अनुसार स्वय ही समझ लेना चाहिए।।२१७।। जो इन मत्रोको क्रियाओमे यथायोग्य रूपसे उपयोग करता है, वह योग्य आचरण करनेवाला उत्तम द्विज लोकमे सन्मानको प्राप्त होता है।।२१८।।जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित सेनाध्यक्ष विना नायक(स्वामी या राजा)के कुछ भी नही कर सकते है,उसी प्रकार मत्र-विहीन क्रियाएँ भी प्रयोग करने वाले पुरुषो को किसी भी कार्य की सिद्धि करनेके लिये समर्थ नही है॥२१९॥इसलिए शास्त्रोका अभ्यास करनेवाले द्विजोको यह सब विधि भली भातिसे जान-कर मत्रोच्चारणके साथ क्रियाए विधिपूर्वक करनी चाहिए ॥२२०॥ इस प्रकार उस धर्मविजयी धर्मप्रिय, कृतबुद्धि भरत महाराजने राजा लोगोकी साक्षीपूर्वक सद्-वृत-धारक उत्तम द्विजोको सम्यक् प्रकारसे नियमन करके ब्राह्मण लोगोकी सृष्टि रची' अर्थात् ब्राह्मणवर्ण की स्थापना की ॥२२१॥ इस प्रकार भरतनरेन्द्रसे सम्मान-सत्कार पानेवाले, व्रतोके अभ्याससे सुन्दर आचारके धारक,शास्त्र-ज्ञानसे सम्पन्न, श्री वृषभजिनेन्द्रके मतानुसार धारण की गई दीक्षासे पूज्यमान वे ब्राह्मण जगत्मे सर्वजनोसे सम्मानको प्राप्त कर प्रसिद्धिको प्राप्त हुए॥२२२॥तदनन्तर इक्ष्वाकुकुल चूडामणि पूज्य वह सम्राट् भरत जैनमार्ग मे सम्यक् प्रकार से अवस्थित और व्रतोका भलीभातिसे पालन करनेवाले उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोकी सृष्टि करके प्रतिदिन उनका सम्मान करते हुए अपने आप-को धन्य मानने लगे, सो ठीक है, क्योकि ऐसा कौन सुकृती है, जो आनन्दमे परिणत एवं उत्कृष्टताको प्राप्त अपनी सृष्टि को देखता हुआ अपने आपको कृतकृत्य न माने? अर्थात् अपनी

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे द्विजोत्पत्तौ क्रियामन्त्रानुवर्णनं नाम–चत्वारिंशत्तमं पर्व ॥ ४० ॥

–: o :–

सुन्दर कृतिको देखकर सभी लोग अपनेको कृतार्थ मानते है ॥ २२३ ॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमे द्विजोकी क्रिया मंत्रोंका वर्णन करनेवाला यह चालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ ४० ॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ।। १
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।। २
लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन । अस्माभिरुपोद्ध्रियते पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ।। ३
मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः । व्यवहार-निश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ।। ४
निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् । भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ।। ५
अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ।। ६
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।। ७
व्यवहार-निश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ।। ८
अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः ।
गुण-पर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ।। ९

वह पर ज्योति सदा जयवन्ती रहे, जिसमे समस्त अनन्त पर्यायोके साथ सर्व पदार्थोकी माला दर्पण तलके समान प्रतिबिम्बित होती है ।।१।। जो परमागमका बीज है,जन्मान्ध पुरुषोकी हस्तिकल्पनाके विधानका निषेधक है और सकल नयोके विषयभूत एकांत कथनोंका विरोध मथन करनेवाला है,ऐसे अनेकान्तवादको मै नमस्कार करता हूँ ।।२।। तीन लोक-गत पदार्थोको देखनेके लिए अद्वितीय नेत्ररूप परमागमका निरूपण कर हमारे द्वारा प्रयत्नके साथ विद्वानोके लिए यह पुरुषार्थसिद्धिका उपायरूप ग्रन्थ उद्धार किया जाता है।।३।। मुख्य और उपचारके विवरणसे शिष्यो-के अतिदुस्तर अज्ञानको दूर करने वाले व्यवहारनय और निश्चयनयके ज्ञाता पुरुष ससारमे धर्मतीर्थ-का प्रवर्तन करते है ।।४।। विद्वान् लोग इन दोनो नयोमेसे निश्चयनयको भूतार्थ (यथार्थ) और व्यवहारनयको अभूतार्थ (अयथार्थ) कहते है। प्राय. सभी ससार यथार्थज्ञानसे विमुख है ।। ५।। मुनीश्वर लोक अज्ञ पुरुष को समझानेके लिए अभूतार्थ (व्यवहार) नयका उपदेश करते है। जो पुरुष केवल व्यवहारनयको ही साध्य जानता है,उसके लिए उपदेश नही है ।।६।।जैसे सिहके नही जाननेवाले पुरुषके लिए माणवक(बिलाव) ही सिंह है, उसी प्रकार निश्चयके नही जानने वाले पुरुषके व्यवहार ही निश्चयनयकी रूपताको प्राप्त होता है ।।७।। जो पुरुष तात्त्विक रूपसे व्यवहार और निश्चयनयको जानकर मध्यस्थ रहता है, अर्थात् किसी एक नयका आग्रही नहीं होता, वह शिष्य ही भगवान्की देशनाके अविकल फलको प्राप्त करता है ।।८।। यह आत्मा चेतनास्वरूप है, स्पर्श रस गन्ध वर्णसे रहित है, अपने गुण-पर्यायोसे समवेत है और उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे समाहित है ।।९।। यह चेतन आत्मा अनादिकालकी परम्परासे अपने ज्ञान-पर्यायोके द्वारा नित्य परिणमन करता

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या ।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च ।। १०

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति ।
भवति तदा कृतकृत्य सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ।। ११

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये । स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ।।१२

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ।। १३

एवमयंकर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभास स खलु भवबीजम्।।१४

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग् व्यवस्य निजतत्त्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम् ।। १५

अनुसरतां पदमेतत करम्बिताचार नित्यनिरभिमुखाः ।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्ति ।। १६

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृण्हाति । तस्यैकदेशविरतिः कथनीयाऽनेन बीजेन ।।१७

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ।। १८

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्य ।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्त प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ।। १९

हुआ अपने परिणामोंका कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है ।।१०।। जब यह सर्व विभावपर्यायोमे उत्तीर्ण (पार) होकर अचल चैतन्यस्वरूपको प्राप्त करता हैं, तब सच्ची पुरुषार्थसिद्धिको पाकर कृत-कृत्य होता हैं।।११।। इस संसारमे जीवकृत रागादिरूप परिणामका निमित्तमात्र पाकर पुन अन्य पुद्गल स्वयमेव ही कर्मरूपसे परिणत हो जाते है ।।१२।। अपने चिदात्मक रागादि भावोके द्वारा स्वयं ही परिणमन करने वाले उस चेतन आत्माके भी पौद्गलिक कर्म निमित्तमात्र ही होता है ।।१३।। इस प्रकार यह आत्मा कर्म-कृत भावोसे असंयुक्त होते हुए भी अज्ञानी जनोंको संयुक्तके समान प्रति-भासित होता हैं और उसका यह प्रतिभास ही निश्चयसे उसके संसारका–जन्म-स्मरणका–बीज है।।१४।। जब यह विपरीत अभिनिवेशको दूर कर और निज-स्वरूपको सम्यक् प्रकारसे निश्चय कर उससे अविचल होता हैं, तब यह वही जीवके अपने पुरुषार्थको सिद्ध करनेका उपाय हैं ।।१५।। पुरुषार्थसिद्धिके इस पदका अनुसरण करनेवाले मुनिजनोकी पापक्रिया-मिश्रित आचारमे सर्वदा परान्मुख और एकान्त विरति-(सर्वथा त्याग-)रूप अलौकिक वृत्ति होती है।।१६।।जो पुरुष अनेक वार उपदेश की गई समस्त विरतिको कदाचित् ग्रहण नही करता है,तो उसे इस बीज-(कारण-) से एक देशविरति कहना चाहिए।।१७।।जो अल्प बुद्धि पुरुष यति धर्मको नही कहता हुआ गृहस्थ धर्मका उपदेश देता हैं, उसका भगवत्प्रवचनमे निग्रहस्थान प्रदर्शित किया गया है । अर्थात् जो उप-देष्टा पहले मुनिधर्मका उपदेश न देकर श्रावक धर्मका उपदेश देता है वह जिनागममे दण्डका पात्र कहा गया है।।१८।। क्योकि मुनिधर्मको धारण करनेके लिए प्रोत्साहित हुआ भी शिष्य उस उप-देशकके अक्रमकथनमे अपद (हीन श्रावकपद) मे ही सन्तुष्ट हो जाता है, अत. उस दुर्मतिके द्वारा वह अतिदूर तक (दीर्घकालके लिए) ठगा गया है।।१९।। इस प्रकार उस गृहस्थको भी सम्यग्दर्शन,

एव सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम् ।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति ।। २०

तत्रादौ सम्यक्त्व समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन । तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ।।२१

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् । श्रद्धान विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ।।२२

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्त वस्तुजातखिलज्ञैः ।
किमु सत्यमसत्य वा न जातु शङ्केति कर्त्तव्या ।। २३

इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्व-केशवत्वादीन् ।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च ना काङ्क्षेत् ।। २४

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु । द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ।।२५

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे । नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ।।२६

धर्मोऽभिवर्धनीय सदाऽऽत्मनो मार्दवादिभावनया । परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ।।२७

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमदितेषु वर्त्मनो न्यायात् ।
श्रुतमात्मन परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ।। २८

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ।। २९

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव । दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ।। ३०

ज्ञान,चारित्ररूप रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग यथाशक्ति नित्य ही सेवनीय है ।।२०।। इन तीनोमेसे आदिमे सर्व प्रकारके प्रयत्नसे सम्यग्दर्शन उत्तम रीतिसे अगीकार करना चाहिए, क्योकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सभ्यक्पनेको प्राप्त होते है ।।२१।। जीव-अजीव आदि सात तत्त्वोके यथार्थ स्वरूपका विपरीत अभिनिवेशसे रहित सदा ही श्रद्धान करना चाहिए,क्योंकि वह आत्माका स्वरूप है।।२२।।अब आचार्य सम्यक्त्वके आठ अगोका वर्णन करते है—१ नि शङ्कित अङग-सर्वज्ञ देवोके द्वारा यह समस्त वस्तु-समुदाय अनेक धर्मात्मक कहा गया है,सो क्या यह सत्य है, अथवा असत्य है,ऐसी शङ्का कदाचित् भी नही करना चाहिए ।।२३।। २ नि काङक्षित अङग-इस जन्ममे ऐश्वर्य सम्पदा आदिकी और परभवमे चक्रवर्ती, नारायण आदिके पद पानेकी, तथा एकान्तवादसे दूषित अन्य मतोकी भी आकाक्षा नही करना चाहिए ।।२४।। ३ निर्विचिकित्सा अङग-भूख-प्यास,शीत-उष्ण आदि नाना प्रकारके भावोमे,तथा मल-मूत्रादि द्रव्योमे ग्लानि नही करना चाहिए ।।२५।। ४ लोकाचारमे,मिथ्याशास्त्रोमे,मिथ्याधर्मोमे और मिथ्यादेवताओमे तत्त्वश्रद्धानी पुरुषको सदा ही मूढता-रहितदृष्टि रखना चाहिए ।२६।। ५ उपगूहन अग-मार्दव आदिकी भावनासे सदा ही आत्माके धर्मको वढाना चाहिए । तथा आत्मगुणोके वढानेके लिए पराये दोषोका उपगूहन भी करना चाहिए ।।२७।। ६ स्थितिकरण अङग-काम क्रोध मद आदि भावोके उदय होनेपर न्यायमार्गसे चलते (डिगते) हुए अपने आपका और अन्य पुरुषका जिस प्रकार भी सभव हो,उस प्रकारकी युक्तिसे स्थितिकरण भी करना चाहिए ।।२८।। ७ वात्सल्य अङग-अहिसामे, शिव-सुखरूप लक्ष्मी-प्राप्तिके कारणभूत रत्नत्रय धर्ममे और सभी साधर्मी जनोमे परम वात्सल्यका आलम्बन करना चाहिए ।।२९।। ८ प्रभावना अङग-रत्नत्रयके तेजसे निरन्तर हो अपनी आत्माको प्रभावित करना चाहिए तथा दान तप जिन-पूजन और विद्याके अतिशयके द्वारा जिनधर्मकी प्रभावना करना चाहिए।।३०।।

इत्याश्रितसम्यक्त्वै. सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन । आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ।।३१
पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य । लक्षणभेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयो ।। ३२
सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्व कारण वदन्ति जिना । ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्। ३३
कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि । दीप-प्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयो सुघटम्।।३४
कर्त्तव्योऽध्यवसाय. सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु । सशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तम त्मरूपं तत् ।।३५
ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च । बहुमानेन समन्वितमनिन्हव ज्ञानमाराध्यम् ।। ३६
विगलितदर्शनमोहै समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थै ।नित्यमपिनि प्रकम्पै सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम्।।३७
न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते । ज्ञानान्त मुक्तं चारित्राराधान तस्मात् ।। ३८

चारित्रं भवति यत· समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्त विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ।। ३९

इस प्रकार जिन्होने सम्यक्त्वका आश्रय लिया है, और जो आत्महितके इच्छुक है,उन पुरुषोको आगम-की आम्नाय और प्रमाण नयरूप युक्तिके योगसे प्रयत्नके साथ वस्तुस्वरूपका विचारकर नित्य ही सम्यग्ज्ञानकी उपासना करना चाहिए ।।३१।।सम्यग्दर्शनके साथही उत्पन्नहोनेवालेसम्यग्ज्ञानकीआराधना पृथक् रूपसे ही करना चाहिए, क्योकि लक्षणके भेदसे इन दोनोमे भिन्नता है ।।३२।। जिनदेवने सम्यक्त्वको कारण और सम्यग्ज्ञानको कार्य कहा है । अत सम्यक्त्वके अनन्तर ज्ञानकी आराधना इष्ट है ।। ३३ ।। एक साथ उत्पन्न होनेवाले भी इस सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमे दीपक और प्रकाशके समान कारण और कार्यका विधान भले प्रकार घटित होता है ।।३४।।सद्-रूप अनेक धर्मात्मक तत्त्वोमे सशय,विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित अध्यवसाय अर्थात् जाननेका प्रयत्न करनाचाहिए,क्योकियह सम्यग्ज्ञान आत्माका स्वरूप है ।।३५।। मूलग्रन्थ,उसका अर्थ और इन दोनोकी पूर्ण शुद्धिके साथ योग्य-कालमेविनय,धारणा और वहुमान के साथ निण्हव-रहित होकरसम्यग्ज्ञानकी आराधनाकरना चाहिए ।।३६।। भावार्थ-जैसे सम्यग्दर्शनकी आराधनाके नि शङ्कित आदि आठ अङ्ग वतलाये गये है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानको आराधना करनेके भी ये आठ अङ्ग वतलाये गये हैं-१ ग्रन्थाचार, २ अर्थाचार, ३. उभयाचार, ४ कालाचार, ५ विनयाचार, ६ उपधानाचार, ७ वहुमानाचार और ८. अनिन्हवाचार । मूलग्रन्थके शब्दोंका शुद्ध उच्चारण एवं पठन-पाठन करना ग्रन्थाचार है । मूलग्रन्थ—के अर्थका शुद्ध अवधारण करना अर्थाचार है । मूल और उसका अर्थ, इन दोनोका शुद्ध पठन-पाठन करना उभयाचार है । दिग्दाह,उल्कापात, सूर्य-चन्द्रग्रहण, सन्ध्याकाल आदि अस्वाध्यायके कालको छोडकर स्वाध्यायके योग्य समयमे शास्त्रोका पठन-पाठन करना कालाचार है । द्रव्य,क्षेत्र आदिकी शुद्धिपूर्वक विनयसे शास्त्राभ्यास करना विनयाचार है । शास्त्रके मूल एव अर्थका वार-वार स्मरण करना और उसे विस्मरण नही होने देना उपधानाचार है । ज्ञानके उपकरण एव गुरुजनोका विनय करना वहुमानाचार है । जिस शास्त्र या गुरुसे ज्ञान प्राप्त किया हो,उसका नाम न छिपाना अनिन्हवाचार है । सम्यग्ज्ञानकी आराधनाके लिए इन आठ अङ्गोका पालन आवश्यक है । जिनका दर्शनमोहकर्म दूर हो गया है,जिन्होने सम्यग्ज्ञानके द्वारा तत्त्वार्थको भली-भाँतिसे जान लिया है और जो सदा ही निष्कम्प चित्त रहते हैं,ऐसे सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी पुरुषोको सम्यक् चारित्र धारण करना चाहिए ।।३७।। यत अज्ञानपूर्वक धारण किया गया चारित्र सम्यक् नाम नही पाता है,अत सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् चारित्रका आराधन करना कहा गया है।।३८।।यत चारित्र

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मत परिग्रहत । कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्र जायते द्विविधम् ।। ४०

निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यति समयसारभूतोऽयम् ।

या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ।। ४१

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् । अनृतवचनादिकेवलमुदाहृत शिष्यबोधाय ।। ४२

यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्य-भावरूपाणाम् ।

व्यपरोपणस्य करण सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ।। ४३

अप्रादुर्भाव खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति । तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप ।। ४४

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि । न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ।। ४५

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् । म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ।। ४६

यस्मात् सकषाय सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।

पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ।। ४७

हिंसायामविरमण हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा ।

तस्मात् प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपण नित्यम् ।। ४८

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः ।

हिंसायतननिवृत्ति परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ।। ४९

समस्त सावद्ययोगके परिहारसे उत्पन्न होता है,सकल कषायोसे रहित होनेपर निर्मलता धारण करता है और सर्व पदार्थोमे उदासीन रूप है,अत वह आत्म-स्वरूप है ।।३९।। यत हिंसासे, असत्य-वचनसे,चोरीसे,कुशीलसे और परिग्रहसे सर्वदेश विरति होनेपर सकल चारित्र और एकदेश विरति होनेपर देशचारित्र होता है,अत चारित्र दो प्रकारका है ।।४०।। जो हिसादि सर्व पापोकी पूर्ण निवृत्तिमे निरत है, वह समयसारभूत साधु कहलाता है । और जो उक्त पापोकी एकदेशनिवृत्तिमे निरत है,वह उपासक या श्रावक कहलाता है ।।४१।। आत्माके शुद्ध परिणामोके घात करनेके कारण होनेसे सभी पाप हिंसारूप ही है । किन्तु असत्यवचनादिक पापोके भेद आचार्योने केवल शिष्योके समझानेके लिए ही कहे है ।।४२।' जो कषायके योगसे द्रव्य और भावरूप प्राणोका घात किया जाता है,वह निश्चितरूपसे हिसा है । ४३।।रागादि भावोका उत्पन्न नही होना ही अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना ही हिसा है,इतना ही जैन आगमका सार है ।।४४।। प्रमाद-रहित होकर सावधानी-पूर्वक योग्य आचरण करनेवाले सन्तपुरुके रागादि भावोंके आवेशके विना केवल प्राण-धात हो जानेसे वह कदाचित् भी हिसा नही कहलाती है ।।४५।। किन्तु प्रमाद-अवस्थामे रागादि भावोके आदेशसे अयत्नाचारी प्रवृत्ति होनेपर जीव मरे,या न मरे, किन्तु हिंसा निश्चयसे आगे ही दौडती है ।।४६।। क्योकि प्रमाद-परिणत जीव कषाय-सहित होकर पहले अपने द्वारा अपना ही घात करता है भले ही पीछे अन्य प्राणियोकी हिसा हो, या न हो ।।४७।। हिंसामे अविरत भाव हिसा है और हिंसारूप परिणमन होना भी हिसा है। इसलिए प्रमाद युक्त योग होने पर नित्य ही प्राणघातका सद्भाव है । अर्थात् जव तक जीवके प्रमत्त योग विद्यमान है, तव तक हिसक ही है ।।४८।। यद्यपि निश्चयसे जीवके परवस्तुनिमित्तक सूक्ष्म भी हिंसा नही होती है,तथापि परिणामोकी विशुद्धि-के लिए हिसाके आधारभूत असत्य भाषण, परिग्रह-सक्षरण आदि पापोकी निवृत्ति करना चाहिए ।।४९।। जो पुरुप वस्तुके यथार्थस्वरूप निश्चयको नही जानता हुआ निश्चयसे उसे ही अङ्गीकार

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयति करणचरणं स हि करणालसो बाल ।। ५०
अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात् ।। ५१
एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् । अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ।।५२
एकस्य सैव तीव्र दिशति फल सैव मन्दमन्यस्य ।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ।। ५३
प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि ।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ।। ५४
एक. करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहव. । बहवो विदधति हिंसा हिंसाफलभुग् भवत्येकः।।५५

करता है,वह अज्ञानी बाहिरी क्रियाओमे आलसी होकर अपने करण-चरणरूप शुद्धोपयोगका घात करता है ।।५०।। भावार्थ-जो पुरुष केवल अन्तरंग भावरूप हिंसाको ही हिंसा मानकर बाहिरी हिंसादि पापोंका त्याग नही करता है,वह निश्चय और व्यवहार दोनों ही प्रकारकी अहिंसासे रहित हैं । कोई जीव हिंसाको नही करके भी हिंसाके फलका भागी होता है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसाके फलका भागी नही होता ।।५१।। भावार्थ-जिसके परिणाम हिंसारूप हुए है, चाहे वह हिंसा-का कोई कार्य कर न सके,तो भी वह हिंसाके फलको भोगेगा । तथा जिस जीव के शरीरसे किसी कारण हिसा तो गयी, किन्तु परिणामोंमे हिंसक भाव नही आया, तो वह हिंसा के फलका भोक्ता नही है । किसी जीवके तो की गयी थोडी-सी भी हिंसा उदय-कालमे बहुत फलको देती हैं और किसी जीवके बडी भारी भी हिंसा उदय-कालमे अल्प फलको देती हैं ।।५२।। भावार्थ-जो पुरुष किसी कारणवश बाह्य हिंसा तो थोडी कर सका हो,परन्तु अपने परिणामोंको हिंसा भावसे अधिक सक्लिष्ट रखनेके कारण तीव्र बन्ध कर चुका हो, ऐसे पुरुषके उसकी अल्प हिंसा भी फलकालमे अधिक ही बुरा फल देगी । किन्तु जो पुरुष परिणामोमे हिंसाके अधिक भाव न रखकर अचानक द्रव्यहिंसा बहुत कर गया है, वह फलकालमे अल्पफलका ही भागी होगा । एक साथ दो व्यक्तियोके द्वारा मिल करके की गयी भी हिसा उदयकालमे विचित्रताको प्राप्त होती है । अर्थात् वही हिंसा एक के तीव्र फल देती है और दूसरेको मन्द फल देती है ।।५३।। भावार्थ-यदि दो पुरुष मिलकर किसी जीवकी हिंसा करे, तो उनमेंसे जिसके परिणाम तीव्र कषायरूप हुए है,उसे हिंसाका फल अधिक भोगना पडेगा और जिसके मन्दकषायरूप परिणाम रहे है,उसे अल्पफल भोगना पडेगा । कोई हिसा करने के पहले ही फल देती है और कोई हिसा करते हुए ही फल देती हैं,कोई हिंसा कर चुकने पर फल देती हैं और कोई हिसा करनेका आरम्भ करके न करनेपर भी फल देती है । इस प्रकार हिंसा कषाय भावोके अनुसार फल देती हैं ।।५४।। भावार्थ-किसी जीवने हिंसा करनेका विचार किया, परन्तु अवसर न मिलनेके कारण वह हिसा न कर सका, उन कषाय-परिणामोके द्वारा बँधे हुए कर्मोका फल उदयमे आ गया,पीछे इच्छित हिंसा करनेको समर्थ हुआ,तो ऐसी दशामे हिंसा करनेसे पहले ही उस हिंसाका फल भोग लिया जाता है । इसी प्रकार किसी ने हिंसा करनेका विचार किया और उस विचार-द्वारा बांधे हुए कर्मोके फलको उदयमे आनेकी अवधि तक वह उस हिंसाको करनेमें समर्थ हो सका, तो ऐसी दशामे हिंसा करने समय ही उसका फल भोगना है । कोई जीव पहले

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले। अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलंविपुलम्।।५६
हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे । इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ।। ५७
इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्। गुरवो भवन्ति शरण प्रबुद्धनयचक्रसञ्चारा ।।५८
अत्यन्तनिशितधार दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धान झटिति दुर्विदग्धानाम ।। ५९
अवबुध्य हिंस्य-हिंसक-हिंसा-हिंसाफलानि तत्त्वेन।नित्यमवगूहमानै निजशक्त्या त्यज्यतांहिंसा।६०
मद्य मांस क्षौद्र पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन । हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ।। ६१

हिंसा करके पीछे उदयकाल मे फल पाता है । कोई जीव हिसा करने का आरम्भ करके भी किसी कारणवश उसे नही कर पाता है,तो भी आरम्भजनित बन्धका फल उसे अवश्य ही भोगना पडता है, अर्थात् हिंसा न करने पर भी हिंसाका फल प्राप्त होता है। इस प्रकार जीवोको कषायरूप भावोके अनुसार ही हिसाका फल मिलता है । एक जीव हिंसाको करता है,परन्तु फल भोगनेके भागी बहुत होते है। इसी प्रकार किसी हिसाको अनेक पुरुष करते है,किन्तु हिसाके फलका भोक्ता एक ही पुरुष होता है ।।५५।। भावाथ-किसी जीवको मारते हुए देखकर जो दर्शक लोग हर्षका अनुभव करते है, वे सभी उस हिंसाके फलके भागी होते है इमी प्रकार युद्ध आदिमे हिसा करने वाले तो अनेक होते है, किन्तु उनको आदेश देनेवाला अकेला राजा ही उस हिसाके फलको भोगता है । किसी पुरुपको तो हिसा उदयकालमे एकही हिंसाके फलको देती है और किसी पुरुषको वही हिंसा अहिसाके विपुल फलको देती है ।।५६।। भावार्थ-किसी वनमे ध्यानस्थ साधुको कोई सिह उन्हे खानेके लिए उनपर आक्रमण करता है । उसो समय कोई सूकर मुनिकी रक्षा करनेके भावसे उस सिह पर आक्रमण करता है । दोनो आपस मे लढकर मरण को प्राप्त होते है । उनमे से सिंह तो मुनिको खानेके भावसे हिसक है, अत उसके फलसे नरकमे जाता है । पर सूकर मुनि-रक्षाके भावसे सिहके साथ युद्ध करते और उसे मारते हुए भी अहिसाके विशाल फलको पाता है, अर्थात् स्वर्गमे जाकर महाऋद्धिधारक देव होता है । किसी पुरुषकी अहिंसा उदयकालमे हिंसाके फलको देती है,तथा अन्य पुरुषकी हिंसा फलकालमे अहिसाके फलको देती है, अन्य फलको नही ।।५७।। भावार्थ-कोई जीव किसी जीवके बुरा करनेका यत्न कर रहा हो, परन्तु उस जीवके पुण्योदयसे कदाचित् बुराईके स्थान पर भलाई हो जावे,तो भी बुराईका यत्न करनेवाला उसके फलका भागी होवेगा । इसी प्रकार कोई डॉक्टर अच्छा करनेके लिए किसीका आपरेशन कर रहा हो और कदाचित् वह रोगी मर जाय, तो भी डॉक्टर अहिसाभागके फलको ही प्राप्त होगा, हिसाके फलको नही प्राप्त होगा । इस प्रकार अत्यन्त कठिन और अनेक भगोसे गहन वनमे मार्ग-मूढ दृष्टिवाले जनोको विविध प्रकारके नयचक्र-सचारके जानकार गुरुजन ही शरण होते है ।। ५८ ।। भावार्थ-जिनोपदिष्ट विविधप्रकारके आपेक्षिक कथनका रहस्य जानना नयोके विशिष्ट जानी गुरुजनोके विना सम्भव नही है । जिनेन्द्रदेवका अत्यन्त तीक्ष्णधारवाला दु साध्य नयचक्र, उसे धारण करनेवाले अज्ञानी पुरुषोके मस्तकको शीघ्रही खण्ड-खण्ड कर देता है ।।५९।। भावार्थ-जैनदर्शनके नयोका रहस्य अति गहन है । जो उसे समझे विना उसका उपयोग करता है, वह अपना ही अहित कर बैठता है । आत्म-सरक्षण मे सावधान पुरुषोको तत्त्वतः हिंस्य हिसक हिंसा और हिसाके फलको जानकर अपनी शक्तिसे अनुसार नित्य ही हिसा छोडना चाहिए ।।६०।।भावार्थ-जिनकी हिंसा की जाती है,उन जीवोको हिंस्य कहते है। हिसा करने वाले जीव हिसक कहलाते है। प्राणियोके प्राण

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् । विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति। ६२
रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम् । मद्य भजता तेषां हिंसा सजायतेऽवश्यम् ।। ६३
अभिमानभयजुगुप्सा-हास्यरतिशोककामकोपाद्या । हिंसाया.पर्याया सर्वेऽपि च सरकसन्निहिता ।। ६४
न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यतेयस्मात्।मांसं भजतस्तस्मात्प्रसरत्यनिवारिताहिंसा।। ६५

यदपि किल भवति मांस स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादे ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ।। ६६

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु । सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम्।। ६७

आमां वां पक्वां वा खादति य स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचित पिण्ड बहुजीवकोटीनाम् ।। ६८
मधुशकलमपि प्रायो मधुकर हिंसात्मक भवति लोके ।
भजति मधु मूढधीको य: स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ।। ६९

स्वयमेव विगलितं गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात् । तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात ।। ७०
मधु मद्यं नवनीतं च महाविकृतयस्ता: । वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ।। ७१

पीडनरूप क्रियाको हिसा कहते हैं और हिंसासे प्राप्त होनेवाले दु ख हिंसाके फल है। हिसाका त्याग करनेके इच्छुकजनोको प्रथम ही प्रयत्नपूर्वक मद्य, मास, मधु और पॉच उदुम्बर फलोको छोडना चाहिए ।।६१।। मदिरा मनको मोहित करती है, और मोहित-चित्त पुरुष धर्मको भूल जाता है । धर्मको भूला हुआ जीव पुन नि.शङ्क होकर हिंसाका आचरण करता है ।।६२।। इसके अतिरिक्त मदिरा अनेक (असख्य) रसज जीवोंकी योनि कही गई है,अत मद्यका सेवन करने वाले जीवोंके द्वारा उन रसज जीवोंकी हिंसा अवश्य ही होती है ।।६३।। अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य,अरति, शोक,काम, क्रोध आदिक सभी विकारी भाव हिंसाके पर्यायवाची नाम है। ये सभी विकारी भाव मदिराके समीपवर्ती ही है । अर्थात् मदिरा पीने वाले पुरुपकेये सभी विकारी भाव उत्पन्न होते है ।।६४।। अत. मद्य सर्वथा त्याज्य है। यत. प्राणिघात के बिना मासकी उत्पत्ति सभव नही है, अत मासको सेवन करनेवाले पुरुषके अनिवार्यरूपसे हिंसा होती ही है ।।६५।। और जो स्वय ही मरे हुए भैंसे, बैल आदिका मास है,उसके सेवन करनेमे भी उस मासके आश्रित निगोदिया जीवोके विनाशसे हिंसा होती है ।।६६।। कच्ची,पक्की या पक रही मासकी पेशियो (डालियो) मे तज्जातीय निगोदिया जीवोकी निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है ।।६७।। अत जो जीव कच्ची या पकी मास-पेशीको खाता है, अथवा स्पर्श भी करता है, वह अनेक कोटि जीवोके निरन्तर सचित पिंडको मारता है अत मास सर्वथा अभक्ष्य है ।।६८।। इस लोकमे मधुका कण भी प्राय मधु-मक्खियो की हिंसारूपही होता है, अत जो मूढ बुद्धि पुरुप मधुको खाता है, वह अत्यन्त हिंसक है ।।६९।। जो पुरुप मधुके छत्तेसे स्वयमेव गिरी हुई मधुको ग्रहण करता है, अथवा धुआ आदि करके उन मधु-मक्खियोको उडाकर छलसे मधुको निकालता है, उसमे भी मधु-छत्तेके भीतर रहने वाले छोटे-छोटे जीवोके घातसे हिंसा होती ही है ।।७०।। अत मधु भी भक्षण करनेके योग्य नही है । मधु, मद्य, नवनीत (लोणी, मक्खन) और मास ये चारो महा विकृतियाँ है,क्योकि इन चारोमे ही उसी वर्णवाले असंख्य जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते है । तथा ये सभी काम-क्रोधादि विकारोको उत्पन्न करती है, अत- व्रती पुरुपको इनका भक्षण नही करना चाहिए ।।७१।। ऊमर, कठूमर,

योनिरुदुम्बरयुग्म प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि । त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ।। ७२
यानि तु पुनर्भवेय कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि भजतस्तान्यपि हिंसाविशिष्टरागादिरूपास्यात्।।७३
अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य । जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ।।७४
धर्ममहिंसारूप संभृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम् । स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ।। ७५
कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यतेनवधा।औत्सर्गिकीनिवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकीत्वेषा।।७६
स्तोकेन्द्रियघातादृगृहिणांसम्पन्नयोग्यविषयाणाम् शेषस्थावरमारणविरमणमपिभवतिकरणीयम् ७७
अमृतत्वहेतुभूतपरममहिंसारसायनलब्ध्वा अवलोक्यबालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्नभवितव्यम्।।७८
सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति। इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्या।।७९

पिलकर, वड और पीपलके फल त्रसजीवोंकी योनि है, इसलिए उनके भक्षणमे उनके भीतर रहने वाले त्रसजीवोकी हिसा होती है ।।७२।। और सूखे हुए पाँचो उदुम्बरफल समय पाकरत्रस जीवोसे रहितहो जाते है, उनको भी खानेवाले पुरुषके विशिष्ट रागादिरूप हिसा होती है । (क्योकि उक्त फलोके सूखनेपर उनके भीतर रहनेवाले प्राणी भी उसीमे सूखकर मर जाते हैऔर उन फलोके खाने-पर उन मरे हुए त्रसजीवोका शरीर भी खानेसे बचाया नही जा सकता है।)।।७३।। उपर्युक्त मद्य, मास, मधु और पाँच उदुम्बर फल, आठो ही पदार्थ अनिष्ट दुस्तर पापोके स्थान है, अत इनको छोडकर ही शुद्ध बुद्धिवाले पुरुष जिनधर्मकी देशनाके पात्र होते है ।।७४।। जो मनुष्य 'अहिसारूप धर्म है'इस बातको सुनते हुए भी सर्वप्रकारकी हिसाके परित्यागके लिए असमर्थ हो,उन्हे भी कमसे कम त्रसहिसाको छोडना ही चाहिए ।।७५।। इस हिसाकी औत्सर्गिक निवृत्ति कृत,कारित,अनुमोदनासे मन,वचन,कायके द्वारा नव प्रकारकी कही गई है । किन्तु अपवादरूप निवृत्ति अनेक रूप कही गई है।।७६।। भावार्थ–हिसाको मनसे, वचनसे और कायसे न स्वय करना, न दूसरोसे कराना और न करते हुए जीवोकी अनुमोदना करना यह औत्सर्गिक निवृत्ति है, क्योकि इसमे नवकोटियोसे हिंसाका त्याग किया गया है । यह सर्वप्रकारके आरम्भ-समारम्भके त्यागी मुनिजनोके होती है । किन्तु जो नवकोटिसे हिंसाका परित्याग करनेमे असमर्थ है, उन गृहस्थोके त्रियोगसे स्वय हिंसा न करनेके रूपमे तीन प्रकारसे, तथा स्वय न करने और न दूसरोसे कराने रूप छह प्रकारसे जो हिंसाका त्याग होता है, अथवा अपने पद और परिस्थिति के अनुरूप यथासभव प्रकारोसे हिसाका त्याग होता है, वह सब अपवादिकी निवृत्ति कहलाती है । प्राप्त हुए योग्य विषयोके सेवन करने-वाले गृहस्थोको थोडेसे एकेन्द्रिय जीवोके घातके अतिरिक्त शेष स्थावर जीवोके मारनेसे भी विरमण अवश्य करना चाहिए । अर्थात् प्राप्त भोगोपभोगोके सेवनमे अपरिहार्य एकेन्द्रिय जीवोकी हिंसाके शिवाय शेष सभी स्थावर हिसाका परित्याग करना गृहस्थको आवश्यक है ।।७७।। अमृतपद मोक्षके कारणभूत परम अहिंसाधर्मरूप रसायनको पाकरके अज्ञानी जनोके असगत व्यवहारको देखकर ज्ञानियोको आकुल-व्याकुल नही होना चाहिए ।।७८।। भावार्थ-किसी जीवको हिंसा करते हुए भी सुखसातारूप देखकर और स्वयको अहिसा धर्मका पालन करते हुए भी दुःखी देखकर,तथा मिथ्या दृष्टियो द्वारा हिसा-धर्मका प्रचार करते हुए भी उनकी सुख-साता-की वृद्धिको देखकर ज्ञानी पुरुष मनमे आकुलताका अनुभव न करे, किन्तु उनके पापानुवन्धी पुण्यका उदय जानकर अपने धर्ममे स्थिर रहे । 'भगवत्प्रणीत धर्म सूक्ष्म है, धर्म-कार्यके लिए जीव हिंसा करनेमे कोई दोप नही है', इस प्रकार धर्म-विमूढ हृदयवाले होकर मनुष्योको कभी किसी प्राणीकी

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्य. प्रदेयमिह सर्वम् ।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां प्राप्य न देहिनो हिंस्या ॥ ८०

पूज्यनिमित्त घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति । इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥ ८१
बहुसत्त्ववातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम् । इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु॥८२
रक्षा भवति वहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन । इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसन हिंस्रसत्त्वानाम् ॥ ८३

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम् ।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीया. शरीरिणो हिंस्रा ॥ ८४
वहुदु खा संज्ञपिता प्रयान्ति त्वतिचिरेण दु खविच्छित्तिम् ।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दु खिनोऽपि हन्तव्या ॥ ८५

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हता सुखिन एव।इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घातायनादेय ॥८६

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात् ।
स्वगुरो शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषता ॥ ८७
धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम् ।
झटिति घटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम् ॥ ८८

दृष्ट्वा परं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम् । निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि॥८९

हिंसा नही करनी चाहिए ॥७९॥ 'धर्म देवताओसे प्रकट होता है, उनके लिए इस लोकमें सभी कुछ देनके योग्य है' इस प्रकारकी दुर्विवेक-युक्त वुद्धिको धारण करके किसी भी प्राणीका घात नही करना चाहिए ॥ ८० ॥ 'अतिथि आदि पूज्य पुरुषके भोजनके निमित्त वकरे आदिके घात करनेमे कोई भी दोष नही है', ऐसा विचार करके अतिथिके लिए भी किसी प्राणीका घात नही करना चाहिए ॥८१॥ 'छोटे-छोटे वहुत प्राणियोके घातसे उत्पन्न हुए भोजनकी अपेक्षा एकवडे प्राणीके घातसे उत्पन्न हुआ भोजन उत्तम है'ऐसा विचार करके भी किसी वडे प्राणीका घात कदाचित् भी नही करना चाहिए ॥८२॥ एक ही हिंसक प्राणीके मारनेसे वहुत प्राणियोकी रक्षा होती है, ऐसा समझ करके भी सिंहादिक हिंस्रप्राणियोंकी हिंसा नही करनी चाहिए ॥८३॥ 'अनेक प्राणियोके घातक ये सिंहादिक जीते हुए गुरु पापका उपार्जन करते है', ऐसी अनुकम्पा करके भी हिंसक प्राणियोंको नही मारना चाहिए ॥८४॥ 'वहुत दु.खोसे पीडित प्राणी शीघ्र ही दु.खके विच्छेदको प्राप्त हो जावेंगे',इस प्रकारकी मिथ्या वासनारूपी कटारको लेकरके दु.खी भी प्राणियोको नही मारना चाहिए ॥८५॥ 'सुखकी प्राप्ति कष्टसे होती है, अतएव मारे गये सुखी पुरुष परलोकमे भी सुखी ही उत्पन्न होगे'ऐसा तर्करूप खड्ग सुखी जनोके घात करनेके लिए नही ग्रहण करना चाहिए ॥८६॥ सुधर्मको अभिलाषा करनेवाले शिष्यको अधिक अभ्याससे सुगतिके साधनभूत समाधिसारको प्राप्त अपने गुरुका शिर नही काट देना चाहिए ॥८७॥ भावार्थ-'हमारे गुरुदेव अधिक काल तक योगके अभ्याससे समाधिमे निमग्न है,यदि इस समय इनका शिर काट दिया जाय, तो गुरु महाराज परम पदको प्राप्त करेंगे, ऐसी कुतर्क वुद्धिसे प्रेरित होकर यदि कोई शिष्य अपने गुरुका शिर काटेगा, तो गुरुका परम पद पाना तो सन्दिग्ध ही है, पर शिष्यको हिंसा पापका भागी होना निश्चित है। थोडेसे धनके प्याससे और शिष्योंको विश्वास उत्पन्न करनेके लिए नाना प्रकारकी रीतियाँ दिखलानेवाले खारपटिक लोगोके शीघ्र ही घटके फूटनेसे चिडियाके मोक्षके समान मोक्षका भी श्रदान नही करना चाहिए ॥८८॥ भावार्थ-किसी समय भारतमे खारपटिक 'नामका एक

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून् ।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥ ९०

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि । तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥९१
स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु । तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥९२
असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः । उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ॥९३
वस्तुसदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् । अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः ॥९४
गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् । सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥ ९५
पैशुन्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च । अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥ ९६
छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि । तत्सावद्यं यस्मात् प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥ ९७
अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वरशोककलहकरम् । यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥९८

मत प्रचलित था । उसकी मान्यता थी कि जैसे घडेमे बन्द चिडिया घडेके फोड देनेसे छुटकारा पा जाती है, इसी प्रकार शरीरका घातकर देनेपर आत्मा भी शरीरबन्धनसे विमुक्त हो जाता है । ग्रन्थकार इसे लक्ष्यमे रखकर कहते है,कि इस प्रकार किसीको बन्धन-मुक्त होने या करनेकी भावनासे उसके शरीरका घात नही करना चाहिए और न इस प्रकारसे मोक्ष-प्राप्तिका श्रद्धान ही करना चाहिए । तथा,कृश उदरवाले किसी भूखे पुरुषको भोजनके लिए सामने आता हुआ देखकर अपने शरीरके मासको दान करनेकी इच्छासे शीघ्रतापूर्वक अपने आपका भी घात नही करना चाहिए ॥८९॥ भावार्थ-कुछ लोग भूखे पुरुषको अपने शरीरके मास-दानमे भारी पुण्य मानते है । उन्हे लक्ष्यमे रखकर कहा गया है कि उनका यह कृत्य भी पापरूप ही है । जिनदेवोपदिष्ट अनेक नयभेदोके विशारद गुरुजनोकी उपासना करके जिनमतके रहस्यको जाननेवाला और अहिसाका आश्रय लेनेवाला ऐसा कौन विशुद्ध बुद्धि पुरुष है,जो उपर्युक्त प्रकारके मोहमे प्रवेश करेगा? अर्थात् जैनधर्मके नयोका ज्ञाता कोई भी पुरुष ऊपर कहे हिंसाके विविध प्रकारोके मोहचक्रमे नही पडेगा ॥९०॥ प्रमादके योगसे जो कुछ भी असत् कथन किया जाता है, वह सर्व असत्य जानना चाहिए । उस असत्यके चार भेद है ॥९१॥ जिस वचनमे अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे विद्यमान भी वस्तु निषेधित की जाती है,वह प्रथम प्रकारका असत्य है । जैसे देवदत्तके होते हुए भी यह कहना कि 'देवदत्त यहाँ नही है' ॥९२॥ जिस वचनमे पर द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अविद्यमान भी वस्तु-स्वरूप प्रकट किया जाता है, वह दूसरे प्रकारका असत्य है । जैसे घडेके नही होनेपर भी यह कहना कि यहापर घडा है ॥९३॥ जिस वचनमे अपने स्वरूप चतुष्टयसे विद्यमान भी वस्तु अन्य स्वरूपसे कही जाती है,यह तीसरे प्रकारका असत्य जानना चाहिए । जैसे—बैलको घोडा कहना ॥९४॥ और चौथे प्रकारका असत्य गर्हित,सावद्य और अप्रियरूपमे सामान्यसे तीन प्रकारका माना गया है॥९५॥ जो वचन पिशुनता और हसीसे मिश्रित है, कर्कश है, मिथ्याश्रद्धानरूप है,व्यर्थ की बकवादरूप है,तथा औरभी जो इसी प्रकारकेसूत्र-प्रतिकूलवचनहै,वेसवगर्हित (निन्दित) वचन कहे गये है ॥९६॥ जिन वचनोसे प्राणि-घात आदिकी प्रवृत्ति हो, ऐसे छेदन, भेदन, मारण, कर्षण,वाणिज्यऔरचोरीआदिकेवचनोकोसावद्य वचनजाननाचाहिए॥९७॥जो वचन अप्रीति-कारक, भय-जनकखेद-उत्पादक,वैर-वर्धक,शोक-कारक,कलह-कारकऔर दूसरेको सन्तापकारी है,उन सबको

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत् । अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥९९
हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् । हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥ १००
भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा-मोक्तुम्।येतेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु॥१०१
अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद् यत् । तत्प्रत्येय स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥१०२
अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चरा. पुंसाम्। हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्॥१०३
हिंसाया.स्तेयस्य च नाव्याप्ति. सुघटमेव सा यस्मात्।ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ।१०४
नातिव्याप्तिश्चतयो.प्रमत्तयोगैककरणविरोधात्।अपिकर्मानुग्रहणनीरागाणामविद्यमानत्वात्।।१०५
असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् । तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम्।।१०६
यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म । अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥ १०७
हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् । बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्।।१०८
यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि। तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्॥१०९

अप्रिय वचन जानना चाहिए।।९८।।इन उक्त सर्वप्रकारके वचनोंमे एक प्रमत्त योग ही कारण कहागया हैं,अत: असत्य भाषणमें नियमसे हिंसा ही अवतरित होती हैं। भावार्थ—जहाँ कषाययुक्त वचन बोला जाय,वहाँ पर हिंसा अवश्य ही हैं ।।९९।। यत. सर्व प्रकारके असत्य वचनोका मूलकारण प्रमत्तयोग कहा गया है,अत: वुरे कार्यके छोडने और उत्तम कार्यके करनेके लिए वोले जाने वाले अप्रिय वचन असत्य नही है ।।१००।। जो पुरुष भोग और उपभोगके साधनभूत सर्वप्रकारके सावद्य वचनोको छोडनेके लिए असमर्थ है, उन्हे भी शेष सर्वप्रकारके अनृत वचन तो नित्य छोडना ही चाहिए ।।१०१।। जो प्रमत्तयोगसे दूसरेके द्वारा नही दिये हुए धन-धान्यादि परिग्रहका ग्रहण करना, उसे चोरी जानना चाहिए, और यह चोरी भी हिंसा ही है; क्योंकि, वह भी दूसरोके प्राण-घातका कारण हैं ।। १०२ ।। ये धन-धान्यादिक पदार्थ पुरुषोके वाहिरी प्राण हैं, जो मनुष्य जिसके धनादिकको हरण करता हैं, वह उसके प्राणोंको ही हरता है ।।१०३।। हिंसाके और चोरीके अव्याप्ति दोष नही है, क्योंकि अन्यके द्वारा स्वीकृत द्रव्यके ग्रहण करनेमे प्रमत्तयोग स्पष्टरूपसे पाया जाता है, अत. चोरी करनेमे हिसा सुघट ही हैं ।।१०४।। तथा हिंसा और चोरीमे अतिव्याप्ति दोष भी नही हैं,क्योंकि वीतरागी पुरुषोंके कर्म-नोकर्म वर्गणाओके ग्रहण करनेमे प्रमत्तयोग नही पाया जाता और प्रमत्तयोगरूप एक कारणके विरोधमे हिंसाका दोष नहीं लगता,अत. कर्म-नोकर्म वर्गणाओंके ग्रहण करते हुए भी वीतरागी पुरुष चोरीके दोपसे रहित ही जानना चाहिए।।१०५।। जो पुरुष अन्यके जलाशय-कूपादिसे जलादिके ग्रहण करनेकी निवृत्ति करनेके लिए असमर्थ हो,उन्हे भी अन्य सर्व प्रकारकी अदत्त वस्तुओका परित्याग नित्य ही करना चाहिए ।।१०६।। जो वेदनोकषायके रागयोगसे स्त्री-पुरुषों की मैथुन क्रिया होती हैं, वह अब्रह्म कहलाता है। इस मैथुनक्रियामे भी हिंसा अवतरित होती हैं, क्योकि उसमे जीव-घात सर्वत्र पाया जाता हैं ।।१०७।। जिस प्रकार तिलोंको नालीमे तपे लोहेके डालनेसे तिल जल-भुन जाते हैं,उसी प्रकार मैथुन समय स्त्रीकी योनिमें पुरुष-लिंगके प्रवेश करनेपर योनिस्थ वहुत जीव मरणको प्राप्त होते हैं।।१०८।। इसके अतिरिक्त काम-विकारकी अधिकतासे अनंग क्रीडा आदि जो कुछ भी अवैध मैथुनके कार्य किये जाते हैं, उनमें भी रागादिकी उत्पत्तिके वशसे हिंसा होती ही हैं ।।१०९।।जो

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात् । निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्॥ ११०
या मूर्च्छा नामेदं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येष । मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणाम ॥१११
मूर्च्छालक्षणकरणात्सुघटाव्याप्ति परिग्रहत्वस्य।सग्रन्थोमूर्च्छावान्विनापिकिल शेषसङ्गेभ्यः ।११२
यद्येव भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरङ्गः ।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्वम् ॥ ११३
एवमतिव्याप्ति स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम् । यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ॥११४
अतिसंक्षेपाद् द्विविध सभवेदाभ्यन्तरश्चबाह्यश्च।प्रथमश्चतुर्दशविधोभवतिद्विविध.द्वितीयस्तु॥११५
मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड दोषाः.चत्वा.श्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्था ॥११६
अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ ।नैष कदापिसङ्ग सर्वोऽप्यतिवर्ततेहिंसाम्॥११७
उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्या. सूचयन्त्यहिंसेनि । द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञा ॥११८

जीव मोहके उदयसे अपनी स्त्री मात्रको छोडनेके लिए समर्थ नही है,उन्हे भी शेष समस्त स्त्रियोका सेवन नहीं करना चाहिए ॥११०॥ मोहके उदयसे उत्पन्न हुआ ममत्वपरिणाम मूर्च्छा कहलाती है और यह जो मूर्च्छाभाव है,उसे ही परिग्रह जानना चाहिए ॥१११॥ अत जो पुरुष मूर्च्छावान् है, वह शेप वाह्य परिग्रहके विना भी सग्रन्थ अर्थात् परिग्रही है, क्योकि परिग्रहका मूर्च्छा लक्षण करनेसे उसमे परिग्रहकी व्याप्ति सुघटित होती है ॥११२॥ यदि ऐसा है,अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह है, तो वहिरग परिग्रह कोई भी पदार्थ नही माना जायगा? इस शकाका समाधान यह है कि यह वाह्य पदार्थरूप परिग्रह मूर्च्छाके निमित्तपनेको निरन्तर धारण करता है॥११३॥ भावार्थ-परिग्रहके दो भेद शास्त्रोमे कहे गये है—अन्तरग परिग्रह और बाह्य परिग्रह । पर पदार्थोमे ममतारूप मूर्च्छाका होना यह परिग्रहका लक्षण अन्तरग परिणामोसे सम्बन्ध रखता है, अत बाह्य परिग्रहका उससे कोई सम्बन्ध नही है, यदि कोई ऐसी आगका करे तो ग्रन्थकार उसका समाधान करते है कि मूर्च्छाकी उत्पत्तिमे धन्य-धान्यादि बाह्य पदार्थ ही निमित्त कारण होते है,अतएव कारणमे कार्यके उपचारसे वाह्य पदार्थोमे भी'मूर्च्छा परिग्रह 'यह लक्षण घटित हो जाता है । यदि कहा जाय कि वाह्य पदार्थका ग्रहण करना परिग्रह है,तब नो वोतरागी कषाय-रहित मुनियोके कार्मणवर्गणाओके ग्रहण करनेसे परिग्रहका उक्त लक्षण अतिव्याप्ति दोषको प्राप्त होता है । ग्रन्थकार इस आशकाका समाधान करते हुए कहते है कि अत कषाय-रहित जीवोके कर्मवर्गणाओके ग्रहण करनेमे मूर्च्छा नही है,अत अतिव्याप्ति दोष नही प्राप्त होता ॥११४॥ यह परिग्रह अतिसक्षेपसे दो प्रकारका है—आभ्यन्तर परिग्रह और बाह्य परिग्रह । इनमे प्रथम चौदह प्रकारका हं और दूसरा दो प्रकारका है॥१ ,५॥ आभ्यन्तर परिग्रहके चौदह भेद इस प्रकार है-मिथ्यात्व,स्वीवेद,पुरुषवेद,नपुसक वेदरूप रागभाव, तथा हास्यादि छह दोप, अर्थात्, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और क्रोध,मान, माया और लोभ ये चार कषाय ॥११६॥ बाह्य परिग्रहके दो भेद है—सचित्त परिग्रह और अचित्त परिग्रह । दास-दासी,गाय-भैस आदि सचित्त परिग्रह है और मकान, वर्तनादि अचित्त परिग्रह है । यह दोनों ही प्रकारका वाह्य परिग्रह कभी भी हिंसाका अतिक्रमण नही करता है, अर्थात् कोई भी परिग्रह किसी भी समय हिसासे रहित नही है ॥११७॥ अतएव जिनागमके ज्ञाता आचार्यगण दोनो ही प्रकारके परिग्रहके त्यागको अहिसा सूचित करते है और दोनो प्रकारके परिग्रतके धारण करनेको हिसा कहते है ॥११८॥ क्रोधादि कपाय हिसाके पर्यायरूप है, अत अन्तरग परिग्रहोमे

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धाहिंसान्तरङ्गसङ्गेषु । बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम् ।।११९
एवं न विशेष स्यादुन्दररिपुहरिणशावकादीनाम् । नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छाविशेषेण ।। १२०
हरिततृणाङ्कुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा ।
उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ।। १२१
निर्बाधं संसिद्धयेत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात् । औधस्य-खण्डयोरिह माधुर्यप्रीतिभेद इव।।१२२
माधुर्यप्रीति: किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये । सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ।। १२३
तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम् । सम्यग्दर्शनचौरा: प्रथमकषायाश्च चत्वार ।।१२४
प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायात । नियतं हि ते कषाया: देशचरित्रं निरुन्धन्ति।।१२५
निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम् । कर्तव्य: परिहारो मार्दवशौचादिभावनया ।।१२६
बहिरङ्गादपि सङ्गाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचित: । परिवर्जयदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा।।१२७
योऽपिनशक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।सोऽपितनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम्। १२८
रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवतिहिंसा।हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्यारात्रिभुक्तिरपि।।१२९
रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा । रात्रिं दिवमाहरत: कथं हि हिंसा न संभवति ।। १३०

हिंसा स्वय सिद्ध है । *तथा बहिरंग परिग्रहोंमे मूर्च्छाभाव ही नियमसे हिंसापनेको प्राप्तहोताहै।।११९।।* यदि कहा जाय कि ममत्व परिणामका नाम मूर्च्छा है,तब तो उदर (मूषक) का शत्रु बिलाव और हरिणके बच्चो आदिमे कोई भेद नही रहेगा? सो ऐसा नही समझना,क्योंकि उन दोनोमें मूर्च्छाकी विशेषतासे बहुत भेद है ।।१२०।। देखो–हरे तृणाङ्कुरोंको चरनेवाले मृगके बच्चेमे मूर्च्छा बहुत मन्द होती है और चूहोके समूहको मारकर खानेवाले बिलावमे वह मूर्च्छा अति तीव्र होती है । इसलिए दोनोकी मूर्च्छा समान नही हैं ।।१२१।। कारणकी विशेषतासे कार्यमे विशेषता निर्बाध रूपसे सिद्ध होती है । जैसे कि दूध और खाडमे मधुररसका प्रीतिभेद देखा जाता हैं।।१२२।।मन्द मधुर रसवाले दूधमे पीनेवाले पुरुषकी माधुर्यकी प्रीति मन्द होती है और अधिक माधुर्यवाली खाडके खानेमे वह माधुर्य-प्रीति तीव्र कही जाती है ।।१२३।। तत्त्वार्थके अश्रद्धामें कारण प्रथम ही मिथ्यात्व कहा गया है,तथा प्रथम कषाय-अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभरूप ये चार कषाय सम्यग्दर्शन-रूप रत्नके चौर हैं।।१२४।। अत इनकोछोडकरसम्यग्दृष्टिपुरुष दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषायोको भी त्याग करके देशचरित्रके सन्मुख आता है । क्योंकि ये *अप्रत्याख्यानावरण कषाय नियमके देश–चारित्रका निरोध करती है,अर्थात् देशचारित्रको प्रकट नही होने देती है ।।१२५।।* अतएव अपनी शक्तिके अनुसार मार्दव,शौच,सयम आदि धर्मोंकी भावनासे शेष समस्तअन्तरग परिग्रहोका परिहार करना चाहिए ।।१२६।।यत वहिरंग भी परिग्रहसे अनुचित असंयम उत्पन्न होता है, अत सचित्त और अचित्त सभी प्रकारका बहिरंग परिग्रह भी छोड देना चाहिए । १२७।। जो पुरुष धन, धान्य, दासी,दासादिक मनुष्यऔरमकानसम्पदादिको छोडनेके लिए समर्थ न हो, उसे भी सचित परिग्रहको कृश करना चाहिए, *क्योकि धर्मका तत्त्व तो निवृत्ति रूप ही है।।१२८।। यत रात्रिमे भोजन करने-वालोके अनिवार्य रूपसे हिसा होती है,अत हिंसाके त्यागी जनोको रात्रिभोजन करना भी त्यागना चाहिए ।।१२ ।।* अनिवत्ति अर्थात् अत्यागभाव रागादिक भावोके उदयकी उत्कृष्टतामे होना है, इसलिए वह हिंसाका अतिक्रमण नहीं करता है,तो फिर जो पुरुष रातदिन आहार करता है, उसके हिंसा कैसे नही सभव है? अर्थात् अहर्निशभोजी पुरुषके रागकी अधिकताके कारण अवश्य ही हिंसा

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहार'। भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं भवति हिंसा ॥ १३१
नैव वासरभुक्ते भवतिहि रागोऽधिकोरजनिभुक्तौ।अन्नकवलस्यभुक्ते भुक्ताविवमांसकवलस्य॥ १३२

अर्कालोकेन विना भुञ्जान परिहरेत् कथं हिंसाम् ।
अपि बोधित प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥ १३३

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः ।
परिहरति रात्रिभुक्ति सततमहिंसां स पालयति ॥ १३४

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामा ।अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्तिते मुक्तिमचिरेण॥ १३५

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥ १३६

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः ।प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्य कर्तव्याविरतिरविचलिता॥ १३७
इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्या. । सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रत पूर्णम्.। १३८
तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्।प्रविधाय नियतकालं करणीयंविरमणंदेशात्॥ १ ९
इति विरतो बहुदेशात्तदुत्थाहिंसाविशेषपरिहारात् । तत्काल विमलमति श्रयत्यहिंसां विशेषेण॥ १४०

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्या ।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥ १४१

है ॥१३०॥ यदि ऐसा है,तो दिनमे भोजनका परित्याग कर देना चाहिए और रात्रिमे भोजन करना चाहिए। इस प्रकारसे नित्य हिंसा नही होती है ॥१३१॥ ऐसा नही कहना चाहिए,क्योकि दिनमे भोजनकी अपेक्षा रात्रि-भोजनमे रागकी अधिकता होती है जैसे कि अन्नका ग्रास खानेवालेकी अपेक्षा मासके ग्रासको खानेवालेको अधिक राग होता है ॥१३२॥ सूर्यके प्रकाशके बिना भोजनको करनेवाला मनुष्य हिंसाका परिहर कैसे कर सकेगा? अर्थात् नही कर सकेगा। यदि दीपकको जला करके रात्रिमे भोजन करेगा,तो भोज्य पदार्थमे पडे हुए सूक्ष्म जीवोकी हिंसाको कैसे दूर कर सकेगा ॥१३३॥ अधिक कहनेसे क्या लाभ है जो पुरुष मन-वचन-कायसे रात्रि-भोजनका परित्याग करता है,वह सदा ही अहिंसा-धर्मका पालन करता है ॥१३४॥ इस प्रकार रत्नत्रयात्मक मोक्षके मार्गमे जो आत्म-हितके इच्छुक पुरुप निरन्तर प्रयत्न करते है,वे शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त करते है॥१३५॥ जैसे परिधि अर्थात् परिकोट-परिखा) कोट-खाई) नगरकी रक्षा करते है, उसी प्रकार शील व्रतोकी रक्षा करते है। अत ग्रहण किये गये अहिंसादि व्रतोके परिपालनके लिए गुणव्रत और शिक्षाव्रतरूप सात शीलोको भी पालन करना चाहिए ॥१३६॥ सुप्रसिद्ध सीमा-सूचक चिन्होके द्वारा सब ओर मर्यादाको करके पूर्वादिक दशो दिशाओसे अविचलित (दृढ) विरति (प्रतिज्ञा) करनी चाहिए ॥१३७॥इस प्रकार मर्यादित दिशाओके विभागमे ही जो पुरुप गमनागमन रूप प्रवृत्ति करता है, उस पुरुषके नियमित सीमाके बाहिर सकल असयमभावके अभाव होनेसे अहिंसाव्रत पूर्णताको प्राप्त होता है। यह दिग्विरति नामक गुणव्रत है॥१३८॥उस दिग्व्रतमे भी ग्राम,आपण (बाजार) भवन और मोहल्ला आदिका नियत काल तक परिमाण करके शेष देशसे विरमण अर्थात् गमनागमनका त्याग करना चाहिए। यह देशविरति नामक गुणव्रत है॥१३९॥इस प्रकार बहुत प्रदेशसे विरत वह निर्मल बुद्धिवाला श्रावक उस नियमित कालमे उस मर्यादित क्षेत्रसे बाहिर उत्पन्न होनेवाली हिंसा-विशेषके परिहारसे विशेषतया अहिंसाको आश्रय करता है। अर्थात् नियतकाल तक मर्यादित क्षेत्रसे बाहिर गमनागमन न करनेसे वह वहाँ पर पूर्ण अहिंसाव्रती जैसा होता है ॥१४०॥ अत्र अनर्थदण्ड-

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् । पापोपदेशदान कदाचिदपि नैव वक्तव्यम्॥१४२
भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च॥१४३

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥ १४४

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम् । न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि॥१४५
सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः । दूरात्परिहरणीय शौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥ १४६
एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं य । तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥ १४७
रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य । तत्त्वोपलब्धिमूल बहुश सामायिकं कार्यम् ॥ १४८

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम् ।
इतरत्र पुन. समये न कृत दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥ १४९

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् । भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ॥१५०
सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् । पक्षार्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवास. ॥ १५१
मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्धे । उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥ १५२

विरति नामक तीसरे गुणव्रतका वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते है कि पापर्द्धि (आखेट-शिकार)जय, पराजय, सग्राम परस्त्रीगमन और चोरी आदिक करनेकी बात कभी भी नही चिन्तवन करना चाहिए, क्योकि इनका केवल पाप ही फल हैं । अनर्थण्डविरतिके पाँचभेदोंमेंसे यह प्रथम अपध्यानविरति है ॥१४१॥ विद्या, वाणिज्य मषी, कृषि, सेवा और शिल्पसे आजीविका करनेवाले पुरुषोको उनके करनेवाले पापके उपदेशरूपसे वचन कभी भी नही बोलना चाहिए । यह पापोपदेशविरति है॥१४२॥ भूमि खोदना,वृक्ष मोडना, दुर्वा-घास रोंदना, जल सीचना, आग जलाना और बुझाना,तथा पत्र, फल, फूल तोडना आदि कार्य निष्प्रयोजन न करे । यह प्रमादचर्याविरति है ॥१४३॥ छुरी, धेनु, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुप-वाण आदि हिंसाके उपकरणोंका दूसरोको देना प्रयत्नके साथ परित्याग करे । यह हिंसादानविरति हैं ॥१४४॥ रागादिकी वढानेवाली तथा अज्ञान-वहुल खोटी कथाओंका कभी भी श्रवण,अर्जन (सग्रह) और शिक्षण (सीखना-सिखाना) आदि न करे। यह दुःश्रुति-विरति है॥ १४५॥ जुआ सर्व अनर्थोमे प्रधान है, शौच (पवित्रता और सन्तोप) का नाशक है, माया-चारका घर है, चोरी और असत्यका स्थान है,उसे दूरसे ही परित्याग करना चाहिए ॥१४६॥ इसी प्रकारके अन्य भी अनर्थदण्डोको जान करके जो श्रावक उनका त्याग करता है, उसका निर्दोष अहिंसा व्रत निरन्तर विजयको प्राप्त करता हैं ॥१४७॥ राग-द्वेपके त्यागसे सर्वद्रव्योंमे समस्ताभावको अव-लम्बन कर आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका मूलकारणभूत सामायिक वारवार करना चाहिए॥१४८॥ रात और दिनके अन्तमे अर्थात् प्रात काल और सायकालमे मनकी चञ्चलताको रोककर यह सामायिक अवश्य ही करना चाहिए। दोनो सन्ध्याओके सिवाय अन्य समयमे किया गया सामायिक दोपके लिए नही, अर्थात् दोप-कारक नही है, प्रत्युत वह गुणके लिए ही होता है ॥१४९॥ सामायिकका आश्रय करनेवाले पुरुपोके अणुव्रत समस्त सावद्ययोगके परिहारसे चरित्र मोहके उदयमें भी महाव्रतपनेको प्राप्त होते है यह प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत है ॥ १५० । प्रतिदिन धारण किये गये सामायिकरूप संस्कारको स्थिर करनेके लिए दोनो पक्षोके अर्धभागमे अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशीके दिन उपवास अवश्य ही करना चाहिए ॥१५१॥ प्रोपध (उपवास) दिनके पूर्व दिनार्धमे अर्थात् मध्याह्नकालमें

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरत कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥ १५३
धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम् ।
शुचिसस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्र ॥ १५४
प्रात प्रोत्थाय तत कृत्वा तात्कालिक क्रियाकल्पम् । निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥१५५
उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवस द्वितीयरात्रि च ।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥ १५६
इति य षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्य ।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रत भवति ॥ १५७
भोगोपभोगहेतो स्थावरहिंसा भवेत् किलामीषाम् ।
भोगपभोगोविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसाया ॥ १५८
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृत न समस्तादानविरहत स्तेयम् ।
नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेऽप्यमूर्च्छस्य ॥ १५९
इत्थमशेषितहिंस प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न सयमस्थानम् ॥ १६०
भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा ।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥ १६१

समस्त आरम्भसे विमुक्त होकर और शरीरादिमे ममत्वको छोडकर उपवासको ग्रहण करे।।१५२।। पञ्चात् एकान्त वसतिकाको आश्रय करके और समस्त सावद्ययोगको त्याग करके सर्व इन्द्रियोके विषयोसे विरत रहता हुआ मन-वचन-कायकी गुप्तियोके साथ स्थित होवे।।१५३।। इस प्रकार धर्म-ध्यानमें सलग्न रहकर, आधे दिनको बिता कर और सन्ध्याकालीन विधिको करके पवित्र सस्तर पर स्वाध्यायसे निद्राको जीतता हुआ रात्रिको व्यतीत करे ।।१५४।। पुन प्रात काल उठकर और तात्कालिक क्रियाकलापको करके प्रासुक द्रव्योके द्वारा आगमोक्त विधिसे जिनदेवकी पूजनको करे ।।१५५।। तदनन्तर पूर्वोक्त विधिसे शेष समस्त दिनको तथा दूसरी रात्रिको भी बिता करके तीसरे दिनके अर्धभागको प्रयत्नसे धर्मध्यानपूर्वक धर्मसाधन करते हुए वितावे।।१५६।।इस प्रकार जो गृहस्थ सर्वसावद्य कार्योको छोडकर सोलह पहरोको विताता है, उसके उस प्रोषधोपवासकालमे निश्चय करके पूर्ण अहिसाव्रत होता है,यह दूसरा प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है ।।१५७।। भोग और उपभोगके कारणसे इन गृहस्थोके स्थावर जीवोकी हिसा नियमसे होती है । किन्तु प्रोषधोपवासके समय भोग—उपभोगके सेवनके अभावसे हिसाका लेश भी उनके नही होता है।।१५८।। उस समय वचनगुप्तिके पालनसे असत्य वचन भी नही है समस्त अदत्तादानके अभावसे चोरी भी नही है, मैथुन-त्यागसे अब्रह्मभी नही है और शरीरमे मूर्च्छा-रहित होनेसे उस गृहस्थके परिग्रह भाव भी नही है ।।१५९।। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकारकी हिंसाओसे वह श्रावक उस समय उपचारसे महाव्रती—पनेको प्राप्त होता है । किन्तु चारित्रमोहके कर्मके उदय होनेसे वह संयम स्थानको नही पाता है । १६०।। भावार्थ-उपवासकालमे गृहस्थके उक्त विधिसे किसी भी प्रकारका पापकार्य नही होता है, अत उसके अणुव्रत भी महाव्रत जैसे हो जाते है । अर्थात् उप—

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम् । करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ।।१६२

नवनीत च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम् ।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ।। १६३

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्या: ।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ।। १६४

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम् ।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या ।। १६५

इति य. परिमितभोगै सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान् ।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याहिंसा विशिष्टा स्यात् ।। १६६

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय। स्वपरानुग्रहहेतो. कर्तव्योऽवश्यमतिथये भाग ।।१६७

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणाम च । वाक्कायमन शुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहु ।। १६८

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम् ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणा. ।। १६९

रागद्वेषासंयममदडु:खभयादिकं न यत्कुरुते । द्रव्य तदेव देय सुतप:स्वाध्यायवृद्धिकरम् ।। १७०

चारसे उन्हे महाव्रत कहा जा सकता हैं । किन्तु यत उसके अभी संयमकी घातक प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है अत निश्चयसे उसे महाव्रती या सयमस्थानका धारण नही कह सकते। देशव्रती श्रावकके भोग और उपभोग-मूलक ही हिसा होती है, अन्य प्रकारसे नही। अतएव वस्तु-तत्त्व को जानकर अपनी शक्तिके अबुसार भोग और उपभोगका त्याग करना चाहिए ।।१६१।।भोग और उपभोगके निमित्तसे एकभी कन्दमूलादि साधारणशरीर को घात करने की इच्छा वाला पुरुष उस शरीरमे रहने वाले अनन्त जीवों का घात करता है, इसलिए समस्त ही अनन्त कायिक वनस्पतियोका सर्वथा परित्याग करना चाहिए ।।१६२।। वहुत जीवोकी उत्पत्तिका स्यानभूत नवनीत (लोणी, मक्खन) भी त्याग करनेके योग्य है। तथा आहार की शुद्धिमे जो कोई भी वस्तु विरुद्ध (अग्राह्य या अभक्ष्य) कही गई है, उन सभी का त्याग करना चाहिए ।।१६३।। जो भोग शास्त्र-विरुद्ध नही है,उन्हे भी वुद्धिमान् लोग अपनी शक्ति को देखकर त्याग करे। तथा जो भोगोपभोग सर्वदा के लिए त्याग नही किये जा सकते है उनसे सेवनमे भी एक दिन, रात्रि आदि की उपभोग्यतासे काल की सीमा करनी चाहिए ।।१४६।। प्रथम की हुई सीमामे फिर भी तात्कालिक निज शक्ति को देखकरके सीमाके भीतर और भी अन्तर सीमा प्रति-दिन करनेके योग्य है ।।१६५।।इस प्रकार जो गृहस्थ सीमित अल्प भोगोसे सन्तुप्ट रहता हुआ अधि-कांश भोगोको त्यागता है,उसके अधिकतर हिंसाके अभावसे अहिसा विशेपताको प्राप्त होती हैं ।।१६६।। यह भोगोपभोग नामक तीसरा शिक्षा व्रत है। दाताके गुणोसे युक्त श्रावक को स्व-पर अनुग्रहके हेतु विधि पूर्वक यथाजातरूपधारी अतिथि साधुके लिए द्रव्यविशेप का सविभाग अवश्य करना चाहिए।।१६७।।अतिथि का सग्रह (प्रतिग्रह) करना, उच्चस्थान देना, पाद-प्रक्षालन करना, पूजन करना,प्रणाम करना, तथा वचनशुद्धि, कायशुद्धि, मन शुद्धि, और भोजनशुद्धि, इस नवधा भक्ति को आचार्योने दान देने की विधि कहा है।।१६८।। इस लोक सम्बन्धी किसी भी प्रकारके फल की अपेक्षा न रखना,क्षमा धारण करना,निष्कपटभाव रखना,ईर्ष्या नकरना,विषाद न करना, प्रमोद भाव रखना, और अहंकार न करना ये सातदाताके गुण कहे गये हैं ।।१६९।। जो वस्तु

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम् ।
अविरतसम्यग्दृष्टि विरताविरतश्च सकलविरतश्च ।। १७१

हिंसाया पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने । तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरणमेवेष्टम् ।। १७२

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते ।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ।। १७३

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्याग ।
अरतिविषादविमुक्त शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ।। १७४

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया सम नेतुम् ।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ।। १७५

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि ।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिद शीलम ।। १७६

मरणेऽवश्यम्भाविनि कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे ।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ।। १७७

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रै. ।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ।। १७८

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम् ।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्धचर्थम् । १७९

राग, द्वेष, असयम, मद, दु ख और भय आदि को न करे और तप एव स्वाध्याय की वृद्धि करे, वह द्रव्य अतिथि को देनेके योग्य है ।।१७०।। जिसमे मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणो का सयोग हो. वह पात्र कहलाता है । उसके तीन भेद कहे गये है—उनमे अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है,देशविरत मध्यम पात्र है और सकलविरत साधु उत्तम पात्र है ।१७१।। यत पात्र को दान देने पर हिंसा का पर्यायभूत लोभ दूर होता है, अत अतिथि को दान देना हिंसा का परित्याग ही कहा गया है।।१७२।। जो गृहस्थ अपने घर पर आये हुए, गुणशाली, मधुकरी वृत्तिसे दूसरो को पीडा नही पहुँचाने वाले ऐसे अतिथिके लिए दान नही देता है,वह लोभवाला कैसे नही है? अर्थात् अवश्य ही लोभी है ।।१७३।। जो अपने लिए बनाये गये भोजन को मुनिके लिए देता है, अरति और विषादसे विमुक्त है, और लोभ जिसका शिथिल हो रहा है, ऐसे गृहस्थ का भावयुक्त त्याग (दान) अहिंसा स्वरूप ही है ।।१७४।।भावार्थ—अतिथिके लिए उपर्युक्त नवधाभक्तिसे दिया गया दान अहिसा धर्म रूप ही है । यह अतिथि सविभाग नामक चौथा शिक्षाव्रत है । अबआचार्य सल्लेखना का निरूपण करते है-यह एक ही सल्लेखना मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले जानेके लिए समर्थ है,इसलिए निरन्तर ही भक्तिसे अन्तिम (मारणान्तिकी) सल्लेखना की भावना करना चाहिए ।।१७५।। 'मरणके अन्तमे (मरते समय) मैं अवश्य ही विधिपूर्वक सल्लेखना को करूँगा', इस प्रकार की भावनासे परिणत श्रावक को अनागत भी यह सल्लेखनारूप शीलव्रत पालन करना चाहिए ।।१७६।।अवश्यम्भावी मरणके समय कषायो को कृश करनेके साथशरीरके कृश करनेमे व्यापार करने वाले पुरुष को समाधिमरण रागादि भावोके नही होनेसे आत्मघातरूप नही है।।१७७।। हाँ, जो पुरुष कषायाविष्ट होकर कुम्भक (श्वास-निरोध) जल, अग्नि, विष और शस्त्रादिकोसे प्राणो का घात करता है, उसका वह मरण सचमुच आत्मघात है ।।१७८।। इस समाधिमरणमे यत हिंसाके

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि ।
वरयति पतिवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्री ॥ १८०

अतिचारा: सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति ।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेया ॥ १८१

शङ्का तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम् ।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचारा ॥ १८२

छेदनताडनबन्धा. भारस्यारोपणं समधिकस्य । पानान्नयोश्च रोध: पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥ १८३

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती । न्यासापहारवचन साकारमन्त्रभेदश्च ॥ १८४

प्रतिरूपव्यवहार. स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् । राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥ १८५

स्मरतीव्राभिनिवेशानङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम्।अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयो पञ्च॥१८६

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासीनाम् । कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रिया पञ्च ॥ १८७

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यक्-व्यतिक्रमा· क्षेत्रवृद्धिराधानम् ।
स्मृत्यन्तरस्य गदिता पञ्चेति प्रथमशीलस्य ॥ १८८

प्रेषस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपात्तौ । क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति ॥१८९

कन्दर्प· कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम् । असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥१९०

कारणभूत कषाय क्षीणता को प्राप्त कराये जाते है,अत आचार्योंने सल्लेखना को अहिंसा की सिद्धि के लिए ही कहा है ॥१७९॥ इस प्रकार जो गृहस्थ पुरुष अहिंसादि व्रतो की रक्षाके लिए निरन्तर सभी शीलव्रतों को पालता है, उसे शिवपदरूपलक्ष्मी उत्कण्ठित पतिवरा कन्याके समान स्वय ही वरण करती है ॥१८०॥ सम्यग्दर्शनमे, पांचों व्रतोंमे तथा सल्लेखना-सहित सातो शीलोमे पांच-पाच अतिचार कहे गये हैं। वे सर्व मिलकर सत्तर होते हैं। ये अतीचार यथार्थ शुद्धिके प्रतिबन्धक है, अत छोडनेके योग्य है ॥ ८१॥ जिनोक्ततत्त्वमे शंका करना,सांसारिक भोगो की आकाक्षा रखना, ग्लानि करना,मिथ्यादृष्टियो की वचनसे स्तुति करना और मनसे उनकी प्रशंसा करना, ये पाच सम्यग्दर्शनके अतीचार है ॥१८२॥ अपने अधीन मनुष्य-पशुओके अंग छेदना, ताडन करना, बाधना, अधिक भार का लादना और अन्न-पान का निरोध करना ये पाच अहिंसा व्रत के अतीचार है ॥१८३॥ मिथ्या उपदेश देना, स्त्री-पुरुषो की गुप्त बातो को कहना, झूठे लेख लिखना,धरोहरके अपहारक वचन कहना और साकार मत्रभेद ये पाच सत्याणुव्रतके अतीचार है ॥१८४॥ प्रतिरूपक व्यवहार,स्तेन-प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, और हीनाधिकमानोन्मान,ये पाच अचौर्याणुव्रतके अतीचार है ॥१८५॥ कामतीव्राभिनिवेश, अनगक्रीडा, अन्यविवाहकरण, अपरिगृहीत-इत्वरिकागमन और परिगृहीत-इत्वरिकागमन,ये पॉच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार हैं ॥१८६॥वास्तु-क्षेत्र,हिरण्य-सुवर्ण,धन-धान्य,दासी-दास और कुप्यके वस्त्र-भाजनरूप दोनो भेदो मे भी स्वीकृत परिमाणका उल्लघन करना,ये पाच परिग्रहपरिमाणुव्रतके अतीचार है ॥१८७॥ ऊर्ध्वातिक्रम, अधस्तात्-व्यतिक्रम, तिर्यक्-व्यतिक्रम,क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान, ये दिग्व्रतरूप प्रथम शीलके पाच अतीचार है ॥१८८॥ प्रेष्य-प्रयोग, आनयन, शब्दानुपात, रूपानुपात, और पुद्गलक्षेप,ये पाच देशव्रतरूप द्वितीय शीलके अतीचार है ॥१८९॥ कन्दर्प, कौत्कुच्य, भोगानर्थक्य, मौखर्य और असमीक्षिताधिकरण,ये पांच अनर्थदडव्रतरूप तृतीय शीलव्रतके अतीचार है ॥१९०॥ वचनदु प्रणिधान. मनोदु-

वचनमन कायानां दु प्रणिधानमनादरश्चैव । स्मृत्यनुपस्थानयुता: पञ्चेति चतुर्थशीलस्य ।। १९१
अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्ग । स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ।। १९२

आहारो हि सचित्त. सचित्तमिश्र. सचित्तसम्बन्ध. ।
दुष्.ववोऽभिषवोऽपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ।। १९३

परदातृव्यपदेश. सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च । कालस्यातिक्रमण मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ।। १९४
जीवितमरणाशसे सुहृदनुराग सुख.नुबन्धश्च । सनिदान पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ।। १९५

इत्येतानतिचारानपरानपि सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य ।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलै पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात ।। १९६

चारित्रान्तर्भावात्तपोऽपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम् ।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ।। १९७

अनशनमवमोदर्यं विविक्तशय्यासन रसत्याग· ।
कायक्लेशो वृत्ते: संख्या च निषेव्यमिति तपोबाह्यम् ।। १९८

विनयो वैयावृत्त्य प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्ग ।
स्वाध्यायोऽथ ध्यान भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति ।। १९९

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम् ।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्ति च निषेव्यमेतदपि ।। २००

इद मावश्यकषट्कं समतास्तववन्दना प्रतिक्रमणम् । प्रत्याख्यान वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्तव्यम्।।२०१

प्रणिधान, कायदु प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान, ये पाच सामायिकशिक्षाव्रतरूप चतुर्थ शीलव्रतके अतीचार है ।।१९१।। अनवेक्षित-अप्रमार्जितादान अनवेक्षित-अप्रमार्जित सस्तर, अनवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग, स्मृत्यनुपस्थान और अनादर ये पाँच प्रोषधोपवास शिक्षा-व्रतरूप पचमशीलके अतीचार है ।।१९२।। सचित्ताहार, सचित्तसमिश्र, सचित्तसम्बन्ध, दुष्पक्व और अभिषव आहार, ये पाँच भोगोपभोगपरिमाणशिक्षाव्रतरूप षष्ठ शीलके अतीचार है ।।१९३।। परदातृ-व्यपदेश,सचित्त निक्षेप, सचित्तपिधान, कालातिक्रमण और मात्सर्य,ये पाच अतिथिसविभाग-शिक्षाव्रतरूप सप्तम शीलके अतीचार है ।।१९४।। जीविताशसा, मरणाशसा, सुहृदनुराग, सुखानुबन्ध और निदान,ये पाच अतीचार सल्लेखना कालमे होते है ।।१९५।। इन उपर्युक्त सत्तर अतीचारो को, तथा इसी प्रकारके सभव अन्य भी अतिचारो को स्वय विचार करके छोडने वाला श्रावक निर्मल सम्यक्त्व,व्रत और शीलोके द्वारा शीघ्र ही पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त होता है।।१९६।। चारित्रमे अन्तर्भाव होनेसे तपभी मोक्षका कारण आगममे कहा गया है, इसलिए आपने बल-वीर्यको नही छिपाकर सावधान-चित्त श्रावकोको उस तपका भी सेवन करना चाहिए ।।१९७।।वह तप दो प्रकारका है—बाह्य तप और अन्तरग तप । इनमेसे बाह्य तप छह प्रकारका है—अनशन, अव-मोदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश । इन तपोका यथाशक्ति सेवन करे ।।१९८।। विनय, वैयावृत्य, प्रायश्चित्त, उत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान ये छह अन्तरग तप है, इनका भी आचरण करना चाहिए ।।१९९।। जिनेश्वरदेवके प्रवचनमे मुनीश्वरोका जो आचरण कहा गया है,उसे भी अपनी पदवी और शक्तिका भले प्रकारसे विचार करके पालन करना चाहिए ।।२००।। जिनागममे मुनियोके छह आवश्यक कर्त्तव्य कहे गये है—सामायिक,

सम्यग्दण्डो वपुष सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य। मनस सम्यग्दण्डो गुप्तीनांत्रितयमवगन्तव्यम्॥२०२
सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्। सम्यग्ग्रहनिक्षेपो व्युत्सर्गः सम्यगिति समिति ॥२०३
धर्म. सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।
आकिञ्चन्य ब्रह्म त्यागश्च तपश्च सयमश्चेति ॥ २०४
अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्म। लोकवृषबोधिसवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्षा ॥२०५
क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनाऽरतिरलाभ.।
दशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदु खमङ्गमलम॥ २०६
स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शन तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कार. शय्या चर्या वधो निषद्या स्त्री॥ २०७
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्या परीषहाः सततम्। सक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ॥ २०८
इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषता॥ २०९
बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्तव्य सपदि परिपूर्णम्। २१०
असमग्र भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः॥ २२१

स्तवन,वन्दना,प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। गृहस्थको यथाशक्ति इन्हे भी करना चाहिए ॥२०१॥ मुनिजन तीन गुप्तियों को धारण करते हैं—मनोगुप्ति—मनका सम्यक् निग्रह, वचन-गुप्ति—वचनका सम्यक् निरोध और कायगुप्ति—कायका सम्यक् नियमन। गृहस्थकीभी यथाशक्ति मन-वचन-कायको वशमें रखना चाहिए ॥२०२॥ साधु पांच समितियोंका पालन करते है—ईर्या-समिति-सावधानीपूर्वक गमनागमन करना, भाषासमिति-सम्यक् भाषा बोलना, एषणासमिति, आहार की शुद्धि रखना, आदाननिक्षेपणसमिति—देख-शोधकर उपकरणादिको लेना और रखना, तथा व्युत्सर्गसमिति-निर्जन्तु स्थानपर मल-मूत्रादिको क्षेपण करना। गृहस्थको भी उक्त सभी कार्योंमे यथासम्भव सावधानी रखना चाहिए ॥२०३॥ साधुजन उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच,सत्य, सयम, तप, त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोको धारण करते है। श्रावक भी तथाशक्ति इनको धारण करे ॥२०४॥अनित्य, अशरण, जन्म (ससार) एकत्व अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मभावना, इन बारह अनुप्रेक्षाओका भी निरन्तर चिन्तवन करना चाहिए ॥२०५॥ मुनिजन इस बाईस परीपहोको सदा सहन करते है-क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, नग्नता, याचना, अरति, अलाभ, दशमशक, आक्रोश, रोग, मल, तृण-स्पर्श, अज्ञान, अदर्शन, प्रज्ञा, सत्कार पुरस्कार, शय्या, चर्या, वध, निषद्या और स्त्रीपरीपह। ससार-सक्लेशके निमित्तोसे भयभीत श्रावको संक्लेशसे विमुक्तचित्त होकर ये बाईस परीपह भी यथासभव सदा सहन करना चाहिए ॥२०६-२०८॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप यह रत्नत्रयधर्म निराबाध मुक्तिकी अभिलाषा रखनेवाले गृहस्थको विकल (एकदेश) रूपसे भी प्रतिसमय निरन्तर परिपालन करना चाहिए ॥२०९॥पुन नित्य उद्यमशील गृहस्थोको बोधिलाभका अवसर पाकर और मुनियोका पद अवलम्बनकर इस रत्नधर्मको शीघ्रही परिपूर्ण करना चाहिए ॥२१०॥

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१२
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१३
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१४
योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात् । दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥ २१५

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥ २१६
सम्यक्त्वचारित्राभ्यां तीर्थङ्कराहारकर्मणो बन्धः ।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥ २१७
सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थङ्कराहार-बन्धकौ भवतः ।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥ २१८
ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः ।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥ २१९

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य । आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥ २२०

अपूर्ण रत्नमय धर्मको धारण करनेवाले पुरुषके जो कर्म-बन्ध होता है, वह विपक्षी रागकृत है, रत्नत्रय-कृत नही है, जो मोक्षका उपाय है, कर्मबन्धनका उपाय नही है ॥ २११ ॥ भावार्थ-एक देश या अपूर्ण रत्नमय धर्मके धारक सम्यग्दृष्टि पुरुषके शुभ भावके कारण जो पुण्यबन्ध होता है, उसका रत्नत्रय परिणाम मोक्षका ही कारण हैं। इस आत्माके जिस अंशसे सम्यग्दर्शन हैं,उस अंशसे उसके कर्मबन्ध नही है। किन्तु जिस अंशसे राग हैं,उस अंशसे इसके कर्म-बन्ध होता है ॥२१२॥ जिस अंशसे सम्यग्ज्ञान है, उस अंशसे उसके कर्म-बन्ध नही है। किन्तु जिस अंशसे राग है,उस अंशसे इसके कर्म-बन्ध होता है ॥२१३॥ जिस अंशसे सम्यक्चरित्र है, उस अंशसे इसके कर्म-बन्ध नही है। किन्तु जिस अंशसे राग है, उस अंशसे इसके कर्म-बन्धहोता है॥२१४॥ मन-वचन-कायके परिस्पन्दरूप योगसे प्रदेश बन्ध (और प्रकृति बन्ध) होता है,तथा कषायसे स्थितिबन्ध (और अनुभागबन्ध) होता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र न योगरूप है और न कषायरूप है। (अतः रत्नत्रयधर्म-परिणाम जीवके किसी भी कर्म-बन्धका कारण नही होता है॥२१५॥ आत्मस्वरूपका विनिश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्मस्वरूपका परिज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जाता है और आत्मस्वरूपमे अवस्थान सम्यक्चारित्र है। फिर इन तीनोसे कर्मबन्ध कैसे हो सकता है? अर्थात् रत्नत्रयसे कर्मबन्ध नही होता ॥२१६॥ आगममे जो सम्यग्दर्शनसे तीर्थंकर प्रकृतिका और सम्यक्चारित्रसे आहारक-प्रकृतिका कर्म-बन्ध कहा गया है,वह भी नय वेत्ताओ-को दोषके लिए नही है ॥२१७॥ क्योकि सम्यक्त्व और चारित्रके होते हुए तज्जातीय योग और कषाय तीर्थंकर और आहारक प्रकृतिका बन्ध करनेवाले होते है, यदि तज्जातीय योग और कषाय नही होते है, तो सम्यक्त्व और चारित्र उन दोनो प्रकृतियोके बन्धक नही होते हैं। वस्तुतः तीर्थंकर और आहारक प्रकृतिके बन्धके समय सम्यक्त्व और चारित्र तो उदासीन रूपसे ही रहते है॥२१८॥ यहाँ कोई शका करता है कि फिर रत्नत्रयधारक मुनिवरोके सर्वजन-सुप्रसिद्ध यह देवायु आदिक पुण्य-प्रकृतियोका वन्ध किस प्रकारसे सिद्ध होता है॥२१९। ग्रन्थकार उक्त शकाका समा-

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि ।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः ॥ २२१
सम्यक्त्वचरित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येष : मुख्योपचाररूप. प्रापयति परमपद पुरुषम् ॥२२२
नित्यमपि निरुपलेप स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः ।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतम ॥ २२३
कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥ २२४
एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण । अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थानननेत्रमिव गोपी॥२२५
वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि ।
वाक्यैः कृत पवित्र शास्त्रमिदं न पुनरस्माभि· ॥ २२६

■

धान करते हुए कहते है कि इस लोकमे रत्नत्रय तो निर्वाण (मोक्ष) का ही कारण है, अन्यका नही। रत्नत्रय-धारक मुनिवरोके जो पुण्य प्रकृतियोका आस्रव होता है वह उसके शुभोपयोगका अपराध है,रत्नत्रयका नही ॥२२०॥ एक वस्तुमे अत्यन्त विरुद्ध दो कार्योंके मिलापसे वैसा व्यवहार विरुद्ध भी रूढिको प्राप्त हो रहा है, जैसे कि 'घी जलाता हे' यह व्यवहार लोकमे प्रचलित हो रहा है ॥२२१॥ भावार्थ—जैसे अग्नि दाहरूप कार्यमे कारण है और घी अदाहरूप कार्यमे कारण है, अर्थात् दाहका उपशामक है । किन्तु जब घी अग्निका सयोग पाकर उष्णताको प्राप्त होता है,तव यह कहा जाता है कि घी ने अमुक पुरुषको जला दिया । इसी प्रकार शुभोपयोग पुण्यवन्धरूप कार्यमे कारण है और रत्नत्रय मोक्षरूप कार्यमे कारण है । परन्तु जव गुणस्थानारोहणकी परिपाटीमे दोनो एकत्र मिलते है,तव व्यवहारसे यह कहा जाता है कि रत्नत्रय धारक पुरुषोके देवायु आदिक पुण्य प्रकृतियोका वन्ध होता है । यदि यथार्थमे रत्नत्रयको कर्म-वन्धका कारण माना जायगा,तो फिर मोक्षका सर्वथा अभाव ही हो जायगा। अतएव सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र लक्षणवाला यह निश्चय और व्यवहाररूप रत्नत्रय ही मोक्षका मार्ग है और यही पुरुषको परम परमात्मपद प्राप्त कराता है अर्थात् मोक्षले जाता है ॥२२२॥ उस परम सिद्ध पदमे यह परम पुरुप आत्मा आकाशके समान सदा ही कर्म-रजके लेपसे रहित,स्वरूपमे विराजमान,निरुपद्रव और निर्मलतम अवस्थाका धारक होकर सदा ही प्रकाशमान होता है॥२२३॥ यह कृतकृत्य, सर्व पदार्थोमे ज्ञाता, परमानन्दमें निमग्न ज्ञानशरीरी परमात्मा उस परमपद सिद्धलोकमे सदैव आनन्दित रहता है॥२२४॥ जैसे दहीको मथनेवाली गोपी मथानीकी रस्सीको एक हाथसे खीचती है और दूसरे हाथसे उसे ढीली (शिथिल) करती है, उसी प्रकार यह अनेकान्तरूपी जैनी नीति वस्तु तत्त्वको एक धर्मसे आकर्पण करती हुई और दूसरे धर्मसे उसे शिथिल करती हुई सदा जयवन्ती रहती है॥२२५॥नाना प्रकारके वर्णो (अक्षरो) से पद वनते है, नाना पदोसे वाक्य वनते है और नाना वाक्योके द्वारा यह पवित्र शास्त्र रचा गया है । हमारे द्वारा कुछ भी नही किया गया है । यह कहकर ग्रंथकारने अपनी लघुता प्रकट की है ॥ २२६॥

इति श्री अमृतचन्द्राचार्य-विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय समाप्त ।

यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन

षष्ठ आश्वास

धर्मात्किलैष जन्तुर्भवति सुखी जगति स च पुनर्धर्मः । किंरूपः किंभेदः किमुपायः किंफलश्च जायेत ॥ १
यस्मादभ्युदयः पुंसां निःश्रेयसफलाश्रयः । वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः ॥ २
स प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा गृहस्थेतरगोचरः । प्रवृत्तिर्मुक्तिहेतौ स्यान्निवृत्तिर्भवकारणात् ॥ ३
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रयं मोक्षस्य कारणम् । संसारस्य च मीमांस्यं मिथ्यात्वादिचतुष्टयम् ॥ ४
सम्यक्त्वं भावनामाहुर्युक्तियुक्तेषु वस्तुषु । मोहसन्देहविभ्रान्तिवर्जितं ज्ञानमुच्यते ॥ ५
कर्मादाननिमित्तायाः क्रियायाः परमं शमम् । चारित्रोचितचातुर्याश्चारुचारित्रमूचिरे ॥ ६
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रविपर्ययपरं मनः । मिथ्यात्वं त्रिषु भाषन्ते सूरयः सर्ववेदिनः ॥ ७

अत्र दुरागमवासनाविलासिनीवासितचेतसां प्रवर्तितप्राकृतलोकानोकहोन्मूलनसमयस्रोतसां सदाचाराचरणचातुरीविदूरवर्तिनां परवादिनां मुक्तेरुपाये काये च बहुवृत्तयः खलु प्रवृत्तयः । तथा

धर्मसे यह प्राणी जगत्मे सुखी होता है। उस धर्मका क्या स्वरूप है? कितने भेद है? तथा उसका क्या उपाय और क्या फल है ॥१॥ जिससे मनुष्योके ऐसे अभ्युदयकी प्राप्ति होती है, जिसका फल मोक्ष है उसे आम्नायके ज्ञाता धर्माचार्य धर्म कहते है ॥२॥ वह धर्म प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप है। मोक्षके कारणोमे लगनेको प्रवृत्ति और ससारके कारणोसे बचनेको निवृत्ति कहते है। वह धर्म गृहस्थ धर्म और मुनि धर्मके भेदसे दो प्रकारका है ॥३॥ अब प्रश्न यह है कि मुक्तिका कारण क्या हैं और ससारका कारण क्या है? तथा गृहस्थोका धर्म क्या है और मुनियोंका धर्म क्या है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र मोक्षके कारण है। तथा मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग ससारके कारण है॥४॥ युक्तियुक्त वस्तुओमे दृढ आस्थाका होना सम्यग्दर्शन है और मोह, सन्देह तथा भ्रमसे रहित ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है॥५॥ जिन कामोके करनेसे कर्मोका वन्ध होता है उन कामोके न करनेको चारित्रमे चतुर आचार्य सम्यक्चारित्र कहते है॥६॥ तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्मक्चारित्रके विषयमे विपरीत मानसिक प्रवृत्तिको सर्वविद् आचार्योंने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहा है॥७॥

अन्य मतवाले मुक्तिका स्वरूप तथा उपाय अलग-अलग वतलाते है। १ सैद्धान्तिक वैशेषिकोका कहना है कि सशरीर का अशरीर परम शिवके द्वारा प्राप्त हुए मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करना और उनपर श्रद्धा मात्र रखना मोक्षका कारण है। २ तार्किक वैशेषिकोका कहना है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, विशेष और अभाव इन सात पदार्थोके साधर्म्य और वैधर्म्य मूलक ज्ञान मात्रसे मोक्ष होता है। ३ पाशुपतोका कहना है कि तीनो समय प्रात. दोपहर और शामको भस्म लगाने, शिवलिंगकी पूजा करने, उसके सामने जलपात्र स्थापित करने, प्रदक्षिणा करने और आत्मदमन आदि क्रियाकाण्डमात्रके अनुष्ठानसे मोक्ष होता है। ४. कुलाचार्यकोका कहना है कि

हि–'सकलनिष्कलाप्तप्राप्तमन्त्रतन्त्रापेक्षदीक्षालक्षणाच्छ्रद्धामात्रानुसरणान्मोक्ष 'इति सैद्धान्तवैशेषिका:, द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायान्त्यविशेषाभावाभिधानानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यावबोधतन्त्राज्ज्ञानमात्रात्' इति तार्किकवशेषिका:, 'त्रिकालभस्मोद्धूलनेज्यागड्डुकप्रदानप्रदक्षिणीकारणात्मविडम्बनादिक्रियाकाण्डमात्राधिष्ठानादनुष्ठानात्' इति पाशुपता, 'सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु नि:शङ्कचित्ताद् वृत्तात्' इति कुलाचार्यका । तथा च त्रिकमतोक्ति –'मदिरामोदमेदुरवदनस्तरसरसप्रसन्नहृदय सव्यपार्श्वविनिवेशितशक्ति· शक्तिमुद्रासनधर; स्वयमुमामहेश्वरायमाण कृष्णया शर्वाणीश्वरमाराधयेदिति । प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकमते ख्याते ' इति सांख्या·, 'नैरात्म्यादिनिवेदितसंभावनातो भावना त 'इति दशबलशिष्या ,'अङ्गाराञ्जनादिवत्स्वभावादेव कालुष्योत्कर्षप्रवृत्तस्य चित्तस्य न कुतश्चिद्विशुद्धचित्तवृत्ति.'इति जैमिनीया·, 'सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते तत. परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावे कस्यासौ मोक्ष:' इति समवाप्तसमस्तनास्तिकाधिपत्या बार्हस्पत्या:,'परमब्रह्मदर्शनवशादशेषभेदसंवेदनाविद्याविनाशात्' इति वेदान्तवादिन ,

''नैवान्तस्तत्त्वमस्तीह न बहिस्तत्त्वमञ्जसा । विचारगोचरातीतेः शून्यता श्रेयसी तत ॥८

इति पश्यतोहरा. प्रकाशितशून्यतैकान्ततिमिराः शाक्यविशेषा , तथा 'ज्ञानसुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्मसंस्काराणा नवसंख्यावसराणामात्मगुणानामत्यन्तोन्मुक्तिर्मुक्ति ' इति काणादा.। तदुक्तम्–

''बहि: शरीराद्यद्रूपमात्मन: सप्रतीयते । उक्तं तदेव मुक्तस्य मुनिना कणभोजिना'' ॥ ९

'निराश्रयचित्तोत्पत्तिलक्षणो मोक्षक्षण इति ताथागता: । तदुक्तम्–

नि:शंक चित्तसे समस्त पीने योग्य,न पीने योग्य, खाने योग्य, न खाने योग्य पदार्थोंमे प्रवृत्ति करनेसे मोक्ष होता है। त्रिकमतमे लिखा है कि शराबकी सुगन्धसे मुखको सुवासित करके, मासके स्वादसे हृदयको प्रसन्न करके और वाम पार्श्वमे स्त्री शक्तिको स्थापित करके योनि-मुद्रा आसनका धारक स्वय ही शिव और पार्वती बनकर मदिराके द्वारा उमा और महेश्वरकी आराधना करे। ५ साख्योंका कहना है कि प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानसे मोक्ष होता है । ६ बुद्धके शिष्योका कहना है कि नैरात्म्य भावनाके अभ्याससे मोक्ष होता है । ७ जैमिनीयोका मत है कि कोयले और अजनकी तरह स्वभावसे ही कलुषित चित्तकी चित्तवृत्ति विशुद्ध नही हो सकती। अर्थात् जैसे कोयलेको घिसनेपर भी वह सफेद नही हो सकता,उसी प्रकार स्वभावसे ही मलिन चित्त विशुद्ध नही हो सकता । ८. नास्तिक शिरोमणि बृहस्पतिके अनुयायी चार्वाकोका कहना है कि धर्मीके होनेपर ही धर्मोका विचार किया जाता है । अत परलोकमे जानेवाली किसी आत्माके न होनेसे जव परलोक ही नही है तव मोक्ष होता किसको है? अर्थात् जव आत्मा ही नही है तो मोक्षकी वात ही वेकार है । ९ वेदान्तियोंका मत है कि परम ब्रह्मका दर्शन होनेसे समस्त भेदज्ञानको करानेवाली अविद्याका नाश हो जाता है और उससे मोक्षकी प्राप्ति होती है । १० दिखाई देनेवाले विश्वका भी निषेध करनेवाले शून्यतैकान्तवादी बौद्धविशेषोका मत है कि न कोई अन्तस्तत्त्व आत्मा वगैरह है और न कोई वास्तविक बाहरी तत्त्व घटादिक ही है,दोनो ही विचारगोचर नही है, अत शून्यता ही श्रेष्ठ है ।।८।। ११ कणादके अनुयायियोंका मत है कि ज्ञान, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म, आत्माके इन नौ गुणोका अत्यन्त अभाव हो जानेको ही मुक्ति कहते है । कहा भी है–''शरीरसे बाहर आत्माका जो स्वरूप प्रतीत होता है,कणाद मुनिने उसीको मुक्तात्माका स्वरूप कहा है।।९ ।।

"दिश न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेत स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ।। १०
दिश न कांचिद्विदिश न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेत क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्" ।। ११

'बुद्धिमनोऽहङ्कारविरहादखिलेन्द्रियोपशमावहात्तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिः' इति कापिलाः । 'यथा घटविघ ने घटाकाशमाकाशीभवति तथा देहोच्छेदात्सर्व प्राणी परब्रह्मणि लीयते' इति ब्रह्माद्वैतवादिन ।

अज्ञातपरमार्थानामेवमन्यऽपि दुर्नया । मिथ्यादृशां न गण्यन्ते जात्यन्धानामिव द्विपे ।। १२
प्राय संप्रति कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम् । निर्लूननासिकस्येव विशुद्धादर्शदर्शनम् ।। १३
दृष्टान्ता सन्त्यसख्येया मतिस्तद्वशवर्तिनी । किं न कुर्युर्मही धूर्ता विवेकरहितामिमाम् ।। १४
दुराग्रहग्रहग्रस्ते विद्वान्पुंसि करोतु किम् । कृष्णपाषाणखण्डेषु मार्दवाय न तोयदः ।। १५
ईर्ते युक्ति यदेवात्र तदेव परमार्थसत् । यद्भानुदीप्तिवत्तस्याः पक्षपातोऽस्ति न क्वचित् ।। १६
श्रद्धा श्रेयोऽर्थिनां श्रेयःसंश्रयाय न केवला । बुभुक्षितवशात्पाको जायेत किमुदम्बरे ।। १७
पात्रावेशादिवन्मन्त्रादात्मदोषपरिक्षयः । दृश्येत यदि को नाम कृती क्लिश्येत संयमैः ।। १८

---

१२. बौद्धोका कहना है कि निराश्रय चित्तकी उत्पत्ति हो जाना ही मोक्ष है । कहा भी है-"जैसे दीपक बुझ जानेपर न किसी दिशाको चला जाता है,न किसी विदिशाको चला जाता है । न नीचे पृथ्वीमे समा जाता है और न ऊपर आकाशमे समा जाता है,किन्तु तेलके क्षय हो जानेसे शान्त हो जाता है। उसी तरह निर्वाणको प्राप्त हुआ जीव न किसी दिशाको जाता है,न किसी विदिशाको जाता है,न पृथ्वीमे समा जाता है और न ऊपर आकाशमे समा जाता है, किन्तु क्लेशोके क्षय हो जानेसे शान्त हो जाता है"।।१०-११।। १३ बुद्धि, मन और अहकारका अभाव हो जानेके कारण समस्त इन्द्रियोके शान्त हो जानेसे पुरुषका अपने चैतन्य स्वरूपमे स्थित होना मोक्ष है, ऐसा कपिल ऋषिके अनुयायी मानते है । ब्रह्माद्वैतवादियोका कहना है कि जैसे घटके फूट जानेपर घटसे रोका हुआ आकाश आकाशमे मिल जाता है, उसी तरह शरीरका विनाश हो जानेपर सब प्राणी परम ब्रह्ममे लीन हो जाते है। जिस तरह जन्मान्ध मनुष्य हाथीके विषयमे विचित्र कल्पनाएँ कर लेते हैं, उसी तरह परमार्थको न जाननेवाले मिथ्यामतवादियोने अन्य भी अनेक मत कल्पित कर रखे है, उनकी गणना करना भी कठिन है ।।१२।। (इस प्रकार मोक्षके विषयमे अन्य मतोको बतला कर आचार्य विचारते है—) जैसे नकटे मनुष्यको स्वच्छ दर्पण दिखानेसे उसे क्रोध आता है, वैसे ही आजकल सन्मार्गका उपदेश भी प्राय लोगोके क्रोधका कारण होता है ।।१३।। ससारमे दृष्टान्तोकी कमी नही है, दृष्टान्तोको सुनकर लोगोकी बुद्धि उनके आधीन हो जाती है। ठीक ही है-धूर्त लोग इस विवेक शून्य पृथ्वीपर क्या नही कर सकते ।।१४। जो पुरुष दुराग्रह रूपी राहुसे ग्रस लिया गया है अर्थात् जो अपनी बुरी हठको पकडे हुए है उस पुरुषको विद्वान् कैसे समझावे । मेघके बरसनेसे काले पत्थरके टुकडोमे कोमलता नही आती।।१५।।फिर भी इस लोकमे जो वस्तु युक्तिसिद्ध हो वही सत्य है,क्योकि सूर्यकी किरणोकी तरह युक्ति भी किसीका पक्षपात नही करती ।।१६।।(इस प्रकार मनमे विचार कर आचार्य यहाँसे उक्त मतान्तरोका क्रमश निराकरण करते हैं—) १ कल्याण चाहनेवालोका कल्याण केवल श्रद्धा मात्रसे नही हो सकता । क्या भूख लगनेसे ही गूलर पक जाते

दीक्षाक्षणान्तरात्पूर्वं ये दोषा भवसंभवा । ते पश्चादपि दृश्यन्ते तन्न सा मुक्तिकारणम् ॥ १९
ज्ञानादवगमोऽर्थानां न तत्कार्यसमागम. । तर्षापकर्षयोगि स्याद्‌दृष्टमेवान्यथा पय ॥ २०
ज्ञानहीने क्रिया पुंसि पर नारभते फलम् । तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभि ॥ २१
ज्ञान पङ्गौ क्रिया चान्धे नि श्रद्धे नार्थकृद्‌द्वयम् । ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणम् ॥ २२
उक्तं च
"हतं ज्ञान क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया । धावन्नप्यन्धको नष्ट. पश्यन्नपि च पङ्गुलः"॥२३
नि शङ्कात्मप्रवृत्तेः स्याद्यदि मोक्षसमीक्षणम् । ठकसूनाकृतां पूर्वं पश्चात्कौलेष्वसौ भवेत् ॥ २४
अव्यक्तनरयोर्नित्य नित्यव्यापिस्वभावयो । विवेकेन कथं ख्याति सांख्यमुख्या. प्रचक्षते ॥ २५

है? ॥१७॥ उचित व्यक्तिमे आगत भूतावेशकी तरह यदि मन्त्र पाठसे ही आत्माके दोषोका नाश होता देखा जाता, कौन मनुष्य संयम धारण करनेका क्लेश उठाता ॥१८॥ दीक्षा धारण करनेसे पहले जो सांसारिक दोष देखे जाते है,दीक्षा धारण करनेके वाद भी वे दोष देखे जाते है। अत केवल दीक्षा भी मुक्तिका कारण नही है ॥१९॥ **भावार्थ** पहले सैद्धान्त वैशेषिकोका मत वतलाते हुए कहा है कि वे मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करने और उनपर श्रद्धा मात्र रखनेसे मोक्ष मानते है। उसीकी आलोचना करते हुए आचार्य कहते है कि न केवल श्रद्धासे ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है और न मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करनेसे ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। श्रद्धा तो मात्र रुचिको वतलाती है,किन्तु किसी चीजपर श्रद्धा हो जाने मात्रसे ही तो वह प्राप्त नही हो जाती। इसी तरह दीक्षा धारण कर लेने मात्रसे भी काम नही चलता,क्योकि दीक्षा लेनेपर भी यदि सासारिक दोपोके विनाशका प्रयत्न न किया जाये तो वे दोष जैसे दीक्षा लेनेसे पहले देखे जाते है वैसे ही दीक्षा धारण करनेके वादमे भी देखे जाते है। यदि केवल श्रद्धा या दीक्षासे ही काम चल सकता होता तो सयम धारण करनेके कष्टोको उठानेकी जरूरत ही नही रहती अत. ये मोक्षके कारण नही माने जा सकते। (अव आचार्य विना ज्ञानकी क्रियाको और विना क्रियाके ज्ञानको व्यर्थ वतलाते है-) २ ३ ज्ञानसे पदार्थोका वोध होता है,किन्तु उन्हे जानने मात्रसे उन पदार्थोका कार्य होता नहीं देखा जाता। यदि ऐसा होता तो पानीके देखते ही प्यास वुझ जानी चाहिए ॥२०॥ तथा ज्ञानहीन पुरुषकी क्रिया फलदायी नही होगी। क्या अन्धे मनुष्य वृक्षकी छायाकी तरह उसके फलोकी शोभाका आनन्द ले सकते है? ॥२१॥ क्रियाहीन पगुका ज्ञान और ज्ञानहीन अन्धेकी क्रिया दोनो ही कार्यकारी नही है। अत ज्ञान,चारित्र और श्रद्धा तीनो ही मिलकर मोक्षका कारण है ॥२२॥ कहा भी है क्रियाकाचरणसे शून्य ज्ञान भी व्यर्थ हैं और अज्ञानीकी क्रिया भी व्यर्थ है। देखो,एक जगलम आग लगनेपर अन्धा मनुष्य दौड-भाग करके भी नही वच सका,क्योकि वह देख नही सकता था और लँगडा मनुष्य आगको देखते हुए भी न भाग सकनेके कारण उसीमे जल मरा ॥२३॥ (कौल मतवादियोको आचार्य उत्तर देते है—) ४ यदि मद्य-मास वगैरहमे नि शङ्क होकर प्रवृत्ति करनेसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती तो सवसे पहले तो ठगो और मास वेचनेवाले कसाइयोकी मुक्ति होनी चाहिए। उनके पीछे कौल मतवालोकी मुक्ति होनी चाहिए॥२४॥ (इस प्रकार केवल ज्ञान या केवल चारित्रसे मुक्तिकी प्राप्तिको असम्भव वतलाकर आगे आचार्य सांख्य मतकी आलोचना करते है-) ५. सांख्य मतमे प्रकृति और पुरुष दोनो व्यापक और नित्य माने गये है। ऐसी अवस्थामें उनमे भेद ग्रहण कैसे सम्भव है? अर्थात् व्यापक और नित्य होनेसे प्रकृति और पुरुष दोनो सदा-

सर्वं चेतसि भासेत वस्तु भावनया स्फुटम् । तावन्मात्रेण मुक्तत्वे मुक्ति स्याद्विप्रलम्भिनाम् ॥२६
तदुक्तम्—

"पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भेद्ये ।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्तानन व्यक्तम्" ॥ २७

स्वभावान्तरसंभूतिर्यत्र तत्र मलक्षयः । कर्तुं शक्यः स्वहेतुभ्यो मणिमुक्ताफलेष्विव ॥ २८
'तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृते । भूतानन्वयनाज्जीव प्रकृतिज्ञ सनातन" ॥ २९
भेदोऽयं यद्यविद्या स्याद्वैचित्र्यं जगत. कुतः । जन्ममृत्युसुखप्रायैर्विवर्तैर्मनिर्वर्तिभिः ॥ ३०

से मिले हुए ही रहते है। तब उनमे भेद ग्रहणका कथन साख्याचार्य कैसे करते है ॥२५॥ (पहले नैरात्म्य भावनासे मुक्ति माननेवाले एक मतका उल्लेख कर आये है,उसकी आलोचना करते हुए ग्रन्थकार कहते है—) ६ भावनासे सभी वस्तु चित्तमे स्पष्ट रूपसे झलकने लगती है। यदि केवल उतनेसे ही मुक्ति प्राप्त होती है तो ठगोकी भी मुक्ति हो जायेगी ॥२६॥कहा भी है "सब ओरसे वन्द जेलखानेमे अत्यन्त घोर अन्धकारके होते हुए और मेरे आँख वन्द कर लेनेपर भी मुझे अपनी प्रियाका मुख स्पष्ट दिखाई देता है"॥२७॥ **भावार्थ**-आशय यह है कि भावना जैसी भाई जाती है वैसी ही वस्तु दिखाई देने लगती है। अत केवल भावनाके वलपर यथार्थ वस्तुकी प्राप्ति नही हो सकती। (इस प्रकार नैरात्म्य भावनावादीको उत्तर देकर आचार्य जैमिनिके मतकी आलोचना करते है। जैमिनिका कहना है कि स्वभावसे ही कलुषित चित्तकी विशुद्धि नही हो सकती। इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते है—(७) जिस वस्तुमे स्वभावान्तर हो सकता है,उसमे अपने कारणोसे मलका क्षय किया जा सकता है, जैसा कि मणि और मोतियोमे देखा जाता है अर्थात् माणि मोती वगैरह जन्मसे हो सुमैल पैदा होते है किन्तु बादको उनका मैल दूर करकेउन्हें चमकदार बना लिया जाता है। इसी तरह अनादिसे मलिन आत्मासे भी कर्म-जन्य मलिनताको हटाकर उसे विशुद्ध किया जा सकता है॥२८॥ (अब आत्मा और परलोकको न माननेवाले चार्वाकोको उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं)८ उस दिनका पैदा हुआ वच्चा माताके स्तनोको पीनेकी चेष्टा करता है, राक्षस वगैरह देखे जाते है किसी-किसीको पूर्व जन्मका स्मरण भी हो जाता है,तथा आत्मामे पञ्च भूतोका कोई भी धर्म नही पाया जाता। इन बातोसे प्रकृतिका ज्ञाता जीव सनातन सिद्ध होता है॥२९॥ **भावार्थ**-आशय यह है कि चार्वाक आत्माको एक स्वतन्त्र द्रव्य नही मानता। उसका कहना है कि जैसे कई चीजोके मिलानेसे शराव वन जाती है और उसमे मादकता उत्पन्न हो जाती है,उसी तरह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतोके मिलनेसे एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है या प्रकट हो जाती है, उसे ही आत्मा कह देते हैं। जव वे पाँचों भूत विछुड जाते है तो देह शक्ति भी नष्ट हो जाती है। अत पञ्चभूतोके सिवाय आत्मा कोई स्वतत्र द्रव्य नही है। इसका निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि एक तो उसी दिनका जन्मा हुआ वच्चा माताके स्तनोको पीनेकी चेष्टा करता हुआ देखा जाता है,और यदि उसके मुहमे स्तन लगा दिया जाता है तो झट पीने लगता है। यदि बच्चेको पूर्व जन्मका सस्कार न होता तो पैदा होते ही उसमे ऐसी चेष्टा नही होनी चाहिए थी। यह सव पूर्व जन्मका सस्कार ही है। तथा राक्षस व्यन्तरादिक देव देखे जाते है जो अनेक वाते वतलाते हैं। पूर्व जन्मके स्मरणकी कई घटनाएँ सच्ची पाई गई है,तथा सवसे वडी वात तो यह है कि यदि चैतन्य भूतोके मेलमे पैदा होता है तो उसमे भूतोका धर्म पाया जाना

शून्यं तत्त्वमहं वादी साधयामि प्रमाणतः । इत्यास्थायां विरुध्येत सर्वशून्यत्ववादिता ॥ ३१
बोधो वा यदि वानन्दो नास्ति मुक्तौ भवोद्भवः । सिद्धसाध्यतयास्माकं न काचित्क्षतिरीक्ष्यते॥३२
न्यक्षवीक्षाविनिर्मोक्षे मोक्षे किं मोक्षिलक्षणम् । ह्यग्नावन्यदुष्णत्वाल्लक्ष्म लक्ष्यं विचक्षणैः ॥ ३३

किं च सदाशिवेश्वरादयः संसारिणो मुक्ता वा? संसारित्वे कथमाप्तता? मुक्तत्वे 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ठः पुरुषविशेष ईश्वरस्तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' इति पतञ्जलिकल्पितम्

ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विरागस्तृप्तिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु ।
आत्यन्तिकं सुखमनावरणा च शक्तिर्ज्ञानं च सर्वविषयं भगवंस्तवैव" ॥ ३४

चाहिए था, क्योंकि जो वस्तु जिन कारणोसे पैदा होती है उस वस्तुमे उन कारणोका धर्म पाया जाता है, जैसे मिट्टीसे पैदा होनेवाले घडेमे मिट्टीपना रहता है, धागोंसे बनाये जाने वाले वस्त्रमे धागे पाये जाते हैं, किन्तु चैतन्यमे पचभूतोंका कोई धर्म नही पाया जाता । पचभूत तो जड होते हैं उनमे जानने-देखनेकी शक्ति नही होती, किन्तु चैतन्यमे जानने-देखनेकी शक्ति पाई जाती है। तथा यदि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म हैं तो मोटे शरीरमें अधिक चैतन्य पाया जाना चाहिए था और दुबले शरीरमे कम। किन्तु इसके विपरीत कोई-कोई दुबले-पतले बडे मेधावी और ज्ञानी देखे जाते है और स्थूल मनुष्य निर्बुद्धि होते है। तथा यदि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म है तो शरीरका हाथ-पैर आदि कट जानेपर उसमे चैतन्यकी कमी हो जानी चाहिए, क्योंकि पचभूत कम हो गये है किन्तु हाथ-पैर वगैरहके कट जानेपर भी मनुष्यके ज्ञानमें कोई कमी नही देखी जाती । इससे सिद्ध है कि चैतन्य पंचभूतोका धर्म नही है बल्कि एक नित्य द्रव्य आत्माका ही धर्म है। अतः आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है। (अब आचार्य वेदान्तियोके मतकी आलोचना करते हुए उनसे पूछते हैं–) ९ यदि यह भेद अविद्याजन्य है—अज्ञानमूलक है, तो क्यो कोई मरता है और कोई जन्म लेता है? कोई सुखी और कोई दुखी क्यो देखा जाता है? इस प्रकार ससारमे वैचित्र्य क्यो पाया जाता है? ।३०।। (अब आचार्य शून्यवादी बौद्धके मतकी आलोचना करते है–) १० 'मै शून्य तत्त्वको प्रमाणसे सिद्ध करता हूँ', ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर सर्वशून्यवादका स्वय विरोध हो जाता है ।।३१।। भावार्थ—आशय यह है कि शून्यतावादी अपने मतकी सिद्धि यदि किसी प्रमाणसे करता है तो प्रमाणके वस्तु सिद्ध हो जानेसे शून्यतावाद सिद्ध नही हो सकता । और यदि बिना किसी प्रमाणके ही शून्यतावादको सिद्ध मानता है तब तो दुनियामें ऐसी कोई वस्तु ही न रहेगी जिसे सिद्ध न किया जा सके। और ऐसी अवस्थामें बिना प्रमाणके ही शून्यतावादके विरुद्ध अशून्यतावाद भी सिद्ध हो जायेगा। अतः सर्वशून्यतावाद भी ठीक नही है। (अब आचार्य मुक्तिमे आत्माके विशेष गुणोका विनाश माननेवाले कणाद मतानुयायियोकी आलोचना करते है–) ११ यदि आप यह मानते है कि मुक्तिमें सांसारिक सुख दुःख नही है तो इसमें कोई हानि नही है, यह बात तो हमको भी इष्ट ही है। किन्तु यदि आत्माके समस्त पदार्थविषयक ज्ञानके विनाशको मोक्ष मानते है तो फिर मुक्तात्माका लक्षण क्या है? क्योंकि विद्वान् लोग वस्तुके विशेष गुणोंको ही वस्तुका लक्षण मानते है, जैसे आगका लक्षण उष्णता है यदि आग की उष्णता नष्ट हो जावे तो फिर उसका लक्षण क्या होगा? फिर तो आगका ही अभाव हो जायेगा क्योंकि विशेष गुणोंके अभावमें गुणीका भी अभाव हो जाता है। अतः यदि मुक्तिमें आत्माके विशेष गुणोंका अभाव माना जायेगा तो आत्माका भी अभाव हो जायेगा ॥३२-३३॥ [illegible]

इत्यवधूताभिधानं च न घटेत।
अनेकजन्मसन्ततेर्यावदद्याक्षयः पुमान्। यद्यसौ मुक्त्यवस्थायां कुत. क्षीयेत हेतुत ॥ ३५
बाह्यो ग्राह्यो मलापायात्सत्यस्वप्न इवात्मन । तदा द्रष्टु स्वरूपेऽस्मिन्नवस्थानममानकम् ॥ ३६
न चाय सत्यस्वप्नोऽप्रसिद्ध स्वप्नाध्यायेऽत्तीव सुप्रसिद्धत्वात्। तथा हि–
"यस्तु पश्यति रात्र्यन्ते राजानं कुञ्जरं हयम्। सुवर्णं वृषभं गां च कुटुम्बं तस्य वर्धते" ॥ ३७
यत्र नेत्रादिकं नास्ति न तत्र मतिरात्मनि। तन्न युक्तमिद यस्मात्स्वप्नमन्धोऽपि वीक्षते ॥ ३८
जैमिन्यादेर्नरत्वेऽपि प्रकृष्येत मतिर्यदि। पराकाष्ठाप्यतस्तस्याः क्वचित्खे परिमाणवत् ॥ ३९

सदाशिव ईश्वर आदिक ससारी है या मुक्त? यदि ससारी है तो वे आप्त नही हो सकते। यदि मुक्त है तो 'क्लेश,कर्म, कर्मफलका उपभोग और उसके अनुरूप सस्कारोसे रहित पुरुप विशेष ईश्वर है। उस ईश्वरमे सर्वज्ञताका जो बीज है वह अपनी चरम सीमाको प्राप्त है अर्थात् वह पूर्णज्ञानी है'। पतञ्जलिका यह कथन, और 'हे भगवन्! आपमे अविनाशी ऐश्वर्य है, स्वाभाविक विरागता है, स्वाभाविक सन्तोष है, स्वभावसे ही आप इन्द्रियजयी है। आपमे ही अविनाशी सुख, निरावरण शक्ति और सब विषयोका ज्ञान है ॥३४॥ अवधूताचार्यका यह कथन घटित नही हो सकता है। (इस प्रकार कणाद मतके अनुयायियोकी आलोचना करके आचार्य बौद्धोकी आलोचना करते है–) १२ यदि पुरुष अनेक जन्म धारण करनेपर भी आज तक अक्षय है, उसका विनाश नही हुआ तो मुक्ति प्राप्त होनेपर उसका विनाश किस कारणसे हो जाता है? ॥३५॥ (अब आचार्य साख्यमतकी आलोचना करते है–) १३ जैसे वात, पित्त आदिका प्रकोप न रहनेपर आत्माको सच्चा स्वप्न दिखाई देता है वैसे ही ज्ञानावरण कर्म रूपी मलके नष्ट हो जानेपर आत्मा बाह्य पदार्थोको जानता है। अत मुक्त हो जानेपर आत्मा अपने स्वरूपमे स्थित हो जाता है और बाह्य पदार्थोको नही जानता यह कहना अप्रमाण है। यह भी अर्थ हो सकता है कि मलके नष्ट हो जाने पर आत्मा बाह्य पदार्थोको जानता है। और तब अपने इस स्वरूपमे अनन्त काल तक अवस्थित रहता है ॥३६॥ यदि कहा जाय कि सच्चे स्वप्न होते ही नही है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है,क्योकि 'स्वप्नाध्याय'मे सच्चे स्वप्न बतलाये है। जैसा कि उसमे लिखा है-'जो रात्रिके पिछले प्रहरमे राजा, हाथी, घोडा, सोना, बैल और गायको देखता है उसका कुटुम्ब बढता है ॥३७॥ जहाँ नेत्रादिक इन्द्रियाँ नही होती, वहाँ आत्मामे ज्ञान भी नही होता, ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि अन्धे मनुष्यको भी स्वप्न दिखाई देता है ॥३८॥ **भावार्थ**–साख्य मुक्तात्मामे ज्ञान नही मानता,क्योकि वहाँ इन्द्रियाँ नही होती। उसकी इस मान्यताका खण्डन करते हुए ग्रन्थकारका कहना है कि इन्द्रियोके होनेपर ही ज्ञान हो और उनके नही होनेपर न हो ऐसा कोई नियम नही है। इन्द्रियोके अभावमे भी ज्ञान होता देखा जाता है। स्वप्न दशामे इन्द्रियाँ काम नही करती फिर भी ज्ञान होता है और वह सच्चा निकलता है। अत इन्द्रियोके अभावमे भी मुक्तात्माको स्वाभाविक ज्ञान रहता ही है। (जैमिनिके मतके अनुयायी मीमासक कहे जाते है। मीमासक लोक सर्वज्ञको नही मानते। वे वेदको ही प्रमाण मानते है। उनके मतसे वेद ही भूत और भविष्यत्का भी ज्ञान करा सकता है। उनका कहना है कि मनुष्यकी बुद्धि कितना भी विकास करे किन्तु उसमे अतीन्द्रिय पदार्थोको जाननेकी शक्ति कभी नही आ सकती। मनुष्य यदि अतीन्द्रिय पदार्थोको जान सकता है तो केवल वेदके द्वारा ही जान सकता है। इसकी आलोचना करते हुए आचार्य कहते है-) आपके आप्त

तुच्छाभावो न कस्यापि हानिर्दीपस्तमोऽन्वयी । धरादिषु धियो हानौ विश्लेषे सिद्धसाध्यता ॥४०
तदावृतिहतौ तस्य तपनस्येव दीधिति· । कथं न शेमुषी सर्वं प्रकाशयति वस्तु यत् ॥ ४१
ब्रह्मैक यदि सिद्ध स्यान्निस्तरङ्ग कुतश्च न । घटाकाशमिवाकाशे तत्रेद लीयतां जगत् ॥ ४२
अथ मतम्-
एक एव हि भूतात्मा देहे देहे व्यवस्थितः । एकधानेकधा चापि दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ ४३
तदयुक्तम् ।
एक: खेऽनेकधान्यत्र यथेन्दुर्वेद्यते जनै । न तथा वेद्यते ब्रह्म भेदेभ्योऽन्यदभेदभाक् ॥ ४४
अलमतिविस्तरेण ।
आनन्दो ज्ञानमैश्वर्यं वीर्यं परमसूक्ष्मता एतदात्यन्तिक यत्र स मोक्ष परिकीर्तित ॥ ४५
ज्वालोरुवूकबीजादे. स्वभावादूर्ध्वगामिता । नियता च यथा दृष्टा मक्तस्यापि तथात्मन ॥ ४६
तथाप्यत्र तदावासे पुण्यपापात्मनामपि । स्वर्गश्वभ्रागमो न स्यादल लोकान्तरेण ते ॥ ४७

जैमिनि मनुष्य थे । फिर भी उनकी बुद्धि इतनी विकसित हो गई थी कि वे वेदको पूरी तरहसे जान सके । इसी तरह किसी पुरुषकी बुद्धिका विकास अपनी चरम सीमाको भी पहुँच सकता है । क्योकि जिनकी हानि-वृद्धि देखी जाती है, उनका कही परम प्रकर्ष और परम अपकर्ष अर्थात् अति हानि और अति वृद्धि भी देखी जाती है । जैसे परिमाणका परम प्रकर्ष आकाशमे पाया जाता है॥३९॥ यदि कहा जाय कि इस नियमके अनुसार तो किसीमे बुद्धिका सर्वथा अभाव भी हो सकता है तो इसका उत्तर यह है कि किसी भी वस्तुका तुच्छाभाव नही होता, अर्थात् वह पदार्थ एक दम नष्ट हो जाये और कुछ भी शेष न रहे, ऐसा नही होता । दीपक जब बुझ जाता है तो प्रकाश अन्धकार रूपमे परिवर्तित हो जाता है । तथा पृथिवी आदिमे बुद्धिकी अत्यन्त हानि देखी जाती है । क्योकि पृथिवीकायिक आदि जीव पृथिवी आदि रूप पुद्गलोको अपने शरीर रूपसे ग्रहण करता है और मरण होनेपर उन्हे छोड देता है । अत जीवके वियुक्त हो जानेपर उन पृथिवी आदि रूप पुद्गलोमे बुद्धिका सर्वथा अभाव हो जाता है । इसमे तो सिद्ध साध्यता है ॥ ४० ॥ अत जैसे सूर्यकेऊपरसे आवरणके हट जानेपर उसकी किरणे समस्त जगत्को प्रकाशित करती है । वैसे ही बुद्धिके ऊपरसे कर्मोका आवरण हट जाने पर वह समस्त जगत्को क्यो नही जान सकती,अवश्य जान सकती है ॥४१ । (अब आचार्य ब्रह्माद्वैतकी आलोचना करते हैं-) १४ यदि केवल एक ब्रह्म ही है तो वह निस्तरग—सासारिक भेदोसे रहित क्यो नही है अर्थात् यह लोक भिन्न क्यो दिखाई देता है । तथा जैसे घटके फूट जानेपर घटके द्वारा रोका गया आकाश आकाशमे मिल जाता है,वैसेही इस जगत्को भी उसी ब्रह्ममे मिल जाना चाहिए ॥४२॥ यदि कहा जाय कि जैसे चन्द्रमा एक होते हुए भी जलमे प्रतिविम्ब पडनेपर अनेक रूप दिखाई देता है उसी तरह एक ही ब्रह्म भिन्न-भिन्न शरीरोमे पाया जानेसे अनेक रूप दिखाई देता है ॥४३॥ किन्तु यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि जैसे चन्द्रमा आकाशमे एक और जलमे अनेक दिखाई देता है, वैसे भेदोसे जुदा एक ब्रह्म ज्ञानगोचर नही होता ॥४४॥ अस्तु,अव इस प्रसगको यही समाप्त करते है । जहाँपर आत्यन्तिक-चरम सीमाको प्राप्त अविनाशी सुख, ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य और परम सूक्ष्मत्व आदि गुण पाये जाते है उसीको मोक्ष कहते है ॥ जैसे आगकी ज्वाला और एरण्डके वीज स्वभावसे ही ऊपरको जाते हैं, उसी प्रकार मुक्तात्मा भी स्वभावसे ही ऊपरको जाता है ॥ यदि यही माना जाये कि मुक्त होनेपर आत्मा यही रह जाता

अहो धर्माराधनैकमते वसुमतीपते, सम्यक्त्वं हि नाम नराणां महती खलु पुरुषदेवता। यत्सकृदेकमेव यथोक्तगुणप्रगुणतया संजातमशेषकल्मषकलुषधिषणतया नरकादिषु गतिषु, पुण्यदायुषामपि मनुष्याणां षट्सु तलपातालेषु,अष्टविधेषु व्यन्तरेषु,दशविधेषु भवनवासिषु पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु, त्रिविधासु स्त्रीषु, विकलकरणेषु पृथ्वी-पय-पावक-पवनकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति संभूतिहेतु । सावधि विदधात्याजवंजवीभावं, नियमेन सपादयति कञ्चित्कालमुपलभ्यात्मनश्चार्वीचारित्रे, साधुमपादनसार सस्कार इव बीजेषु जन्मान्तरेऽपि न जहात्यात्मनोऽनुवृत्तिम्, सिद्धश्चिन्तामणिरिव च फलत्यसीम कामितानि । व्रतानि पुनरोषधय इव फलपाकावसानानि पाथेयवन्नियतवृत्तीनि च । न च सिद्धरसवेधसंबन्धादुषर्बुधसनिधानमात्रजन्मनि जाम्बुनद इवात्र पदार्थयाथात्म्यसमवगमान्मनोमननमात्रतन्त्रे निःशेषश्रुतश्रवणपरिश्रम समाश्रयणीय., न शरीरमायासयितव्यम्, न देशान्तरमनुसरणीयम्, नापि कालक्षेपकुक्षिरपेक्षितव्य । तस्मादधिष्ठानमिव प्रासादस्य, सौभाग्यमिव रूपसम्पद , प्राणितमिव भोगायतनोपचारस्य, मूलबलमिव विजयप्राप्ते , विनीतत्वमिवाभिजात्यस्य, नयानुष्ठानमिव राज्यस्थितेरखिलस्यापि परलोकोदाहरस्य सम्यक्त्वमेव ननु प्रथमं कारण गृणन्ति गरीयांस । तस्य चेद लक्षणम्–

है कही जाता नही है, तो पुण्यात्माओका स्वर्गगमन और पापात्माओका नरक गमन भी नही होगा । फिर तो परलोक की कथा ही व्यर्थ हो जाती है । अत मुक्तात्माको ऊर्ध्वगामी मानना चाहिए ॥ ४५-४७ ॥ (अब ग्रन्थकार सम्यक्त्वका महात्म्य और स्वरूप बतलाते है–) धर्मप्रेमी राजन्! सम्यक्त्व मनुष्योकी एक महती पुरुष देवता है अर्थात् देवताकी तरह उनका रक्षक है। क्योकि यदि अपने यथोक्त गुणोसे समन्वित सम्यग्दर्शन एक वार भी प्राप्त हो जाता है तो समस्त पापोसे कलुषित मति होनेके कारण जिन पुरुषोने नरकादिक गतियोमेसे किसी एककी आयुका बन्ध कर लिया है उन मनुष्योका नीचेके छह नरकोमे, आठ प्रकारके व्यन्तरोमे, दस प्रकारके भवनवासियोमे, पाँच प्रकारके ज्योतिषी देवोमे, तीन प्रकारकी स्त्रियोमे, विकलेन्द्रियोमे, पथिवीकाय, जलकाय, तैजसकाय, वायुकाय और वनस्पतिकायमे जन्म नही होने देता । ससारको सान्त कर देता है । कुछ समयके पश्चात् उस आत्माके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अवश्य प्रकट हो जाते है । जैसे,बीजोमे अच्छी तरहसे किया गया सस्कार बीजोकी वृक्षरूप पर्यायान्तर होनेपर भी वर्तमान रहता है,उसी तरह सम्यक्त्व जन्मान्तरमे भी आत्माका अनुसरण करता हैं,उसे छोडता नही है । सिद्ध चिन्तामणिके समान असीम मनोरथोको पूर्ण करता है । व्रत तो औषधि वृक्षोकी तरह (जो वृक्ष फलोके पकनेके बाद नष्ट हो जाते हैं उन्हे ओषधि वृक्ष कहते है) मोक्षरूपी फलके पकने तक ही ठहरते है तथा कलेवाकी तरह नियत कालतक ही रहते है । (किन्तु सम्यक्त्व ऐसा नही है) पारे और अग्निके सयोगमात्रसे उत्पन्न होनेवाले स्वर्णकी तरह,पदार्थोके यथार्थ स्वरूपको जानकर उनमे मनको लगाने मात्रसे प्रकट होनेवाले सम्यक्त्वके लिए न तो समस्त श्रुतको सुननेका परिश्रम ही करना आवश्यक है, न शरीरको ही कष्ट देना चाहिए, न देशान्तरमे भटकना चाहिए और न कालकी ही अपेक्षा करनी चाहिए । अर्थात् सम्यक्त्वके लिए किसी कालविशेष या देश-विशेषकी आवश्यकता नही है । सव देशों और सव कालोमे वह हो सकता है । इसलिए जैसे नीवको महलका,सौभाग्यको रूप-सम्पदाका, जीवनको शारीरिक सुखका, मूल वलको विजयका, विनम्रताको कुलीनताका,और नीति पालनको राज्यकी स्थिरताका मूलकारण माना जाता है वैसे ही महात्मा-

आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात् । मूढाद्यपोढमष्टाङ्गं सम्यक्त्व प्रशमादिभाक् ॥ ४८ ॥
सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम् । सवसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिता: ॥ ४९॥
ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये । अज्ञोददेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभि ॥ ५० ॥
यस्तत्त्वदेशनाद्दु खवार्धेरुद्धरते जगत् । कथं न सर्वलोकेश: प्रव्हीभूतजगत्त्रय: ॥ ५१ ॥
क्षुत्पिपासाभयं द्वेषश्चिन्तनं मूढतागम: । रागो जरा रुजा मृत्यु: क्रोध. खेदो मदो रति. ॥५ ॥
विस्मयो जनन निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवा । त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषा साधारणा इमे ॥ ५३
एभिर्दोषैर्विर्मुक्त: सोऽयमाप्तो निरञ्जन । स एव हेतु. सूक्तीनां केवलज्ञानलोचन. ॥ ५४
रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारण नास्ति ॥ ५५
उच्चावचप्रसूतीनां सत्त्वानां सदृशाकृति । य आदर्श इवाभाति स एव जगतां पति ॥ ५६
यस्यात्मनि श्रुते तत्त्वे चारित्रे मुक्तिकारणे । एकवाक्यतया वृत्तिराप्त. सोऽनुमत सताम् ॥ ५७
अत्यक्षेप्यागमात्पुंसि विशिष्टत्वं प्रतीयते । उद्यानमध्यवृत्तीनां ध्वनेरिव नगौकसाम् ॥ ५८

गण सम्यक्त्वको ही समस्त परलौकिक अभ्युन्नतिका अथवा मोक्षका प्रथम कारण कहते है। उस सम्यक्त्वका लक्षण इस प्रकार है–अन्तरंग और वहिरग कारणोके मिलनेपर आप्त (देव), शास्त्र और पदार्थोका तीन मूढता रहित, आठ अङग सहित जो श्रद्धान होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह सम्यग्दर्शन प्रशम सवेग आदि गुणवाला होता हैं ॥४८॥ जो सर्वज्ञ है, समस्त लोकोका स्वामी है, सब दोपोसे रहित है और सव जीवोंका हितू है, उसे आप्त कहते है। चूकि यदि अज्ञ मनुष्य उपदेश दे तो उससे ठगाये जानेकी शंका रहती हैं, इसलिए मनुष्य उपदेशके लिए ज्ञानी पुरुषकी ही खोज करते हैं, क्योकि उसके द्वारा कही गई वातोपर विश्वास करनेके लिए किसी ज्ञानीको ही खोजा जाता है ॥४९-५०॥ (ऊपर आप्तको समस्त लोकोंका स्वामी वतलाया है। किन्तु जैनधर्ममे आप्तको न तो ईश्वरकी तरह जगत्का कर्ता हर्ता माना गया है और न उसे सुख-दु खका देनेवाला ही माना गया है। ऐसी स्थितिमे यह शङ्का होना स्वाभाविक हैं कि आप्तको सव लोगोका स्वामी क्यो वतलाया? इसी वातको मनमे रखकर ग्रन्थकार कहते हैं-:) जो तत्त्वोका उपदेश देकर दु खो के समुद्रसे जगत्का उद्धार करता है, अत एव कृतज्ञतावश तीनो लोक जिसके चरणोमे नत हो जाते है, वह सर्वलोकोका स्वामी क्यों नही है? ॥५१॥ भूख, प्यास, भय, द्वेष, चिन्ता मोह, राग, बुढापा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और विपाद ये अठारह दोष समारके सभी प्राणियोमे पाये जाते है। जो इन दोपोसे रहित है वही आप्त है। उसकी आँखे केवल ज्ञान है उसीके द्वारा वह चरावर विश्वको जानता है तथा वही सदुपदेशका दाता है। वह जो कुछ कहता है सत्य कहता है, क्योकि रागसे, द्वेषसे या मोहसे झूठ वोला जाता है। किन्तु जिसमे ये तीनो दोप नही है, उसके झूठ वोलनेका कोई कारण नही है ॥५२-५५॥ विविध प्रकारके प्राणियोकी आकृति समान होती है। किन्तु उनमेसे जिसका आत्मा दर्पणके समान स्वच्छ हो वही जगत्का स्वामी है ॥५६॥ जिसकी आत्मामे, श्रुतिमे, तत्त्वमे और मुक्तिके कारणभूत चारित्रमे एकवाक्यता पाई जाती है अर्थात् जो जैसा कहता है वैसा ही स्वय आचरण करता है और वैसी ही तत्त्वव्यवस्था भी उपलब्ध होती है, उसे सज्जन पुरुष आप्त मानते है ॥५७॥ (इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिन पुरुषोंको आप्त माना जाता है वे तो गुजर चुके। हम कैसे जाने कि आप्त थे? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं-) परोक्ष भी पुरुपकी विशिष्टता उसके द्वारा उपदिष्ट आगमसे जानी

स्वगुणै श्लाघ्यतां याति स्वदोषैर्दूष्यतां जनः । रोषतोषौ वृथा तत्र कलधौतायसोरिव ॥ ५९
द्रुहिण·धोक्षजेशानशाक्यसूरपुर.सराः । यदि रागाद्यधिष्ठान कथं तत्राप्तता भवेत् ॥ ६०
राग दिदोषसभूतिर्ज्ञेयामीषु तदागमात् । असत. परदोषस्य गृहीतौ पातक महत् ॥ ६१
अजस्तिलोत्तमाचित्त श्रीरत श्रीपतिः स्मृत । अधनारीश्वरः शम्भुस्तथाप्येषां किलाप्तता ॥ ६२
वसुदेव पिता यस्य सवित्री देवकी हरेः । स्वयं च राजधर्मस्थश्चित्रं देवस्तथापि सः ॥ ५३
त्रैलोक्य जठरे यस्य यश्च सर्वत्र विद्यते । किमुत्पत्तिविपत्ती स्त क्वचित्तस्येति चिन्त्यताम् ॥ ६४
कपर्दी दोषवानेष नि शरीर सदाशिव । अप्रामाण्यादशक्तश्च कथ तत्रागमागम ॥ ६५
परस्परविरुद्धार्थमीश्वर पञ्चभिर्मुखैः । शास्त्रं शास्ति भवेत्तत्र कतमार्थविनिश्चय ॥ ६६
सदाशिवकला रुद्रे यद्यायाति यगे युगे । कथं स्वरूपभेद स्यात्काञ्चनस्य कलास्विव ॥ ६७
भैक्षनर्तननग्नत्वं पुरत्रयविलोपनम् ब्रह्महत्याकपालित्वमेताः क्रीडाः किलेश्वरे ॥ ६८
सिद्धान्तेऽन्यप्रमाणेऽन्यदन्यत्काव्येऽन्यदीहिते । तत्त्वमाप्तस्वरूप च विचित्र शैवदर्शनम् ॥ ६९
एकान्त शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे । सन्तस्तत्त्व न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रत ॥ ७०

जाती है । जैसे,बगीचेमे रहने वाले पक्षियोकी आवाजसे उनकी विशिष्टताका भान होता है । अर्थात् पक्षियोको विना देखे भी जैसे उनकी आवाजसे उनकी पहचान हो जाती है,वैसे ही आप्त पुरुषोको बिना देखे भी उनके शास्त्रोसे उनकी आप्तताका पता चल जाता है ।।५८।।सुवर्ण और लोहकी तरह मनुष्य अपने ही गुणोसे प्रशसा पाता है और अपने ही दोषोसे बदनामी उठाता है । इसमे रोष और तोप करना अर्थात् अपने आप्तकी प्रशसा सुनकर हर्षित होना और निन्दा सुनकर क्रुद्ध होना व्यर्थ है ।।५९।। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध और सूर्य आदिक देवता यदि रागादिक दोषोसे युक्त है तो वे आप्त कैसे हो सकते है? और वे रागादि दोषोसे युक्त है यह बात उनके शास्त्रोसे ही जाननी चाहिए, क्योकि जिसमे जो दोप नही है उसमे उस दोषको माननेमे बडा पाप है ।।६०-६१।। देखो, ब्रह्मा तिलोत्तमामे आसक्त है,विष्णु लक्ष्मीमे लीन है और महेश तो अर्धनारीश्वर प्रसिद्ध ही है। आश्चर्य है, फिर भी इन्हे आप्त माना जाता है । विष्णुके पिता वसुदेव थे, माता देवकी थी,और वे स्वय राजधर्मका पालन करते थे । आश्चर्य है,फिर भी वे देव माने जाते है । सोचनेकी बात है कि जिस विष्णुके उदरमे तीनो लोक वसते है और जो सर्वव्यापी है, उसका जन्म और मृत्यु कैसे हो सकते है? ।।६२-६४।। महेशको अशरीरी और सदाशिव मानते है, और वह दोषोसे भी युक्त है । ऐसी अवस्थामे न तो वह प्रमाण माना जा सकता है और न वह उपदेश ही दे सकता है, क्योंकि वह दोषयुक्त है और शरीरसे रहित है । तब उससे आगमकी उत्पत्ति कैसे हो सकतीहै? ,जब शिव पाच मुखोसे परस्परमे विरुद्ध शास्त्रोका उपदेश देता है तो उनमेसे किसी एक अर्थका निश्चय करना कैसे सभव है ।।६५-६६।। कहा जाता है कि कित्येक युगमे रुद्रमे सदाशिवकी कला अवतरित होती है । किन्तु जैसे सुवर्ण और उसके टुकडोमे कोई भेद नही किया जा सकता,वैसे ही अशरीरी सदाशिव और सशरीर रुद्रमे कैसे स्वरूपभेद हो सकता है । ६७।। भिक्षा माँगना,नाचना, नग्न होना, त्रिपुरको भस्म करना, ब्रह्महत्या करना और हाथमे खप्पर रखना ये सदाशिव ईश्वरकी क्रीडाए है ।।६८।। शैवदर्शनमे तत्त्व और आप्तका स्वरूप सिद्धान्त रूपमे कुछ अन्य है,प्रमाणित कुछ अन्य किया जाता है, काव्यमे कुछ अन्य है और व्यवहारमे कुछ अन्य है । शैवदर्शन भी वडा विचित्र है ।।६९। तत्त्वको स्वीकार करनेमे एकान्त और कसम खाना दोनो ही व्यर्थ है । विवेकशील पुरुष दूसरोपर विश्वास करके तत्त्वको स्वीकार नही करते ।। तपाने,काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो

दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया । दाहच्छेदकषाशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ॥ ७१
यद्दृष्टमनुमानं च प्रतीतिं लौकिकीं भजेत् । तदाहुः सुविदस्तत्त्वं रहः कुहकवर्जितम् ॥ ७२
निर्बीजतेव तन्त्रेण यदि स्यान्मुक्तताङ्गिनि । बीजवत्पावकस्पर्शः प्रणेयो मोक्षकांक्षिणि ॥ ७३
विषसामर्थ्यवन्मन्त्रात्क्षयश्चेदिह कर्मणः । तर्हि तन्मन्त्रमान्यस्य न स्युर्दोषा भवोद्भवा ॥ ७४
ग्रहगोत्रगतोऽप्येष पूषा पूज्यो न चन्द्रमाः । अविचारिततत्त्वस्य जन्तोर्वृत्तिर्निरङ्कुशा ॥ ७५
द्वैताद्वैताश्रयः शाक्यः शङ्करानुकृतागमः । कथं मनीषिभिर्मान्यस्तरसासवसक्तधीः ॥ ७६

अथैवं प्रत्यवतिष्ठासवो—भवतां समये किल मनुजः सन्नाप्तो भवति तस्य चाप्ततातीव दुर्घटा संप्रति संजातजनवद्, भवतु वा, तथापि मनुष्यस्याभिलषिततत्त्वावबोधो न स्वतस्तथा-दर्शनाभावात् । परतश्चेत्कोऽसौ परः? तीर्थंकरोऽन्यो वा? तीर्थंकरश्चेत्तत्राप्येवं पर्यनुयोगे प्रकृत-मनुबन्धे । तस्मादनवस्था । तदभावमाप्तसङ्गाव च वाञ्छद्भिः सदाशिवः शिवापतिर्वा तस्य तत्त्वोपदेशकः प्रतिश्रोतव्यः । तदाह पतञ्जलिः- "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।" तथा हि ।

अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् । नादरूपं समुत्पन्नं शास्त्रं परमदुर्लभम्" ॥ ७७

सोना अशुद्ध ठहरता है, उसके लिए कसम खाना बेकार हैं । तथा तपाने,काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो सोना खरा निकलता है उसके लिए कसम खानेसे क्या लाभ? जो प्रत्यक्ष, अनुमान और लौकिक अनुभवसे ठीक प्रमाणित होता है, और गोप्यता तथा माया छलसे रहित होता है विद्वान् लोग उसीको यथार्थ तत्त्व मानते हैं ॥७०-७२॥ जैसे अग्निके स्पर्शसे बीज निर्बीज हो जाता है उसमें उत्पादन शक्ति नही रहती,वैसे ही यदि तंत्रके प्रयोगसे ही प्राणीकी मुक्ति हो जाती है तो मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको भी आगका स्पर्श करा देना चाहिए जिससे बीजकी तरह वह भी जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाये ॥७३॥ जैसे,मंत्रके द्वारा विषकी मारणशक्तिको नष्ट कर दिया जाता है, वैसे ही मंत्रके द्वारा यदि कर्मोका भी क्षय हो जाता है तो उन मंत्रोके जो मान्य हैं उनमें सासारिक दोष नही पाये जाने चाहिये ॥७४॥ (इस प्रकार शाक्त मतकी आलोचना करके ग्रन्थकार सूर्य पूजाकी आलोचना करते हैं) ग्रहोके कुलका होनेपर भी यह सूर्य तो पूज्य है और चन्द्रमा पूज्य नही है? ठीक ही है जिस जीवने तत्त्वका विचार नही किया,उसकी वृत्ति निरकुश होती है ॥७५॥ (अब बौद्ध मतकी आलोचना करते हैं)बौद्धमत एक ओर द्वैतवादी है अर्थात् भक्ष्य और अभक्ष्य आदिका विचार करता है और दूसरी ओर अद्वैतवादी है,अर्थात् सर्व कुछ सेवन करनेकी छूट देता है । उसीके आगमका अनुकरण शकराचार्यने किया है । ऐसा मद्य और मांसका प्रेमी मत बुद्धि-मानोके द्वारा मान्य कैसे हो सकता है? ॥७६॥ (इस प्रकार अन्य मतोकी समीक्षा करनेपर उन मतोके अनुयायी कहते है–) आप जैनोके आगममे मनुष्यको आप्त माना है । किन्तु उसका आप्त-पना किसी भी तरह नही बनता । आज भी लाखो-करोडो मनुष्य वर्तमान है,किन्तु उनमें कोई भी आप्त नहीं देखा जाता । यदि किसी तरह मनुष्यको आप्त मान भी लिया जावे तो उसे इष्ट तत्त्वका ज्ञान स्वयं तो नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा नही देखा जाता । यदि दूसरेसे ऐसा ज्ञान होता है तो वह दूसरा कौन है? तीर्थङ्कर है या अन्य कोई है? यदि तीर्थङ्कर है तो उसमें भी यही प्रश्न पैदा होता है । यदि तीर्थङ्करको इष्ट तत्त्वका ज्ञान किसी तीसरेके द्वारा होता है तो उस तीसरेको इष्ट तत्त्वका ज्ञान चौथेके द्वारा होगा और चौथेको इष्ट तत्त्वका ज्ञान पाँचवेके द्वारा होगा । इस तरह अनवस्था दोष आ जाता है । अतः यदि अनवस्था दोषसे बचना चाहते है और आप्त [illegible]

तथाप्तेनैकेन भवितव्यम् । ह्याप्तानामितरप्राणिवद् गणः समस्ति संभवे वा चतुर्विंशतिरिति नियम कौतस्कुत इति वन्ध्यास्तनंधयधैर्यव्यावर्णनमुदीर्णमोहार्णवविलयनं च परेषाम् । यत –

वक्ता नैव सदाशिवो विकरणस्तस्मात्परो रागवान् द्वैविध्यादपरं तृतीयमिति चेत्तत्कस्य हेतोरभूत् ।
शक्त्या चेत्परकीयया कथमसौ तद्वानसबंधत सबधोऽपिन जाघटीति भवतां शास्त्र निरालम्बनम्॥७८

'संबधो हि सदाशिवस्य शक्त्या सह न भिन्नस्य प्रयोग शक्तेरद्रव्यत्वात्, 'द्रव्ययोरेव संयोग.' इति यौगसिद्धान्त । 'समवायलक्षणोऽपि न सबंध शक्ते. पृथक्सिद्धत्वात्, 'अयुतसिद्धानां गुणगुण्यादीनां समवायसंबध.' इति वैशेषिकर्मतिह्यम् ।

तत्त्वभावनयोद्भूत जन्मान्तरसमुत्थया । हिताहितविवेकाय यस्य ज्ञानत्रयं परम् । ७९
दृष्टादृष्टमवैत्यथ रूपवन्तमथावधे । श्रुते: श्रुतिसमाश्रेयं क्वासौ परमपेक्षताम् ॥ ८०

न चैतदसार्वत्रिकम् । कथमन्यथा स्वत एव सजातषट्पदार्थावसायप्रसरे कणचरे वाराणस्यां

सद्भाव भी चाहते है तो तत्त्वके उपदेष्टा सदाशिव पार्वतीपतिको ही मानना चाहिये । पतञ्जलि ऋषिने भी कहा है -'वह पूर्वजोका भी गुरु है, क्योकि कालके द्वारा उनका नाश नही होता। और भी कहा है– "अशरीरी, शान्त और परम कारण शिवसे परमदुर्लभ नादरूप शास्त्रकी उत्पत्ति हुई ॥७ ॥ तथा आप्त एक ही होना चाहिये । अन्य प्राणियोके समूहकी तरह आप्तोका समूह तो होता नही है । और यदि हो भी तो चौबीस सख्याका नियम कहाँसे आया?' इस प्रकार दूसरे मतवालोका उक्त कथन वन्ध्याके पुत्रके धैर्यकी प्रशसा करनेके तुल्य व्यर्थ है,वे महान् मोहके समुद्रमे डूबे हुए है, क्योकि–सदाशिव अशरीरी है अत वह वक्ता नही हो सकता । और शिव यद्यपि सशरीर है मगर वह रागी है–पार्वतीसे साथ रहते है, अत उनका उपदेश प्रमाण नही माना जा सकता। यदि इन दोनोके सिवाय किसी तीसरेको वक्ता मानते हो तो वह तीसरा किससे हुआ। यदि कहोगे कि शक्तिसे हुआ,तो शक्ति तो भिन्न है, भिन्न शक्तिसे वह शक्तिमान कैसे हो सकता है,क्योकि उन दोनोका कोई सम्बन्ध नही है। यदि सम्बन्ध मानोगे तो विचार करनेपर उनका कोई सम्बन्ध भी नही बनता है,अत आपका शास्त्र निराधार ठहरता है क्योकि उसका कोई वक्ता सिद्ध नही होता ॥७८॥ सदाशिवका शक्तिके साथ सयोग सम्बन्ध तो नही सकता, क्योकि शक्ति द्रव्य नही है और 'सयोग सम्बन्ध द्रव्योका ही होता है' ऐसा यौगोका सिद्धान्त है । तथा समवाय सम्बन्ध भी नही हो सकता,क्योकि शक्ति तो शिवसे पृथक् सिद्ध है–जुदी है और 'जो पृथक् सिद्ध नही है ऐसे गुण गुणी वगैरहका ही समवाय सम्बन्ध होता है'ऐसा वैशेषिकोका मत है । (इस प्रकार सदाशिववादियोके शास्त्रको निराधार वतलाकर ग्रन्थकार,मनुष्यको आप्त माननेमे जो आपत्ति की गई है, उनका निराकरण करते है–) पूर्वजन्ममे उत्पन्न हुई तत्त्व भावनासे, हित और अहितकी पहचान करनेके लिए उत्पन्न हुए जिसके तीन ज्ञान-मति,श्रुत और अवधि-दृष्ट और अदृष्ट अर्थको जानते है, उनमे भी अवधिज्ञान केवल रूपी पदार्थोको ही जानता है और श्रुतज्ञान शास्त्रमे वर्णित विषयोको जानता है। ऐसी अवस्थामे इष्ट तत्त्वको जाननेके लिए उसे दूसरेकी अपेक्षा ही क्या रहती है? ॥७९-८०॥ (आगे कहते है–) और यह वात कि तीर्थङ्कर स्वय ही इष्ट तत्त्वको जान लेते है, ऐसी नही है जिसे सव न मानते हो। यदि ऐसा नही है तो स्वत ही छ पदार्थोका ज्ञान होनेपर कणाद-ऋषिके प्रति वाराणसी नगरीमे उलूकका अवतार लेनेवाले महेश्वरका यह कथन कैसे संगत

महेश्वरस्योलूकसायुज्यसरस्येद वच. संगच्छेत्–'ब्रह्मतुला नामेदं दिवौकसां दिव्यमद्भुतं ज्ञान प्रादुर्भूतमिह त्वयि तद्वत्संविधत्स्व विप्रेभ्य ।

उपाये सत्युपेयस्य प्राप्ते का प्रतिबन्धिता । पातालस्थं जलं यन्त्रात्करस्थं क्रियते यत ॥ ८१

अश्मा हेम जल मुक्ता द्रुमो वन्हिः क्षितिर्मणि । तत्तद्धेतुतया भावा भवन्त्यद्भुतसंपद ॥ ८२

सर्गविस्थितिसहारग्रीष्मवर्षातुषारवत् । अनाद्यनन्तभावोऽयमाप्तश्रुतसमाश्रय ॥ ८३

नियतं न बहुत्व चेत्कथमेते तथाविधाः । तिथितारा‌ग्रहाम्भोधिभूभृत्प्रभृतयो मता ॥ ८४

अनयैव दिशा चिन्त्यं सांख्यशाक्यादिशासनम् । तत्त्वागमाप्तरूपाणां नानात्वस्याविशेषत ॥ ८५

जैनमेकं मतं मुक्त्वा द्वैताद्वैतसमाश्रयौ । मार्गौ समाश्रिताः सर्वे सर्वाभ्युपगमागमा ॥८६॥

वामदक्षिणमार्गस्थो मन्त्रीतरसमाश्रय । कर्मज्ञानगतो ज्ञेय शम्भुशाक्यद्विजागम. ॥ ८७ ॥

हो सकता है–'हे कणाद! तुझे देवोके ब्रह्मतुला नामके दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति हुई है इसे विप्रोको प्रदान कर।' साधन सामग्रीके मिलनेपर पाने योग्य वस्तुकी प्राप्तिमे रुकावट ही क्या हो सकती है? क्योकि यत्रके द्वारा पातालमे भी स्थित जल प्राप्त कर लिया जाता है ॥८१॥पत्थरसे सोना पैदा होता है । जलसे मोती बनता है । वृक्षसे आग पैदा होती है और पृथ्वीसे मणि पैदा होती हैं। इस प्रकार अपने-अपने कारणोसे अद्भुत सम्पदावाले पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जैसे उत्पत्ति,स्थिति और विनाशकी परम्परा अनादि-अनन्त है, या ग्रीष्म ऋतु,वर्षा ऋतु और शीत ऋतुकी परम्परा अनादि अनन्त है, वैसे ही आप्त और श्रुतकी परम्परा भी प्रवाह रूपसे चली आती है,न उसका आदि है और न अन्त । आप्तसे श्रुत उत्पन्न होता है और श्रुतसे आप्त बनता हैं ॥८२-८३॥ (शैव मतवादीके यह आपत्ति की थी कि आप्त बहुतसे नही हो सकते और यदि हो भी तो चौबीसका नियम कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए कहते है–) यदि वस्तुओंका बहुत्व नियत न हो तो तिथि, तारा, ग्रह, समुद्र, पहाड आदि नियत क्यो माने गये है? अर्थात् जैसे ये बहुत है फिर भी इनकी सख्या नियत है उसी तरह जैन तीर्थङ्करोकी भी चौबीस सख्या नियत है ॥८४॥ इसी प्रकारसे साख्य और बौद्ध आदिके मतोका भी विचार कर लेना चाहिये । क्योकि उनमे भी तत्त्व,आगम और आप्तके स्वरूपोमे भेद पाया जाता हैं ॥८५॥एक जैनमतको छोडकर शेष सभी मतवालोने या तो द्वैतमतको अपनाया है या अद्वैत मतको अपनाया है । और उनके सभी आगम सभी मतोके स्वीकार करनेवाले है,अर्थात् किसी एक निश्चित सिद्धान्तके प्रतिपादक नही है ॥८६॥ शैवमत, बौद्धमत और ब्राह्मण-मत वाममार्गी और दक्षिणमार्गी है,मत्र तत्र प्रधान भी है, तथा उसको न मानने वाले भी है और कर्मकाण्डी तथा ज्ञानकाण्डी है ॥८७॥ **भावार्थ**–शैवमत ब्राह्मणमत और बौद्धमतमे उत्तर कालमे वाममार्ग भी उत्पन्न हो गया था,और वह वाममार्ग मत्र तंत्र प्रधान था तथा उसमे क्रियाकाण्डका ही प्राधान्य था । दक्षिण मार्ग न तो मत्र तत्र प्रधान था और न क्रियाकाण्डको ही विशेष महत्त्व देता था । शैवमतका तो वाममार्ग प्रसिद्ध है। बौद्धमतके महायान सम्प्रदायमेंसे तान्त्रिक वाममार्गका उदय हुआ था। वैसे बुद्धके पश्चात् बौद्धमत हीनयान और महायान सम्प्रदायोमे विभाजित हो गया था । इसीप्रकार वैदिक ब्राह्मणमत भी पूर्व मीमासा और उत्तर मीमासाके भेदमे दो रूप हो गया था । पूर्व मीमासा यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड प्रधान है, और उत्तर मीमासा,जिसे वेदान्त भी कहते है, ज्ञान प्रधान हैं । (अब ग्रन्थकार मनुस्मृतिके दो पद्योको देकर उसकी आलोचना करते है-)

यच्चैतत्—

'श्रुति वेदमिह प्राहुर्धर्मशास्त्रं स्मृतिर्मता । ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ।।८८।।
ते तु यस्त्ववमन्येत हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विज. । स साधुभिर्बहि: कार्यो नास्तिको वेदनिन्दक'।।८९।।
तदपि न साधु । यत ।
समस्तयुक्तिनिर्मुक्त केवलागमलोचन । तत्त्वमिच्छन्न कस्येह भवेद्वादी जयावह ।। ९०
सन्तो गुणेषु तुष्यन्ति नाविचारेषु वस्तुषु । पादेन क्षिप्यते ग्रावा रत्न मौलौ निधीयते ।। ९१
श्रेष्ठो गुणैर्गृहस्थ स्यात्तत श्रेष्ठतरो यति । यतेः श्रेष्ठतरो देवो न देवादधिक परम् ।। ९२
गेहिना समवृत्तस्य यतेरप्यधरस्थिते । यदि देवस्य देवत्व न देवो दुर्लभो भवेत् ।। ९३
देवमादौ परीक्षेत पश्चात्तद्वचनक्रमम् । ततश्च तदनुष्ठान कुर्यात्तत्र मति तत: ।। ९४
येऽविचार्य पुनर्देवं रुचि तद्वाचि कुर्वते । तेऽन्धास्तत्स्कन्धविन्यस्तहस्ता वाञ्छन्ति सद्गतिम् ।।९५
पित्रो शुद्धौ यथाऽपत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते । तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता ।। ९६

(अब ग्रन्थकार मनुस्मृतिके दो पद्योको देकर उसकी आलोचना करते है–) तथा (मनुस्मृति अ०२ श्लोक १०–११ मे) जो यह कहा है–"श्रुतिको वेद कहते है और धर्मशास्त्रको स्मृति कहते है। उन श्रुति और स्मृतिका विचार प्रतिकूल तर्कोसे नही करना चाहिये क्योकि उन्हीसे धर्म प्रकट हुआ है। जो द्विज युक्ति शास्त्रका आश्रय लेकर श्रुति और स्मृतिका निरादर करता है, साधु पुरुषोको उसका बहिष्कार करना चाहिये, क्योकि वेदका निन्दक होनेसे वह नास्तिक है।।८८-८९।। यह भी ठीक नही है क्योकि जो मतावलम्बी समस्त युक्तियोको छोडकर केवल आगमके बलपर तत्त्वकी सिद्धि करना चाहता है वह किसको नही जीत सकता? अर्थात् सभीको जीत लेगा ।।९०।। **भावार्थ** मनुस्मृतिकारने श्रुति और स्मृतिमे युक्ति लगानेका निषेध किया है किन्तु जैनाचार्य कहते है कि युक्तिके विना केवल आगमसे तत्त्वकी सिद्धि नही हो सकती। यदि केवल आगमसे ही तत्त्वकी सिद्धि मानी जायेगी तव तो ऐसा व्यक्ति सवको जीत लेगा। अथवा सभी धर्मवाले अपने-अपने आगमोसे अपने-अपने तत्त्व सिद्ध कर लेगे। अत युक्तिसे नही घबराना चाहिए, जो वात विचार पूर्ण होती है उसे सव ही माननेको तैयार रहते हैं। सज्जन पुरुष गुणोसे प्रसन्न होते है, अविचारित वस्तुओसे नही। देखो, पत्थरको पैरसे ठुकराया जाता है और रत्नको मुकुटमे स्थापित किया जाता है। अत जो गुणोसे श्रेष्ठ है वह गृहस्थ है, गृहस्थसे भी श्रेष्ठ यति है और यतिसे श्रेष्ठ देव है। किन्तु देवसे श्रेष्ठ कोई नही है। जिसका आचरण गृहस्थके समान है जो यतिसे भी नीचे स्थित है, ऐसे देवको भी यदि देव माना जाता है तो फिर देवत्व दुर्लक्ष नही रहता ।।९१-९३।। (अव ग्रन्थकार आगम और तत्त्वकी मीमासा करते है–) सवसे प्रथम देवकी परीक्षा करनी चाहिए, पीछे उसके वचनोकी परीक्षा करनी चाहिए। तदनन्तर उसके अनुष्ठान (आचरण) की परीक्षा करनी चाहिए। तत्पश्चात् उसके माननेमे बुद्धि करे। जो लोग देवकी परीक्षा किये विना उसके वचनोका आदर करते है वे अन्धे है और उस देवके कन्धेपर हाथ रखकर सद्गति प्राप्त करना चाहते है। जैसे माता-पिताके शुद्ध होनेपर सन्तानमे शुद्धि देखी जाती है वैसे ही आप्तके विशुद्ध होनेपर ही आगममे शुद्धता हो सकती है। अर्थात् यदि आप्त निर्दोष होता है तो उसके द्वारा कहे गये आगममे भी कोई दोष नही पाया जाता। अत. पहले आप्त या देवकी परीक्षा करनी चाहिए,

वाग्विशुद्धापि दुष्टा स्याद् वृष्टिवत्पात्रदोषतः । वन्द्यं वचस्तदेवोच्चैस्तोयवत्तीर्थसंश्रयम् ॥ ९७
दृष्टेऽर्थे वचसोऽध्यक्षादनुमेयेऽनुमानतः । पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाणता ॥ ९८
पूर्वापरविरोधेन यस्तु युक्तया च बाध्यते । मत्तोन्मत्त वच.प्रख्य. स प्रमाण किमागमः ॥ ९९
हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात् । कालत्रयगतानर्थान्गिमयन्नागम· स्मृत. ॥ १००
आत्मानात्मस्थितिर्लोको बन्धमोक्षौ सहेतुकौ । आगमस्य निगद्यन्ते पदार्थास्तत्त्ववेदिभिः ॥ १०१
उत्पत्तिस्थितिसंहारसाराः सर्वे स्वभावत । नयद्वयाश्रयादेते तरङ्गा इव तोयधे. ॥ १०२
क्षयाक्षयैकपक्षत्वे बन्धमोक्षक्षयागमः । तात्त्विकैकत्वसद्भावे स्वभावान्तरहानितः ॥ १०३

उसके बाद उसके वचनोंको प्रमाण मानना चाहिए ॥९४-९६॥ जैसे वर्षाका पानी समुद्रमे जाकर खारा हो जाता हैं या सापके मुखमे जाकर विषरूप हो जाता है,वैसे ही पात्रके दोषसे विशुद्ध वचन भी दुष्ट हो जाता है । तथा जैसे तीर्थका आश्रय लेनेवाला जल पूज्य होता है वैसे हीजो वचन तीर्थङ्करोंका आश्रय ले लेता है अर्थात् उनके द्वारा कहा जाता है वही पूज्य होता है ॥९७॥ जो वचन ऐसे अर्थको कहता है जिसे प्रत्यक्षसे देखा जा सकता है, उस वचनकी प्रमाणता प्रत्यक्षसे सिद्ध हो जाती है । जो वचन ऐसे अर्थको कहता हैं जिसे अनुमानसे ही जाना जा सकता हैं उस वचनकी प्रमाणता अनुमानसे सिद्ध होती है। और जो वचन बिल्कुल परोक्ष वस्तुको कहता है, जिसे न प्रत्यक्षसे ही जाना जा सकता है और न अनुमानसे, पूर्वापरमे कोई विरोध न होनेसे उस वचनकी प्रमाणता सिद्ध होती है । अर्थात् यदि उस वचनके द्वारा कही गई बाते आपसमे कटती नही है, तो उस वचनको प्रमाण माना जाता है ॥९८॥ **भावार्थ**-शास्त्रोमे बहुत सी ऐसी बातोका भी कथन पाया जाता है जिनके विषयमे न युक्तिसे काम लिया जा सकता है और न प्रत्यक्षसे, ऐसे कथनको सहसा अप्रमाण भी नही कहा जा सकता । अत। उन शास्त्रोकी अन्य बाते, जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे जानी जा सकती है वे यदि ठीक ठहरती है और यदि उनमे परस्परमे विरोधी बाते नही कही गई है तो उन शास्त्रोके ऐसे कथनको भी प्रमाण ही मानना चाहिए। जिस आगममे परस्परमे विरोधी बातोका कथन है और युक्तिसे भी बाधा आती है, पागलके प्रलापके समान उस आगमको कैसे प्रमाण माना जा सकता है ॥९९॥

आगमका स्वरूप और विषय–जो धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष इन चार पुरुपार्थोका अवलम्बन लेकर,हेय और उपादेय रूपसे त्रिकालवर्ती पदार्थोका ज्ञान कराता है उसे आगम कहते है ॥१००॥ तत्त्वके ज्ञाताओंका कहना है कि आगममे जीव,अजीव,अवस्थान,लोक तथा अपने-अपने कारणोके साथ वन्ध और मोक्षका कथन होता है ॥१०१॥ **भावार्थ**-जिसमे चारो पुरुपार्थोका वर्णन करते हुए यह बतलाया गया हो कि क्या छोडने योग्य है और क्या ग्रहण करने योग्य है वही सच्चा आगम है। उस आगममे जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोका वर्णन रहता हैं ।

प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है-जैसे समुद्रमे लहरे उठती है,नष्ट भी होती है, फिर भी जलरूप सदा बना रहता है वैसे ही सभी पदार्थ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे स्वभावसे ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होते है ॥१०२॥ **भावार्थ**-जैनधर्ममे प्रत्येक वस्तुको प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त माना है अर्थात् प्रत्येक वस्तु प्रति समय उत्पन्न होती है,नष्ट होती है और स्थिर भी रहती है। इसपर यह प्रश्न होता है कि ये तीनो बाते तो

परस्परमे विरुद्ध है,अत एक वस्तुमे एक साथ वे तीनो बाते कैसे हो सकती है,क्योकि जिस समय वस्तु उत्पन्न होती है उस समय वह नष्ट कैसे हो सकती है और जिस समय नष्ट होती है उसी समय वह उत्पन्न कैसे हो सकती है। तथा जिस समय नष्ट और उत्पन्न होती है उस समय वह स्थिर कैसे रह सकती है? इसका समाधान यह है कि कित्येक वस्तु प्रति समय परिवर्तनशील है। ससारमे कोई भी वस्तु स्थिर नही है। उदाहणके लिए बच्चा जब जन्म लेता है तो छोटा सा होता है,कुछ दिनोके बाद वह बडा हो जाता हैं। उसमे जो बढोतरी दिखाई देती है वह किसी खास समयमे नही हुई है, किन्तु बच्चेके जन्म लेनेके क्षणसे ही उसमे बढोतरी प्रारम्भ हो जाती है और जब वह कुछ बडा हो जाता है तो वह बढोतरी स्पष्ट रूपसे दिखाई देने लगती है। इसी तरह एक मकान सौ वर्षके बाद जीर्ण होकर गिर पडता है। उसमे यह जीर्णता किसी खास समयमे नही आई, किन्तु जिस क्षणसे वह बनना प्रारम्भ हुआ था उसी क्षणसे उसमे परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया था उसीका यह फल है जो कुछ समयके बाद दिखाई देता है। अन्य भी अनेक दृष्टान्त है जिनसे वस्तु प्रति समय परिवर्तनशील प्रमाणित होती है। इस तरह वस्तुके परिवर्तनशील होनेसे उसमे एक साथ तीन बाते होती है, पहली हालत नष्ट होती है, और जिस क्षणमे पहली हालत नष्ट होती है उसी क्षणमे दूसरी हालत उत्पन्न होती है। ऐसा नही है कि पहली हालत नष्ट हो जाये उसके बाद दूसरी हालत उत्पन्न हो पहली हालतका नष्ट होना ही तो दूसरी हालतकी उत्पत्ति है। जैसे, कुम्हार मिट्टीको चाकपर रखकर जब उसे घुमाता है तो उस मिट्टीकी पहली हालत बदलती जाती है और नई-नई अवस्थाएँ उसमे उत्पन्न होती जाती है। पहली हालतका बदलना और दूसरोका बनना दोनो एक साथ होते है। यदि ऐसा माना जायेगा कि पहली हालत नष्ट हो चुकनेके बाद दूसरी हालत उत्पन्न होती है तो पहली हालतके नष्ट हो चुकने और दूसरी हालतके उत्पन्न होनेके बीचमे वस्तुमे कौन-सी हालत-दशा मानी जायेगी। घडा जिस क्षणमे फूटता है उसी क्षणमे ठीकरे पैदा हो जाते है। ऐसा नही है कि घडा पहले फूट जाता है पीछेसे उसके ठीकरे बन जाते है। घडेका फूटना ही ठीकरेका उत्पन्न होना है और ठीकरेका उत्पन्न होना ही घडेका फूटना है। अत उत्पाद और विनाश दोनो एक साथ होते है—एकही क्षणमे एक पर्याय नष्ट होती है और दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है,और इनके उत्पन्न और नष्ट होने पर भी द्रव्य-मूलवस्तु कायम रहती है—न वह उत्पन्न होता है और न नष्ट। जैसे घडेके फूट जाने और ठीकरेके उत्पन्न हो जानेपर भी मिट्टी दोनो हालतोमे बराबर कायम रहती है। अत। वस्तु प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त कहलाती है। वस्तुको देखनेकी दो दृष्टियाँ है-एक दृष्टिका नाम है द्रव्यार्थिक और दूसरीका नाम है पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे वस्तु ध्रुव है, और पर्यायार्थिक नय की दृष्टिसे उत्पाद-व्ययशील है। यदि वस्तुको केवल प्रतिक्षण विनाशशील या केवल नित्य माना जायेगा तो बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था नही बन सकेगी। क्योकि सर्वथा एक रूप माननेपर उसमे स्वभावान्तर नही हो सकेगा ॥१०३॥ **भावार्थ**—वस्तुको उत्पाद विनाशशील न मानकर यदि सर्वथा क्षणिक ही माना जायेगा तो प्रत्येक वस्तु दूसरे क्षणमे नष्ट हो जायेगी। ऐसी अवस्थामे जो आत्मा बधा है वह तो नष्ट हो जायेगा तब मुक्ति किसकी होगी? इसी तरह यदि वस्तुको सर्वथा नित्य माना जायेगा तो वस्तुमे कभी भी कोई परिवर्तन नही हो सकेगा। और परिवर्तन न होनेसे जो जिस रूपमे है वह उसी रूपमे बनी रहेगी। अतः बद्ध आत्मा सदा बद्ध ही बना रहेगा, अथवा कोई आत्मा बँधेगा ही नही, क्योकि जब वस्तु सर्वथा नित्य है तो

ज्ञाता दृष्टा महान् सूक्ष्म. कृतिभुक्त्योः स्वयं प्रभु. । भोगायतनमात्रोऽयं स्वभावादूर्ध्वग. पुमान्॥१०४
ज्ञानदर्शनशून्यस्य न भेद स्यादचेतनात् । ज्ञानमात्रस्य जीवत्वे नैकधीश्चित्रमित्रवत् ॥ १०५
प्रेर्यते कर्म जीवेन जीवः प्रेर्येत कर्मणा । एतयो· प्रेरको नान्यो नौनाविकसमानयो ॥ १०६
मन्त्रवन्नियतोऽप्येषोऽचिन्त्यशक्तिः स्वभावत. । अत शरीरतोऽन्यत्र न भावोऽस्य प्रमान्वित ॥१०७
त्रसस्थावरभेदेन चतुर्गतिसमाश्रया । जीवाः केचित्तथान्ये च पञ्चमीं गतिमाश्रिता. ॥ १०८
धर्माधर्मौ नभः कालो पुद्गलश्चेति पञ्चमः । अजीवशब्दवाच्या स्युरेते विविधपर्यया. ॥ १०९
गतिस्थित्यप्रतीघातपरिणामनिबन्धनम् । चत्वार. सर्ववस्तूनां रूपाद्यात्मा च पुद्गल ॥ ११०
अन्योन्यानुप्रवेशेन बन्ध. कर्मात्मनो मतः । अनादि. सावसानश्च कालिकास्वर्णयोरिव ॥ १११
प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशप्रविभागत. । चतुर्धा भिद्यते बन्ध. सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ ११२

आत्मा सदा एक रूप ही रहेगा, न वह कर्ता हो सकेगा और न भोक्ता। यदि उसे कर्ता भोक्ता माना जायेगा तो वह सर्वथा नित्य नही रहेगा। अत प्रत्येक वस्तुको द्रव्यकी अपेक्षा नित्य और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य मानना चाहिए।

आत्माका स्वरूप–आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है, महान् और सूक्ष्म है, स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही भोक्ता है, अपने शरीरके बराबर है, तथा स्वभावसे ही ऊपरको गमन करनेवाला है॥ यदि आत्माको ज्ञान और दर्शनसे रहित माना जायेगा तो अचेतनसे उसमे कोई भेद नही रहेगा। अर्थात् जड और चेतन दोनो एक हो जायेगे। और यदि ज्ञानमात्रको जीव माना जायेगा तो चित्र मित्रकी तरह एक बुद्धि नही बनेगी ॥ १०४-१०५ ॥ **भावार्थ**- जैसे चित्र और मित्र सेदो भिन्न पुरुष हैं उन्हे एक नही माना जा सकता, उसी प्रकार ज्ञान और दर्शन गुणावले जीवको भी केवल ज्ञानरूप ही नही माना जा सकता। जीव कर्मको प्रेरित करता है और कर्म जीवको प्रेरित करता है। इन दोनोका सम्बन्ध नौका और नाविकके समान है। कोई तीसरा इन दोनोंका प्रेरक नही हैं ॥१०६॥ जैसे मत्रमे कुछ नियत अक्षर होते है,फिर भी उसकी शक्ति अचिन्त्य होती है उसी तरह यद्यपि आत्मा शरीर-परिमाणवाला है, फिर भी वह स्वभावसे ही अचिन्त्य शक्तिवाला है, अत. शरीरसे अन्यत्र उसका अस्तित्व प्रमाणित नही है ॥१०७॥ त्रस और स्थावरके भेदसे जीव दो प्रकारके है; जो नरकगति, तिर्यञ्चगति मनुष्यगति,और देवगतिमे पाये जाते हैं। ये सब संसारी जीवोके भेद है। और पञ्चम गतिको प्राप्त मुक्त जीव होते है॥ १०८ ॥ धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच अजीव द्रव्य कहलाते है। ये अनेक पर्यायोंवाले हैं ॥१०९॥ धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोंकी गतिमे निमित्त कारण है। अधर्म द्रव्य उनकी स्थितिमे निमित्त कारण है। आकाश सब वस्तुओंको स्थान देनेमे निमित्त है और काल सबके परिणमनमे निमित्त है। तथा जिसमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारो गुण पाये जाते है, उसे पुद्गल कहते है ॥११०॥ आत्मा और कर्मका अन्योन्यानुप्रवेशरूप बन्ध होता है अर्थात् आत्मा और कर्मके प्रदेश परस्परमे मिल जाते है। स्वर्ण और कालिमाके बन्धकी तरह यह बन्ध अनादि और सान्त होता है अर्थात् जैसे सोनेमे खानसे ही मैल मिला रहता है और बादमे मैलको दूर करके सोनेको शुद्ध कर लिया जाता है वैसे ही जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि होने पर भी सान्त है,–उसका अन्त हो जाता है। यह बन्ध चार प्रकारका है–प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध,अनुभाग बन्ध और प्रदेशबन्ध। यह चारों प्रकारका बन्ध सभी शरीरधारी जीवोके होता है ॥१११-११२॥ **भावार्थ**–

आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात् । नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ।। ११३
बन्धस्य कारणं प्रोक्तं मिथ्यात्वासंयमादिकम् । रत्नत्रयं तु मोक्षस्य कारणं संप्रकीर्तितम् ।। ११४
आप्तागमपदार्थानामश्रद्धानं विपर्ययः । संशयश्च त्रिधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं मलिनात्मनाम् ।। ११५
अथवा ।
एकान्तसंशयाज्ञानं व्यत्यासविनयाश्रयम् । भवपक्षाविपक्षत्वान्मिथ्यात्वं पञ्चधा स्मृतम् ।। ११६
अव्रतित्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमतृप्तता । इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्तः प्राहुरसंयमम् ।। ११७
कषायाः क्रोधमानाद्यास्ते चत्वारश्चतुर्विधाः । संसारसिन्धुसंपातहेतवः प्राणिनां मताः ।। ११८
मनोवाक्कायकर्माणि शुभाशुभविभेदतः । भवन्ति पुण्यपापानां बन्धकारणमात्मनि । ११९
निराधारो निरालम्बः पवमानसमाश्रयः । नभोमध्यस्थितो लोकः सृष्टिसंहारवर्जितः ।। १२०
अथ मतम्–
नैव लग्नं जगत्क्वापि भूभृद्ग्राम्भोधिनिर्भरम् । धातारश्च न युज्यन्ते मत्स्यकूर्माहिपोत्रिणः ।।१२१

प्रकृति शब्दका अर्थ स्वभाव है । कर्मोमे ज्ञानादिको घातनेका जो स्वभाव उत्पन्न होता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते है । कर्मोमे अपने अपने स्वभावको न त्यागकर जीवके साथ बँधे रहनेके कालकी मर्यादाके पडनेको स्थितिबन्ध कहते है । उनमे फल देनेकी न्यूनाधिक शक्तिके होनेको अनुभाग बन्ध कहते है और न्यूनाधिक परमाणुवाले कर्मस्कन्धोका जीवके साथ सम्बन्ध होनेको प्रदेशबन्ध कहते है । रागद्वेषादिरूप आभ्यन्तर मलके क्षय हो जानेसे जीवके स्व-स्वरूपकी प्राप्तिको मोक्ष कहते है। मोक्षमे न तो आत्माका अभाव ही होता है, न आत्मा अचेतन ही होता है और न वहा चैतन्य अनर्थक ही है । अर्थात् चेतन होने पर भी आत्मामे ज्ञानादिका अभाव नही होता है ।। ११३ ।। मिथ्यात्व असयम आदिको बन्धका कारण कहा है । तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप रत्नत्रयको मोक्षका कारण कहा है ।।११४।। मलिन आत्माओमे पाये जानेवाले मिथ्यात्व-के तीन भेद है– १ देव, शास्त्र और उनके द्वारा कहे गये पदार्थोका श्रद्धान न करना, २ विपर्यय और ३ सशय । अथवा मिथ्यात्वके पाँच भेद भी है–एकान्त मिथ्यात्व, सशय मिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व, विपर्यय मिथ्यात्व और विनय मिथ्यात्व । ये पाँचो प्रकारका मिथ्यात्व ससारका कारण है ।।११५-११६।। व्रतोका पालन न करना,अच्छे कामोमे आलस्य करना,निर्दय होना, सदा अस-न्तुष्ट रहना और इन्द्रियोकी रुचिके अनुसार प्रवृत्ति करना इन सबको सज्जन पुरुष असयम कहते है ।। १७।। क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे कषाय चार प्रकारकी कही है । इनमेसे प्रत्येकके चार चार भेद है–अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ , अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और तथा सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ । ये कषाये प्राणियोको ससाररूपी समुद्रमे गिरानेमे कारण है ।।११८।। मन वचन और कायकी क्रिया शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारकी होती है । इनमेसे शुभ क्रियाओसे आत्माके पुण्यबन्ध होता है और अशुभ क्रियाओसे पापबन्ध होता है ।।११९।।(इस प्रकार बन्धके कारण बतलाकर ग्रन्थकार लोकका स्वरूप कहते है–) यह लोक निराधार है, निरालम्ब है-कोई इसे धारण किये हुए नही है, केवल तीन प्रकारकी वायुके सहारेसे आकाशके बीचोबीचमे यह ठहरा हुआ है । न इसकी कभी उत्पत्ति हुई है और न कभी विनाश ही होता है ।।१२०।। जैनोकी इस मान्यतापर दूसरे आक्षेप करते हुए कहते है-पृथ्वी, पहाड, समुद्र आदिके भारसे लदा हुआ यह

एवमालोच्य लोकस्य निरालम्बस्य धारणे । कल्प्यते पवनो जैनैरित्येतत्साहसं महत् ॥ १२२
यो हि वायुर्न शक्तोऽत्र लोष्ठकाष्ठादिधारणे । त्रैलोक्यस्य । कथ स स्याद्धारणावसरक्षम ॥१२३
तदसत् ।
ये प्लावयन्ति पानीयैर्विष्टप सचराचरम् । मेघास्ते वातसामर्थ्यात्कि न व्योम्नि समासते ॥ १२४
आप्तागमपदार्थेष्वपरं दोषमपश्यत
अमज्जनमन।चामो नग्नत्वं स्थितिभोजिता । मिथ्यादृशो वदन्त्येतन्मुनेर्दोषचतुष्टयम् ॥ १२५
तत्रैष समाधि.-
ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम् । मुनीनां स्नानमप्राप्तं दोषे त्वस्य विधिर्मत ॥ १२६
सगे कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादिभि । आप्लुत्य दण्डवत्सम्यग्जपेन्मन्त्रमुपोषित ॥ १२७
एकान्तरं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके । दिने शुद्धचन्त्यसंदेहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः ॥ १२८
यदेवाङ्गमशुद्धं स्यादद्भि शोध्यं तदेव हि । अङ्गुलौ सर्पदष्टायां न हि नासा निकृत्यते ॥१२९

जगत् किसीके भी आधार नही है,तथा मच्छ, कच्छप, वासुकीनाग और शूकर इसके धारणकर्ता हो नही सकते । ऐसा विचार करके जेन लोग इस निरालम्ब जगत्का धारणकर्ता वायको मानते है । किन्तु यह उनका बडा साहस है, क्योकि जो वायु हमारे देखनेमे ईट पत्थर लकडी वगैरहका भी बोझ सम्हालनेमे असमर्थ है, वह तीनो लोकोको धारण करनेमे कैसे समर्थ हो सकता है? ॥१२१-१२३॥ किन्तु उसका यह आक्षेप ठीक नही है,क्योकि जो मेघ पानीके द्वारा चराचर जगत्को जलमय बना देते है,वे वायुके द्वारा ही क्या आकाशमे नही ठहरे रहते? ॥१२४॥ भावार्थ–आज कल तो हजारो टन बोझा लेजाने वाले वायुयान वायुके सहारे ही आकाशमे उडते हुए पाये जाते है। अत वायुमे बडी शक्ति है और वही लोकको धारण करनेमे समर्थ है। मच्छ कछुवे आदिको जो पुराणोमे पृथ्वीका आधार माना गया है वह विज्ञान सम्मत नही है । जैन आप्त; जैन आगम और उनके द्वारा कहे हुए पदार्थोमे अन्य दोष न पाकर मिथ्यादृष्टि लोग जैन मुनियोमे दोष लगाते हुए कहते है कि जैनोके साधु स्नान नही करते, आचमन नही करते, नगे रहते है और खडे होकर भोजन करते है। इन दोषोंका समाधान इस प्रकार है ॥१२५॥ ब्रह्मचर्यसे युक्त और आत्मिक आचारमे लीन मुनियोके लिए स्नानकी आवश्यकता नही है। हॉ, यदि कोई दोष लग जावे तो उसका विधान है । यदि मुनि हाथमे खोपडी लेकर मागने वाले वाममार्गी कापालिकोसे, रजस्वला स्त्रीसे, चाण्डाल और म्लेच्छ आदिसे छू जाये तो स्नान करके, उपवास पूर्वक कायोत्सर्गके द्वारा मत्रका जप करना चाहिए ॥१२६-१२७॥ भावार्थ–साधारणत मुनिके लिए स्नान करनेका निषेध है, क्योकि मुनि अखण्ड ब्रह्मचारी होते है तथा आरम्भ आदिमे दूर रहते है। हाँ,यदि ऊपर कही गई कोई अशुद्धि हो जाये तो वे स्नान करके वादको उसका प्रायश्चित्त करते है। जो स्त्रियाँ व्रताचरण करती है,वे ऋतुकालमे एकाशन अथवा तीन दिनका उपवास करके चौथे दिन स्नान करके नि सन्देह शुद्ध हो जाती है ॥१२८॥ (इस प्रकार मुनियोके स्नान करनेका कारण वतलाकर ग्रन्थकार आचमन विधिकी आलोचना करते है-)शरीरका जो भाग अशुद्ध हो, जलसे उसीकी शुद्धि करनी चाहिए । अगुलिमे सॉपके काट लेनेपर नाकको नही काटा जाता है ॥१२९॥ अधोवायुका निस्सरण आदि करनेपर यदि मुखमे अपवित्रता मानते हो तो मुखके अपवित्र

निष्पन्दादिविधौ वक्त्रे यद्यपूतत्वमिष्यते । तर्हि वक्त्रापवित्रत्वे शौचं नारभ्यते कुत. ॥ १३०
विकारे विदुषां द्वेषो नाविकारानुवर्तने । तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥ १३१
नैष्किञ्चन्यमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत् । ते सङ्गाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥ १३२
न स्वर्गाय स्थितेर्भुक्तिर्न श्वभ्रायास्थिते पुन. । किं तु संयमिलोकेऽस्मिन्सा प्रतिज्ञार्थमिष्यते ॥ १३३
पाणिपात्रं मिलत्येतच्छक्तिश्च स्थितिभोजने । यावत्तावदहं भुञ्जे हाम्याहारमन्यथा ॥ १३४
अदैन्यासङ्गवैराग्यपरीषहकृते कृत । अतएव यतीशानां केशोत्पाटनसद्विधि· ॥ १३५
सूर्यार्घो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः । सन्ध्यासेवाग्निसत्कारो गेहदेहार्चनो विधिः ॥ १३६
नदीनदसमुद्रेषु मज्जनं धर्मचेतसा । तरुस्तूपाग्रभक्तानां वन्दनं भृगुसंश्रयः ॥ १३७
गोपृष्ठान्तनमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणम् । रत्नवाहनभूयक्षशस्त्रशैलादिसेवनम् ॥ १३८

होनेपर अधोभागमे शौच क्यो नही करते हो ॥१३०॥ **भावार्थ**–ब्राह्मण धर्ममें विहित कर्म करनेसे पहले शरीरकी शुद्धिके लिए तीन वार हाथसे जलपान किया जाता है। इसे ही आचमन कहते है। ग्रन्थकार कहते है कि शरीरका जो भाग अशुद्ध हो जलसे उसीकी शुद्धि करनी चाहिए, जलपान कर लेनेसे अशुद्ध शरीर कैसे शुद्ध हो सकता है? यदि मुख अशुद्ध हो तो उसकी शुद्धि करनी चाहिए और यदि कोई दूसरा अंग अशुद्ध हो तो उसकी शुद्धि करनी चाहिए। सबकी शुद्धि जलपान मात्रसे तो नही हो सकती। अत' आचमन करना व्यर्थ है। (अब मुनियोकी नग्नताका समर्थन करते है–) विद्वान् लोग विकारसे द्वेष करते है अविकारतासे नही। ऐसी स्थितिमे प्राकृतिक नग्नतासे किस वातका द्वेष? यदि मुनिजन पहिरनेके लिए वल्कल, चर्म अथवा वस्त्रकी इच्छा रखते है तो उनमे नैष्किचन्य मेरा कुछ भी नही है ऐसा भाव तथा अहिंसा कसे सम्भव है? अर्थात् वस्त्रादिककी इच्छा रखनेसे उससे मोह तो नवा ही रहा तथा वस्त्रके धोने वगैरहमे हिंसा भी होती ही है ॥१३१-१३२॥ (अब मुनियोके खडे होकर आहार ग्रहण करनेका समर्थन करते है–) बैठकर भोजन करनेसे स्वर्ग नही मिलता और न खडे होकर भोजन करनेसे नरकमे जाना पडता है। किन्तु मुनिजन प्रतिज्ञाके निर्वाहके लिए ही खडे होकर भोजन करते है। मुनि भोजन प्रारम्भ करनेसे पूर्व यह प्रतिज्ञा करते है कि–'जबतक मेरे दोनों हाथ मिले है और मेरेमे खडे होकर भोजन करनेकी शक्ति है तवतक मैं भोजन करूँगा अन्यथा आहारको छोड दूगा। इसी प्रतिज्ञाके निर्वाहके लिए मुनि खडे होकर भोजन करते है ॥ १३३-१३४॥ (अब केशलोचका समर्थन करते है-) अदीनता, निष्परिग्रहपना, वैराग्य और परीषहके लिए मुनियोको केशलोच करना वतलाया है ॥१३५। भावार्थ-मुनियोके पास एक दमडी भी नही रहती, जिससे क्षौरकर्म करा सके, यदि दूसरेसे माँगते है तो दीनता प्रकट होती हैं, पासमें छुरा वगैरह भी नही रख सकते। और यदि केश वढाकर जटा रखते है तो उसमे जू वगैरह पड जाती हैं इसलिए वह हिंसाका कारण है। इसके विपरीत केशलोच करनेमे न किसीसे कुछ मागना पडता है, न कोई हिंसा होती है, प्रत्युत उससे वैराग्यभाव दृढ होता है और कष्टोंको सहनेकी क्षमता वढती है, इसलिए मुनिगण केशलोच करते है।

अब आचार्य लोकमें प्रचलित मूढताओंका निषेध करते है- सूर्यको अर्घ देना, ग्रहणके समय स्नान करना, सक्रान्ति होनेपर दान देना, सध्या वन्दन करना, अग्निको पूजना, मकान और शरीरकी पूजा करना, धर्म मान कर नदियो और समुद्रमे स्नान करना, वृक्ष स्तूप और प्रथम ग्रासको नमस्कार करना, पहाडकी चोटीसे गिरकर मरना, गौके पृष्ठ भागको नमस्कार करना, उसका मूत्र-

समयान्तरपाखण्डवेदलोकसमाश्रयम् । एवमादिविमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा ॥ १३९
वरार्थं लोकयात्रार्थमुपरोधार्थमेव वा । उपासनममीषां स्यात्सम्यग्दर्शनहानये ॥ १४०
क्लेशायैव क्रियायैव क्रियामीषु न फलावाप्तिकारम् । यद्भवेन्मुग्धबोधानामूषरे कृषिकर्मवत् ॥१४१
वस्तुन्येव भवेद्भक्तिः शुभारम्भाय भाक्तिके । नह्यरत्नेषु रत्नाय भावो भवति भूतये ॥ १४२
अदेवे देवताबुद्धिमव्रते व्रतभावनाम् । अतत्त्वे तत्त्वविज्ञानमतो मिथ्यात्वमुत्सृजेत् ॥ १४३
तथापि यदि मूढत्वं न त्यजेत्कोऽपि सर्वथा । मिश्रत्वेनानुमान्योऽसौ सर्वनाशो न सुन्दरः ॥ १४४
न स्वतो जन्तवः प्रेर्या दुरीहाः स्युर्जिनागमे । स्वत एव प्रवृत्तानां तद्योग्यानुग्रहो मतः ॥ १४५
शङ्काकाङ्क्षाविनिन्दान्यश्लाघा च मनसा गिरा । एते दोषाः प्रजायन्ते सम्यक्त्वक्षतिकारणम् ॥१४६

पान करना, रत्न सवारी पृथ्वी यक्ष शस्त्र और पहाड आदि की पूजा करना, तथाधर्मान्तरके पाखण्ड, वेद और लोकसे सम्बन्ध रखनेवाली इस प्रकारकी अनेक मूढताएँ जाननी चाहिएँ ॥ वरकी आशासे या लोक रिवाजके विचारसे या दूसरोके आग्रहसे इन मूढताओका सेवन करनेसे सम्यग्दर्शनकी हानि होती है ॥ जिस प्रकार अज्ञजनोंको ऊसर भूमिमे खेती करनेसे केवल क्लेश ही उठाना पडता हैं, फल कुछ भी नही निकलता, उसी तरह इन मूढताओके करनेसे केवल क्लेश ही उठाना पडता है, फल कुछ भी नही निकलता ॥१३६-१४१॥ वस्तुमे की गई भक्ति ही शुभ कर्मका बन्ध कराती है जो रत्न नही है उसे रत्न माननेसे कल्याण नही हो सकता ॥ अदेवको देव मानना, अव्रतको व्रत मानना और अतत्त्वको तत्त्व मानना मिथ्यात्व है अतः इसे छोड देना चाहिए। फिर भी यदि कोई इन मूढताओंका सर्वथा त्याग नही करे (और सम्यक्त्वके साथ-साथ किसी मूढताका भी पालन करे) तो उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि चाहिए, क्योकि सर्वनाश अच्छा नही । अर्थात् मिथ्यात्व सेवनके कारण उसके धर्माचरणका भी लोप कर देना अर्थात् उसे मिथ्यादृष्टि ही मानना ठीक नही है॥१४२॥१४४॥ **भावार्थ**–ऊपर जिन मूढताओका उल्लेख किया है, उनमेंसे बहुत-सी मूढताएँ आज भी प्रचलित हैं, और लोग धर्म मानकर उन्हे करते हैं, किन्तु उनमेकुछ भी धर्म नही हैं । वे केवल धर्मके नामपर कमाने-खानेका आडम्बर मात्र है । ऐसी मूढताओसे सबको बचना चाहिए । किन्तु यदि कोई कारणसे उन मूढताओको पूरी तरहसे नही त्याग देता और अपने धर्माचरणके साथ उन्हे भी किये जाता है तो उसे एकदम मिथ्यादृष्टि न मानकर सम्यक् मिथ्यादृष्टि माननेकी सलाह ग्रन्थकार देते है । वे उसके उस धर्माचरणका लोप नही करना चाहते, जो वह मूढता पालते हुए भी करता है । ऐसा प्रतीत होता हैं कि ग्रन्थकारके समयके लोक-रिवाज या कामना-वश कुछ जैनोंमे भी मिथ्यात्वका प्रचार था और बहुतसे जैन उसे छोडनेमे असमर्थ थे । शायद उन्हें एक दम मिथ्यादृष्टि कह देना भी उन्हे उचित नही जँचा, इसलिए सम्यङमिथ्यादृष्टि कह दिया है, वैसे तो मिथ्यात्वसेवी जैन भी मिथ्यात्वी ही माने गये हैं। जिन मनुष्योंकी चेष्टाए या इच्छाएँ अच्छी नही है उन्हे जिनागममे स्वय प्रेरित नही करना चाहिए । अर्थात् ऐसे मनुष्यो को जैनधर्ममें लानेकी चेष्टा नही करनी चाहिए, किन्तु यदि वे स्वय इधर आवे तो उनके योग्य अनुग्रह-साहाय्य कर देना चाहिए ॥ १४५॥

(अब ग्रन्थकार सम्यग्दर्शनके दोष बतलाते है-) शङ्का, कांक्षा, विनिन्दा और मन तथा वचनसे मिथ्यादृष्टिकी प्रशंसा करना ये दोष सम्यग्दर्शनकी हानिके कारण है ॥१४६॥

अहमेको न मे कश्चिदस्ति त्राता जगत्त्रये । इति व्याधिव्रजोत्क्रान्तिभीति शङ्कां प्रचक्षते ।। १४७
एतत्तत्त्वमिदं तत्त्वमेतद्व्रतमिद व्रतम् । एष देवश्च देवोऽयमिति शङ्कां विदु॰ पराम् ।। १४८
इत्थ शङ्कितचित्तस्य न स्याद्दर्शनशुद्धता । न चास्मिन्नीप्सितावाप्तिर्यथैवोभयवेदने ।। १४९
एष एव भवेद्देवस्तत्त्वमप्येतदेव हि । एतदेव व्रत मवत्यै तदेव स्यादशङ्कधी ।। १५०
तत्त्वे ज्ञाते रिपौ दृष्टे पात्रे वा समुपस्थिते । यस्य दोलायते चित्तं रिक्त. सोऽमुत्र चेह च ।।१५१
अन्तस्तत्त्वविहीनस्य वृथा व्रतसमुद्यमः । पुंस॰ स्वभावभीरोः स्यान्न शौर्यायायुधग्रह॰ ।। १५२
एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम् । पुण्यानि च पूरयितुं दातु मुक्तिश्रियं कृतिन.।।१५३
उररीकृतनिर्वाहसाहसोचितचेतसाम् । उभौ कामदुघौ लोको कोर्तेश्चाल्पं जगत्त्रयम् ।। १५४
क्षत्रपुत्रोऽक्षविक्षिप्त शिक्षित॰दृश्यकज्जल । अन्तरिक्षगतिं प्राप नि शङ्कोऽञ्जनतस्कर ।। १५५
स्यां देव: स्यामह यक्ष स्यां वा वसुमतीपति । यदि सम्यक्त्वमाहात्म्यमस्तीतीच्छां परित्यजेत्।।१५६
उदश्वितेव माणिक्य सम्यक्त्व भवजं सुखं । विक्रीणान पुमान्स्वस्य वञ्चक केवलं भवेत्।।१५७
चित्ते चिन्तामणिर्यस्य यस्य हस्ते सुरद्रुम । कामधेनुर्धने यस्य तस्य कः प्रार्थनाक्रम॰ ।। १५८

इनमेसे पहले शका दोषका वर्णन करते है–'मै अकेला हूँ,तीनो लोकोमे मेरा कोई रक्षक नही है ।' इस प्रकार रोगोके आक्रमणके भयको शका कहते है ।। अथवा यह तत्त्व है या यह तत्त्व है?' 'यह व्रत है या यह व्रत है?' 'यह देव है कि यह देव है?' इस प्रकारके सशयको शकाकहते है । जिसका चित्त इस प्रकारसे शङ्कित - शङ्काकुल या भयभीत है उसका सम्यग्दर्शन शुद्ध नही है । तथा जैसे नपुसक अपने मनोरथको पूरा नही कर सकता,वैसे ही उसे भी अभीष्टकी प्राप्ति नही हो सकती । 'यही देव है, यही तत्त्व है और इन्ही व्रतोसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है । ऐसा जिसको दृढ विश्वास है वही मनुष्य नि शङ्क बुद्धिवाला है ।। किन्तु तत्त्वके जाननेपर, शत्रुके दृष्टि-गोचर होनेपर और पात्रके उपस्थित होनेपर जिसका चित्त डोलता है,–जो कुछ भी स्थिर नही कर सकता वह इस लोकमे भी खाली हाथ रहता है और परलोकमे भी खाली हाथ रहता है।।१४७-१५१।। 'आत्मज्ञानसे शून्य मनुष्यका व्रताचरणका प्रयास व्यर्थ है । ठीक ही है जो मनुष्य स्वभाव से ही डरपोक है, शस्त्र ग्रहण करनेसे उसमे शौर्य नही आ जाता ।।१५२।।

'अकेली एक जिन-भक्ति ही ज्ञानीके दुर्गतिका निवारण करनेमे, पुण्यका सचय करनेमे और मुक्ति रूपी लक्ष्मीको देनेमे समर्थ है ।।१५३।। 'जो अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह करनेमे उचित साहस दिखलाते है, इस लोक और परलोकमे वे इच्छित वस्तुको पाते है, तथा उनके यशसे तीनो लोक चलायमान हो जाते है ।।१५४।। अञ्जनचोर राजपुत्र था, किन्तु इन्द्रियोकी विषयलालसाने उसे पागल कर दिया था। तव अदृश्य होनेका अञ्जन वनाना सीख लिया । फिर वह नि शङ्क होकर विद्याधर बन गया । और मुक्त हो गया ।।१५५।। (अब निष्काक्षित अगको वतलाते है–) यदि सम्यग्दर्शनमे माहात्म्य है तो 'मै देव होऊं', यक्ष होऊँ अथवा राजा होऊँ' इस प्रकारकी इच्छाको छोड देना चाहिए। जो सासारिक सुखोके वदलेमे सम्यक्त्वको बेच देता है वह छाछके वदलेमे माणिक्यको बेच देने-वाले मनुष्यके समान केवल अपनेको ठगता है ।। १५६-१५७।। जिस सम्यदृष्टिके चित्तमे चिन्तामणि है, हाथमे कल्पवृक्ष है, धनमे कामधेनु है, उसको याचनासे क्या मतलव? जिसकी चित्तवृत्ति उचित स्थानको पाकर

उचिते स्थानके यस्य चित्तवृत्तिरनाकुला । तं श्रियः स्वयमायान्ति स्रोतस्विन्य इवाम्बुधिम् ।।१५९
तत्कुदृष्टयन्तरोद्भूतामिहामुत्र च संभवाम् । सम्यग्दर्शनशुद्धयर्थमाकांक्षां त्रिविधां त्यजेत् ।।१६०
हासात्पितुश्चतुर्थेऽस्मिन्व्रतेऽनन्तमतिः स्थिता । कृत्वा तपश्च निष्काङ्क्षा कल्पं द्वादशमाविशत् ।।१६१
तपस्तीव्रं जिनेन्द्राणां नेदं संवादमन्दिरम् । अदोऽपवादि चेत्येवं चेतः स्याद्विचिकित्सना ।। १६२
स्वस्यैव हि स दोषोऽयं यन्न शक्तः श्रुताश्रयम् । शीलमाश्रयितुं जन्तुस्तदर्थं वा निबोधितुम् ।।१६३
स्वतःशुद्धमपि व्योम वीक्षते यन्मलीमसम् । नासौ दोषोऽस्य किं तु स्यात्स दोषश्चक्षुराश्रयः ।।१६४
दर्शनाद्देहदोषस्य यस्तत्त्वाय जुगुप्सते । स लोहे कालिकालोकान्नूनं मुञ्चति काञ्चनम् ।। १६५
स्वस्यान्यस्य च कायोऽयं बहिश्छायामनोहरः । अन्तर्विचार्यमाणः स्यादोदुम्बरफलोपमः ।। १६६
तदेतिह्ये च देहे याथात्म्यं पश्यतां सताम् । उद्वेगाय कथं नाम चित्तवृत्तिः प्रवर्तताम् ।। १६७
बालवृद्धगदग्लानान्मुनीनौद्दायनः स्वयम् । भर्जान्निर्विचिकित्सात्मा स्तुतिं प्रापत्पुरन्दरात् ।। १६८
अन्तर्दुरन्तसंचारं बहिराकारसुन्दरम् । न श्रद्दध्यात्कुदृष्टीनां मतं किम्पाकसन्निभम् ।। १६९
श्रुतिशाक्यशिवाम्नायः क्षौद्रमांसासवाश्रयः । यदन्ते मखमोक्षाय विधिरत्रैतदन्वयः ।। १७०

निराकुल हो जाती हैं, समुद्रमें नदियोंकी तरह लक्ष्मी उसे स्वयं प्राप्त होती है ।।१५८-१५९।। अतः सम्यग्दर्शनकी शुद्धिके लिए अन्य मिथ्या मतोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होने वाली, तथा इस लोक और परलोक सम्बन्धी तीन प्रकारकी इच्छाओंको छोड़ देना चाहिए।।१६०।। अनन्तमतीने पिताके परिहाससे ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया और उसमें स्थिर रही । फिर बिना किसी प्रकारकी इच्छाके तप करके बारहवें स्वर्गमें उत्पन्न हुई ।।१६१।। (अब निर्विचिकित्सा अंगको बतलाते हैं—) 'जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा गया यह उग्र तप प्रशंसनीय नहीं है, उसमें अनेक दोष हैं।' इस प्रकार चित्तमें सोचना विचिकित्सा कहलाती है। शास्त्रमें कहे गये शीलको पालने अथवा उसका आशय समझनेमें जो जीव असमर्थ हैं सो यह उसीका दोष हैं । स्वतः शुद्ध आकाश भी जो मलिन दिखाई देता है सो यह आकाशका दोष नहीं है किन्तु देखनेवालेकी आँखोंका दोष हैं। जो मनुष्य शरीरमें दोष देखकर उसके अन्दर बसनेवाली आत्मासे ग्लानि करता है, वह लोहेकी कालिमाको देखकर निश्चय ही सोनेको छोड़ता हैं । अर्थात् जैसे लोहेकी कालिमाका सोनेसे सम्बन्ध नहीं हैं वैसे ही शरीरकी गन्दगीका आत्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं हैं। अतः शरीरके गन्देपनको देखकर तपस्वी साधुको आत्मासे घृणा नहीं करनी चाहिए। अपना शरीर हो या दूसरेका, वह बाहरसे ही मनोहर लगता है । उसके अन्दरकी हालतका विचार करनेपर तो वह उदुम्बरके फलके समान ही हैं। अतः इस परम्परागत उपदेश तथा इस शरीरके वास्तविक स्वरूपको जाननेवाले सज्जनोंकी चित्तवृत्ति (शरीरकी गन्दगीको देखकर) कैसे व्याकुल हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती ।।१६२-१६७।। बाल, वृद्ध और रोगसे पीड़ित मुनियोंकी स्वयं सेवा करनेवाला, निर्विचिकित्सा अंगका पालक, राजा उद्दायन इन्द्रके द्वारा प्रशंसित हुआ ।।१६८।। (अब अमूढदृष्टि अंगको बतलाते हैं—) जिसके अन्दर बुराइयाँ भरी हैं किन्तु जो बाहरसे सुन्दर है, किम्पाकफलके समान ऐसे मिथ्यादृष्टियोंके मतपर श्रद्धा मत करो। १६९।। वैदिक मतमें मधुके प्रयोगका विधान है, (बौद्धमतमें) मांस-भक्षणका विधान है, और शैवमतमें मद्यपानका विधान है । आम्नायोंमें जो यज्ञ और

भर्मिभस्मजटाबोटयोगपट्टकटासनम् । मेखलाप्रोक्षणं मुद्रा वृषीदण्ड. करण्डक: ।। १७१
शौचं मज्जनमाचाम पितृपूजानलाचनम् । अन्तस्तत्त्वविहीनानां प्रक्रियेय विराजते ।। १७२
को देव· किमिद ज्ञानं किं तत्त्व कस्तप:क्रम. । को बन्ध कश्च मोक्षो वा यत्तत्रेदं न विद्यते ।।१७३
आप्तागम·विशुद्धत्वे क्रिया शुद्धापि देहिषु । नाभिजातफलप्राप्त्यै विजातिष्विव जायते ।। १७४
तत्संस्तव प्रशंसां वा न कुर्वीत कुदृष्टिषु । ज्ञानविज्ञानयोस्तेषां विपश्चिन्न च विभ्रमेत् ।। १७५
जले तैलमिवैतिह्य वृथा तत्र बहिर्द्युति । रसवत्स्यान्न यत्रान्तर्बोधो वेधाय धातुषु ।। १७६
आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य । ब्रह्मेति गी प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा ।।१७७
कादम्बताक्ष्यगोसिंहपीठाधिपतिषु स्वयम् । आगतेष्वप्यभून्नैषा रेवती मूढतावती ।। १७८
उपगूहस्थितीकारौ यथाशक्तिप्रभावनम् वात्सल्य च भवन्त्येते गुणा. सम्यक्त्वसंपदे ।। १७९
क्षान्त्या सत्येन शौचेन मार्दवेनार्जवेन च । तपोभि· संयमैर्दानैः कुर्यात्समयबृंहणम् ।। १८०
सवित्रीव तनूजानामपराधं सधर्मसु । दैवप्रमादसंपन्न निगूहेद् गुणसंपदा ।। १८१
अशक्तस्यापराधेन किं धर्मो मलिनो भवेत् । न हि भेके मृते याति पयोधि पूतिगन्धिताम्।।१८२
दोषं गूहति नो जात यस्तु धर्म न बृहयेत् । दुष्करं तत्र सम्यक्त्व जिनागमबहिस्थिते· ।। १८३
मायासयमिन्युत्सर्पे सूर्पे रत्नापहारिणि । दोषं निषूदयामास जिनेन्द्रो भक्तवाक्पर: ।। १८४

मोक्षकी विधियाँ है, उनमे भी उक्त वस्तुओके सेवनका विधान आता है ।।१७०।। नशा करना, भस्म रमाना, जटाजूट रखना, योगपट्ट, कटिसूत्र-धारण, यज्ञके लिए पशुवध करना, मुद्रा, कुशासन, दण्ड, पुष्प रखनेका पात्र, शौच, स्नान, आचमन, पितृतर्पण और अग्निपूजा, येसब आत्म—तत्त्वसे विमुख साधकोंकी प्रक्रिया है। कौन देव है? तत्त्व क्या है, तपस्याका क्रम क्या है? बन्ध किसे कहते हैं? मोक्षका क्या स्वरूप है? ये सब बाते वहाँ नही है ।।१७१-१७३।। यदि देव और शास्त्र निर्दोष न हो तो प्राणियोकी शुद्ध क्रिया भी श्रेष्ठ फलको नही दे सकती। जैसे विजातियोमे कुलीन सन्तानकी प्राप्ति नही होती। इसलिए मिथ्यादृष्टियोकी मनसे प्रशसा नही करनी चाहिए और न वचनसे स्तुति करनी चाहिए। तथा समझकर मनुष्योको उनके ज्ञानादिकको देखकर भ्रममे नही पडना चाहिए ।।१७४-१७५।। जहाँ धातुमे पारदकी तरह अन्तर्बोध चित्तके अन्दर नही भिदता, वहाँ जलमे तेल की तरह बाहर मे ही प्रकाशमान शास्त्रज्ञान व्यर्थ ही होता है।।१७६।। आत्माको, मोक्षको,ज्ञानको,चारित्रको और भरतके पिता ऋषभदेवको ब्रह्मा कहते है। इनके सिवा और कोई ब्रह्मा नही है। १७७।।'ब्रह्मा,विष्णु, शिव और जिनके स्वय पधारने पर भी रेवती रानी मूर्ख नही बनी,मूढताको प्राप्त नही हुई ।।१७८।। (अब उपगूहन अगको बतलाते है-) उपगूहन, स्थितिकरण, शक्तिके अनुसार प्रभावना और वात्सल्य ये गुण सम्यक्त्व रूपी सम्पदाके लिए होते है ।।१७९।। क्षमा, सत्य, शौच, मार्दव, आर्जव, तप, सयम और दानके द्वारा धर्मकी वृद्धि करनी चाहिए। तथा जैसे माता अपने पुत्रोके अपराधको छिपाती है वैसे ही यदि साधर्मियोमेसे किसीसे दैववश या प्रमाद वश कोई अपराध बन गया हो तो उसे गुण सम्पदासे छिपाना चाहिए। क्या असमर्थ मनुष्यके द्वारा की गई गल्तीसे धर्म मलिन हो सकता है? मेढकके मर जानेसे समुद्र दुर्गन्धित नही हो जाता ।। जो न तो दोषको ढाँकता है और न धर्मकी वृद्धि करता है, वह जिनागमका पालक नही है और उसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना भी दुष्कर है ।।१८०-१८३।। 'मायाके नियत्रणमे प्रवीण रत्नको चुरानेवाले सूर्पके दोषको जिनेन्द्र भक्त सेठने छिपाया' ।।१८४।। (अब स्थितिकरण अंग-

परीषहव्रतोद्विग्नमजातागमसङ्गमम् । स्थापयेद् भ्रस्यदात्मानं समयी समयस्थितम् ॥ १८५
तपस. प्रत्यवस्यन्तं यो न रक्षति संयतम् । नूनं स दर्शनाद्बाह्य समयस्थितिलङ्घनात् ॥ १८६
नवैः संदिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद् गणवर्धनम् । एकदोषकृते त्याज्य. प्राप्ततत्त्वः कथं नर ॥ १८७
यतः समयकार्यार्थो नानापञ्चजनाश्रय । अतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत् ॥ १८८
उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद् दूरतरो नर । ततस्तस्य भवो दीर्घ. समस्योऽपि च हीयते ॥ १८९
विशुद्धमनसां पुंसां परिच्छेदपरात्मनाम् । किं कुर्वन्ति कृता विघ्नाः सदाचारखिलैः खलैः ॥१९०
सुदतीसंगमासक्त पुष्पदन्त तपस्विनम् । वारिषेण कृतत्राणः स्थापयामास सयमे ॥ १९१
चैत्यैश्चैत्यालयैर्ज्ञानैस्तपोभिर्विविधात्मकैः । पूजामहाध्वजाद्यैश्च कुर्यान्मार्गप्रभावनम् ॥ १९२
ज्ञाने तपसि पूजायां यतीनां यस्त्वसूयते । स्वर्गापवर्गभूर्लक्ष्मीर्न्न तस्याप्यसूयते ॥ १९३
समर्थश्चित्तवित्ताभ्यामिहाशासनभासक । समर्थश्चित्तवित्ताभ्यां स्वस्यामुत्र न भासक ॥ १९४
तद्दानज्ञानविज्ञानमहामहोत्सवैः । दर्शनद्योतनं कुर्यादैहिकापेक्षयोज्झितः ॥ १९५
अन्तःसारशरीरेषु हितायैवाहितेहितम् । किं न स्यादग्निसंयोगः स्वणत्वाय तदश्मनि ॥ १९६

को कहते है–) परीषह और व्रतसे घबराया हुआ तथा आगमके ज्ञानसे शून्य कोई साधर्मी भाई यदि धर्मसे भ्रष्ट होता हो तो सम्यग्दृष्टिको उसका स्थितिकरण करना चाहिए। जो तपसे भ्रष्ट होते हुए मुनिकी रक्षा नही करता है, आगमकी मर्यादाका उल्लघन करनेके कारण वह मनुष्य नियमसे सम्यग्दर्शनसे रहित है ॥१८५-१८६॥ जिनके निर्वाहमे सन्देह है ऐसे नये मनुष्योसे भी संघको वढाना चाहिए। केवल एक दोषके कारण तत्त्वज्ञ मनुष्यको छोडा नही जा सकता। क्योकि धर्मका काम अनेक मनुष्योके आश्रयसे चलता है। इसलिए समझा-बुझाकर जो जिसके योग्य हो उसे उसमे लगा देना चाहिए। उपेक्षा करनेसे मनुष्य धर्मसे दूर होता जाता है और ऐसा होनेसे उस मनुष्यका संसार सुदीर्घ होता है और धर्मकी भी हानि होती है ॥१८७-१८९॥ 'सदाचारको विगाडनेवाले दुष्ट मनुष्योके द्वारा किये गये विघ्न,विचारमें तत्पर विशुद्धमनवाले मनुष्योका क्या कर सकते ? अर्थात् कुछ भी विगाड नही कर सकते ॥१९०॥ 'वारिषेणने सुदतीमे आसक्त तपस्वी पुष्पदन्तकी रक्षा की और उसे संयममे लगाया ॥ १९१ ॥ (अव प्रभावना अगको वतलाते है-) जिनविम्ब और जिनालयोकी स्थापनाके द्वारा,ज्ञानके द्वारा, तपके द्वारा तथा अनेक प्रकारकी महाध्वज आदि पूजाओके द्वारा जैनधर्मकी प्रभावना करना चाहिये ॥१९२॥ जो मुनियोंके ज्ञान,तप और पूजाकी निन्दा करता है, उनमे झूठा दोष लगाता है, स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी भी नियमसे उससे द्वेष करती है। अर्थात् उसे न स्वर्गके सुखोंकी प्राप्ति होती है, और न मोक्ष ही मिलता है ॥१९३॥ इस लोकसे वुद्धि और धनसे समर्थ होनेपर भी जो जिनशासनकी प्रभावना नही करता,वह वुद्धि और धनसे समर्थ होनेपर भी परलोकमें अपना कल्याण नही करता। अत ऐहिक सुखकी इच्छा न करके दान, ज्ञान, विज्ञान और महापूजा आदि महोत्सवोके द्वारा सम्यग्दर्शनका प्रकाश करना चाहिए ॥१९४-१९५॥ 'जिनके अन्तरगमे कुछ सार है उनका अहित चाहना भी हितके लिए होता है। देखो, स्वर्णपाषाणको आगमें तपानेसे क्या वह सोना नहीं हो जाता ॥ १९६ ॥

**पुण्यं वा पापं वा यत्काले जन्तुना पुराचरितम् । तत्तत्समये तस्य हि सुखं च दुःखं च योजयति॥१९७
ऊर्विलाया महादेव्याः पूतिकस्य महीभुजः । स्यन्दनं भ्रमयामास मुनिर्वज्रकुमारकः ॥ १९८
अथित्वं भक्तिसंपत्ति प्रियोक्ति सत्क्रियाविधिः । सधर्मसु च सौचित्यकृतिर्वत्सलता मता ॥१९९
स्वाध्याये संयमे सङ्घे सब्रह्मचारिणि । यथोचितं कृतात्मानो विनयं प्राहुरादरम् ॥ २००
आधिव्याधिनिरुद्धस्य निरवद्येन कर्मणा । सौचित्यकरणं प्रोक्तं वैयावृत्यं विमुक्तये ॥ २०१
जिने जिनागमे सूरौ तपःश्रुतपरायणे । सद्भावशुद्धिसंपन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥ २०२
चातुर्वर्ण्यस्य संघस्य यथायोग्यं प्रमोदवान् । वात्सल्यं यस्तु नो कुर्यात्स भवेत्समयी कथम् ॥ २०३
तद्व्रतैर्विद्यया वित्तै शारीरै श्रीमदाश्रयैः । त्रिविधातङ्कसंप्राप्तानुपकुर्वन्तु संयतान् ॥ २०४
सन्नपंश्च समावेव यदि चित्तं मलीमसम् । यात्यक्षान्ते क्षयं पूर्वः परश्चाशुभचेष्टितात् ॥२०५
स्वमेव हन्तुमीहेत दुर्जनः सज्जनं द्विषन् । योऽधितिष्ठेत्तुलामेकः किमसौ न व्रजेदधः ॥ २०६
महापद्मसुतो विष्णुर्मुनीनां हास्तिने पुरे । बलिद्विजकृतं विघ्नं शमयामास वत्सलः ॥ २०७
निसर्गोऽधिगमो वापि तदाप्तौ कारणद्वयम् । सम्यक्त्वभाक्पुमान्यस्मादल्पानल्पप्रयासतः ॥ २०८
आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः । सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च ॥ २०९**

जीवने पूर्वजन्ममे जो पुण्य या पाप किया है,समय आनेपर वह उसे अवश्य सुख या दुःख देता है' ॥१९७॥ वज्रकुमार मुनिने राजा पूतिककी रानी महादेवी ऊर्विलाके रथका विहार कराया ॥१९८॥ (अब वात्सल्य अंगको कहते है–)धर्मात्मा पुरुषोके प्रति उदार होना,उनकी भक्ति करना, मिष्ट वचन बोलना, आदर-सत्कार तथा अन्य उचित क्रियाएँ करना वात्सल्य है॥१९९॥ स्वाध्याय, संयम, संघ,गुरु और सहाध्यायीका यथायोग्य आदर-सत्कार करनेको कृती पुरुष विनय कहते है।२००॥ जो मानसिक या शारीरिक पीडासे पीडित है, निर्दोष विधिसे उनकी सेवा-शुश्रुषा करना वैयावृत्य कहा जाता है । यह वैयावृत्य मुक्तिका कारण है ॥२०१॥ जिन भगवान्‌मे, जिन-भगवान्‌के द्वारा कहे हुए शास्त्रमे, आचार्यमे और तप और स्वाध्यायमे लीन मुनि आदिमे विशुद्ध भावपूर्वक जो अनुराग होता है उसे भक्ति कहते है ॥२०२॥ जो हर्षित होकर चार प्रकारके संघमे यथायोग्य वात्सल्य नही करता वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है ॥२०३॥ इसलिए व्रतोके द्वारा, विद्याके द्वारा,धनके द्वारा,शरीरके द्वारा और सम्पन्न साधनोके द्वारा शारीरिक मानसिक और आगन्तुक रोगोसे पीडित संयमीजनोका उपकार करना चाहिए ।२०४॥–'यदि चित्त मलीन है तो सज्जन ओर दुर्जन दोनो समान है । उनमेसे सज्जन तो अशान्तिके कारण नष्ट हो जाता है और दुर्जन बुरे कार्योके करनेसे नष्ट हो जाता है । क्योकि सज्जनसे द्वेष करनेवाला दुर्जन स्वयं अपने ही घातकी चेष्टा करता है । ठीक ही है जो अकेला ही तराजूमे बैठ जाता है वह नीचे क्यो नही जायेगा ॥२०५-२०६॥

'महापद्म राजाके पुत्र धर्मप्रेमी विष्णुमुनिने हस्तिनागपुरमे बलिके द्वारा मुनियोपर किया गया उपसर्ग दूर किया' ॥२०७॥ सम्यग्दर्शन दो प्रकारसे होता है-एक तो परोपदेशके बिना स्वयं ही हो जाता है और दूसरे,परोपदेशसे होता है । क्योकि किसी पुरुषको तो थोडा-सा प्रयत्न करनेमे ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और किसीको बहुत प्रयत्न करनेमे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है

एतदुक्तं भवति - कस्यचिदासन्नभव्यस्य तन्निदानद्रव्यक्षेत्रकालभावभवसंपत्सेव्यस्य विधूर्त-तत्प्रतिबन्धकारसम्बन्धस्याक्षिप्तशिक्षाक्रियालापनिपुणकरणानुबन्धस्य नवस्य भाजनस्येवासं-जातदुर्वासनागन्धस्य झटिति यथावस्थितवस्तुस्वरूपसंक्रान्तिहेतुतया स्फाटिकमणिदर्पणसगन्धस्य पूर्वभवसभालनेन वा वेदनानुभवनेन वा धर्मश्रवणाकर्णनेन वार्हत्प्रतिनिधिनिध्यानेन वा महामहो-त्सवनिहालनेन वा महर्द्धिप्राप्ताचार्यवाहनेन व नृषु नाकिषु वा तन्माहात्म्यसंभूतविभवसंभावनेन वान्येन वा केनचित्कारणमात्रेण विचारकान्तारेषु मनोविहारास्पदं खेदमनापद्य यदा जीवादिषु पदार्थेषु याथात्म्यसमवधान श्रद्धान भवति तदा प्रयोक्तु. सुकरक्रियत्वाल्लूयन्ते शालय. स्वयमेव, विनीयन्ते कुशलाशयाः स्वयमेव,इत्यादिवत्तन्निसर्गात्संजातमित्युच्यते । यदा त्वव्युत्पत्तिसंशीतिवि-पर्यस्तिसमधिकबोधस्याधिमुक्तियुक्तिसूक्तिसम्बन्धसंनिधस्यप्रमाणनयनिक्षेपानुयोगोपयोगावगाह्येषु समस्तेष्वैतिह्येषु परीक्षोपक्षेपादतिक्लिश्य निःशेषदुराशाविनिशाविनाशनांशुमरीचिश्चिरेण तत्त्वेषु रुचिः संजायत, तदा विधातुरायासहेतुत्वान्मया निर्मापितोऽयं सूत्रानुसारो हारो, मयेदं संपादित रत्नरचनाधिकरणमाभरणमित्यादिवत्तदधिगमादाविर्भूतमित्युच्यते । उक्तं च—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः । बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ २१०

द्विविधं त्रिविधं दशविधमाहुः सम्यक्त्वमात्महितमतय ।
तत्त्वश्रद्धानविधिः सर्वत्र च तत्र समवृत्तिः ॥ २११

॥२०८॥ 'सम्यक्त्वके अन्तरग कारण निकट भव्यता, ज्ञानावरणादिक कर्मोकी हानि, सज्ञीपना और शुद्ध परिणाम है, तथा बाह्य कारण उपदेश आदिक है' ॥२०९॥ आशय यह है कि जो कोई निकट भव्य है, सम्यग्दर्शनके योग्य द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और भवरूपी सम्पत्तिकी जिसे प्राप्ति हो गई है, उसमें किसी तरहकी रुकावट डालने वाला कोई प्रतिबन्धक नही रहा है, शिक्षा, क्रिया, बात-चीतको ग्रहण करनेमे निपुण पाँचों इन्द्रियो और मनसे जो युक्त है अर्थात् सज्ञी पचेन्द्रिय है, नये बरतनकी तरह जिनमे दुर्वासनाकी गन्ध नही है, वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप दर्शानेके लिए जो स्फटिक मणिके दर्पणके समान स्वच्छ है, ऐसे जीवके पूर्वभवके स्मरणसे, कष्टोके अनुभव-मे,धमके श्रवणसे,जिनविम्बके दर्शनसे, महामहोत्सवोके अवलोकनसे, ऋद्धिधारी आचार्योंके दर्शन करनेसे,मनुष्यो तथा देवोमे सम्यक्त्वके माहात्म्यसे उत्पन्न हुए विभवको देखनेसे या अन्य किसी कारणसे विचाररूपी वनमे मनको न भटका कर जब जीवादिक पदार्थोंमें ज्यो-का-त्यो श्रद्धान होता है तो उस सम्यग्दर्शनको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते है । क्योंकि जैसे धान्य कृषक द्वारा सुलभता-से स्वय ही कट जाते है अथवा सदाशयी स्वय ही विनीत हो जाते है उसी तरह उसमे कर्ताको श्रम करना नही पडता । और जब सशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे ग्रस्त ज्ञानवाले मनुष्यके श्रद्धा, युक्ति और आगमके निकट होकर, प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगके द्वारा अवगाहन करनेके योग्य समस्त शास्त्रोंकी परीक्षा करनेका कष्ट उठाकर चिरकालके पश्चात् समस्त दुराशा-रूपी रात्रिके विनाशके लिए सूर्यकी किरणोके समान तत्त्वरुचि उत्पन्न होती है, तो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते है । क्योंकि जैसे मैने यह हार बनाया है या मैने यह रत्नखचित आभरण बनाया है,वैसे ही कर्ताके द्वारा विहित परिश्रमसे उत्पन्न हुए अधिगम-ज्ञानसे वह प्रकट होता है । कहा भी है—अबुद्धिपूर्वक प्रयत्नके बिना अचानक जो इष्ट या अनिष्ट होता है वह अपने दैवसे होता है और बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करनेसे जो इष्ट या अनिष्ट होता है वह अपने पौरुषसे होता है ॥२१०॥

सरागवीतरागात्मविषयत्वाद्द्विधा स्मृतम् । प्रशमादिगुण पूर्व पर चात्मविशुद्धिभाक् ।। २१२

यथा हि पुरुषस्य पुरुषशक्तिरियमतीन्द्रियाप्यङ्गनाजनाङ्गसंभोगेनापत्योत्पादनेन च विपदि धैर्यावलम्बनेन वा प्रारब्धवस्तुनिर्वहणेन वा निश्चेतु शक्यते, तथात्मस्वभावतयातिसूक्ष्मयत्नमपि सम्यक्त्वरत्नं प्रशमसवेगानुकम्पास्तिक्यैरेव वाक्यैराकलयितुं शक्यम् । तत्र—

यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिबर्हणम् । तं प्राहुः प्रशम प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् ।। २१३

शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवाद्भवात् । स्वप्नेन्द्रजालसङ्कल्पाद्भीति सवेग उच्यते ।। २१४

सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दय र्द्रत्व दयालव । धर्मस्य परम मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ।। २१५

आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंस्तुतम् । आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं मुक्तियुक्तिधरे नरे ।। २१६

रागरोषधरे नित्यं निव्रते निर्दयात्मनि । ससारो दीर्घसार स्यान्नरे नास्तिकनीतिके ।। २१७

कर्मणः क्षयत शान्ते क्षयोपशमतस्तथा । श्रद्धानं त्रिविधं बोध्यं गतौ सर्वत्र जन्तुषु ।। २१८

दशविधं तदाह—

आत्महितैषी महापुरुषोने सम्यग्दर्शनके दो,तीन और दश भेद बतलाये है। इन सभी भेदोमे तत्त्वोंका श्रद्धान समान रूपसे पाया जाता है । अर्थात् तत्त्वोका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शनका सामान्य लक्षण है। अत सम्यग्दर्शनके जितने भी भेद है उन सभीमे तत्त्वोका श्रद्धान होना आवश्यक है उसके बिना सम्यग्दर्शन हो ही नही सकता ।।२११।। सम्यग्दर्शन रागी आत्माओको भी हो सकता है और वीतरागी आत्माओके भी होता है इसलिए उसके दो भेद कर दिये गये है—एक सरागसम्यग्दर्शन और दूसरा वीतरागसम्यग्दर्शन । सरागसम्यग्दर्शन प्रशम आदि गुणरूप होता है और वीतरागसम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप होता है ।।२१२।। जैसे पुरुषकी शक्ति यद्यपि अतीन्द्रिय है, इन्द्रियोसे उसे नही देखा जा सकता,फिर भी स्त्रियोके साथ सभोग करनेसे,सन्तानोत्पादनसे, विपत्तिमे धैर्य और प्रारम्भ किये गये कार्यको समाप्त करना आदि बातोसे उसकी शक्तिका निश्चय किया जाता है,वैसे ही सम्यक्त्वरूपी रत्न भी आत्माका स्वभाव होनेके कारण यद्यपि बहुत सूक्ष्म है, फिर भी प्रशम,सवेग,अनुकम्पा और आस्तिक्य आदिके द्वारा उसका निश्चय किया जा सकता है । (अब आस्तिक्य आदिका स्वरूप बतलाते है—) रागादिक दोषोसे चित्तवृत्तिके हटनेको पण्डित-जन प्रशम कहते है । यह प्रशमगुण समस्त व्रतोका भूषण है ।।२१३।। यह ससार शारीरिक, मानसिक, और आगन्तुक कष्टोसे भरा है और स्वप्न या जादूगरके तमाशेकी तरह चञ्चल है । इससे डरना सवेग है ।।२१४।। सब प्राणियोके प्रति चित्तका दयालु होना अनुकम्पा है । दयालु पुरुष इसे धर्मका परम मूल बतलाते है ।।२१५।। मुक्तिके लिए प्रयत्नशील पुरुषका चित्त आप्तके विषयमे, शास्त्रके विषयमे, व्रतके विषयमे और तत्त्वके विषयमे 'ये है' इस प्रकारकी भावनासे युक्त होता है उसे आस्तिक पुरुष आस्तिक्य कहते है । जो मनुष्य रागी और द्वेषी है, कभी व्रताचरण नही करता और न कभी उसकी आत्मामे दयाका भाव हो होता है उस नास्तिक धर्मवालेका ससार-भ्रमण बढता ही है ।।२१६-२१७।। सम्यग्दर्शनके तीन भेद भी है—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक । जो सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया लोभ इन सात प्रकृतियोके उपशमसे होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते है । जो इन सात प्रकृतियोके क्षयसे होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते है । और जो इनके क्षयोपशमसे

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् । विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च ॥ २१९

अस्यायमर्थ - भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीतागमानुज्ञासंज्ञा आज्ञा, रत्नत्रयविचारसर्गो मार्ग, पुराणपुरुषचरितश्रवणाभिनिवेश उपदेश:, यतिजनाचरणनिरूपणपात्रं सूत्रम्, सकलसमयदलसूचनाव्याज बीजम्, आप्तश्रुतव्रतपदार्थसमासालापाक्षेप. सक्षेप , द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतार्थसमर्थनप्रस्तारो विस्तार, प्रवचनविषये स्वप्रत्ययसमर्थोऽर्थ , त्रिविधस्यागमस्य निःशेपतोऽन्यतमदेशावगाहालीढमवगाढम्,अवधिमन पर्ययकेवलाधिकपुरुषप्रत्ययप्ररूढ परमावगाढम् ।

गृहस्थो वा यतिर्वापि सम्यक्त्वस्य समाश्रय । एकादशविध पूर्वश्चरमश्च चतुर्विध ॥ २२०

मायानिदानमिथ्यात्वशल्यत्रितयमुद्धरेत् । आर्जवाकाङ्क्षणाभावतत्त्वभावनकीलकैः ॥ २२१

दृष्टिहीन. पुमानेति न यथा पदमीप्सितम् । दृष्टिहीनः पुमानेति न तथा पदमीप्सितम् ॥ २२२

सम्यक्त्वं नाङ्गहीनं स्याद्राज्यंवत्प्राज्यभूतये । ततस्तदङ्गसगत्यामङ्गी निःसंगमीहताम् ॥ २२३

होता है उसे क्षायोपशमिक कहते हैं। ये तीनो सम्यग्दर्शन सब गतियोंमे पाये जाते है ॥२१८॥ (अब सम्यक्त्वके दश भेद वतलाते है–) आज्ञासम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, वीजसम्यक्त्व, सक्षेपसम्यक्त्व, विस्तारसम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, अवगाढसम्यक्त्व और परमावगाढसम्यक्त्व ये सम्यक्त्वके दश भेद हे ॥२१९॥ इनका स्वरूप इस प्रकार है भगवान् सर्वज्ञ अर्हन्तदेवके द्वारा उपदिष्ट आगमकी आज्ञाको ही प्रमाण मानकर जो श्रद्धान किया जाता है उसे आज्ञासम्यक्त्व कहते है। रत्नत्रय रूप मोक्षके मार्गका कथन सुनकर जो श्रद्धान हो उसे मार्गसम्यक्त्व कहते हैं। तीर्थङ्कर वलदेव आदि पुराणपुरुषोके चरितको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे उपदेशसम्यक्त्व कहते हैं। मुनिजनोके आचारका कथन करनेवाले आचाराङ्गसूत्रको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे सूत्रसम्यक्त्व कहते है। जिस पदमें सूचन रूपसे समस्त शास्त्रोके अश छिपे होते, है उसे वीज कहते है। वीज पदको समझकर सूक्ष्म तत्त्वोके ज्ञानपूर्वक जो श्रद्धान होता हैं,उसे वीजसम्यक्त्व कहते हैं। सक्षेपसे आप्त, श्रुत, व्रत और पदार्थोको जानकर उनपर जो श्रद्धान होता है उसे सक्षेपसम्यक्त्व कहते है। वारह अगो,चौदह पूर्वो और अङ्गवाह्योके द्वारा विस्तारसे तत्त्वार्थको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे विस्तारसम्यक्त्व कहते हैं। प्रवचनके वचनोंकी सहायताके विना किसी अन्य प्रकारसे जो अर्थका वोध होकर श्रद्धान होता है उसे अर्थसम्यक्त्व कहते हैं। अङ्ग,पूर्व और प्रकीर्णक आगमोंके किसी एक देशका पूरी तरहसे अवगाहन करनेपर जो श्रद्धान होता है उसे अवगाढसम्यक्त्व कहते हैं। और अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान, तथा केवलज्ञानके द्वारा जीवादि पदार्थो को जानकर जो प्रगाढ श्रद्धान होता है उसे परमावगाढसम्यक्त्व कहते हैं। गृहस्थ हो या मुनि हो, सम्यग्दृष्टि अवश्य होना चाहिए। अर्थात् सम्यक्त्वके विना न कोई श्रावक कहला सकता है और न कोई मुनि कहला सकता है। गृहस्थके ग्यारह प्रतिमारूप ग्यारह भेद है और मुनिके ऋषि, यति, मुनि और अनागर ये चार भेद है ॥२२०॥ सरलता रूपी कीलके द्वारा माया रूपी काँटेको निकालना चाहिए। इच्छाका अभाव रूपी कीलके द्वारा निदानरूपी काँटेको निकालना चाहिए और तत्त्वोकी भावना रूपी कीलके द्वारा मिथ्यात्व रूपी काँटेको निकालना चाहिए ॥२२१॥ जैसे दृष्टि अर्थात् आँखोसे हीन पुरुष अपने इच्छित स्थान तक नही पहुँच सकता। वैसे ही दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शनसे हीन पुरुष मुक्तिलाभ नही सकता ॥२२२॥ जैसे राज्यके अंग मन्त्री सेनापति आदिके विना राज्य समृद्धिशाली नही हो सकता,वैसे ही निःशङ्कित आदि अंगोके विना सम्यग्दर्शन भी उत्कृष्ट आभ्यन्तर और वाह्य विभूतिको नही दे सकता। इस–

विद्याविभूतिरूपाद्याः सम्यक्त्वरहिते कुतः । नहि बीजव्यपायेऽस्ति सस्यसम्पत्तिरङ्गिनि ।। २२४
चक्रिश्री सश्रयोत्कण्ठा नाकश्रीर्दर्शनोत्सुका । तस्य दूरे न मुक्तिश्रीर्निर्दोष यस्य दर्शनम् ।। २२५
मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् । अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ।। २२६
निश्चयोचितचारित्र सुदृष्टिस्तत्त्वकोविदः । अव्रतस्थोऽपि मुक्तिस्थो न व्रतस्थोऽप्यदर्शनः ।। २२७
बहि क्रिया बहिष्कर्मकारण केवलं भवेत् । रत्नत्रयसमृद्धेः स्यादात्मा रत्नत्रयात्मक ।। २२८
विशुद्धवस्तुधीर्दृष्टिर्बोध. साकारगोचरः । अप्रसङ्गस्तयोर्वृत्त भूतार्थनयवादिनाम् ।। २२९
अक्षाज्ज्ञानं रुचिर्मोहाद्देहाद् वृत्त च नास्ति यत् । आत्मन्यस्मिञ्छिवीभूते तस्मादात्मैव तत्त्रयम् ।। २३०
नात्मा कर्म न कर्मात्मा तयोर्यन्महदन्तरम् । तदात्मैव तदा सत्ता वात्मा व्योमेव केवलम् ।। २३१
क्लेशाय कारणं कर्म विशुद्धे स्वयमात्मनि । नोष्णमम्बु स्वतः किन्तु तदौष्ण्य वन्हिसश्रयम् ।। २३२
आत्मा कर्ता स्वपर्याये कर्म कर्तृ स्वपर्यये । मिथो न जातु कर्तृत्वमपरत्रोपचारत. ।। २३३
स्वतः सर्वस्वभावेषु सक्रिय सचराचरम् । निमित्तमात्रमन्यत्तु वार्गतेरिव सारिणिः ।। २३४

लिए प्राणीको चाहिए कि सम्यग्दर्शनके अंगोको प्राप्त करके नि सग-निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो जानेकी कामना करे ।।२२३।। सम्यक्त्वसे रहित प्राणीमे सम्यग्ज्ञान की विभूति आदिक कैसे हो सकते है? बीजके अभावमे धान्य सम्पत्ति नही होती । जिसका सम्यग्दर्शन निर्दोष है, चक्रवर्तीकी विभूति उसका आलिगन करनेके लिए उत्कण्ठित रहती है और देवोकी विभूति उसके दर्शनके लिए उत्सुक रहती है। अधिक क्या, मोक्षलक्ष्मी भी उससे दूर नही है ।।२२४-२२५।। तीन मूढताएँ, आठ मद छह अनायतन और आठ शका आदिक, ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष है ।।२२६।। स्वरूपाचरण चारित्रका धारक और तत्त्वोका ज्ञाता सम्यग्दृष्टि व्रतोका पालन नही हुए भी मुक्तिके मार्गमे स्थित है । किन्तु व्रतोका पालन करते हुए भी जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह मुक्तिके मार्गमे स्थित नही है ।।२२७।। बाह्य क्रिया तो केवल बाह्य कर्मकी ही कारण होती है। किन्तु रत्नत्रय रूपी समृद्धिका कारण तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय आत्मा ही है।।२२८।। निश्चय-नयवादियोके मतमे अर्थात् निश्चयनयकी दृष्टिमे विशुद्ध आत्मस्वरूपमे रुचि होना निश्चय सम्यक्त्व है । विशुद्ध आत्माको साकार रूपसे जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषयोमे भेद-बुद्धि न करके एकरूप होना, अर्थात् आत्मस्वरूपमे लीन होना निश्चय-चारित्र है ।।२२९।। इस आत्माके मुक्त हो जानेपर न तो इन्द्रियोसे ज्ञान होता है, न मोहसे जन्य रुचि होती है और न शारीरिक आचरण होता है । अत ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनो आत्म-स्वरूप ही है ।।२३०।। (अब आत्मा और कर्मका सम्बन्ध कैसा है यह स्पष्ट करते है–) न आत्मा कर्म है और न कर्म आत्मा है, क्योकि दोनोमे बडा भारी अन्तर है। अत मुक्तावस्थामे केवल आत्मा ही रहता है और वह शुद्ध आकाश की तरह है ।।२३१।। आत्मा स्वय विशुद्ध है और कर्म उसके क्लेशका कारण है। जैसे जल स्वय उष्ण नही होता, किन्तु आगके सम्बन्धसे उसमे उष्णता आ जाती है ।।२३२। आत्मा अपनी पर्यायका कर्ता है और कर्म अपनी पर्यायका कर्ता है। उपचारके सिवाय दोनो परस्परमे एक दूसरेके कर्ता नही है। अर्थात् उपचारसे आत्माको कर्मका और कर्मको आत्माका कर्ता कहा जाता है परन्तु वास्तवमे दोनो अपनी-अपनी पर्यायोके ही कर्ता है। समस्त चराचर विश्व स्वय अपने स्वभावका कर्ता है, दूसरे तो उसमे निमित्तमात्र है। जैसे

जीवन्तु वा म्रियन्तां वा प्राणिनोऽमी स्वकर्मत । स्वं विशुद्धं मनो हिंसन् हिंसक पापभाग्भवेत्॥२३५
शुद्धमार्गमतोद्योगः शुद्धचेतोवचोवपु । शुद्धान्तरात्मसपन्नो हिंसकोऽपि न हिंसक. ॥ २३६
पुण्यायापि भवेद् दु:खं पापायापि भवेत्सुखम् । स्वस्मिन्नन्यत्र वा नीतमचिन्त्य चित्तचेष्टितम् ॥२३७
सुखदुःखाविधातापि भवेत्पापसमाश्रय । पेटीमध्यविनिक्षिप्तं वासः स्यान्मलिनं न किम् ॥२३८
बहिष्कार्यासमर्थेऽपि हृदि हृद्येव सस्थिते। परं पापं परं पुण्य परमं च पद भवेत् ॥ २३९
प्रकुर्वाण क्रियास्तास्ताः केवलं क्लेशभाजनः । यो न चित्तप्रचारज्ञस्तस्य मोक्षपदं कुत ॥ २४०
यज्जानाति यथावस्थं वस्तुसर्वस्वमञ्जसा । तृतीयं लोचन नृणां सम्यग्ज्ञान तदुच्यते ॥ २४१
यष्टिवज्जनुषान्धस्य तत्स्यात्सुकृतचेतस । प्रवृत्तिविनिवृत्त्यङ्ग हिताहितविवेचनात् ॥ २४२
मतिर्जागर्ति दृष्टेऽर्थे दृष्टेऽदृष्टे तथागम । अतो न दुर्लभं तत्त्व यदि निर्मत्सर मन ॥ २४३
यद्यर्थे दर्शितेऽपि स्याज्जन्तो सन्तमसा मति । ज्ञानमालोकवत्तस्य वृथा रविरिपोरिव ॥ २४४
ज्ञातुरेव स दोषोऽयं यदबाधेऽपि वस्तुनि । मतिर्विपर्ययं धत्ते यथेन्दौ मन्दचक्षुष. ॥ २४५
ज्ञानमेकं पुनर्द्वेधा पञ्चधा चापि तद्भवेत् । अन्यत्र केवलज्ञानात्तत्प्रत्येकमनेकधा ॥ २४६

जलमे स्वय बहनेकी शक्ति है, किन्तु नाली उसके बहनेमे निमित्तमात्र है ॥२३३-२३४॥ ये प्राणी अपने कर्मके उदयसे जीवे या मरे, किन्तु अपने विशुद्ध मनकी हिंसा करने वाला हिंसक है और इसलिए वह पापका भागी है। जो शुद्ध मार्गमे प्रयत्नशील है, जिसका मन,वचन और शरीर शुद्ध है,तथा जिसकी अन्तरात्मा भी शुद्ध है वह हिंसा करके भी हिंसक नही है ॥२३५-२३६॥ अपनेको या दूसरेको सुख या दु खका नही देने वाला भी मनुष्य पापका आश्रयवाला होता है। अर्थात् यदि उसका मन राग-द्वेषके प्रसारसे युक्त है,तो वह स्व-परको सुख-दु ख नही देने पर भी पापका आश्रय करता है। पेटीके भीतर रखा हुआ वस्त्र क्या मैला नही होता है? होता ही है ॥२३७-२३८॥ वाह्य क्रिया न करते हुए भी यदि चित्त चित्तमे ही लीन रहता है तो उत्कृष्ट पाप, उत्कृष्ट पुण्य और उत्कृष्ट पद मोक्ष प्राप्त हो सकता हैं। जो केवल बाह्य क्रियाओको करनेका ही कष्ट उठाता रहता है और चित्तकी चचलताको नही समझता, उसे मोक्ष पद कैसे प्राप्त हो सकता है? ॥२३९-२४०॥ (अब सम्यग्ज्ञानका स्वरूप बतलाते है–) जो सब वस्तुओको ठीक रीतिसे जैसाका-तैसा जानता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते है। यह सम्यग्ज्ञान मनुष्योका तीसरा नेत्र है।। जैसे जन्मसे अन्धे मनुष्यकोलाठी ऊँची-नीची जगहको बतलाकर उसे चलने और रुकनेमे मदद देती है वैसे ही सम्यग्ज्ञान हित और अहितका विवेचन करके धर्मात्मा पुरुषको हितकारक कार्योमे लगाता है और अहित करनेवाले कामोसे रोकता हैं ॥२४१–२४२॥ मतिज्ञान तो इन्द्रियोके विषयभूत पदार्थोको ही जानता है। किन्तु शास्त्र (श्रुतज्ञान) इन्द्रियोके विषयभूत और अतीन्द्रिय दोनो प्रकारके पदार्थोका ज्ञान करता हैं। अत यदि ज्ञाताका मन ईर्षा,द्वेष आदि दुर्भावोसे रहित है तो उसे तत्त्वका ज्ञान होना दुर्लभ नही है ।.२४३॥ यदि तत्त्वके जान लेनेपर भी मनुष्यकी बुद्धि अन्धकारमे रहती है तो जैसे उल्लूके लिए प्रकाश व्यर्थ होता है वैसे ही उस मनुष्यका ज्ञान भी व्यर्थ है। साफ स्पष्ट वस्तुमे भी बुद्धिका विपरीत होना ज्ञाताके ही दोपको वतलाता है। जैसे चन्द्रमाके विषयमे काच कामलादि रोगमे ग्रस्त नेत्रवाले मनुष्यको विपरीत ज्ञान होता है–एकके दो चन्द्रमा दिखायी देते है। यह ज्ञाताकी ही खरावी है, चन्द्रमाकी नही ॥२४४-२४५॥ सामान्यमे ज्ञान एक है। प्रत्यक्ष परोक्षके भेदमे

अधर्मकर्मनिर्मुक्तिर्धर्मकर्मविनिर्मिति । चारित्रं तच्च सागारानगारयतिसंश्रयम् ।। २४७
देशत. प्रथम तत्स्यात्सर्वतस्तु द्वितीयकम् । चारित्र चारुचारित्रविचारोचितचेतसाम् ।। २४८
देशत सर्वतो वापि नरो न लभते व्रतम् । स्वर्गापवर्गयोर्यस्य नास्त्यन्यतरयोग्यता ।। २४९
तुण्डकण्डूहर शास्त्रं सम्यक्त्वविधुरे नरे ज्ञानहीने तु चारित्रं दुर्भगाभरणोपमम् ।। २५०
सम्यक्त्वात्सुगति प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता । वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्च लभते शिवम्।।२५१
रुचिस्तत्त्वेषु सम्यक्त्वं ज्ञ.न तत्त्वनिरूपणम् । औदासीन्य पर प्राहुर्वृत्त सर्वक्रियोज्झितम् ।। २५२
वृत्तमग्निरुपायो धी सम्यक्त्वं च रसौषधि । साधसिद्धो भवेदेष तल्लाभादात्मपारद ।। २५३
सम्यक्त्वस्याश्रयश्चित्तमभ्यासो मतिसम्पद । चारित्रस्य शरीरं स्याद्वित्तं दानादिकर्मण ।।२५४

इति श्री सोमदेवसूरि-विरचिते उपासकाध्यने अपवर्गमहोदयो नाम षष्ठ आश्वास ।

अथ सप्तम आश्वास

पुनर्गुणमणिकटक वेकटकर्मेव माणिवयस्य,सुधाविधानमिव प्रासादस्य, पुरुषकारानुष्ठानमिव दैवसम्पद , पराक्रमावलम्बनमिव नीतिमार्गस्य, विशेषवेदित्वमिव सेव्यत्वस्य, व्रत हि खलु

वह दो प्रकारका हैं । तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यय और केवलज्ञानके भेदसे पाँच प्रकारका है। केवलज्ञानके सिवाय अन्य चार ज्ञानोमे-से प्रत्येकके अनेक भेद है ।। २४६।। बुरे कामोसे वचना और अच्छे कामोमे लगना चारित्र है । वह चारित्र गृहस्थ और मुनिके भेदसे दो प्रकारका हैं । गृहस्थोका चारित्र देशचारित्र कहा जाता है और मुनियोका चारित्र सकल चारित्र कहा जाता है। जिनके चित्त सद्‌विचारोसे युक्त है वे ही चारित्रका पालन कर सकते है। जिस मनुष्यमे स्वर्ग और मोक्षमे-से किसीको भी प्राप्त कर सकनेकी योग्यता नही है वह न तो देशचारित्र ही पाल सकता है और न सकलचारित्र ही पाल सकता है । जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित हैं उसका शास्त्र-वाचन मुखकी खाज मिटानेका एक साधनमात्र है । और जो मनुष्य ज्ञानसे रहित है उसका चारित्र धारण करना विधवा स्त्री के आभूषण धारण करनेके समान है ।।२४७–२५०।। सम्यग्दर्शनसे अच्छी गति मिलती है । सम्यग्ज्ञानसे ससारमे यश फैलता है । सम्यक्चारित्रसे सम्मान प्राप्त होता है और तीनोसे मोक्षकी प्राप्ति है ।।२५१।। तत्त्वोमे रुचिका होना सम्यग्दर्शन है । तत्त्वोका यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान है और समस्त क्रियाओको छोडकर अत्यन्त उदासीन हो जाना सम्यक्चारित्र है ।। २५२ ।। चारित्र अग्नि है, सम्यग्ज्ञान उपाय है और सम्यग्दर्शन परिपूर्ण औषधियोके तुल्य है । इन सबके मिलनेपर आत्मारूपी पारदधातु अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है ।।२५३।। भावार्थ–पारेको सिद्ध करनेके लिए रसायनशास्त्री उसमे अनेक औषधियोके रसोकी भावना दे-देकर आगपर तपाते है तब पारा सिद्ध हो जाता है वैसे ही आत्मारूपी पारदको सिद्ध करनेके लिए चारित्ररूपी अग्नि, सम्यग्ज्ञानरूपी उपाय और सम्यग्दर्शनरूपी औषधियाँ आवश्यक है । उनके मिलनेपर आत्मा सिद्ध अर्थात् मुक्त हो जाता है । सम्यग्दर्शनका आश्रय चित्त है । सम्यक्ज्ञानका आश्रय अभ्यास है । सम्यक्चारित्रका आश्रय शरीर है और दानादि कार्यका आश्रय धन है ।। २५४ ।।

इस प्रकार श्री सोमदेव सूरि विरचित उपासकाध्ययनमे रत्नत्रयका स्वरूप बतलानेवाला छठा आश्वास समाप्त हुआ ।

सम्यक्त्वरत्नस्योपबृंहकमाहुः । तच्च देशयतीनां द्विविध मूलोत्तरगुणाश्रयणात् । तत्र-
मद्यमांसमधुत्याग' सहोदुम्बरपञ्चकैः । अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा. श्रुते ॥ २५५
सर्वदोषोदयो मद्यान्महामोहकृतेर्मत । सर्वेषां पातकानां च पुर सरतया स्थितम् ॥ २५६
हिताहितविमोहेन देहिनः किं न पातकम् । कुर्यु ससारकान्तारपरिभ्रमणकारणम् ॥ २५७
मद्येन यादवा नष्टा नष्टा द्यूतेन पाण्डवा । इति सर्वत्र लोकेऽस्मिन्सुप्रसिद्धं कथानकम् ॥ २५८
समुत्पद्य विपद्येह देहिनोऽनेकश' किल । मद्यीभवन्ति कालेन मनोमोहाय देहिनाम् ॥ २५९
मद्यैकबिन्दुसंपन्ना प्राणिन प्रचरन्ति चेत् । पूरयेयुर्न संदेह समस्तमपि विष्टपम् ॥ २६०
मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च दुर्गते । मद्यं सद्भि सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत् ॥ २६१
हेतुशुद्धे. श्रुतेर्वाक्यात्पीतमद्यः किलैकपात् । मांसमातङ्गिकासङ्गमकरोन्मूढमानसः ॥ २६२
एकस्मिन्वासरे मद्यनिवृत्तेर्धूर्तिलः किल । एतद्दोषात्सहायेषु मृतेष्वापदनापदम् ॥ २६३
स्वभावाशुचि दुर्गन्धमन्यापायं दुरास्पदम् । सन्तोऽदन्ति कथं मांसं विपाके दुर्गतिप्रदम् । २६४
कर्माकृत्यमपि प्राणी करोतु यदि चात्मनः । हन्यमानविधिर्न स्यादन्यथा वा न जीवनम् ॥ २६५

जैसे शाणसे माणिक, चूनाकी सफेदी से मकान, पौरुष करनेसे दैव, पराक्रमसे नीति और विशेषज्ञतासे सेव्यपना चमक उठता है वैसे ही व्रत भी सम्यक्त्वरूपी रत्नको चमका देता है। गृहस्थोंके व्रत मूल गुण और उत्तर गुणके भेदसे दो प्रकारके होते है। आगममे पाँच उदुम्बर और मद्य, मास तथा मधुका त्याग ये आठ मूल गुण गृहस्थोके वतलाये है ॥२५५॥ मद्य महामोहको करनेवाला है। सब बुराइयोंका मूल है और सब पापो का अगुआ है ॥२५६॥ इसके पीनेसे मनुष्यको हित और अहितका ज्ञान नही रहता। और हित-अहितका ज्ञान न रहनेसे प्राणी ससार-रूपी जगलमे भटकानेवाला कौन-सा पाप नही करते? ॥२५७॥ सब लोकमे यह कथा प्रसिद्ध है कि शराब पीनेके कारण यादव बरबाद हो गये और जुआ खेलनेके कारण पाण्डव बरबाद हो गये ॥२५८॥ जन्तु अनेक बार जन्म-मरण करके कालके द्वारा प्राणियोका मन मोहित करनेके लिए मद्यका रूप धारण करते है ॥२५९॥ मद्यकी एक बूंदमे इतने जीव रहते है कि यदि वे फैलें तो समस्त जगत्मे भर जाये। इसमे कुछ भी सन्देह नही है ॥२६०॥ यत मद्यपानसे मन हित अहितके विचारसे शून्य हो जाता है और वह दुर्गतिका कारण है, अत इस लोक और परलोकमे बुराइयोको पैदा करनेवाले मद्यका सज्जन पुरुषोको सदाके लिए त्याग करना चाहिए ॥२६१॥ "मद्यको उत्पन्न करने वाली वस्तुओके शुद्ध होनेसे तथा वेदमे लिखा होनेसे मूढ एकपातने मद्य पी लिया और फिर उसने मास भी खाया और भिल्लनीको भी भोगा" ॥२६२॥ उक्त कथाके सम्बन्धमे एक श्लोक है, जिसका भाव इस प्रकार है— "जब कि मद्यपानके दोषसे अन्य साथी चोर मर गये तब एक दिनके लिए शराबका त्याग कर देनेसे धूर्तिल चोर बच गया" ॥२६३॥

मांस निषेध—मास स्वभावसे ही अपवित्र है, दुर्गन्धसे भरा है, दूसरोकी जान लेकर तैयार होता है, तथा कसाईके घर-जैसे स्थानसे प्राप्त होता है और विपाककालमें दुर्गतिका दाता है, ऐसे मांसको भले आदमी कैसे खाते है? ॥२६४॥ यदि जिस पशुको मारनेके लिये हम मारते है उसने जन्ममें वह हमें न मारे या मारनेके बिना जीवन ही न रह सके तो प्राणी नहीं करने योग्य पशु-हत्या भले ही करे। किन्तु ऐसी बात नही है। मारनेके बिना भी मनुष्योंका जीवन रहता

धर्माच्छर्मभुजां धर्मे किन्नु विद्वेषकारणम् । प्रार्थितार्थप्रदं द्वेष्टु को नामामरपादपम् ॥ २६६
अल्पात्क्लेशात्सुखं सुष्ठु सुधीश्चेत्स्वस्य वाञ्छति । आत्मन प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥२६७
स सुखं सेवमानोऽपि जन्मान्तरसुखाश्रय । यः परानुपघातेन सुखसेवापरायण ॥ २६८
स पुमान्ननु लोकेऽस्मिन्नुदर्के दुःखवर्जित । यस्तदात्वसुखासङ्गान्न मुह्येद्धर्मकर्मणि ॥ २६९
स भूभार· पर प्राणी जीवन्नपि मृतश्च स । यो न धर्मार्थकामेषु भवेदन्यसमाश्रय· ॥ २७०
स मूर्ख स जड सोऽज्ञ स पशुश्च पशोरपि । योऽश्नन्नपि फलं धर्माद्धर्मे भवति मन्दधीः ॥२७१
स विद्वान्स महाप्राज्ञ स धीमान्स च पण्डित । य स्वतो वान्यतो वापि नाधर्माय समीहते ॥२७२
तत्स्वस्य हितमिच्छन्तो मुञ्चन्तश्चाहित मुहु अन्यमांसै स्वमांसस्य कथ वृद्धिविधायिनः ॥२७३
यत्परत्र करोतीह सुखं वा दु.खमेव वा । वृद्धये धनवद्दत्त स्वस्य तज्जायतेऽधिकम् ॥ २७४
मद्यमांसमधुप्रायं कर्म धर्माय चेन्मतम् । अधर्म कोऽपर किं वा भवेद् दुर्गतिदायकम् ॥ २७५
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम् । तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥२७६
स्वकीयं जीवित यद्वत्सर्वस्य प्राणिन· प्रियम् । तद्वदेतत्परस्यापि ततो हिंसां परित्यजेत् ॥ २७७

है ॥२६५॥ धर्मसे सुख भोगनेवाले मनुष्य न जाने धर्मसे द्वेप क्यो करते है? इच्छित वस्तुको देनेवाले कल्पवृक्षसे कौन द्वेप करता है ॥२६६॥ यदि बुद्धिमान् पुरुष थोडेसे कष्टसे अच्छा सुख प्राप्त करना चाहता है तो जो काम उसे स्वय बुरे लगे उन कामोको दूसरोके प्रति भी उसे नही करनी चाहिए ॥२६७॥ जो दूसरोका घात न करके सुखका सेवन करता है वह इस जन्ममे भी सुख भोगता है और दूसरे जन्ममे भी सुख भोगता है ॥२६८॥ (धर्मरत्नाकरके पाठके अनुसार दूसरा अर्थ, यह भी हो सकता कि) 'जो दूसरोके घातके द्वारा सुख भोगनेमे तत्पर रहता है वह वर्तमानमे सुख भोगते हुए भी दूसरे जन्ममे दु ख भोगता है।' (आगेके श्लोक देखते हुए यही अर्थ विशेष उचित प्रतीत होता है)॥ जो मनुष्य तात्कालिक सुखोपभोगमे आसक्त होकर धर्म-कर्ममें मूढ नही हो जाता अर्थात् धर्म-कर्म करता रहता है,वह इस लोकमे और परलोकमे दु ख नही उठाता ॥२६९। जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काममे से एकका भी पालन नही करता, वह पृथ्वीका भार है और जीते हुए भी मृत है ॥२७०॥ तथा जो धर्मका फल भोगता हुआ भी धर्माचरण करनेमे आलस्य करता है वह मूर्ख है, जड है,अज्ञानी है और पशुसे भी गया बीता है ॥२७१॥ और जो न स्वय अधर्म करता है और न दूसरोसे अधर्म कराता है वह विद्वान् है, बडा समझदार है, बुद्धिमान् है और पण्डित है ॥२७२॥ जो अपना हित चाहते है और अहितसे बचते है वे दूसरोके माससे अपने मासकी वृद्धि कैसे करते है॥२७३॥ जैसे दूसरोको दिया हुआ धन कालान्तरमे व्याज के बढ जानेसे अपनेको अधिक होकर मिलता है वैसे ही मनुष्य दूसरेको जो सुख या दु ख देता है वह सुख या दु ख कालान्तरमे उसे अधिक होकर मिलता है। अर्थात् सुख देनेसे अधिक सुख मिलता है और दु ख देनेसे अधिक दु ख मिलता है॥२७४॥ यदि मद्य, मास और मधुका सेवन करना धर्म है तो फिर अधर्म क्या है और कौन दुर्गतिका कारण है? ॥२७५॥ धर्म वही है जिसमे अधर्म नही है। सुख वही है जिसमे दु ख नही है। ज्ञान वही है जिसमे अज्ञान नही है और गति वही है जहाँसे लौटकर आना नही है॥२७६॥ जिस प्रकार सभी प्राणियोको अपना जीवन प्रिय है उसी तरह दूसरोको भी अपना जीवन प्रिय है। इसलिए हिंसाको छोड देना चाहिए ॥२७७॥

मांसादिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु । आनृशंस्यं न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु ॥ २७८
मक्षिकागर्भसंभूतबालाण्डकनिपीडनात् । जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृति ॥ २७९
उद्भ्रान्तार्भकगर्भेऽस्मिन्नण्डजाण्डकखण्डवत् । कुतो मधु मधुच्छत्रे व्याधलुब्धकजीवितम् ॥ २८०
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधादिफलेष्वपि । प्रत्यक्षा. प्राणिन स्थूला. सूक्ष्माश्चागमगोचरा ॥२८१
मद्यादिस्वादिगेहेषु पानमन्नं च नाचरेत् । तदमत्रादिसंपर्कं न कुर्वीत कदाचन ॥ २८२
कुर्वन्नव्रतिभिः सार्धं ससर्गं भोजनादिषु । प्राप्नोति वाच्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥ २८३
दृतिप्रायेषु पानीयं स्नेह च कुतुपादिषु । व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं योषितश्चाव्रतोचिता ॥ २८४
जीवयोगाविशेषेण मयमेषादिकायवत् मुद्गमाषादिकायोऽपि मांसमित्यपरे जगु ॥ २८५

तदयुक्तम् । तदाह–

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम् । यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्ब ॥२८६
द्विजाण्डजनिहन्तृणां यथा पापं विशिष्यते । जीवयोगाविशेषेऽपि तया फलपलाशिनाम् ॥ २८७
स्त्रीत्वपेयत्वसामान्याद्दारवारिवदीहताम् । एष वादी वदन्नेवं मद्यमातृसमागमे ॥ २८८

जो मास खाते हैं उनमे दया नही होती । जो शराब पीते है वे सच नही बोल सकते। और जो मधु और उदुम्बर फलोका भक्षण करते हैं उनमे कोमलपन नही होता ॥२७८॥ मधुमक्खियोके अण्डोके निचोडनेसे पैदा हुए मधुका, जो रज और वीर्यके मिश्रणके समान कलल-आकृतिवाला है, सज्जन पुरुष कैसे सेवन करते है? ॥२७९॥ मधुका छत्ता व्याकुल शिशुके गर्भकी तरह है और अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले जन्तुओके समुदायवाला है। भील लोधी वगैरह हिंसक मनुष्य उसे खाते है। उसमें माधुर्य कहाँसे आया? ॥२८०॥ पीपल, उदुम्बर जिसे जन्तुफल भी कहते है, पाकर और वट वृक्ष आदिके फलोंमे स्थूल जन्तु रहते है जो प्रत्यक्ष दिखायी देते है। इनके सिवाय सूक्ष्म जन्तु भी उनमे पाये जाते है जो शास्त्रोंके द्वारा जाने जा सकते है ॥२८१॥ मद्य मास वगैरहका सेवन करनेवाले लोगोके घरोमे खान-पान भी नही करना चाहिए। तथा उनके बरतनोको कभी भी काममे नही लाना चाहिए ॥२८२॥ जो मनुष्य मद्य आदिका सेवन करनेवाले पुरुषोके साथ खान-पान करता है उसकी यहाँ निन्दा होती है और परलोकमें भी उसे अच्छे फलकी प्राप्ति नही होती ॥२८३॥ व्रती पुरुषको चमडेकी मशकका पानी, चमडेके कुप्पोमे रखा हुआ घी, तेल और मद्य, मास आदिका सेवन करनेवाली स्त्रियोंको सदाके लिए छोड देना चाहिए ॥२८४॥ कुछ लोगोका कहना है कि मूग, उडद आदिमे और ऊँट, मेढा वगैरहमे कोई अन्तर नही है क्योंकि जैसे ऊँट, मेढा वगैरहके शरीरमे जीव रहता है वैसे ही मूग उडद आदिमे भी जीव रहता है। दोनो ही जीवके शरीर हैं। अत जीवका शरीर होनेसे मूग, उडद वगैरह भी मास ही है ॥ २८५ ॥ किन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नही है। क्योकि मास जीवका शरीर है यह ठीक है। किन्तु जो जीवका शरीर है वह मास होता भी है और नही भी होता। जैसे, नीम वृक्ष होता है किन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नही भी होता। २८६॥ तथा–जैसे ब्राह्मण और पक्षी दोनोमे जीव है फिर भी पक्षीको मारनेकी अपेक्षा ब्राह्मणको मारनेमे अधिक पाप है। वैसे ही फल भी जीवका शरीर है और मास भी जीवका शरीर है, किन्तु फल खानेवालेकी अपेक्षा मास खानेवालेको अधिक पाप होता है ॥२८७॥ तथा जिसका यह कहना है कि फल और मास दोनो ही जीवका शरीर होनेसे बराबर है उसके लिए पत्नी और माता दोनो स्त्री होनेसे समान है और शराब तथा पानी

शुद्धं दुग्ध न गोर्मास वस्तुवैचित्र्यमीदृशम् । विषघ्नं रत्नमाहेयं विष च विपदे यत ।। २८९
हेयं पलं पय पेय समे सत्यपि कारणे । विषद्रोर्गायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ।। २९०
शरीरावयवत्वेऽपि मांसे दोषो न सर्पिषि । जिव्हावन्न हि दोषाय पादे मद्य द्विजातिपु ।। २९१
विधिश्चेत्कवलं शुद्धचै द्विजै सर्व निषेव्यताम् । शुद्धचै चेत्केवल वस्तु भुज्यतां श्वपचालये ।।२९२
तद्द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ विधिशुद्धता । यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत् ।। २९३
तच्छाक्यसांख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम् । मतं विहाय हातव्य मांस श्रेयोऽर्थिभि सदा ।। २९४
यस्तु लौल्येन मांसाशी धर्मधी स द्विपातक । परदारक्रियाकारी मात्रा सत्रं यथा नर. ।। २९५
क्षुद्रमत्स्यः किलैकस्तु स्वयम्भूरमणोदधौ । महामत्स्यस्य कर्णस्थः स्मृतिदोषादधोगत ।। २९६
उपकाराय सर्वस्य पर्जन्य इव धार्मिक । तस्थानास्थानचिन्तेयं वृष्टिवन्न हितोक्तिषु ।। २९७
चण्डोऽवन्तिषु मातङ्ग पिशितस्य निवृत्तित । अत्यल्पकालभाविन्या प्रपेदे यक्षमुख्यताम् ।। २९८

अथ के ते उत्तरगुणा –

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकार गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणा स्युर्द्वादशोत्तरे ।। २९९

दोनो पेय होनेसे समान है । अत जैसे वह पानी और पत्नीका उपभोग करता है वैसे ही शराब और माताका भी उपभोग क्यो नही करता? ।।२८८।। गौका दूध शुद्ध है किन्तु गोमास शुद्ध नही है । वस्तु वैचित्र्य ही इस प्रकार है । देखो,साँपकी मणिसे विष दूर होता है, किन्तु साँपका विष मृत्युका कारण है ।।२८९।। अथवा, मास और दुधका एक कारण होनेपर भी मास छोडने योग्य है और दूध पीने योग्य है । जैसे कारस्कर नामके विषवृक्षका पत्ता आयुवर्धक होता है और उसकी जड मृत्युका कारण होती है ।।२९०।। और भी कहते हैं–मास भी शरीरका हिस्सा है और घी भी शरीरका ही हिस्सा है फिर भी मासमे दोष है,घीमे नही । जैसे ब्राह्मणोमे जीभमे शराबका स्पर्श करनेमे दोष है पैरमे लगानेपर नही ।।२९१।। यदि विधिसे ही वस्तु शुद्ध हो जाती तो ब्राह्मणोके लिए कोई वस्तु असेव्य रहती ही नही । और यदि केवल वस्तुकी शुद्धि ही अपेक्षित है तो चाण्डालके घरपर भी भोजन कर लेना चाहिए ।।२९२।। अत द्रव्य, दाता और पात्र तीनोके शुद्ध होनेपर ही शुद्ध विधि बनती है । क्योकि सैकडो सस्कार करनेपर भी शूद्र ब्राह्मण नही हो सकता ।।२९३।। इसलिए जो अपना कल्याण चाहते है उन्हे बौद्ध, साख्य, चार्वाक, वैदिक और शैवोके मतोकी परवाह न करके मासका त्याग कर देना चाहिए ।।२ ४।। जैसे जो परस्त्रीगामी पुरुप अपनी माताके साथ सम्भोग करता है वह दो पाप करता है, एक तो परस्त्री गमनका पाप करता है और दूसरे माताके साथ सम्भोग करनेका पाप करता है । वैसे ही जो मनुष्य धर्मबुद्धिसे लालसापूर्वक मास भक्षण करता है वह भी डबल पाप करता है । एक तो वह मास खाता ह दूसरे धर्मका ढोग रचकर उसे खाता है ।।२९५।। "स्वयभूरमण समुद्रमे महामत्स्यके कानमे रहनेवाला तन्दुलमत्स्य बुरे सकल्पसे नरकमे गया ।।२९६।।

'जैसे मेघ सबके उपकारके लिए है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी सबके उपकारके लिए है । और जैसे स्थान और अस्थानका विचार किये बिना मेघ सर्वत्र बरसता है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी हितकी बात कहनेमे स्थान और अस्थानका विचार नही करते ।।२९७।।' "अवन्ति देशमे चण्ड नामका चाण्डाल बहुत थोडी देरके लिए मासका त्याग कर देनेसे मरकर यक्षोका प्रधान हुआ ।।२९८।।" (अब श्रावकोके उत्तरगुण बतलाते है–) पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार

हिंसास्तेयानृताब्रह्मपरिग्रहविनिग्रहा. । एतानि देशतः पञ्चाणुव्रतानि प्रचक्षते ॥ ३००
संकल्पपूर्वक. सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते । प्रवृत्तिविनिवृत्ती वा सदसत्कर्मसंभवे ॥ ३०१
हिंसायामनृते चौर्यमब्रह्मणि परिग्रहे । दृष्टा विपत्तिरत्रैव परत्रैव च दुर्गतिः ॥ ३०२
यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम् । सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु सतां मता ॥ ३०३
विकथाक्षकषायाणां निद्रायाः प्रणयस्य च । अभ्यासाभिरतो जन्तुः प्रमत्तः परिकीर्तितः ॥ ३०४
देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधभयाय वा । न हिंस्यात्प्राणिनः सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥ ३०५
गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत् । द्रवद्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत् ॥ ३०६
आसनं शयनं मार्गमन्नमन्यच्च वस्तु यत् । अदृष्टं तन्न सेवेत यथाकालं भजन्नपि ॥ ३०७
दर्शनस्पर्शसंकल्पसंसर्गत्यक्तभोजिताः । हिंसनाक्रन्दनप्रायाः प्राशप्रत्यूहकारकाः ॥ ३०८
अतिप्रसङ्गहानाय तपसः परिवृद्धये । अन्तराया. स्मृताः सद्भिर्व्रतबीजवृतिक्रिया ॥ ३०९
अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये । निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥ ३१०
आश्रितेषु च सर्वेषु यथावद्विहितस्थितिः । गृहाश्रमी समीहेत शारीरेऽवसरे स्वयम् ॥ ३११

शिक्षाव्रत ये वारह उत्तरगुण हैं ॥२९९॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका एक देश त्याग करनेको पाँच अणुव्रत कहते हैं ॥३००॥ सेवनीय वस्तुका सकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा अच्छे कार्योमे प्रवृत्ति और वुरे कार्योसे निवृत्तिको व्रत कहते हैं ॥३०१॥ हिंसा करने,झूठ वोलने,चोरी करने,कुशील सेवन करने और परिग्रहका संचय करनेसे इसी लोकमे विपत्तियाँ आती देखी जाती है और परलोकमे भी दुर्गति होती है ॥३०२॥

अहिंसा- (अव अहिंसा धर्मका वर्णन करते है—) प्रमादके योगमे प्राणियोके प्राणोका घात करना हिंसा और उनकी रक्षा करना अहिंसा हैं ॥३०३॥ जो जीव ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रियाँ, निद्रा और मोहके वशीभूत हैं उसे प्रमादी कहते हैं ॥३०४॥ देवताके लिए, अतिथिके लिए,पितरोके लिए, मंत्रकी सिद्धिके लिए, औषधिके लिए, अथवा भयसे सव प्राणियोकी हिंसा नही करनी चाहिए। इसे अहिंसाव्रत कहते है ॥३०५॥ घरके सव काम देख-भाल कर करना चाहिए। और पतली वस्तुओको कपडेसे छानकर ही काममे लाना चाहिए। आसन, शय्या, मार्ग, अन्न और भी जो वस्तु हो, समयपर उसका उपयोग करते समय विना देखे उपयोग नहीं करना चाहिए ॥ ३०६-३०७॥

भोजनके अन्तराय—ताजा चमडा, हड्डी, मास, लोहू और शेत्र वगैरहका देखना, रजस्वला स्त्री,सूखा चमडा,कुत्ता वगैरहसे छू जाना, भोजनके पदार्थोमे 'यह मांसकी तरह है' इस प्रकारका वुरा संकल्प हो जाना, भोजनमे मक्खी वगैरहका गिर पडना, त्याग की हुई वस्तुको खा लेना, मारने, काटने, रोने, चिल्लाने आदिकी आवाज सुनना,ये सव भोजनमे विघ्न पैदा करनेवाले है। अर्थात् उक्त अवस्थाओंमे भोजन छोड देना चाहिए ॥३०८॥ ये अन्तराय व्रतरूपी वीजकी रक्षाके लिए वाडके समान है। इनके पालनेसे अतिप्रसङ्ग दोषकी निवृत्ति होती है और तपकी वृद्धि होती है ॥३०९॥

रात्रि-भोजन त्याग-अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए और मूलव्रतोको विशुद्ध रखनेके लिए इस लोक और परलोकमे दुःख देनेवाले रात्रि-भोजनका त्याग कर देना चाहिए ॥३१०॥ गृहस्थको चाहिए कि जो अपने आश्रित हो पहले उनको भोजन कराये पीछे स्वयं भोजन करे ॥३११॥

सधानं पानकं धान्य पुष्पं मूलं फलं दलम् । जीवयोनि न सग्राह्यं यच्च जीवैरुपद्रुतम् ॥३१२
अमिश्र मिश्रमुत्सर्गि कालदेशदशाश्रयम् । वस्तु किञ्चित्परित्याज्यमपीहास्ति जिनागमे ॥३१३
यदन्त शुषिरप्रायं हेय नालीनलादि तत् । अनन्तकायिकप्रायं बल्लीकन्दादिक त्यजेत् ॥३१४
द्विदल द्विदल प्राश्यं प्रायेणानवतां गतम् । शिम्बय. सकलास्त्याज्याः साधिताः सकलाश्च या ॥३१५
तत्राहिंसा कुतो यत्र बह्वारम्भपरिग्रह । वञ्चके च कुशीले च नरे नास्ति दयालुता ॥३१६
शोकसन्तापसक्रन्दपरिदेवनदु खधी । भवन्स्वपरयोर्जन्तुरसद्वेद्याय जायते ॥३१७
कषायोदयतीव्रात्मा भावो यस्योपजायते । जीवो जायत चारित्रमोहस्यासौ समाश्रय ॥ ३१८
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि यथाक्रमम् । सत्त्वे गुणाधिके क्लिष्टे निर्गुणेऽपि च भावयेत् ॥३१९
कायेन मनसा वाचाऽपरे सर्वत्र देहिनि । अदु खजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदां मता ॥३२०
तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भर । जायमानो मनोराग प्रमोदो विदुषां मत ॥३२१
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धि कारुण्य करुणात्मनाम् । हर्षामर्षोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं निर्गुणात्मनि ॥३२२
इत्थं प्रयतमानस्य गृहस्थस्यापि देहिनः । करस्थो जायते स्वर्गो नास्य दूरे च तत्पदम् ॥३२३

अचार, पानक धान्य, फूल, मूल, फल और पत्तोको जीवोकी योनि होनेसे ग्रहण नही करना चाहिए। तथा जिसमे जीवोका वास हो ऐसी वस्तु भी काममे नही लेनी चाहिए ॥३१२॥ जिनागममे कोई वस्तु अकेली त्याज्य बतलायी है,कोई वस्तु किसीके साथ मिल जानेसे त्याज्य हो जाती है। कोई सर्वदा त्याज्य होती है और कोई अमुक काल, अमुक देश और अमुक दशामे त्याज्य होती हैं ॥३१३॥ जिसके बीचमे छिद्र रहते है ऐसे कमलडण्डी वगैरह शाकोको नही खाना चाहिए। और जो अनन्तकाय है, जैसे लता, सूरण आदि उन्हे भी नही खाना चाहिए ॥३१४॥ पुराने मूग, उडद, चना आदिको दलनेके बाद ही खाना चाहिए,बिना दले सारा मूग, सारा उडद वगैरह नही खाना चाहिए। और जितनी साबित फलियाँ है चाहे वे कच्ची हो या आगपर पकायी गयी हो, उन्हे नही खाना चाहिए। उन्हे खोलकर शोधनेके बाद ही खाना चाहिए ॥३१५॥ जहाँ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह है वहाँ अहिसा कैसे रह सकती है? तथा ठग और दुराचारी मनुष्यमे दया नही होती ॥३१६॥ जो मनुष्य स्वय शोक करता है तथा दूसरोके शोकका कारण बनता है, स्वय सन्ताप करता है तथा दूसरोके सतापका कारण बनता है, स्वय रोता है तथा दूसरोको रुलाता या कलपाता है, स्वय दु खी होता है और दूसरोको दु खी करता है, वह असातावेदनीय कर्मका बन्ध करता है ॥३१७॥ जिसके कषायके उदयसे अति सक्लिष्ट परिणाम होते है वह जीव चारित्रमोहनीय कर्मका बन्ध करता है॥ ३१८ ॥

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाका स्वरूप-सब जीवोसे मैत्री भाव रखना चाहिए। जो गुणोमे अधिक हो उनमे प्रमोद भाव रखना चाहिए। दु खी जीवोके प्रति करुणा भाव रखना चाहिए। और जो निर्गुण हो, असभ्य और उद्धत हो उनके प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए ॥३१९॥ 'अन्य सब जीवोको दु ख न हो' मन, वचन और कायसे इस प्रकारका बर्ताव करनेको मैत्री कहते है ॥३२०॥ तप आदि गुणोंसे विशिष्ट पुरुषको देखकर जो विनयपूर्ण हार्दिक प्रेम उमडता है उसे प्रमोद कहते है ॥३२१॥ दयालु पुरुषोकी गरीबोका उद्धार करनेकी भावनाको कारुण्य कहते है। और उद्धत तथा असभ्य पुरुषोके प्रति राग और द्वेषके न होनेको माध्यस्थ्य कहते हैं ॥३२२॥ जो प्राणी गृहस्थ होकर भी इस प्रकारका प्रयत्न करता है, स्वर्ग तो

पुण्यं तेजोमयं प्राहुः प्राहुः पापं तमोमयम् । तत्पापं पुंसि किं तिष्ठेद्दयादीधितिमालिनि ॥ ३२४
सा क्रिया कापि नास्तीह यस्यां हिंसा न विद्यते । विशिष्येते परं भावावत्र मुख्यानुषङ्गिकौ ॥ ३२५
अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् । अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥ ३२६
कस्यचित्सन्निविष्टस्य दारान्मातरमन्तरा । वपुस्पर्शाविशेषेऽपि शेमुषी तु विशिष्यते ॥ ३२७
तदुक्तम्–

"परिणाममेव कारणमाहु. खलु पुण्यपापयो. कुशला ।
तस्मात्पुण्योपचय पापापचयश्च सुविधेयः" ॥ ३२८

वपुषो वचसो वापि शुभाशुभसमाश्रया । क्रिया चित्तादचिन्त्येयं तदत्र प्रयतो भवेत् ॥ ३२९
क्रियान्यत्र क्रमेण स्यात्कियत्स्वेव च वस्तुषु । जगत्त्रयादपि स्फारा चित्ते तु क्षणत क्रिया ॥३३०
तथा च लोकोक्तिः–
"एकस्मिन्मनसः कोणे पुंसामुत्साहशालिनाम् । अनायासेन समान्ति भुवनानि चतुर्दश" ॥ ३३१
भूपयःपवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनम् । यावत्प्रयोजनं स्वस्य तावत्कुर्यादजन्तु यत् ॥ ३३२

उसके हाथमे हैं और मोक्ष भी दूर नही है ॥३२३॥ पुण्यको प्रकाशमय कहते है और पापको अन्धकारमय कहते है। दयारूपी सूर्यके होते हुए क्या पुरुषमे पाप ठहर सकता है? ॥३२४॥ ऐसी कोई क्रिया नही है जिसमें हिंसा नही होती। किन्तु हिंसा और अहिंसाके लिए गौण और मुख्य भावोंकी विशेषता है ॥३२५॥ सकल्पमे भेद होनेसे धीवर नही मारते हुए भी पापी है और किसान मारते हुए भी पापी नही है ॥३२६॥ एक आदमी पत्नीके समीप बैठा है और एक आदमी माता-के समीप बैठा है। दोनो ही नारीके अगका स्पर्श करते है किन्तु दोनोकी भावनाओमे बडा अन्तर हैं ॥३२७॥ कहा भी है– 'कुशल मनुष्य परिणामोको ही पुण्य और पापका कारण बतलाते हैं। अतः पुण्यका सचय करना चाहिए और पापकी हानि करनी चाहिए' ॥३२८॥ मनके निमित्त-से ही शरीर और वचनकी क्रिया भी शुभ और अशुभ होती है। मनकी शक्ति अचिन्त्य हैं। इसलिए मनको ही शुद्ध करनेका प्रयत्न करो ॥३२ ॥ शरीर और वचनकी क्रिया तो क्रम-से होती है और कुछ ही वस्तुओंको अपना विषय बनाती है। किन्तु मनमे तो तीनो लोकोसे भी बडी क्रिया क्षण-भरमें हो जाती है। अर्थात् मन एक क्षणमे तीनो लोकोके बारेमें सोच सकता है ॥३३०॥ इसी विषयमे एक कहावत भी है–'उत्साही मनुष्योके मनके एक कोनेमे बिना किसी प्रयासके चौदह भुवन समा जाते हैं ॥३३१॥ भावार्थ–पहले बतला आये है कि जो काम अच्छे भावोसे किया जाता है उसे अच्छा कहते हैं और जो काम बुरे भावोसे किया जाता है उसे बुरा कहते है। अत वचनकी और कायकी क्रिया तभी अच्छी कही जायेगी जब उसके कर्ताके भाव अच्छे हो। अच्छे इरादेसे बच्चोको पीटना भी अच्छा है और बुरे इरादेसे उन्हे मिठाई खिलाना भी अच्छा नही है। अत मनकी खराबी वचनकी और कायकी क्रिया खराब कही जाती है और मनकी अच्छाई से अच्छी कही जाती है। इसलिए मनकी शक्तिको अचिन्त्य बतलाया है। मन एक ही क्षणमे दुनिया-भर की बाते सोच जाता है किन्तु जो कुछ वह सोच जाता है उसे एक क्षणमे न कहा जा सकता है और न किया जा सकता है। अत. मनका सुधार करना चाहिए। पृथ्वी, जल, हवा, आग और तृण आदिकी हिंसा उतनी ही करनी चाहिए जितनेमे अपना प्रयोजन

ग्रामस्वामिस्वकार्येषु यथालोक प्रवर्तताम् । गुणदोषविभागेऽत्र लोक एव यतो गुरु ॥ ३३३
दर्पेण वा प्रमादाद्वा द्वीन्द्रियादिविराधने । प्रायश्चित्तविधिं कुर्याद्यथादोषं यथागमम् ॥ ३३४
प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्त मनो भवेत् । एतच्छुद्धिकर कर्म प्रायश्चित्त प्रचक्षते ॥ ३३५
द्वादशाङ्गधरोऽप्येको न कृच्छ दातुमर्हति । तस्माद्बहुश्रुताः प्राज्ञाः प्रायश्चित्तप्रदाः स्मृताः ॥३३६
मनसा कर्मणा वाचा यद्दुष्कृतमुपार्जितम् । मनसा कर्मणा वाचा तत् तथैव विहापयेत् ॥ ३३७
आत्मदेशपरिस्पन्दो योगो योगविदां मत । मनोवाक्कायतस्त्रेधा पुण्यपापास्रवाश्रय. ॥ ३३८
हिंसनाब्रह्मचौर्यादि काये कर्माशुभं विदु । असत्यासभ्यपारुष्यप्रायं वचनगोचरम् ॥ ३३९
मदेर्ष्यासूयनादि स्यान्मनोव्यापारसश्रयम् । एतद्विपर्ययाज्ज्ञेय शुभमेतेषु तत्पुन ॥ ३४०
हिरण्यपशुभूमीनां कन्याशय्यान्नवाससाम् । दानैर्बहुविधैश्चान्यैर्न पापमुपशाम्यति ॥ ३४१
लङ्घनोपधसाध्यानांव्याधीनांबाह्यकोविधि ।यथाकिञ्चित्करो लोके तथा पापोऽपिमन्यताम॥३४२
निहत्य निखिलं पापं मनोवाग्देहदण्डनैं । करोतु सकलं कर्म दानपूजादिक तत ॥ ३४३

हो ॥३३२॥ नागरिक कार्योंमे, स्वामीके कार्योंमे और अपने कार्योंमे लोकरीतिके अनुसार ही प्रवृत्ति करनी चाहिए क्योकि इन कार्योंकी भलाई और बुराईमे लोक ही गुरु है। अर्थात् लौकिक कार्योंको लोकरीतिके अनुसार ही करना चाहिए ॥३३३॥

प्रायश्चित्तका विधान–मदसे अथवा प्रमादसे द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवोका घात हो जाने पर दोषके अनुसार आगममे बतलायी गयी विधिपूर्वक प्रायश्चित करना चाहिए ॥३३४॥'प्राय.' शब्दका अर्थ (साधु) लोक है । उसके मनको चित्त कहते है । अत साधु लोगोके मनको शुद्ध करनेवाले कामको प्रायश्चित्त कहते है ॥३३५॥ द्वादशागका पाठी होनेपर भी एक व्यक्ति प्रायश्चित्त देनेका अधिकारी नही है । अत जो बहुश्रुत अनेक विद्वान् होते है वे ही प्रायश्चित देते है ॥३३६॥ मनके द्वारा, वचनके द्वारा अथवा कायके द्वारा जो पाप किया है उसे मनके द्वारा, वचन के द्वारा अथवा कायके द्वारा ही छुडवाना चाहिए ॥३३७॥ योगके ज्ञाता पुरुष आत्माके प्रदेशोके हलन-चलनको योग कहते है। वह योग मन, वचन और कायके भेदसे तीन प्रकारका होता है और उसीके निमित्तसे पुण्यकर्म और पापकर्मका आस्रव होता है ॥३३८॥ हिसा करना, कुशील सेवन करना, चोरी करना आदि कायसम्बन्धी अशुभ कर्म जानना चाहिए। झूठ बोलना, असभ्य वचन बोलना और कठोर वचन बोलना आदि वचनसम्बन्धी अशुभ कर्म जानना चाहिए । ३३९॥ घमण्ड करना,ईर्ष्या करना, दूसरोकी निन्दा करना आदि मनोव्यापार सम्बन्धी अशुभ कर्म है। तथा इससे विपरीत करनेसे काय,वचन और मन सम्बन्धी शुभ कर्म जानना चाहिए । अर्थात् हिसा न करना,चोरी न करना, ब्रह्मचर्य पालन करना आदि कायिक शुभ कर्म है । सत्य और हित मित वचन बोलना आदि वचन सम्बन्धी शुभ कर्म है । अर्हन्त आदि की भक्ति करना, तपमे रुचि होना,ज्ञान और ज्ञानियोकी विनय करना आदि मानसिक शुभ कर्म है ॥३४०॥ सोना, पशु, जमीन, कन्या, शय्या, अन्न, वस्त्र तथा अन्य अनेक वस्तुओके दान देनेसे पाप शान्त नही होता।.३४१॥ जो रोग उपवास करने और औषधीका सेवन करनेसे दूर होते है जैसे उनके लिए केवल बाह्य उपचार व्यर्थ होता है वैसे ही पापके विषयमे भी समझना चाहिए । अर्थात् मन वचन और कायको वशमे किये बिना केवल बाह्य वस्तुका त्याग कर देने मात्रसे पाप रूपी रोग शान्त नही होता ॥३४२॥ इसलिए पहले मन,वचन और कायको वशमे करके समस्त पापके कारणोको

आप्रवृत्तेर्निवृत्तिर्मे सर्वस्येति कृतक्रियः। संस्मृत्य गुरुनामानि कुर्यान्निद्रादिकं विधिम् ॥ ३४४
दैवादायुर्विरामे स्यात्प्रत्याख्यानफलं महत्। भोगशून्यमतः कालं नावहेदव्रतं व्रती ॥ ३४५
एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः। परं फलं तु पूर्वत्र कृषेश्चिन्तामणेरिव ॥ ३४६
आयुष्मान्सुभगः श्रीमान्सुरूपः कीर्तिमान्नरः। अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥ ३४७
पञ्चकृत्वः किलैकस्य मत्स्यस्याहिंसनात्पुरा। अभूत्पञ्चापदोऽतीत्य धनकीर्तिः पतिः श्रियः ॥३४८
अदत्तस्य परस्वस्य ग्रहणं स्तेयमुच्यते। सर्वभोग्यात्तदन्यत्र भावात्तोयतृणादितः ॥ ३४९
ज्ञातीनामत्यये वित्तमदत्तमपि संमतम्। जीवतां तु निदेशेन व्रतक्षतिरतोऽन्यथा ॥ ३५०
संक्लेशाभिनिवेशेन प्रवृत्तिर्यत्र जायते। तत्सर्वं ॰॰यि विज्ञेयं स्तेयं स्वान्यजनाश्रय ॥ ३५१
रिक्थं निधिनिधानोत्थं न राज्ञोऽन्यस्य युज्यते। यत्स्वस्यास्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ॥३५२
आत्मार्जितमपि द्रव्यं द्वापरान्यथा भवेत्। निजान्वयादतोऽन्यस्य व्रती स्वं परिवर्जयेत् ॥ ३५३
मन्दिरे पदिरे नीरे कान्तारे धरणीधरे। तन्नान्यदीयमादेयं स्वापतेयं व्रताश्रयैः ॥ ३५४
पौतवन्यूनताधिक्ये स्तेनकर्म ततो ग्रहः। विग्रहे संग्रहोऽर्थस्यास्तेयस्यैते निवर्तकाः ॥ ३५५

दूर करो। फिर दान-पूजा आदि सब काम करो ॥३४३॥ रात्रिको जब सोओ तो सन्ध्याकालका कृतिकर्म करके यह प्रतिज्ञा करो कि जबतक मैं गार्हस्थिक कार्योमे फिरसे न लगू तब तकके लिए मेरे सबका त्याग है। और फिर पञ्च नमस्कार मन्त्रका स्मरण करके निद्रा आदि लेवे ॥३४४॥ क्योंकि दैववश यदि आयु समाप्त हो जाये तो त्यागसे बडा लाभ होता है। इसलिए व्रतीको चाहिए कि जिस कालमे वह भोग न करता हो उस कालको विना व्रत के न जाने दे। अर्थात् उतने समयके लिए भोगका व्रत ले ले ॥३४५॥ अकेली जीवदया एक ओर है और बाकीकी सब क्रियाएँ दूसरी ओर है। अर्थात् अन्य सब क्रियाओसे जीवदया श्रेष्ठ हैं। अन्य सब क्रियाओका फल खेती की तरह है और जीवदयाका फल चिन्तामणि रत्नकी तरह है-जो चाहो सो मिलता है। अकेले एक अहिंसा व्रतके प्रतापसे ही मनुष्य चिरजीवी, सौभाग्यशाली, ऐश्वर्यवान्, सुन्दर और यशस्वी होता हैं ॥३४६-३४७॥ पूर्व जन्ममें पाँच वार एक मछलीको न मारनेसे धनकीर्ति पाँच वार आपत्तिसे बचकर लक्ष्मीका स्वामी बना ॥ ३४८ ॥

अचौर्याणुव्रत-पानी, घास आदि जो वस्तु सबके भोगनेके लिए है उनके सिवाय शेष सब विना दी हुई परवस्तुओके ले लेना चोरी है ॥३४९॥ यदि कोई ऐसे कुटुम्बी मर जाये जिनका उत्तराधिकार हमे प्राप्त है तो उनका धन विना दिये हुए भी लिया जा सकता हैं। किन्तु यदि वह जीवित हो तो उनकी आज्ञासे ही उनका धन लिया जा सकता है। उनकी जीवित अवस्थामें ही उनसे पूछे विना उनका धन ले लेनेसे अचौर्याणुव्रतकी क्षति होती है ॥३५०॥ अपना धन हो या दूसरोका हो, जिसमे चोरीके भावसे प्रवृत्ति की जाती है तो वह सब चोरी ही समझना चाहिए ॥३५१॥ रिक्थ (जिसका स्वामी मर गया है, ऐसा धन) निधि और निधानमे प्राप्त हुआ धन राजाका होना है किसी दूसरेका नही। क्योकि जिस धनका कोई स्वामी नही है उनका स्वामी राजा होता है ॥३५२॥ अपने द्वारा उपार्जित द्रव्यमे भी यदि संशय हो जाये कि यह मेरा है या दूसरेका, तो वह द्रव्य ग्रहण करनेके अयोग्य है अतः व्रतीको अपने कुटुम्बके सिवाय दूसरोका धन नहीं लेना चाहिए ॥३५३॥ किसी मकानमें, मार्गमें, पानीमे, जगलमे या पहाडमे रखा हुआ दूसरोका धन अचौर्याणुव्रतीको नही लेना चाहिए ॥३५४॥ बाँट तराजूका कमती-बढती रखना

रत्नरत्नाङ्गरत्नस्त्रीरत्नाम्बरविभूतय । भवन्त्यचिन्तितास्तेषामस्तेय येषु निर्मलम् ।। ३५६
परप्रमोषतोषेण तृष्णाकृष्णधियां नृणाम् । अत्रैव दोषसंभूतिः परत्रैव च दुर्गतिः ।। ३५७
श्रीभूति स्तेयदोषेण पत्यु प्राप्य पराभवम् । रोहिदश्वप्रवेशेन दंशेर सन्नधोगत ।। ३५८
अत्युक्तिमन्यदोषोक्तिमसभ्योक्ति च वर्जयेत् । भाषेत वचन नित्यमभिजातं हितं मितम् ।। ३५९
तत्सत्यमपि नो वाच्य यत्स्यात्परविपत्तये । जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्चतुरास्पदाः ।। ३६०
प्रियशील. प्रियाचार प्रियकारी प्रियंवद । स्याद्दानृशंसधीर्नित्य नित्यं परहिते रतः ।। ३६१
केवलिश्रुतसङ्घेषु देवधर्मतप सु च । अवर्णवादवाञ्जन्तुर्भवेद्दर्शनमोहवान् ।। ३६२
मोक्षमार्ग स्वयं जानन्नर्थिने यो न भाषते । महापह्नवमात्सर्यै स स्यादावरणद्वयी ।। ३६३
मन्त्रभेदः परीवादः पैशून्यं कूटलेखनम् । मृषासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्य ते विघातका ।। ३६४
परस्त्रीराजविद्विष्टलोकविद्विष्टमश्रयाम् । अनाथव समारम्भां न कथां कथयेद्बुध. ।। ३६५
असत्यं सत्यग किंचित्किंचित्सत्यमसत्यगम् । सत्यसत्यं पुन किंचिदसत्यासत्यमेव च ।। ३६६

चोरीका उपाय बतलाना, चोरीका माल खरीदना, देशमे युद्ध छिड जानेपर पदार्थोका सग्रह कर रखना ये सव अचौर्याणुव्रतके दोप हैं ।।३५५।। जो निर्दोष अचौर्याणुव्रतको पालते है उनको रत्न, सोना, उत्तम स्त्री, उत्तम वस्त्र आदि विभूतियाँ स्वय प्राप्त होती है, उसके लिए उन्हे चिन्ता नही करनी पडती ।।३५६।। जो मनुष्य दूसरोकी वस्तुओंको चुराकर प्रसन्न होते है, तृष्णासे कलुषित बुद्धिवाले उन मनुष्योमे इसी जन्ममे अनेक बुराइयाँ पैदा हो जाती है और दूसरे जन्ममे भी उनकी दुर्गति होती है ।।३५७।। 'चोरीके दोषके कारण श्रीभूति राजाके द्वारा तिरस्कृत हुआ । और आगमे जलकर मर गया । फिर सर्पयोनिमे जन्म लेकर नरकगामी हुआ ।।३५८।। (अब सत्य व्रतका वर्णन करते है—) किसी बातको बढाकर नही कहना चाहिए, न दूसरेके दोषोकी ही कहना चाहिए और न असभ्य वचन ही बोलना चाहिए । किन्तु सदा हित-मितऔर सभ्य वचन ही बोलना चाहिए ।।३५९।। किन्तु ऐसा सत्य भी नही बोलना,चाहिए, जिससे दूसरोपर विपत्ति आती हो या अपने ऊपर दुर्निवार सकट आता हो ।।३६०।। मनुष्यको सदा प्रिय स्वभाववाला, प्रिय आचरणवाला, प्रिय करनेवाला, प्रिय बोलनेवाला, सदा दयालु और सदा दूसरोके हितमे तत्पर होना चाहिए ।।३६१।। जो जीव केवली, शास्त्र, सघ, देव, धर्म और तपमे मिथ्या दोष लगाता है, वह दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध करता है ।।३६२।। जो मोक्षके मार्गको जानता हुआ भी,जो उसे जानने को इच्छुक हैं उसे भी नही बतलाता, वह अपने ज्ञानका घमण्ड करनेसे, ज्ञानको छिपानेसे तथा उसके सिवाय दूसरा कोई न जानने पावे, इस ईर्ष्या भावसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका बन्ध करता है ।।३६३।। सकेत आदि से दूसरेके मनकी बातको जानकर उसे दूसरोपर प्रकट कर देना, दूसरेकी बदनामी फैलाना, चुगली खाना, जो बात दूसरेने नही कही या नही की, दूसरोका दबाव पडनेसे ऐसा उसने कहा या किया है इस प्रकारका झूठा लेख लिखना, और झूठी गवाही देना, ये सब काम सत्यव्रतके घातक है ।।३६४।। समझदार मनुष्यको परायी स्त्रियोकी कथा, राजविरुद्ध कथा, लोकविरुद्ध कथा और कपोलकल्पित व्यर्थ कथा नही कहनी चाहिए ।।३६५।। वचन चार प्रकारका होता है । कोई वचन सत्यग असत्य होता है, कोई वचन असत्यग-सत्य होता है । कोई वचन सत्यग-सत्य होता है और कोई वचन असत्यग—

अस्येदमैदंपर्यम्—असत्यमपि किञ्चित्सत्यमेव, यथान्धांसि रन्धयति वयति वासांसीति। सत्यमप्यसत्यं किञ्चिद्यथार्धमासतमे दिवसे तवेदं देयमित्यास्थाय मासतमे संवत्सरमे वा दिवसे ददातीति । सत्यसत्य किंचिद्यद्वस्तु यद्देशकालाकारप्रमाणं प्रतिपन्नं तत्र तथैवाविसंवाद । असत्या त्सत्यं किंचित्स्वस्यासत्संगिरते कल्ये दास्यामीति ।

तुरीयं वर्जयेन्नित्यं लोकयात्रा त्रये स्थिता । सा मिथ्यापि न गीर्मिथ्या या गुर्वादिप्रसादिनी ॥३६७
न स्तूयादात्मनात्मानं न परं परिवादयेत् । न सतोऽन्यगुणान् हिंस्यान्नासत स्वस्य वर्णयेत्॥३६८
तथा कुर्वन्प्रजायेत नीचैर्गोत्रोचित पुमान् । उच्चैर्गोत्रमवाप्नोति विपरीतकृते कृती । ३६९
यत्परस्य प्रिय कुर्यादात्मनस्तत्प्रियं हि तत् । अत किमिति लोकोऽयं पर प्रियपरायण ॥ ३७०
यथा यथा परेष्वेतच्चेतो वितनुते तम । तथा तथात्मनाडीषु तमोधारा निषिञ्चति ॥ ३७१
दोषतोयैर्गुणग्रीष्मैः सगन्तृणि शरीरिणाम् । भवन्ति चित्तवासांसि गुरूणि च लघूनि च ॥ ३७२
सत्यवाक्सत्यसामर्थ्याद्वच सिद्धि समश्नुते । वाणी चास्य भवेन्मान्या यत्र यत्रोपजायते ॥ ३७३

असत्य होता है ॥३६६॥ इसका यह अभिप्राय है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है,जैसे—'भात पकाता है, या कपडा बुनता है'। ये वचन यद्यपि असत्य है क्योकि न भात पकाया जाता है और कपडा बुना जाता है किन्तु पके हुए को भात कहते है, और बुन जानेपर कपडा कहलाता है, फिर भी लोकव्यवहारमे ऐसा ही कहा जाता है इसलिए इस तरहके वचनोको सत्य मानते हैं। इसी तरह कोई वचन सत्य होते हुए भी असत्य होता है। जैसे-किसीने वादा किया कि पन्द्रह दिनमें मैं तुम्हे अमुक वस्तु दे दूगा। किन्तु पन्द्रवे दिन न देकर वह एक मासमे या एक वर्षमें देता है। यहाँ चूकि उसने वस्तु दे दी इसलिए उसका कहना सत्य है किन्तु समयपर नहीं दी इसलिए सत्य होते हुई भी असत्य है। जो वस्तु जिस देशमे, जिस कालमे, जिस आकारमे और जिस प्रमाणमे जानी है उसको उसी रूपमे कहना सत्य-सत्य है। जो वस्तु अपने पास नहीं है उसके लिए ऐसा वचन देना कि मै तुम्हे कल दूगा असत्य वचन हैं। इनमेंसे चौथे असत्य असत्य वचनको कभी नही बोलना चाहिए। क्योकि लोकव्यवहार शेष तीन प्रकारके वचनोपर ही स्थित हैं। जो वचन गुरुजनोको प्रसन्न करनेवाला हैं, वह मिथ्या होते हुए भी मिथ्या नही है ॥३६७॥ न स्वय अपनी प्रशसा करनी चाहिए और न दूसरोकी निंदा करनी चाहिए। दूसरोमे यदि गुण हैं तो उनका लोप नही करना चाहिए और अपनेमें यदि गुण नही है तो उनका वर्णन नही करना चाहिए कि मेरेमे ये गुण हैं ॥३६८॥ ऐसा करनेमे मनुष्य नीच गोत्रका बन्ध करता है, और उससे विपरीत करनेमे अर्थात् अपनी निन्दा और दूसरोकी प्रशसा करनेसे तथा दूसरोमे गुण न होनेपर भी उनका वर्णन करनेसे और अपनेमे गुण होते हुए भी उनका कथन न करनेसे उच्चगोत्रका बन्ध करता है ॥३६९॥ जो दूसरोका हित करता है वह अपना ही हित करता है फिर भी न जाने क्यो यह ससार दूसरोका अहित करनेमे ही तत्पर रहता है ॥३७०॥ जैसे-जैसे यह चित्त दूसरोके विषयमे अन्धकार फैलाता है वैसे-वैसे अपनी नाडियोमे अन्धकारकी धाराको प्रवाहित करता है। अर्थात् दूसरोका बुरा सोचनेसे अपना ही बुरा होता है ॥३७१॥ प्राणियोंके चित्तरूपी वस्त्र यदि दोषरूपी जलमें डाले जाते हैं तो भारी हो जाते हैं और यदि गुणरूपी ग्रीष्म ऋतुमे फैलाये जाते हैं तो हलके हो जाते है ॥३७२॥ सत्यवादीको सदा सच बोलनेसे ...

तर्षेर्ष्यामर्षहर्षाद्यैर्मृषाभाषामनीषित जिह्वाच्छेदमवाप्नोति परत्र च गतिक्षतिम् ॥ ३७४
अल्पैरपि समर्थैः स्यात्सहायैर्विजयी नृप । कार्यायान्तो हि कुन्तस्य दण्डस्त्वस्य परिच्छदः ॥ ३७५
न व्रतमस्थिग्रहणं शाकपयोमूलभैक्षचर्या वा । व्रतमेतदुन्नतधियामङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणम् ॥ ३७६
अस्थाने बद्धकक्षाणा नराणां सुलभं द्वयम् । परत्र दुर्गतिर्दीर्घा दुष्कीर्तिश्चात्र शाश्वती ॥ ३७७
मृषोद्यादीनवोद्योगात्पर्वतेन समं वसुः । जगाम जगतीमूल ज्वलदातङ्कपावकम् ॥ ३७८
वधूवित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने । माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे ॥ ३७९
धर्मभूमौ स्वभावेन मनुष्यो नियतस्मर । यज्जात्येव पराजातिबन्धुलिङ्गिस्त्रियस्त्यजेत् ॥ ३८०
रक्ष्यमाणे हि वृंहन्ति यत्राहिंसादयो गुणा । उदाहरन्ति तद्ब्रह्म ब्रह्मविद्याविशारदा ॥ ३८१
मदनोद्दीपनैर्वृत्तैर्मदनोद्दीपनै रसैः । मदनोद्दीपनैः शास्त्रैर्मदमात्मनि नाचरेत् ॥ ३८२
हव्यैरिव हुतप्रीति पाथोभिरिव नीरधि । तोपमेति पुमानेष न भोगैर्भवसंभवैः ॥ ३८३
विषवद्विषया: पुंसामापाते मधुरागमाः । अन्ते विपत्तिफलदास्तत्सतामिह को ग्रहः ॥ ३८४

वचनकी सिद्धि प्राप्त होती है । जहाँ-जहाँ वह जो कुछ कहता है उसकी वाणीका आदर होता है ॥३७३॥ इसके विपरीत जो तृष्णा, ईर्ष्या, क्रोध या हर्ष वगैरह के वशीभूत होकर झूठ बोलता है उसकी जिव्हा कटवा दी जाती है और परलोकमे भी उसकी दुर्गति होती है ॥३७४॥ शक्तिशाली थोडेमे भी सहायकोंके द्वारा राजा विजयी होता है । जैसे भालेकी नोक ही अपना काम करती है, उसमे लगा डडा तो उसका सहायक मात्र है ॥३७५ । हड्डीका धारण करना, शाक, पानी, कन्द-मूलका लेना अथवा भिक्षा भोजन करना ये सब व्रत नही है । किन्तु स्वीकार की हुई वस्तुको निवाहना ही समझदार पुरुषोका व्रत है ॥३७६।' 'झूठी बातका दुराग्रह करनेवाले मनुष्योके लिए दो चीज सुलभ है–परलोकमे दीर्घकाल तक दुर्गति और इस लोकमे स्थायी अपयश'। ॥३७७॥ इसके विषयमे एक श्लोक है–'झूठ बोलनेके दोपके कारण पर्वतके साथ वसु भी सातवे नरकको गया, जहाँ सदा सतापरूपी अग्नि जलती रहती है। ३७८॥ अब ब्रह्मचर्याणुव्रतका वर्णन करते हैं–अपनी विवाहिता स्त्री और वित्त स्त्री के सिवाय अन्य सब स्त्रियोको अपनी माता,बहिन और पुत्री मानना ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥३७९॥ विशेषार्थ–सब श्रावकाचारोमे विवाहिताके सिवाय स्त्री मात्रके त्यागीको ब्रह्मचर्याणुव्रती बतलाया है। परनारी और वेश्या ये दोनो ही त्याज्य है। किन्तु प सोमदेवजीने अणुव्रतीके लिए वेश्याकी भी छूट दे दी है। न जाने यह छूट किस आधारसे दी गई है? धर्मभूमि आर्यखण्डमे स्वभावसे ही मनुष्य कम कामी होते हैं। अत अपनी जातिकी विवाहित स्त्रीसे ही सम्बन्ध करना चाहिए और अन्य जातियोकी तथा बन्धु-बान्धवोकी स्त्रियोसे और व्रती स्त्रियोसे सम्बन्ध नही करना चाहिए ॥३८०॥ जिसकी रक्षा करने पर अहिंसा आदि गुणोमे वृद्धि होती है उसे ब्रह्मविद्यामे निष्णात विद्वान् ब्रह्म कहते है ॥३८१॥ अत कामोद्दीपन करनेवाले कार्योसे,कामोद्दीपन करनेवाले रसोके सेवनसे और कामोद्दीपन करनेवाले शास्त्रोके श्रवण या पठनसे अपनेमे कामका मद नही लाना चाहिए ॥३८२॥ जैसे हवनकी सामग्रीसे अग्नि और जलसे समुद्र कभी तृप्त नही होते । वैसे ही यह पुरुष सासारिक भोगोसे कभी तृप्त नही होता ॥३८३॥ ये विषय विषके तुल्य है। जब आते है तो प्रिय लगते है किन्तु अन्तमे विपत्तिको ही लाते है। अत. सज्जनका इन विषयोमे आग्रह कैसे हो सकता है।॥३८४॥

बहिस्तास्ता· क्रिया. कुर्वन्नर· संकल्पजन्मवान् भावाप्तावेव निर्वाति क्लेशस्तत्राधिक परम्॥३८५
निकामं कामकामात्मा तृतीया प्रकृतिर्भवेत् । अनन्तवीर्यपर्यायस्तस्यानारतसेवने ॥ ३८६
सर्वा क्रियानुलोमा स्यात्फलाय हितकामिनाम् । अपरत्रार्थकामाभ्यां यतो न स्तां तदर्थिषु ॥ ३८७
क्षयामयसम काम सर्वदोषोदयद्युति । उत्सूत्रे तत्र मर्त्यानां कुत श्रेय. समागम ॥ ३८८
देहद्रविणसंस्कारसमुपार्जनवृत्तय । जितकामे वृथा सर्वास्तत्काम सर्वदोषभाक् ॥ ३८९
स्वाध्यायध्यानधर्माद्या क्रियास्तावन्नरे कुत । इद्धे चित्तेन्धने यावदेष कामाशुशुक्षणि: ॥ ३९०
ऐदम्पर्यमतो मुक्त्वा भोगानाहारवद्भजेत् । देहदाहोपशान्त्यर्थमभिध्यानविहानये ॥ ३९१
परस्त्रीसगमानङ्गक्रीडान्योपयमक्रिया । तीव्रतारतिकैतव्य हन्युरेतानि तद् व्रतम् ॥ ३९२
मद्य द्यूतमुपद्रव्य तौर्यत्रिकमलंक्रिया । मदो विटा वृथाटचेति दशधानङ्गजो गण ॥ ३९३
हिंसनं साहप द्रोह पौरो भाग्य थँदूषणे । ईर्ष्या वाग्दण्डपारुष्यकोपजः स्याद् गणोऽष्टधा ॥ ३९४
ऐश्वर्यौदार्यशौण्डीर्यंधैर्यसौन्दर्यवीर्यता । लभेताद्भुतसञ्चाराश्चतुर्थव्रतपूतधी· ॥ ९५
अनङ्गानलसलीढे परस्त्रीरतिचेतसि । सद्यस्का विपदो ह्यत्र परत्र च दुरास्पदाः ॥ ३९६

नाना प्रकार की वाह्य क्रियाओको करता हुआ कामी मनुष्य रति सुखके मिलने पर ही सुखी होता है। किन्तु इसमे क्लेश ही अधिक होता हैं सुख तो नाम मात्र है ।.३८५।। जो अत्यन्त कामासक्त होता है वह निरन्तर कामका सेवन करनेसे नपुसक हो जाता हैं और जो निरन्तर ब्रह्मचर्यका पालन करता है वह अनन्त वीर्यका धारी होता है ।।३८६।। जो अपना हित चाहते हैं उनकी सब अनुलोम क्रियाएँ फलदायक होती है। किन्तु अर्थ और कामको छोडकर। क्योकि जो अर्थ और कामकी अभिलाषा करते है उन्हे अर्थ और कामकी प्राप्ति नही होती,अत उन्हे अर्थ और कामकी प्राप्ति होने पर भी सदा असन्तोष ही रहता है ।।३८७।। काम क्षय रोगके समान सब दोषों को उत्पन्न करता है । उसका आधिक्य होने पर मनुष्योका कल्याण कैसे हो सकता है? ।।३८८।। जिसने कामको जीत लिया उसका देहका सस्कार करना, धन कमाना आदि सभी व्यापार व्यर्थ है; क्योकि काम ही इन सब दोषोकी जड हैं ।।३८९।। जबतक चित्तरूपी ईंधनमे यह कामरूपी आग धधकती है तवतक मनुष्य स्वाध्याय, ध्यान, धर्माचरण आदि क्रिया कैसे कर सकता है? ।।३९०।। अत कामुकताको छोडकर शारीरिक सन्तापकी शान्तिके लिए और विषयोकी चाहको कम करनेके लिए आहारके समान भोगोका सेवन करना चाहिए ।।३९१।। परायी स्त्रीके साथ सगम करना, काम सेवनके अगोसे भिन्न अगोमे कामक्रीडा करना, दूसरोके लडकी-लडकोका विवाह कराना, कामभोगकी तीव्र लालसाका होना और विटत्व, ये वाते ब्रह्मचर्यव्रतको घातनेवाली हैं ।।३९२।। शराव, जुआ, मास, मधु, नाच, गाना और वादन, लिंगपर लेप वगैरह लगाना,शरीरको-सजाना, मस्ती, लुच्चापन और व्यर्थ भ्रमण,ये दस कामके अनुचर हैं ।।३९३।। हिसा, साहस, मित्रादिके साथ द्रोह, दूसरोके दोप देखनेका स्वभाव,अर्थदोप अर्थात् न ग्रहण करने योग्य धनका ग्रहण करना, और देयधनको न देना, ईर्ष्या, कठोर वचन वोलना और कठोर दण्ड देना ये आठ क्रोधके अनुचर है ।।३९४।। ब्रह्मचर्याणुव्रती अद्भुत ऐश्वर्य, अद्भुत उदारता, अद्भुत शूर-वीरता, अद्भुत धीरता, अद्भुत सौन्दर्य और अद्भुत शक्तिको प्राप्त करता हैं ।।३९५।। जिसका कामरूपी अग्निसे वेष्टित चित्त पर-नारीमे रति करनेमे आसक्त है उसे इसी जन्ममे तत्काल विपत्तियाँ उठानी पडती है और परलोकमे भी कठोर विपत्तियोका सामना करना पडता है ।।३९६।।

मन्मथोन्माथितस्वान्त.परस्त्रीरतिजातधीः । कडारपिङ्ग' संकल्पान्निपपात रसातले ।। ३९७
ममेदमिति संकल्पो बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु । परिग्रहो मतस्तत्र कुर्याच्चेतोनिकुञ्चनम् ।। ३९८
क्षेत्र धान्यं धनं वास्तु कुप्य शयनमासनम् । द्विपदा पशवो भाण्डं बाह्या दश परिग्रहा. ।।३९९
समिथ्यात्वास्त्रयो वेदा हास्यप्रभृतयोऽपि षट् । चत्वारश्च कषाया स्युरन्तर्ग्रन्थाश्चतुर्दश ।। ४००
अथवा-चेतनाचेतनासङ्गाद्द्विधा बाह्यपरिग्रह । अन्त स एक एव स्याद्भवहेत्वाशयाश्रय ।। ४०१
धनायाविद्धबुद्धीनामधना स्युर्मनोरथा । ह्यनर्थक्रियारम्भा धीस्तदर्थिषु कामधुक् ।। ४०२
सहसंभूतिरप्येष देहो यत्र न शाश्वत । द्रव्यदारकशरेषु तत्र काऽऽस्था महात्मनाम् ।। ४०३
स श्रीमानपि निःश्रीक स नरश्च नराधम । यो न धर्माय भोगाय विनयेत धनागमम् ।। ४०४
प्राप्तेऽर्थे ये न माद्यन्ति नाप्राप्ते स्पृहयालव । लोकद्वयश्रितां श्रीणां त एव परमेश्वरा ।। ४०५
वित्तस्य वित्तचिन्तायां न फल परमेनस' । अस्थाने क्लिश्यमानस्य न हि क्लेशात्परं फलम् ।।४०६
अन्तर्बहिर्गते सङ्गे निःसङ्गं यस्य मानसम् । सोऽगण्यपुण्यसंपन्न सर्वत्र सुखमश्नुते ।। ४०७
बाह्यसङ्गरते पुंसि कुतश्चित्तविशुद्धता । सतुषे हि बहिर्धान्ये दुर्लभान्तर्विशुद्धता ।। ४०८
सत्पात्रविनियोगेन योऽर्थसंग्रहतत्पर: । लुब्धेषु स परं लुब्ध सहामुत्र धन नयन् ।।४०९

कामसे पीडित और परस्त्री सभोगके लिए उत्सुक कडार-पिङ्ग परस्त्रीगमनके सकल्पसे नरकमें गया । ।।३९७।। इसकी कथा मूल ग्रन्थसे अथवा प्रथमानुयोगसे जानना चाहिए ।

(अब परिग्रह परिमाण व्रतको कहते हैं–) बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओमे 'यह मेरी है' इस प्रकारके सकल्पको परिग्रह कहते है । उसके विषयमे चित्तवृत्तिको सकुचित करना चाहिए अर्थात् सकल्पको घटाकर परिग्रहका परिमाण करना चाहिए ।।३९८।। खेत, अनाज, धन, मकान, ताँबा पीतल आदि धातु, शय्या, आसन, दास-दासी, पशु और भाजन ये दस बाह्य परिग्रह है ।।३९९।। मिथ्यात्व, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद, हास्य, शोक, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह है ।।४००।। अथवा–चेतन और अचेतनके भेदसे बाह्य परिग्रह दो प्रकारका है, और ससारके कारणभूत कर्माशयकी अपेक्षा अन्तरङ्ग परिग्रह एक ही प्रकारका है ।४०१।। जो धनकी वाञ्छा करते रहते है उनके मनोरथ सफल नही होते, क्योकि वाञ्छा करने मात्रसे इच्छित वस्तुकी प्राप्ति नही होती ।।४०२।। जहाँ साथ पैदा होनेवाला शरीर भी स्थायी नही है वहाँ शरीरसे भिन्न धन, स्त्री और पुत्रमे महात्माओकी आस्था कैसे हो सकती है? ।।४०३।। वह मनुष्य धनी होकर भी गरीब है तथा मनुष्य होकर भी मनुष्योमे नीच है जो धनको न धर्ममे लगाता है और न भोगता है।।४०४।। जो धनको पाकर मद नही करते और धनके न मिलनेपर उसकी इच्छा नही करते, वे ही इस लोक और परलोकमे लक्ष्मीके स्वामी होते है ।।४०५।। मनमे धनकी चिन्ता करनेका फल पापके सिवाय और कुछ नही है । ठीक ही है अस्थानमे क्लेश करनेके क्लेशके अतिरिक्त और क्या फल हो सकता है ।।४०६।। अन्तरङ्ग और बाह्य परिग्रहमे जिसका मन अनासक्त है वह महान् पुण्यशाली सर्वत्र सुख भोगता है । ४०७।। जो पुरुष बाह्य परिग्रहमे आसक्त है उसका मन कैसे विशुद्ध हो सकता है? ठीक ही है, जो धान्य तुष–छिलके सहित है उसके भीतरी भागका स्वच्छ पाया जाना दुर्लभ है ।।४०८।। भावार्थ-जब धानको कूटकर उसका छिलका अलग कर दिया जाता है तभी साफ चावल निकलता है । छिलकेके रहते हुए उसके अन्दरका चावल भी लाल ही रहता है। वैसे ही बाह्य परिग्रहमे आसक्त रहते हुए मनुष्यका मन स्वच्छ नही होता। जो सत्पात्रको दान देकर धन-

कृतप्रमाणाल्लोभेन धनादधिकसंग्रह । पञ्चमाणुव्रतज्यानि करोति गृहमेधिनाम् ॥ ४१०
यस्य द्वन्द्वद्वयेऽप्यस्मिन्नि स्पृहं देहिनो मनः । स्वर्गापवर्गलक्ष्मीणां क्षणात्पक्षे स दक्षते ॥ ४११
अत्यर्थमर्थकाङ्क्षायामवश्यं जायते नृणाम् । अघसंघचितं चेत ससारावर्तवर्तगम् ॥ ४१२
षष्ठ्या क्षितेस्तृतीयेऽस्मिल्लल्लके दु.खमल्लके । पेते पिण्याकगन्धेन धनायाविद्धचेतसा ॥ ४१३
दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिस्त्रितयाश्रयम् । गुणव्रतत्रय सद्भि सागारयतिषु स्मृतम् ॥ ४१४
दिक्षु सर्वास्वध प्रोर्ध्वदेशेषु निखिलेषु च । एतस्यां दिशि देशेऽस्मिन्नयत्येव गतिर्मम ॥ ४१५
दिग्देशनियमादेवं ततो बाह्येषु वस्तुषु । हिंसालोभोपभोगादिनिवृत्तेश्चित्तयन्त्रणा ॥ ४१६
रक्षन्निदं प्रयत्नेन गुणव्रतत्रयं गृही । आज्ञैश्वर्यं लभेश्वर्यं लभेतैष यत्र यत्रोपजायते ॥ ४१७
आशादेशप्रमाणस्य गृहीतस्य व्यतिक्रमात् । देशव्रती प्रजायेत प्रायश्चित्तसमाश्रय ॥ ४१८
शिखण्डिकुक्कुटश्येनबिडालव्यालबभ्रव । विषकण्टकशस्त्राग्निकषापाशकरज्जवः ॥ ४१९

का सग्रह करनेमे तत्पर है,वह उस धनको परलोकमे अपने साथ ले जाता हैं । अत वह लोभियो-मे परम लोभी है ॥४०९॥ **भावार्थ**-जो अपने धनको सत्पात्रोके लिए खर्च करता हैं वह असीम पुण्यका वन्ध करता है और उस पुण्यको, जो धन-प्राप्तिका मूल कारण है,वह अपने साथ परलोक-में ले जाता है । उसके प्रभावसे उसे उस जन्ममे भी धनका लाभ होता है । अत. ऐसा आदमी ही सच्चा धनका लोभी है । किन्तु जो धनको ही समेटकर रखता है-न उसे भोगता है और न किसीको देता है वह तो उसे यही छोड जाता है । अत सत्पात्रमे धनको खरचना ही उत्तम हैं। और पुण्यरूपी धन ही सच्चा धन है । जिसने धनका प्रमाण किया है,लोभमे आकर उसमे अधिक-का संचय करना गृहस्थोके परिग्रह परिमाणव्रतको हानि पहुँचाता है । अर्थात् यह उस व्रतका अतिचार है ॥४१०॥ जिस प्राणीका मन अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग परिग्रहमे निस्पृह है वह क्षण-भरमे स्वर्ग और मोक्षकी लक्ष्मीका स्वामी वन जाता है ॥४११॥ धनकी वहुत अधिक तृष्णा होनेपर मनुष्योका मन पापके भारसे दवकर ससाररूपी भँवरके गड्ढेमे चला जाता है ॥४१२॥ 'धनका भूखा पिण्याक गध मरकर छठे नरकके लल्लक नामके तीसरे पाथडे मे गया ॥४१३॥ इसकी कथा मूल ग्रन्थसे अथवा प्रथमानुयोगसे जानना चाहिए ॥

अव गुणव्रतोका वर्णन करते है-महापुरुषोने दिग्विरति देशविरति और अनर्थदण्ड-विरतिके भेदसे गृहस्थ व्रतियोके तीन गुणव्रत वतलाये है ॥४१४॥ "अमुक-अमुक दिशामे मैं अमुक-अमुक स्थान तक ही जाऊँगा" इस प्रकार जन्म पर्यन्तके लिए जो सव दिशाओमे और ऊपर तथा नीचे जानेकी मर्यादाकी जाती है उसे दिग्विरतिव्रत कहते है । और दिग्विरतिके भीतर कुछ समयके लिए जो मर्यादा की जाती है कि मै अमुक दिशामे अमुक देश तक ही जाऊँगा, उसे देशविरति व्रत कहते हैं ॥४१५॥ इस प्रकार दिशाओका और देशका नियम कर लेनेसे उससे बाहरकी वस्तुओमे लोभ, उपभोग और हिंसा आदिके भाव नहीं होते है और उसके न होनेसे चित्त सयत होता है ॥४१६॥ जो गृहस्थ प्रयत्न करके इन तीन गुणव्रतोका पालन करता है वह जहाँ-जहाँ जन्म लेता है वहाँ-वहाँ उसे ऐश्वर्य और हुकूमत मिलती है ॥४१७॥ दिशा और देशके किये हुए प्रमाणका उल्लंघन करनेसे अर्थात् उससे बाहर चले जानेसे दिग्व्रती और देशव्रती प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥४१८॥ (अब तीसरे अनर्थदण्डविरति व्रतको कहते हैं-) मोर, मुर्गा, बाज,

पापाख्यानाशुभाध्यानहिंसाक्रीडावृथाक्रियाः परोपतापपैशून्यशोकाक्रन्दनकारिता ।। ४२०
वधबन्धनसंरोधहेतवोऽन्येऽपि चेदृशा । भवन्त्यनर्थदण्डाख्याः सपरायप्रवर्धनात् ।। ४२१
पोषणं क्रूरसत्त्वानां हिंसोपकरणक्रियाम् । देशव्रती न कुर्वीत स्वकीयाचारचारुधीः ।। ४२२
अनर्थदण्डनिर्मोक्षादवश्यं देशतो यति । सुहृत्तां सर्वभूतेषु स्वामित्वं च प्रपद्यते ।। ४२३
वञ्चनारम्भहिंसानामुपदेशात्प्रवर्तनम् । भाराधिक्याधिकक्लेशौ तृतीयगुणहानये ।। ४२४

इति श्रीसोमदेवसूरिविरचित उपासकाध्ययने सच्चरित्रचिन्तामणिनाम सप्तम आश्वास.।

अष्टम आश्वास

आदौ सामायिकं कर्म प्रोषधोपासनक्रिया । सेव्यार्थनियमो दानं शिक्षाव्रतचतुष्टयम् ।। ४२५
आप्तसेवोपदेश स्यात्समय समयार्थिनाम् । नियुक्त तत्र यत्कर्म तत्सामायिकमूचिरे ।। ४२६
आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम् । तार्क्ष्यमुद्रा न किं कुर्याद्विषसामर्थ्यसूदनम ।। ४२७
अन्त शुद्धि बहि शुद्धि विदध्याद्देवतार्चने । आद्या दौश्चित्यनिर्मोक्षादन्या स्नानाद्यथाविधि ।।४२८

विलाव,साँप,नेवला,आदि हिसक जन्तुओका पालना, विष, काँटा, शस्त्र, आग, कोडा, जाल, रस्सा आदि हिसाके साधन दूसरोको देना, पापका उपदेश देना, आर्त और रौद्र ध्यानका करना, हिसामयी खेल खेलना, व्यर्थ इधर-उधर भटकना, दूसरोको कष्ट पहुचाना, चुगली करना, रज करना, रोना, अन्य भी इस प्रकारके कार्य जो दूसरोके घातमे बाँधनेमेऔर रोक रखनेमे कारण है उन्हे अनर्थदण्ड कहते है, क्योकि उनसे ससारकी वृद्धि होती है—बहुत समय तक ससारमे भटकना पडता है ।।४१९-४२१।। अपने आचारका पालन करनेमे दक्ष देशव्रती श्रावकको हिसक प्राणियोका पोषण तथा हिसाके उपकरणोका दान नही करना चाहिए ।।४२२।। ऊपर बतलाये हुए अनर्थदण्डोको छोडनेसे अणुव्रती श्रावक सब प्राणियोका मित्र और स्वामी बन जाता है ।।४२३।। उपदेशसे ठगी, आरम्भ, और हिंसाका प्रवर्तन करना, शक्तिसे अधिक बोझा लादना और दूसरोको अधिक कष्ट देना आदि कर्म अनर्थदण्डव्रतको हानि पहुँचाते है, अर्थात् इस प्रकारके कामोके करनेसे अनर्थदण्डव्रतमे दोष लगता है अत ऐसे काम अणुव्रती श्रावकको नही करना चाहिए ।।४२४।

इस प्रकार सोमदेव सूरि विरचित उपासकाध्ययनमे सच्चरित्रचिन्तामणि नामका सातवा आश्वास समाप्त हुआ ।

अष्टम आश्वास

(अब शिक्षाव्रतोको कहते हैं—) सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण और दान ये चार शिक्षाव्रत है ।।४२५।। जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनेका जो उपदेश है उसे समय कहते है और उसमे उसके इच्छुकजनोके जो-जो काम बतलाये गये है उन्हे सामायिक कहते हैं ।। ४२६।। जिनेन्द्र भगवान्के अभावमे उनकी प्रतिमाका पूजन करनेसे भी पुण्यबन्ध होता है। क्या गरुड-मुद्रा विषकी शक्तिको दूर नही करती? ।।४२७।। देवपूजन करनेके लिए अन्तरङ्गशुद्धि और बहिरङ्गशुद्धि करनी चाहिए । चित्तसे बुरे विचारोको दूर करनेसे अन्तरङ्गशुद्धि होती

सम्भोगाय विशुद्ध्यर्थं स्नानं धर्माय च स्मृतम् । धर्माय तद्भवेत् स्नानं यत्रामुत्रोचितो विधि ॥४२९
नित्यस्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे । यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानमन्यद्विगर्हितम् ॥ ४३०
वातातपादिसंसृष्टे भूरितोये जलाशये । अवगाह्याचरेत्स्नानमतोऽन्यद्गालितं भजेत् ॥ ४३१
पादजानुकटिग्रीवाशिर पर्यन्तसंश्रयम् । स्नानं पञ्चविधं ज्ञेयं यथादोष शरीरिणाम् ॥ ४३२
ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारम्भकर्मण । यद्वा तद्वा भवेत्स्नानमन्त्यमन्यस्य तद्द्वयम् ॥ ४३३
सर्वारम्भविजृम्भस्य ब्रह्मजिह्मस्य देहिन. । अविधाय बहि शुद्धि नाप्तोपास्त्यधिकारिता ॥ ४३४
अद्भिः शुद्धि निराकुर्वन्मन्त्रमात्रपरायण । स मन्त्रै. शुद्धिमाङ् नून भुक्त्वा हृत्वा विहृत्य च ॥४३५
मृत्स्नयेष्टकया वापि भस्मना गोमयेन च । शौचं तावत्प्रकुर्वीत यावन्निर्मलता भवेत् ॥ ४३६
बहिर्विहृत्य सप्राप्तो नानाचम्य गृह विशेत् । स्थानान्तरात्समायातं सर्वं प्रोक्षितमाचरेत् ॥४३७
आप्लुत सप्लुतस्वान्त शुचिवासोविभूषित । मौनसयमसम्पन्न कुर्याद्देवार्चनाविधिम् ॥ ४३८
दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासोचितानन । असंजातान्यसंसर्ग. सुधीर्देवानुपाचरेत् ॥ ४३९
होमभूतबली पूर्वैरुक्तौ भक्तविशुद्धये । भुक्त्यादौ सलिल सर्पिरूधस्यं च रसायनम् ॥ ४४०
एतद्विधिर्न धर्माय नाधर्माय तदक्रिया. । दर्भपुष्पाक्षतश्रोत्रवन्दनादिविधानवत् ॥ ४४१

है और विधिपूर्वक स्नान करनेसे बहिरङ्गशुद्धि होती है ॥४२८॥ सभोगके लिए, विशुद्धिके लिए और धर्मके लिए स्नान करना बतलाया है। जिसमें परलोकके योग्य विधि की जाती है वह स्नान धर्मके लिए होता हैं ॥४२९॥ देवपूजा करनेके लिए गृहस्थको सदाको स्नान करना चाहिए। और मुनिको दुर्जनसे छू जानेपर ही करना चाहिए। अन्य स्नान मुनिके लिए वर्जित है ॥४३०॥ जिस जलाशयमे खूब पानी हो और वायु, धूप आदि जिसे खूब लगती हो उसमे घुस करके स्नान करना उचित है, किन्तु अन्य जलाशयोका पानी छानकर ही स्नानके काममे लाना चाहिए ॥४३१॥ स्नान पाँच प्रकारका होता है-पैर तक, कमर तक, घुटनोतक गर्दन तक और सिर तक। इनमे-से मनुष्योको दोषके अनुसार स्नान करना चाहिए ॥४३२॥ जो ब्रह्मचारी है और सब प्रकारके आरम्भोंसे विरत है वह इनमे-से कोई-सा भी स्नान कर सकता है किन्तु अन्य गृहस्थोको तो सिर या गर्दनसे ही स्नान करना चाहिए ॥४३३॥ जो सब प्रकारके आरम्भोमे लगा रहता है और ब्रह्मचारी भी नही है, उसे बाह्य शुद्धि किये बिना देवोपासना करनेका अधिकार नही है॥४३४॥ जो जलमे शुद्धिका निराकरण करता हुआ केवल मन्त्रपाठमे ही तत्पर रहता है, उसे भोजन करके, टट्टी जाकर और विहार करके निश्चय ही मन्त्रोके द्वारा शुद्ध हो जाना चाहिये। ४३५॥ अत मिट्टीसे ईटसे अथवा राखसे या गोबरसे तबतक सफाई करनी चाहिए जबतक निर्मलता न आ जाये ॥४३६॥ जब बाहरसे घूमकर आये तो बिना कुल्ला किये घरमे नही जाना चाहिए। दूसरी जगहसे आयी हुई सब वस्तुओको पानी छिड़ककर ही काममे लाना चाहिए। ४३७॥ स्नान करके, शुद्ध वस्त्र पहने और चित्तको वशमें करके मौन तथा संयमपूर्वक जिनेन्द्र देवकी पूजा करे ॥४३८॥ दातौनसे मुख शुद्ध करे और मुखपर वस्त्र लगाकर दूसरोसे किसी तरहका सम्पर्क न रखकर जिनेन्द्र देवकी पूजा करे ॥४३९॥ पूर्व पुरुषोने भोजनकी शुद्धिके लिए भोजन करनेसे पहले होम और भूतबलिका विधान किया है। भोजन करनेसे पहले होम पूर्वक अर्थात् प्राणियोके उद्देश्यसे कुछ अन्न अलग निकालकर रख देना चाहिए। तथा भोजनके पहले पानी, घी और दूधके सेवनको रसायन कहा है। दूब पुष्प अक्षत, स्तवन, वन्दना आदिके विधानकी तरह उक्त विधि करनेसे

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः । लोकाश्रयो भवेदाद्य पर स्यादागमाश्रयः ।।४४२
जातयोऽनादय सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा । श्रुति शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ।।४४३
स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत् । तत्क्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परम् ।। ४४४
यद्भवभ्रान्तिनिर्मुक्तिहेतुधीस्तत्र दुर्लभा । संसारव्यवहारे तु स्वत.सिद्धे वृथागम । ४४५
सर्व एव हि जैनानां प्रमाण लौकिको विधि । यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ।। ४४६

द्वये देवसेवाधिकृताः सकल्पिताप्तपूज्यपरिग्रहा कृतप्रतिमापरिग्रहाश्च । सकल्पोऽपि दलफलोपलादिष्विव न समयान्तरप्रतिमासु विधेय । यतः–

शुद्धे वस्तुनि संकल्प कन्याजन इवोचित । नाकारान्तरसङ्क्रान्ते यथा परपरिग्रहे ।। ४४७

तत्र प्रथमान् प्रति समयसमाचारविधिमभिधास्याम । तथा हि–

अर्हन्नतनमध्ये दक्षिणतो गणधरस्तथा पश्चात् । श्रुतगी साधुस्तदनु च पुरोऽपिदृगवगमवृत्तानि।।४४८

भूर्जे फलके सिचये शिलातले सैकते क्षितौ व्योम्नि ।
हृदये चेते स्थाप्या समयसमाचारवेदिभिर्नित्यम् ।। ४४९

रत्नत्रयपुरस्कारा पञ्चापि परमेष्ठिन । भव्यरत्नाकरानन्दं कुर्वन्तु भुवनेन्दवः ।। ४५०

न कोई धर्म होता है और न करनेसे न कोई अधर्म होता है । अर्थात्–ऊपर भोजनकी शुद्धिके लिए जो क्रिया वतलायी है उसके करनेसे धर्म नही होता और न करनेसे अधर्म नही होता है।।४४०-४४१।। गृहस्थोका धर्म दो प्रकारका होता है–एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। इनमे-से लौकिक धर्म लोककी रीतिके अनुसार होता है और पारलौकिक धर्म आगमके अनुसार होता है ।।४४२।। सव जातियाँ अनादि है और उनकी क्रिया भी अनादि है । उसमे वेद अथवा अन्य शास्त्र प्रमाण रहो, उससे हमारी कोई हानि नही है ।।४४३।। रत्नकी तरह जो वर्ण अपने जन्म से ही विशुद्ध होते हैं उन्हे उनकी क्रियाओमे लगानेके लिए जैनआगमोका विधान ही उत्कृष्ट है ।।४४४।। क्योकि ससार-भ्रमणसे छूटनेके कारणोमे मनको लगानेवाले ज्ञानका पाना लोकमे अतिदुर्लभ है । रहा लौकिक व्यवहार, वह तो स्वय सिद्ध है उसको बतलानेके लिए किसी आगमकी आवश्यकता नही है ।।४४५।। तथा सभी जैनधर्मानुयायियोको वह लौकिक व्यवहार मान्य है जिससे उनके सम्यक्त्वमे हानि न आती हो और न उनके व्रतोमे दूषण लगता हो ।।४४६।। देवपूजाके दो रूप हैं–एक तो पुष्प आदिमे जिन भगवानकी स्थापना करके पूजा की जाती है और दूसरे, जिन-विम्वोमे जिन भगवान्की स्थापना करके पूजा की जाती है । जिस प्रकार पुष्प फल या पाषाणमे स्थापना की जाती है उस तरह अन्य देव हरिहरादिककी प्रतिमामे जिन भगवान्की स्थापना नही करना चाहिए, क्योकि जैसे शुद्ध कन्यामे ही पत्नीका सकल्प किया जाता है दूसरेसे विवाहितामे नही, वेसे ही शुद्ध वस्तुमे ही जिनदेवकी स्थापना करना उचित है, जो अन्य-रूप हो चुकी है उसमे स्थापना करना उचित नही है ।।४४७।। ऊपर जो दो प्रकारके पूजन कहे है उनमेसे पुष्पादिकमे जिन भगवान्की स्थापना करके पूजा करनेवालोके लिए पूजाविधि बतलाते है–पूजाविधिके ज्ञाताओको सदा अर्हन्त और सिद्धको मध्यमे, आचार्यको दक्षिणमे, उपाध्यायको पश्चिममे, साधुको उत्तरमे और पूर्वमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको क्रमसे भोज–पत्रपर,लकडीके पटियेपर, वस्त्रपर, शिलातलपर, रेत निर्मित भूमिपर, पृथ्वीपर, आकाशमे और हृदयमे स्थापित करना चाहिए ।।४४८-४४९।। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी

नरोरगसुराम्भोजविरोचनरुचिश्रियम् । आरोग्याय जिनाधीश करोम्यर्चनगोचरम् ॥ ४५१
प्रत्नकर्मविनिर्मुक्तान्नूत्नकर्मविवर्जितान् । यत्नतः संस्तुवे सिद्धान् रत्नत्रयमहीयस ॥ ४५२
विचार्य सर्वमैतिह्यमाचार्यत्वमुपेयुष : आचार्यपर्यानर्चामि संचार्य हृदयाम्बुजे ॥ ४५३
अपास्तैकान्तवादीन्द्रानपारागमपारगान् । उपाध्यायानुपासेऽहमुपायाय श्रुताप्तये ॥ ४५४
बोधापगाप्रवाहेन विध्यातानङ्गवन्हय: । विध्याराध्याङ्घ्रय. सन्तु साध्यबोध्याय साधव ॥४५५
मुक्तिलक्ष्मीलतामूलं युक्तिश्रीवल्लरीवनम् । भक्तितोऽर्हामि सम्यक्त्व भुक्तिचिन्तामणिप्रदम्॥४५६
नेत्रं हिताहितालोके सूत्रं धीसौधसाधने । पात्रं पूजाविधेः कुर्वे क्षेत्रं लक्ष्म्याः समागमे ॥ ४५७
धर्म योगिनरेन्द्रस्य कर्मवैरिजयार्जने । शर्मकृत्सर्वसत्त्वानां धर्मधीर्वृत्तमाश्रये ॥ ४५८
जिनसिद्धसूरिदेशकसाधुश्रद्धानबोधवृत्तानाम् । कृत्वाष्टतयीमिष्टि विदधामि तत स्तव युक्त्या॥४५९

तत्त्वेषु प्रणयः परोऽस्य मनस· श्रद्धानमुक्तं जिनै-
रेतद्द्वित्रिदशप्रभेदविषयं व्यक्तं चतुर्भिर्गुणै· ।
अष्टाङ्गं भुवनत्रयार्चितमिदं मूढैरपोढं त्रिभि-
श्चित्ते देव दधामि संसृतिलतोल्लासावसानोत्सवम् ॥ ४६०

रत्नत्रयसे भूषित और जगत्के लिए चन्द्रमाके तुल्य पाँचों परमेष्ठी भव्य जीवरूपी समुद्रको आनन्दित करे ॥४५०॥ तथा मैं आरोग्य-प्राप्तिके लिए मनुष्य,नाग और देवरूपी कमलोके लिए सूर्यकी शोभाको धारण करनेवाले जिनेन्द्र देवकी पूजा करता हूँ ॥४५१॥ पुराने कर्मोके वन्धनसे मुक्त हुए और नवीन कर्मोंके आस्रवसे रहित तथा रत्नत्रयसे महान् उन सिद्धोंका मै यत्नपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥४५२॥ समस्त शास्त्रोका विचार करके आचार्य पदको प्राप्त हुए श्रेष्ठ आचार्योको अपने हृदय-कमलमें विराजमान करके पूजा करता हूँ ॥४५३॥ प्रमुख एकान्तवादियोको हरानेवाले और अपार श्रुत-समुद्रके पारगामी उपाध्याय परमेष्ठीकी मै पुण्य औरश्रुतकी प्राप्तिके लिए उपासना करता हूँ ॥४५४॥ ज्ञानरूपी नदीके प्रवाहसे जिन्होंने कामरूपी अग्निको बुझा दिया है और जिनके चरण विधिपूर्वक पूजनीय है,वे साधु आत्माकी साधनाके लिए होवे ॥४५५॥ जो मुक्ति लक्ष्मीरूपी लताका मूल है,युक्ति लक्ष्मीरूपी वेलके लिए जलके तुल्य है और जिससे भोग सामग्री प्राप्त होती है उस चिन्तामणिको देनेवाले सम्यग्दर्शनकी मैं भक्तिपूर्वक पूजा करता हूँ ॥४५६॥ जो हित और अहितको देखनेमे नेत्रके समान है, बुद्धिरूपी महलको साधनेमें सूत्रके (जिससे नापकर मकान वनाया जाता हैं) समान हैं तथा लक्ष्मीके समागमके लिए क्षेत्रके समान है, उस सम्यग्ज्ञानको मैं पूजाविधिका पात्र वनाता हूँ अर्थात् उसकी मैं पूजा करता हूँ ॥४५७॥ जो योगीरूपी राजाके कर्मरूपी वैरियोको जीतनेमे धनुषके समान हैं तथा सव प्राणियोको सुख देने वाला है,मैं धर्म बुद्धिसे उस चारित्रकी शरण जाता हूँ ॥४५८॥ इस प्रकार अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी अष्टद्रव्यसे पूजन करके मै इनकायुक्तिपूर्वकस्तवनकरताहूँ॥४५९॥ (सबसे प्रथम सम्यग्दर्शनकी भक्ति इस प्रकार करे-) जिनेन्द्र देवने तत्त्वोमें मनकी अत्यन्त रुचिको सम्यग्दर्शन कहा हैं। इस सम्यग्दर्शनके दो, तीन और दस भेद बतलाये हैं। तथा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणके द्वारा सम्यक्त्वकी पहचान होती है। उसके निःशंकित, निःकांक्षित आदि आठ गुण है। जो भुवनत्रयमें पूजित हैं, तीन प्रकारकी मूढतासे रहित हैं। हे देव! संसाररूपी लताका अन्त करनेवाले और तीनो लोकोमे पूज्य उस सम्यग्दर्शनको मै अपने हृदयमें धारण

ते कुर्वन्तु तपांसि दुर्धरधियो ज्ञानानि सञ्चिन्वतां
वित्तं वा वितरन्तु देव तदपि प्रायो न जन्मच्छिदः ।
एषा येषु न विद्यते तव वच श्रद्धावधानोध्दुरा
दुष्कर्माङ्कुरकुञ्जवज्रदहनद्योतावदाता रुचिः ॥ ४६१
संसाराम्बुधिसेतुबन्धमसमप्रारम्भलक्ष्मीवन–
प्रोल्लासामृतवारिवाहमखिलत्रैलोक्यचिन्तामणिम् ।
कल्याणाम्बुजषण्डसम्भवसरः सम्यक्त्वरत्नं कृती
यो धत्ते हृदि तस्य नाथ सुलभा. स्वर्गापवर्गश्रियः ॥ ४६२
(इति दर्शनभक्तिः)
अत्यल्पायतिरक्षजा मतिरियं बोधोऽवधिः सावधिः
साश्चर्यः क्वचिदेव योगिनि स च स्वल्पो मनःपर्यय. ।
दुष्प्रापं पुनरद्य केवलमिदं ज्योतिः कथागोचरं
माहात्म्यं निखिलार्थगे तु सुलभे किं वर्णयामः श्रुतेः ॥ ४६३
यद्देवैं शिरसा धृत गणधरैः कर्णावतंसीकृतं
न्यस्तं चेतसि योगिभिर्नृपवरैराघ्रातसार पुनः ।
हस्ते दृष्टिपथे मुखे च निहित विद्याधराधीश्वरै–
स्तत्स्याद्वादसरोरुहं मम मनोहंसस्य भूयान्मुदे ॥ ४६४
मिथ्यातम पटलभेदनकारणाय स्वर्गापवर्गपुरमार्गनिबोधनाय ।
तत्त्वभावनमना प्रणमामि नित्य त्रैलोक्यमङ्गलकराय जिनागमाय ॥ ४६५
(इति ज्ञानभक्ति)

करता हूँ ॥४६०॥ हे देव! जिनकी आपके वचनोमे एकनिष्ठ श्रद्धापूर्ण निर्मल रुचि नही है, जो रुचि दुष्कर्म रूपी अंकुरोके समूहको भस्म करनेके लिए वज्राग्निके प्रकाशकी तरह निर्मल है, वे दुर्बुद्धि कितनी ही तपस्या करें, कितना ही ज्ञानार्जन करे और कितना ही दान दें, फिर भी जन्म-परम्परा का छेदन नही कर सकते ॥४६१॥ हे नाथ! ससार रूपी समुद्रके लिए सेतुबन्धके समान, क्रमसे उत्पन्न होने वाले रत्नत्रय रूपी वनके विकासके लिए अमृतके मेघके समान, तीनो लोकोके लिए चिन्तामणि रत्नके समान और कल्याणरूपी कमल समूहकी उत्पत्तिके लिए तालाबके तुल्य, सम्यक्त्वरूपी रत्नको जो पुण्यात्मा हृदयमे धारण करता है उसे स्वर्ग और मोक्षरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति सुलभ है ॥४६२॥ इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञानका विषय बहुत थोडा है। अवधिज्ञान भी द्रव्य क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादाको लेकर केवल रूपी पदार्थोको ही विषय करता है। मन पर्यय का भी विषय बहुत थोडा है और वह भी किसी मुनिके हो जाये तो आश्चर्य ही है। केवलज्ञान महान् है किन्तु उसकी प्राप्ति इस कालमे सुलभ नही है। एक श्रुतज्ञान ही ऐसा है जो समस्त पदार्थोको विषय करता है और सुलभ भी है, उसकी हम क्या प्रशंसा करे ॥४६३॥ जिसे देवोने सिरपर धारण किया, गणधरोने अपने कानका भूषण बनाया, मुनियोने अपने हृदयमे रखा, राजाओने जिसका सार ग्रहण किया और विद्याधरोके स्वामियोंने अपने हाथमें, आँखोके सामने और मुखमे स्थापित किया वह स्याद्वादश्रुत रूपी कमल मेरे मानसरूपी हसकी प्रसन्नताके लिए हो ॥४६४॥ आगममे कहे हुए तत्त्वोकी मनमे भावना करता हुआ मै मिथ्यात्व रूपी अन्धकारके पटलको दूर

ज्ञानं दुर्भगदेहमण्डनमिव स्यात्स्वस्य खेदावहं धत्ते साधु न तत्फलश्रियममं सम्यक्त्वरत्नाङ्कुरः।
कामं देव यदन्तरेण विफलास्तास्तास्तपोभूमयस्तस्मै त्वच्चरितायसंयमदमध्यानादिधाम्नेनम ॥४६६
यच्चिन्तामणिरीप्सितेषु वसतिः सौरूप्यसौभाग्ययोः श्रीपाणिग्रहकौतुकं कुलबलारोग्यागमे सगमः।
यत्पूर्वैश्चरितंसमाधिनिधिभिर्मोक्षाय पश्चात्मकंतञ्चारित्रमहंनम मिविविधं स्वर्गापवर्गाप्तये॥४६७
हस्ते स्वर्गसुखान्यतर्कितभवास्ताश्चक्रवर्तिश्रियो देवाः पादतले लुठन्ति फलति द्यौ कामितं सर्वत ।
कल्याणोत्सवसम्पदः पुनरिमास्तस्यावतारालये प्रागेवावतरन्ति यस्य चरितैर्जैनं पवित्रं मनः॥४६८

(इति चारित्रभक्ति)

बोधोऽवधिः श्रुतमशेषनिरूपितार्थमन्तर्बहिःकरणजा सहजा मतिस्ते ।
इत्थं स्वतः सकलवस्तुविवेकबुद्धेः का स्याज्जिनेन्द्र भवतः परतो व्यपेक्षा । ४६९
ध्यानावलोकतिमिरप्रताने तां देव केवलमयीं श्रियमादधाने ।
आसीत्त्वयि त्रिभुवनं मुहुरुत्सवाय व्यापारमन्थरमिवैकपुरं महाय ॥ ४७०
छत्रं दधामि किमु चामरमुत्क्षिपामि हेमाम्बुजान्यथ जिनस्य पदेऽर्पयामि ।
इत्थं मुदामरपतिः स्वयमेव यत्र सेवापरः परमहं किमु वच्मि तत्र ॥ ४७१
त्वं सर्वदोषरहितः सुनय वचस्ते सत्त्वानुकम्पनपरः सकलो विधिश्च ।
लोकस्तथापि यदि तुष्यति न त्वयीश कर्मास्य तन्ननु रवाविव कौशिकस्य ॥ ४७२

करनेवाले, स्वर्ग और मोक्ष नगरका मार्ग बतलानेवाले तथा तीनों लोकोके लिए मगलकारक जैन आगमको सदा नमस्कार करता हूँ ॥४६५॥ (इस प्रकार ज्ञानकी भक्ति करके फिर चारित्रकी भक्ति करे—) जिसके बिना अभागे मनुष्यके शरीरमे पहनाये गये भूषणोकी तरह ज्ञान खेदका ही कारण होता हैं, तथा सम्यक्त्व रत्नरूपी वृक्ष ज्ञानरूपी फलकी शोभाको ठीक रीतिसे धारण नही करता और जिसके न होनेसे बडे-बडे तपस्वी भ्रष्ट हो गये, हे देव! सयम, इन्द्रियनिग्रह और ध्यान आदिके आवास उस तुम्हारे चारित्रको मैं नमस्कार करता हूँ ॥४६६॥ जो इच्छित वस्तुओको देनेके लिए चिन्तामणि है, सौन्दर्य और सौभाग्यका घर है, मोक्ष रूपी लक्ष्मीके पाणिग्रहणके लिए कंकण-बन्धन है और कुल, बल और आरोग्यका सगम स्थान है अर्थात् तीनोके होनेपर ही चारित्र धारण करना सभव होता है, और पूर्वकालीन योगियोने मोक्षके लिए जिसे धारण किया था, स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिके लिए उस पाँच प्रकारके चारित्रको मै नमस्कार करता हूँ ॥४६७॥ जिसका मन जैनाचारसे पवित्र है, स्वर्गके सुख उनके हाथमे है, चक्रवर्तीकी विभूतियाँ अकस्मात् उसे प्राप्त हो जाती है, देवता उसके पैरोपर लोटते है, जिस दिशामे वह जाता है वही दिशा उसके मनोरथको पूर्ण करती है और जहाँ वह जन्म लेता है उसके जन्म लेनेसे पहिलेसे ही वहाँ कल्याणक उत्सव मनाये जाते है ॥४६८॥ (इस प्रकार चारित्र भक्ति को करके फिर अर्हन्त भक्तिको करे) हे जिनेन्द्र आपको जन्मसे ही अन्तरग और बहिरग इन्द्रियोसे होनेवाला मतिज्ञान, समस्त कथित वस्तुओको विषय करनेवाला श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है, इस प्रकार आपको स्वत ही सकल वस्तुओका ज्ञान है तब परकी सहायताकी आपको आवश्यकता ही क्या है? ॥४६ ॥ हे देव! ध्यानरूपी प्रकाश-के द्वारा अज्ञानरूपी अन्धकारका फैलाव दूर होनेपर जब आपने केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीको धारण किया तो तीनो लोकोने अपना काम छोडकर एक नगरकी तरह महान् उत्सव किया ॥४७०॥ 'छत्र लगाऊँ या चमर ढोरूँ, अथवा जिनदेवके चरणोमे स्वर्णकमल अर्पित करूँ' इस प्रकार जहाँ इन्द्र स्वय ही हर्षित होकर सेवाके लिए तत्पर है वहाँ मै क्या कहूँ ॥४७१॥ हे देव! तुम सब दोषों-

पुष्प त्वदीयचरणार्चनपीठसङ्गाच्चूडामणीभवति देव जगत्त्रयस्य ।
अस्पृश्यमन्यशिरसि स्थितमप्यतस्ते को नाम साम्यमनुशास्तु रवीश्वराद्यैः ॥ ४७३
मिथ्यामहान्धतमसावृतमप्रबोधमेतत्पुरा जगदभूद्भवगर्तपाति ।
तद्देव दृष्टिहृदयाब्जविकासकान्तैः स्याद्वादरश्मिभिरथोद्धृतदांस्त्वमेव ॥ ४७४
पादाम्बुजद्वयमिदं तव देव यस्य स्वच्छे मन सरसि संनिहितं समास्ते ।
तं श्री. स्वयं भजति तं नियत वृणीते स्वर्गापवर्गजननी च सरस्वतीयम् ॥ ४७५

(इत्यर्हद्भक्तिः)

सम्यग्ज्ञानत्रयेणप्रविदितनिखिलज्ञेयतत्त्वप्रपञ्चा प्रोध्दूय ध्यानवाते सकलमघरजःप्राप्तकैवल्यरूपा।
कृत्वा सत्त्वोपकारत्रिभुवनपतिभिर्दत्तयात्रोत्सवा ये ते सिद्धा सन्तु लोकत्रयशिखरपुरीवासिनः सिद्धये वः ॥ ४७६

दानज्ञानचरित्रसंयमनयप्रारम्भगर्भं मन. कृत्वान्तर्बहिरिन्द्रियाणि मरुत संयम्य पञ्चापि च ।
पश्चाद्गीतविकल्पजालमखिल भ्रश्यत्तम सर्तात ध्यानं तत्प्रविधाय ये च मुमुचुस्तेभ्योऽपि बद्धोऽञ्जलिः ॥ ४७७

से रहित हो, तुम्हारे वचन सुनयरूप है–किसी वस्तुके विषयमे इतर दृष्टिकोणोका निराकरण न करके विवक्षित दृष्टिकोणसे वस्तुका प्रतिपादन करते है तथा तुम्हारे द्वारा बतलायी गयी सब विधि प्राणियोके प्रति दयाभावसे पूर्ण है । फिर भी लोक यदि तुमसे सन्तुष्ट नही होते तो इसका कारण उनका कर्म है । जैसे उल्लूको सूर्यका तेज पसन्द नही है किन्तु इसमे सूर्यका दोष नही है बल्कि उल्लूके ही कर्मोका दोष है ॥४७२॥ हे देव! तुम्हारे चरणोकी पूजाके पादपीठ ससर्ग-मात्रसे फूल तीनो लोकोके मस्तकका भूषण बन जाता है अर्थात् उस फूलको सब अपने सिरसे लगाते है । और दूसरोके सिरपर भी रखा हुआ फूल अस्पृश्य माना जाता है । अत अन्य सूर्य रुद्रआदि देवताओसे तुम्हारी क्या समानता की जावे ।॥४७३॥ हे देव! पहले मिथ्यात्वरूपी गाढ अन्धकारसे आच्छादित होनेके कारण ज्ञानशून्य होकर यह जगत् ससाररूपी गढेमे पडा हुआ था । उसका नेत्र-कमल और हृदय-कमलको विकसित करनेवाली स्याद्वादरूपी किरणोके द्वारा तुमने ही उद्धार किया है ॥४७४॥ हे देव! जिसके मनरूपी स्वच्छ सरोवरमे तुम्हारे दोनो चरणकमल विराजमान है उसके पास लक्ष्मी स्वय आती है तथा स्वर्ग और मोक्षको यह सरस्वती नियमसे उसे वरण करती है ॥४७५॥ (इस प्रकार अर्हद्भक्तिको करके सिद्ध भक्ति को करे) जिन्होने अपनी छद्मस्थ अवस्थामे मति, श्रुत और अवधिज्ञानके द्वारा सब ज्ञेय तत्त्वोको विस्तारसे जाना, फिर ध्यानरूपी वायुके द्वारा समस्त पापरूपी धूलिको उडाकर केवलज्ञान प्राप्त किया, फिरइन्द्रादिकके द्वारा किये गये बडे उत्सवके साथ सर्वत्र विहार करके जीवोका उपकार किया, तीनो लोकोके ऊपर विराजमान वे सिद्ध परमेष्ठी हम सबकी सिद्धिमे सहायक हो ॥४७६॥ मनको दान, ज्ञान, चारित्र सयम आदिसे युक्त करके और अन्तरग तथा बहिरग इन्द्रियो और प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पाँचो वायुओका निरोध करके फिर अज्ञानरूपी अन्धकारकी परम्पराको नष्ट करनेवाले निर्विकल्प ध्यानको करके जो मुक्त हुए उन्हे भी मै हाथ जोडता हूँ॥४७७॥ **भावार्थ**-पहले जो तीर्थङ्कर होकर सिद्ध हुए नमस्कार किया है । इसमे जो सामान्य जन सिद्ध हुए

चित्ते चित्ते विशति करणेष्वन्तरात्मस्थितेषु स्रोतस्यूते बहिरखिलतो व्याप्तिशून्ये च पुंसि।
येषां ज्योतिः किमपि परमानन्दसदर्भगर्भ-जन्मच्छेदि प्रभवति फलैस्तेषु कुर्मः सपर्याम् ॥ ४९०

वाग्देवतावर इवायमुपासकानामागामितत्फलविधाविव पुण्यपुञ्ज.।
लक्ष्मीकटाक्षमधुपागमनैकहेतु पुष्पाञ्जलिर्भवतु तच्चरणार्चनेन ॥ ४९१

(इत्याचार्यभक्ति)

इदानीं ये कृतप्रतिमापरिग्रहास्तान्प्रति स्नपनार्चनस्तवजपध्यानश्रुतदेवताराधनविधीन् पट प्रोदाहरिष्यामः। तथा हि–

श्रीकेतनं वाग्वनितानिवासं पुण्यार्जनक्षेत्रमुपासकानाम्।
स्वर्गापवर्गागमनैकहेतुं जिनाभिषेकाश्रयमाश्रयामि ॥ ४९२ ॥

भावामृतेन मनसि प्रतिलब्धशुद्धिः पुण्यामृतेन च तनौ नितरां पवित्रः।
श्रीमण्डपे विविधवस्तुविभूषिताया वेद्यां जिनस्य सवनं विधिवत्तनोमि ॥ ४९३

उदङ्मुख स्वयं तिष्ठेत्प्राङ्मुखं स्थापयेज्जिनम्। पूजाक्षणे भवेन्नित्यं यमी वाचंयमक्रियः ॥ ४९४
प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना संनिधापनम्। पूजा पूजाफलं चेति षड्विध देवसेवनम् ॥४९५॥

यः श्रीजन्मपयोनिधिर्मनसि च ध्यायन्ति यं योगिनो
येनेदं भुवन सनाथममरा यस्मै नमस्कुर्वते।
यस्मात्प्रादुरभूच्छ्रुतिः सुकृतिनो यस्य प्रसादाज्जना
यस्मिन्नैष भवाश्रयो व्यतिकरस्तस्यारभे स्नापनाम् ॥ ४९६ ॥

समान जिन आचार्योका ज्ञानरूपी समुद्र हर्षरूपी जलके द्वारा आत्मारूपी स्थानमे समाता नही है, इस समस्त लोककी ऐश्वर्य लक्ष्मीको प्राप्त करके भी जिनका चित्त निरीह है,उनकी पूजामे अर्पित की गयी धूप हमारे कल्याणके लिए हो ॥४८९॥ चित्तके चित्तमे और इन्द्रियोके अन्तरात्मामे लीन हो जानेपर तथा इन्द्रियोके पुज स्वरूप पुरुषके समस्त बाह्य पदार्थोसे निर्विकल्प हो जाने पर जिनकी परमानन्दमयी कोई एक अनिर्वचनीय ज्योति जन्म-परम्पराका छेदन करनेमे समर्थ होती है उनकी हम फलोसे पूजा करते है ।४९०॥ सरस्वती देवीके वरके समान और भविष्यमे प्राप्त होनेवाले फलके लिए पुण्य समूहके समान यह पुष्पाञ्जलि आचार्यचरणोका पूजन करनेसे श्रावकोकी लक्ष्मीके कटाक्षरूपी भ्रमरोके आगमनका कारण हो ।.४९१॥ (इस प्रकार आचार्य भक्ति समाप्त हुई)अब जो प्रतिमामे स्थापना करके पूजन करते है उनके लिए अभिषेक, पूजन, स्तवन, जप, ध्यान और श्रुतदेवताका आराधन इन छह विधियोंको बतलाते है—मै जिनभगवान्का अभिपेक करनेके लिए जिनविम्बका सहारा लेता हूँ । जो जिनविम्ब लक्ष्मीका घर है, सरस्वती देवीका निवास स्थान है,गृहस्थोके पुण्य कमानेका क्षेत्र है और स्वर्ग तथा मोक्षको लानेका प्रमुख कारण है ॥४९२॥ शुभ भावरूपी जलसे मेरा मन शुद्ध है और पवित्र जलसे मेरा शरीर शुद्ध है अर्थात् मैने शुद्ध जलसे स्नान किया है और मेरे मनमे शुभ भाव है। मै श्रीमण्डपमे अनेक वस्तुओमे विभूपित वेदीपर विधिपूर्वक जिन भगवान्का अभिपेक करता हूँ ॥४९३॥ ऐसी प्रतिज्ञा करके स्वय उत्तर दिशाकी ओर मुह करके खडा हो और जिनविम्बका मुख पूर्व दिशाकी ओर करके उनकी स्थापना करे। तथा पूजाके समय सदा अपने मन, वचन कायको स्थिर रखे ॥४९४॥ देवपूजनके छह प्रकार है—प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजाका फल ॥४९५॥ पहले प्रस्तावनाको कहते है—जो लक्ष्मीके लिए सागरके समान है, योगीजन

वीतोपलेपवपुषो न मलानुषङ्गस्त्रैलोक्यपूज्यचरणस्य कुत परोऽर्घ्यं ।
मोक्षामृते धृतधियस्तव नैव कामः स्नानं ततः कमुपकारमिद करोतु ।। ४९७
तथापि स्वस्य पुण्यार्थं प्रस्तुवेऽभिषवं तव । को नाम सूपकारार्थं फलार्थी विहितोद्यमः ।। ४९८
(इति प्रस्तावना)

रत्नाम्बुभिः कुशकृशानुभिरात्तशुद्धौ भूमौ भुजङ्गमपतीनमृतैरुपास्य ।
कुर्म प्रजापतिनिकेतनदिङ्मुखानि दूर्वाक्षतप्रसवदर्भविदर्भितानि ।।४९९।।
पाथ पूर्णान्कुम्भान्कोणेषु सुपल्लवप्रसूनार्चान् । दुग्धाब्धीनिव विदधे प्रवालमुक्तोल्बणांश्चतुर ।।५००
(इति पुराकर्म)

यस्य स्थान त्रिभुवनशिर शेखराग्रे निसर्गात्तस्यामर्त्यक्षितिभृति भवेन्नाद्भुतं स्नानपीठम् ।
लोकानन्दामृतजलनिधेर्वारि चैतत्सुधात्वं धत्ते यत्ते सवनसमये तत्र चित्रीयते क ।। ५०१
तीर्थोदकैर्मणिसुवर्णघटोपनीतै पीठे पवित्रवपुषि प्रविकल्पितार्घे ।
लक्ष्मीश्रुतागमनबीजविदर्भगर्भ संस्थापयामि भुवनाधिपतिं जिनेन्द्रम् ।। ५०२
(इति स्थापना)

मनमे जिसका ध्यान करते है,जिसके द्वारा यह लोक सनाथ है, जिसे देवतागण नमस्कार करते है, जिससे श्रुत (आगम)का प्रादुर्भाव हुआ है,जिसके,प्रसादसे मनुष्य पुण्यशाली होते है, तथा जिसमे ये सासारिक दु ख सुखादि नही है उस जिनेन्द्रके अभिषेकको मै प्रारम्भ करता हूँ ।।४९६।। हे जिनेन्द्र! शारीरिक मलसे रहित होनेके कारण आपका मैलसे कोई सम्बन्ध नही है,आपके चरण तीनो लोकोके द्वारा पूज्य है, अत दूसरा उससे भी उत्कृष्ट कैसे हो सकता है? आपका मन मोक्ष-रूपी अमृतके पानमे निमग्न है अत आप कामसे भी दूर है, अत यह स्नान आपका क्या उपकार कर सकता है? अर्थात् स्नान या अभिषेकके तीन प्रयोजन हो सकते है, शारीरिक मलको दूर करना, जलार्चनके द्वारा पूज्यताका समावेश तथा गार्हस्थिक कामादि सेवनगत दोषोकी विशुद्धि। किन्तु जिनेन्द्र देवका परम औदारिक शरीर मल रहित होता है,वे कामादिका भी सेवन नही करते है तथा तीनो लोक उनकी पूजा करते है अतः जल स्नानसे उन्हे कोई प्रयोजन नही रहता ।।४९७।। फिर भी मै अपने पुण्यसचयके लिए आपके अभिषेकको आरम्भ करता हूँ। क्योकि ऐसा कौन फलार्थी–फलका इच्छुक है जो सम्यक् उपकारके लिए प्रयत्न न करना चाहता हो ।।४९८।। (इस प्रकार प्रस्तावना कर्म समाप्त हुआ। आगे पुराकर्मको कहते है) रत्न सहित जलसे तथा कुश और अग्निसे शुद्ध की गयी भूमिमे दुग्धसे नागेन्द्रोको सतृप्त करके पूर्वादि दश दिशाओको दूर्वा, अक्षत,पुष्प और कुशसे युक्त करता हूँ ।।४९९।। वेदीके चारो कोनोमे पल्लव और फूलोसे सुशो-भित, जलसे भरे हुए चार घटोको स्थापित करता हूँ, जो मूगे और मोतीसे युक्त होनेके कारण क्षीरसमुद्रके समान हैं ।।५००।। जिस जिनेन्द्रका निवासस्थान स्वभावसे ही तीनो लोकोके मस्तकके ऊपर लोकके अग्रभागमे है (क्योकि प्रत्येक जीव स्वभावसे ऊर्ध्वगामी है अत. मुक्त होनेके पश्चात् लोकके अग्रभाग तक जाकर वही ठहर जाता है) अत यदि उसका अभिषेक सुमेरु पर्वत पर हो तो उसमे आश्चर्य ही क्या है? इसी प्रकार हे जिनेन्द्र! तुम्हारे अभिषेकके समय लोगोके आनन्दरूपी क्षीरसमुद्रका यह जल यदि अमृतपनेको प्राप्त होता है तो इसमे क्या आश्चर्य है ।।५०१।। मणिजडित सोनेके घटोसे लाये गये पवित्र जलसे जो शुद्ध किया गया है और फिर जिसे अर्घ दिया गया है तथा

सोऽयं जिनः सुरगिरिर्ननु पीठमेतदेतानि दुग्धजलधेः सलिलानि साक्षात् ।
इन्द्रस्त्वहं तव सवप्रतिकर्मयोगात्पूर्णा ततः कथमियं न महोत्सवश्रीः ॥ ५०३

(इति संनिधापनम्)

योगेऽस्मिन्नाकनाथ ज्वलन पितृपते नैगमेय प्रचेतो वायो रैदेश शेषोडुपसपरिजना यूयमेत्य ग्रहाग्रा ।
मन्त्रैर्भूः स्वः सुधाद्यैरधिगतबलय. स्वासु दिक्षूपविष्टा क्षेपीय. क्षेमदक्षाः कुरुत जिनसवोत्साहिनां विघ्नशान्तिम् ॥ ५०४

दैवेऽस्मिन्विहितार्चने निनदति प्रारब्धगीतध्वनावातोद्यै. स्तुतिपाठमङ्गलरवैश्चानन्दिनि प्राङ्गणे ।
मृत्स्नागोमयभूतिपिण्डहरितादर्भप्रसूनाक्षतैरम्भोभिश्च सचन्दनैर्जिनपतेर्नीराजनां प्रस्तुवे ॥ ५०५

पुण्यद्रुमश्चिरमयं नवपल्लवश्रीश्चेत· सरः प्रमदमन्दसरोजगर्भम् ।
वागापगा च मम दुस्तरतीरमार्गा स्नानामृतैर्जिनपतेस्त्रिजगत्प्रमोदै ॥ ५०६

द्राक्षाखर्जूरचोचेक्षुप्राचीनामलकोद्‌भवै. । राजादनाम्रपूगोत्थै· स्नापयामि जिन रसै. ॥ ५०७

आयु प्रजासु परमं भवतात्सदैव धर्मावबोधसुरभिश्चिरमस्तु भूप· ।
पुष्टिं विनेयजनता वितनोतु कामं हैयंगवीनसवनेन जिनेश्वरस्य ॥ ५०८

येषां कर्मभुजङ्गनिर्विषविधौ बुद्धिप्रबन्धो नृणां येषां जातिजरामृतिव्युपरमध्यानप्रपञ्चाग्रहः ।
येषामात्मविशुद्धबोधविभवालोके सतृष्णं मनस्तेधारोष्णपयः प्रवाहधवलं ध्यायन्तु जैनंवपु ॥५०९॥

जिसपर 'श्री ह्री' लिखा हुआ है, ऐसे सिंहासनपर तीनो लोकोके स्वामी जिनेन्द्रदेवकी मैं स्थापना करता हूँ ॥५०२॥ (यही स्थापना है । अब सन्निधापनको कहते है—) यह जिनबिम्ब ही साक्षात् जिनेन्द्रदेव हैं, यह सिंहासन सुमेरुपर्वत है, घटोमें भरा हुआ जल साक्षात् क्षीरसमुद्रका जल है और आपके अभिषेकके लिए इन्द्रका रूप धारण करनेके कारण मैं साक्षात् इन्द्र हूँ तब इस अभिषेक महोत्सवकी शोभा पूर्ण क्यो नही होगी। ॥५०३॥ इस अभिषेक महोत्सवमे हे कुशलकर्ता इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईश तथा शेष चन्द्रमा आदि आठ प्रमुख ग्रह अपने-अपने परिवारके साथ आकर और 'भू स्व आदि मन्त्रोके द्वारा बलि ग्रहण करके अपनी-अपनी दिशाओमें स्थित होकर शीघ्र ही जिन अभिषेकके लिए उत्साही पुरुषोके विघ्नोको शान्त करे ॥५०४॥ इस आनन्दपूरित आँगनमे, जो बाजो और स्तुति पाठकोके मागलिक शब्दोंसे गूंज रहा हैं तथा जिसमे गीतोकी ध्वनि हो रही है, मैं इस पूजित जिनबिम्बमे मिट्टी, गोबर, राख, दूर्वा, कुश, फूल, अक्षत, जल तथा चन्दनसे जिनभगवान्‌की नीराजना (आरती) करता हूँ ॥५०५॥ जिनभगवान्‌के तीनो लोकोको हर्षित करनेवाले स्नानजलसे मेरा यह पुण्यरूपी वृक्ष चिरकाल तक नये पल्लवोंकी शोभाको धारण करे, चित्तरूपी तालाबमें हर्षरूपी कमल विकसित हो और मेरी वाणीरूपी नदीके तटका मार्ग दुस्तर हो—इसे कोई पार न कर सके ॥५०६॥ मैं दाख, खजूर, नारियल, ईख, प्राचीन आमलक (आँवला नामक फल) केला आम तथा सुपारीके रसोंसे जिनभगवान्‌का अभिषेक करता हूँ ॥५०७॥ जिनदेवके घृताभिषेकसे सदैव प्रजा दीर्घजीवी हो राजा धर्मके ज्ञानसे सुवासित हो और भव्यजन खूब पुष्टिको प्राप्त हो ॥५०८॥ जिन मनुष्योंकी बुद्धिका विलास कर्मरूपी सर्पोंको निर्विष करनेमें सक्षम है, जिन मनुष्योंको जन्म, जरा, मरण दूर करनेवाले ध्यानके विस्तारका आग्रह है तथा जिनका मन आत्माके विशद ज्ञानरूपी वैभवसे

जन्मस्नेहच्छिदपि जगत· स्नेहहेतुर्निसर्गात्पुण्योपाये मृदुगुणमपि स्तब्ध लब्धात्मवृत्ति· ।
चेतोजाड्यं हरदपि दधि प्राप्तजाड्यस्तभाव जैनस्नानानुभवनविधौ मङ्गलं वस्तनोतु ।। ५१०
एलालवङ्गकङ्कोलमालयागरु मिश्रितैः । पिष्टैः कल्कै कषायैश्च जिनदेहमुपास्महे ।। ५११
नन्द्यावर्तस्वस्तिकफलप्रसूनाक्षत·म्बुकुशपूलै : अवतारयामि देवं जिनेश्वर वर्धमानैश्च ।। ५१२

मङ्गलविलक्ष्मीलतिकावनस्य प्रवर्धनावर्जितवारिपूरैं ।
जिन चतुर्भि· स्नपयामि कुम्भैर्नभ सदोधेनुपयोधराभै ।। ५१३

लक्ष्मीकल्पलते समुल्लसजनानन्दै पर पल्लवैर्धर्मारामफलैः प्रकामसुभगस्त्वं भव्यसेव्यो भव ।
क्रोधाधीश विमुञ्च सप्रति मुहुर्दुष्कर्मघर्मक्लमं त्रैलोक्यप्रमदावहैर्जिनपतेर्गन्धोदकैः स्नापनात्।।५१४
शुद्धैर्विशुद्धबोधस्य जिनेशस्योत्तरोदकै. । करोम्यवभृथस्नानमुत्तरोत्तरसंपदे ।। ५१५ ।।
अमृतकृतकर्णिकेऽस्मिन्निजाङ्कबीजे कलादले कमले । सस्थाप्य पूजयेय त्रिभुवनवरद जिन विधिना ।। ५१६
पुण्योपार्जनशरणं पुराणपुरुष स्तवोचिताचरणम् । पुरुहूतविहितसेव पुरुदेवं पूजयामि तोयेन ।। ५१७
मन्दमदमदनमनदमन्दरगिरिशिखरमज्जनावसरम । कन्दमुमालतिकायाश्चन्दनचर्चाचित जिनं कुर्वे ।। ५१८

देखनेके लिए लालायित हैं, वे धारोष्ण दूधके प्रवाहसे धवल हुए जिनेन्द्रदेवके शरीरका ध्यान करे ।५०९।। दही जगत् के जन्म स्नेहका छेद करनेवाला होनेपर भी स्वभावसे ही स्नेह (घी) का कारण है,पुण्यके साधनमे कोमलता युक्त होते हुए भी स्थिर होकर ही वह आत्मलाभ करता है, अर्थात् दही कोमल होता है और स्थिर होनेपर ही वह जमता है तथा चित्तकी जडताको हरनेवाला होते हुए भी स्वय जडस्वभाव या जलस्वभाव है, ऐसा दही जिन भगवान्की अभिषेक विधिमे आपका मगलकारक हो । ५१०।। इलायची, लौंग, कङ्कोल, चन्दन और अगुरु मिले हुए चूर्णसे और पकाकर तैयार किये गये काढेसे जिनदेवके शरीरकी उपासना करता हूँ ।।५११।। नन्द्यावर्तक, स्वस्तिक, फल, फूल अक्षत, जल और कुशसमूहसे तथा सकोरोसे जिनेश्वरदेवकी अवतारणा करता हूँ ।।५१२।। ऐसे जिनेन्द्र देवका मेरी भावी लक्ष्मीरूपी लताके वनको बढानेवाले जलके पूरसे युक्त तथा कामधेनुके स्तनोके तुल्य चार कलशोसे अभिषेक करता हूँ ।।५१३ । जिनभगवान्के तीनो लोकोको आनन्द देनेवाले गन्धोदकके सिञ्चनसे हे लक्ष्मीरूपी कल्पलते! तुम मनुष्योके आनन्द-रूपी पल्लवोसे उल्लासको प्राप्त होवो । हे धर्मरूपी उद्यान! तुम फलोसे अत्यन्त सुन्दर होकर भव्यजीवोके सेवनीय बनो । और हे ज्ञानवान् आत्मा! तुम अब दुष्कर्मरूपी घामके सन्तापको छोडो,अर्थात् बुरे कर्म करना छोड दो और बुरे कर्मोके फलसे मुक्त हो जाओ ।।५१४।। अधिकाधिक सम्पत्तिके लिए विशुद्ध ज्ञानी जिनेन्द्र भगवान्का तालाब आदिसे लाये गये शुद्ध जलसे मैं अन्तिम स्नान कराता हूँ ।। ५१५।। अमृत मयी कर्णिकावाले तथा अपने नामसे अकित बीजाक्षरोंसे सोलह पाखुडीके कमलपर तीनो लोकोको मनवाछित वर देनेवाले जिनेन्द्र भगवान्को विधिपूर्वक स्थापित करके पूजना चाहिए ।।५१६।। जो पुण्यके कमानेके लिए आश्रयभूत है, पुराण पुरुष हैं, जिनका आचरण स्तुतिके योग्य हैं, और इन्द्रने जिनकी सेवा की थी, उन प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथकी मैं जलसे पूजा करता हूँ ।।५१७।। जो अत्यधिक मदशाली कामका दमन करनेवाले हैं,सुमेरु पर्वतके शिखरपर जिनका अभिषेक हुआ है तथा जो यशरूपी वेलकी जड हैं उन जिनदेवकी चन्दनसे पूजा करता हूँ ।।५१८।। दोषरूपी वृक्षोके जङ्गलको जलानेवाले, उत्तम सुखकी उत्पत्तिके लिए मोक्षके समान तथा आगमरूपी दीपकके प्रकाशक जिनेन्द्रदेवकी सुगन्धित

अवमतरुगहनदहनं निकाससुखसंभवामृतस्थानम् ।
आगमदीपालोकं कलमभवैस्तन्दुलैर्भजामि जिनम् ॥ ५१९

स्मररस विमुक्तसूक्ति विज्ञानसमुद्रमुद्रिताशेषम्।श्रीमानसकलहंसकुसुमशरैरर्चयामिजिननाथम्॥५२

अर्हन्तममितनीतिं निरञ्जनं मिहिरमाधिदावाग्नेः ।
आराधयामि हविषा मुक्तिस्त्रीरमितमानसमनङ्गम् ॥ ५२१

भक्त्यानतामराशयकमलवनारालतिमिरमार्तण्डम् ।
जिनमुपचरामि दीपै. सकलसुखारामकामदमकामम् । ५२२

अनुपमकेवलवपुष सकलकलाविलयवृत्तिरूपस्थम् ।
योगावगम्यनिलयं यजामहे निखिलग जिनं धूपैः ॥ ५२३

स्वर्गापवर्गसगतिविधायिनं व्यस्तजातिमृतिदोषम् ।
व्योमचरामरपतिभि स्मृतं फलैर्जिनपतिमुपासे ॥ ५२४

अम्भश्चन्दनतन्दुलोद्गमहविर्दीपैः सधूपं फलै-
र्चित्वात्रिजगद्गुरुं जिनपतिं स्नानोत्सवानन्तरम् ।
तंस्तौमिप्रजपामि चेतसि दधे कुर्वे श्रुताराधनं
त्रैलोक्यप्रभवं च तन्महमहं कालत्रये श्रद्दधे ॥ ५२५

यज्ञैर्मुदावमृथभाग्भिरुपास्य देवं पुष्पाञ्जलिप्रकरपूरितपादपीठम् ।
श्वेतातपत्रचमरीरुहदर्पणाद्यैराराधयामि पुनरेनमिनं जिनानाम् ॥ ५२६ (इति पूजा)

तन्दुलोंसे पूजन करता हूँ ॥५१९॥ जिनकी सूक्तियाँ शृंगार रससे रहित है,जिन्होने अपने ज्ञानरूपी समुद्रसे सबको आच्छादित किया हैं और जो लक्ष्मीरूपी मानसरोवरके राजहस है, उन जिनेन्द्र-देवकी पुष्पोंसे पूजा करता हूँ ॥५२०॥ अनन्तज्ञानशाली, निर्विकार, दुरागारूपी दावाग्नि (जङ्गलकी आग) के लिए मेघके समान,निराकार तथा जिनका मन मुक्तिरूपी स्त्रीमें लीन है उन अर्हन्त देवकी नैवेद्यसे पूजा करता हूँ ॥५२१॥ भक्तिसे विनम्र हुए देवोके चित्तरूपी कमल-वनका घोर अन्धकार दूर करनेके लिए जो सूर्यके समान है, और समस्त सुखोके लिये उद्यानरूप तथा मनोरथको पूर्ण करनेवाले है उन कामरहित जिनेन्द्रदेवकी दीपोसे पूजा करता हूँ ॥५२२॥ अनुपम केवलज्ञान ही जिनका शरीर है, समस्त भाव कर्मोका विनाश हो जानेपर जो रूप रहता है उसी रूपमे जो स्थित है,जिनके स्थानको योगके द्वारा जाना जा सकता है और जो केवलज्ञानके द्वारा सर्वत्र व्यापक है,उन जिनदेवकी मै धूपसे पूजा करता हूँ ॥५२३॥ जो स्वर्ग और मोक्षका दाता है,जन्म-मरणरूपी दोषोसे रहित है, और विद्याधरों तथा देवोके स्वामी जिनको स्मरण करते है उन जिनेन्द्रदेवकी फलोसे पूजा करता हूँ ॥५२४॥ अभिषेक समारोपके पश्चात् तीनो लोकोके गुरु जिनेन्द्र-देवकी जल,चन्दन,अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोसे पूजा करके मै उनका स्तवन करता हूँ, उन्हे चित्तमे धारण करता हूँ उनका नाम जपता हूँ शास्त्र की आराधना करता हूँ और तीनो लोकोसे उत्पन्न हुए उनके ज्ञानरूपी तेजकी मै तीनो कालोमे श्रद्धा करता हूँ ॥५२५॥ भावार्थ—अभिषेकके पश्चात् अष्टद्रव्यसे जिनेन्द्रदेव का पूजन करना चाहिए। तथा पूजनके पश्चात् उनका स्तवन, उनके नामका जप, ध्यान तथा शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिए। पुष्पाञ्जलि के समूहसे जिनका पादपीठ—चरणो के रखने का स्थान-भरा हुआ है उन जिनेन्द्र

भक्तिर्नित्यं जिनचरणयोः सर्वसत्वेषु मैत्री सर्वातिथ्ये मम विभवधीर्बुद्धिरध्यात्मतत्त्वे ।
सद्विद्येषु प्रणयपरता चित्तवृत्तिः परार्थे भूयादेतद्भवति भगवन्धाम यावत्त्वदीयम् ॥ ५२८
प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजनेन मध्यान्हसन्निधिरयं मुनिमाननेन ।
सायन्तनोऽपि समयो मम देव यायान्नित्यं त्वदाचरणकीर्तनकामितेन ॥ ५२९
धर्मेषु धर्मनिरतात्मसु धर्महेतौ धर्मादवाप्तमहिमास्तु नृपोऽनुकूलः ।
नित्यं जिनेन्द्रचरणार्चनपुण्यधन्याः कामं प्रजाश्च परमां श्रियमाप्नुवन्तु ॥ ५३०
(इति पूजाफलम्)

आलस्याद्वपुषो हृषीकहरणैर्व्याक्षेपतो वात्मन–
श्चापल्यान्मनसो मतेर्जडतया मान्द्येन वाक्सौष्ठवे ।
यः कश्चित्तव संस्तवेषु समभूदेष प्रमादः स मे
मिथ्यास्तान्ननु देवताः प्रणयिनां तुष्यन्ति भक्त्या यतः ॥ ५३१
देवपूजामनिर्माय मुनीननुपचर्य च ।
यो भुञ्जीत गृहस्थ. सन् स भुञ्जीत परं तमः ॥ ५३२
नमदमरमौलिमण्डलविलग्नरत्नांशुनिकरगगनेऽस्मिन् ।
अरुणायतेऽङ्घ्रियुगलं यस्य स जीयाज्जिनो देवः ॥ ५३३

देवकी अभिषेक पूर्वक पूजा से सहर्ष उपासना कर के मैं पुन उनको श्वेतछत्र, चमर दर्पण आदि मांगलिक द्रव्योसे आराधना करता हूँ। ५२७॥ (इस प्रकार पूजा समाप्त हुई। आगे पूजाका फल बतलाते है–) हे भगवन्! जबतक आपका परम पदरूप स्थान प्राप्त हो, तबतक सदा आपके चरणोमें मेरी भक्ति रहे, सब प्राणियोमे मेरा मैत्रीभाव रहे, मेरी ऐश्वर्यरत मति सबका आतिथ्य सत्कार करनेमें संलग्न हो, मेरी बुद्धि अध्यात्म तत्त्वमें लीन रहे,ज्ञानीजनोसे मेरा स्नेह भाव रहे और मेरी चित्तवृत्ति सदा परोपकारमे लगी रहे ॥५२८॥ हे देव! प्रात.कालीन विधि आपके चरण-कमलोकी पूजासे सम्पन्न हो, मध्यान्ह कालका समागम मुनियोके आतिथ्य सत्कारमें बीते, तथा सायकालका भी समय आपके चारित्रके कथन कामनामे व्यतीत हो। ५२९॥ धर्मके प्रभावसे राज्यपदको प्राप्त हुआ राजा धर्मके विषयमें,धार्मिकोके विषयमे और धर्मके हेतु चैत्यालय आदिके विषयमे सदा अनुकूल रहे-उनका अहित न करके सरक्षण करे। तथा प्रतिदिन जिनेन्द्रदेवके चरणोकी पूजासे प्राप्त हुए पुण्यसे धन्य हुई जनता यथेच्छ उत्कृष्ट लक्ष्मीको प्राप्त करे।॥५३०॥ शरीरके आलस्यसे या इन्द्रियोके इधर-उधर लग जानेसे अथवा आत्माकी अन्यमनस्कतासे अथवा मनकी चपलतासे अथवा बुद्धिकी जडतासे अथवा वाणीमे सौष्ठव(शुद्ध स्पष्ट उच्चारण) की कमीके कारण आपके स्तवनमे मुझसे जो कुछ प्रमाद हुआ है,वह मिथ्या हो। क्योकि देवता तो अपने प्रेमियोको भक्तिसे सन्तुष्ट होते हैं ।॥५३१॥ जो गृहस्थ होते हुए भी देवपूजा किये विना तथा मुनियोकी सेवा किये विना भोजन करता है, वह महापापको खाता है ॥५३२॥ (पूजनके पश्चात् जिन भगवान्की स्तुति करना चाहिए। अत: स्तुति करते है–) नमस्कार करते हुए देवोके मुकुटोके समूहमे लगे हुए रत्नोंकी किरणोके समूहरूपी इस आकाशमे जिनके चरणयुगल सन्ध्याकी लालीकी तरह प्रतीत होते है वे जिनदेव

विज्ञानप्रमुखाः सन्ति विमुचि न गुणाः किल यस्य नयोऽत्र वाचि।
तस्यैव पुमानपि नैव तत्र बाह्यद्दहनः क इहापरोऽत्र ॥ ५४८
धरणीधरधरणिप्रभृति सृजति ननु निपगृहादि गिरीशः करोति।
चित्रं तथापि यत्तद्वचांसि लोकेषु भवन्ति महायशांसि ॥ ५४९
पुरुषत्रयमबलासक्तमूर्त्ति तस्मात्परस्तु गतकायकीर्ति.।
एवं सति नाथ कथं हि सूत्रमाभाति हिताहितविषयमत्र ॥ ५५०
सोऽहं योऽभूवं बालवयसि निश्चिन्वन्क्षणिकमतं जहासि।
सन्तानोऽप्यत्र न वासनापि यद्यन्वयभावस्तेन नापि ॥ ५५१

नही मानता। उसके मतसे ज्ञान जड प्रकृतिका धर्म हैं। इसीसे मुक्तावस्थामे चैतन्यके रहनेपर भी वह ज्ञानका अस्तित्व नही मानता। इसी वातको लेकर ऊपर ग्रन्थकारने साख्यमतकी आलोचना की है। चार्वाकगुरु बृहस्पति पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु तत्त्वसे ज्ञान बतलाता है किन्तु उनसे विरुद्ध धर्मवाले आत्मामे ज्ञान नही बतलाता। यह उस चार्वाकका महत्पाप है ॥५४७॥ भावार्थ –चार्वाक आत्मा नही मानता। उसका मत है कि पृथिवी जल आदि भूतोके मिलनेसे एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसे लोग आत्मा कहते है और शरीरके नष्ट होनेपर उसके साथ हीवह शक्ति भी नष्ट हो जाती है। किन्तु पञ्चभूत और आत्माका स्वभाव बिलकुल अलग है. ऐसा नियम हैं कि जो जिससे उत्पन्न होता है उसके गुण उसमे पाये जाते है,मगर पञ्चभूतोका एक भी गुण आत्मामें नहीं पाया जाता और जो गुण आत्मामे पाये जाते है उनकी गन्ध भी पञ्चभूतोमे नही मिलती है। फिर भी ज्ञानको आत्माका गुण नही मानता और उसे पञ्चभूतका कार्य बतलाता हैं। उसका कथन ठीक नही है। जिस साख्यका यह सिद्धान्त है कि मुक्त आत्मामे ज्ञानादिक गुण नही है उसके मतमे आत्मा भी नहीठहरता, क्योकिजैसे विना उष्णगुणके अग्नि नही रह सकती वैसे ही ज्ञानादिक गुणोके बिना आत्मा भी नही रह सकता ॥५४८। (इस प्रकार साख्य मतकी आलोचना करके ईश्वरकी आलोचना करते है–) महेश्वर पृथ्वी, पर्वत आदि को तो बनाता है किन्तु मकान,घट आदि को नही बनाता। आश्चर्य हैं फिर भी उसके वचन लोकमे प्रसिद्ध हो रहे है ॥५४९॥ भावार्थ–आशय यह है कि यदि ईश्वर पृथ्वी, पर्वत आदि को बना सकता है तो घट,पट आदि को भी बना सकता है फिर उसके लिए कुम्हार और जुलाहे आदि की जरूरत नहीं होनी चाहिए। जैसे उसने मनुष्योके लिए पृथ्वी आदि की सृष्टि की, वैसे ही वह इन चीजोको क्यो नही बना देता। इससे मालूम होता है कि जगत्का कोई रचयिता नही है, आश्चर्य है कि फिर भी मनुष्य उसकी बातको माने जाते है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश तो तिलोत्तमा,लक्ष्मी और गौरीमे आसक्त है तथा जो परम शिव है वह कायरहित हैं। हे नाथ! ऐसी स्थितिमे उनसे हित और अहितको बतलानेवाले सूत्रोका उद्गम कैसे हो सकता है।.५५०॥ (इस प्रकार वैदिक मतकी आलोचना करके बौद्ध मतकी आलोचना करते है–) जो मैं बचपनमे था वही मैं हू ऐसा निश्चय करनेसे क्षणिक मत नही ठहरता। यदि कहा जाये कि सन्तान या वासनासे ऐसी प्रतीति होती है कि मैं वही हूँ तो न तो सन्तान ही बनती है और न वासना ही सिद्ध होती है। यदि ऐसा मानते हो कि पूर्व क्षणका उत्तर क्षणमें अन्वय पाया जाता है तो आत्माको ही क्यो नही मान लेते। तथा इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाला निर्विकल्प ज्ञान तो विचारक नही है और जो सविकल्प

चित्त न विचारकमक्षजनितमखिलं सविकल्पं स्वांशपतितम् ।
उदितानि वस्तु नैव स्पृशन्ति शाक्याः कथमात्महितान्युशन्ति ॥ ५५२
अद्वैतं तत्त्व वदति कोऽपि सुधियां धियमातनुते न सोऽपि ।
यत्पक्षहेतुदृष्टान्तवचनसस्थाः कुतोऽत्र शिवशर्मसदन ।। ५५३
हेतावनेकधर्मप्रवृद्धिराख्याति जिनेश्वरतत्त्वसिद्धिम् ।
अन्यत्पुनरखिलमतिव्यतीतमुद्भाति सर्वमुरुनयनिकेत ॥ ५५४
मनुजत्वपूर्वनयनायकस्य भवतो भवतोऽपि गुणोत्तमस्य ।
ये द्वेषकलुषधिषणा भवन्ति ते जडजं मौक्तिकमपि रहन्ति ॥ ५५५

ज्ञान है वह निर्विकल्पके द्वारा गृहीत वस्तुमे ही प्रवृत्ति करता है। तथा वचन वस्तुको नही कहते। ऐसी स्थितिमे बौद्ध मतानुयायी कैसे आत्महितका कथन करते है ॥ ५५ -५५२ ॥ भावार्थ–बौद्ध क्षणिकवादी है। उनके मतसे प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षणमे नष्ट होती है। किन्तु वस्तुके प्रथम क्षणके नाश हो जानेपर दूसरा क्षण और दूसरे क्षणके नष्ट हो जानेपर तीसरा क्षण उत्पन्न होता रहता है और इस तरहसे क्षण सन्तान चलती रहती है, ऐसा वे मानते हैं। किन्तु यदि वस्तुके पूर्व क्षण और उत्तर क्षणमे एकत्व नही माना जाता है तो वह सन्तान बन नही सकती और यदि एकत्व माना जाता है तो वस्तु स्थायी सिद्ध हो जाती है। उसी एकत्वके कारण बडे होनेपर भी हमें बचपनकी बातोकी स्मृति रहती है और हममे से प्रत्येक यह अनुभव करता है कि जो मै बच्चा था वही मै अब युवा या वृद्ध हूँ। यह तो हुई बौद्धके क्षणिकवादकी आलोचना। बौद्ध ज्ञानको निर्विकल्पक मानता है और उसे ही वस्तुग्राही कहता है। तथा निर्विकल्पकके बाद जो सविकल्पक ज्ञान होता है उसे अवस्तुग्राही कहता है। निर्विकल्पकका विषय क्षणिक निरश वस्तुहै जो बौद्धकी दृष्टिसे वास्तविक है और सविकल्पक स्थिर स्थूलाकार वस्तुको ग्रहण करता है जोउसकी दृष्टिसे अवास्तविक है। चूकि शब्द भी स्थिर स्थूलाकार वस्तुका ही कहता है, निरश वस्तुको वह कह ही नही सकता। अत बौद्ध शब्दको भी अवस्तुग्राही मानता है, इसीलिए बौद्धमतमे शब्दको प्रमाण नही माना गया। ऐसी स्थितिमे जब निर्विकल्पक और सविकल्पक अविचारक हैं और शब्द वस्तुग्राही नही है तब बौद्ध मतमे हिताहितका विचार और उपदेश कैसे सम्भव हो सकता है ?

(अब अद्वैतवादकी आलोचना करते है–) हे शिव सुखके मन्दिर! जो अद्वैत तत्त्वका कथन करता है वह भी बुद्धिमानोके विचारोको प्रभावित नही करता, क्योकि अद्वैतवादमे पक्ष, हेतु और दृष्टान्त आदि कैसे बन सकते है? अद्वैतकी सिद्धिके लिए हेतुको मान लेनेसे उसके साथमे हेतुके पक्षधर्मत्व सपक्ष-सत्व आदि अनेक धर्म मानने पडते है और उनके माननेसे जिनेश्वरके द्वारा कहे गये द्वैत तत्त्वकी ही सिद्धि होती है-अद्वैतकी नही। अत हे अनेकान्त नयके प्रणेता! तुम्हारे द्वारा कहे गये तत्त्वोके सिवाय शेष सब बुद्धिसे परे प्रतीत होता है, वह बुद्धिको नही लगता ॥५५३–५५४। भावार्थ–अद्वैतवादी केवल एक ब्रह्म तत्त्व ही मानते है किन्तु विना द्वैतके अद्वैतकी सिद्धि नही हो सकती, क्योकि अद्वैतकी सिद्धि बिना प्रमाणके तो हो नही सकती और प्रमाण माननेसे अनुमान आदि प्रमाण मानने पडेगे। तथा बिना पक्ष हेतु और दृष्टान्तके अनुमान नही होता और इस सबके माननेसे अद्वैत नही ठहरता। हे देव! आप गुणोसे श्रेष्ठ है, फिर भी यत आप अनेकान्त नयके नायक होनेसे पूर्व मनुष्य थे, अत जिनलोगोकी मति द्वेषसे कलुषित है वे मोतीको

नाप्तेषु बहुत्व य: सहेत पर्यायविभूतिष्वपि महेत।
नूनं द्रुहिणादिषु दैवतेषु कं तस्य स्फुटति तथाविधेषु ।। ५५६
दीक्षासु तपसि वचसि त्वयि नयदिहैक्यं सकलगुणैरहीन।
तस्मादवैमि जगतां त्वमेव नाथोऽसि बुधोचितपादसेव ।। ५५७
देव त्वयि कोऽपि तथापि विमुखचित्तो यदि विदलितमदनविशिख।
निन्द्य. स एव घूके दिवापि विदृशीनमुपालभते न कोऽपि ।। ५५८
निष्किञ्चनोऽपि जगते न कानि जिन दिशसि निकामं कामितानि।
नैवात्र चित्रमथवा समस्ति वृष्टि. किमु खादिह नो चकास्ति ।। ५५९
इति तदमृतनाथ स्मरशरमाथ त्रिभुवनपतिमतिकेतन।
मम दिश जगदीशप्रशमनिवेश त्वत्पदनुतिहृदय जिन ।। ५६०
अमरतरुणीनेत्रानन्दे महोत्सवचन्द्रमा· स्मरमदमयध्वान्तध्वंसे मत. परमोऽर्यमा।
अदयहृदय: कर्मारातौ नते च कृपात्मवानिति विसदृशव्यापारस्त्वं तथापि भवान्महान् ।।५६१
अनन्तगुणसंनिधौ नियतबोध संपन्निधौ श्रुताब्धिबुधसंस्तुते परिमितोक्तवृत्तस्थिते।
जिनेश्वर सतीदृशे त्वयि मयि स्फुट तादृशे कथं सदृशनिश्चय तदिदमस्तु वस्तुद्वयम् ।।५६२

इसलिए छोड देते है कि वह जड या जलसे पैदा हुआ है ।।५५५।। हे पूज्य! जिन्हे अनुक्रमसे होनेवाले बहुत आप्तोकी मान्यता सह्य नही हैं निश्चय ही स्वनाम रूप ब्रह्मादि देवताओके सामने वे अपना सिर फोडते हैं। अर्थात् अनेक देवताओको जब वे नही मानते और फिर भी ब्रह्मादिक देवताओ को सिर नवाते है अत: उनका उन्हे सिर नवाना सिर फोडना ही जैसा है ।।५५६।। हे सकलगुणशाली! आपके चारित्रमे,तपमें और वचनमें एकरूपता पायी जाती है अर्थात् जैसा आप कहते हैं वैसा ही आचरण भी करते हैं। इसलिए हे देवताओसे पूजित चरण! आप ही तीनों लोकोके स्वामी हैं,ऐसा मे मानता हूँ ।।५५७।। कामके वाणोको चूर्ण कर डालनेवाले हे देव! फिर भी यदि कोई तुमसे विमुख रहता हैं तो वही निन्दाका पात्र है,क्योकि दिनके समय उल्लूके अन्धे हो जानेपर कोई भी सूर्यको दोप नही देता ।।५५८।। हे जिन! आपके पास कुछ भी नही है फिर भी आप जगत्की किन इच्छित वस्तुओको नही देते? अर्थात् सभीको इच्छित वस्तु देते हैं। किन्तु इसमे कोई अचरजकी वात नही है,क्योकि आकाशके पास कुछ भी नही हैं फिर भी क्या आकाशसे वर्षा होती नही देखी जाती ।।५५९। इसलिए हे मोक्षपति! हे कामके नाशक! हे तीनो लोकोंके स्वामियोंकी बुद्धिके धाम! हे शान्तिके आगार! हे जगत्के स्वामी जिनेन्द्रदेव! मुझे अपने चरणोमे नमस्कार भाव रखने वाला हृदय प्रदान करे अर्थात् मेरा हृदय सदा आपके चरणोमे लीन रहे। ५६०।। हे जिनदेव! देवागनाओके नेत्रोको आनन्दित करनेके लिए आप आनन्ददायक चन्द्रमा है और कामके मदरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए उत्कृष्ट सूर्य है। कर्मरूपी शत्रुके लिए आपके हृदयमे थोडी भी दया नही है किन्तु जो आपको नमस्कार करता है उस पर आप कृपालु हैं। इस प्रकार विपरीत आचरण करनेपर भी आप महान् हैं।। ५६१।। आप अनन्त गुण युक्त है और मै थोडेसे परिमित ज्ञानका स्वामी हूँ। श्रुतके समुद्र विद्वानोने आपका स्तवन किया है और मेरे पास परिमित शब्द है और परिमित छन्द है। हे जिनेश! आपमे और मुझमे इतने स्पष्ट अन्तरके होते हुए हम दोनों समान कैसे हो सकते है इसलिए मै और आप

तदलमतुल त्वादृग्वाणीपथस्तवनोचिते त्वयि गुणगणापात्रैः स्तोत्रैर्जडस्य हि मादृशः।
प्रणतिविषये व्यापारेऽस्मिन्पुनः सुलभे जन. कथमयमवागास्तां स्वामिन्नतोऽस्तु नमोऽस्तु ते ।।५६३
ज ्न्नेत्रं पात्र निखिलविषयज्ञानमहसां महान्तं त्वां सन्त सकलनयनीतिस्मृतगुणम्।
महोदार सार विनतहृदयानन्दविषये ततो याचे नो चेद्भवसि भगवन्नाथविमुख ।। ५६४
मनुजदिविजलक्ष्मीलोचनालोकलीलाश्चिरमिह चरितार्थास्त्वत्प्रसादात्प्रजाता.।
हृदयमिदमिदानीं स्वामिसेवोत्सुकत्वात् सहवसतिसनाथं छात्रमित्रे विधेहि ।। ५६५
सर्वाक्षरनामाक्षरमुख्याक्षराद्येकवर्णविन्यासात्। निगिरन्ति जपं केचिदहं तु सिद्धक्रमैरेव ।। ५६६
पातालमर्त्यखेचरसुरेषु सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्य अधिगानात्ससिद्धेः समवाये देवयात्रायाम्। ५६७
पुष्पं पर्वभिरम्बुजबीजस्वर्णार्ककान्तरत्नैर्वा। निष्कम्पिताक्षवलयः पर्यङ्कस्थो जपं कुर्यात् ।। ५६८
अङ्गुष्ठे मोक्षार्थी तर्जन्यां साधु बहिरिद नयतु। इतरास्वङ्गलिषु पुनर्बहिरन्तश्चैहिकापेक्षी ।।५६९
वचसा वा मनसा वा कार्यो जाप्य समाहितस्वान्तैः। शतगुणमाद्ये पुण्यं सहस्रसख्यं द्वितोये तु ।। ५७०

दोनो दो वस्तु है। ५६२।। अत. हे अनुपम! जव आप उस प्रकारके विद्वानोके द्वारा स्तवन करनेके योग्य है, तो मुझ मुर्खका उन स्तवनोसे, जो तुम्हारे गुणसमूहको छूते भी नही, आपका स्तवन करना व्यर्थ है। किन्तु स्तवन करना कठिन होते हुए भी आपको नमस्कार करना तो सरल है उसमे मै मूक कैसे रह सकता हूँ। अत हे स्वामिन्! मै आपको नमस्कार करता हूँ ।।५६३।। हे भगवन्! आप जगत्के नेत्र है, समस्त पदार्थोके ज्ञानरूपी तेजके स्थान है, महान् है, समस्त शास्त्रोमे आपके गुणोका स्मरण किया गया है, विनत मनुष्योके हृदयोको आनन्द देनेके विषयमे आप महान् उदार है अत मै आपसे प्रार्थना करता हूँ। आशा है आप याचकसे विमुख नही होगे अर्थात् मेरी प्रार्थना पूरी करेगे ।५६४। भगवन्! आपके प्रसादसे मानवीय और दैवीय लक्ष्मीके नेत्रोके द्वारा मेरे जानेकी शोभा तो वहुत काल हुआ तभी चरितार्थ हो चुकी है। अब तो मेरा हृदय आपकी सेवाके लिए उत्सुक है इसलिए अब मेरे हृदयको अपने निवाससे सनाथ करो-मेरे हृदयमे वसो ।५६५।। (अव जप करनेकी विधि बतलाते है—) **जप विधि** कोई 'णमो अरहंताण' आदि पूरे नमस्कार मन्त्रसे जाप करना बतलाते है। कोई अरहन्त सिद्ध आदि पच परमेष्ठीके नामाक्षरोसे जप करना बतलाते है। कोई पंच परमेष्ठीके वाचक 'अ सि आ उ सा' इन मुख्य अक्षरोसे जप करना बतलाते है। कोई 'ओ' अथवा 'अ' आदि एक अक्षरसे जप करना बतलाते है, किन्तु मै (ग्रन्थकार) तो अनादि सिद्ध पञ्चनमस्कार मन्त्रसे ही जप करना बतलाता हूँ ।।५६६।। पाताल लोकमे अर्थात् भवनवासी और व्यन्तर देवोमे, मनुष्योमे, विद्याधरोमे वैमानिक देवोमे, जनसमाजमे और देवयात्रामे सिद्धिदायक होनेसे पञ्चनमस्कारमन्त्रका सर्वत्र अति आदर है।।५६७।। पर्यङ्क आसनसे बैठकर, इन्द्रियोको निश्चल करके पुष्पोसे या अँगुलोके पर्वोसे या कमलगट्टोसे या सोने अथवा सूर्यकान्त मणिके दानोसे अथवा रत्नोसे नमस्कारमन्त्रका जप करना चाहिए ।।५६८।। मोक्षके अभिलाषी जपकर्ताको अगूठेपर मालाको रखकर अगूठेके पास-वाली तर्जनी अगुलीके द्वारा सम्यक् रीतिसे बाहरकी ओर जप करना चाहिए। और इस लोक-सम्बन्धी किसी शुभ कामनाकी पूर्तिके अभिलाषीको शेष अगुलियोके द्वारा बाहर या अन्दरकी ओर जप करना चाहिए ।।५६९।। मनको स्थिर करके वचनसे या केवल मनसे जप करना चाहिए। वोल-वोलकर जप करनेसे सौगुना पुण्य होता है, किन्तु मन-ही-मनमे जप करनेसे हजारगुना पुण्य

**नियमितकरणग्रामः स्थानासनमानसप्रचारज्ञ । पवनप्रयोगनिपुण. सम्यक्सिद्धो भवेदशेषज्ञ ।।५७१
इममेव मन्त्रमन्ते पञ्चत्रिंशत्प्रकारवर्णस्थम् । मुनयो जपन्ति विधिवत्परमपदावाप्तये नित्यम् ।।५७२
मन्त्राणामखिलानामयमेकः कार्यकृद्भवेत्सिद्ध. । अस्यैकदेशकार्यं परे तु कुर्युर्न ते सर्वे ।। ५७३
कुर्यात्करयोर्न्यासं कनिष्ठिकान्त प्रकारयुगलेन। तदनु हृदाननमस्तककवचास्त्रविधिर्विधातव्य ।।५७४
संपूर्णमतिस्पष्टं सनादमानन्दसुन्दरं जपतः । सर्वसमीहितसिद्धिर्नि.संशयमस्य जायेत ।। ५७५**

होता है ।।५७०।। जो अपनी इन्द्रियोको वशमे कर लेता है और स्थान,आसन व मनके संचारको जानता है तथा श्वासोच्छ्वासके प्रयोगमे सिद्धहस्त होता है,वह सर्वज्ञ होकर सिद्ध पद प्राप्त करता है ।।५७१।। भावार्थ—आशय यह है कि जपके लिए इन्द्रियोको वशमे करना आवश्यक है, उसके बिना जपमे मन नही लग सकता और बिना मन लगाये जप हो भी नही सकता । क्योकि यदि मुहसे मन्त्र बोलते रहने और हाथोंमे गुरिया सरकाते रहनेपर भी मन कही और भटकता है तो वह जाप बेकार है। ऊपर जो मनसे और वचनसे जाप करना बतलाया है उसका यह मतलब नही है कि वचनसे किये जानेवाले जापमे मनको छुट्टी रहती हैं। मन तो हर हालतमे उसीमेलगा रहना चाहिए । किन्तु मनसे किये जानेवाले जापमे वचनका उच्चारण नही किया जाता और मन-ही-मनमे जप किया जाता है । अत प्रत्येक प्रकारके जपके लिए इन्द्रियोपर काबू होना आवश्यक है। दूसरे, स्थान कैसा होना चाहिए,आसन किस प्रकार लगाना चाहिए, मन्त्रोंमे मनका संचार किस प्रकार करना चाहिए—ये सब बातें भी जप करनवालेको ज्ञात होनी चाहिए । तथा जप करते समय श्वासकी गति कैसी होनी चाहिए, कितने समयमे श्वास लेना चाहिए और कब छोडना चाहिए, इस क्रियाका अच्छा अभ्यास होना चाहिए । जो इन सब बातोका अभ्यासी होकर जप करता है वह सच्चा ध्यानी बनकर मोक्ष प्राप्त कर लेता हैं । मुनि भी मोक्षकी प्राप्तिके लिए इसी पैंतीस अक्षरोके नमस्कारमन्त्रीको सदा विधिपूर्वक जपते है ।।५७२।। यह अकेला ही सब मन्त्रोका काम करता है किन्तु अन्य सब मन्त्र मिलकर भी इसका एक भाग भी काम नही करते ।५७३।। (जप प्रारम्भ करनेसे पूर्व सकलीकरण विधान) दोनो हाथोकी अँगुलियोपर अँगूठेसे लेकर कनिष्ठिका अगुलीतक दो प्रकारसे मन्त्रका न्यास करना चाहिए । उसके पश्चात् हृदय मुख और मस्तकका सकलीकरण विधि करना चाहिए ।।५४७।। भावार्थ—'ॐ ह्रा णमो अरहताणं ह्रा अगुष्ठाभ्या नम , यह मन्त्र पढकर दोनो अगूठोको पानीमे डुबोकर शुद्ध करे । 'ॐ ह्री णमो सिद्धाण ह्री तर्जनीभ्या नम इस मन्त्रको पढकर दोनो तर्जनी अँगुलियोको शुद्ध करे 'ॐ ह्रू णमो आयरियाण ह्रूं मध्यमाभ्या नम 'इस मन्त्रको पढकर दोनो बीचकी अगुलियोको शुद्ध करे। 'ॐ ह्रौ णमो उवज्झायाण ह्रौं अनामिकाभ्या नम ' इस मन्त्रको पढकर दोनो अनामिका अँगुलियोको कनिष्ठिका अँगुलियोको शुद्ध करे । फिर 'ॐ ह्री ह्रूँ ह्रो ह्र करतलकरपृष्ठाभ्या नम ' इस मन्त्रको पढ दोनो हथेलियोको दोदो तरफसे शुद्ध करे । 'ॐ ह्रा णमो अरहताण ह्रा मम शीर्ष रक्ष रक्ष स्वाहा'इस मन्त्रको पढकर मस्तकपर पुप्प डाले । 'ॐ ह्री णमो सिद्धाणा ह्रीमम वदन रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मन्त्रको पढकर अपने मुखपर पुप्प डाले । 'ॐ ह्रौ णमो उवज्झायाण ह्रौं मम नाभि रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मत्रको पढकर नाभिक स्पर्श करे । 'ॐ ह्र णमो लोए सव्वसाहूण

मन्त्रोऽयमेव सेव्यः परत्र मन्त्रे फलोपलम्भेऽपि। यद्यप्यग्रेविटपीफलति तथाप्यस्य सिच्यते मूलम् ।।५७६
अत्रामुत्र च नियतकामितफलसिद्धयेपरोमन्त्रः। नाभूदस्तिभविष्यतिगुरुपञ्चकवाचकान्मन्त्रात्।।५७७
अभिलषितकामधेनौ दुरितद्रुमपावके हि मन्त्रेऽस्मिन्। दृष्टादृष्टफले सति परत्रमन्त्रेकथं सजतु।।५७८
इत्थं मनो मनसि बाह्यमबाह्यवृत्ति कृत्वा हृषीकनगरं मरुतो नियम्य ।
सम्यग्जपं विदधत सुधियः प्रयत्नाल्लोकत्रयेऽस्य कृतिनः किमसाध्यमस्ति ।।५७९।।
आदिध्यासु परंज्योतिरीप्सुस्तद्धाम शाश्वतम् । इमं ध्यानविधिं यत्नादभ्यस्यतु समाहितः ।। ५८०
तत्त्वचिन्तामृताम्भोधौ दृढमग्नतया मनः । बहिर्व्याप्तौ जडं कृत्वा द्वयमासनमाचरेत् ।। ५८१
सूक्ष्मप्राणयमायामः सन्नसर्वाङ्गसंचरः । ग्रावोत्कीर्ण इवासीत ध्यानानन्दसुधां लिहन् ।। ५८२
यदेन्द्रियाणि पञ्चापि स्वात्मस्थानि समासते । तदा ज्योतिः स्फुरत्यन्तश्चित्ते चित्तं निमज्जति।।५८३
चित्तस्यैकाग्रता ध्यानं ध्यातात्मा तत्फलप्रभुः । ध्येयमागमज्योतिस्तद्विर्देहयातना ।। ५८४
तैरश्चमामरं मार्त्यं नाभसं भौममङ्गजम् । सहतु समधीः सर्वमन्तरायं द्वयातिगः ।। ५८५

ऱ्हं मम पादौ रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मन्त्रको पढकर पैरोपर पुष्प डाले । इस प्रकार यह सकलीकरण क्रिया मन्त्र जपनेसे पूर्व करना चाहिए । (नमस्कार मन्त्रके जपका फल तथा माहात्म्य—) जो आनन्दपूर्वक प्राणवायुके साथ सम्पूर्ण मन्त्रका अत्यन्त स्पष्ट जप करता है उसके सब मनोरथ पूर्ण होते है। इसमें कोई सन्देह नही है ।।५७५।। अन्य मन्त्रोसे फल प्राप्ति होनेपर भी इसी नमस्कार-मन्त्रकी आराधना करनी चाहिए । क्योकि यद्यपि वृक्षके ऊपरके भागमे फल लगते है फिर भी उसकी जड ही सीची जाती है । अर्थात् यह मन्त्र सब मन्त्रोका मूल है इसलिए इसीकी आराधना करनी चाहिए ।।५७६।। पच परमेष्ठीके वाचक इस णमोकार मन्त्रके सिवाय इस लोक और पर-लोकमे इच्छित फलको नियमसे देनेवाला दूसरा मन्त्र न था, न है और न होगा ।।५७७।। जब यह मन्त्र इच्छित वस्तुके लिए कामधेनु और पापरूपी वृक्षके लिए आगके समान है तथा दृष्ट और अदृष्ट फलको देता है तो अन्योमें क्यों लगा जाये । अर्थात् इसी एक मन्त्रका जप करना उचित है ।।५७८।। इस प्रकार मनको मनमे और इन्द्रियोके समूहको आभ्यन्तरकी ओर करके तथा श्वासो-च्छ्वासका नियमन करके जो बुद्धिमान् प्रयत्नपूर्वक सम्यग् जप करता है उस कर्मठ व्यक्तिके लिए तीनो लोकोमे कुछ भी असाध्य नही है ।।५७९।। (अब ध्यानकी विधि बतलाते है—) जो अर्हन्त भगवान्का ध्यान करनेका इच्छुक है और उस स्थायी मोक्ष स्थानको प्राप्त करना चाहता है, उसे सावधान होकर प्रयत्नपूर्वक आगे बतलायी गयी ध्यानकी विधिका अभ्यास करना चाहिए ।।५८०।। तत्त्वचिन्तारूपी अमृतके समुद्रमे मनको ऐसा डुबा दो कि वह बाह्य बातोमें एकदम जड हो और फिर पद्मासन या खड्गासन लगाओ ।।५८१।। ध्यानरूपी आनन्दामृतका पान करते समय श्वासवायुको बहुत धीमेसे अन्दरकी ओर ले जाना चाहिए और बहुत धीमेसे बाहर निकालना चाहिए । तथा समस्त अगोका हलन-चलन एकदम बन्द होना चाहिए उस समय ध्यानी पुरुष ऐसा मालूम हो मानो पत्थरकी मूर्ति है ।।५८२।। जब पाँचो इन्द्रियाँ बाह्य व्यापारको छोडकर आत्मस्थ हो जाती है और चित्त अन्तरात्मामे लीन हो जाता है तब अन्तरात्मामे ज्योतिका उदय होता है ।।५८३।। चित्तकी एकाग्रताको ध्यान कहते है । आत्मा ध्याता यानी ध्यान करनेवाला है । वही ध्यानके फलका स्वामी है । आत्मा और श्रुतज्ञान ध्येय हैं, ध्यानमे उन्हीका चिन्तन किया जाता है और शरीर तथा इन्द्रियोपर काबू रखना ध्यानका उपाय है ।।५८४।। ध्यान करते समय

नाक्षमित्वमविघ्नाय न क्लीबत्वसमृत्यवे । तस्मादविलश्यमानात्मा परं ब्रह्मैव चिन्तयेत् ।। ५८६
यत्रायमिन्द्रियग्रामो व्यासङ्गस्तेनविप्लवम् । नाऽनुवीत तमुद्देशं भजेताध्यात्मसिद्धये ।। ५८७
फल्गुजन्माप्ययं देहो यदलाबुफलायते । ससारसागरोत्तारे रक्ष्यस्तस्मात् प्रयत्नतः ।। ५८८
नरेऽधीरे वृथा वर्म क्षेत्रेऽसस्ये वृतिर्वृथा । यथा सर्वो ध्यानशून्यस्य तद्विधि ।। ५८९
बहिरन्तस्तमोवातैरस्पन्दं दीपवन्मनः । यत्तस्वालोकनोल्लासि तत्स्याद्धयानं सबीजकम् ।। ५९०
निर्विचारावतारासु चेतःस्रोतःप्रवृत्तिषु । आत्मन्येव स्फुरन्नात्मा भवेद्ध्यानमबीजकम् ।। ५९१

यदि कोई पशुकृत उपसर्ग उपस्थित हो जैसे सुकुमाल मुनिपर श्रृगालीने किया था, या देवकृत उपसर्ग उपस्थित हो,जैसे भगवान् पार्श्वनाथके ऊपर कमठके जीव व्यन्तरने किया था,या मनुष्य-कृत उपसर्ग उपस्थित हो जैसे पाण्डवोपर उनके शत्रुओने किया था, या आकाशसे अचानक बिजली,पानी और ओला बरसने लगे,या जमीन चुभने लगे अथवा शरीरमे ही कोई पीडा उत्पन्न हो जाये तो ध्यानी पुरुषको राग-द्वेष न करके सब प्रकारकी बाधाओंको शान्तिपूर्वक सहना चाहिए ।।५८५।। ऐसे समय असहनशीलता दिखानेसे विघ्न दूर नही हो सकता और न कायरता दिखलानेसे जीवन ही बच सकता है । अत किसी प्रकारका दु ख न मानकर परमात्माका ही ध्यान करना चाहिए ।।५८६।। जहाँपर इन्द्रियोको अन्य पदार्थमे आसक्तिरूपी चोरके द्वारा कोई बाधा प्राप्त न हो अर्थात् इन्द्रियाँ इधर-उधर न भटक कर अपनेमे ही आसक्त रहे,आत्माकी सिद्धिके लिए ऐसे ही स्थानपर ध्यान करना चाहिए ।।५८७।। (यदि कोई यह सोचे कि यह शरीर तो अपना नही है और नष्ट होने वाला है । इसलिए इसे जल्दी नष्ट कर डालना चाहिए,तो उसके लिए कहते है—) यद्यपि इस शरीरका जन्म निरर्थक है फिर भी ससाररूपी समुद्रसे पार उतरनेके लिए यह तुम्बी के समान सहायक है । इसलिए प्रयत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिए ।।५८८।। भावार्थ—यद्यपि तुम्बीका जन्म निरर्थक होता है,वह खाने आदिके योग्य नही होती फिर भी नदी आदि को पार करनेमे वह सहायक होती हैं, इस लिए लोग उसे नष्ट न करके पास रखते है । वैसे ही शरीर भी व्यर्थ हैं वह न होता तो आत्माको बारम्बार जन्म-मरणका दु ख क्यो उठाना पडता। फिर भी शरीरके बिना धर्म साधन नही हो सकता। ध्यानके लिए तो सुदृढ सहननवाले शरीरकी आवश्य-कता होती है । अत उसे यो ही नष्ट नही कर डालना चाहिए,किन्तु उसकी रक्षा करनी चाहिए, परन्तु यदि वह रक्षा करनेपर भी न बच सकता हो तो उसकी चिन्ता नही करनी चाहिए। साराश यह है कि धर्म सेवनके लिए शरीरको स्वस्थ बनाये रखना जरूरी है किन्तु धर्म खोकर शरीरको बनाये रखना मूर्खता है, जैसे कायर मनुष्यको कवच पहनाना व्यर्थ है और बिना धान्यके खेतमे बाड लगाना व्यर्थ है,वैसे ही जो मनुष्य ध्यान नही करता उसके लिए ध्यानकी सब विधि व्यर्थ है ।।५८९।। (ध्यान दो प्रकारका होता है—एक सबीज ध्यान और दूसरा अबीज ध्यान। दोनोका स्वरूप बतलाते है-) जैसे वायुरहित स्थानमे दीपकको लौ निश्चल रहती हैं वैसे ही जिस ध्यानमे मन अन्तरंग और बहिरंग चंचलतासे रहित होकर तत्त्वोके चिन्तनमे लीन रहता है उसे सबीज ध्यान कहते है और मनमे किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा-आत्मामे ही लीन होता हैं उसे निर्बीज ध्यान कहते है ।।५९०-५९१।। भावार्थ—कर्मोके क्षय होनेसे ही मोक्ष होता हैं । और कर्मोका क्षय ध्यानसे होता है अत. जो मुमुक्षु है उन्हे ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिए। ध्यान करनेके लिए मोहका त्याग आवश्यक है , क्योकि जिसका मन स्त्री पुत्र और धनादिमें आसक्त

है वह आत्माका ध्यान कैसे कर सकता है। इसलिए जो कामभोगसे विरक्त होकर और शरीरसे भी ममता छोडकर निर्ममत्ववाला हो जाता है वही पुरुष ध्याता हो सकता है। ध्यान शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है। वस्तुके यथार्थ स्वरूपका चिन्तन करना शुभ ध्यान है और मोहके वशीभूत होकर वस्तुके अयथार्थ स्वरूपका चिन्तन करना अशुभ ध्यान है। शुभ ध्यानसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है और अशुभ ध्यानसे नरकादिकमे जन्म लेना पडता है। एक तीसरा ध्यान भी है जिसे शुद्ध ध्यान कहते है। रागादिके क्षीण हो जानेसे जब अन्तरात्मा निर्मल हो जाती है तब जो अपने स्वरूपकी उपलब्धि होती है वह शुद्ध ध्यान है। इस शुद्ध ध्यानसे ही स्वाभाविक केवलज्ञानलक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। साराश यह कि जीवके परिणाम तीन प्रकारके होते है–अशुभ, शुभ और शुद्ध। अत अशुभसे अशुभ, शुभसे शुभ और शुद्धसे शुद्ध ध्यान होता है। आर्त और रौद्र ध्यान अशुभ होते है, अत उन्हे नही करना चाहिए। धर्मध्यान शुभ है और शुक्ल ध्यान शुद्ध है ये दो ही ध्यान करनेके योग्य है। इनमे पहले धर्म ध्यान ही किया जाता है। उसके लिए ध्यान करनेवालेको उत्तम स्थान चुनना चाहिए, क्योकि अच्छे और बुरे स्थानका भी मनपर बडा प्रभाव पडता है। जहाँ दुष्ट लोग उपद्रव कर सकते हो, स्त्रियाँ विचरण करती हों वहाँ ध्यान नही करना चाहिए। तथा जहाँ तृण, काँटे, बाँबी, ककड, खुरदरे पत्थर, कीचड, हाड, रुधिर आदि हो वहाँ भी ध्यान नही करना चाहिए। साराश यह है कि जहाँ किसी बाह्य निमित्तसे मनमे क्षोभ उत्पन्न हो सकता है वहाँ ध्यान नही हो सकता। इसलिए ध्यान करनेवालेको ऐसे स्थान त्याग देने चाहिए। सिद्धिक्षेत्र, तीर्थङ्करोके कल्याणकोसे पवित्र तीर्थस्थान, मन्दिर, वन, पर्वत, नदीका किनारा, गुफा आदि स्थान जहाँ किसी तरहका कोलाहल न हो, समस्त ऋतुओमे सुखदायक हो, रमणीक हो, उपद्रवरहित हो, वर्षा, घाम, शीत और वायुके प्रबल झकोरोसे रहित हों, ध्यान करनेके योग्य होते है। ऐसे शान्त स्थानोमे काष्ठके तख्तेपर, शिलापर या भूमिपर अथवा बालूमे आसन लगाना चाहिए। पर्यंक आसन, अर्द्धपर्यङ्कासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन, और कायोत्सर्ग ये ध्यानके योग्य आसन माने गये है। इस समय चूकी जीवोके शरीर उतने दृढ और शक्तिशाली नही होते, इसलिए पर्यंकासन ओर कायोत्सर्ग ये दो आसन ही उत्तम माने जाते है। स्थान और आसन ध्यानकी सिद्धिमे कारण है। इनमे-से यदि एक भी ठीक न हो तो मन स्थिर नही हो पाता। ध्यानीको चाहिए कि वह चितको प्रसन्न करनेवाले किसी रमणीक स्थानमे जाकर पर्यंकासनसे ध्यान लगाके पालथी लगाकर दोनो हाथोको खिले हुए कमलके समान करके अपनी गोदमे रखे। दोनो नेत्रोको निश्चल, सौम्य और प्रसन्न बनाकर नाकके अग्र भागमे ठहरावे। भौहे विकाररहित हो और दोनो होठ न तो बहुत खुले हो और न बहुत मिले हों। शरीर सीधा और लम्बा हो मानो दीवारपर कोई चित्राम बना है। ध्यानकी सिद्धि और मनकी एकाग्रताके लिए प्राणायाम भी आवश्यक माना जाता है। प्राणायाम वायुकी साधनाको कहते है। शरीरमे जो वायु होती है वह मुख नाक आदि के द्वारा आती जाती है। इसके कारण भी मन चचल रहता है। जब वह वशमे हो जाती है तब मन भी वशमे हो जाता है। किन्तु जैनशास्त्रोंमे प्राणायामको चित्तशुद्धिका प्रबल साधन नही माना गया है, क्योकि उसको हठपूर्वक करनेसे मन स्थिर होनेके बदले व्याकुल हो उठता है। अत मोक्षार्थीके लिए प्राणायाम उपयुक्त नही है। किन्तु ध्यानके समय श्वासोच्छ्वासका मन्द होना आवश्यक है, जिससे उसके कारण ध्यानमे विघ्न न

चित्तेऽनन्तप्रभावेऽस्मिन्प्रकृत्या रसवच्चले । तत्तेजसि स्थिरे सिद्धे न किं सिद्ध जगत्त्रये ॥ ५९२

पड सके। अत. ध्यान करनेके लिए इन्द्रियोको वशमे करके और राग-द्वेषको दूर करके अपने मनको ध्यानके दस स्थानोमेसे किसी एक स्थान पर लगाना चाहिए। नेत्र. कान, नाकका अग्र भाग, सिर, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु और दोनो भौंहोका वीच-ये दस स्थान मनको स्थिर करनेके योग्य है। इनमे-से किसी एक स्थान पर मनको स्थिर करके ध्येयका चिन्तन करनेसे ध्यान स्थिर होता है। ध्यान करनेसे पहले ध्यानी को यह विचारना चाहिए कि देखो, कितने खेदकी वात है कि मै अनन्त गुणोका भण्डार होते हुए भी संसाररूपी वनमें कर्मरूपी शत्रुओसे ठगाया गया। यह सव मेरा ही दोष है। मैंने ही तो इन शत्रुओका पाल रखा है। यदि मै रागादिक वन्धनोंमे वँधकर विपरीत आचरण न करता तो कर्मरूपी शत्रु प्रवल ही क्यों होते? अस्तु, अब मेरा रासरूपी ज्वर उतर चला है और मै मोह नीदसे जाग गया हू, अतः अब ध्यानरूपी तलवारकी धारसे कर्म-शत्रुओको मारे डालता हूँ। यदि मै अज्ञानको दूर करके अपनी आत्माका दर्शन करूँ तो कर्मशत्रुओको क्षणभरमे जलाकर राख कर दू तथा प्रवल ध्यानरूपी कुठारसे पापरूपी वृक्षोंको जडमूलसे ऐसा काटू कि फिर इनमे फल ही न आ सके। किन्तु मै मोहसे ऐसा अन्धा वना रहा कि मैंने अपनेको नही पहचाना। मेरा आत्मा परमात्मा है परंज्योतिरूप है, जगत्मे सबसे महान् हैं। मुझमे और परमात्मामे केवल इतना ही अन्तर है कि परमात्मामे अनन्तचतुष्टयरूप गुण व्यक्त हो चुके है और मेरेमे वे गुण शक्तिरूपसे विद्यमान है। अत. मैं उस परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए अपनी आत्माको जानना चाहता हूँ। न मै नारकी हूँ, न तिर्यञ्च हूँ, न मनुष्य हूँ, और न देव हूँ,। ये सव कर्मजन्य अवस्थाएँ है। मै तो सिद्धस्वरूप हूँ। अत अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्यका स्वामी होनेपर भी क्या मै कर्मरूपी विषवृक्षोंको उखाड कर नहीं फेंक सकता? आज मैं अपनी शक्तिको पहचान गया हूँ और अव वाह्य पदार्थोकी चाहको दूर करके आनन्दमन्दिरमे प्रवेश करता हूँ। फिर मैं कभी भी अपने स्वरूपसे नही डिगूंगा। ऐसा विचारकर दृढ निश्चयपूर्वक ध्यान करना चाहिए। जिसका ध्यान किया जाता है उसे ध्येय कहते है ध्येय दो प्रकारके होते हैं-चेतन और अचेतन। चेतन तो जीव हैं और अचेतन शेष पाँच द्रव्य है। चेतन ध्येय भी दो हैं-एक तो देहसहित अरिहन्त भगवान् हैं और दूसरे देहरहित सिद्ध भगवान् है। धर्मध्यानमें इन्हीं जीवाजीवादिक द्रव्योंका ध्यान किया जाता हैं। जो मोक्षार्थी है वे तो और सव कुछ छोडकर परमात्माका ही ध्यान करते है। वे उसमे अपना मन लगाकर उसके गुणोंको चिन्तन करते-करते अपनेको उसमे एक रूप करके तल्लीन हो जाते है। 'यह परमात्माका स्वरूप ग्रहण करनेके योग्य है और मै इनका ग्रहण करनेवाला हूँ, ऐसा द्वैत भाव तव नही रहत। उस समय ध्यानी मुनि अन्य सव विकल्पोको छोडकर उस परमात्मस्वरूपमें ऐसा लीन हो जाता है कि ध्याता और ध्यानका विकल्प भी न रहकर ध्येय रूपसे एकता हो जाती है। इस प्रकारके निश्चल ध्यानको सवीज ध्यान कहते है। इससे ही आत्मा परमात्मा वनता हैं और जव शुद्धोपयोगी होकर मुनि अपनी शुद्ध आत्माका ध्यान करता हैं तो उस ध्यानको निर्वीज ध्यान कहते है। यह चित्त अनन्त प्रभावशाली है किन्तु स्वभावसे ही पारेकी तरह चचल है। जैसे आग के द्वारा पारा सिद्ध हो जाता है उसी तरह यदि यह आत्मज्ञानमे स्थिर होकर सिद्ध हो जाये तो इसके सिद्ध होनेमे तीनो लोकोमें ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सिद्ध यानी प्राप्त न हो ॥५९२॥ भावार्थ-पारा

निर्मनस्के मनोहंसे पुंहंसे सर्वत स्थिरे। बोधहंसोऽखिलालोक्यसरोहंसः प्रजायते ॥ ५९३
यद्यप्यस्मिन्मन.क्षेत्रे क्रियां तां तां समादधत्। कंचिद्वेदयते भावं तथाप्यत्र न विभ्रमेत् ॥ ५९४
विपक्षे क्लेशराशीनां यस्मान्नैष विधिर्मत । तस्मान्न विस्मयेतास्मिन् परब्रह्म समाश्रितः ॥ ५९५
प्रभावैश्वर्यविज्ञानदेवतासंगमादयः। योगोन्मेषाद्भवन्तोऽपि नामी तत्त्वविदां मुदे ॥ ५९६
भूमौ जन्मेति रत्नानां यथा सर्वत्र नोद्भवः। तथात्मजमिति ध्यानं सर्वत्राङिगनि नोद्भवेत् ॥५९७
तस्य कालं वदन्त्यन्तर्मुहूर्त्त मुनय. परम्। अपरस्पन्दमानं हि तत्परं दुर्धरं मन· ॥ ५९८
तत्कालमपि तद्ध्यान स्फुरदेकाग्रमात्मनि। उच्चै कर्मोच्चयं भिन्द्याद्वज्रं शैलमिव क्षणात् ॥५९९
कल्पैरप्यम्बुधिः शक्यश्चुलुकैर्नोच्चुलुम्पितुम्। कल्पान्तभू· पुनर्वातस्तं मुहुः शोषमानयेत् ॥ ६००
रूपे मरुति चित्ते च तथान्यत्र यथा विशन्। लभेत कामितं तद्वदात्मना परमात्मनि ॥ ६०१

स्वभावसे ही चचल होता है,किन्तु यदि आगमे आच देकर विधिपूर्वक उसे सिद्ध कर लिया जाये तो उसके सिद्ध होनेसे अनेक रससिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है। वैसे ही चञ्चल मन यदि आत्म-स्वरूपमे स्थिर हो जाये तो फिर ऐसी कौन-सी सिद्धि है जो प्राप्त नही हो सकती। अत मनको स्थिर करना आवश्यक है। यदि यह मनरूपी हंस अपना व्यापार छोडे दे और आत्मरूपी हंस सर्वथा स्थिर हो जाये तो ज्ञानरूपी हस समस्त ज्ञेयरूपी सरोवरका हस बन जाये अर्थात् मन निश्चल होनेके साथ यदि आत्मा,आत्मामे सर्वथा स्थिर हो जाये तो विश्वको जाननेवाला केवल-ज्ञान प्रकट होता है ॥५९३॥ यद्यपि इस मनरूपी क्षेत्रमे अनेक क्रियाओको करता हुआ मुनि किसी पदार्थको जान लेता है, फिर भी उसमे धोखा नही खाना चाहिए। क्योकि विपक्षमे नाना क्लेशोके रहते हुए ऐसा करना उचित नही है। अत परब्रह्म परमात्मस्वरूपका आश्रय लेनेवालेको इस विषयमे आश्चर्य नही करना चाहिए।।५९४-५९५। **भावार्थ**-आशय यह है कि मनोनिग्रह करनेसे यदि कोई छोटी—मोटी ऋद्धि या ज्ञान प्राप्त हो जाये तो मोक्षार्थी ध्यानीको उसीमे नही रम जाना चाहिए, क्योकि उसका उद्देश्य इससे बहुत ऊँचा है। वह तो ससारके दु खोका समूल नाश करके परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए योगी बना है, अत उसे प्राप्त किये बिना उसे विश्राम नही लेना चाहिए और मामूली लौकिक ऋद्धिसिद्धिके चक्करमे नही पड जाना चाहिए। क्योंकि उसके प्राप्त हो जानेपर भी अनन्त क्लेश राशिसे छुटकारा नही हो सकता। यही आगे स्पष्ट करते हैं—ध्यानका प्रादुर्भाव होनेसे प्रभाव, ऐश्वर्य, विशिष्ट ज्ञान और देवताका दर्शन आदिकी प्राप्ति होनेपर भी तत्त्वज्ञानी इनसे प्रसन्न नही होते।.५९६॥ जैसे भूमिसे रत्नोकी उत्पत्ति होनेपर भी सब जगह रत्न पैदा नही होता, वैसे ही ध्यानके आत्मासे जन्य होनेपर भी सभी प्राणियोंकी आत्माओमे ध्यान उत्पन्न नही होता ॥५९७॥ मुनिजन उस ध्यानका काल अन्तुर्मुहूर्त्त बतलाते है उतने काल तक मन निश्चिल रहता है इससे अधिक समय तक मनको स्थिर रखना अत्यन्त कठिन है ॥५९८॥ किन्तु आत्मामे इतने समयके लिए भी होनेवाला निश्चल ध्यान महान् कर्मसमूहका उसी प्रकार भेदन करता है जैसे वज्र क्षण भरमे पहाडको चूर्ण कर डालता है ॥५९९॥ ठीक ही है सैकडो कल्पकालो तक चुल्लुओके द्वारा समुद्रके जलको उछालने पर भी किसी मूर्तिमे या चित्तमें या अन्य किसी बाह्य वस्तुमें मनको लगानेसे इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है वैसे ही आत्माके द्वारा परमात्मामे मनको लगानेसे परमात्मपदकी प्राप्ति होती है।.६०१॥ वैराग्य,

वैराग्यं ज्ञानसंपत्तिरसङ्ग स्थिरचित्तता । ऊर्मिस्मयसहत्वं च पञ्च योगस्य हेतवः ॥ ६०२
आधिव्याधिविपर्यासप्रमादालस्यविभ्रमाः । अलाभ सङ्गितास्थैर्यमेते तस्यान्तरायका ॥ ६०३
य कण्टकैस्तुदत्यङ्गं यश्च लिम्पति चन्दनैः । रोषतोषाविषिक्तात्मा तयोरासीत लोष्ठवत् ॥६०४
ज्योतिर्बिन्दु कलानाद. कुण्डलीवायुसंचरः । मुद्रामण्डलचोद्यानि निर्बीजीकरणादिकम् ॥ ६०५

ज्ञान सम्पदा, निष्परिग्रहता, चित्तकी स्थिरता तथा भूख-प्यास, शोक-मोह, जन्ममृत्युकी तथा मदको सहन करना ये पाँच बाते ध्यानमे कारण है ॥६०२॥ मानसिक पीडा, शारीरिक रोग अतत्त्वको तत्त्व मानना, तत्त्वको समझनेमे अनादर करना, तत्त्वको प्राप्त करके भी उसपर आचरण न करना, तत्त्व और अतत्त्वको समान मानना, अज्ञानवश तत्त्वकी प्राप्ति न होना, योगके कारणोमे मनको न लगाना, ये सब ध्यानके अन्तराय है ॥६०३॥ **भावार्थ**-ध्यान मनकी एकाग्रताके होनेसे होता है और मन एकाग्र तभी हो सकता है या अपनी ओर तभी लग सकता है जब संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्ति हो, स्व और परके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो, पासमे थोडा-सा भी परिग्रह न हो, अन्यथा परिग्रहमे फँसे रहनेसे मन आत्मोन्मुख नही हो सकता, और चित्त भी स्थिर नही रह सकता । तथा भूख-प्यास वगैरहका कष्ट सहन करनेकी भी क्षमता होना जरूरी है, नही तो थोडा-सा भी कष्ट होनेसे मनके अस्थिर हो उठनेपर ध्यान कैसे हो सकता है? इसी तरह यदि मनमे अहङ्कार उत्पन्न हो गया तब भी मन आत्मोन्मुख नही हो सकता । इसलिए ऊपर ध्यानके लिए पाँच बाते आवश्यक बतलाई हैं और कुछ बाते ध्यानकी बाधक बतलायी हैं। यदि मनमे या शरीरमें कोई पीडा हुई तो ध्यान करना कठिन होता है इसी तरह प्रमादी और आलसी मनुष्य भी ध्यान नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसे मनुष्य प्राय आरामतलब होते हैं और आरामतलब आदमी कष्ट नहीं सह सकता । जो सन्देह और विपरीत ज्ञानसे ग्रस्त है, जिन्हें यही निश्चय नही है कि आत्मा परमात्मा बन सकता है या ध्यान परमात्मपदका कारण है वे योगी बनकर भी योगकी साधना नही कर सकते, क्योकि उनके चित्तमें यह सन्देह बराबर काँटेकी तरह कसकता रहता है कि न जाने इससे कुछ होगा या नही, यह सब बेकार न हो आदि । जो किसी लौकिक वाञ्छासे ध्यान करते है यदि उनकी वह वाञ्छा पूरी न हुई तो उनका मन ध्यानसे विचलित हो जाता है, और जो परिग्रही और अस्थिर चित्त है उनका मन भी एकाग्र नही हो सकता । इसलिए ये सब बाते ध्यानमें विघ्न करनेवाली है । जो शरीरको काँटोसे छेदे और जो शरीरपर चन्दनका लेप करे उन मनुष्योपर रोष और प्रसन्नता न करके ध्यानी पुरुषको लोष्ठके समान होना चाहिए। अर्थात् जैसे लोढेपर इन बातोंका कोई प्रभाव नही होता वैसे ध्यानीपर भी इन बातोका कोई प्रभाव नही होना चाहिए और उसे दोनोंमे समबुद्धि रखनी चाहिए ।६०४॥ अब अन्य मत सम्बन्धी ध्यानका वर्णन कर उसकी समीक्षा करते है—तान्त्रिकों की मान्यता है कि योगी पुरुष ज्योति (ओंकार) बिन्दु (पीत-शुभ्रादि वर्णवाली बिन्दु) कला (अर्धचन्द्र) नाद (अनुस्वारके ऊपर रेखा) कुण्डली (पिंगला इला, सुषुम्ना) वायु-सञ्चार (कुम्भक, रेचक, पूरक) मुद्रा (पद्मासन वीरासन आदि) मण्डल (त्रिकोण, चतुष्कोण, वृत्ताकार आदि) इनके द्वारा की जानेवाली क्रियाए, निर्बीजकरण (असम्प्रज्ञात समाधि) मे कारण है। इन्हे नाभिमे, नेत्रस्थानमें ललाटपर, ब्रह्मग्रन्थि (आनडियो के समूह) मे, तालुमे,

नाभौ नेत्रे ललाटे च ब्रह्मग्रन्थौ च तालुनि। अग्निमध्ये रवौ चन्द्रे लूतातन्तौ हृदङ्कुरे ॥ ६०६
मृत्युञ्जयं यदन्तेषु तत्तत्त्वं किल मुक्तये। अहो मूढधियामेष नयः स्वपरवञ्चनः ॥ ६०७
कर्माण्यपि यदीमानि साध्यान्येवविधैर्नयैः। अलं तपोजपाप्तेष्टिदानाध्ययनकर्मभिः ॥ ६०८

अग्निमध्य (नासिका-रन्ध्र) मे, रवि (दक्षिणनाडी) मे, चन्द्र (वामनाडी) मे, लतातन्तु (जननेन्द्रिय) मे, हृदयाङ्कुरमे अन्तिम मरण वेलाके समय जब किया जाता है, तब ध्यानी पुरुष मृत्युका जीत लेता है। अत ये सब मुक्तिके लिए साधन स्वरूप है। आश्चर्य की बात है कि मूढ बुद्धि पुरुषोको ठगनेके लिए लोगोने यह स्व-पर-वचक मार्ग प्ररूपण किया है ॥६०५-६०७॥ **भावार्थ** परमात्माको सब ज्योतियोका ज्योतिस्वरूप जानकर उनके ज्योतिर्मय रूपकी कल्पना करके ध्यानका अभ्यास करनेकी व्यवस्था हठयोगमे है। तन्त्रमतमे शिव, शक्ति और विन्दु ये तीन रत्न माने गये है। शुद्ध जगत्का उपादान विन्दु है। बिन्दुका ही दूसरा नाम महामाया है। बिन्दु क्षुब्ध होकर जिस प्रकार एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रिय, भोग और भुवनके रूपमे परिणत होता है उसी प्रकार यही शब्दकी भी उत्पत्ति करता है। शब्द सूक्ष्म नाद, अक्षर-बिन्दु और वर्ण भेदसे तीन प्रकारका है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति तथा शान्त्यतीत, ये कलाएँ बिन्दुकी ही पृथक्-पृथक् अवस्था है। शान्त्यतीत रूप या परबिन्दु समस्त कलाओकी कारणावस्था या लयावस्था है। लययोगके ध्यानका नाम बिन्दु ध्यान है। तान्त्रिक मतमे षट्चक्रोका अभ्यास हुए विना आत्मज्ञान नही होता। इडा और पिंगला नामक दो नाडियोके मध्यमे जो सुषुम्ना नाडी है उसकी छह ग्रन्थियोमे पद्मके आकारके छह चक्र सलग्न है। गुह्यस्थानमे, लिंगमूलमे, नाभिदेशमे, हृदयमे, कण्ठमे और दोनो भ्रूके बीचमे–इन छह स्थानोमे छह चक्र विद्यमान है। ये छह चक्र सुषुम्ना नामकी छह ग्रन्थियोके रूपमे प्रसिद्ध है। इन छह ग्रन्थियोका भेदन करके जीवात्माका परमात्मा-के साथ संयोग किया जाता है। मनुष्य शरीरमे तीन लाख पचास हजार नाडियाँ है। उन सबमे सुषुम्ना नाडी प्रधान है। अन्य समस्त नाडियाँ इसी सुषुम्ना नाडीके आश्रयसे रहती है। इस सुषुम्ना नाडीके मध्यगत चित्रानाडीके मध्य सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर ब्रह्मरन्ध्र है। कुण्डलिनी शक्ति इसी ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा मूलाधारसे सहस्रारमे गमन करती है। इसीसे इस ब्रह्म रन्ध्रको दिव्यमार्ग कहते है। इडा नाडी वाम भागमे स्थित होकर सुषुम्ना नाडीको प्रत्येक चक्रमे घेरती हुई दक्षिण नासापुटसे और पिगल नाडी दक्षिण भागमे स्थित होकर सुषुम्ना नाडीको प्रत्येक चक्रमे परिवेष्टित करके बाये नासापुटसे आज्ञाचक्रमे मिलती है। इडा और पिंगला के बीच-बीचमे सुषुम्ना नाडीके छह स्थानोमे छह शक्तियाँ और छह पद्म निहित है। कुण्डलिनीने कुण्डलित होकर सुषुम्ना नाडी-के समस्त अशको घेर रखा है। तथा अपने मुखमे अपनी पूछको डालकर साढे तीन घेरे दिये हुए स्वयभू लिंगको वेष्ठित करके ब्रह्मद्वारका अवरोध कर सुषुम्नाके मार्गमे स्थित है। यह कुण्डलिनी सर्पका-सा आकार धारण करके जहाँ निद्रा ले रही है, उसी स्थानको मूलाधार चक्र कहते है। मूलाधार चक्रके ऊपर लिंगमूलमे षड्दल विशिष्ट स्वाधिष्ठान नामक चक्र है। स्वाधिष्ठान चक्रके ऊपर नाभिमूलमे मणिपूर नामक दशदलपद्म है। जो योगी इस चक्रमे ध्यान करते है उनकी कामनासिद्धि, दुःखनिवृत्ति और रोगशान्ति होती है, इसके द्वारा वे परदेहमे भी प्रवेश कर सकते है और अनायास ही कालको भी जीतनेमे समर्थ होते है। यह तन्त्रसाधकोका मत है। इसी मतका निरूपण तथा निषेध ग्रन्थकारने श्लोक नम्बर ६०५-६०७ मे किया है। यदि इस प्रकारके प्रपचोमे

योऽविचारितरम्येषु क्षणं देहार्तिहारिषु । इन्द्रियार्थेषु वश्यात्मा सोऽपि योगी किलोच्यते ॥ ६०९
यस्येन्द्रियार्थतृष्णापि जर्जरीकुरुते मनः । तन्निरोधभुवो धाम्नः स ईप्सीत कथं नर. ॥ ६१०
आत्मज्ञः संचितं दोषं यातनायोगकर्मभिः । कालेन क्षपयन्नेति योगी रोगी च कल्पताम् ॥ ६११
लाभेऽलाभे वने वासे मित्रेऽमित्रे प्रियेऽप्रिये । सुखे दुःखे समानात्मा भवेत्तद्ध्यानधीःसदा ॥ ६१२
परे ब्रह्मण्यनूचानो धृतिमैत्रीदयान्वितः । अन्यत्र सूनृताद्वाक्यान्नित्यं वाचंयमी भवेत् ॥ ६१३
संयोगे विप्रलम्भे च निदाने परिदेवने । हिंसायामनृते स्तेये भोगरक्षासु तत्परे ॥ ६१४
जन्तोरनन्तसंसारभ्रमैनोरदनर्त्मनी । आर्तरौद्रे त्यजेद्ध्याने दुरन्तफलदायिनी ॥ ६१५

ये काम हो सकते है तो जप-तप, देवपूजा, दान और शास्त्रपठन, आदि कर्म व्यर्थ ही है ॥६०८॥ कैसी विचित्र बात है कि जो विना विचारे सुन्दर प्रतीत होनेवाले और क्षण भरके लिए शारीरिक पीडाको हरनेवाले इन्द्रियोके विषयोमे फँसा हुआ है वह भी योगी कहा जाता है ॥६०९॥ इन्द्रियोंके विषयोंकी लालसा जिसके मनको सताती रहती है वह मनुष्य इन्द्रियोके निरोधसे प्राप्त होनेवाले मोक्ष धामकी इच्छा ही कैसे कर सकता है ॥६१०॥ रोगी भी अपनेको जानता है। योगी भी अपनी आत्माको जानता है। रोगी अपने शरीरमे सचित हुए दोषको समयसे उपवास आदिके कष्ट तथा औषधादिके द्वारा क्षय कर देता है और नीरोग हो जाता है। योगी भी अपनी आत्मामे सचित हुए दोषको परीषहसहन तथा ध्यानादिकके द्वारा समयसे क्षय कर देता है और मुक्तावस्थाको प्राप्त कर लेता है ॥६११॥ जो ध्यान करना चाहता है उसे सदा हानि और लाभमें, वन और घरमे, मित्र और शत्रुमे, प्रिय और अप्रियमे तथा सुख और दु खमे समभाव रखना चाहिए ॥६१२॥ तथा परम आत्मतत्त्वका पूर्णज्ञान होनेके साथ-साथ धैर्य, मित्रता और दयासे युक्त होना चाहिए। और उसे सदा सत्य वचन ही बोलना चाहिए, अथवा मौनपूर्वक रहना चाहिए ॥६१३॥ **आर्त और रौद्रध्यानका स्वरूप तथा उनको त्यागनेका उपदेश**—सयोग, वियोग, निदान, वेदना, हिंसा झूठ, चोरी और भोगोंकी रक्षामे तत्परतासे होनेवाले आर्त और रौद्रध्यान बुरे फलोको देनेवाले है और जीवको अनन्त ससारमे भ्रमण करानेवाले पापरूपी रथके मार्ग है। इनको त्याग देना चाहिए ॥६१४-६१५॥ **भावार्थ**—पहले ध्यानके तीन भेद बतलाकर आर्तध्यान और रौद्रध्यानको अशुभ ध्यान बतला आये है। यहाँ उन दोनो ध्यानोंका ही स्वरूप बतलाया है। आर्तध्यान चार प्रकारका होता है—एक, अनिष्ट वस्तुका सयोग हो जानेपर उससे छुटकारा पानेके लिए जो रात-दिन अनेक प्रकारके उपायोंका चिन्तन करना है उसे अनिष्टसयोग नामका आर्तध्यान कहते हैं। जैसे किसीको कुरूपा कुलटा पत्नी मिल गयी या कर्कशा पत्नी मिल गयी तो कैसे यह मरे या कैसे इससे पिण्ड छूटे इस प्रकारका निरन्तर चिन्तन करते रहना प्रथम आर्तध्यान है। यदि किसी अप्रिय वस्तुका संयोग हो जाये तो उससे बचनेके लिए रात-दिनका कल्पना छोड़कर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वह अपने अनुकूल हो जाये। दूसरा, इष्टवस्तुका वियोग हो जानेपर उसकी प्राप्तिके लिए जो रात-दिन चिन्तन करते रहना है उसे इष्टवियोग नामका आर्तध्यान कहते है। तीसरा, आगामी भोगोकी प्राप्तिके लिए सतत चिन्ता करना निदान नामका आर्तध्यान है। चौथे, शरीरमे कोई पीडा हो जानेपर उसके दूर करनेके लिए जो रात-दिन चिन्तन करना है उसे वेदना नामका आर्तध्यान कहते है। आशय यह है कि किसी भी

बोध्यागमकपाटे ते मुक्तिमार्गार्गले परे। सोपाने श्वभ्रलोकस्य तत्त्वेक्षावृतिपक्ष्मणी ॥ ६१६
लेशतोऽपि मनो यावदेते समधितिष्ठतः। एष जन्मतरुस्तावदुच्चैः समधिरोहति ॥ ६१७
ज्वलन्नञ्जनमाधत्ते प्रदीपो न रविः पुनः। यथाशयविशेषेण ध्यानमारभते फलम् ॥ ६१८
प्रमाणनयनिक्षेपैः सानुयोगैर्विशुद्धधीः। मतिं तनोति तत्त्वेषु धर्मध्यानपरायणः ॥ ६१९
अरहस्ये यथा लोके सती काञ्चनकर्मणी। अरहस्यं तथेच्छन्ति सुधियः परमागमम् ॥ ६२०
यः स्खलत्यल्पबोधानां विचारेष्वपि मादृशाम्। स संसारार्णवे मज्जज्जन्त्वालम्बः कथं भवेत् ॥ ६२१
अहो मिथ्यातमः पुंसां युक्तिद्योते स्फुरत्यपि। यदन्धयति चेतांसि रत्नत्रयपरिग्रहे ॥ ६२२
आशास्महे तदेतेषां दिनं यत्रारतकल्मषाः। इदमेते प्रपश्यन्ति तत्त्वं दुःखनिबर्हणम् ॥ ६२३
अकृत्रिमो विचित्रात्मा मध्ये च त्रसराजिमान्। मरुत्त्रयीवृतो लोकः प्रान्ते तद्धामनिष्ठितः ॥ ६२४

प्रकारको मानसिक वेदनासे पीडित होकर जो बुरे सकल्प-विकल्प किये जाते हैं वह सब आर्तध्यान है। दूसरा अशुभ ध्यान रौद्रध्यान है। इसके भी चार प्रकार हैं–पहला, दूसरोंको सतानेमे उनको जान लेनेमे आनन्द मानना हिंसानन्दी नामका रौद्रध्यान है। दूसरा, झूठ बोलनेमे आनन्द मानना मृषानन्दी नामका रौद्रध्यान है। तीसरा, चोरी करनेमे आनन्द अनुभव करना, चौर्यानन्दी नामका रौद्रध्यान है। चौथा, विषय-भोगकी सामग्रीका सचय करनेमे आनन्द मानना विषयानन्दी नामका रौद्रध्यान है। ये दोनों ही प्रकारके ध्यान नही करने चाहिए। क्योंकि–ये दोनो अशुभ ध्यान ज्ञानकी प्राप्तिको रोकनेके लिए किवाडके तुल्य है, मुक्तिके मार्गको बन्द करनेके लिए साकलके तुल्य है, नरकलोकमे उतरनेके लिए सीढीके तुल्य है और तत्त्वदृष्टिको ढाँकनेके लिए पलकोके समान है ॥६१६॥ जब तक मनमे ये दोनों अशुभध्यान लेशमात्र भी रहते है तब तक यह जन्मरूपी वृक्ष बराबर ऊँचा होता जाता है ॥६१७॥ जैसे दीपक भी जलता है और सूर्य भी जलता है। किन्तु दीपकके जलनेसे काजल बनता है, सूर्यमे नही। वैसे ही ध्यान भी ध्यान करनेवालेके अच्छे या बुरे भावोके अनुसार ही अच्छा या बुरा फल देता है ॥६१८॥ (अब धर्मध्यानका वर्णन करते है–) जो निर्मल बुद्धि मनुष्य धर्मध्यान करता है वह प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगद्वारोके साथ तत्त्वोका चिन्तन करनेमे मनको लगाता है। ६१९॥ (धर्मध्यानके चार भेद हैं–आज्ञाविचय, अपायविचय, लोक या संस्थानविचय और विपाकविचय। इनमेसे प्रत्येकका स्वरूप बतलाते है–) जैसे ससारमे सोनेके दो काम प्रकट रूपमे होते है–एक उसे कसौटीपर कसा जाता है–दूसरे, उसे छैनीसे काटकर देखा जाता है। इन दो कामोसे सोनेकी पहचान भलीभाँति हो जाती है। वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्य परमागमको भी गूढतारहित ही पसन्द करते है। आशय है कि सोनेके समान परमागम भी ऐसा होना चाहिए जिसे सत्यकी कसौटीपर कसा जा सके। किन्तु जो आगम हमारे सरीखे अल्पज्ञानियोके विचारोकी कसौटीपर भी खरा नही उतरता, वह ससाररूपी समुद्रमे डूबते हुए जीवोका सहारा कैसे हो सकता है ॥६२०–६२१॥

अपायविचयका स्वरूप–आश्चर्य है कि युक्तिरूपी प्रकाशके फैले रहते भी मिथ्यात्वरूपी अन्धकार रत्नत्रयको ग्रहण करनेमे मनुष्योके चित्तोको अन्धा बनाता है। हम उस दिनकी आशा करते है जब ये मनुष्य पापोको दूर करके दुःखोसे छुडानेवाले तत्त्वको देख सकेगे ॥६२२-६२३॥

लोकविचयका स्वरूप–यह लोक अकृत्रिम है–इसे किसी ने बनाया नही है। तथा इसका स्वरूप भी विचित्र है–कोई मनुष्य दोनो पैर फैलाकर और दोनो हाथ दोनो कूल्होंपर रखकर खडा हो तो उसका जैसा आकार होता है वैसा ही आकार इस लोकका है। उसके बीचमे चौदह

रेणुवज्जन्तवस्तत्र तिर्यगूर्ध्वमधोऽपि च । अनारतं भ्रमन्त्येते निजकर्मानिलेरिता. ॥ ६२५
इति चिन्तयतो धर्म्यं यतात्मेन्द्रियचेतस· । तमांसि द्रवमायान्ति द्वादशात्मोदयादिव ॥ ६२६
भेदं विवर्जितामेदमभेदं भेदवर्जितम् । ध्यायन्सूक्ष्मक्रियाशुद्धो निष्क्रियं योगमाचरेत् ॥ ६२७
विलीनाशयसम्वन्ध शान्तमारुतसचय· । देहातीत. परंधाम कैवल्यं प्रतिपद्यते ॥ ६२८

राजू लम्बी और एक राजू चौडी त्रसनाली है । त्रसजीव उसी त्रसनालीमें रहते है । यह लोक चारो ओरसे तीन वातवलयोसे घिरा हुआ है । उन वातवलयोका नाम घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातलय हैं । वलय कडेको कहते हैं । जैसे कडा हाथ या पैरको चारो ओरसे घेर लेता है वैसे ही ये तीन वायु भी लोकको चारो ओरसे घेरे हुए है । इसलिए उन्हे वातवलय कहते है। तथा लोकके ऊपर उसके अग्रभागमे सिद्ध स्थान है,जहाँ मुक्त हुए जीव सदा निवास करते है। इस प्रकार लोकके स्वरूपका चिन्तन करनेको लोकविचय या सस्थानविचय धर्मध्यान कहते हैं ।।६२४।।

विपाकविचयका स्वरूप- उस लोकके ऊपर नीचे और मध्यमे सर्वत्र अपने कर्मरूपी वायुसे प्रेरित होकर धूलिके समान जीव सदा भ्रमण करते हैं । इस प्रकार कर्मोके विपाक यानी उदय का चिन्तन करनेको विपाकविचय धर्मध्यान कहते है।।६२५।. **भावार्थ**–जैसे वायुके झोकेसे धूलके कण उडते फिरते है वैसे ही अपने-अपने अच्छे या बुरे कर्मोके प्रभावसे जीव भी तीनों लोकोंमें सदा भ्रमण करते रहते है। अपने-अपने उपार्जन किये हुए कर्मके फलका जो उदय होता है उसे विपाककहते है। वह विपाक प्रतिक्षण होता रहता है और अनेक रूप होता हैं । उसका विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान कहा जाता हैं। इस प्रकार अपनी इन्द्रियोकी और चित्तको सयत करके जो धर्मध्यान करता है उसका अज्ञान ऐसा विलुप्त होता है जैसे सूर्यके उदयसे अन्धकार नष्ट होता है।।६२६।। (धर्मध्यानके बाद शुक्लध्यान होता है। अत. *शुक्लध्यानका स्वरूप बतलाते है* -) अभेदरहित भेद अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और भेदरहित अभेद अर्थात् एकत्ववितर्क शुक्लध्यानको करके जीवसूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति नामक ध्यानको करता है और फिर क्रियानिवृत्ति नामक चौथे शुक्लध्यानको करता हैं । इसके करते ही आत्मासे समस्त कर्मोका सम्वन्ध छूट जाता हैं । श्वासोच्छ्वास रुक जाता है और अशरीरी आत्मा परधाम–मोक्षको प्राप्त करता है ।।६२७-६२८।। **भावार्थ**–जो ध्यान क्रियारहित इन्द्रियातीत और अन्तर्मुख होता है उसे शुक्लध्यान कहते है। कषायरूपी मलके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे आत्माके परिणाम निर्मल हो जाते है और उन परिणामोंके होते हुए ही यह ध्यान होता है, इसलिए आत्माके शुचि गुणके सम्वन्धसे इसे शुक्लध्यान कहते है। उसके चार भेद है–पृथक्त्व-वितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और क्रिया निवृत्ति । इनमे-से पहलेके दो शुक्लध्यान उपशम श्रेणी या क्षपकश्रेणीवाले जीवोके होते है और शेष दो शुक्लध्यान केवलज्ञानियोके होते हैं पहला शुक्लध्यान वितर्क वीचार और पृथक्त्वसहित होता हे । इसमे पृथक-पृथक् रूपसे श्रुतज्ञान और योग वदलता रहता है। इसलिए इसे पृथक्त्व वितर्क वीचार कहते हे । पृथक्त्व अनेकपनेको कहते हैं। वितर्क श्रुतज्ञानको कहते है और वीचार ध्येय,वचन और योगके सक्रमणको कहते हैं। जिस शुक्लध्यानमे ये तीनो वातें होती हैं उसे पहला शुक्लध्यान जानना चाहिए । दूसरा शुक्लध्यान वितर्कसहित विचाररहित अतएव एकत्वविशिष्ट होता है । इस ध्यानमें ध्यानी मुनि एकद्रव्य अथवा एक पर्यायको एक योगसे चिन्तन करता है । इसमें अर्थ, व्यजन और योगका सक्रमण नही होता इसलिए इसे एकत्व वितर्क कहते हे। इस ध्यानसे घातिकर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।और ध्यानी

**प्रक्षीणोभयकर्माणं जन्मदोषैर्विवर्जितम् । लब्धात्मगुणमात्मानं मोक्षमाहुर्मनीषिणः ॥ ६२९
मार्गसूत्रमनुप्रेक्षा. सप्त तत्त्वं जिनेश्वरम् । ध्यायेदागमचक्षुष्मान्प्रसंख्यानपरायण· ॥ ६३०
ज्ञाने तत्त्वं यथैतिह्य श्रद्दधे तदनन्यधीः । मुञ्चेऽहं सर्वमारम्भमात्मन्यात्मानमादधे ॥ ६३१
आत्माय बोधिसपत्तेरात्मन्यात्मानभात्मना । यदा सूते तदात्मानं लभते परमात्मना ॥ ६३२
ध्यातात्मा ध्येयमात्मैव ध्यानमात्मा फल तथा । आत्मा रत्नत्रयात्मोक्तो यथायुक्तिपरिग्रह ।६३३
सुखामृतसुधासूतिस्तद्रवेरुदयाचल । पर ब्रह्माहमत्रासे तम.पाशवशीकृत ॥ ६३४
यदा चकास्ति मे चेतस्तद्ध्यानोदयगोचरम् । तदाहं जगतां चक्षु. स्यामादित्य इवातमाः॥ ६३५
आदौ मध्वमधु प्रान्ते सर्वमिन्द्रियजं सुखम् । प्रात स्नायिषु हेमन्ते तोयमुष्णमिवाङ्गिषु ॥ ६३६
यो दुरामयदुर्दृशो बद्धग्रासो यमोऽङ्गिनि । स्वभावसुभगे तस्य स्पृहा केन निवार्यते ॥ ६३७**

मुनि सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है । उसके बाद आयु जब अन्तर्मूहूर्त प्रमाण शेष रहती है तब तीसरा शुक्लध्यान होता है । इसे करनेके लिए पहले केवली बादर काययोगमे स्थिर होकर बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको सूक्ष्म करते है । फिर काययोगको छोडकर वचनयोग और मनोयोगमे स्थिति करके बादर काययोगको सूक्ष्म करते है । पश्चात् सूक्ष्म काययोगमे स्थिति करके वचनयोगका और मनोयोगका निग्रह करते है तब सूक्ष्मक्रिय नामक ध्यानको करते है । इसके बाद अयोगकेवली गुणस्थानमे योगका अभाव हो जानेसे आस्रवका निरोध हो जाता है । उस समय वे अयोगी भगवान् समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यानको ध्याते है । इस ध्यानमे श्वासोच्छ्वासका सचार ओर समस्तयोग तथा आत्माके प्रदेशोका हलन-चलन आदि क्रियाएँ नष्टहो जाती है । इसलिए इसे समुच्छिन्नक्रिय या क्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान कहते है । इसके प्रकट होनेपर अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमे कर्मोकी ७२ प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती है । अन्तसमयमे बाकी बची १३ प्रकृतियाँ भी नष्ट हो जाती है और योगी सिद्धपरमेष्ठी बन जाता है (शुक्लध्यानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होनी है,अत· मोक्षका स्वरूप बतलाते है–) जिसके द्रव्यकर्म और भावकर्म नष्ट हो गये है, अतएव जो जन्म, जरा, मृत्यु आदि दोषोसे रहित है तथा अपने गुणोको प्राप्त कर चुका है उस आत्माको बुद्धिमान् मनुष्य मोक्ष कहते है ॥६२९॥ शास्त्रद्रष्टा ध्यानी पुरुषको सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्ग ' इस सूत्रका बारह अनुप्रेक्षाओका, साततत्त्वोका और जिनेन्द्र भगवान्का ध्यान करना चाहिए ॥६३०॥ मै आगमानुसार तत्त्वोको जानता हूँ और एकाग्र मन होकर उनका श्रद्धान करता हूँ । तथा समस्त आरम्भको छोडता हूँ और अपनेमे अपनेको लगाता हूँ ॥६३१॥ जब यह ज्ञानरूप सम्पत्तिका स्वामी आत्मा आत्मासे आत्मामे आत्माको ध्यान करता है तब आत्माको परमात्मरूपसे पाता है ॥६३२॥ आत्मा ध्यान करनेवाला है, आत्मा ही ध्येय है, आत्मा ही ध्यान है और रत्नत्रयमयी आत्मा ही ध्यानका फल है । युक्तिके अनुसार उसको ग्रहण करना चाहिए ॥६३३॥ मै सुखरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा हूँ । तथा सुखरूपी सूर्यकेलिए उदयाचल हूँ । मै परब्रह्म स्वरूप हूँ किन्तु अज्ञानान्धकाररूपी जालमे फँसकर इस शरीरमे ठहरा हुआ हूँ ॥६३४॥ जब मेरे चित्तमे उस ध्यानका उदय होगा तब मै अन्धकाररहित सूर्यके समान ससारका द्रष्टा हो जाऊँगा ॥६३५॥ जितना भी इन्द्रियजन्य सुख है, वह प्रारम्भमे मीठा प्रतीत होता है किन्तु अन्तमे कटुक ही लगता है । जैसे जो लोग शीतऋतुमे प्रात स्नान करते है उन्हे पानी उष्ण प्रतीत होता है ॥६३६॥ जो यमराज रोगसे ग्रस्त और देखनेमे असुन्दर प्राणीको खानेके लिए

जन्मयौवनसंयोगसुखानि यदि देहिनाम् । निर्विपक्षाणि को नाम सुधीः संसारमुत्सृजेत् ॥ ६३८
अनुयाचेत नायूंषि नापि मृत्युमुपाहरेत् । भृतो भृत्य इवासीत कालावधिमविस्मरन् ॥ ६३९
महाभागोऽहमद्यास्मि यत्तत्त्वरुचितेजसा । सुविशुद्धान्तरात्मासे तमःपारे प्रतिष्ठित. ॥ ६४०
तन्नास्ति यदहं लोके सुखं दुःखं च नाप्तवान् । स्वप्नेऽपि न मया प्राप्तो जैनागमसुधारसः ॥६४१
सम्यगेतत्सुधाम्भोबिन्दुमप्यालिहन्मुहु । जन्तुर्न जातु जायेत जन्मज्वलनभाजनः ॥ ६४२
देवं देवसभासीनं पञ्चकल्याणनायकम् । चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतं प्रातिहार्योपशोभितम् ॥ ६४३
निरञ्जनं जिनाधीशं परमं रमयाश्रितम् । अच्युतं च्युतदोषौघमभवं भवभृद्गुरुम् ॥ ६४४
सर्वसंस्तुत्यमस्तुत्यं सर्वेश्वरमनीश्वरम् । सर्वाराध्यमनाराध्यं सर्वाश्रयमनाश्रयम्॥ ६४५
प्रभवं सर्वविद्यानां सर्वलोकपितामहम् । सर्वसत्त्वहितारम्भं गतसर्वमसर्वगम् ॥ ६४६
नम्रामरकिरीटांशुपरिवेषनभस्तले । भवत्पादद्वयद्योतिनखनक्षत्रमण्डलम् ॥ ६४७
स्तूयमानमनूचानैर्ब्रह्मोद्यैर्ब्रह्मकामिभि । अध्यात्मागमवेधोभिर्योगिमुख्यैर्महर्द्धिभि ॥ ६४८

तैयार रहता है, स्वभावसे ही सुन्दर मनुष्यमे उसकी रुचिको कौन हटा सकता है? ॥६३७॥ यदि प्राणियोके जन्म,यौवन,संयोग और सुखके विपक्षी मृत्यु,बुढापा, वियोग और दु ख न होते तो कौन बुद्धिमान् ससारको छोडता? ॥६३८॥ अत. न तो आयुकी याचना करना चाहिए कि मै और अधिक दिनों तक जीता रहूँ, और न मृत्युको बुलाना चाहिए कि मै जल्दी मर जाऊँ किन्तु अपने जीवनकी अवधिको न भूलकर वेतन पानेवाले नौकरकी तरह रहना चाहिए ॥६३९॥ आज मै वडा भाग्यशाली हूँ, क्योंकि तत्त्वरुचिरूपी तेजसे मेरा अन्तरामा सुविशुद्ध हो गया है और मै मिथ्यात्वरूपी अन्धकारको पार कर चुका हूँ ॥६४०॥ ससारमे ऐसा कोई सुख और दु ख नही है जो मैने नही भोगा। किन्तु जैनागमरूपी अमृतका पान मैने स्वप्नमे भी नही किया ॥६४१॥ इस अमृतके सागरकी एक बूदको भी वार-वार आस्वादन करनेवाला प्राणी फिर कभी भी जन्मरूपी अग्निका पात्र नही बनता ॥६४२॥ (अव अर्हन्तदेवका ध्यान करनेकी प्रेरणा करते है—) समवसरणमे विराजमान,पाँच कल्याणकोके नायक,चौंतीस अतिशयोसे युक्त, आठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित, घातियाकर्मरूपी मलसे रहित,उत्कृष्ट अन्तरंग और वहिरग लक्ष्मीसे वेष्टित,जिनश्रेष्ठ,आत्म स्वरूपसे कभी च्युत न होनेवाले, दोषसमूहसे रहित, ससारातीत किन्तु ससारी प्राणियोके गुरु, स्वयं सवके द्वारा स्तुति करनेके योग्य,किन्तु जिनके लिए कोई भी स्तुति-योग्य नही, स्वय सवके स्वामी किन्तु जिनका स्वामी कोई नही, सवके आराध्य किन्तु जिनका कोई आराध्य नही,सवके आश्रय किन्तु जिनका कोई आश्रय नही,समस्त विद्याओके उत्पत्तिस्थान, सव लोकोके पितामह, सव प्राणियोके हितू, सवके ज्ञाता, स्वशरीर प्रमाण, नमस्कार करते हुए देवोके मुकुटोके किरणजालरूपी आकाशमे जिनके दोनो चरणोके प्रकाशमान नख नक्षत्रमण्डलके समान प्रतीत होते है. ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मको पानेके इच्छुक अध्यात्म शास्त्रके रचयिता ऋद्धिधारी ऋषिगण जिनकी स्तुति करते है, उन रूपरहित किन्तु सवका निरूपण करनेवाले,स्वय शब्दरूप न होते हुए भी शब्द यानी आगमके द्वारा कहे जानेवाले,स्पर्शगुणसे रहित किन्तु ध्यानके द्वारा स्पृष्ट,रस गुणसे रहित किन्तु सरस उपदेशके दाता, गन्ध गुणसे रहित किन्तु गुणोंकी सुगन्धसे विशिष्ट, इन्द्रियोके सम्बन्धसे रहित किन्तु इन्द्रियोके विषयोके प्रकाशक, आनन्दरूपी धान्यकी उत्पत्तिके लिए पृथ्वीकी तृष्णारूपी अग्निको लपटोंको शान्त करनेके लिए पानी,दोषरूपी धूलिको हटानेके लिए वायु,पाप गी

नीरूपं रूपिताशेषमशब्द शब्दनिष्ठितम् । अस्पर्शं योगसंस्पर्शमरसं सरसागमम् ।। ६४९
गुणं सुरभितात्मानमगन्धगुणसगमम् । व्यतीतेन्द्रियसबन्धमिन्द्रियार्थावभासकम् ।। ६५०
भवमानन्दसस्यानामम्भस्तृष्णानलार्चिषाम् । पवनं दोषरेणूनामग्निमेनोवनीरुहाम् ।। ६५१
यजमान सदर्थानां व्योमालेपादिसंपदाम् । भानुं भव्यारविन्दानां चन्द्रं मोक्षामृतश्रियाम् ।। ६५२
अतावकगुणं सर्व त्व सर्वगुणभाजनः । त्वं सृष्टि सर्वकामानां कामसृष्टिनिमीलनः ।। ६५३
खसुप्तदीपनिर्वाणेऽप्राकृते वा त्वयि स्फुटम् । खसुप्तदीपनिर्वाणं प्राकृतं स्याज्जगत्त्रयम् ।। ६५४
त्रयीमार्ग त्रयीरूपं त्रयीमुवत्र त्रयीपतिम् । त्रयीव्याप्त त्रयीतत्त्व त्रयीचूडामणिस्थितम् ।। ६५५
जगतां कौमुदीचन्द्रं कामकल्पावनीरुहम् । गुणचिन्तामणिक्षेत्र कल्याणागमनाकरम् ।। ६५६
प्रणिधानप्रदीपेषु साक्षादिव चकासतम् । ध्यायेज्जगत्त्रयार्चार्हमर्हन्त सर्वतो मुखम् ।। ६५७
आहुस्तस्मात्परं ब्रह्म तस्मादैन्द्र पदं करे । इमास्तस्मादयत्नाप्याश्चक्राङ्का क्षितिपश्रियः ।। ६५८
य यमध्यात्ममार्गेषु भावमस्मयमत्सराः । तत्पदाय दधत्यन्तः स स तत्रैव लीयते ।। ।। ६५९]
अनुपायानिलोद्भ्रान्त पुंस्तरूणां मनोदलम् : तद्भूमावेव भज्येत लीयमानं चिरादपि ।। ६६०

वृक्षोको जलानेके लिए अग्नि, आकाशकी तरह निर्लिप्त रहना आदि उत्तमोत्तम सम्पत्तियोके दाता, भव्यरूपी कमलोके विकासके लिए सूर्य, मोक्षरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा, अलौकिक गुणशाली, समस्त गुणोके भाजन, सब मनोरथोको पूर्ण करनेवाले कामविकारको दूर करनेवाले, नैयायिक मतमे निर्वाणका स्वरूप आकाशकी तरह माना गया है क्योकि मुक्त अवस्थामे आत्माके विशेष गुणोका उच्छेद हो जाता है। सांख्य मतमे निर्वाणका स्वरूप सोये हुए मनुष्यकी तरह माना गया है क्योकि मुक्तावस्थामे ज्ञान नही रहता, बौद्ध मतमे दीपकके निर्वाणकी तरह आत्माका निर्वाण माना गया है किन्तु अर्हन्त भगवान्मे तीनो प्रकारके निर्वाण अपने प्राकृत स्परूपमे विद्यमान है। राग-द्वेष और मोहसे रहित होनेके कारण वे प्राय. आकाशकी तरह शून्य है, ध्यानमे लीन होनेके कारण सुप्त है और दीपकी तरह केवलज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोके प्रकाशक है. रत्नत्रय जिनका मार्ग है, सत्ता,सुख,और चैतन्यसे विशिष्ट होनेके कारण जो त्रयीरूप हैं,राग-द्वेष और मोहसे मुक्त हे स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोकके स्वामी है,तीनो लोकोको जान लेनेके कारण तीनो लोकोमे व्याप्त है, अथवा सदा रहनेसे तीनो कालोमे व्याप्त है,उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है, तीनो लोकोके शिखरपर विराजमान है तथा जगत्के लिए पूर्णिमासीके चन्द्रमा है, इच्छित वस्तुके लिए कल्पवृक्ष है, गुणरूपी चिन्तामणिके स्थान, कल्याणकी प्राप्तिके लिए खनि. तीनो लोकोसे पूजनीय और ध्यानरूपी दीपकोके प्रकाशमे साक्षात् चमकनेवाले अर्हन्त भगवान्का ध्यान करना चाहिए।।६४३–६५७।। उन अर्हन्तका ध्यान करनेसे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है,उनका ध्यान करनेसे इन्द्रपद तो हाथमे ही समझना चाहिए। तथा चक्रवर्तीकी विभूति भी बिना प्रयत्नके प्राप्त हो जाती है।।६५८।। मान और ईर्षासे रहित पुरुष अध्यात्म-मार्गमे अपने अन्तकरणमे अर्हन्तपदकी प्राप्तिके लिए जो-जो भाव रखते है वह-वह भाव उसीमे लीन हो जाता है।।६५९।। पुरुषरूपी वृक्षोका मनरूपी पत्ता मोक्षके लिए जो उपायरूप नही है ऐसे मिथ्यादर्शन आदि रूप वायुसे सदा चचल बना रहता है। किन्तु अर्हन्तरूपी भूमिमे पहुँचकर वह मनरूपी पत्ता टूटकर उसीमे चिरकालके लिए लीन हो जाता है।।६६०।। **भावार्थ**–पुरुष एक वृक्ष है और मन उसका पत्ता है। जैसे वायुसे पत्ता सदा हिलता रहता है वैसे ही नाना प्रकारके सासारिक धन्धोमे

**ज्योतिरेकं परं वेष: करीषाश्वसमित्सम: । तत्प्राप्त्युपायविड्मूढा भ्रमन्ति भवकानने ॥ ६६१
परापरपरं देवमेवं चिन्तयतो यते: । भवन्त्यतीन्द्रियास्ते ते भावा लोकोत्तरश्रिय. ॥ ६६२
व्योमच्छायानरोत्सङ्गि यथामूर्तमपि स्वयम् । योगयोगात्तथात्माऽयं भवेत्प्रत्यक्षवीक्षण: ॥ ६६३
न ते गुणा न तज्ज्ञानं न सा दृष्टिर्न तत्सुखम् । यद्योगद्योतने न स्यादात्मन्यस्ततमश्चये ॥ ६६४
देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवता । समं पूजाविधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदध: ॥ ६६५
ता: शासनाधिरक्षार्थं कल्पिता. परमागमे । अतो यज्ञांशदानेन माननीया: सुदृष्टिभि. ॥ ६६६
तच्छासनैकभक्तीनां सुदृशां सुव्रतात्मनाम् स्वयमेव प्रसीदन्ति ता. पुंसां सपुरन्दरा: ॥ ६६७
तद्धामबद्धकक्षाणां रत्नत्रयमहीयसाम् । उभे कामदुधे स्यातां द्यावाभूमी मनोरथै: ॥ ६६८
कुर्यात्तपो जपेन्मन्त्रान्नमस्येद्वापि देवता. । सस्पृहं यदि तच्चेतो रिक्त: सोऽमुत्र चेह च ॥ ६६९
ध्यायेद्वा वाङ्मयं ज्योतिर्गुरुपञ्चकवाचकम् एतद्धि सर्वविद्यानामधिष्ठानमनश्वरम् ॥ ६७०**

फँसे रहनेके कारण मनुष्यका मन भी सदा चंचलबना रहता है। किन्तु जब मनुष्य मोक्षके उपाय मे लगकर अपने मनको स्थिर करनेका प्रयत्न करता है और अर्हन्तका ध्यान करता है तो उसका मन उसीमे लीन होकर उसे अर्हन्त बना देता है और तब मनरूपी पत्ता टूटकर गिरपडता है क्योकि अर्हन्त अवस्थामे भाव मन नही रहता। जैसे आग एक है किन्तु कण्डा पत्थर और लकडी-के रूपमें वह विभिन्न आकार धारण कर लेती है। वैसे ही आत्मा एक है किन्तु स्त्री, नपुसक और पुरुषके वेषमे वह तीन रूप प्रतीत होती है। उस आग या आत्माकी प्राप्तिके उपायोसे अन-जान मनुष्य ससाररूपी जगलमें भटकते फिरते है ॥६६१॥ इस प्रकार जो मुनि पर और अपरसे भी श्रेष्ठ श्री अर्हन्तदेवका ध्यान करता है उसके बडे उच्च अलौकिक भाव होते है जिन्हे हम इन्द्रियोंसे नही जान सकते ॥६६२॥ जैसे आकाश स्वयं अमूर्तिक है फिर भी पुरुषकी छायाके संसर्गसे शून्य आकाशमे भी पुरुषका दर्शन होता है वैसे ही यद्यपि आत्मा अमूर्तिक है फिर भी ध्यानके सम्बन्धसे उसका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है ॥६६३॥ न ऐसे कोई गुण है, न कोई ज्ञान है, न ऐसी कोई दृष्टि है और न ऐसा कोई सुख है जो अज्ञान आदि रूप अन्धकारके समूहका नाश हो जानेपर ध्यानसे प्रकाशित आत्मामे न होता हो। अर्थात् ध्यानके द्वारा आत्मामे अज्ञानरूप अन्धकारके नष्ट हो जानेपर ज्ञानादि सभी गुण प्रकाशित हो जाते है ॥६६४॥ (कुछ व्यन्तरादिक देवता जिनशासनके रक्षक माने जाते है। कुछ लोक उनकी भी पूजा करते है। उसके विषयमे ग्रन्थकार बतलाते है—) जो श्रावक तीनो लोकोके द्रष्टा जिनेन्द्र देवको और व्यन्तरादिक देवताओको पूजाविधानमे समान रूपसे मानता हे अर्थात् दोनोकी समान रूपसे पूजा करता हैं वह नरकगामी होता है ॥६६५॥ परमागममे जिनशासनकी रक्षाके लिए उन शासन-देवताओकी कल्पना की गयी है अत: पूजाका एक अग देकर सम्यग्दृष्टियोको उनका सम्मान करना चाहिए ॥६६६॥ जो व्रती सम्यग्दृष्टि जिनशासनमे अचल भक्ति रखते हैं उनपर वे व्यन्तरादिक देवता और उनके इन्द्र स्वय ही प्रसन्न होते है ॥६६७॥ जो रत्नत्रयके धारक मोक्ष-धामकी प्राप्तिके लिए कमर कस चुके है, भूमि और आकाश दोनो ही उनके मनोरथोको पूर्ण करते है। ६६८॥ तप करो, मन्त्रोंका जाप करो अथवा देवोंको नमस्कार करो, किन्तु यदि चित्तमे सांसारिक वस्तुओंकी चाह है कि हमे यह मिल जाये तो वह इस लोकमे भी खाली हाथ रहता है और परलोकमे भी खाली हाथ रहता है ॥६६९॥ अथवा पञ्चपरमेष्ठीके वाचक मत्रका ध्यान

ध्यायन् विन्यस्य देहेऽस्मिन्निदं मन्दिरमुद्रया । सर्वनामादिवर्णार्हं वर्णाद्यन्तं सबीजकम् ।। ६७१
तप श्रुतविहीनोऽपि तद्धयानाविद्धमानस । न जातु तमसां स्रष्टा तत्तत्त्वरुचिदीप्तधीः ।। ६७२
अधीत्य सर्वशास्त्राणि विधाय च तप परम् । इमं मन्त्र स्मरन्त्यन्ते मुनयोऽनन्यचेतस ।। ६७३
मन्त्रोऽय स्मृतिधाराभिश्चित्तं यस्याभिवर्षति । तस्य सर्वे प्रशाम्यन्ति क्षुद्रोपद्रवपांसव ।। ६७४
अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दु स्थितोऽपि वा । भवत्येतत्स्मृतिर्जन्तुरास्पदं सर्वसपदाम् ।। ६७५
उक्त लोकोत्तरं ध्यान किञ्चिल्लौकिकमुच्यते । प्रकीर्णकप्रपञ्चेन दृष्टादृष्टफलाश्रयम् ।। ६७६
पञ्चमूर्तिमय बीजं नासिकाग्रे विचिन्तयन् । निधाय संगमे चेतो दिव्यज्ञानमवाप्नुयात् ।। ६७७
यत्र तत्र हृषीकेऽस्मिन्निदधीताचलं मन । तत्र तत्र लभेताय बाह्यग्राह्याश्रय सुखम् ।। ६७८
स्थूल सूक्ष्म द्विधा ध्यान तत्त्वबीजसभाश्रयम् । आद्येन लभते कामं द्वितीयेन पर पदम् ।। ६७९
पद्ममुत्थापयेत्पूर्वं नाडीं संचालयेत्तत । मरुच्चतुष्टयं पश्चात्प्रचारयतु चेतसि ।। ६८०

करना चाहिए, क्योकि यह मत्र सब विद्याओका अविनाशी स्थान है ।।६७०।। जिसमे पञ्च नमस्कार मत्रके पाँचो पदोके प्रथम अक्षर सन्निविष्ट है ऐसे 'अर्ह' इस मन्त्रको इस शरीरमे स्थापित करके मन्दिर मुद्राके द्वारा ध्यान करनेवाला मनुष्य तप और श्रुतसे रहित होनेपर भी कभी अज्ञानका जनक नही होता, क्योकि उसकी बुद्धि उस तत्त्वमे रुचि होनेसे सदा प्रकाशित रहती है ।।६७१-६७२।। सब शास्त्रोका अध्ययन करके तथा उत्कृष्ट तपस्या करके मुनिजन अन्त समय मन लगाकर इसी मन्त्रका ध्यान करते है ।।६७३।। यह मन्त्र जिसके चित्तमे स्मृतिरूपी धाराओके द्वारा बरसता है अर्थात् जो बारम्बार अपने चित्तमे इस मन्त्रका स्मरण करता है, उसके छोटे-मोटे सब उपद्रवरूपी धूल शान्त हो जाती है ।।६७४।। अपवित्र या पवित्र, ठीक तरहसे स्थित या दु स्थित जो प्राणी इस मन्त्रका स्मरण करता है उसे सब सम्पत्तियाँ प्राप्त होती है ।।६७५।। अलौकिक ध्यानका वर्णन हो चुका । अब उसको चूलिकाके रूपमे दृष्ट और अदृष्ट फलके दाता लौकिक ध्यानका कुछ वर्णन करते है ।।६७६।। नाकके अग्र भागमे दृष्टिको स्थिर करके और मनको भौंहोके बीचमे स्थापित करके जो पचपरमेष्ठीके वाचक 'ओं' मन्त्रका ध्यान करता है वह दिव्य ज्ञानको प्राप्त करता है ।।६७७।। जिस-जिस इन्द्रियमे यह मनको स्थिर करता है, इसे उस-उस इन्द्रियमे वाह्य पदार्थोके आश्रयसे होनेवाला सुख प्राप्त होता है ।।६७८।। ध्यानके दो भेद है—एक स्थूलध्यान, दूसरा सूक्ष्मध्यान । स्थूलध्यान किसी तत्त्वका साहाय्य लेकर होता है और सूक्ष्मध्यान बीजपदका साहाय्य लेकर होता है । स्थूलध्यानसे इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होती है और सूक्ष्मध्यानसे उत्तम पद मोक्ष प्राप्त होता है ।।६७९।। पहले नाभिमे स्थित कमलका उन्थापन करे । फिर नाडीका सचालन करे । फिर जो पृथ्वी, अग्नि, वायु और जल ये चार वायुमण्डल स्थित है उनको आत्मामे प्रचारित करे ।।६८०।। **भावार्थ**—योग अथवा ध्यानके आठ अंग है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । ध्यानकी सिद्धि और अन्तरात्माकी स्थिरताके लिए प्राणायामको भी प्रशसनीय बतलाया है । प्राणायामके तीन भेद है—पूरक, कुम्भक और रेचक । नासिकाके द्वारा वायुके अन्दरकी ओर ले जाकर शरीरमे पूरनेको पूरक कहते है । उस पूरक वायुको स्थिर करके नाभिकमलमे घडेकी तरह भरकर रोके रखनेका नाम कुम्भक है । और फिर उस वायुको यत्नपूर्वक धीरे-धीरे बाहर निकालनेको रेचक कहते है । इसके अभ्यासके मन स्थिर होता है । मनमे सकल्पविकल्प नही उठते, और कपायोको साथ विपयोकोचाह भी घट जाती है । प्राणायामके

दीपहस्तो यथा कश्चित्किंचिदालोक्य तं त्यजेत् । ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात्तं ज्ञानमुत्सृजेत्॥६८१
सर्वपापास्रवे क्षीणे ध्याने भवति भावना । पापोपहतबुद्धीनां ध्यानवार्ताऽपि दुर्लभा ॥ ६८२
दधिभावगतं क्षीरं न पुनः क्षीरतां व्रजेत् । । तत्त्वज्ञानविशुद्धात्मा पुनः पापैर्न लिप्यते ॥६८३
मन्दं मन्दं क्षिपेद्वायुं मन्दं मन्दं विनिक्षिपेत् । न क्वचिद्धार्यते वायुर्न च शीघ्रं प्रमुच्यते । ६८४
रूपं स्पर्शं रसं गन्धं शब्दं चैव विदूरतः । आसन्नमिव गृण्हान्ति विचित्रा योगिनां गतिः ॥ ६८५
दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥ ६८६
नाभौ चेतसि नासाग्रे दृष्टौ भाले च मूर्धनि । विहारयेन्मनो हंसं सदा कायसरोवरे ॥ ६८७
यायाद्व्योम्नि जले तिष्ठेन्निषीदेदनलार्चिषि । मनोमरुत्प्रयोगेण शस्त्रैरपि न बाध्यते ॥ ६८८
जीवः शिवः शिवो जीवः किं भेदोऽस्त्यत्र कश्चन । पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्त शिवः पुन ॥६८९

अभ्यासी योगीको चार पवनमण्डलोको भी जानना आवश्यक है . ये चारो पवनमण्डल नासिकाके छिद्रमे स्थित है। इनका ज्ञान सरल नही हैं। प्राणायामके महान् अभ्याससे ही इन चार पवन-मण्डलोंका अनुभव हो सकता है। ये चार पवनमण्डल है–पार्थिव, वारुण, मरुत ओर आग्नेय। इनका स्वरूप ज्ञानार्णवके २९ वे प्रकरणमे वर्णित है । वहाँ से जाना जा सकता है । इन पवन-मण्डलोंकी साधनाके द्वारा लौकिक शुभाशुभ जाना जा सकता है। यह ऊपर कहा ही है कि लौकिक ध्यानका वर्णन करते है सो यह सब वशीकरण,स्तम्भन,उच्चारण आदि लौकिक क्रियाओके लिए उपयोगी हैं। जैसे कोई आदमी दीपक हाथमे लेकर और उसके द्वारा आवश्यक पदार्थको देखकर उस दीपकको छोड देता है वैसे ही ज्ञानके द्वारा ज्ञेय पदार्थको जानकर पीछे उस ज्ञानको छोड देना चाहिए ॥६८१॥ समस्त पापकर्मोका आस्रव रुक जानेपर ही मनुष्यको ध्यान करनेकी भावना होती है। जिनकी वृद्धि पापकर्ममें लिप्त है उनके लिए तो ध्यानकी चर्चा भी दुर्लभ है । अर्थात् पापी मनुष्य ध्यान करना तो दूर रहा, ध्यानका नाम भी नही ले पाते ॥६८२॥ तथा जैसे जो विशुद्ध हो जाता है वह फिर दूधरूप नही हो सकता, वैसे ही जिसका आत्मा तत्त्वज्ञानसे विशुद्ध हो जाता है वह फिर पापोंसे लिप्त नही होता ॥ ६८३॥ ध्यान करते समय वायुको धीरे-धीरे छोडना चाहिए और धीरे-धीरे ग्रहण करना चाहिए। न वायुके हठपूर्वक रोकना ही चाहिए और न जल्दी निकालना चाहिए। अर्थात् श्वासोच्छ्वासकी गति वहुत मन्द होनी चाहिए ॥६८४॥ योगियोकी गति-वडी विचित्र होती है। वे दूरवर्ती रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्दको ऐसे जान लेते है मानो वह समीप ही है ॥६८५॥ जैसे वीजके जलकर राख हो जानेपर उसमें अकुर उत्पन्न नही हो सकता वैसे ही कर्मरूपी वीजके जलकर राख हो जानेपर ससाररूपी अकुर नहीं उगता ॥६८६॥ कायरूपी सरोववरके नाभिदेशमे,चित्तमे,नाकके अग्रभागमे, दृष्टिमे मस्तकमे अथवा शिरोदेशमें मनरूपी हसका विहार सदा कराना चाहिए। अर्थात् ये सब ध्यान लगानेके स्थान है, इनमेसे किसी भी एक स्थानपर मनको स्थिर करके ध्यान करना चाहिए ॥६८७॥ जो मन और वायुको साध लेता है वह आकाशमे विहार कर सकता है, जलमें स्थिर रह सकता है और आगकी लपटोंमे बैठ सकता है । अधिक क्या? शस्त्र भी उसका कुछ बिगाड नही सकते ॥६८८॥ जीव शिव अर्थात् परमात्मा है और परमात्मा जीव है। इन दोनोंमे क्या कुछ भी भेद है? जो कर्मरूपी बन्धनसे बँधा हुआ है वह जीव है और जो उससे मुक्त हो गया वह परमात्मा है अर्थात आत्मा और परमात्मामे शुद्धता और अशुद्धताका अन्तर है, अन्य कुछ भी अन्तर नही है।

साकारं नश्वरं सर्वमनाकारं न दृश्यते। पक्षद्वयविनिर्मुक्तं कथं ध्यायन्ति योगिनः ॥ ६९०
अत्यन्तं मलिनो देहः पुमानत्यन्तनिर्मल ॥ देहादेनं पृथक्कृत्वा तस्मान्नित्यं विचिन्तयेत् ॥ ६९१
तोयमध्ये यथा तैलं पृथग्भावेन तिष्ठति। तथा शरीरमध्येऽस्मिन्पुमानास्ते पृथक्तया ॥ ६९२
दध्न सर्पिरिवात्मायमुपायेन शरीरत । पृथक्क्रियत तत्त्वज्ञैश्चिरं संसर्गवानपि ॥ ६९३
पुष्पामोदौ तरुच्छाये यद्वत्सकलनिष्कले। तद्वत्तौ देहदेहस्थौ यद्वा लपनबिम्बवत् ॥ ६९४
एकस्तम्भं नवद्वारं पञ्चपञ्चनाश्रितम्। अनेककक्षमेवेदं शरीरं योगिनां गृहम् ॥ ६९५
ध्यानामृतान्नतृप्तस्य क्षान्तियोषिद्रतस्य च। अत्रैव रमते चित्तं योगिनो योगबान्धवे ॥ ६९६
रज्जुभि कृष्यमाण स्याद्यथा पारिप्लवो हय । कृष्टस्तथेन्द्रियैरात्मा ध्याने लीयेत न क्षणम् ॥६९७
रक्षां संहरणं सृष्टिं गोमुद्रामृतवर्षणम्। विधाय चिन्तयेदाप्तमाप्तरूपधरः स्वयम् ॥ ६९८

शुद्ध आत्माको ही परमात्मा कहते है॥६८९॥ जो साकार है वह विनाशी हैं और जो निराकार है वह दिखायी नही देता। किन्तु आत्मा तो न साकार है और न निराकार है, उसका योगीजन कैसे ध्यान करते है?॥६९०॥ शरीर अत्यन्त गन्दा है किन्तु आत्मा अत्यन्त निर्मल है। अत. शरीरसे आत्माको जुदा करके सदा उसका ध्यान करना चाहिए॥६९१॥ जैसे पानीके बीचमे रहकर भी तेल पानीसे जुदा रहता है. वैसे ही शरीरमे रहकर भी आत्मा उससे अलग ही रहता है॥६९२॥ जैसे घी और दहीका सम्बन्ध पुराना है फिर भी जानकार लोग उपायके द्वारा दहीसे घीको अलग कर लेते है वैसे ही इस आत्माका शरीरके साथ यद्यपि बहुत पुराना सम्बन्ध हैं, फिर भी तत्त्वके ज्ञाता पुरुष उपायके द्वारा आत्माको शरीरसे अलग कर लेते है ॥६९३॥ अथवा जैसे पुष्प साकार है किन्तु उसकी गन्ध निराकार है, या वृक्ष साकार है किन्तु उसकी छाया निराकार है अथवा मुख साकार है किन्तु उसका प्रतिबिम्ब निराकार है वैसे ही शरीर और शरीरमे स्थित आत्माको जानना चाहिए॥६९४॥ यह शरीर ही योगियोंका घर है। यह घर एक आयुरूपी स्तम्भपर ठहरा हुआ है। इसमे नौ द्वार है—दोनो आँखोके दो छिद्र, दोनो कानोके दो छिद्र, नाकके दो छिद्र, मुखक एक छिद्र, और मल-मूत्र त्यागके दो छिद्र। पाँचो इन्द्रियरूपी मनुष्य इसमे वास करते है और या अनेक कोठरियोसे युक्त है॥६९५॥ चुकि यह शरीर योगका सहायक है इसलिए जो योगी ध्यान-रूपी अन्न-जलसे सन्तुष्ट रहते है और क्षमारूपी स्त्रीमे आसक्त होते है उनका मन इसीमे रमता है, इससे बाहर नही जाता॥६९६॥ जैसे रासके खीचनेसे घोडा चचल हो जाता है वैसे ही इन्द्रियो-के द्वारा आकृष्ट आत्मा क्षणभर भी ध्यानमें लीन नही हो सकता। अत ध्यानी पुरुषको इन्द्रियोंको वशमे रखना चाहिए, स्वय उनके वशमे नही होना चाहिए॥६९७॥ रक्षा, संहार, सृष्टि, गोमुद्रा और अमृतवृष्टिको करके स्वय आप्त स्वरूपधारी मनुष्यको आप्तके स्वरूपका ध्यान करना चाहिए ॥६९८॥ विशेषार्थ—धर्मध्यानके सस्थानविचय नामक भेदके भी चार अवान्तर भेद है—पिण्डस्थ पदस्थ रूपस्थ और रूपातीत। पिण्डस्थध्यानमे पाँच धारणाएँ होती है—पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वरूपवती। पार्थिव धारणाका स्वरूप इस प्रकार है—प्रथम ही योगी निःशब्द, तरगरहित क्षीरसमुद्रका ध्यान करता है। उसके मध्यमे एक सुनहरे रंगके सहस्रदल कमलका ध्यान करता है। फिर उस कमलके मध्यमे मेरुके समान एक कर्णिकाका ध्यान करता है और फिर उस कर्णिकाके ऊपर स्थित सिंहासनपर अपनेको बैठा हुआ विचारता है। यह पार्थिवी धारणा है। अब आग्नेयी धारणाको कहते है—फिर वह योगी अपने नाभिमण्डलमे सोलह पत्रोके एक कमलका

धूमवन्निर्वमेत्पापं गुरुबीजेन् तादृशा । गृण्हीयादमृतं तेन तद्वर्णेन मुहुर्मुहुः ॥६९९
संन्यस्ताभ्यामधोङ्घ्रिभ्यामूर्वोरुपरि युक्तितः । भवेच्च समगुल्फाभ्यां पद्मवीरसुखासनम् ॥ ७००
तत्र सुखासनस्येदं लक्षणम्—
गुल्फोत्तानकराङ्गुष्ठरेखारोमालिनासिकाः । समदृष्टिः समाः कुर्यान्नातिस्तब्धो न वामन. ॥७०१
तालत्रिभागमध्याङ्घ्रिः स्थिरशीर्षशिरोऽधरः । समनिष्पन्दपार्ष्ण्यग्रजानुभ्रूहस्तलोचनः ॥ ७०२
न खात्कृतिर्न कण्डूतिर्नोष्टभक्तिर्न कम्पितिः । न पर्वगणितिः कार्या, नोक्तिरन्दोलितिः स्मिति.॥७०३
न कुर्याद्दूरदृक्पातं नैव केकरवीक्षणम् । न स्पन्दं पक्ष्ममालानां तिष्ठेन्नासाग्रदर्शनः ॥ ७०४
विक्षेपाक्षेपसंमोहदुरीहरहिते हृदि । लब्धतत्त्वे करस्थोऽयमशेषो ध्यानजो विधि ॥ ७०५

चिन्तन करता है । फिरे उन सोलह पत्रोंपर 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः' इ सोलह अक्षरोंका ध्यान करता हैं और कमलकी कर्णिकापर 'र्हं' का ध्यान करता है फिर 'र्हं' की रेफसे निकलती हुई धूमकी शिखाका चिन्तन करता है। फिर उसमे-से निकलते हुए स्फुलिंगोका चिन्तन करता है। फिर उसमें-से निकलती हुई ज्वालाकी लपटोका और उन लपटोके द्वारा हृदयस्थित कमलको जलता हुआ चिन्तन करता है। उस कमलके जल चुकनेके पश्चात् शरीरके बाहर वडवानलकी तरह जलती हुई अग्निका चिन्तन करता है। यह प्रज्वलित अग्नि उन नाभिस्थ कमलको और शरीरको भस्म करके जलानेके लिए कुछ शेष न रहनेसे स्वयं शान्त हो जाती है ऐसा चिन्तन करता हैं। अब मारुती धारणाको कहते हैं—फिर योगी आकाशको पूरकर विचरते हुए महावेगशाली और महाबलवान वायुमण्डलका चिन्तन करता है। उसके बाद ऐसा चिन्तन करता हैं कि उस महावायुने शरीरादिककी सब भस्मको उडा दिया है। आगे वारुणी धारणाको कहते हैं—फिर वह योगी विजली गर्जन आदि सहित मेघोके समूहमे भरे हुए आकाशका चिन्तन करता है। फिर उनको वरसते हुए चिन्तन करता हैं। फिर उस जलके प्रवाहमे शरीरादि-की भस्मको बहता हुआ चिन्तन करता है। अब तत्त्वरूपवती धारणाको कहते हैं—फिर वह योगी पूर्ण चन्द्रमाके समान निर्मल सर्वज्ञ आत्माका चिन्तन करता हैं। फिर वह ऐसा चिन्तन करता है कि वह आत्मा सिंहासनपर विराजमान है, दिव्य अतिशयोंसे सहित हैं और देवदानव उसकी पूजा कर रहे हैं। फिर वह उसे आठ कर्मोसे रहित पुरुषाकार चिन्तन करता हैं। यह तत्त्व-रूपवती धारणा है। इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यानका अभ्यासी योगी शीघ्र ही मोक्ष सुखको प्राप्त कर लेता है। उक्त श्लोकके द्वारा ग्रन्थकारने इन्ही धारणाओंका कथन किया हैं। उस प्रकारके बीजाक्षर 'र्हं' से धूमकी तरह पापको नष्ट करना चाहिए। अर्थात् आग्नेयी धारणामे र्हं की रेफसे निकलती हुई धूमशिखाका चिन्तन करनेसे धूमकी तरह पापका क्षय होता हैं। तथा उस अमृत वर्णअकारमे बार-बार अमृतको ग्रहण करना चाहिए॥६९९॥ भावार्थ—'अर्हं' पदका ध्यान करे। ध्यानके समय 'र्हं' के द्वारा पापका विनाश होता हुआ चिन्तन करे और अलंकारसे अमृत को ग्रहण करे।

ध्यानके आसनोंका स्वरूप—जिसमे दोनो पैर दोनो घुटनोमे नीचे दोनो पिण्डलियोपर रखकर बैठा जाता है उसे पद्मासन कहते हैं। जिसमे दोनो पैर दोनों दोनो घुटनोके हिस्सेपर रखकर बैठा जाता है अर्थात् बायी ऊरुके ऊपर दायाँ पेर और दायी ऊरुके ऊपर बायाँ पैर रखा जाता है उसे वीरासन कहते है। और जिसमें पैरोकी गाँठे बराबरमे रहती है उसे सुखासन कहते है ॥७००॥ पैरोकी गाँठोपर बायी हथेलीके ऊपर दायी हथेलीको सीधा रखे। अँगूठोकी रेखा, नाभिसे निकलकर ऊपरको जानेवाली रोमावली और नाक एक सीधमे हों। दृष्टि सम हो। शरीर न एकदम तना

यस्या पदद्वयमलंकृतियुग्मयोग्यं लोकत्रयाम्बुजसर. प्रविहारहारि ।
तां वाग्विलासवसतिं सलिलेन देवी सेवे कविद्युतरुमण्डनकल्पवल्लीम् ।। ७०६ (इति तोयम्)
यामन्तरेण सकलार्थसमर्थनोऽपि बोधोऽवकेशितरुवन्न फलार्थिसेव्य: ।
सोऽत्यल्पवेद्यपि ययानुगतस्त्रिलोक्याऽऽसेव्य: सुरद्रुरिव तं प्रयजेय गन्धैः ।। ७०७ (इति गन्धम्)
या स्वल्पवस्तुरचनापि मितप्रवृत्ति: सस्कारतो भवति तद्विपरीतलक्ष्मी ।
स्वर्वल्लरीवनलतेव सुधानुबन्धात्तामद्भुतस्थितिमहं सदकैः श्रयामि ।। ७०८ (इत्यक्षतम्)
यद्बीजमल्पमपि सज्जनधीधरायां लब्धप्रवृद्धिविविधानवधिप्रबन्धैः ।
सस्यैरपूर्वरसवृत्तिभिरेव रोहत्याश्चर्यगोचरणविधि प्रसवैर्भजे ताम् ।। ७०९ (इति पुष्पम्)
या स्पष्टताधिकविधि: परतन्त्रनीति: प्राय: कलापरिगतापि मन: प्रसूते ।
स्पष्ट स्वतन्त्रमुपशान्तकल च नृणां चित्रा हि वस्तुगतिरन्नविधैर्यजे ताम् ।। ७१० (इति चरुम्)

हुआ हो और न एकदम झुका हो। खड्गासन अवस्थामे दोनो चरणोके बीचमे चार अंगुलका अन्तर होना चाहिए। सिर और गर्दन स्थिर हो। एड़ी, घुटने, भृकुटि, हाथ और आँखे समान रूपसे निश्चल हों। न खासे, न खुजाये। न ओठ चलाये, न कॉपे, न हाथके पर्वोपर गिने, न बोले, न हिले-डुले, न मुसकराये,न दृष्टिको दूर तक ले जाये और न कटाक्षसे ही देखे। आँखके पलकोको न मारे और नाकके अग्रभागमे अपनी दृष्टिको स्थिर रखे। हृदयमे चचलता,तिरस्कार.मोह और दुर्भावनाके न होनेपर तथा तत्त्वज्ञानके होनेपर यह समस्त ध्यानकी विधि करमे स्थित अर्थात् सुलभ है।।७०१–७०५।। (अब अष्टद्रव्यसे शास्त्रका पूजन कहते है–) जिसके सुबन्त और तिङन्तरूप अथवा शब्द और धातुरूप दोनोपद (चरण)शब्दालकार और अर्थालिकारके योग्य है, तथा तीनो लोकरूपी कमलसरोवरमे विचरण करनेसे मनोहर है उस कविरूपी कल्पवृक्षोको शोभित करनेके लिए कल्पलताके तुल्य सरस्वती देवीको मै जलसे पूजता हूँ ।।७०६।। जिसके बिना समस्त पदार्थोका समर्थन करनेवाला भी ज्ञान फलहीन वृक्षकी तरह फलार्थी पुरुषोके द्वारा सेवनीय नही होता, और जिसका अनुसरण करनेवाला अत्यन्त अल्पज्ञानी भी मनुष्य कल्पवृक्षकी तरह तीनो लोकोसे पूजित होता है, उस जिनवाणीको मै गन्धसे पूजता हूँ ।।७०७।। **भावार्थ**- जिनवाणी स्व और परका ज्ञान कराकर जीवोको हितमे लगाती है और अहितसे बचाती है। अत. हिताहितके विवेकसे रहित बहुत ज्ञान भी मोक्षाभिलाषियोके लिए वेकार है। और हिताहितके विवेकसे युक्त अल्पज्ञान भी पूजनीय है,क्योकि उसीके द्वारा जीव सिद्ध-बुद्ध बनकर त्रिलोकपूजित होता हैं।जिस जिनवाणीके सस्कारवश अल्प अर्थवाला और अल्प शब्दवाली रचना भी महान् अर्थशाली और महाशब्दवाली हो जाती है, जैसे अमृतके सिञ्चनसे वडकी लता भी कल्पलता हो जाती है। उस अद्भुत स्थितिवाली जिनवाणीको मै अक्षतसे पूजता हूँ।।७०८।। जिस जिनवाणीका छोटा-सा भी बीज सज्जनकी बुद्धिरूपी भूमिमे अनेक प्रकारके असीम वृद्धिगत प्रबन्धोके द्वारा और अपूर्व रससे युक्त फलोके साथ उगता है, तथा जिसकी विधि आश्चर्यका विषय है उस जिनवाणीको मै फूलोसे पूजता हूँ ।।७०९।। जो शब्दरूप होनेसे नेत्रका विषय नही है अतएव अति अस्पष्ट है, तथा जो कण्ठ तालु आदि स्थानोसे उत्पन्न होनेके कारण परतन्त्र है और मूर्तिसहित है–साकार है, उस वाणीको मनुष्योका मन स्पष्ट स्वतन्त्र और शरीर-रहित प्रकट करता है। आशय यह है कि जिनवाणी श्रुत ज्ञानरूप है और श्रुतज्ञान अस्पष्ट होता है तथा श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे अधीन

एकं पदं बहुपदापि ददासि तुष्टा वर्णात्मिकापि च करोषि न वर्णभाजम् ।
सेवे तथापि भवतीमथवा जनोऽर्थी दोषं न पश्यति तदस्तु तवैष दीपः ।। ७११ (इति दीपम्)
चक्षुः परं करणकन्दुदूरितेऽर्थे मोहान्धकारविधतौ परम. प्रकाशः ।
तद्धामगामिपथवीक्षणरत्नदीपस्त्व सेव्यसे तदिह देवि जनेन धूपैः ।। ७१२ (इति धूपम्)
चिन्तामणित्रिदिवधेनुसुरद्रुमाद्या पुंसां मनोरथपथप्रथितप्रभावाः ।
भावा भवन्ति नियतं तव देवि सम्यक्सेवाविधेस्तदिदमस्तु मुदे फलं ते ।। ७१३ (इति फलम्)

कलधौतकमलमौक्तिकदुकूलमणिजालचामरप्रायैः ।
आराधयामि देवीं सरस्वतीं सकलमङ्गलैर्भावैः ।। ७१४

स्याद्वादभूधरभवा मुनिमाननीया देवैरनन्यशरणैः समुपासनीया ।
स्वान्ताश्रिताखिलकलङ्कहरप्रवाहा वागापगास्तु मम बोधगजावगाहा ।। ७१५
मूर्धाभिषिक्तोऽभिषवाज्जिनानामर्च्योऽर्चनात्संस्तवनात् स्तवार्हः ।
जपी जपाद्ध्यानविधेरबाध्यः श्रुताश्रितश्रीः श्रुतसेवनाच्च ।। ७१६

होनेसे परतन्त्र भी होता है। किन्तु केवलज्ञान होने पर वही वाणी स्पष्ट,स्वतन्त्र और निराकार रूपमे अवतरित होती है। सच है वस्तुओंकी गति बडी विचित्र है उस वाणीको मैं चरुसे पूजता हूँ ।।७१०।। हे जिनवाणी माता! आप बहुत पदवाली होनेपर भी सन्तुष्ट होनेपर एक पद देती है, वर्णात्मक होनेपर भी वर्ण प्रधान नही करती, इस तरह आप बहुत कृपण है,फिर भी मैं आपकी सेवा करता हूँ, क्योंकि अर्थी मनुष्य दोप नही देखता। यह विरोधाभास अलकार है। इसका परिहार इस तरह है। द्वादशांग रूप जिनवाणीके पदोकी सख्या एक सौ बारह करोड तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच है। अत. वह बहुपदा है। और उसके द्वारा एक पद—अद्वितीय मोक्ष प्राप्त होता है। तथा वह जिनवाणी अक्षरात्मक है मगर आत्माको ब्राह्मणादि वर्गोंसे मुक्त कर देती है। अतः मैं उसे दीप अर्पित करता हूँ ।।७११।। हे देवी सरस्वती! गुफाके समान इन इन्द्रियोसे दूरवर्ती पदार्थको देखनेके लिए आप चक्षुके समान है, अर्थात् जो पदार्थ इन्द्रियोके अगोचर है उन्हे जिनवाणोके प्रसादसे जाना जा सकता है,और मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए आप परम प्रकाशके तुल्य हैं। तथा मोक्ष महलको जानेवाले मार्गको दिखानेके लिए आप रत्नमयी दीपक है। इसलिए लोग धूपसे आपका पूजन करते है ।।७१२।हे देवि! आपकी विधिपूर्वक सेवा करनेसे मनुष्योके मनोरथोको पूर्ण करनेवाले चिन्तामणि रत्न, कामधेनु और कल्पवृक्ष आदि पदार्थ नियमसे प्राप्त होते है अत. यह फल आपकी प्रसन्नताके लिए हो ।।७१३।। मै स्वर्णकमल, मोती, रेशमी वस्त्र, मणियोका समूह और चमर वगैरह मागलिक पदार्थोंसे सरस्वती देवीकी आराधना करता हूँ।।७१४।। स्याद्वादरूपी पर्वतसे उत्पन्न होनेवाली, मुनियोके द्वारा आदरणीय, अन्यकी शरणमे न जानेवाले देवोके द्वारा सम्यक् रूपसे उपासनीय और जिसका प्रवाह अन्त करणके समस्त दोपोंको हरनेवाला है, ऐसी वाणीरूपी नदी मेरे ज्ञानरूपी हाथीके अवगाहनके लिए हो, अर्थात् मैं ज्ञान-द्वारा उस जिनवाणीका अवगाहन करूँ—उसमे डुबकी लगाऊँ ।।७१५।। जिनभगवान्का अभिषेक करनेसे मनुष्य मस्तकाभिषेकका पात्र होता है, पूजा करनेसे पूजनीय होता है, स्तवन करनेसे स्तवनीय (स्तवन किये जानेके योग्य) होता है, जपमे जप किये जानेके योग्य होता है, ध्यान करनेसे बाधाओसे रहित होता है और श्रुतकी सेवा (स्वाध्यायादि) करनेसे महान् शास्त्रज्ञ होता है।।७१६।।

दृष्टस्त्वं जिन सेवितोऽसि नितरां भावैरनन्याश्रयैः
स्निग्धस्त्वं न तथापि यत्समविधिर्भक्ते विरक्तेऽपि च ।
मच्चेत्तः पुनरेतदीश भवति प्रेमप्रकृष्टं ततः
किं भाषे परमत्र यामि भवतो भूयात्पुनर्दर्शनम् ॥ ७१७
पर्वाणि प्रोषधान्याहुर्मासे चत्वारि तानि च । पूजाक्रियाव्रताधिक्याद्धर्मकर्मात्र बृंहयेत् ॥ ७१८
रसत्यागैकभक्तैकस्थानोपवसनक्रियाः । यथाशक्तिर्विधेयाः स्युः पर्वसन्धौ च पर्वणि ॥ ७१९
तन्नैरन्तर्यसान्तर्यतिथितीर्थर्क्षपूर्वकः । उपवासविधिश्चित्रश्चिन्त्यः श्रुतसमाश्रयः ॥ ७२०
स्नानगन्धाङ्गसंस्कारभूषायोषाविषक्तधीः । निरस्तसर्वसावद्यक्रियः संयमतत्परः ॥ ७२१
देवागारे गिरौ चापि गृहे वा गहनेऽपि वा । उपोषितो भवेन्नित्यं धर्मध्यानपरायणः ॥ ७२२
पुंसः कृतोपवासस्य बह्वारम्भरतात्मनः । कायक्लेशः प्रजायेत गजस्नानसमक्रियः ॥ ७२३
अनवेक्षाप्रतिलेखनदुष्कर्मारम्भदुर्मनस्काराः । आवश्यकविरतियुताश्चतुर्थमेते विनिघ्नन्ति ॥ ७२४
विशुद्धेन्नान्तरात्माय कायक्लेशविधिं विना । किमग्नेरन्यदस्तीह काञ्चनाश्मविशुद्धये ॥ ७२५

हे जिनेन्द्र! मैने तुम्हारा दर्शन किया और जिनका अन्य आश्रय नही हैं ऐसे भावोंसे तुम्हारी अतिशय सेवा (पूजा) की। यद्यपि हे प्रभो, तुम राग–द्वेषसे रहित होनेके कारण निस्नेह हो, तथापि भक्तमे और विरक्तमे तुम्हारा समभाव है अर्थात् जो तुम्हारी सेवा करता है उससे तुम्हे राग नही है और जो तुम्हारी सेवा नहीं करता, उससे द्वेष नही है। फिर भी मेरा यह चित्त हे स्वामिन्! आपके प्रति प्रेमसे भरा है। अधिक क्या कहूँ अब मै जाता हूँ। मुझे आपका पुनः दर्शन प्राप्त हो ॥७१७॥

प्रोषधोपवास व्रतका स्वरूप-प्रोषध पर्वको कहते है। वे पर्व प्रत्येक मासमे चार होते है। इन पर्वोमे विशेष पूजा, विशेष क्रिया और विशेष व्रतोका आचरण करके धर्म-कर्मको बढाना चाहिए ॥७१८॥ पर्व तथा पर्वके सन्धि दिनोमे रसोका त्याग, एकाशन, एकान्त स्थलमे निवास, उपवास आदि क्रियाएँ यथाशक्ति करनी चाहिए ॥७१९॥ लगातार या बीचमे अन्तराल देकरके तिथि तीर्थङ्करोके कल्याणक तथा नक्षत्र आदिका विचार करके आगमानुसार अनेक प्रकारके उपवासकी विधिको विचार लेना चाहिए। अर्थात् रसत्याग, एकभक्त, उपवास आदि कोई तो सदा करते है,कोई अमुक तिथिको करते हैं,कोई तीर्थङ्करोके कल्याणकके दिन करते है,इस प्रकार अनेक प्रकारके उपवासकी विधिका आगमानुसार विचार कर करना चाहिए ॥७२०॥ (आगे उपवासकी विधि बतलाते है–) उपवास करनेवाला गृहस्थ स्नान, इत्र–फुलेल, शरीरकी सजावट, आभूषण और स्त्रीसे मनको हटाकर तथा समस्त सावद्य क्रियाओसे विरक्त होकर सयममे तत्पर हो और देवालयमे, पहाडपर या घरमे अथवा किसी दुर्गम एकान्त स्थानमे जाकर धर्मध्यानपूर्वक अपना समय बितावे ॥७२१-७२२॥ जो पुरुष उपवास करके भी अनेक प्रकारके आरम्भोमे फँसा रहता है, उसका उपवास केवल कायक्लेशका ही कारण होता है और उसकी क्रिया हाथीके स्नानकी तरह व्यर्थ है ॥७२३॥ विना देखे और बिना साफ किये किसी भी पापकार्यसे युक्त आरम्भको करना, बुरे विचार लाना और सामायिक,वन्दना, प्रतिक्रमण आदि षट्कर्मोको न करना,ये काम प्रोषधोपवासव्रतके घातक है। अत उपवासके दिन इस प्रकारकी असावधानी नही करनी चाहिए ॥७२४॥ (यह कहा जा सकता है कि उपवास करनेसे शरीरको कष्ट होता है और शरीरको कष्ट देनेसे

हस्ते चिन्तामणिस्तस्य दुःखद्रुमदवानलः । पवित्रं यस्य चारित्रैश्चित्तं सुकृतजन्मनः ॥ ७२६
यः सकृत्सेव्यते भावः स भोगो भोजनादिकः । भूषादिः परिभोगः स्यात्पौन पुन्येन सेवनात् ॥ ७२७
परिमाणं तयोः कुर्याच्चित्तव्याप्तिनिवृत्तये । प्राप्ते योग्ये च सर्वस्मिन्निच्छया नियमं भजेत् ॥७२८
यमश्च नियमश्चेति द्वौ त्याज्ये वस्तुनि स्मृतौ । यावज्जीवं यमो ज्ञेय. सावधिर्नियम. स्मृत: ॥७२९
पलाण्डुकेतकीनिम्बसुमन.सूरणादिकम् । त्यजेदजन्म तद्रूपबहुप्राणिसमाश्रयम् ॥ ७३०
दुष्पक्वस्य निषिद्धस्य जन्तुसंबन्धमिश्रयोः । अवीक्षितस्य च प्राशस्तत्संख्याक्षतिकारणम् ॥ ७३१
इत्थं नियतवृत्तिः स्यादनिच्छोऽप्याश्रयः श्रियाम् । नरो नरेषु देवेषु मुक्तिश्रीसंविधागम ॥ ७३२
यथाविधि यथादेशं यथाद्रव्यं यथापात्र यथाकालं दानं देयं गृहाश्रमैः ॥ ७३३
आत्मनः श्रेयसेऽन्येषां रत्नत्रयसमृद्धये । स्वपरानुग्रहायेत्थ यत्स्यात्तद्दानमिष्यते ॥ ७३४
दातृपात्रविधिद्रव्यविशेषात्तद्विशिष्यते । यथा घनाघनोद्गीर्णं तोयं भूमिसमाश्रयम् ॥ ७३५

आत्माका कुछ लाभ नही है । अत. उपवास नही करना चाहिए । इस प्रकारकी आपत्ति करनेवालो-को ग्रन्थकार उत्तर देते है—) शरीरको कष्ट दिये बिना शरीरमें रहनेवाली आत्मा विशुद्ध नही हो सकती । सुवर्ण पाषाणको शुद्ध करके उसमे-से सोना निकालनेके लिए क्या अग्निके सिवा दूसरा कोई उपाय है? अग्निमे तपानेसे ही सोना शुद्ध-होता है,वैसे ही शरीरको कष्ट देनेसे आत्मा विशुद्ध होती है ॥७२५॥ जिस पुण्यात्मा पुरुषका चित्त चारित्रसे पवित्र है, चिन्तामणिरत्न उसके हाथमें है,जो दु.खरूपी वृक्षको जलानेके लिए अग्निके समान है । चारित्र ही वह चिन्तामणि रत्न है जो दु खोंको नष्ट करनेवाला है ॥७२६॥

भोगपरिभोगपरिमाणव्रत (अब भोगपरिभोगपरिमाणव्रतको कहते है—) जो पदार्थ एक बार ही भोगा जाता है जैसे भोजन आदिक उसे भोग कहते है । और जो बार-बार भोगा जाता है जैसे भूषण आदिक उसे परिभोग या उपभोग कहते है ॥७२७॥ चित्तके फैलावको रोकनेके लिए भोग और उपभोगका परिणाम कर लेना चाहिए । और जो कुछ प्राप्त है और प्राप्त होनेके साथ-ही साथ जो सेवन करनेके योग्य है उसमें भी अपनी इच्छानुसार नियम कर लेना चाहिए ॥७२८॥ भोगपरिभोगका परिणाम दो प्रकारसे किया जाता है—एक यम रूपसे, दूसरे नियम रूपसे । जीवन पर्यन्त त्याग करनेको यम कहते है और कुछ समयके लिए त्याग करनेको नियम कहते है ॥७२९॥ प्याज आदि जमीकन्द, केतकी और नीमके फूल तथा सूरण आदि तो जीवन पर्यन्तको छोड देना चाहिए,क्योंकि इनमे उसी प्रकारके बहुत जीवोका वास होता है ॥७३०॥ जो भोजन कच्चा है या जल गया है, जिसका खाना निषिद्ध हैं, जो जन्तुओसे छू गया हैं या जिसमे जन्तु जा पडे हैं, तथा जिसे हमने देखा नही है ऐसे भोजनको खाना भोगपरिभोगपरिमाणव्रतकी क्षतिका कारण होता है ॥७३१॥ इस प्रकार जो भोगोपभोगका परिमाण करता है वह मनुष्य और देवपर्यायमें जन्म लेकर विना चाहे ही लक्ष्मीका स्वामी वनता है और मुक्ति भी उसे मिल जाती है ॥७३२॥ (अव दानका वर्णन करते है—) गृहस्थोंको विधि, देश, द्रव्य, आगम, पात्र और कालके अनुसार दान देना चाहिए ॥७३३॥ जिससे अपना भी कल्याण हो और अन्य (मुनियो) के रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उन्नति हो, इस तरह जो अपने और दूसरोके उपकारके लिए दिया जादा हैं उसे ही दान कहते हैं ॥७३४॥ जैसे मेघोसे वरसा हुआ पानी भूमिको पाकर विशिष्ट फलदायी हो जाता है वैसे ही दाता, पात्र, विधि और द्रव्यकी विशेषतासे दानमें भी विशे-

दातानुरागसंपन्नः पात्रं रत्नत्रयोचितम्। सत्कारः स्याद्विधिर्द्रव्यं तपःस्वाध्यायसाधकम् ॥ ७३६
परलोकधिया कश्चित्कश्चिदैहिकचेतसा । औचित्यमनसा कश्चित्सतां वित्तव्ययस्त्रिधा ॥ ७३७
परलोकैहिकौचित्येष्वस्ति येषां न धीः समा । धर्मः कार्यं यशश्चेति तेषामेतत् त्रयं कुतः ॥ ७३८
अभयाहारभैषज्यश्रुतभेदाच्चतुर्विधम् । दानं मनीषिभिः प्रोक्तं भक्तिशक्तिसमाश्रयम् ॥ ७३९
सौरूप्यमभयादाहुराहाराद्भोगवान् भवेत् । आरोग्यमौषधाज्ज्ञेयं श्रुतात्स्याच्छ्रुतकेवली ॥ ७४०
अभयं सर्वसत्त्वानामादौ दद्यात्सुधीः सदा । तद्धीने हि वृथा सर्वः परलोकोचितो विधिः ॥ ७४१
दानमन्यद्भवेन्मा वा नरश्चेदभयप्रदः । सर्वेषामेव दानानां यतस्तद्दानमुत्तमम् ॥ ७४२
तेनाधीतं श्रुतं सर्वं तेन तप्तं तपः परम् । तेन कृत्स्नं कृतं दानं यः स्यादभयदानवान् ॥ ७४३
नवोपचारसंपन्नः समेतः सप्तभिर्गुणैः । अन्नैश्चतुर्विधैः शुद्धैः साधूनां कल्पयेत्स्थितिम् ॥ ७४४

प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमनःप्रसादाः ।
विधाविशुद्धिश्च नवोपचाराः कार्या मुनीनां गृहसंश्रितेन ॥ ७४५

षता आ जाती है ॥७३५॥ जो प्रेमपूर्वक दे वह दाता है, जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे भूषित है वह पात्र है। आदरपूर्वक देनेका नाम विधि है और जो तप और स्वाध्यायमे सहायक हो वही द्रव्य है ॥७३६॥ सज्जन पुरुष तीन प्रकारसे अपने धनको खर्च करते है कोई परलोकको बुद्धिसे कि परलोकमे हमे सुख प्राप्त होगा, धन खरचते है। कोई इस लोकके लिए धन खरचते हैं और कोई उचित समझकर धन खरचते है। किन्तु जिन्हे न परलोकका ध्यान है, न इहलोकका ध्यान है और न औचित्यका ही ध्यान है वे न धर्म कर सकते है न अपने लौकिक कार्य कर सकते है और न यश ही कमा सकते है ॥७३७॥-७३८॥ बुद्धिमान् पुरुषोने चार प्रकारका दान बतलाया है–अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान। ये चारो दान अपनी शक्ति और श्रद्धाके अनुसार देने चाहिए ॥७३९॥ अभयदानसे सुन्दर रूप मिलता है। आहार दानसे भोग मिलते है। औषधदानसे आरोग्य प्राप्त होता है और शास्त्रदानसे श्रुतकेवली होता है ॥७४०॥ सबसे प्रथम सब प्राणियोको अभयदान देना चाहिए। क्योंकि जो अभयदान नही दे सकता उस मनुष्यकी समस्त पारलौकिक क्रियाएँ व्यर्थ है ॥७४१॥ और कोई दान दो या न दो, किन्तु अभयदान जरूर देना चाहिए, क्योंकि सब दानोमे अभयदान श्रेष्ठ है ॥७४२॥ जो अभयदान देता है, वह सब शास्त्रोका ज्ञाता है, परम तपस्वी है और सब दानोका कर्ता है। ७४३॥ **भावार्थ**–प्राणिमात्रका भय दूर करके जीवनकी रक्षा करना अभयदान है। जो इस दानको करता है वह सब दानोको करता है, क्योकि जीवनकी रक्षा सब चाहते है। सबको अपना-अपना जीवन प्रिय है। यदि जीवनपर ही संकट हो तो आहारदान या औषधदान या शास्त्रदान किस कामका। जो मनुष्य अपनेसे दूसरोकी रक्षा नही कर सकता अर्थात् जो अहिंसा धर्मका पालन नही करता वह यदि परलोकके लिए धर्मकर्म करे भी तो वह सब व्यर्थ है। क्योकि धर्मका मूल जीवरक्षा है। यदि मूल ही नही तो धर्म कहाँ से हो सकता है। अत प्राणिमात्रको यथाशक्ति जीवनदान देना ही सर्वोत्तम दान है। (अब आहारदानको कहते है–) सात गुणोसे युक्त दाताने नवधा भक्तिपूर्वक साधुजनोको अन्न, पान, खाद्य, लेह्यके भेदसे चार प्रकारका शुद्ध आहार देना चाहिए ॥७४४॥ (अब नवधा भक्ति बतलाते है–) गृहस्थको मुनियोंकी नवधा भक्ति करनी चाहिए। सबसे पहले अपने द्वारपर मुनिको आते देखकर उन्हे आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिए कि स्वामिन्! ठहरिए,

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः । यत्रैते सप्त गुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥ ७४६
तत्र विज्ञानस्येदं लक्षणम्–
विवर्णं विरसं विद्धमसात्म्यं प्रसृतं च यत् । मुनिभ्योऽन्नं न तद्देयं यच्च भुक्तं गदावहम् । ७४७
उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं विगर्हितम् । न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयक्षादिकल्पितम् । ७४८
ग्रामान्तरात्समानीतं मन्त्रानीतमुपायनम् । न देयमापणक्रीत विरुद्धं वाऽयथर्तुकम् ॥ ७४९
दधिसर्पिपयोभक्ष्यप्रायं पर्युषितं मतम् । गन्धवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विनिन्दितम् ॥ ७५०
बालग्लानतपःक्षीणवृद्धव्याधिसमन्वितान् । मुनीनुपचरेन्नित्यं यथा ते स्युस्तपःक्षमाः ॥ ७५१
शाठ्यं गर्वमवज्ञानं परिप्लवमसंयमम् । वाक्पारुष्यं विशेषेण वर्जयेद्भोजनक्षणे ॥ ७५२
अभक्तानां कदर्याणामव्रतानां च सद्मसु । न भुञ्जीत तथा साधुर्दैन्यकारुण्यकारिणाम् ॥ ७५३
नाहरन्ति महासत्त्वाश्चित्तेनाप्यनुकम्पिताः । किन्तु ते दैन्यकारुण्यसंकल्पोज्झितवृत्तयः ॥ ७५४
धर्मेषु स्वामिसेवायां सुतोत्पत्तौ च कः सुधीः । अन्यत्र कार्यदैवाभ्यां प्रतिहस्तं समादिशेत् ॥ ७५५

ठहरिए,ठहरिए । यदि वे ठहर जाये तो घरमे ले जाकर उन्हे ऊँचे आसनपर बैठाना चाहिए । फिर उनके चरणोंको धोकर पूजा करनी चाहिए । फिर प्रणाम करना चाहिए । फिर उनसे निवेदन करना चाहिए कि मेरा मन शुद्ध है, वचन शुद्ध है, काय शुद्ध है और अन्न, जल शुद्ध है । ये नवधा भक्ति है ॥७४५॥ (अब दाताके सात गुण बतलाते है–) जिस दातामे श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, अलोभीपना,क्षमा और शक्ति ये सात गुण पाये जाते हैं वह दाता प्रशंसाके योग्य होता है ॥७४६॥ (इन गुणोमें-से विज्ञानगुणका स्वरूप ग्रन्थकार स्वय बतलाते हैं–)जो भोजन विरूप हो, चलित-रस हो, फेका हुआ हो, साधुकी प्रकृतिके विरुद्ध हो, जल गया हो, तथा जो खानेसे रोग पैदा करे, वह भोजन मुनिको नही देना चाहिए ॥७४७॥ जो उच्छिष्ट हो–खानेसे बच गया हो, नीच लोगोके खाने योग्य हो, दूसरोके लिए बनाया हो, निन्दनीय हो, दुर्जनसे छू गया हो या किसी देवता अथवा यक्षके उद्देश्यसे रखा हो, वह भोजन मुनिको नही देना चाहिए ॥७४८॥ जो दूसरे गाँवसे लाया गया हो,या मन्त्रके द्वारा लाया गया हो,या भेटमे आया हो या बाजारसे खरीदा हो या ऋतुके प्रतिकूल हो, वह भोजन मुनिको नही देना चाहिए ॥७४९॥ दही, घी, दूध आदि बासी भी खानेके योग्य है,किन्तु जिसका रूप, गन्ध और स्वाद बदल गया हो वह मुनिको देनेके योग्य नही है ॥७५०॥ अवस्थामे छोटे, रोगसे दुर्बल, बूढे और कोढ आदि व्याधियोसे पीडित मुनियोंकी सदा सेवा करनी चाहिए,जिससे वे तप करनेमे समर्थ हो सके ॥७५१॥ भोजनके समय कपट, घमण्ड, निरादर, चंचलता, असंयम और कठोर वचनोंको विशेष रूपसे छोडना चाहिए अर्थात् वैसे तो इनको सदा ही छोडना चाहिए, किन्तु भोजनके समय तो खास तौरसे छोड देना चाहिए; क्योकि इन सबका मनपर अच्छा असर नही पडता और मन खराब होनेसे भोजनका भी परिपाक ठीक नही होता ॥७५२॥ जो भक्तिपूर्वक दान नही देते, या अत्यन्त कृपण हैं अथवा अव्रती है या दीनता और करुणा उत्पन्न करते हैं अर्थात् अपनी दीनता प्रकट करते हैं,या करुणा बुद्धिसे दान देते हैं, उसके घरपर साधुको आहार नही लेना चाहिये ॥७५३॥ वे साधु बडे सत्त्व-शाली होते है, चित्तसे भी बडे दयालु होते हैं । उनकी वृत्ति दीनता और करुणाजन सकल्पोंसे रहित होती है । अतः वे दीनों और दयापात्रोके घरपर आहार नही करते ॥७५४॥ (जो लोग स्वयं दान न देकर दूसरोंसे दान दिलाते है उनके बारेमे ग्रन्थकार कहते है–) जो काम दूसरोंमे

आत्मवित्तपरित्यागात्परैर्धर्मविधायने । निःसंदेहमवाप्नोति परभोगाय तत्फलम् ॥ ७५६
भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरास्त्रियः । विभवो दानशक्तिश्च स्वयं धर्मकृतेः फलम् ॥ ७५७
शिल्पिकारुकवाक्पण्यसंभलीपतितादिषु । देहस्थितिं न कुर्वीत लिङ्गिलिङ्गोपजीविषु ॥ ७५८
दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः । मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥७५९
पुष्पादिरशनादिर्वा न स्वयं धर्म एष हि । क्षित्यादिरिव धान्यस्य किं तु भावस्य कारणम् ॥७६०
एवत हि श्रद्धया साधु सकृदेव मनो नृणाम् । परां शुद्धिमवाप्नोति लोहं विद्धं रसैरिव ॥ ७६१
तपोदानार्चनाहीनं मन सदपि देहिनाम् । तत्फलप्राप्तये न स्यात्कुशूलस्थितबीजवत् ॥ ७६२
आवेशिकाश्रितज्ञातिदीनात्मसु यथाक्रमम् । यथौचित्यं यथाकालं यज्ञपञ्चकमाचरेत् ॥ ७६३
काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके । एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥ ७६४
यथा पूज्य जिनेन्द्राणां रूप लेपादिनिर्मितम् । तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्याः संप्रति संयता ॥ ७६५
तदुत्तम भवेत्पात्र यत्र रत्नत्रयं नरे । देशव्रती भवेन्मध्यमन्यच्चासयत. सुदृक् ॥ ७६६

कराने लायक है, या जो भाग्यवश हो जाता है उनको छोडकर धर्मके कार्य,स्वामीकी सेवा और सन्तानोत्पत्तिको कौन समझदार मनुष्य दूसरेके हाथ सौंपता है? ॥७५५॥ जो अपना धन देकर दूसरोके द्वारा धर्म कराता है वह उसका फल दूसरोके भोगके लिए ही उपार्जित करता है इसमे सन्देह नही है ॥७५६॥ खाद्य पदार्थ, भोजन करनेकी शक्ति, रमण करनेकी शक्ति,सुन्दर स्त्रियाँ, सम्पत्ति और दान करनेकी शक्ति, ये चीजे स्वयं धर्म करनेसे ही प्राप्त होती है ॥७५७॥ नाई, धोबी, कुम्हार,लुहार,सुनार,गायक, भाट,दुराचारिणी स्त्री, नीच लोगोके घरमे तथा जो मुनियों, केउपकरण वेचकर उनसे आजीविका करते है उनके घरमे मुनिको आहारनही करनाचाहिए॥७५८॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण ही जिनदीक्षाके योग्य है किन्तु आहार दान देनेके योग्य चारो ही वर्ण है, क्योंकि सभी प्राणियोको मानसिक,वाचनिक और कायिक धर्मका पालन करनेकी अनुमति है ॥७५९॥ पुष्प आदि और भोजन आदि स्वय धर्म नही है, किन्तु जैसे पृथ्वी आदि धान्यकी उत्पत्तिमे कारण है वैसे ही ये चीजे शुभ भावोके होनेमे कारण है ॥७६०॥ **भावार्थ—** पूजामें जो पुष्प आदि चढाये जाते है और मुनिको जो आहार दिया जाता है सो ये पुष्प आदि द्रव्य या भोजन स्वयं धर्म नही है । किन्तु इनके निमित्तसे जो शुभ भाव होते है वे धर्मके कारण है क्यों-कि उनसे शुभ कर्मका बन्ध होता है । मनुष्योका मन यदि एक बार भी सच्ची श्रद्धासे युक्त हो तो वह उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त होता है । जैसे पारदके योगसे लोहा अत्यन्त शुद्ध हो जाता है ॥७६१॥ और प्राणियोके मन होते हुए भी यदि वह मन तप, दान और पूजामे रत न हो तो जैसे खेत्तीमे पडा हुआ बीज धान्यको उत्पन्न नही कर सकता वैसे ही वह मन भी उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त नही कर सकता । अत यदि मन है तो उसे शुभ कार्योमे लगाना चाहिए ॥७६२॥ अपने घरपर आये हुए अतिथिको, अपने आश्रितको सजातीयको और दीन मनुष्योको समयके अनुसार यथायोग्य पाँच दान क्रमश देने चाहिए ॥७६३॥ यह बडा आश्चर्य है कि इस कलिकालमें जब मनुष्योका मन चचल रहता है और शरीर अन्नका कीडा बना रहता है, आज भी जिनरूपके धारक मनुष्य पाये जाते है ॥७६४॥ जैसे पाषाण आदि मे अंकित जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिकृति पूजने योग्य है, लोग उसकी पूजा करते हैं, वैसे ही आजकलके मुनियोको भी पूर्वकालके मुनियोकी प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिए ॥७६५॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रसे विभूषित मुनि उत्तम पात्र हैं । अणुव्रती श्रावक मध्यमपात्र है और असयत सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र है ॥७६६॥ जिस मनुष्यमें

यत्र रत्नत्रय नास्ति तदपात्रं विदुर्बुधाः । उप्तं तत्र वृथा सर्वमूषरायां क्षिताविव ॥ ७६७
पात्रे दत्त भवेदन्नं पुण्याय गृहमेधिनाम् । शुक्तावेव हि मेघानां जलं मुक्ताफलं भवेत् ॥ ७६८
मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु चारित्राभासभागिषु । दोषायैव भवेद्दानं पय पानमिवाहिषु ॥ ७६९
कारुण्यादथवौचित्यात्तेषां किञ्चिद्दिशन्नपि । दिशेदुद्धृतमेवान्न गृहे भुक्ति न कारयेत् ॥ ७७०
सत्कारादिविधावेषां दर्शनं दूषितं भवेत् । यथा विशुद्धमप्यम्बु विषभाजनसगमात् ॥ ७७१
शाक्यनास्तिकयागज्ञजटिलाजीवकादिभि । सहावास सहालापं तत्सेवां च विवर्जयेत् ॥ ७७२
अज्ञाततत्त्वचेतोभिर्दुराग्रहमलीमसै. । युद्धमेव भवेद् गोष्ठयां दण्डादण्डि कचाकचि ॥ ७७३
भयलोभोपरोधाद्यैः कुलिङ्गिषु निषेवणे । अवश्यं दर्शनं म्लायेन्नीचैराचरणे सति ॥ ७७४
बुद्धिपौरुषयुक्तेषु दैवायत्तविभूतिषु । नृषु कुत्सितसेवायां दैन्यमेवातिरिच्यते ॥ ७७५
समयी साधक. साधु. सूरिः समयदीपक. । तत्पुनः पञ्चधा पात्रमामनन्ति मनीषिण ॥ ७७६
गृहस्थो वा यतिर्वापि जैनं समयमास्थितः । यथाकालमनुप्राप्तः पूजनीय. सुदृष्टिभि । ७७७
ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञः सुप्रज्ञः कार्यकर्मसु । मान्य. समयिभिः सम्यक्परोक्षार्थसमर्थधीः ॥ ७७८
दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्याः क्रियास्तद्विरहे कुत । तदर्थं परपृच्छायां कथं च समयोन्नति ॥ ७७९

न सम्यग्दर्शन है, न सम्यग्ज्ञान हैं और न सम्यक्चारित्र हैं उसे विद्वज्जन अपात्र समझते है। जैसे ऊसर भूमिमे कुछ भी बोना व्यर्थ होता है वैसे ही अपात्रको दान देना भी व्यर्थ है ॥७६७॥ पात्रको आहार दान देनेसे गृहस्थोंको पुण्य फल प्राप्त होता है; क्योकि मेघका पानी सीपमे ही जानेसे मोती बनता है, अन्यत्र नही ॥७६८॥ जिनका चित्त मिथ्यात्वमें फँसा हैं और जो मिथ्या चारित्रको पालते है, उनको दान देना बुराईका ही कारण होता हैं जैसे सांपको दूध पिलानेसे वह जहर ही उगलता है, ॥७६९॥ ऐसे लोगोको दयाभावसे अथवा शक्तित समझकर यदि कुछ दिया भी जाये तो भोजनसे जो अवशिष्ट रहे वही देना चाहिए । किन्तु घरपर नही जिमाना चाहिए । ७७०॥ जैसे विषैले बरतनके सम्बन्धसे अशुद्ध जल भी दूषित हो जाता हैं वैसे ही इन मिथ्यादृष्टि साधुवेपियोंका आदर-सत्कार करनेसे श्रद्धान दूषित हो जाता है ॥७७१॥ अत. बौद्ध, नास्तिक, याज्ञिक, जटाधारी तपस्वी और आजीवक आदि सम्प्रदायके साधुओंके साथ निवास,बातचीत और उनकी सेवा आदि नहीं करना चाहिए ॥७७२॥ तत्त्वोसे अनजान और दुराग्रही मनुष्योके साथ बातचीत करनेसे लढाई ही होती है जिसमें डण्डा-डण्डी और केशाकेशी तककी नौबत आ सकती है॥७७३॥ जो स्त्री-पुरुष किसी अनिष्टके भयसे या पुत्र आदि के लालचसे या दूसरोंके आग्रहसे कुलिङ्गी साधुओकी सेवा करते हैं, उनका श्रद्धान नीच आचरण करनेसे अवश्य मलिन होता हैं ॥७७४॥ सभी मनुष्य बुद्धिशाली हैं और यथायोग्य पौरुष—उद्योग भी करते है किन्तु सम्पत्तिका मिलना तो भाग्यके अधीन हैं । फिर भी यदि मनुष्य बुरे मनुष्योंकी सेवा करता है तो यह तो दीनताका अतिरेक हैं ॥७७५॥ अब अन्य प्रकार से पात्रके पाँच भेद और उनका स्वरूप बतलाते हैं—बुद्धिमान् पुरुप समयी, साधक, साधु, आचार्य और धर्मके प्रभावकके भेदसे पात्रके पाँच भेद मानते हैं ॥७७६॥ गृहस्थ हो या साधु, जो जैन धर्मका अनुयायी है उसे समयी या साधर्मी कहते हैं । ये साधर्मी पात्र यथाकाल प्राप्त होनेपर सम्यग्दृष्टि भाइयोको उनका आदर-सत्कार करना चाहिए । ७७७॥ जिनकी बुद्धि परोक्ष अर्थको भली प्रकारसे जाननेमे समर्थ हैं उन ज्योतिपशास्त्र, मन्त्रशास्त्र और निमित्तशास्त्रकेज्ञाताओका तथा कार्यक्रम अर्थात् प्रतिष्ठा आदिके ज्ञाताका साधर्मी भाइयोंको सम्मान करना चाहिए ॥७७८॥ यदि न हो तो जिनदीक्षा, तीर्थयात्रा और जिन बिम्बप्रतिष्ठा आदि

मूलोत्तरगुणश्लाघ्यैस्तपोभिर्निष्ठितस्थितिः । साधुः साधु भवेत्पूज्यः पुण्योपार्जितपण्डितैः ॥ ७८०
ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरःसरः । सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः ॥ ७८१
लोकवित्त्वकवित्वाद्यैर्वादवाग्मित्वकौशलैः । मार्गप्रभावनोद्युक्ताः सन्तः पूज्या विशेषतः ॥ ७८२
मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम् । द्वयं यत्र स देवः स्याद् द्विहीनो गणपूरणः ॥ ७८३
अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्याद्विरतौ विनयक्रिया । अन्योन्यं क्षुल्लके चाहमिच्छाकारवचः सदा ॥ ७८४
अनुवीचीवचो भाष्यं सदा पूज्यादिसंनिधौ । यथेष्टं हसनालापान् वर्जयेद् गुरुसंनिधौ ॥ ७८५
भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम् । ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति ॥७८६
सर्वारम्भप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः । बहुधास्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥ ७८७
यथा यथा विशिष्यन्ते तपोज्ञानादिभिर्गुणैः । तथा तथाधिकं पूज्या मुनयो गृहमेधिभिः ॥ ७८८
दैवाल्लब्धं धनं धन्यैर्वप्तव्यं समयाश्रिते । एको मुनिर्भवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागमम् ॥ ७८९

क्रियाएँ कैसे हो सकती है, क्योकि इनमें मुहूर्त देखनेके लिए ज्योतिपविद्या और क्रियाकर्म करानेके लिए प्रतिष्ठाशास्त्रके ज्ञाताकी आवश्यकता होती है। शायद कहा जाये कि दूसरे लोगोमे जो जोतिपी या मन्त्रशास्त्री है उनसे काम चला लिया जायेगा। किन्तु इस तरह दूसरोंसे पूछनेसे अपने धर्मकी उन्नति कैसे हो सकती है ॥७७९॥ भावार्थ—अपने धर्मको उन्नति तो तभी हो सकती है जब अपनेमे भी सब आवश्यक बातोके जाननेवाले हो। तथा अपने मुहूर्तविचारमे भी दूसरोसे अन्तर है और प्रतिष्ठा आदि विधि तो बिलकुल ही अलग है। अत जैन ज्योतिष और जैन मन्त्रशास्त्रके और प्रतिष्ठाशास्त्रके वेत्ताओका भी सम्मान करना चाहिए, जिससे वे बने रहे और हमारे धर्मकी क्रियाएँ शुद्ध विधिपूर्वक चालू रहे। मूलगुण और उत्तरगुणोसे युक्त तपस्वी महात्माको साधु कहते है। जो पुण्यको कमानेमे चतुर है उन्हे साधुकी भक्तिभावसे पूजा करनी चाहिए ॥७८०॥ जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्डमे चतुर्विध सघके मुखिया होते है तथा ससाररूपी समुद्रसे पार उतारनेमे समर्थ है उन्हे आचार्य कहते है। उनकी देवके समान आराधना करनी चाहिए॥७८१॥ जो लोकज्ञता तथा कवित्व आदिके द्वारा और शास्त्रार्थ तथा वक्तृत्वशक्तिके कौशल-द्वारा जैन धर्मकी प्रभावना करनेमें सदा सलग्न रहते है उन सज्जन पुरुषोका विशेषरूपसे समादर करना चाहिए ॥७८२। तपसे हीन ज्ञान भी समादरके योग्य है। और ज्ञानसे हीन तप भी पूजनीय है। किन्तु जिसमे ज्ञान और तप दोनो है वह देवता है और जिसमे दोनो नही है वह केवल सघका स्थान भरनेवाला है ॥७८३॥ जिन-मुद्राके धारक साधुओको 'नमोऽस्तु' कहकर अभिवादन करना चाहिए। त्यागियोकी विनय करना चाहिए। और क्षुल्लक त्यागी परस्परमे एक दूसरेका सदा 'इच्छामि' कहकर अभिवादन करते है। पूज्य पुरुषोके सामने सदा शास्त्रानुकूल वचन बोलना चाहिए। तथा गुरुजनो के समीपमे स्वच्छन्दतापूर्वक हँसी-मजाक नही करना चाहिए ॥७८४–७८५॥ केवल आहारदानके लिए साधुओकी परीक्षा नही करनी चाहिए। चाहे वे सज्जन हो या दुर्जन हो। गृहस्थ तो दान देनेसे शुद्ध होता है ॥७८६॥ गृहस्थ लोग अनेक आरम्भोमे फँसे रहते है और उनका धन भी अनेक प्रकारसे खर्च होता है। इससे तपस्वियोको आहारदान देनेमे ज्यादा सोच-विचार नही करना चाहिए ॥७८७॥ मुनिजन जैसे-जैसे तप, ज्ञान आदि गुणोसे विशिष्ट हो वैसे-वैसे गृहस्थोको उनका अधिक समादर करना चाहिए ॥७८८॥ धन भाग्यसे मिलता है, अत. भाग्यशाली पुरुषोको आगमानुकूल कोई मुनि मिले या न मिले, किन्तु उन्हे अपना धन जैन

उच्चावचजनप्राय. समयोऽयं जिनेशिनाम् । नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ॥ ७९०
ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः । भवन्ति मुनयः सर्वे दानमानादिकर्मसु ॥ ७९१
उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते । पुण्यार्जने गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिष्विव ॥ ७९२
अतद्गुणेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये । यत्संज्ञाकर्म तन्नाम नरेच्छावशवर्तनात् ॥ ७९३
साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम् । सोऽयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥ ७९४
आगामिगुणयोग्योऽर्थो द्रव्यन्यासस्य गोचरः । तत्कालपर्ययाक्रान्तं वस्तु भावो विधीयते ॥ ७९५
यदात्मवर्णनप्रायं क्षणिकाहार्यविभ्रमम् । परप्रत्ययसंभूतं दानं तद्राजसं मतम् ॥ ७९६
पात्रापात्रसमावेक्षमसत्कारमसंस्तुतम् । दासभृत्यकृतोद्योगं दानं तामसमूचिरे ॥ ७९७
आतिथेयं स्वयं यत्र यत्र पात्रनिरीक्षणम् । गुणाः श्रद्धादयो यत्र दानं तत्सात्त्विकं विदु ॥ ७९८
उत्तमं सात्त्विकं दानं मध्यमं राजसं भवेत् । दानानामेव सर्वेषां जघन्यं तामसं पुन ॥ ७९९
यद्दत्तं तदमुत्र स्यादित्यसत्यपरं वच । गावः पयः प्रयच्छन्ति किं न तोयतृणाशना. ॥ ८००
मुनिभ्यः शाकपिण्डोऽपि भक्त्या काले प्रकल्पित । भवेदगण्यपुण्यार्थं भक्तिश्चिन्तामणिर्यत. ॥८०१

धर्मानुयायियोमे अवश्य खर्च करना चाहिए। ७८९॥ जिन भगवान्का यह धर्म अनेक प्रकारके मनुष्योंसे भरा हैं। जैसे मकान एक खम्भेपर नही ठहर सकता वैसे ही यह धर्म भी एक पुरुषके आश्रयसे नहीं ठहर सकता ॥७९०॥ नाम, स्थापना द्रव्य और भावनिक्षेपकी अपेक्षासे मुनि चार प्रकारके होते है और वे सभी दान, सम्मानके योग्य हैं ॥७९१॥ किन्तु गृहस्थोंके पुण्य उपार्जनकी दृष्टिसे जिनबिम्बोंकी तरह उन चार प्रकारके मुनियोंमें उत्तरोत्तर रूपसे विशिष्ट विधि होती जाती है ॥७९२॥ अब क्रमशः चारों निक्षेपोंका स्वरूप बतलाते है—नामसे व्यक्त होनेवाले गुणसे हीन पदार्थोंमें लोक-व्यवहार चलानेके लिए मनुष्य अपनी इच्छानुसार जो नाम रख लेते हैं उसे नाम-निक्षेप कहते हैं ॥७९३॥ तदाकार या अतदाकार लकड़ी वगैरहमें यह अमुक है'इस प्रकारके अभि-प्रायसे जो स्थापना की जाती हैं उसे स्थापनानिक्षेप कहते है ॥७९४॥ जो पदार्थ भविष्यमे अमुक गुणोंसे विशिष्ट होगा उसे अभी से ही उस नामसे पुकारना द्रव्यनिक्षेप है। और जो वस्तु जिस समय जिस पर्यायसे विशिष्ट हैं उसे उस समय उसी रूप कहना भावनिक्षेप है ॥७९५॥ अब प्रका-रान्तरसे दानके तीन भेद बतलाते है—जो दान अपनी ख्यातिकी भावनासे कभी-कभी किसीको तब दिया जाता है जब दूसरे दाताको वैसे दानसे मिलनेवाले फलको देख लिया जाता हैं, इस दानको राजस दान कहते है। अर्थात् उसे स्वयं तो दानपर विश्वास नही होता किन्तु किसीको दानसे मिलनेवाला फल देखकर कि इसने यह दिया था तो उससे इसे अमुक-अमुक लाभ हुआ,दान देता है। ऐसा दान रजोगुण प्रधान होनेसे राजस कहा जाता है ॥७९६॥ पात्र और अपात्रको समानरूपसे मानकर या पात्रको अपात्रके समान मानकर विना किसी आदर-सम्मान और स्तुतिके, नौकर-चाकरोंके उद्योगपूर्वक जो दान दिया जाता हैं उस दानको तामस दान कहते है ॥७९७॥ जिस दानमें स्वय पात्रको देखकर उसका अतिथि—सत्कार किया जाता हैं तथा जो श्रद्धा वगैरह के साथ दिया जाता हैं उस दानको सात्त्विक दान कहते है ॥७९८॥ इन तीनों दानोमे-से सात्त्विक दान उत्तम है, राजस दान मध्यम है और तामस दान सब दानोंमे निकृष्ट है ॥ ७९९॥जो दिया जाता है परलोकमें वही मिलता है,ऐसा कहना झूठ है। क्या पानी और घास खानेवाली गायें दूध नहीं देती है? अत. मुनियोंको समयपर भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-पात भी अपरिमित पुण्यका

अभिमानस्य रक्षार्थं विनयायागमस्य च । भोजनादिविधानेषु मौनमूचुर्मुनीश्वराः ॥ ८०२
लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणम् । ततश्च समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्त्रये ॥ ८०३
श्रुतस्य प्रश्रयाच्छ्रेय समृद्धेः स्यात्समाश्रयः । ततो मनुजलोकस्य प्रसीदति सरस्वती ॥ ८०४
शारीरमानसागन्तुव्याधिसबाधसंभवे । साधु संयमिनां कार्यः प्रतीकारो गृहाश्रितैः ॥ ८०५

तत्र दोषधातुमलविकृतिजनिताः शारीराः, दौर्मनस्यदुःस्वप्नसाध्वसादिसंपादिता मानसाः, शीतवाताभिघातादिकृता आगन्तवः ।

मुनीनां व्याधियुक्तानामुपेक्षायामुपासकैः । असमाधिर्भवेत्तेषां स्वस्य चाधर्मकर्मता ॥ ८०६
सौमनस्यं सदाऽऽचर्यं व्याख्यातृषु पठत्सु च । आवासपुस्तकाहारसौकर्यादिविधानकैः ॥ ८०७
अङ्गपूर्वप्रकीर्णोक्तं सूक्तं केवलिभाषितम् । नश्येन्निर्मूलतः सर्वं श्रुतस्कन्धधरात्यये ॥ ८०८
प्रश्रयोत्साहनानन्दस्वाध्यायोचितवस्तुभिः । श्रुतवृद्धान्मुनीन्कुर्वञ्जायते श्रुतपारगः ॥ ८०९
श्रुतात्तत्त्वपरिज्ञानं श्रुतात्समयवर्धनम् । श्रेयोऽर्थिनां श्रुताभावे सर्वमेतत्तमस्यते ॥ ८१०

कारण होता है, क्योंकि भक्ति ही चिन्तामणि हैं ॥८००–८०१॥ अब भोजनके समय मौनका विधान करते है–जिनेन्द्र भगवान्ने अभिमानकी रक्षाके लिए और श्रुतकी विनयके लिए भोजन आदि के समय मौन करना बतलाया है। भोजनकी लिप्साके त्यागनेसे तपकी वृद्धि होती है और अभिमानकी रक्षा होती है और उनके होनेसे मन वशमें होता है। श्रुतकी विनय करनेसे कल्याण होता है, सम्पत्ति मिलती है और उससे मनुष्यपर सरस्वती प्रसन्न होती है ॥८०२–८०४॥ भावार्थ–भोजनके समय मौन करनेसे जूठे मुह वाणीका उच्चारण नही करना पडता। यह वाणीकी विनय है। इसके करनेसे वाणीपर असाधारण अधिकार प्राप्त होता है। जो लोग दिन-भर बक-झक करते है उनके वचनकी कीमत जाती रहती है। दूसरा लाभ यह है कि माँगना नही पडता। माँगनेसे स्वाभिमानका घात होता है और न माँगनेसे उनकी रक्षा होती हैं। तथा अपनी इच्छाको रोकना पड़ता है और इच्छाका रोकना तप है अत मौनसे तपकी वृद्धि होती है और मन वशमे होता है, अत मौनपूर्वक भोजन करना चाहिए। मुनिजनोको शारीरिक, मानसिक या कोई आगन्तुक रोगादिककी बाधा होनेपर गृहस्थोंको उसका प्रतीकार करना चाहिए ॥८०५॥ वात, पित्त, कफ, रुधिरादि धातु और मलके विकारसे जो रोग होते है उन्हे शारीरिक कहते है। मनके दूषित होनेसे, बुरे स्वप्नोसे या भय आदिके कारणसे जो रोग होते है वे मानसिक है, ठण्डी वायु आदि लग जानेसे जो आकस्मिक बाधा हो जाती है उसे आगन्तुक कहते है। इन बाधाओंको दूर करनेका प्रयत्न गृहस्थोको करना चाहिए, क्योकि रोगग्रस्त मुनियोकी अपेक्षा करनेसे मुनियोकी समाधि नही बनती और गृहस्थोका धर्म-कर्म नही बनता ॥८०६॥

श्रुतकी रक्षाके लिए श्रुतधरोकी रक्षा आवश्यक है-जो जिनशास्त्रोका व्याख्यान करते है या उनको पढते है उन्हे, रहनेको निवास-स्थान, पुस्तक और भोजन आदिकी सुविधा देकर गृहस्थोको सदा अपनी सदाशयताका परिचय देते रहना चाहिए ॥८०७॥ क्योकि श्रुतके व्याख्याता और पाठक श्रुतसमूहके धारक है–उनके नष्ट हो जानेसे केवली भगवान्के द्वारा उपदिष्ट ग्यारह अंग और चौदह पूर्व रूप समस्त श्रुतज्ञान जडसे नष्ट हो जायेगा ॥८०८॥ जो आश्रय देकर, उत्साह बढाकर, आराम देकर तथा स्वाध्यायके योग्य शास्त्र आदि वस्तुओओ देकर मुनियोको शास्त्रमे निपुण बनानेका प्रयत्न करते है वे स्वयं श्रुतके पारगामी हो जाते है ॥८०९॥ श्रुत या शास्त्रसे ही

अस्त्रधारणवद्बाह्ये क्लेशे हि सुलभा नराः। यथार्थज्ञानसंपन्ना शौण्डीरा इव दुर्लभाः ॥ ८११
ज्ञानभावनया हीने कायक्लेशिनि केवलम्। कर्मवाहीकवत्किञ्चिद्व्येति किञ्चिदुदेति च ॥ ८१२
सृणिवज्ज्ञानमेवास्य वशायाशयदन्तिनः। तदृते च बहिः क्लेश. क्लेश एव परं भवेत् ॥ ८१३
बहिस्तप' स्वतोऽभ्येति ज्ञानं भावयत: सत.। क्षेत्रज्ञे यन्निमग्नेऽत्र कुत. स्युरपराः क्रियाः ॥ ८१४
यदज्ञानी युगै. कर्म बहुभिःक्षपयेन्न वा। तज्ज्ञानी योगसंपन्नः क्षपयेत्क्षणतो ध्रुवम् ॥ ८१५
ज्ञानी पटुस्तदैव स्याद्बहि' क्लेष्टृव्रतेऽखिले। ज्ञातुर्ज्ञानसवेंऽत्यस्य न पटुत्वं युगैरपि ॥ ८१७
स्वरूपं रचना शुद्धिर्भूषार्थश्च समासतः। प्रत्येकमागमस्यैतद्द्वैविध्यं प्रतिपद्यते ॥ ८१८

तत्र स्वरूपं च द्विविधम्-अक्षरम् अनक्षरं च। रचना द्विविधा-गद्यम्, पद्य च। शुद्धि-द्विविधा-प्रमादप्रयोगविरहः, अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहारश्च। भूषा द्विविधा-वागलंकार, अर्थालंकारश्च। अर्थो द्विविधः-चेतनोऽचेतनश्च जातिर्व्यक्तिश्चेति वा।

सार्धं सचित्तनिक्षिप्तवृत्ताभ्यां दानहानये। अन्योपदेशमात्सर्यकालातिक्रमणक्रिया' ॥ ८१९

तत्त्वोंका ज्ञान होता है और शास्त्रसे ही जिन-शासनकी वृद्धि होती है। यदि शास्त्र न हो तो अपने कल्याणके इच्छुक जनोंको सर्वत्र अन्धकार ही दिखलायी दे ॥८१०॥ जैसे तलवार वगैरह बाँधनेका कष्ट उठानेवाले मनुष्य तो सरलतासे मिल जाते हैं, किन्तु सच्चे शूरवीरोका मिलना दुर्लभ है। वैसे ही बाह्य कष्ट उठानेवाले मनुष्य सुलभ है किन्तु सच्चे ज्ञानी दुर्लभ है ॥८११॥ जो मनुष्य ज्ञानकी भावनासे शून्य है और केवल शरीरको कष्ट देता है, बोझ ढोनेवाले मनुष्यकी तरह उसका एक कष्ट जाता हैं तो दूसरा आ जाता है और इस तरह वह केवल कायक्लेश ही उठाता रहता है ॥८१२॥ मनुष्यके मनरूपी हाथीको वशमें करनेके लिए ज्ञान ही अकुशके तुल्य है अर्थात् जैसे अकुश हाथीको रोकता हैं वैसे ही ज्ञान मनुष्यके मनको बुरी तरफ जानेसे रोकता है। उस ज्ञान के बिना जो शारीरिक कष्ट उठाया जाता है वह कष्ट केवल कष्ट ही के लिए हैं, उससे कुछ भी लाभ नही होता ॥८१३॥ जो ज्ञानकी भावना करता है उसे बाह्य तप स्वय प्राप्त हो जाता है! क्योकि जब आत्मा ज्ञानमे लीन हो जाता हैं तो अन्य क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं? ॥८१४॥ अज्ञानी जिस कर्मको बहुतसे युगोमे भी नही नष्ट कर पाता, ध्यानसे युक्त ज्ञानी पुरुष उस कर्मको निश्चयसे क्षण-भरमे ही नष्ट कर देता है ॥८१५॥ समस्त बाह्य व्रतोमे क्लेश उठानेवाले अज्ञानी यतिसे ज्ञानी पुरुष तत्काल कुशल हो जाता हैं, किन्तु बाह्य व्रतोंको करनेवाला अज्ञानी, युग बीत जानेपर भी ज्ञानके एक अंशमे भी कुशल नही होता ॥८१६॥ जिसकी वाणी व्याकरणके द्वारा शुद्ध नही हुई और बुद्धि नयोके द्वारा शुद्ध नही हुई वह मनुष्य दूसरोके विश्वासके अनुसार चलनेसे कष्ट उठाता हुआ अन्धेके समान आचरण करता हैं ।८१७। प्रत्येक शास्त्रमे संक्षेपसे इतनी बाते होती हैं-स्वरूप, रचना, शुद्धि, अलकार और वर्णित विषय। ये प्रत्येक दो-दो प्रकारके होते है। ८१८॥ स्वरूप दो प्रकारका होता है-अक्षररूप और अनक्षररूप। रचना दो प्रकारकी होती है-गद्यरूप और पद्यरूप। शुद्धि दो प्रकारकी होती हैं-एक तो प्रमादसे कोई प्रयोग न किया हो, दूसरे न उसमें कोई अर्थ छूटा हो और न कोई शब्द छूटा हो। अलंकार दो तरहके होते है-एक शब्दालकार और दूसरा अर्थालकार। वर्णित विषय दो प्रकारका होता है-चेतन और अचेतन या जाति और व्यक्ति। सचित्त पत्ते आदिमें आहारको रखना, सचित्त पत्ते आदिमे आहारको ढांकना, यह दाता हैं और यह आहार

नतेर्गोत्रं श्रियो दानादुपास्तेः सर्वसेव्यताम् । भक्तेः कीर्तिमवाप्नोति स्वयं दाता यतीन्भजन् ॥८२०
मूलव्रतं व्रतान्यर्चापर्वकर्माकृषिक्रिया. । दिवा नवविध ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥ ८२१
परिग्रहपरित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता । तद्धानौ च वदन्त्येतान्येकादश यथाक्रमम् ॥ ८२२
अध्यधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थितः । सर्वत्रापि समा प्रोक्ता ज्ञानदर्शनभावना. ॥ ८२३
षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिण । भिक्षुको द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यति ॥८२४
तत्तद्गुणप्रधानत्वाद्यतयोऽनेकधा स्मृता । निरुक्ति युक्तितस्तेषां वदतो मन्निबोधत ॥ ८२५
जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि यो वेत्त्यात्मानमात्मना । गृहस्थो वा स जितेन्द्रिय उच्यते ॥ ८२६
मानमायामदामर्षक्षपणात्क्षपण. स्मृत. । यो न श्रान्तो भवेद्भ्रान्तेस्त विदुः श्रमण बुधा ॥ ८२७

भी इसीका है इसप्रकार कहकर दान देना, दान देते हुए भी आदरपूर्वक न देना या अन्य दाताओसे ईर्ष्या करना और साधुओके भिक्षाके समयका उल्लघन करना ये पाँच बाते मुनिदान व्रतमे दोष लगानेवाली हैं। अत श्रावकको इन्हे नही करना चाहिए ॥८१९॥ जो दाता स्वय यतियोको दान देता है उसे मुनिको नमस्कार करनेसे उच्च गोत्र मिलता है, दान देनेसे लक्ष्मी मिलती है, उनकी उपासना करनेसे सब लोग उनकी सेवा करते है और उनकी भक्ति करनेसे ससारमे यश होता है ॥८२०॥ (अब श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ बतलाते है–) सम्यग्दर्शनके साथ अष्टमूलगुणका निरतिचार पालन करना पहली प्रतिमा है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोको निरतिचार पालन करना दूसरी व्रत प्रतिमा है। नियमसे तीनो सन्ध्याओको विधिपूर्वक सामायिक करना तीसरी सामायिक प्रतिमा है। (ग्रन्थकारने उसके लिए अर्चा शब्दका प्रयोग किया है जिसका अर्थ पूजा होता है। उन्होंने सामायिकमे पूजनपर विशेष जोर दिया है। इसीसे अर्चा शब्दका प्रयोग किया जान पडता है।) प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको नियमसे उपवास करना चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा है। खेती आदिका न करना पाँचवी प्रतिमा है। दिनमे ब्रह्मचर्यका पालन करना छठी दिवामैथुनत्याग प्रतिमा है। मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे स्त्रीसेवनका त्याग सातवी ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। सचित्त वस्तुके खानेका त्याग करना आठवी सचित्तत्याग प्रतिमा है। समस्त परिग्रहका त्याग देना नौवी परिग्रहत्याग प्रतिमा है। किसी आरम्भ उद्योग या विवाहादि कार्यमे अनुमति न देकर केवल भोजन मात्रमे अनुमति देना दसवी आरम्भत्याग प्रतिमा है और अपने भोजनमे भी किसी प्रकारकी अनुमति नही देना ग्यारहवी प्रतिमा है। ये क्रमसे ११ प्रतिमाएँ है ॥८२१-८२२॥

प्रतिमा धारणाका क्रम तथा उनके धारकोकी सज्ञाएँ–पूर्व पूर्व प्रतिमा रूप व्रतमे स्थित होकर अपने ऊपर के व्रतपर आरोहण करे। ज्ञान और दर्शन की भावनाएँ तो सभी प्रतिमाओमे समान कही है ॥८२३। इन ग्यारह प्रतिमाओमे से पहलेकी छह प्रतिमाके धारक गृहस्थ कहे जाते हे। सातवी, आठवी और नौवी प्रतिमाके धारक ब्रह्मचारी कहे जाते है तथा अन्तिम दो प्रतिमावाले भिक्षु कहे जाते है और उन सबसे ऊपर मुनि या साधु होता है ॥८२४॥ उन-उन गुणोकी प्रधानताके कारण मुनि अनेक प्रकारके बतलाये है। अब उनके उन नामोकी युक्तिपूर्वक निरुक्ति बतलाते है, उसे मुझसे सुनिए ॥८२५॥ जो सब इन्द्रियोको जीतकर अपनेसे अपनेको जानता है वह गृहस्थ हो या वानप्रस्थ, उसे जितेन्द्रिय कहते है ॥८२६॥ मान, माया, मस्ती और क्रोधका नाश कर देनेसे क्षपण कहते है और जगह-जगह विहार करता हुआ वह थकता नही है

यो हृताशः प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमूचिरे । यः सर्वसङ्गसंत्यक्तः स नग्नः परिकीर्तित ॥ ८२८
रेषणात्क्लेशराशीनामृषिमाहुर्मनीषिणः । मान्यत्वादात्मविद्यानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः ॥८२९
यः पापपाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत् । योऽनीहो देहगेहेऽपि सोऽनगारः सतां मतः ॥ ८३०
आत्माशुद्धिकरैर्यस्य न संगः कर्मदुर्जनैः । स पुमाञ्शुचिराख्यातो नाम्बुसंप्लुतमस्तकः ॥ ८३१
धर्मकर्मफलेऽनीहो निवृत्तोऽधर्मकर्मणः । तं निर्ममम्मुशन्तीह केवलात्मपरिच्छदम् ॥ ८.२
यः कर्मद्वितयातीतस्तं मुमुक्षुं प्रचक्षते । पाशैर्लोहस्य हेम्नो वा यो बद्धो बद्ध एव स ॥ ८३३
निर्ममो निरहङ्कारो निर्मानमदमत्सरः । निन्दायां सस्तवे चैव समधीः शसितव्रत ॥ ८३४
योऽवगम्य यथाम्नाय तत्त्वं तत्त्वैकभावनः । वाचंयमः स विज्ञेयो न मौनी पशुवन्नरः ॥ ८३५
श्रुते व्रते प्रसंख्याने संयमे नियमे यमे । यस्योच्चैः सर्वदा चेतः सोऽनूचानः प्रकीर्तितः ॥ ८३६

इसलिए उसे श्रमण कहते है ॥८२७॥ उसने अपनी लालसाओको नष्ट कर दिया हैं अथवा उसकी लालसाएँ शान्त हो गयी हैं इसलिए उसे आशाम्बर कहते है और वह अन्तरग तथा बहिरग सव परिग्रहोसे रहित है इसलिए उसे नग्न कहते हैं ॥८२८॥ क्लेशसमूहको रोकनेके कारण विद्वान् लोग उसे ऋषि कहते हैं। और आत्मविद्यामे मान्य होनेके कारण महात्मा लोग उसे मुनि कहते है। ॥८२९॥ जो पापरूपी बन्धनके नाश करनेका यत्न करता है उसे यति कहते है और शरीररूपी घरमे भी जिसकी रुचि नही है, उसे अनगार कहते है ॥८३०॥ जो आत्माको मलिन करनेवाले कर्म रूपी दुर्जनोसे सम्बन्ध नही रखता, वही मनुष्य शुचि या शुद्ध है, सिरसे पानी डालनेवाला नही। अर्थात् जो पानीसे शरीरको मलमलकर धोता है वह पवित्र नही है किन्तु जिसकी आत्मा निर्मल हैं वही पवित्र हैं। अर्थात् यद्यपि मुनि स्नान नही करते किन्तु उनकी आत्मा निर्मल है इसलिए उन्हे पवित्र या शुचि कहते है ॥८३१॥ जो धर्माचरणके फलमे इच्छा नही रखता तथा अधर्माचरणका त्यागी है और केवल आत्मा ही जिसका परिवार या सम्पत्ति है उसे निर्मम कहते हैं। अर्थात् मुनि अधार्मिक काम नही करते, केवल धार्मिक काम करते है। किन्तु उन्हे भी किसी लौकिक फलकी इच्छासे नहां करते, अपना कर्तव्य समझकर करते है। और उनके पास अपनी आत्माके सिवाय और कुछ रहता नही है, शरीर है किन्तु उससे भी उन्हे कोई ममता नही रहती, इसीलिए उन्हे 'निर्मम' कहते है ॥ जो ॥८३२॥ पुण्य और पाप दोनोसे रहित है उसे मुमुक्ष कहते है। क्योंकि बन्धन लोहेके हों या सोनेके हो, जो उनसे बँधा हैं वह तो बद्ध ही है। अर्थात् पुण्यकर्म सोनेके बन्धन है और पापकर्म लोहेके बन्धन है दोनों ही जीवको ससारमे बाँधकर रहते हैं। अत जो पापकर्मको छोडकर पुण्यकर्ममे लगा है वह भी कर्मबन्ध करता है, किन्तु जो पुण्य और पाप दोनो को छोडकर शुद्धोपयोगमे सलीन है वही मुमुक्षु है ॥८३३॥ जो ममतारहित है, अहंकाररहित है, मान, मस्ती और डाहसे रहित हैं तथा निन्दा और स्तुतिमे समान बुद्धि करता है यह प्रशंसनीय व्रतका धारक 'समधी' कहलाता हैं ॥८३४॥ जो आम्नायके अनुसार तत्त्वको जानकर उसीका एकमात्र ध्यान करता है उसे मौनी जानना चाहिए। जो पशुकी तरह केवल बोलता नही है वह मौनी नही है ॥८३५॥ जिसका मन श्रुतमे, व्रतमे, ध्यानमे, संयममे तथा यम और नियममे सलग्न रहता है उसे अनूचान कहते है अर्थात् वैदिक धर्ममे साङ्ग वेदके पूर्ण विद्वान्को अनूचान कहते है। किन्तु ग्रन्थकारका कहना हैं कि जो श्रुत, व्रत नियमादिकमे रत है वही अनूचान है। और इसलिए जैन-मुनि ही 'अनूचान' कहे जा सकते है ॥८३६॥ जो इन्द्रियरूपी चोरोका विश्वास नही करता तथा

योऽक्षस्तेनेष्वविश्वस्तः शाश्वते पथि निष्ठितः । समस्तसत्त्वविश्वास्यः सोऽनाश्वानिह गीयते ॥८३७
तत्त्वे पुमान्मनः पुंसि मनस्यक्षकदम्बकम् । यस्य युक्तं स योगी स्यान्न परेच्छादुरीहितः ॥ ८३८
कामः क्रोधो मदो माया लोभश्चेत्यग्निपञ्चकम् । येनेदं साधितं स स्यात्कृती पञ्चाग्निसाधकः॥८३९
मानं ब्रह्म दया ब्रह्म ब्रह्म कामविनिग्रहः । सम्यगत्र वसन्नात्मा ब्रह्मचारी भवेन्नरः ॥ ८४०
क्षान्तियोषिति य सक्त. सम्यग्ज्ञानातिथिप्रिय· । स गृहस्थो भवेन्नूनं मनोदैवतसाधक. ॥ ८४१
ग्राम्यमर्थं बहिश्चान्तर्यं परित्यज्य संयमी । वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वनस्थ· कुटुम्बवान् :। ८४२
ससाराग्निशिखाच्छेदो येन ज्ञानासिना कृत. । तं शिखाच्छेदिन प्राहुर्न तु मुण्डितमस्तकम् ॥ ८४३
कर्मात्मनो विवेक्ता यः क्षीरनीरसमानयोः । भवेत्परमहंसोऽसौ नाग्निवत्सर्वभक्षक· ॥ ८४४
ज्ञानैर्मनो वपुर्वृत्तैर्नियमैरिन्द्रियाणि च । नित्यं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान् ॥ ८४५
पञ्चेन्द्रियप्रवृत्त्याख्यास्तिथयः पञ्च कीर्तिता । ससाराश्रयहेतुत्वात्ताभिर्मुक्तोऽतिथिर्भवेत् ॥ ८४६

स्थायी मार्गपर दृढ रहता है और प्राणी जिसका विश्वास करते है अर्थात् जो किसीको भी कष्ट नही पहुँचाता उसे अनाश्वान् कहते है। अर्थात् वैदिक धर्ममे जो भोजन न करे वह अनाश्वान् कहा जाता है। किन्तु ग्रन्थकार कहते है कि जिसमे उक्त बातें हों उसीको अनाश्वान् कहना चाहिए ॥८३७॥ जिसका आत्मा तत्त्वमे लीन है, मन आत्मामे और आत्मा तत्त्वमे लीन है वह योगी है। जो दूसरी वस्तुओकी इच्छावाले दुष्ट सकल्पसे युक्त है वह योगी नही है॥८३८॥ काम, क्रोध, मद, माया और लोभ ये पॉच अग्नियॉ है। जो इन पॉचो अग्नियोको अपने वशमें कर लेता है उसे पञ्चाग्निका साधक कहते है अर्थात् वैदिक साहित्यमे पॉच अग्नियोंकी उपासना करनेवालेको पञ्चाग्निसाधक कहते है। किन्तु ग्रन्थकारका कहना है कि सच्ची अग्नि तो काम-क्रोधादिक हैं जो रात-दिन आत्माको जलाती है। उन्हीका साधक पञ्चाग्निका साधक है। बाह्य अग्नियोकी उपासनावाला नही ॥८३९। ज्ञानको ब्रह्म कहते है। दयाको ब्रह्म कहते है। कामको वशमे करनेको ब्रह्म कहते है। जो आत्मा अच्छी रीतिसे ज्ञानकी आराधना करता है या दयाका पालन करता है अथवा कामको जीत लेता है वही ब्रह्मचारी है ॥८४०॥ जो क्षमारूपी स्त्रीमें आसक्त है, सम्यग्ज्ञानरूपी अतिथिका प्यारा है और मनरूपी देवताकी साधना करता है वही सच्चा गृहस्थ है। अर्थात् जो क्षमाशील है, ज्ञानी है और मनोजयी है वही वास्तवमे गृहस्थ है॥८४१॥ जो अन्दरसे और बाहरमे अश्लील बातोको छोडकर सयम धारण करता है उसे वानप्रस्थ जानना चाहिए। जो कुटुम्बको लेकर जगलमे जा बसता है वह वानप्रस्थ नही है ॥८४२॥ जिसने ज्ञानरूपी तलवारके द्वारा ससाररूपी अग्निकी शिखा यांनी लपटोंको काट डाला उसे शिखाछेदी कहने है, सिर घुटानेवालेको नही ॥८४३॥ ससार अवस्थामे कर्म और आत्मा दूध और पानीकी तरह मिले हुए है। जो दूध और पानीकी तरह कर्म और आत्माको जुदा-जुदा कर देता है वही परमहस साधु है। जो आगकी तरह सर्वभक्षी हैं जो मिल जाये वही खा लेता है वह परमहस नही है। ८४४॥ जिसका मन ज्ञानसे, शरीर चारित्रसे और इन्द्रियाँ नियमोसे सदा प्रदीप्त रहती है वही तपस्वी है, जिसने कोरा वेष बना रखा है वह तपस्वी नही है ।।८४५॥ पॉचो इन्द्रियोका अपने-अपने विषयमे लगना ही पॉच तिथियाँ है। यतः इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयमे प्रवृत्ति करना संसारका कारण है। अत जो उनसे मुक्त हो गया उसे अतिथि कहते है ॥८४६॥**भावार्थ**-भोजन-

अद्रोहः सर्वसत्त्वेषु यज्ञो यस्य दिने दिने। स पुमान्दीक्षितात्मा स्यान्न त्वजादियमाशयः ॥ ८४७
दुष्कर्मदुर्जनास्पर्शी सर्वसत्त्वहिताशयः। स श्रोत्रियो भवेत्सत्यं न तु यो बाह्यशौचवान् ॥ ८४८
अध्यात्माग्नौ दयामन्त्रैः सम्यक्कर्मसमिच्चयम्। यो जुहोति स होता स्यान्न बाह्याग्निसमेधक.॥८४९
भावपुष्पैर्यजेद्देवं व्रतपुष्पैर्वपुर्गृहम्। क्षमापुष्पैर्मनोवह्निं यः स यष्टा सतां मतः ॥ ८५०
षोडशानामुदारात्मा यः प्रभुर्भावनर्त्विजाम्। सोऽध्वर्युरिह बोद्धव्य शिवशर्माध्वरोध्दुरः ॥ ८५१
विवेकं वेदयेदुच्चैर्य शरीरशरीरिणो.। स प्रीत्यै विदुषां वेदो नाखिलक्षयकारणम् ॥ ८५२
जातिर्जरा मृतिः पुंसां त्रयी संसृतिकारणम्। एषा त्रयी यतस्त्रय्या. क्षीयते सा त्रयी मता॥८५३
अहिंसः सद्व्रतो ज्ञानी निरीहो निष्परिग्रह। य स्यात्स ब्राह्मणः सत्यं न तु जातिमदान्धल। ८५४
सा जातिः परलोकाय यस्याः सद्धर्मसंभवः। न हि सस्याय जायेत शुद्धा भूर्बीजवर्जिता॥ ८५५

के लिए आनेवाले साधु अतिथि कहे जाते है। अतिथि शब्दका एक अर्थ यह भी होता है कि जिसके आनेकी कोई तिथि (मिति) निश्चित ही है वह अतिथि है। साधु आहारके लिए किस दिन आ जायेंगे यह पहलेसे निश्चय तो होता नही, तथा साधुओके अष्टमी आदिका विचार भी नही होता। अतः वे अतिथि कहलाते है। ग्रन्थकार कहते है कि अतिथि शब्दका यह अर्थ तो लौकिक है। वास्तवमे तो पाँचो इन्द्रियाँ ही द्वितीया, पचमी, एकादशी और चतुर्दशी रूपी पाँच तिथियाँ है और जो उनसे मुक्त हो गया, जिसने पाचों इन्द्रियोको अपने वशमे कर लिया वही वास्तवमें अतिथि हैं। जो प्रतिदिन समस्त प्राणियोमे मैत्रीरूपी यज्ञका आचरण करता है वह मनुष्य दीक्षित कहलाता हैं। जो बकरे आदिका वलिदान करता है वह दीक्षित नही हैं ॥८४७॥ जो बुरे कामोको नही करता और न बुरे मनुष्योकी संगति ही करता है तथा सब प्राणियोका हित चाहता है वह वास्तबमे श्रोत्रिय, है, जो केवल बाह्य शुद्धि पालता हैं वह श्रोत्रिय नही है ॥८४८॥ जो आत्मारूपी अग्निमे दयारूपी मन्त्रोंके द्वारा कर्मरूपी काष्ठ-समहूसे हवन करता है वह होता हैं, जो बाह्य अग्निमे हवन करता है वह होता नही है ॥८४९॥ जो भावरूपी पुष्पोसे मनरूपी अग्निकी पूजा करता है उसे सज्जन पुरुष यष्टा अर्थात् यज्ञ करनेवाला कहते है। जो महात्मा सोलह कारण भावनारूपी यज्ञ करनेवाले ऋत्विजोंका स्वामी है, मोक्ष-सुखरूपी यज्ञके उद्धारक उस पुरुषको अध्वर्यु जानना चाहिए ॥८५०—८५१॥ जो आत्मा और शरीरके भेदको जोरदार शब्दोमे बतलाता है वहीं सच्चा वेद है और विद्वान् लोग उससे ही प्रेम करते है। किन्तु जो सब पशुओके विनाशका कारण है वह वेद नही हे ॥८५२॥ जन्म, बुढापा और मृत्यु ये तीनों ससारके कारण है। इस त्रयी अर्थात् तीनोका जिस त्रयीसे नाश हो वही त्रयी हैं। आशय यह है कि ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेदको त्रयी कहते है। किन्तु ग्रन्थकारका कहना है जो संसारके कारण जीवन मृत्यु और बुढापेको कष्ट कर दे, जिससे ससारमे न जन्म लेना पडे और न मृत्युका दुख उठाना पडे वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही सच्ची त्रयी है ॥८५३॥ जो अहिंसक है, समीचीन व्रतोका पालन करता है, ज्ञानी है, सासारिक चाहसे दूर है और काम, क्रोध, मोह आदि तथा जमीन—जायदाद, धन आदि अन्तरग और बहिरंग परिग्रहसे रहित है वही सच्चा ब्राह्मण है। जो जातिके मदसे अन्धा है, अपनेको सबसे ऊँचा और दूसरोको नीच समझता है वह ब्राह्मण नही है ॥८५४॥ वही जाति परलोकके लिए उपयोगी है जिससे सच्चे धर्मका जन्म होता है, जमीन

स शैवो यः शिवज्ञात्मा स बौद्धो योऽन्तरात्मभृत् ।
स सांख्यो यः प्रसंख्यावान्स द्विजो यो न जन्मवान् ॥ ८५६

ज्ञानहीनो दुराचारो निर्दयो लोलुपाशयः दानयोग्य. कथं स स्याद्यश्चाक्षानुमतक्रियः ॥ ८५७
अनुमान्या समुद्देश्या त्रिशुद्धा भ्रामरी तथा । भिक्षा चतुर्विधा ज्ञेया यतिद्वयसमाश्रया ॥ ८५८

तरुदलमिव परिपक्वं स्नेहविहीनं प्रदीपमिव देहम् ।
स्वयमेव विनाशोन्मुखमवबुध्य करोतु विधिमन्त्यम् ॥ ८५९
गहनं न शरीरस्य हि विसर्जन किं तु गहनमिह वृत्तम् ।
तन्न स्थास्नु विनाश्य न नश्वरं शोच्यमिदमाहुः ॥ ८६०
प्रतिदिवस विजहद्वलमुज्झद्भुक्ति त्यजत्प्रतीकारम् ।
वपुरेव नृणां निगिरति चरमचरित्रोदय समयम् ॥ ८६१

शुद्ध भी हो किन्तु यदि उसमे बीज न डाला गया हो तो अनाज पैदा नही हो सकता। अर्थात् ब्राह्मण जाति शुद्ध भी हो किन्तु उसमे यदि समीचीन धर्मके पालनकी परिपाटी न हो तो वह शुद्ध जाति भी व्यर्थ है ॥८५५॥ जो शिव अर्थात् अपने कल्याणरूप मुक्तिको जानता है वही सच्चा शैव–शिवका अनुयायी है। जो अपनी अन्तरात्माका पोषक है वही वास्तवमे बौद्ध है। जो आत्मध्यानी है वही साख्य है और जिसे फिर ससारमे जन्म नही लेना है वही द्विज अर्थात् ब्राह्मण है ॥८५६॥ जो अज्ञानी है, दुराचारी है, निर्दय है, विषयोका लोलुपी है तथा इन्द्रियोका दास है वह दानका पात्र कैसे हो सकता है? अर्थात् ऐसे आदमीको कभी भी दान नही देना चाहिए ।८५७। देशविरत और सर्वविरतकी अपेक्षासे भिक्षा चार प्रकारकी होती है–अनुमान्या, अनुद्देश्या, त्रिशुद्धा और भ्रामरी ॥८५८॥ भावार्थ–मुनिसम्बन्धी भिक्षाके लिए तो भ्रामरी शब्द शास्त्रोमे अति प्रसिद्ध है। टिप्पणकारने अनुमान्या भिक्षाको दस प्रतिमापर्यन्त बतलाया है और आमन्त्रणपूर्वक भोजनको समुद्देश्य बतलाते हुए छठी प्रतिमापर्यन्त बतलाया है। छठी प्रतिमापर्यन्त गृही सज्ञा है। छठीके पश्चात नवी प्रतिमापर्यन्त ब्रह्मचारी सज्ञा है और भिक्षक सज्ञा केवल अन्तिम दो प्रतिमाधारियोकी है। दसवी प्रतिमाका धारी घर छोडकर बाहर रहने लगता है और आमन्त्रणदाताके घर भोजन करता है। अत वह उद्दिष्ट भोजन करता है क्योकि दाता उसके उद्देश्यसे भोजन तैयार करता है। इसलिए उसकी भिक्षा समुद्देश्या होनी चाहिए। वह अनुमति-त्यागी होता है अत भोजनके विषयमे किसी प्रकारकी अनुमति नही दे सकता। किन्तु नौवी प्रतिमा तकके धारी भोजनके विषयमे अनुमति दे सकते है अत. उनकी भिक्षा अनुमान्या होनी चाहिए। ग्रन्थकारने भिक्षाके भेदोका जो क्रम रखा है उससे भी यही ध्वनित होता है कि प्रारम्भिक प्रतिमावाले अनुमान्या भिक्षा करते है, दसवी प्रतिमावाले समुद्देश्या और अन्तिम प्रतिमावाले त्रिशुद्धा भिक्षा करते है, तथा साधु भ्रामरीभिक्षा करते है। (अब समाधिमरणकी विधि बतलाते है–) वृक्षके पके हुए पत्तेकी तरह या तेलरहित दीपककी तरह शरीरको स्वय ही विनाशोन्मुख जानकर अन्तिम विधि (समाधिमरण) करना चाहिए ।८५९॥ किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि शरीरको त्याग देना कठिन नही है किन्तु उसमे सयमका धारण करना कठिन है। अत यदि शरीर ठहराने योग्य हो तो उसे नष्ट नही कर डालना चाहिए और यदि वह नष्ट होता हो तो उसका रज नही करना चाहिए ॥८६०॥ (यह कहा जा सकता है कि यह हमे कैसे मालूम हो कि समाधिमरणका समय आ गया है? इसका उत्तर ग्रन्थकार स्वय देते है–) अब शरीर-

सविधायापकृतिरिव जनिताखिलकायकम्पनातङ्का ।
यमदूतीव जरा यदि समागता जीवितेषु कस्तर्षः ।। ८६२
कर्णान्तकेशपाशग्रहणविधेर्बोधितोऽपि यदि जरया ।
स्वस्य हितैषी न भवति तं किं मृत्युर्न सग्रसते ।। ८६३
उपवासादिभिरङ्गे कषायदोषे च बोधिभावनया । कृतसल्लेखनकर्मा प्रायाय यतेत गणमध्ये ।। ८६४
यमनियमस्वाध्यायास्तपांसि देवार्चनाविधिर्दानम् । एतत्सर्वं निष्फलमवसाने चेन्मनो मलिनम्।।८६५
द्वादशवर्षाणि नृपः शिक्षितशस्त्रो रणेषु यदि मुह्येत् ।
किं स्यात्तस्यास्त्रविधेर्यथा तथान्ते यतेः पुराचरितम् ।। ८६६
स्नेहं विहाय बन्धुषु मोहं विभवेषु कलुषतामहिते ।
गणिनि च निवेद्य निखिलं दुरीहितं तदनु भजतु विधिमुचितम् ।। ८६७
अशनं क्रमेण हेय स्निग्ध पानं ततः खरं चैव ।
तदनु च सर्वनिर्वृत्ति कुर्याद्गुरुपञ्चकस्मृतौ निरत. ।। ८६८
कदलीघातवदायुः कृतिनां सकृदेव विरतिमुपयाति ।
तत्र पुनर्नैष विधिर्यद्दैवे क्रमविधिर्नास्ति ।। ८६९
सूरौ प्रवचनकुशले साधुजने यत्नकर्मणि प्रवणे। चित्ते च समाधिरते किमिहासाध्यं यतेरस्ति ।।८७०

की शक्ति प्रतिदिन घटने लगे, खाना-पीना छूट जाये और कोई उपाय कारगर न हो स्वय शरीर ही मनुष्योंको यह बतला देता है कि अब समाधिमरण करनेका समय आ गया है।।८६१।। जब सन्निकटवर्ती अपकारकी तरह समस्त शरीरमे कँपकँपी पैदा करने वाला बुढापा यमके दूतकी तरह आकर खडा हो गया तो फिर जीनेको क्या लालसा?।।८६२।। बुढापेके द्वारा कानके समीपके बालोंको पकडकर समझाये जानेपर भी अर्थात् बुढापेके चिन्हस्वरूप कानके पासके बालोके सफेद हो जानेपर भी जो अपने हितमे नही लगता है क्या उसे मौत नही खाती? ।।८६३।। जो समाधिमरण करना चाहता है, उसे उपवास आदि के द्वारा शरीरको और ज्ञान-भावनाके द्वारा कषायोको कृश करके किसी मुनिसंघमे चला जाना चाहिए ।८६४।। यदि मरते समय मन मैला रहा तो जीवन-भरका यम, नियम,स्वाध्याय, तप, देवपूजा और दान निष्फल है ।।८६५।। जैसे एक राजाने बारह वर्ष तक शस्त्र चलाना सीखा। किन्तु जब युद्धका अवसर आया तो वह शस्त्र नही चला सका। उस राजाकी शस्त्रशिक्षा किस कामकी, वैसे ही जो व्रती जीवन-भर धर्माचरण करता रहा, किन्तु जब अन्त समय आया तो मोहमे पड गया। उस व्रतीका पूर्वाचरण किस कामका ।।८६६।। कुटुम्बियोसे स्नेह, सम्पत्तिसे मोह और जिन्होने अपना बुरा किया है उनके प्रति कलुषपनेको छोडकर आचार्यसे अपने सब अपराधोको कहदे,और उसके बाद समाधिमरणके योग्य विधिका पालन करे।।८६७।। धीरे–धीरे भोजनको छोड दे और दूध, मठा वगैरह रख ले। फिर उन्हे भी छोडकर गर्म जल रख ले। उसके बाद पञ्च नमस्कार मन्त्रके स्मरणमे लीन होकर सब कुछ छोड दे।।८६८।। यदि किसी पुण्यशाली पुरुषकी आयु कटे हुए केलेकी तरह एक साथ ही समाप्त होती हो तो वहाँ समाधिमरणको यह विधि नही,है क्योकि दैववश अचानक मरण उपस्थित होनेपर क्रमिक विधि नही बन सकती।।८६९।। यदि समाधिमरण करानेवाले आचार्य आगममें कुशल हो और साधुसघ प्रयत्न करनेमे कुशल हो तथा समाधिमरण करनेवालेका

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धविधिः । एते सनिदाना स्युः सल्लेखनहानये पञ्च ॥८७१

आराध्यरत्नत्रयमित्थमर्थी समर्पितात्मा गणिने यथावत् ।
समाधिभावेन कृतात्मकार्य कृती जगन्मान्यपदप्रभुः स्यात् ॥ ८७२

विप्रकीर्णार्थवाक्यानामुक्तिरुक्तं प्रकीर्णकम् । उक्तानुक्तामृतस्यन्दबिन्दुस्वादनकोविदैः ॥ ८७३

अदुर्जनत्वं विनयो विवेक परीक्षण तत्त्वविनिश्चयश्च ।
एते गुणा पञ्च भवन्ति यस्य स आत्मवान्धर्मकथापर स्यात् ॥ ८७४
असूयकत्वं शठताऽविचारो दुराग्रह. सूक्तविमानना च ।
पुंसाममी पञ्च भवन्ति दोषास्तत्त्वावबोधप्रतिबन्धनाय ॥ ८७५
पुंसो यथा संशयिताशयस्य दृष्टा न काचित्सफला प्रवृत्ति. ।
धर्मस्वरूपेऽपि विमूढबुद्धेस्तथा न काचित्सफला प्रवृत्ति· ॥ ८७६

जातिपूजाकुलज्ञानरूपसंपत्तपोबले । उशन्त्यहंयुतोद्रेकं मदमस्मयमानसा. । ८७७
यो मदात्समयस्थानामवमानेन मोदते । स नूनं धर्महा यस्मान्न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥ ८७८
देवसेवा गुरूपास्ति स्वाध्याय· सयमस्तप. । दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥ ८७९
स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तव. । षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम् ॥ ८८०

मन ध्यानम लगा रहे तो फिर कुछ भी असाध्य नही है ॥८७०॥

समाधिमरणके अतीचार जीनेकी इच्छा करना, मरनेकी इच्छा करना, मित्रोको याद करना, पहले भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना और आगामी भोगोकी इच्छा करना, ये पाँच बाते समाधिमरणव्रतमे दोष लगानेवाली है ॥८७१॥ इस प्रकार आचार्यके ऊपर विधिवत् अपना भार सौंपकर तथा रत्नत्रयकी आराधना करके जो समाधिमरण करता है वह ससारमे पूजनीय पदका स्वामी होता है ॥८७२॥ अब कुछ प्रकीर्णक बाते बतलाते है। उक्त–जिन्हे कह चुके और अनुक्त, जिन्हे नही कहा, उन सब विषयरूपी अमृतमे टपकनेवाली बूंदोका स्वाद लेनेमे चतुर पण्डितजनोने फुटकर बातोका कथन करनेको प्रकीर्णक कहा है ॥८७३॥ सज्जनता, विनय, समझदारी, हिताहितकी परीक्षा और तत्त्वोका निश्चय जिसमे ये पाँच गुण होते है वही विशिष्ट आत्मा, धर्म कथा, धार्मिक चर्चा या धर्मोपदेशका अधिकारी है ॥८७४॥ किसीके गुणोंमे दोष लगाना, ठगना, विचारहीनता, हठीपना और अच्छी बातका निरादर करना, मनुष्योके ये पाँच दोष तत्त्वको समझनेमे रुकावट डालते हैं। अर्थात् जिसमे ये दोष होते है वह तत्त्वको समझनेका प्रयत्न नही करता और अपनी ही हाके जाता है ॥८७५॥ जैसे प्रत्येक बातको सन्देहकी दृष्टिसे देखनेवाला सशयालु मनुष्य किसी भी काममे सफल होता नही देखा जाता, वैसे ही जो मनुष्य धर्मके स्वरूपके विषयमे भी मूढबुद्धि है उसकी कोई प्रवृत्ति सफल नही होती ॥८७६॥ गर्वसे रहित गणधरादिक देव, जाति, प्रतिष्ठा, कुल, ज्ञान रूप, सम्पत्ति, तप और बलका सहारा लेकर अहकार करनेको मद या घमड कहते है। अर्थात् लोकमे इन आठ बातोको लेकर लोग घमड करते देखे जाते है ॥८७७॥ जो मनुष्य घमण्डमे आकर अपने साधर्मी भाइयोका अपमान करके प्रसन्न होता है वह निश्चयसे धर्मघातक है, क्योंकि धार्मिकोके विना धर्म नही है ॥८७८॥ देवपूजा, गुरुकी सेवा, स्वाध्याय, सयम, तप और दान ये गृहस्थोके छह दैनिक कर्म है। प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन ये छह काम अवश्य करने चाहिए ॥८७९॥ सुज्ञ जनोने गृहस्थोके लिए देवपूजाके विषयमे छह क्रियाएँ बतलायी है–पहले अभिषेक,

आचार्योपासनं श्रद्धा शास्त्रार्थस्य विवेचनम् । तत्क्रियाणामनुष्ठानं श्रेय प्राप्तिकरो गणः ॥ ८८१
शुचिर्विनयसंपन्नस्तनूचापलवर्जित । अष्टदोषविनिर्मुक्तमधीतां गुरुसंनिधौ ॥ ८८२
अनुयोगगुणस्थानमार्गणास्थानकर्मसु । अध्यात्मतत्त्वविद्याया पाठ. स्वाध्याय उच्यते ॥ ८८३
गृही यत स्वसिद्धान्तं साधु बुध्येत धर्मधी. । प्रथम. सोऽनुयोग स्यात्पुराणचरिताश्रयः ॥ ८८४
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु चतुर्गतिविचारणम् । शास्त्रं करणमित्याहुरनुयोगपरीक्षम् ॥ ८८५
ममेद स्यादनुष्ठान तस्याय रक्षणक्रम । इत्थमात्मचरित्राथोऽनुयोगश्चरणाश्रित ॥ ८८६
जीवाजीवपरिज्ञानं धर्माधर्मावबोधनम् । बन्धमोक्षज्ञता चेति फल द्रव्यानुयोगत ॥ ८८७
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानगो विधि । चतुर्दशविधो बोध्य. स प्रत्येक यथागमम् ८८८
आदितः पञ्च तिर्यक्षु चत्वारि श्वभ्रिनाकिनो. । गुणस्थानानि मन्यन्ते नृषु चैव चतुर्दश ॥ ८८९
अनिगूहितवीर्यस्य कायक्लेशस्तपः स्मृतम् । तच्च मार्गाविरोधेन गुणाय गदित जिनै ॥ ८९०

फिर पूजन, फिर भगवान्‌के गुणोका स्तवन, फिर पञ्च नमस्कार मन्त्र वगैरहका जाप, फिर ध्यान और अन्तमे जिनवाणीका स्तवन । इसी क्रमसे जिनेन्द्र देवकी आराधना करनी चाहिए ॥८८०॥ आचार्यकी उपासना, देवशास्त्र गुरुकी श्रद्धा, शास्त्रके अर्थका विवेचन, उसमें बतलायी गयी क्रियाओका आचरण ये सब कल्याणका प्राप्ति करनेवाले है ॥८८१॥ अपने कल्याणके इच्छुक शिष्य-समुदायको पवित्र होकर तथा शारीरिक चपलताको छोडकर विनयपूर्वक गुरुके समीपमे आठ दोषोसे रहित अध्ययन करना चाहिए ॥८८२॥ भावार्थ—आचार्य परमेष्ठी या उपाध्याय परमेष्ठी गुरु कहलाते है । उनसे विनयपूर्वक अध्ययन, शास्त्रचर्चा, उनकी आज्ञाका पालन आदि करना चाहिए। ज्ञानाराधनाके आठ दोष होते है—स्वाध्यायके समयका ध्यान न रखना पहला दोष है । शुद्ध उच्चारण न करना, अक्षरादिको छोड जाना दूसरा दोष है । शास्त्रका अर्थ ठीक न करना तीसरा दोष है । न उच्चारण ठीक करना और न अर्थ ठीक करना चौथा दोष है । जिनसे पढा है या विचारा है उनका नाम छिपाना पाँचवाँ दोष है । जो पढा है उसको अवधारण न करना छठा दोष है । विनयपूर्वक अध्ययन न करना सातवाँ दोष है और गुरुका आदर न करना आठवाँ दोष है । इन आठ दोषोको टालकर गुरुसे अध्ययन करना चाहिए । चारो अनुयोगोके शास्त्र तथा गुणस्थान और मार्गणास्थानका और अध्यात्म तत्त्वरूप विद्याका पढना स्वाध्याय है ॥८८३॥ धर्मात्मा गृहस्थ जिससे अपने सिद्धान्तोंको अच्छी तरह समझ सकता है वह प्रथमानुयोग है । उसमे त्रेसठ शलाका-पुरुषोंका वृत्तान्त या प्रसिद्ध पुरुषोका चरित्र पाया जाता है ॥८८४॥ अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकमे चारो गतियोका विचार जिसमे किया गया हो उसको करणानुयोग कहते हैं। यह करणानुयोग अन्य अनुयोगोकी परीक्षा करनेकी कसौटी है । अर्थात् इसीपरसे अन्य सत्रके प्रामाण्यकी परीक्षा की जाती है । ८८५॥ यह मेरा अनुष्ठान—कर्तव्यकर्म है और उसके पालनका यह क्रम हैं । इस प्रकार आत्माके चरित्रका वर्णन जिसमे किया गया हो उसे चरणानुयोग कहते हैं।।८८६॥ द्रव्यानुयोगसे जीव और अजीव द्रव्यका ज्ञान होता है, धर्म और अधर्म द्रव्यका ज्ञान होता है तथा बन्ध और मोक्षका ज्ञान होता है । ८८७॥ जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणा प्रत्येक चौदह-चौदह प्रकारके होते हैं । इनका स्वरूप आगमोसे जानना चाहिए । तिर्यञ्चोमे पहलेकेपाँच गुण-स्थान होते है । देव और नारकियोमे पहलेके चार गुणस्थान होते है और मनुष्योमे चौदहो गुण-स्थान होते है ॥८८८-८८९॥ अपनी शक्तिको न छिपाकर जो कायक्लेश किया जाता है, शारीरिक

अन्तर्बहिर्मलप्लोषादात्मनः शुद्धिकारणम् । शारीरं मानसं कर्म तपः प्राहुस्तपोधनाः ॥ ८९१
कषायेन्द्रियदण्डानां विजयो व्रतपालनम् । संयमः संयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम् ॥ ८९२

अस्यायमर्थः - कषन्ति संतापयन्ति दुर्गतिसंगसंपादनेनात्मानमिति कषायाः क्रोधादयः । अथवा यथा विशुद्धस्य वस्तुनो नैयग्रोधादयः कषाया कालुष्यकारिणः, तथा निर्मलस्यात्मनो मलिनत्वहेतुत्वात्कषाया इव कषायाः । तत्र स्वपरापराधाभ्यामात्मेतरयोरपायोऽपायानुष्ठानमशुभपरिणामजननं वा क्रोधः विद्याविज्ञानैश्वर्यादिभिः पूज्यपूजाव्यतिक्रमहेतुरहंकारो युक्तिदर्शनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मानः । मनोवाक्कायक्रियाणामयाथातथ्यात्परवञ्चनाभिप्रायेण प्रवृत्तिः ख्यातिपूजालाभाद्यभिनिवेशेन वा माया । चेतनाचेतनेषु वस्तुषु चित्तस्य महान्ममेदं भावस्तदभिवृद्धिविनाशयोर्महान्सन्तोषोऽसंतोषो वा लोभः ।

सम्यक्त्वं घ्नन्त्यनन्तानुबन्धिनस्ते कषायकाः ॥ अप्रत्याख्यानरूपाश्च देशव्रतविघातिनः ॥ ८९३
प्रत्याख्यानस्वभावाः स्युः संयमस्य विनाशकाः । चारित्रे तु यथाख्याते कुर्युः संज्वलनाः क्षतिम् ॥८९४

कष्ट उठाया जाता है उसे तप कहते हैं । किन्तु वह तप जैनमार्गके अविरुद्ध यानी अनुकूल होनेसे ही लाभदायक हो सकता है । अथवा अन्तरङ्ग और बाह्य मलके संतापसे आत्माको शुद्ध करनेके लिए जो शारीरिक और मानसिक कर्म किये जाते है उसे तपस्वीजन तप कहते है ॥८९०-८९१॥ आत्माका कल्याण चाहनेवालोके द्वारा जो कषायोका निग्रह, इन्द्रियोका जय, मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिका त्याग तथा व्रतोका पालन किया जाता है उसे संयमी पुरुष संयम कहते है ।८९२॥ इसका खुलासा इस प्रकार है–जो आत्माको दुर्गतियोमे ले जाकर कष्ट दे उन्हे कषाय कहते है । अथवा जैसे वटवृक्ष वगैरहका कसैला रस साफ वस्तुको भी काला कर देता है वैसे ही जो निर्मल आत्माको मलिन करनेमे कारण हो उसे कर्मले रसके समान होनेसे कषाय कहते है । वे कषाय चार है–क्रोध, मान, माया और लोभ । अपनी या दूसरोकी गलतीसे अपना या दूसरोका अनिष्ट होना या अनिष्ट करना अथवा बुरे भावोका उत्पन्न होना क्रोध है । विद्या,ज्ञान या ऐश्वर्य वगैरहके घमडमे आकर पूज्य पुरुषोका आदर-सत्कार नही करना अथवा युक्ति देनेपर भी अपने दुराग्रहको नही छोडना मान है । दूसरोको ठगनेके अभिप्रायसे अथवा ख्याति, आदर-सत्कार या धनलाभ आदि के अभिप्रायसे मन, वचन और कायकी मिथ्याप्रवृत्ति करना अर्थात् सोचना कुछ, कहना कुछ और करना कुछ, इसे माया कहते है । चेतन स्त्री-पुत्रादिकमे और अचेतन जमीन-जायदाद आदि मे 'यह मेरे है' इस प्रकारकी जो अत्यन्त आसक्ति होती है अथवा इन वस्तुओकी वृद्धि होनेपर जो महान् संतोष या इनकी हानि होनेपर जो महान् असन्तोष होता है वह लोभ है । इस प्रकार ये चार कषाय है । इन चारोमे-से प्रत्येककी चार-चार अवस्थाएँ होती है–अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ । इनमे से जो कषाय सम्यग्दर्शनको घातती है अर्थात् सम्यग्दर्शनको नही होने देती उन्हे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते है । जो कषाय सम्यग्दर्शनको तो नही घातती किन्तु देशव्रतको घातती है उन्हे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते है ॥८९३॥ जो कषाय न तो सम्यग्दर्शनको रोकती है और न देशचारित्रको रोकती है किन्तु संयमको रोकती है, उन्हे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते है । और जो कषाय केवल यथाख्यात चारित्रको नही होने देती उन्हे सज्वलनकषाय कहते है ॥८९४॥ चारो क्रोध आदि

पाषाणभूरजोवारिलेखाप्रख्यत्वभाग्भवन् । क्रोधो यथाक्रमं गत्यै श्वभ्रतिर्यङ्नृनाकिनाम् ॥ ८९५
शिलास्तम्भास्थिसार्द्रध्मवेत्रवृत्तिर्द्वितीयक: । अध: पशुनरस्वर्गगतिसंगतिकारणम् ॥ ८९६
वेणुमूलैरजाश्रृङ्गैर्गोमूत्रैश्चामरै: समा । माया तथैव जायेत चतुर्गतिवितीर्णये ॥ ८९७
क्रिमिनीलीवपुर्लेपहरिद्रारागसंन्निभ: । लोभ: कस्य न संजातस्तद्वत्संसारकारणम् ॥ ८९८

कषायोंमेसे प्रत्येकके शक्तिकी अपेक्षासे भी चार-चार भेद होते है । पत्थरकी लकीरके समान क्रोध, पृथिवीकी लकीरके समान क्रोध, धूलिकी लकीरके समान क्रोध और जलकी लकीरके समान क्रोध । जैसे पत्थरकी लकीरका मिटना दुष्कर है वैसे ही जो क्रोध बहुत समय बीत जानेपर भी बना रहता है वह उत्कृष्ट शक्तिवाला होता है और ऐसा क्रोध जीवको नरक गति मे ले जाता है। जैसे पृथ्वीको लकीर बहुत समय बाद मिटती है वैसे जो क्रोध बहुत समय बीत जानेपर मिटे वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला क्रोध है ऐसा क्रोध जीवको पशुगतिमे ले जाता है । जैसे धूलमे की गयी लकीर कुछ समयके बाद मिटती है वैसे ही जो क्रोध कुछ समयके बाद मिट जाये वह अजघन्य शक्तिवाला क्रोध है । ऐसा क्रोध जीवको मनुष्य गतिमे उत्पन्न करता है । जैसे पानीमे की गयी लकीर तुरन्त ही मिट जाती है वैसे ही जो क्रोध तुरन्त ही शान्त हो जाये वह जघन्य शक्तिवाला क्रोध है । ऐसा क्रोध जीवको देवगतिमे उत्पन्न करानेमे निमित्त होता हैं ॥८९५॥ मान कषाय के भी शक्तिकी अपेक्षा चार भेद है—पत्थरके स्तम्भके समान, हड्डीके समान, गोली लकडीके समान और बेतके समान । जैसे पत्थरका स्तम्भ कभी नमता नही है वैसे ही जो मान जीवको कभी विनयी नही होने देता वह उत्कृष्ट शक्तिवाला मान है, ऐसा मान जीवको नरकतिमें जानेक-निमित्त होता है। जैसे हड्डी बहुत काल बीते बिना नमने योग्य नही होती वैसे ही जो बहुत काल वीते बिना जीवको विनयी नही होने देता वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला मान है । ऐसा मान जीवको पशुगतिमे उत्पन्न होनेका निमित्त होता है। जैसे गीली लकडी थोडे कालमे ही नमने योग्य हो जाती है वैसे ही जो थोडे समयमे ही शान्त हो जाता है वह अजघन्य शक्तिवाला मान है। ऐसा मान जीवको मनुष्यगतिमें उत्पन्न कराता है । जैसे वेत जल्दी ही नम जाता हैं वैसे ही जो जल्दी ही शान्त हो जाये वह जघन्य शक्तिवाला मान है ऐसा मान जीवको देवगतिमे उत्पन्न कराता है ॥८९६॥ इसी प्रकार बाँसकी जड, बकरीके सींग, गोमूत्र और चामरोके समान माया क्रमश चारों गतियोमे उत्पन्न करानेमे निमित्त होती है । अर्थात् जैसे बाँसकी जडमें बहुत-सी शाखा-प्रशाखा होती हैं वैसे ही जिसमे इतने छल-छिद्र हो कि उनका कोई हिसाव ही न हो,उसे उत्कृष्ट शक्तिवाली माया कहते है । जैसे बकरीके सीग टेढे होते है उस ढगका टेढापन जिसके व्यवहारमें हो वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाली माया हैं । जैसे बैल कुछ मोडा देकर मूतता है उतना टेढापन जिसमे हो वह अजघन्य शक्तिवाली माया है और जैसे चामर ढोरते समय थोडा मोडा खा जाते है किन्तु तुरन्त ही सीधे हो जाते है वैसे ही जिसमे बहुत कम टेढापन हो जो जल्द ही निकल जाये वह जघन्य शक्तिवाली माया हैं । चारो प्रकारकी माया क्रमसे जीवको चारों गतिमे उत्पन्न करानेमे कारण हैं ॥८९७॥ किरमिचके रग, नीलके रग, शरीरके मल और हल्दीके रगके समान लोभ शेष कषायोकी तरह किस जीवके संसार-भ्रमणका कारण नही होता । जैसे किरमिचका रग पक्का होता है वैसे ही जो खूब गहरा और पक्का हो वह तो उत्कृष्ट शक्तिवाला लोभ है। जैसे नीलका रग किरमिचसे कम पक्का होता हैं मगर होता वह भी गहरा ही हैं वैसे ही जो कम पक्का और

किञ्च—

यथौषधक्रिया रिक्ता रोगिणोऽपथ्यसेविनः । क्रोधनस्य तथा रिक्ताः समाधिश्रुतसंयमाः ॥ ८९९
मानदावाग्निदग्धेषु मदोषरकषायिषु । नृद्रुमेषु प्ररोहन्ति न सच्छायोचिताङ्कुराः ॥ ९००
यावन्मायानिशालेशोऽप्यात्माम्बुषु कृतास्पदः । न प्रबोधश्रियं तावद्धत्ते चित्ताम्बुजाकरः ॥ ९०१
लोभकीकसचिन्हानि चेतःस्रोतांसि दूरतः । गुणाध्वन्यास्त्यजन्तीह चण्डालसरसीमिव ॥ ९०२
तस्मान्मनोनिकेतेऽस्मिन्निदं शल्यचतुष्टयम् । यतेतोद्धर्तुमात्मज्ञः क्षेमाय शमकीलकैः ॥ ९०३
षट्स्वर्थेषु विसर्पन्ति स्वभावादिन्द्रियाणि षट् । तत्स्वरूपपरिज्ञानात्प्रत्यावर्तेत सर्वदा ॥ ९०४
आपाते सुन्दरारम्भैर्विपाके विरसक्रियैः । विषैर्वा विषयैर्ग्रस्ते कुतः कुशलमात्मनि ॥ ९०५
दुश्चिन्तनं दुरालापं दुर्व्यापारं च नाचरेत् । व्रती व्रतविशुद्ध्यर्थं मनोवाक्कायसंश्रयम् ॥ ९०६
अभङ्गानतिचाराभ्यां गृहीतेषु व्रतेषु यत् । रक्षणं क्रियते शश्वत्तद्भवेद् व्रतपालनम् ॥ ९०७
वैराग्यभावना नित्यं नित्यं तत्त्वविचिन्तनम् । नित्यं यत्नश्च कर्तव्यो यमेषु नियमेषु च ॥ ९०८

गहरा राग होता है वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला लोभ है । जैसे शरीरका मल हलका गहरा होता है वैसे ही जो हलका गहरा राग होता है वह अजघन्य शक्तिवाला लोभ है । तथा जैसे हल्दीका रंग हलका होता है और जल्दी ही उड जाता है वैसे ही जो बहुत हलका राग होता है वह जघन्य शक्तिवाला लोभ है । ये चारों प्रकारके लोभ जीवको क्रमश. चारो गतियोमे उत्पन्न करानेमे निमित्त होते है ॥८९८॥ जैसे अपथ्य सेवन करनेवाले रोगीका दवा-सेवन व्यर्थ है वैसे ही क्रोधी मनुष्यका ध्यान,शास्त्राभ्यास तथा सयम सब व्यर्थ है ।८९९।। मानरूपी वनकी आगसे जले हुए और मदरूपी खारी मिट्टीसे सने हुए मनुष्यरूपी वृक्षोंमे अच्छी छाया देनेवाले नये अकुर नही उगते । अर्थात् जैसे वनकी आगसे जले हुए और खारी मिट्टीसे सने हुए वृक्षमे नये अंकुर पैदा नही होते वैसे जो मनुष्य घमडी और अहकारी है उनमे भी सद्गुण प्रकट नही हो सकते ।।९००।। जैसे थोडी-सी भी रातके रहते हुए जलाशयमे कमल नही खिलते वैसे ही आत्मामे थोडी-सी भी मायाके रहते हुए चित्त बोधको प्राप्त नही होता । अर्थात् मायाचारीके हृदयमे ज्ञानका प्रवेश नही होता ॥९०१॥ जैसे गुणी पथिक चाण्डालोके तालाबको दूरसे ही छोड देते है क्योकि उसके स्रोतोमे हड्डियाँ पडी होती है वैसे ही जिसके चित्तमे लोभका वास होता है उसे गुण दूरसे ही छोड देते है । अर्थात् लोभी मनुष्यके सभी गुण नष्ट हो जाते है ।।९०२।। अत आत्मदर्शी मनुष्यको अपने कल्याणके लिए सयमरूपी कीलके द्वारा अपने मनरूपी मन्दिरसे इन चारो शल्योको निकालनेका प्रयत्न करना चाहिए ।।९०३।। छहो इन्द्रियाँ स्वभावसे ही अपने-अपने विषयोमे प्रवृत्त होती है । अत उन विषयोके स्वरूपको जानकर सदा उन इन्द्रियोको उनके विषयोमे फँसनेसे बचाना चाहिए ।।९०४।। ये विषय विषके समान है । जब प्राप्त होते है तो अच्छे मालूम होते है किन्तु जब वे अपना फल देते है तो अत्यन्त विपरीत हो जाते है । जो आत्मा इन विषयोके चक्करमे फँसा हुआ है उसकी कुशल कैसे हो सकती है? ।।९०५।। व्रती पुरुषको अपने व्रतोको शुद्ध रखनेके लिए मनमे बुरे विचार नही लाना चाहिए । वचनसे बुरी बात नही कहनी चाहिए और शरीरसे बुरी चेष्टा नही करनी चाहिए । जो व्रत ग्रहण किये हो उनमे न तो अतिचार लगने दे और न व्रतको खण्डित होने दे । इस प्रकार जो व्रतोकी रक्षा की जाती है उसे ही व्रतोका पालन करना कहा जाता है ॥९०६-९०७ । अतः सदा वैराग्यको भाना चाहिए । सदा तत्त्वोका चिन्तन करते रहना चाहिए और सदा यम और नियमोंमे प्रयत्न करते रहना चाहिए ।।९०८।। देखे हुए और

तत्र दृष्टानुश्राविकविषयवितृष्णस्य मनोवशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । प्रत्यक्षानुमानागमानुभूत-पदार्थविषयाऽसंप्रमोषस्वभावा स्मृतिस्तत्त्वविचिन्तनम् । बाह्याभ्यन्तरशौचतपःस्वाध्यायप्रणिधाना-नियमाः । अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा नियमाः ।

इत्येष गृहिणां धर्मः प्रोक्तः क्षितिपतीश्वर ।
यतीनां तु श्रुतात् ज्ञेयो मूलोत्तरगुणाश्रयः ।। ९०९ ॥

इति श्रीसकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्य-
विद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते
यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये
धर्मामृतवर्षमहोत्सवो नामाष्टम आश्वासः :

सुने हुए विषयोकी तृष्णाको छोडकर मनको वशमे करनेको वैराग्य कहते है । प्रत्यक्षसे, अनुमानसे और आगमसे जाने हुए पदार्थोका जो भ्रान्तिरहित स्मरण हैं उसे तत्वचिन्तन कहते है। बाह्य और आभ्यन्तर शौच तथा सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ध्यानको यम कहते है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको नियम कहते हैं ।

इस प्रकार हे राजन्! यह गृहस्थोंका धर्म कहा । यतियोंका धर्म, उनके मूल गुण और उत्तर-गुण आगमसे जानना चाहिए ।।९०९।।

इस प्रकार समस्त तार्किकलोकचूडामणि श्रीमान् नेमिदेवआर्यके शिष्य, निर्दोष
गद्य-पद्य-रचना करनेवाले विद्वज्जन-चक्रवर्तियोंके शिखामणिके समान शोभाय-
मान चरण-कमवाले श्रीसोमदेव सूरि विरचित यशोधरचरित अपर
नामक यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्यमें धर्मामृतवर्ष महोत्सव
नामका यह आठवाँ आश्वास समाप्त हुआ ।

श्रीमच्चामुण्डराय-प्रणीत चारित्रसार-गत श्रावकाचार

अरिहनन-रजोहनन-रहस्यहरं पूजनार्हमर्हन्तम्।
सिद्धान् सिद्धाष्टगुणान् रत्नत्रयसाधकान् स्तुवे साधून् ॥१।
श्रीमज्जिनेन्द्रकथिताय सुमगलाय लोकोत्तमाय शरणाय विनेयजन्तो ।
धर्माय कायवचनाशयशुद्धितोऽहं स्वर्गापवर्गफलदाय नमस्करोमि ॥२॥

धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्म बुधाश्चिन्वते
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः ।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्‌भवभृतां धर्मस्य मूल दया
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिन हे धर्म मां पालय ॥३॥

सम्यक्त्व-पञ्चाणुव्रतवर्णनम्–

सम्यग्दृष्टीनां चत्वारो वन्दना प्रधानभूताः–अर्हन्त सिद्धाः साधवो धर्मश्चेति । तत्रार्हत्सिद्धसाधवो नमस्कारेणोक्ताः । धर्म उच्यते–आत्मानमिष्टनरेन्द्रसुरेन्द्रमुनीन्द्रमुक्तिस्थाने धत्त इति धर्मः, अथवा संसारस्थान् प्राणिनो धरते धारयतीति वा धर्मः । स च सागारानगारविषयभेदाद् द्विविधः तत्र सागराधर्म उच्यते–

दार्शनिक-व्रतिकावपि सामायिकः प्रोषधोपवासश्च ।
सचित्तरात्रिभुक्तिव्रतनिरतौ ब्रह्मचारी च ॥४॥

मोहरूप अरिके हनन करनेवाले, ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मरूप रजके विनाशक,अन्तरायरूप रहस्यके अपहारक एव पञ्चकल्याणकरूप पूजाओके योग्य ऐसे अरहन्त भगवान्‌की मै स्तुति करता हूँ । सम्यक्त्व आदि आठ गुण जिन्हे सिद्ध हो गये है, ऐसे सिद्ध परमेष्ठियोंकी मै स्तुति करता हूँ और रत्नत्रयके साधक आचार्य, उपाध्याय एव साधुओकी मै स्तुति करता हूँ ॥१॥ मै श्रीमज्जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट उस धर्मको भी मनवचकायकी शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ जो कि श्रेष्ठ मगलरूप है, लोकमे उत्तम है, विनम्र प्राणियोको शरण देनेवाला है और स्वर्ग तथा मोक्षके सुखरूप फलको देनेवाला है ॥२॥ धर्म सर्व सुखोका भण्डार है, जगत्‌का हितकारी है,उस धर्मको ज्ञानीजन सचय करते है, धर्मके द्वारा ही शिवका सुख प्राप्त होता है, ऐसे धर्मके लिए मेरा नमस्कार हो । ससारी प्राणियोका धर्मसे अन्य कोई मित्र नही है, धर्मका मूल दया है, ऐसे धर्ममे मै प्रतिदिन अपने चित्तको लगाता हूँ । हे धर्म, मेरी पालना करो ॥३॥

अब सम्यग्दर्शन और पच अणुव्रतोका वर्णन करते है–सम्यग्दृष्टि जीवोके लिए अरहन्त सिद्ध साधु और धर्म ये चार वन्दनामे प्रधानभूत है । उनमे अरहन्त सिद्ध और साधुओका स्वरूप नमस्कार पद्योके द्वारा कह दिया गया है । अव धर्मका स्वरूप कहते है–जो आत्माको अभीष्ट नरेद्र सुरेन्द्र, तीर्थकर पद और मुक्तिस्थानमे धारण करे, वह धर्म है । अथवा ससारमे स्थित प्राणियोको जो धारण करता है, वह धर्म है । वह सागार (श्रावक) और अनगार (मुनि) के भेदसे दो प्रकारका है । उसमेसे सागारधर्मको कहते है–

दार्शनिक व्रतिक सामायिकी प्रोषधोपवासी सचित्तभुक्ति-विरत रात्रिभुक्तिव्रत-निरत

आरम्भाद् विनिवृत्त. परिग्रहादनुमतस्तथोद्दिष्ट: ।
इत्येकादश निलया जिनोदिता: श्रावका: क्रमश: ।।५।।

व्रतादयो गुणा दर्शनादिभि: पूर्वगुणै: सह क्रमप्रवृद्धा भवन्ति । तत्र दार्शनिक: संसारशरीर-भोगनिर्विण्ण: पञ्चगुरुचरणभक्त: सम्यग्दर्शनविशुद्धश्च भवति । जिनेन भगवताऽर्हता परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षमार्गे श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । तस्य सम्यग्दर्शनस्य मोक्षपुरपथिकपाथेयस्य मुक्तिसुन्दरी-विलासमणिदर्पणस्य संसारसमुद्रगर्तावर्तभग्नजनदत्तहस्तावलम्बनस्यैकादशोपासकस्थानप्रासादाधिष्ठानस्योत्तमक्षमादिदशकुलधर्मकल्पपादपमूलस्य परमपावनस्य सकलमङ्गलनिलयस्य मोक्षमुख्यकारणस्याष्टाङ्गानि भवन्ति-नि:शङ्कितत्वं नि.कांक्षता निर्विचिकित्सिता अमूढदृष्टित्वं उपबृंहणं स्थितिकरणं वात्सल्यं प्रभावना चेति ।

तत्रेहलोक: परलोक: व्याधिर्मरणं अगुप्ति. अत्राण आकस्मिक इति सप्तविधाद्भया-द्विनिर्मुक्तता, अथवाऽर्हदुपदिष्टद्वादशाङ्गप्रवचनगहने एकमक्षरं पदं वा किमिदं स्याद्वा न वेति शङ्का-निरासो नि.शङ्कितत्वम् । ऐहलौकिक-पारलौकिकेन्द्रियविषयोपभोगाकांक्षानिवृत्ति, कुदृष्ट्यन्तरा-कांक्षानिरासो वा नि·कांक्षता । शरीराद्यशुचित्वभावमवगम्य शुचीति मिथ्यासङ्कल्पापनयोऽथवाऽर्हत्प्रवचने इदमयुक्तं घोरं कष्टं न चेदिदं सर्वमुपपन्नमित्यशुभभावनानिरासो विचिकित्साविरह: ।

ब्रह्मचारी आरम्भ-निवृत्त परिग्रह-निवृत्त अनुमति-निवृत्त और उद्दिष्ट-निवृत्त ये ग्यारह स्थान वाले श्रावक जिन भगवान्‌ने क्रमसे कहे है ।।४-५।।

व्रतप्रतिमा आदिके गुण दर्शनप्रतिमा आदि पूर्वगुणोके साथ क्रमसे बढते हुए होते है, अर्थात् उत्तरप्रतिमाधारी श्रावकके लिए पूर्व प्रतिमाओंके गुण अधिक विशुद्धिके साथ धारण करना आवश्यक है। इनमेसे प्रथम प्रतिमाधारी दर्शनिक श्रावक है, जो कि ससार और इन्द्रिय-भोगोसे विरक्त होता हैं, पंच परम गुरुके चरणोका भक्त होता है और सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध होता है। जिनेन्द्र भगवान् अरहन्त परमेष्ठीसे उपदिष्ट वीतराग स्वरूप मोक्षमार्गमे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन मोक्षपुरको जानेवाले पथिकके लिए मार्गका भोजन है, मुक्ति सुन्दरीके श्रृंगार–विलासके लिए मणिके दर्पण समान है, संसार–सागरके गड्ढेकी भवरमे निमग्न जनको हाथका अवलम्बन देनेवाला है, उपासकोंके ग्यारह खण्डवाले भवन-का आधारभूत अधिष्ठान है, उत्तम क्षमा आदि दश प्रकारके कुल धर्मरूपी कल्पवृक्षका मूल है, परम पवित्र है, सर्वमगलोंका आश्रय है और मोक्षका प्रधान कारण है। इस सम्यग्दर्शनके आठ अग है–नि.शंकित, नि.कांक्षित, निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टि, उपवृहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। अब इन अगोका क्रमसे स्वरूप कहते है–इहलोकभय, परलोकभय, व्याधिभय, मरण-भय, अगुप्तिभय, अत्राणभय और आकस्मिकभय इन सातो प्रकारके भयोसे रहित होना नि शकित अंग है। अथवा अरहन्त भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट और अत्यन्त गहन ऐसे द्वादशागरूप प्रवचनमे 'यह एक अक्षर अथवा पद क्या जिनोक्त है, या नही' ऐसी शकाका न होना नि.शकित अग है। इस लोक और परलोकमे इन्द्रियके विषय-सम्वन्धी उपभोगकी आकांक्षा न करना, अथवा मिथ्या-दृष्टि होनेकी आकांक्षा नही करना नि कांक्षित अग है। शरीर आदिके अपवित्रपनेको जानकर 'यह शरीर पवित्र हैं' ऐसे मिथ्या सकल्पको दूर करना, अथवा अर्हत्प्रवचनमे यदि यह घोर कष्ट-वाला अयुक्त कथन न होता, तो सर्व ठीक था, ऐसी अशुभ भावनाका दूर करना निर्विचिकित्सा अंग है। तत्त्वसे रहित होनेपर भी तत्त्वके समान प्रतिभासित होनेवाले अनेक प्रकारके दुर्नयरूप

बहुविधेषु दुर्णयवर्त्मसु तत्त्ववदाभासमानेषु युक्त्यभावमध्यवस्य परीक्षाचक्षुषा विरहितमोहममूढदृष्टित्वम्। उत्तमक्षमादिभावनयाऽऽत्मन आत्मीयस्य च धर्मपरिवृद्धिकरणमुपबृंहणम्। कषायोदयादिषु धर्मपरिभ्रंशकारणेषूपस्थितेषु स्वपरयोर्धर्मप्रच्यवनपरिपालनं स्थितिकरणम्। जिनप्रणीते धर्मामृते नित्यानुरागताऽथवा सद्यःप्रसूता यथा गौर्वत्से स्निह्यति तथा चातुर्वर्ण्ये संघेऽकृत्रिमस्नेहकरणं वात्सल्यम्। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयप्रभावादात्मनः प्रकाशनमथवा ज्ञानतपःपूजासु ज्ञानदिनकर-किरणैः परसमयखद्योतोद्योतवरणकरणं च, महोपवासादिलक्षणेन देवेन्द्रविष्टरप्रकम्पनसमर्थेन सत्तपसा स्वसमयप्रकटनं च, महापूजामहादानादिभिर्धर्मप्रकाशनं च प्रभावना। एवंविधाष्टाङ्गविशिष्टं सम्यक्त्वम्। तद्विकयोरणुव्रतमहाव्रतयोर्नामापि न स्यात्। सम्यग्दर्शनमणुव्रतयुक्तं स्वर्गाय, महाव्रतयुक्तं मोक्षाय च।

> **सम्यक्त्वमङ्गहीनं राज्यमिव श्रेयसे भवेन्नैव।**
> **न्यूनाक्षरो हि मन्त्रो नालं विषवेदनोच्छित्त्यै ॥६॥**

सम्यक्त्वस्य गुणाः-

> **संवेगो निर्वेदो निन्दा गर्हा तथोपशमभक्ती।**
> **अनुकम्पा वात्सल्यं गुणास्तु सम्यक्त्वयुक्तस्य ॥७॥**

उक्तं चाबद्धायुष्कविषये—

> **सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।**
> **दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥८॥**

मिथ्यामार्गोमें परीक्षारूप नेत्रोंके द्वारा युक्तिके अभावको जानकर मोहरहित होना अमूढदृष्टि अंग है। उत्तम क्षमादि धर्मोंकी भावनासे अपने और अपने परिजनोके धर्मकी तृप्ति करना उपवृंहण अग है। कषायोदय-आदिक धर्म-भ्रष्ट करनेवाले कारणोके उपस्थित होनेपर अपनी और अन्यकी धर्मभ्रष्ट होनेसे रक्षा करना स्थितिकरण अंग है। जिन-प्रणीत धर्मामृतमे नित्य अनुराग करना, अथवा जैसे—सद्य प्रसूता गौ अपने बछडेको अत्यन्त स्नेह करती है, उसी प्रकार चार प्रकारके सघ पर अकृत्रिम स्नेह करना वात्सल्य अग है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोके प्रभावसे आत्माका प्रभाव प्रकाशित करना, प्रभावना अंग है। अथवा खद्योतोके प्रकाशका आवरण करना, देवेन्द्रोके सिंहासनोंको कम्पित करनेमे समर्थ महोपवास आदि स्वरूपवाले उत्तम तपश्चरणके द्वारा अपनेशासनकी प्रभावना करना, और महापूजा, महादान आदि कार्योके द्वारा धर्मका प्रकाश करना प्रभावना अग है। इस प्रकारके आठ अगोसे विशिष्ट सम्यग्दर्शन पहली प्रतिमाधारीके होता है। सम्यग्दर्शनसे रहित पुरुषके अणुव्रत और महाव्रतका नाम तक भी नही होता है। यह सम्यग्दर्शन यदि अणुव्रत-युक्त हो तो स्वर्गके लिए कारण है और महाव्रत-युक्त हो तो मोक्षके लिए कारण है। जिस प्रकार सेना आदि अगोंसे रहित राज्य कल्याणकारी नही होता है, उसी प्रकार नि.शकित आदि अंगोसे हीन सम्यग्दर्शन भी कल्याणकारी नही होता है। क्योंकि एक अक्षरसे भी न्यून मंत्र विषकी वेदनाको दूर करने के लिए समर्थ नही होता है ॥६॥ अब सम्यग्दर्शनके गुण कहते है—सवेग निर्वेद निन्दा गर्हा उपशम भक्ति अनुकम्पा और वात्सल्य ये सम्यक्त्वयुक्त पुरुषके आठ गुण है ॥७॥ जिसके आगामी भवकी आयु नही बधी है, ऐसे अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टिके विषयमे कहा है—सम्यग्दर्शनसे शुद्ध अव्रती भी पुरुष मरकर नारक,

भवाब्धौ भव्यसार्थस्य निर्वाणद्वीपयायिनः ।
चारित्रयानपात्रस्य कर्णधारो हि दर्शनम् ॥९॥

दार्शनिकस्य कस्यचित्कदाचिद्दर्शनमोहोदयादतीचाराः पञ्च भवन्ति-शङ्काकांक्षा विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशसासंस्तवा इति । तत्र मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा, वचसा भूताभूतगुणोद्भावनं संस्तव', एवं प्रशंसा-सस्तवयोर्मानसकृतो वाक्कृतश्च भेदः । शेषाः सुगमा । सम्यग्दर्शनसामान्यादणुव्रतिकमहाव्रतिनोरिमेऽतीचाराः ।

व्रतिको निःशल्यः पञ्चाणुव्रत-रात्रिभोजनविरमण शीलकसप्तकं निरतिचारेण यः पालयति स भवति । तत्र यथा शरीरानुप्रवेशिकाण्डकुन्तादिप्रहरणं शरीरिणां बाधाकरम्, तथा कर्मोदयविकारे शरीरमानसबाधाहेतुत्वाच्छल्यमिव शल्यम् । तत्त्रिविधम्-मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात् । माया वंचनम् । निदानं विषयभोगाकांक्षा । मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम् । उत्तरत्र वक्ष्यमाणेन महाव्रतिनापि शल्यत्रयं परिहर्तव्यम् ।

अभिसन्धिकृतो नियमो व्रतमित्युच्यते, सर्वसावद्यनिवृत्त्यसम्भवादणुव्रतं द्वीन्द्रियादीनां जंगमप्राणिनां प्रमत्तयोगेन प्राणव्यपरोपणान्मनोवाक्कायैश्च निवृत्तः आगारीत्याद्यणुव्रतम् । तस्य प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणलक्षणस्य पञ्चातिचारा भवन्ति-बन्धो वधः छेदः अतिभारारोपण अन्नपाननिरोधश्चेति । तत्राभिमतदेशगमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबन्धहेतोः कीलादिषु रज्ज्वादिभिर्व्यतिषङ्गो

तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री नही होते । तथा वे दुष्कुल, विकल-अग, अल्प आयु और दरिद्रताको भी प्राप्त नही होते है ॥८॥ ससाररूप समुद्रमे चारित्ररूप जहाज पर सवार होकर निर्वाणरूप द्वीपको जानेवाले भव्य जीवरूप सार्थवाहका सम्यग्दर्शन कर्णधार (खेवटिया) है ॥९॥ सम्यग्दर्शनके धारक किसी जीवके कदाचित् दर्शनमोहके उदयसे ये पाँच अतीचार होते हैं—शका काक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव । मनसे मिथ्यादृष्टि पुरुषके ज्ञान और चारित्रगुणका प्रकट करना प्रशसा है और वचनसे उसमे विद्यमान और अविद्यमान गुणोका कहना सस्तव हैं। इस प्रकार प्रशंसा और सस्तवमें मनःकृत और वचनकृत भेद है। शेष तीन अतीचार सुगम हैं। सम्यग्दर्शनकी समानतासे ये पाँचो ही अतीचार अणुव्रती और महाव्रती, दोनोके होते हैं। जो शल्य-रहित होकर पाँच अणुव्रत, रात्रि-भोजन त्याग और तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रतरूप सात शीलोको अतीचार-रहित पालन करता है, वह दूसरी प्रतिमाधारी व्रतिक श्रावक है। शल्य नाम बाणका है। जैसे शरीरमे प्रविष्ट बाण भाला आदि शस्त्र जीवोको बाधा करता है, उसी प्रकार कर्मोदयके विकारमे जो शल्यके समान शरीर और मनमे बाधाका कारण हो, उसे शल्य कहते है। वह शल्य माया निदान और मिथ्यादर्शनके भेदसे तीन प्रकारकी हैं। दूसरेको ठगना माया है। विषयभोगोकी आकांक्षा करना निदान है। अतत्त्वोंका श्रद्धान करना और तत्वोंका श्रद्धान नही करना मिथ्यादर्शन है। श्रावकको और आगे कहे जानेवाले महाव्रतीको भी तीनों शल्योका त्याग करना चाहिए। अभिप्रायपूर्वक नियम करना व्रत कहलाता है। गृहस्थके सर्व सावद्ययोगकी निवृत्ति असंभव है, अत जो प्रमत्तयोगसे द्वीन्द्रियादिक त्रस प्राणियोके प्राण-घातसे मन वचन काय द्वारा निवृत्त होता है वह गृहस्थ प्रथम अहिंसाणुव्रतका धारक है। प्रमत्तयोगसे प्राणोंका अविघात लक्षणवाले इस अहिंसाणुव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार है-बन्ध वध छेद अतिभारारोपण और अन्न-पाननिरोध। अपने अभीष्ट स्थानको जानेके लिए उत्सुक पुरुष पशु आदिको उसे रोकनेके निमित्तमे कील, खूंटी

बन्धः । दण्डकशावेत्रादिभिः प्राणिनामभिघातो वधः । कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदः । न्यायादनपेताद्भारादतिरिक्तस्य भारस्य वाहनमतिलोभाद् गवादीनामतिभारारोपणम् । तेषां गवादीनां कुतश्चित्कारणात् क्षुत्पिपासाबाधोत्पादनमन्नपाननिरोध इति ।

स्नेहस्य मोहस्य द्वेषस्य वोद्रेकाद्यदसत्याभिधान ततो निवृत्तादरो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम् । तस्य व्रतस्य पञ्चातिक्रमा भवन्ति मिथ्योपदेशः रहोऽभ्याख्यानं कूटलेखक्रिया न्यासापहारः साकारमन्त्रभेदश्चेति । तत्राभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनमभिसन्धान वा मिथ्योपदेशः । स्त्रीपुरुषाभ्यामेकान्तेऽनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशनं रहोऽभ्याख्यानम् । अन्येनानुक्तं यत्किञ्चित्परप्रयोगवशादेव तेनोक्तमनुष्ठितमिति वञ्चनानिमित्तं लेखन कूटलेखक्रिया । हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसङ्ख्यस्य अल्पसंख्यानमाददानस्य'एवं'इत्यनुज्ञावचन न्यासापहारः । अर्थप्रकरणाङ्गविकारभ्रूक्षेपादिभिः पराकूतमुपलभ्य यदाविष्करणमसूयादिनिमित्त तत्साकारमन्त्रभेद इति ।

अन्यपीडाकरं पार्थिवादिभयादवशपरित्यक्तं वा निहितं पतितं विस्मृत वा यददत्तं ततो निवृत्तादर श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम् । अदत्तादानविरतेः पञ्चातिचारा भवन्ति—स्तेनप्रयोगः तदाहृतादानं विरुद्धराज्यातिक्रमः हीनाधिकमानोन्मान प्रतिरूपकव्यवहारश्चेति । मोषकस्य त्रिधा प्रयोजनम्—मुष्णन्तं स्वयमेव प्रयुंक्ते, अन्येन वा प्रयोजयति प्रयुक्तमनुमन्यते वा य सःस्तेनप्रयोग. ।

आदिमे रस्सी आदिके द्वारा बाँधना बन्ध नामका अतीचार है। लकडी चाबुक बेत आदिसे प्राणियोको मारना वध नामका अतीचार है। जीवोके कान नाक आदि अगोका काटना छेद नामका अतिचार है। अतिलोभसे बैल घोडे आदि पर न्याय-सगत भारसे अधिक भारका लादना अतिभारारोपण नामका अतिचार हैं। किसी भी कारणसे उन बैल आदिका खान-पान रोककर उन्हे भूख-प्यासकी बाधासे पीडित करना अन्न-पाननिरोध नामका अतिचार है। स्नेह मोह और द्वेषकी तीव्रतासे जो असत्य बोला जाता है उसके त्यागमे आदर रखना यह गृहस्थका दूसरा सत्याणुव्रत है। इस व्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार है—मिथ्योपदेश रहोऽभ्याख्यान कूट लेखक्रिया न्यासापहार और साकार मत्रभेद। अभ्युदय और नि श्रेयससाधक क्रिया-विशेषोमे अन्य पुरुषको अन्यथा प्रवृत्ति कराना, अथवा अन्यथा अभिप्राय कहना मिथ्योपद्रेश है। स्त्री-पुरुषके द्वारा एकान्तमे की गई रति, क्रिया आदि गुप्त बातका प्रकाशन करना रहोऽभ्याख्यान है। अन्यके द्वारा नही कही गई जिस किसी बातको परके आग्रहसे 'उसने ऐसा कहा है, अथवा किया है' इस प्रकार दूसरेको ठगनेके लिए झूठे लेख लिखना कूट-लेखक्रिया है। अमानतमे रखे हुये सुवर्ण आदि द्रव्यका परिणाम भूल जानेसे अल्प परिमाणमे मागनेपर उतने ले जानेकी धरोहर रखनेवाले पुरुषको स्वीकृतिका वचन कहना न्यासापहार है। किसी अर्थके प्रकरणसे, अगविकारसे अथवा भ्रुकुटी-विक्षेप आदिसे दूसरेका अभिप्राय जानकर ईर्ष्या आदिके निमित्तसे उसे प्रकट करना साकारमत्रभेद है। राजा आदिके भयसे परवश होकर छोडे गये, रखे हुए गिरे और भूले हुए पराये द्रव्यको बिना दिये लेना चोरी हैं। यह उसके स्वामीको पीडा करती है। ऐसी चोरीसे निवृत्त होनेमे आदर रखना यह श्रावकका तीसरा अचौर्याणुव्रत है। इस अदत्तादानविरतिके पाँच अतीचार इस प्रकार है—स्तेनप्रयोग तदाहृतादान विरुद्धराज्यातिक्रम हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार। चोरको तीन प्रकारसे प्रेरणाकी जाती है—एक तो चोरको चोरी करनेके लिए स्वय प्रेरणा करता है,दूसरे अन्य किसीसे

अप्रयुक्तेनाननुमतेन च चौरेणानीतस्य ग्रहणं तदाहृतादानम् । विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यम् । उचित-न्यायादन्येन प्रकारेणादानं ग्रहणमतिक्रमः । तस्मिन् विरुद्धराज्ये योऽसावतिक्रमः स विरुद्धराज्याति-क्रमः । प्रस्थादि मानं तुलाद्युन्मानम् । एतेन न्यूनेनान्यस्मै देयमधिकेनात्मना ग्राह्यमित्येवमादिकूट-प्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानम् । कृत्रिमैर्हिरण्यादिभिर्वञ्चनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहार इति ।

उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः सङ्गाद्विरतरतिर्विरताविरत इति चतुर्थमणुव्रतम्। स्वदारसन्तोषव्रतस्यातीचाराः पञ्च भवन्ति–परविवाहकरणं इत्वरिकाऽपरिगृहीतागमन इत्वरिका-परिगृहीतागमनं अनङ्गक्रीडा कामतीव्राभिनिवेशश्चेति। तत्र सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयाद्विवहनं विवाहः परस्य विवाहकरणं परविवाहकरणम् । ज्ञानावरणक्षयोपशमादापादितकलागुणज्ञतया चारित्रमोहस्त्रीवेदोदयप्रकर्षादङ्गोपाङ्गनामोदयावष्टम्भाच्च परपुरुषानेतीति इत्वरिका या गणि-कात्वेन वा पुंश्चलित्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता,तस्यां गमनमित्वरिकाऽ-परिगृहीता गमनम् । या पुनरेकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता,तस्यां गमनमित्वरिकापरिगृहीतागमनम्। अङ्गं प्रजननं योनिश्च ततो जघनादन्यत्रानेकविधप्रजननविकारेण रतिरनङ्गक्रीडा कामस्य प्रवृद्धः

प्रेरणा कराता है और तीसरे चोरी करनेवाले की अनुमोदना करता है, यह सब स्तेन प्रयोग है। जिसे चोरीके लिए प्रेरणा भी नही की है, ऐसे चोरके द्वारा लाये गये द्रव्यको ग्रहण करना तदा-हृतादान है। विद्रोह या विप्लव युक्त राज्यको विरुद्धराज्य कहते हैं। उचित न्याय मार्गको छोड़-कर अन्य प्रकारसे द्रव्यको ग्रहण करना अतिक्रम कहलाता है। इस प्रकार विरुद्ध राज्यमें अतिक्रम विरुद्धराज्यातिक्रम है। (राज्यके नियमोंके विरुद्ध वस्तुको लाना-ले जाना और राज्य-करकी चोरी करना भी इसीके अन्तर्गत है।) नापनेके प्रस्थ आदिको मान कहते हैं और तोलनेके बाँट आदिको उन्मान कहते है। कम नाप—तोलके वाँटोसे दूसरोंको देना और अधिक (भारी) नाप-तोलके वाँटोसे स्वयं ग्रहण करना, इत्यादि छलमय कूट प्रयोग करना हीनाधिकमानोन्मान है। कृत्रिम (वनावटी या मिलावट वाले) सुवर्णादिकके द्वारा वंचनापूर्वक व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है। उपात्त (विवाहित) और अनुपात्त (अविवाहित) परस्त्रीके सगसे विरतरति होना अर्थात् उनके साथ काम सेवन नही करना और अपनी स्त्रीमें सन्तोप धारण करना यह गृहस्थका विरताविरतरूप चौथा अणुव्रत है। इस स्वदारसन्तोषाणुव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार है-पर-विवाहकरण इत्वरिकाऽपरिगृहीतागमन इत्वरिकापरिगृहीतागमन अनगक्रीडा और कामतीव्राभिनि-वेश। सातावेदनीय और चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे कन्याके पाणिग्रहको विवाह कहते है। अन्य पुरुपका विवाह करना परविवाहकरण नामका अतीचार है। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम-विशेषसे प्राप्त हुए कलागुणको धारण करनेसे, चारित्रमोह-गत स्त्रीवेदके उदय-प्रकर्पसे और अंगो-पांग नाम कर्मके उदयके साहाय्यसे जो पर-पुरुषोके समीप जातीहै, उसे इत्वरिका कहते हैं। वेश्या होनेसे अथवा व्यभिचारिणी होनेसे पर-पुरुपोके पास जानेवाली पति-रहित स्त्रीको इत्वरिका अपरि-गृहीता कहते हैं। उसमें गमन करना इत्वरिकाऽपरिगृहीतागमन है। जिस स्त्रीका एक पुरुप स्वामी है, वह परिगृहीता कहलाती है। ऐसी व्यभिचारिणी स्त्रीमें गमन करना इत्वरिका परिगृहीता गमन है। कामसेवनके अंग प्रजनन (लिंग) और योनि है। उनसे अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें अनेक प्रकारके प्रजनन विकारोंमे रति करना अनगक्रीडा कहलाती है। कामसेवनके अति बढ़े हुए

परिणामोऽनुपरतवृत्यादिः कामतीव्राभिनिवेश इति ।

धन-धान्यक्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृतपरिच्छेदो गृहीति पञ्चममणुव्रतम् । परिग्रहविरमण-व्रतस्य पञ्चातिक्रमा भवन्ति-क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासी दास-कुप्यमिति । तत्र क्षेत्रं शस्याधिकरणम्, वास्तु आगारम्, हिरण्यं रूप्यादिव्यवहारप्रयोजनम्, सुवर्ण विख्यातम्, धन गवादि, धान्य व्रीह्यादि, दासीदासं भृत्यस्त्रीपुरुषवर्गः, कुप्य क्षौमकार्पासकौशेयचन्दनादि । एतेषु एतावानेव परिग्रहो मम, नातोऽन्यस्य इति परिच्छिन्नप्रमाणात् क्षेत्रवास्त्वादिविषयादतिरेकोऽति-लोभवशात्प्रमाणातिरेक इति ।

रात्रावन्नपानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्य. सत्त्वानुकम्पया विरमणं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतम्।

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद् ग्रन्थान्निवर्तनम् ।
पञ्चधाऽणुव्रत रात्र्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम् ॥१०॥

इत्यणुव्रतवर्णनम् ।

—०—

परिणामको और निरन्तर कामसेवनमे लगे रहनेको कामतीव्राभिनिवेश कहते है। धनधान्य क्षेत्र आदि परिग्रहका इच्छाके वशसे परिणाम करना यह गृहस्थका पाँचवाँ अणुव्रत है। इस परि-ग्रहपरिमाणव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार है—क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्य। धान्यकी उत्पत्तिके स्थानको क्षेत्र कहते है। रहनेके घरको वास्तु कहते है। चादीके रुपया आदि सिक्के जिनसे लेन-देनका व्यवहार चलता है, हिरण्य कहलाते है। सुवर्ण तो प्रसिद्ध ही है। गाय-भैस आदि पशुओको धन कहते है। गेहूँ चावल आदिको धान्य कहते है। सेविका स्त्रीको दासी और सेवक पुरुषको दास कहते है। वस्त्र, कपास, कोशा, चन्दन, वर्तन आदिको कुप्य कहते है। इन पाँचो प्रकारके पदार्थोंमे 'इतना ही मेरे परिग्रह है, इससे अधिक या अन्य वस्तुका नही' इस प्रकार क्षेत्र-वास्तु आदि विषयक स्वीकृत प्रमाणसे अति लोभवश अधिक रखकर ग्रहण किय गये परिमाणका उल्लघन करना परिग्रह परिमाणव्रतके अतीचार है। प्राणियों पर अनुकम्पाके भावसे रात्रिमे अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चारो प्रकारके आहार करनेका त्याग करना सो रात्रिभोजनविरमण नामका छठा अणुव्रत है। जैसा कि कहा है—स्थूल हिंसासे, असत्यसे, काम सेवनसे और परिग्रहसे निवृत्त होना यह पाँच प्रकारका अणुव्रत है और रात्रिमे भोजन नही करना यह छठा अणुव्रत है ॥१०॥

इस प्रकार अणुव्रतोंका वर्णन समाप्त हुआ ।

—०—

शीलसप्तकवर्णनम्

स्थवीयसीं विरतिमभ्युपगतस्य श्रावकस्य व्रतविशेषो गुणव्रतत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टय शीलसप्तक-मित्युच्यते । दिग्विरतिः देशविरति. अनर्थदण्डविरतिः सामायिकं प्रोषधोपवासः उपभोगपरिभोग-परिमाण अतिथिसंविभागश्च ।

तत्र प्राची अपाची उदीची प्रतीची ऊर्ध्वं अधो विदिशश्चेति । तासां परिमाणं योजनादिभिः पर्वतादिप्रसिद्धाभिज्ञानैश्च ताश्च दुष्परिहारैः क्षुद्रजन्तुभिराकुला अतस्ततो बहिर्न यास्यामीति निवृत्तिर्दिग्विरतिः । निरवशेषतो निवृत्ति कर्तुमशक्नुवतः शक्त्या प्राणिवधविरतिं प्रत्यागूर्णस्यात्र प्राणनिमित्तं यात्रा भवतु. मा वा, सत्यपि प्रयोजनभूयस्त्वे परिमितादृिग्वधेर्बहिर्न यास्यामीति प्रणिधानादर्हिंसाद्यणुव्रतधारिणोऽप्यस्य परिगणितादृिग्वधेर्बहिर्मनोवाक्काययोगैःकृतकारितानुमत-विकल्पैर्हिंसादिसर्वपापनिवृत्तिरिति महाव्रत भवति ।

दिग्विरमणव्रतस्य पञ्चातिचारा भवन्ति-ऊर्ध्वातिक्रमः अधोऽतिक्रमः तिर्यगतिक्रम.क्षेत्रवृद्धिः स्मृत्यन्तराधानं चेति । तत्र पर्वतमरुद्भूम्यादीनामारोहणादूर्ध्वातिक्रमः।कूपावतरणादिरधोऽतिक्रम। भूमिबिल-गिरिदरीप्रवेशादिस्तिर्यगतिक्रमः । प्राग्दिशो योजनादिभि परिच्छिद्य पुनर्लोभवशात्ततोऽ-

---

अब तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतरूप सात शीलव्रतोका वर्णन करते है—स्थायी विरतिभावको स्वीकार करनेवाले श्रावकके तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतरूप जो व्रतविशेष धारण किये जाते है, उन्हे शीलसप्तक कहते है । इनके नाम इस प्रकार है—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति (ये तीन गुणव्रत है), सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसविभागव्रत (ये चार शिक्षाव्रत है) ।

इनमेसे पहले दिग्विरति व्रतका वर्णन करते हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और चारो (ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य) विदिशाएँ, इन दशो दिशाओका योजनादिकसे अथवा पर्वत नदी आदि प्रसिद्ध चिन्होसे जीवन-पर्यन्तके लिए परिमाण कर और यह विचार कर कि 'ये सब दिशाएँ जिनका परिहार करना दु साध्य है, ऐसे छोटे सूक्ष्म जन्तुओसे भरी हुई हैं, अत. इस ग्रहण की गई सीमासे बाहर मै नही जाऊँगा', ऐसा नियम कर दिशाओकी निवृत्ति करनेको दिग्विरतिव्रत कहते हैं । पूर्णरूपसे हिसादि पापोकी निवृत्ति करनेके लिए असमर्थ गृहस्थके अनुसार प्राणिघात-त्यागके प्रति उद्यत होनेपर प्राणोकी रक्षाके लिए यात्रा अर्थात् जीवन-निर्वाह हो, अथवा मत होवे, भारी प्रयोजनके आ जानेपर भा मैंपरिमाण की गई दिशाओंकी मर्यादासे वाहर नही जाऊँगा, इस प्रकारकी प्रतिज्ञासे अहिंसादि अणुव्रत-धारी भी इस श्रावकके परिगणित दिशाओकी मर्यादासे बाहिर मन-वचन-कायसे और कृत-कारित-अनुमोदनसे हिंसादि समस्त पापोंकी पूर्ण निवृत्ति होती है, अत वहाँकी अपेक्षा उसके अणुव्रत भी महाव्रत कहलाते है ।

इस दिग्विरमण व्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार है—ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम, तिर्यगति-क्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान । पर्वत और मरुद्भूमि (आकाश) आदि उर्ध्व प्रदेशोके आरोहणसे ऊर्ध्व-दिशाकी सीमाका उल्लघन करना ऊर्ध्वातिक्रम है । कूप-वावडी आदि अधोभागमे उतरनेसे सीमाका उल्लघन करना अधोऽतिक्रम है । भूमिके विल और पर्वतकी कन्दरा आदिमे

घिकाकांक्षणं क्षेत्रवृद्धिः। इदमिदं मया योजनादिभिरभिज्ञानं कृतमिति तदभावः स्मृत्यन्तराधानम्। दिग्विरमणव्रतस्य प्रमादान्मोहाद् व्यासङ्गादतीचारा भवति।

मदीयस्य गृहान्तरस्य तडागस्य वा मध्यं मुक्त्वा देशान्तरं न गमिष्यामीति तन्निवृत्तिर्देश-विरतिः। प्रयोजनमपि दिग्विरतिवद्देशविरतिव्रतस्य। तस्य पञ्चातिचारा भवन्ति—आनयनं प्रेष्यप्रयोगः शब्दानुपातः रूपानुपातः पुद्गलक्षेप इति। तत्रात्मना सङ्कल्पितदेशे स्थितस्य प्रयोजन-वशाद्यत्किञ्चिदानयेत्याज्ञापनमानयनम्। परिच्छिन्नदेशाद्बहिः स्वयमगत्वाऽन्यप्रेष्यप्रयोगेणैवाभिप्रेत व्यापारसाधनं प्रेष्यप्रयोगः। व्यापारकरान् पुरुषानुद्दिश्याभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः। मम रूपं निरीक्ष्य व्यापारमचिरान्निष्पादयन्तीति स्वाङ्गदर्शनं रूपानुपातः। कर्मकरानुद्दिश्य लोष्ठपाषा-णादिनिपातः पुद्गलक्षेप इति। दिग्विरतिः सार्वकालिकी। देशविरतिर्यथाशक्ति कालनियमेनेति।

प्रयोजनं विना पापादानहेतुरनर्थदण्डः। स च पञ्चविधः—अपध्यानं पापोपदेशःप्रमादाचरित हिंसाप्रदानं अशुभश्रुतिरिति। तत्र जयपराजयवधबन्धाङ्गच्छेदसर्वस्वहरणादिकं कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्। पापोपदेशश्चतुर्विधः क्लेशवणिज्या तिर्यग्वणिज्या वधकोपदेश.

प्रवेश करनेसे (तथा पूर्वादि दिशाओकी सीमित मर्यादासे बाहर जानेसे) तिरछी मर्यादाका उल्लंघन करना तिर्यगतिक्रम है। पहले जो दिशाओकी योजनादिके द्वारा परिमाण लिया था पुन: लोभके वशसे उससे अधिककी आकाक्षा करना क्षेत्रवृद्धि है। मैने योजनादिकोके द्वारा अमुक-अमुक दिशामे इतना-इतना परिमाण किया है, उस मर्यादाका विस्मरण हो जाना स्मृत्यन्तराधान है। दिग्विरमण व्रतके ये सब अतीचार प्रमादसे,मोहसे अथवा चित्तके अन्यत्र लगनेसे होते है।

मै अपने-अपने घरके मध्य भागको, अथवा तालाब (उद्यान आदि) के मध्य भागको छोड कर (इतने समय तक) इससे बाहर अन्य देशमे नही जाऊँगा, इस प्रकारकी देश-निवृत्तिको देशविरतिव्रत कहते है। इस देशविरतिव्रतका प्रयोजन भी दिग्विरतिव्रतके समान जानना चाहिए। इस व्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार है—आनयन, प्रेष्यप्रयोग,शब्दानुपात,रूपानुपात और पुद्गल-क्षेप। अपने द्वारा सकल्पित देशमे अवस्थित रहते हुए भी प्रयोजनके वशसे (मर्यादाके बाहरसे) 'तुम यह वस्तु ले आओ' इस प्रकारकी आज्ञा देकर वस्तुको मँगाना आनयन अतीचार है। सीमित देशसे बाहर स्वय नही जाकर किसी अन्यको भेजकर ही अपना अभीप्ट व्यापार साधन करना प्रेष्यप्रयोग है। सीमित क्षेत्रसे कार्य करनेवाले पुरुषोको लक्ष्य करके खाँसना, चुटकी आदि बजाना शब्दानुपात है। सीमासे बाहर कार्य करनेवाले लोग मेरे रूपको देखकर लेरे कार्यको शीघ्र सम्पन्न कर देगे, इस अभिप्रायसे अपने अगको दिखाना रूपानुपात है। सीमा बाहर काम करनेवालोको लक्ष्य करके लोष्ठ पाषाण आदिको फेक कर अपना अभिप्राय प्रकट करना पुद्गल क्षेप है। दिग्विरतिव्रत सार्वकालिक अर्थात् जीवन भरके लिए होता है और देशविरतिव्रत यथा-शक्ति कालके नियमसे अल्पकालके लिए होता है।

प्रयोजनके विना पाप-उपार्जनके कारणोको अनर्थदण्ड कहते है। वह पाँच प्रकारका है—अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसाप्रदान और अशुभश्रुति। अमुककी जीत और अमुककी हार कैसे हो, अमुकके वध, बन्ध और अगोका छेदन कैसे हो, अमुक पुरुपका सर्वधनापहरण कैसे हो, इत्यादि मनसे चिन्तन करना अपध्यान अनर्थदण्ड है। पापोपदेश चार प्रकारका है—क्लेशवणिज्या, तिर्यग्वणिज्या, वधकोपदेश और आरम्भकोपदेश। इस प्रदेशमे दासी और दास सुलभ है (अल्प

आरम्भकोपदेशश्चेति । तत्रास्मिन् प्रदेशे दास्यो दासाश्च सुलभास्तानमून् देशान्नीत्वा विक्रये कृते महानर्थलाभो भविष्यतीति क्लेशवणिज्या । गोमहिष्यादीन् पशूनत्र गृहीत्वाऽन्यत्र देशे व्यवहारे कृते सति भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या । वागुरिक-शौकरिक-शाकुनिकादिभ्यो मृगवराह-शकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सन्तीति वचनं वधकोपदेश. । आरम्भकेभ्य. कृषीवलादिभ्य क्षित्युदक-ज्वलनपवनवनस्पत्यारम्भोऽनेनोपायेन कर्तव्य इत्याख्यानमारम्भकोपदेश. । इत्येवं प्रकारं पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेश. । प्रयोजनमन्तरेण भूमिकुट्टनसलिलसेचनाग्निविध्यापनवातप्रतिघातवनस्पतिच्छेद-नाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितम् विषशास्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम् । रागादिप्रवृद्धितो दुष्टकथाश्रवणश्रावणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिरिति । एतस्मादनर्थदण्डाद्विरति· कार्या ।

अनर्थदण्डविरमणव्रतस्य पञ्चातिचारा भवन्ति–कन्दर्पः कौत्कुच्यं मौखर्यं असमीक्ष्याधिकरणं उपभोगपरिभोगानर्थक्यमिति।चारित्रमोहोदयापादिताद्रागोद्रेकाद्योहास्यसंयुक्तोऽशिष्टवाक्प्रयोग सः कन्दर्पः। रागस्य समावेशाद्धास्यवचनमशिष्टवचनमित्येतदुभयं परस्मिन् दुष्टेन कायकर्मणा युक्त

मूल्यमें मिलते है) उन्हे अमुक देशोंमे ले जाकर बेचनेपर भारी धनलाभ होगा, इस प्रकारका उपदेश देना क्लेशवणिज्या है । गाय-भैंस आदि पशुओंको यहाँ पर खरीद कर अन्य देशमें बेचने पर भारी धन-लाभ होगा, ऐसा उपदेश देना तिर्यग्वणिज्या हैं । जाल बिछाकर मृग आदिकं पकडने वालोसे यह कहना कि इस देशमे मृग आदि बहुत है, मूकर पकडने वालोंसे यह कहना कि अमुक देशमे सूकर बहुत पाये जाते है और पक्षी पकडने वालोंसे यह कहना कि अमुक प्रदेशम पक्षी आदि बहुत है, ऐसे कहनेको वधकोपदेश कहते हैं । खेती आदिका आरम्भ करनेवाले किसान आदिकोसे यह कहना कि भूमि इस प्रकार जोतना चाहिए, पानी इस प्रकार सीचना चाहिए, अग्नि इस प्रकार लगाना चाहिए, पवनसे अन्नकी उडावनी इस प्रकारसे करना चाहिए और पेडोंको इस प्रकारसे काट-छाँट करना चाहिए, इस प्रकारका उपदेश देना आरम्भकोपदेश कहलाता हैं। इन चारो प्रकारके,तथा इसी प्रकारके पाप-संयुक्त वचन कहना पापोपदेश अनर्थदण्ड है। प्रयोजन-के विना ही भूमिको कूटना-खोदना, जलका, सीचना, अग्निका बुझाना, पवनका प्रतिघात करना और वनस्पतिका छेदना आदि पाप कार्य करनेको प्रमादाचरित कहते है। विष, शास्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक, दण्डा आदि हिंसाके उपकरण देना हिंसाप्रदान अनर्थदण्ड है । राग–द्वेष आदिकी वृद्धिके कारण होनेसे खोटी कथाओंका सुनना, सुनाना, शिक्षण देना और उनका प्रसार करना अशुभ-श्रुति है । इस प्रकारके अनर्थदण्डसे विरति करना चाहिए । ऐसे पाँच प्रकारके अनर्थदण्डोका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है ।

अनर्थदण्ड विरमणव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार है–कन्दर्प, कौत्कुच्य,मौखर्य, असमीक्ष्या-धिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य । चारित्रमोहके उदयसे होनेवाले रागके उद्रेकसे जो हास्य-मिश्रित अशिष्ट वचन बोलना सो कन्दर्प है। दूसरे मनुष्य पर कायकी खोटी चेष्टाको दिखाते हुए रागसे समाविष्ट हँसीके वचन बोलना, अशिष्ट वचन बोलना, अथवा दोनो ही कार्य करना कौत्कुच्य कहलाता है । असमीचीनरूपसे जो कुछ भी अनर्थक बहुत बकवाद करना, सो मौखर्य है । मन, वचन और कायके भेदसे असमीक्ष्याधिकरण तीन प्रकारका है । दूसरेका अनर्थ करनेवाले काव्य आदिका चिन्तवन करना मानसअसमीक्ष्याधिकरण है । निष्प्रयोजन कथाओका व्याख्यान करना अथवा अन्यको पीडाकारी वचन कहना वाचनिक असमीक्ष्याधिकरण है । प्रयोजनके विना

कौत्कुच्यम्। अशालीनतया यत्किञ्चनानर्थकं बहुप्रलपनं तन्मौखर्यम्। असमीक्ष्याधिकरणं त्रिविधं-मनोवाक्कायविषयभेदात्। तत्र मानसं परानर्थककाव्यादिचिन्तनम्। वाग्भवं निष्प्रयोजनकथा-ख्यानम्,परपीडाप्रधानं यत्किञ्चनवक्तृत्वं च। कायिकं प्रयोजनमन्तरेण गच्छंस्तिष्ठन्नासीनो वा सचित्ताचित्तपत्रपुष्पफलच्छेदनभेदनकुट्टनक्षेपणादीनि कुर्यात्; अग्निविषक्षारादिप्रदानं चारभेत। इत्येवमादि तदेतत्सर्वमसमीक्ष्याधिकरणम्। यस्य यावतार्थेनोपभोगपरिभोगौ परिकल्पितौ तस्य तावानेवार्थ इत्युच्यते। ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यं तदुपभोगानर्थक्यम्।

सम्यगेकत्वेनायनं गमनं समयः, स्वविषयेभ्यो विनिवृत्य कायवाङ्मनःकर्मणामात्मना सह वर्तनाद् द्रव्यार्थेनात्मन एकत्वगमनमित्यर्थः। समय एव सामायिकम्, समयः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम्। तच्च नियतकाले नियतदेशे च भवति। निर्व्याक्षेपमेकान्तं भवनं वनं चैत्यालयादिकं च देशं मर्यादीकृत्य केशबन्धं मुष्टिबन्धं वस्त्रबन्धं पर्यङ्कमकरमुखाद्यासनं स्थानं च कालमवधिं कृत्वा शीतोष्णादिपरीषहविजयी उपसर्गसहिष्णुर्मौनी हिंसादिभ्यो विषयकषायेभ्यश्च विनिवृत्य सामायिके वर्तमानो महाव्रती भवति। हिंसादिषु सर्वेष्वनासक्तचित्तोऽभ्यन्तरप्रत्याख्यानसंयमघाति-कर्मोदयजनितमन्दाविरतिपरिणामे सत्यपि महाव्रतमित्युपचर्यते। एवं च कृत्वाऽभव्यस्यापि

चलते हुए, खडे हुए या बैठे-बैठे ही सचित्त-अचित्त पत्र-पुष्प-फलादिका छेदन-भेदन करना,कूटना, फेकना आदि कार्य करना, अग्नि, विप, क्षार आदिको देने और बतानेका आरम्भ करना, तथा इसी प्रकारके और भी जितने अनर्थ कार्य है उनका करना सो वह सर्व असमीक्ष्याधिकरण है। जिस मनुष्यका जितने धन या वस्तुओसे उपभोग-परिभोग हो सकता है, उतना वह उसके लिए 'अर्थ' कहा जाता है। उससे अधिक अन्यका संग्रह करना यह उसका आनर्थक्य है। इस प्रकार आवश्यकतासे अधिक उपभोग-परिभोगकी वस्तुओका सग्रह करना उपभोगपरिभोगानर्थक्य कह-लाता है। इस प्रकार अनर्थदण्डव्रतके अतीचारोका वर्णन किया।

अब सामायिक शिक्षाव्रतका वर्णन करते है—सम्यक् प्रकारसे आत्माके एकत्वके साथ गमन करना, अर्थात् आत्मामे तल्लीन होना समय है। मन-वचन-काकी क्रियाओं-का अपने—अपने विषयोसे निवृत्त होकर आत्माके साथ वर्त्तन करनेको समय कहते है। अर्थात् द्रव्यार्थरूपसे आत्माका एकत्वगमन या एकाग्र होना समय कहलाता है। इस एकत्वगमनरूप समयको ही सामायिक कहते है। अथवा समय अर्थात् आत्मस्वरूपकी प्राप्ति जिसका प्रयोजन हो, उसे सामायिक कहते है। यह सामायिक नियतकालमे नियतदेशमे किया जाता है। विक्षेप-रहित एकान्त भवन, वन या चैत्यालय आदि योग्य देशकी मर्यादा करके, केशबन्ध, मुष्टिबन्ध, वस्त्रबन्ध, पर्यङ्कासन, मकरमुखासन आदि आसन, स्थान और काल-की मर्यादा करके शीत-उष्ण आदि परीषहोंको जीतनेवाला, आनेवाले उपसर्गोको सहन करनेवाला, मौनधारक,हिंसादिकपापोसे और विषय-कषायोसे निवृत्त होकर सामायिकमे वर्तमान श्रावक महा-व्रती होता है। यद्यपि उसके भीतर सयमका घात करनेवाले प्रत्याख्यानावरणकषायरूप कर्मके उदय-जनित मन्द अविरति परिणाम पाये जाते है, तथापि हिसादिक सर्व सावद्ययोगमे अनासक्त चित्त होनेसे उसके अणुव्रतोको उपचारसे महाव्रत कहा जाता है। इस प्रकार सामायिक करके अन्तरगमे असयम भाववाले और बाहर निर्ग्रन्थ लिग धारण करनेवाले, तथा ग्यारह अगोका अध्ययन करनेवाले अभव्य जीवके भी उपरिम (नवम) ग्रैवेयक विमानवासी अहमिंद्रोमे उत्पन्न

निर्ग्रन्थलिङ्गधारिणएकादशाङ्गाध्यायिनो महाव्रतपरिपालनादसंयमभावस्याप्युपरिमग्रैवेयकविमानवासितोपपन्ना भवति । एव भव्योऽपि निर्ग्रन्थरूपधारी सामायिकवशादहमिन्द्रस्थानवासी भवति चेत् किं पुनःसम्यग्दर्शनपूतात्मा सामायिकमापन्न इति ।

सामायिकव्रतस्य सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानस्य पञ्चातीचारा भवन्ति-कायदुःप्रणिधान वाग्दुःप्रणिधान मनोदुःप्रणिधानं अनादरः स्मृत्यनुपस्थापन चेति तत्र । दुष्टं प्रणिधान दुःप्रधानम्, अन्यथा वा प्रणिधानं दुःप्रणिधानम् . क्रोधादिपरिणामवशाद्दुष्टं प्रणिधान भवति । शरीरावयवानाम निभृतावस्थानं कायदुःप्रणिधानम् । वर्णसंस्कारे भावार्थे चागमकत्व चापलादि वाग्दुःप्रणिधानम् । मनसोऽनर्पितत्वं मनोदुःप्रणिधानम् । इति कर्त्तव्यतां प्रत्यसाकल्याद्यथ.कथञ्चित्प्रवृत्तिरनुत्साहोऽनादरः । अनैकाग्र्यमसमाहितमनस्कता स्मृत्यनुपस्थापनम् । अथवा रात्रिंदिवं प्रमादिकस्य सञ्चिन्त्यानुपस्थापनं स्मृत्यनुपस्थानम् । मनोदुःप्रणिधान-स्मृत्यनुपस्थानयोरय भेदः- क्रोधाद्यावेशात्सामायिकौदासीन्येन वाऽचिरकालमवस्थापनं मनसो मनोदुःप्रणिधानम् । चिन्तायाः परिस्पन्दनादैकाग्र्येणानवस्थापन स्मृत्यनुपस्थापनमिति विस्पष्टमन्यत्वम् ।

प्रोषधः पर्वपर्यायवाची । शब्दादिग्रहण प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाणि उपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः . उक्तं च–

उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यत. वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासोऽभिधीयते ॥११॥

होना संभव होता है । इसी प्रकार द्रव्यनिसर्ग्रन्थरूपधारी भव्य भी सामायिकके वशसे अहमिन्द्रोके स्थानका निबासी होता है । फिर सम्यग्दर्शनसे पवित्र आत्मा वाला यदि कोई निर्ग्रन्थलिग धारणकर सामायिकको प्राप्त हो, तो उसका क्या कहना , वह तो मोक्षको ही प्राप्त करेगा ।

सार्वसावद्ययोगके परित्यागवाले इस सामायिकव्रतके पाच अतीचार इस प्रकार है–कायदुःप्रणिधान, वाग्दुःप्रणिधान, मनोदुःप्रणिधान, अनादर और स्मृत्युपस्थापन । खोटे उपयोगको दुःप्रणिधान कहते है। अथवा अन्यथा प्रवृत्तिको दुःप्रणिधान कहते हैं। क्रोधादिकषायरूप खोटे परिणामोके वशसे दुष्टप्रणिधान होता है। शरीरके हस्त-पाद आदि अगोको स्थिर न रखना कायदुःप्रणिधान है। शब्दोके उच्चारणमे और उसके भावरूप अर्थमे अजानकारी और चपलता आदि रखना वाग्दुःप्रणिधान है । सामायिक करनेमे मनका उपयोग न लगाना मनोदुःप्रणिधान हैं । सामायिकमें करने योग्य कार्योके प्रति अपूर्णता रखना, उनमे जिस किसी प्रकार पूरा करनेकी प्रवृत्ति होना, सामायिक करनेमे उत्साह न होना अनादर है । सामायिक करते समय चित्त एकाग्र न रखना, अथवा चित्तमें समाधानता न रखना, अथवा रात-दिन प्रमाद-युक्त रहनेसे बोलते या चिन्तवन करते हुए पाठ या अर्थको भूल जाना स्मृत्यनुपस्थापन कहलाते हैं। मनोदुःप्रणिधान और स्मृत्यनुपस्थापनमे यह भेद-हैं–कि क्रोधादिके आवेशसे अथवा सामायिक करनेमे उदासीनता रखनेसे अल्पकाल सामायिकमें मनका लगना मनोदुःप्रणिधान है । और चिन्ताके विकल्प उठते रहनेसे चित्तका एकाग्रतामे स्थिर न रहना स्मृत्यनुपस्थापन है । इस प्रकार दोनो अतीचारोमे भिन्नता स्पष्ट है ।

प्रोषध शब्द पर्वका पर्यायवाची है । कर्ण आदि पाँचो इन्द्रियाँ अपने शब्द आदि विषयोंके ग्रहणके प्रति उत्सुकता छोड़कर जब आत्मामे आकर निवास करती है तब उसे उपवास कहते है।

कहा भी है–सब इन्द्रियाँ अपने विषयभूत कार्योसे निवृत्त होकर और आत्मामें आकर जब निवास करे, तब वह ज्ञानियोके द्वारा उपवास कहा जाता है ॥ ११ ॥

पर्वणि चतुर्विधाऽऽहारनिवृत्तिः प्रोषधोपवासः। निरारम्भः श्रावक स्वशरीरसंस्कारकारण-स्नानगन्धमाल्याभरणादिभिर्विरहित शुचाववकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाश्रवण श्रावणचिन्तनावहितान्तःकरण सन्नुपवसेत्।

प्रोषधोपवासस्य पञ्चातिचारा भवन्ति-अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमणं अनादरः स्मृत्यनुपस्थान चेति। तत्र जन्तव सन्ति, न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षण चक्षुषोर्व्यापारो मृदुनोपकरनेन यत् क्रियते प्रयोजन तत्प्रमार्जनं अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितायां भुवि मूत्रपुरीषोत्सर्गोऽप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्यार्हदाचार्यादिपूजोपकरणस्य गन्धमाल्यधूपादेरात्मपरिधानाद्यर्थस्य वस्त्रपात्रादेश्चादानमप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादानम्। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्य प्रावरणादेः संस्तरणस्योपक्रमणमप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमणम्। क्षुत्पीडितत्वादावश्यकेष्वनुत्साहोऽनादर। स्मृत्यनुपस्थान व्याख्यातमेव।

उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यत इत्युपभोग अशनपानगन्धमाल्यादिः। सकृद् भुक्त्वा पुनरपि भुज्यत इति परिभोग, आच्छादनप्रावरणालङ्कारशयनासनगृहयानवाहनादि। तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम्। भोगपरिसंख्यान पञ्चविधम्-त्रसघातप्रमाद-बहुवधानिष्टानुपसेव्यविषय-

---

पर्वके दिन चारो प्रकारके आहारका त्याग करना प्रोषधोपवास है। पर्वके दिन श्रावक आरम्भ-रहित होकर और अपने शरीरके सस्कारके कारणभूत स्नान-गन्ध-माला-आभूषण आदि-से रहित होकर किसी पवित्र स्थान पर, साधुओके निवास स्थलपर, चैत्यालयमे, अथवा अपने प्रोषधोपवासके घरमें धर्म-कथाओके सुनने-सुनानेमे और तत्त्व-चिन्तनमे मनको लगाता हुआ उपवास करे।

प्रोषधोपवासके पाच अतीचार इस प्रकार है—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थापन। यहाँ जीव है, अथवा नही, इस प्रकार आँखसे देखनेको प्रत्यवेक्षण कहते है। किसी कोमल बुहारी आदि उपकरणसे स्थानके शुद्ध करने या बुहारनेको प्रमार्जन कहते है। बिना देखी बिना शोधी भूमिपर मल-मूत्रको छोडना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग कहलाता है। अरहंत और आचार्यादि की पूजाके उपकरण, गन्ध, माला, धूप आदि सामग्री और अपने पहनने आदिके वस्त्र-पात्र आदिका बिना देखे बिना शोधे ग्रहण करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है। बिना देखे बिना शोधे ओढने और बिछानेके वस्त्र-बिस्तर चटाई आदिका उपयोग करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसस्तरोपक्रमण है। भूखसे पीडित होनेके कारण उपवासके दिन करने योग्य आवश्यकोमे उत्साह न रखना अनादर है। स्मृत्यनुपस्थापनकी व्याख्या सामायिकके अतीचारोमे पहले कर ही चुके है।

जो प्राप्त करके आत्मसात् कर भोगे जाये ऐसे भोजन, पान, गन्ध, माला आदि पदार्थ उपभोग कहलाते है। एक बार भोग करके फिर भी जो भोगे जावे, ऐसे ओढने बिछानेके वस्त्र, अलकार, शयन, आसन, गृह, यान और वाहन आदि पदार्थ परिभोग कहलाते है। उनका परिमाण करना उपभोगपरिमाण है। भोगपरिसख्यान त्रसघात, प्रमाद, बहुवध, अनिष्ट और अनुपसेव्य विषयके भेदसे पाँच प्रकारका है—त्रसघातके प्रति निवृत्त चित्तवाले श्रावकको मधु और मासका भक्षण सदाके लिये छोड देना चाहिये। मद्यका सेवन मोहित करके कार्य और अकार्यके विवेकको नष्ट कर देता है,अतएव प्रमादको दूर करनेके लिए उस मद्यका त्याग करना चाहिये।

भेदात् । तत्र मधुमांसं सदा परिहर्तव्यं त्रसघातं प्रतिनिवृत्तचेतसा । मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसम्मोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादविरहाय । केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि, आर्द्रश्रृङ्गवेरमूलकहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि । एतेषामुपसेवनेन बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान् । यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्त्तव्यम् । न हि व्रतमभिसन्धिनियमाभावे सतीष्टानामपि चित्रवस्त्रवेषाभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यो यावज्जीवम् । अथ न कालपरिच्छेदेन वस्तुपरिमाणेन च शक्त्यनुरूपं निवर्तनं कार्यम् ।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतस्यातीचाराः पञ्च भवन्ति—सचित्ताहारः सचित्तसम्बन्धाहारः सचित्तसन्मिश्राहारः, अभिषवाहारः दुष्पक्वाहारश्चेति । तत्र चेतनावद्द्रव्यं सचित्तं हरितकायः, तदभ्यवहरणं सचित्ताहारः । सचित्तवतोपश्लिष्टः सचित्तसम्बद्धाहारः । सचित्तेन व्यतिकीर्णः सचित्तसन्मिश्राहारः । सौवीरादिद्रवो वा वृष्यं वाऽभिषवाहारः । सान्तस्तन्दुलभावेनातिक्लेदनेन वा दुष्टः पक्वो दुःपक्वाहारः । सम्बन्ध-मिश्रयोरयं भेदः—संसर्गमात्रं सम्बन्धः, सूक्ष्मजन्तुव्याकीर्णत्वा-

---

केतकी, अर्जुन पुष्प आदि अनेक त्रसजन्तुओंके योनिस्थान हैं, गीला अदरक, मूली, हल्दी, निम्बपुष्प आदि अनन्तकायवाले पदार्थ हैं। इनके सेवन करनेमें बहुत जीवोंका घात है और फल अल्प प्राप्त होता है, इसलिये इनका परिहार करना ही श्रेयस्कर है। सवारीके यान वाहन और आभूषण आदि पदार्थोंमें जितनेसे कार्य चले, उतने रखना ही इष्ट है, उससे अधिक अन्य पदार्थ अनिष्ट हैं, अतः इस व्रतधारीको अनिष्टसे निवृत्ति करना चाहिये। अभिप्रायपूर्वक नियमके अभावमें किसी वस्तुका सेवन नहीं करना व्रत नहीं कहलाता है, अतः अपने लिए इष्ट भी अनेक जातिके वस्त्र, विविध पोशाकें और अनेक प्रकारके आभूषण आदि जो प्रतिदिन सेवन करनेमें नहीं आते हैं, उनका परित्याग भी यावज्जीवनके लिए कर देना चाहिये। यदि यह संभव न हो तो कालकी मर्यादाके साथ वस्तुओंका परिमाण करते हुए शक्तिके अनुसार अनुपसेव्यसे निवृत्ति अवश्य करना चाहिये।

उपभोगपरिभोग परिमाणव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार सचित्तसन्मिश्राहार अभिषवाहार और दुःपक्वाहार। चेतनावाली हरितकायिक वनस्पति आदि द्रव्यको सचित्त कहते हैं। सचित्त वस्तुको खाना सचित्ताहार। सचित्त वस्तुसे लिपटा हुआ या सचित्त पत्र आदि पर रखा हुआ आहार सचित्त सम्बद्धाहार है। सचित्तसे मिश्रित आहार सचित्तसन्मिश्राहार है। सौवीर (सिरका अर्क आसव) आदि तरल और पौष्टिक पदार्थोंको अभिषवाहार कहते हैं। भीतर चावल रूपवाला अर्थात् अर्धपक्व अथवा अधिक पक जानेमें जला हुआ दुष्ट पक्व आहार दुःपक्वाहार कहलाता है। सचित्त सम्बन्ध और सचित्तमिश्रमें यह भेद है कि जिस आहारका सचित्त पत्रादिके साथ केवल संसर्ग हुआ है, वह सचित्त सम्बन्धाहार कहलाता है और जिस आहारमें हरी मिर्च या हरे धनिये आदिके छोटे-छोटे सचित्त टुकड़ोंके सूक्ष्म जीव इस प्रकार मिल गये हों कि जिनका अलग करना शक्य नहीं है, ऐसे आहारको सचित्तसन्मिश्राहार कहते हैं। इनमेंसे प्रारम्भके तीन प्रकारके आहारोंके खाने पर सचित्त वस्तुका उपयोग होता है, चौथे प्रकारके आहार करने पर इन्द्रियोंमें मदकी वृद्धि होती है और पंचम प्रकारके

द्विभागीकर्तुमशक्यः सन्मिश्रः। एतेषामभ्यवहरणे सचित्तोपयोग इन्द्रियमदवृद्धिर्वातादिप्रकोपो वा स्यात्। तत्प्रतीकारविषये पापलेपो भवति। अतिथयश्चैनं परिहरेयुरिति।

संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः। अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः, अनियतकालगमनमित्यर्थः। अतिथये संविभागोऽतिथिसंविभागः। स चतुर्विधः—भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्।

उक्तं हि—प्रतिग्रहोच्चस्थाने च पादक्षालनमर्चनम्।
प्रणामो योगशुद्धिश्च भिक्षाशुद्धिश्च ते नव ॥१२॥

उक्तं हि श्रद्धा शक्तिरलुब्धत्वं भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा।
इति श्रद्धादयः सप्त गुणा स्युर्गृहमेधिनाम् ॥१३॥

एवंविधनवविधपुण्यैः प्रतिपत्तिकुशलेन सप्तगुणैः समन्वितेन मोक्षमार्गमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणाय शुद्धचेतसाऽऽश्चर्यपञ्चकादिकमनिच्छता निरवद्या भिक्षा देया। धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपबृंहणानि दातव्यानि। औषधं ग्लानाय वातपित्तश्लेष्मप्रकोपहताय योग्यमुपयोजनीयम्। प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति।

अतिथिसंविभागव्रतस्य पञ्चातिचारा भवन्ति सचित्तनिक्षेपः सचित्तपिधानं परव्यपदेशः मात्सर्यं कालातिक्रमश्चेति। तत्र सचित्ते पद्मपत्रादौ निधानं सचित्तनिक्षेपः। सचित्तेनावरण

आहार करने पर वात आदि दोषका प्रकोप हो सकता है, और फिर उसके प्रतीकार करनेमे पापका लेप होता है, इसलिये अतिथिजनोंको इस प्रकारके आहारोका परिहार करना चाहिये।

जो सयमका विनाश नही करते हुए अर्थात् सयमकी रक्षा करते हुए सदा विहार करते रहते है, उन्हे अतिथि कहते है। अथवा जिसको तिथि नियत नहीं, अर्थात् अनियत कालमे जो गमन करे, उन्हे अतिथि कहते है। ऐसे अतिथिके लिए आहार आदिका जो विभाग किया जाता है वह अतिथिसविभाग कहलाता है। यह अतिथिसविभाग भिक्षा उपकरण औषधि और प्रतिश्रय (निवास स्थान वसतिका आदि) के भेदसे चार प्रकारका है। अतिथिको भिक्षा (आहार) देनेके विषयमे कहा गया है कि—

साधुको आता हुआ देखकर उसे पडिगाहे, ऊँचे स्थान पर बिठावे, पाद-प्रक्षालन करे, पूजन करे, मन-वचन-काय इन तीनो योगोकी शुद्धि कहे और आहार शुद्धि कहे ॥१२॥

दाताके गुण इस प्रकार कहे गये है—श्रद्धा, शक्ति अलुब्धता, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा ये सात गुण गृहस्थोके होने चाहिये ॥१३॥

इस प्रकार उपर्युक्त नव प्रकारके पुण्योसे नवधा भक्ति करनेमे कुशल और सात गुणोसे सयुक्त श्रावकको मोक्षमार्ग पर चलनेमे उद्यत, और संयम-परायण अतिथिके लिए शुद्ध चित्तसे पचाश्चर्य आदि फलकी इच्छा न करते हुए निर्दोष भिक्षा देना चाहिये। तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको बढानेवाले धर्मोपकरण पीछी शास्त्र कमण्डलु आदि देनी चाहिये। वात-पित्त-कफके प्रकोपसे पीडित रोगी साधुको योग्य औषधि देनी चाहिये। तथा उनके ग्राममे आने पर परम-श्रद्धासे वसतिका आदिका आश्रय प्रदान करना चाहिये।

इस अतिथिसविभागव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार है—सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान परव्यपदेश मात्सर्य और कालातिक्रम। देने योग्य आहारको सचित्त कमलपत्र आदिपर रखना

सचित्तपिधानम् । अयमत्र दाता दीयमानोऽप्ययमस्येति समर्पणं परव्यपदेशः । प्रयच्छतोऽपि सत आदरमन्तरेण दानं मात्सर्यम् । अनगाराणामयोग्ये काले भोजनं कालातिक्रम इति ।

पात्रदानं स्वस्य परस्य चोपकारः । स्वोपकारः पुण्यसञ्चयः परोपकारः सम्यग्ज्ञानादि-वृद्धिः । तच्च दानं पारम्पर्येण मोक्षकारण साक्षात्पुण्यहेतुः । विधिविशेषाद् द्रव्यविशेषाद् दातृ-विशेषात् पात्रविशेषाद् दानविशेषः । तत्र प्रतिग्रहोच्चदेशस्थापनमित्येवमादीनां क्रियाणामादरेण करणं विधिविशेषः । दीयमानेऽन्नादौ प्रतिगृहीतुस्तप.स्वाध्यायपरिवृद्धिकरणत्वाद् द्रव्यविशेषः । प्रतिगृहीतृजनेऽभ्यस्ततया त्यागोऽविषादो दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोग:,कुशलाभिसन्धिता-वसुधारा-सुरप्रशंसादिदृष्टफलानपेक्षिता,निरुपरोधत्वमनिदानत्वंश्रद्धादिगुणसमन्वितत्वमित्येवमादि दातृविशेषः । मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः । ततश्च फलविशषः ।

सत्पात्रोपगतं दानं सुक्षेत्रगतबीजवत् ।
फलाय यदपि स्वल्पं तदनल्पाय कल्पते ॥१४॥

तथा च दानफलविशेषेणोत्तमभोगभूमौ दशविधकल्पवृक्षजनितसुखफलं श्रीषेणोऽन्वभूत् । तथा च दानानुमोदेन रतिवररतिवेगाख्यं कपोतमिथुनं विजयार्धप्रतिबद्धगान्धारविषयसुसीमा-

---

सचित्तनिक्षेप है । आहारको सचित्त पत्रादिसे ढकना सचित्तपिधान है । इस आहारका दाता यह है, और दिया जानेवाला आहार इस अमुक पुरुषका है, ऐसा कहकर आहार देना परव्यपदेश है। आहार देते हुए भी आदरके विना देना मात्सर्य है। साधुओंको अयोग्यकालमें भोजन देनेके लिए खडे होना कालातिक्रम अतीचार है ।

पात्रदान अपना भी उपकारक है और परका भी उपकारक हैं । दान देने पर पुण्यका संचय होना अपना उपकार है और अतिथिके सम्यग्ज्ञान आदिकी वृद्धि होना यह परका उपकार हैं । यह दान परम्परासे मोक्षका कारण है और साक्षात् पुण्यका कारण हैं । विधिकी विशेषतासे, द्रव्यकी विशेषतासे, दाताकी विशेषतासे और पात्रकी विशेषतासे दानमें विशेषता हो जाती है। प्रतिग्रह, उच्चस्थान पर स्थापन इत्यादि पूर्वोक्त क्रियाओंका आदरसे करना विधिकी विशेषता है । भिक्षामें दिया जानेवाला अन्न आदि यदि लेनेवाले पात्रके तप, स्वाध्याय आदिकी वृद्धि करे, तो यह द्रव्यकी विशेषता कहलाती हैं । आहार लेनेवाले साधुको अभ्यस्त रीतिसे दान देना, विषाद नहीं करना, देनेके इच्छुक, देनेवाले और दे रहे दाताके प्रति प्रेमभाव रखना,अपने दानकी कुशलताकी प्रख्याति चाहना, रत्न-सुवर्णादिके वर्षा की, और देवों द्वारा प्रशंसा आदि इहलौकिक फलोंकी अपेक्षा न रखना, किसीको दान देनेसे नही रोकना, निदान नही करना और श्रद्धा आदि गुणोसे युक्त होना इत्यादि दाताकी विशेषता है। साधुमे मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणो-का संयोग होना यह पात्रकी विशेषता है । इन विशेषताओंसे युक्त दानके फलमे भी विशेषता होती हैं ।

जैसे उत्तम क्षेत्रमें बोया गया छोटा-सा भी बीज भारी फलको देता है,इसी प्रकार सत्पात्र-मे दिया गया अल्प भी दान अनल्प (भारी) फलके लिए होता है अर्थात् महान् फल देता हैं ॥१४॥

देखो—श्रीषेण राजाने दानके फलकी विशेषतासे उत्तम भोगभूमिमें दश प्रकारके कल्पवृक्ष-जनित सुखोंका फल भोगा । तथा दानकी अनुमोदनासे रतिवर कपोत और रतिवेगा कपोती नामके कपोत युगलमेंसे विजयार्ध पर्वतपर अवस्थित गान्धारदेशकी सुसीमा नगरीके राजा आदित्य-

नगराधिपतेरादित्यगते रतिवरवरो हिरण्यवर्मनामा नन्दनोऽभूत् । तस्मिन्नेव गिरौ गिरिविषये भोगपुरपतेर्वायुरथस्य रतिवेगवरी प्रभावत्याख्या तनयाऽभूत् । एवं हिरण्यवर्मा प्रभावती च जातिकुलसाधितविद्याप्रभावेन सुखमन्वभूताम् ।

उक्तहिंसादिपञ्चदोषविरहितेन द्यूतमद्यमांसानि परिहर्तव्यानि । तथा चोक्तं महापुराणे-

हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् ।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥१५॥

कितवस्य सदा रागद्वेषमोहवञ्चनानृतानि प्रजायन्ते, अर्थक्षयोऽपि भवति, जनेष्वविश्वसनीयश्च । सप्तव्यसनेषु प्रधानं द्यूतं तस्मात्तत्परिहर्तव्यम् । तथा च-भरतेऽस्मिन् कुलालविषये श्रावस्तिपुराधिपतिः सुकेतुमहाराजो महाभोगी द्यूतव्यसनाभिहतः स्वकीयं कोशं राष्ट्रमन्तःपुरं च हारयित्वा महादुःखाभिभूतोऽभूत् । तथा च युधिष्ठिरोऽपि द्यूतेन राज्याद् भ्रष्टः कष्टां दशामवाप ।

मांसान्निवृत्तिरहिंसाव्रतपरिपालनार्थम् । मांसाशिनं साधवो विनिन्दन्ति, प्रेत्य च दुःखभाग् भवति । तथा चान्यैरुक्तम्-

मां स भक्षयिता प्रेत्य यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥१६॥

गतिके रतिवर कपोतके हिरण्यवर्मा नामका पुत्र हुआ। और उसी ही पर्वतपर गिरिदेशमे भोगपुर के स्वामी वायुरथके वह रतिवेगा कपोती प्रभावती नामकी पुत्री उत्पन्न हुई। पुनः हिरण्यवर्मा और प्रभावतीने जातिविद्या,कुलविद्या और साधित विद्याओके प्रभावसे जीवन भर सुख भोगे।

उपर्युक्त हिंसादि पाँच पापोसे रहित श्रावकको द्यूत, मद्य और मासका भी परिहार करना चाहिए। जैसा कि महापुराणमें कहा है-

बादर भेदस्वरूप स्थूल हिंसासे, असत्यसे, चोरीसे, अब्रह्मसे और परिग्रहसे, तथा द्यूतसे, माससे और मद्यसे विरत होना ये गृहस्थोके आठ मूलगुण है ॥१५॥

द्यूत खेलनेवालेके सदा राग, द्वेष, मोह, कपट और असत्य वचन उत्पन्न होते है, धनका नाश भी होता है, और लोगोमे अविश्वासका पात्र भी बनता है। सातों ही व्यसनोमे द्यूत सबसे प्रधान है, इसलिये उसका परित्याग ही करना चाहिये। देखे-इसी भरतक्षेत्रके कुलाल देशमे श्रावस्ती नगरीका राजा सुकेतु महाराज महान् भोगवाला था, किन्तु द्यूतव्यसनका मारा वह अपने खजानेको, राष्ट्रको और अन्तःपुरको भी हार कर महादुःखोसे पीडित हुआ। तथा युधिष्ठिर महाराज भी द्यूतसे राज्यभ्रष्ट होकर अत्यन्त कष्टदायिनी दशाको प्राप्त हुए।

अहिंसाव्रतकी परिपालनाके लिए माससे निवृत्ति करना चाहिये। मास-भक्षी पुरुषकी साधुजन निन्दा करते है और परलोकमे वह भारी दुःखोको भोगता है। जैसा कि अन्य मतवालोने भी कहा है-

इस लोकमे मै जिसका मास खाता हूँ,परलोकमे वह मुझे खायेगा। अर्थात्। 'मास' ये दो अक्षर है, 'मा' मुझे, 'स' वह खायगा, जिसे कि मै आज खा रहा हूँ, यह 'मास' शब्दकी मासता

मांसं प्राणिशरीरं प्राण्यङ्गस्य च विदारणेन विना।
तन्नाप्यते ततस्तत्त्यक्तं जैनः सदा सर्वैः ॥१७॥

तथा हि-कुम्भनाम्नो नरपतेर्भीमो नाम महानसिकस्तिर्यग्मांसमलभमानो मृतशिशु-मांसं सर्वसंभारेण सन्मिश्रं कृत्वा कुम्भस्य दत्तवान्। ततः प्रभृति सोऽपि नरमांसलोलुप सञ्जातः। तज्ज्ञात्वा प्रकृतयो राज्यस्यायमयोग्य इति तं परिहृतवत्य। तथा च विन्ध्यमलयकुट-जवने किरातमुख्यः खदिरसार समाधिगुप्तमुनिं दृष्ट्वा प्रणत। तस्मै धर्मलाभ इत्युक्ते कोऽसौ धर्मः, कोऽसौ लाभ इत्युक्तपरिप्रश्ने मांसादिनिवृत्तिर्धर्मस्तत्प्राप्तिर्लाभः, तत स्वर्गादिसुख जायत इत्युक्तवतिमुनौ तत्सर्व परिहर्तुमहमशक्त इति वचने तदाकूतमवधार्य त्वया काकमांस पूर्वंकि भक्षित-मुत न वेत्युक्तेऽकृतभक्षणोऽहमिति प्रतिवचने यद्येव तदभक्षणव्रत त्वया गृह्यतामित्युपदेशेन तत्परिगृह्याभिवन्द्य गतवत कालान्तरे तस्यामये समुत्पन्ने सति वैद्येन काकमांसभक्षणादस्य व्याधे-

---

मनीषी जन कहते है ॥१६॥ मास यह प्राणियोंका शरीर-जनित पदार्थ है,क्योकि यहमास प्राणियो-के अंगका विदारण किये बिना नही प्राप्त होता है, अत सभी जैन लोग सदाके लिए उस मासका त्याग करते है ॥१७॥

देखो–राजा कुम्भके भीम नामका एक रसोइया (पाचक) था। किसी दिन उसे तिर्यंच पशुका मांस नही मिला, इसलिये उसने एक मरे हुए बालकका मास पकाया और उसमेंसब मसाले डालकर राजा कुम्भको खानेके लिए दिया। उसे यह वहुत स्वादिष्ट लगा और तबसे वह नर-मास खानेका लोलुपी हो गया। यह बात जानकर वहाँकी प्रजाने 'यह राज्यके अयोग्य है।' ऐसा निश्चयकर उसे राज्यसे निकाल दिया।

इसी प्रकार विन्ध्याचलके मलयकुटज वनमें खदिरसार नामके एक भीलोके मुखियाने समाधिगुप्त मुनिको देखकर उन्हे नमस्कार किया। मुनिराजने उसके लिए 'धर्मलाभ हो' ऐसा आशीर्वाद दिया। इस पर खदिरसारने पूछा कि धर्म क्या है और उसका लाभ क्या है? उसके ऐसा पूछने पर मुनिराजने कहा कि मासादिका त्याग करना धर्म है, और उसकी प्राप्ति होना लाभ कहलाता है। उस धर्मके लाभसे स्वर्गादिके सुख प्राप्त होते हैं। मुनिराजके ऐसा कहने पर खदिरसार ने कहा कि मै सर्व प्रकारके मांसका त्याग करनेके लिए असमर्थ हूँ। उसके यह कहने पर मुनिराजने उसका अभिप्राय जानकर उससे पूछा कि क्या तूने पहले कभी काकका मास खाया है, या नही? इसके उत्तरमे खदिरसारने कहा कि मैने आज तक कभी भी काकका मास नही खाया है। यह सुनकर मुनिराजने कहा कि यदि ऐसा है, तो तू काक-मासके नही खानेका व्रत ग्रहण कर ले। इस प्रकार मुनिराजके उपदेशसे 'काक-मास' के न खानेका व्रत लेखर और मुनि-राजकी वन्दना करके वह चला गया। कालान्तरमे उसके किसी रोगके उत्पन्न होने पर वैद्यने कहा कि काक-मांसके खानेसे इनकी व्याधिका उपशमन होगा। तव खदिरसारने मनमे सोचा कि कण्ठगत भी प्राणोके होने पर मुझे मास-भक्षण नही करना चाहिये। मैने काक-मासके उपयोग न करनेका व्रत तपोधन मुनिराजके समीप ग्रहण किया है। अव (परीक्षाके समय) सकल्पका भग करने पर सत्पुरुषता कैसे रहेगी। इसलिए मै काक-मासका भक्षण नही करूँगा ऐसी उसने प्रतिज्ञा की। उसकी प्रतिज्ञा सुन कर और उससे उसके अभिप्रायको जानकर उसे काक-मास खिलानेके लिए उसका वहनोई सौरपुर नगरका राजा शूरवीर जव अपने नगरसे खदिरसारके

उपशमो भविष्यतीत्युक्ते कण्ठगतेष्वपि प्राणेषु मया न कर्त्तव्यं तत्काकमांसोपयोगविरमणव्रत तपोधनसमीपे परिगृहीत सङ्कल्पभङ्गे कुत सत्पुरुषता? तत काकमांसाभ्यवहरणं न करिष्यामीति प्रतिज्ञाने समुपलक्षिततदीयाकूतस्त मांसमुपयोजयितु सौरपुराधिपतिः शूरवीरनामा तस्य मैथुनः समागच्छन् वनगहनगतवटतरोरध काञ्चिदभिरुदतीं समीक्ष्य 'कथय केन हेतुना रोदिष्येका त्वम्' इत्यनुयुक्ता साऽवोचवह् यक्षी । तव श्यालकं बलवदामयपरिपीडितं मांसभक्षणविरमणव्रतफलेन मे भविष्यन्तमधिपतिं भवानद्य मांसभोजनेन नरकगतिभागिनं कर्तुं प्रारभत इति रोदनमनुभवामीति तयोदितः 'श्रद्धेहि' तदहं न कारयिष्यामीति व्याहृत्य गत्वा तमवलोक्य शरीरामयनिराकरणहेतुस्त्वया मांसोपयोग क्रियतामिति प्रियश्यालकवचनश्रवणेन 'त्वं प्राणसमो बन्धु श्रेय एव मे कथयितुमर्हसि, न हितार्थवचनमेतन्नरकगतिप्रापणहेतुत्वात् । एवं म्रियमाणोऽपि म्रिये, नतु प्रतिज्ञाहानिं करोमि' इति निगदितेस्तदभिप्रायविधारणात् स तस्मै यक्षीनिरूपितवृत्तान्तमकथयत् । सोऽपि तदाकर्णनादहिंसादिश्रावकव्रतमविकलमादाय जीवितान्ते सौधर्मकल्पे देवोऽभवत् । शूरवीरश्च तस्य परलोकक्रियावसान उपगच्छन् यक्षीं निरीक्ष्य कथय स किं मे मैथुनस्तव पतिरजायतेति परिपृष्टा साऽवोचत् - स्वीकृतसमस्तव्रतसग्रहस्यामुख्यव्यन्तरगतिपराङ्मुखस्य सौधर्मकल्पे समुत्पत्तिरासीत् । ततो मदधिपत्वप्रच्युतः प्रकृष्टदिव्यभोगमनुभवतीति हृदयगततद्वचनार्थनिश्चतमतिरहो व्रतप्रभावः समभिलषितफलप्रदानसमर्थ इति समाधिगुप्तमुनिसमीपे परिगृहीतश्रावकव्रतो बभूव । खदिरसारो

यहाँ जा रहा था, तब गहन वनके मध्य वट वृक्षके नीचे किसी रोती हुई स्त्रीको देखकर उसने उससे पूछा कि 'कहो किस कारणसे तुम यहाँ अकेली बैठी रो रही हो?' ऐसा पूछे जानेपर वह बोली—मै एक यक्षी हूँ। तुम्हारा साला जो किसी बलिष्ठ रोगसे पीडित है, वह काक-मास भक्षण न करनेके व्रतके फलसे मर कर मेरा पति होनेवाला है। किन्तु आप आज उसे मास भोजन करा कर नरकगतिका भागी बनानेके लिए जा रहे है, इस दु खसे मै रो रही हूँ। उस यक्षीके ऐसा कहने पर शूरवीरने कहा—तू विश्वास कर, मै उसे मास-भोजन नही कराऊँगा। ऐसा कहकर वह सालेके घर गया और उसे अत्यन्त रुग्ण देखकर बोला कि तुम्हे शरीरके रोग-निराकरण करनेके लिए मासका उपयोग करना चाहिये। इस प्रकार प्रिय साले (बहनोई) के वचन सुनकर खदिरसारने कहा—'तुम मेरे प्राणोके समान बन्धु हो, तुम्हे मेरे कल्याणकी ही बात कहनी चाहिये। मास-भक्षण करनेका कहना यह मेरे हितके लिए नही है,क्योकि ये तो मुझे नरकगतिमे पहुँचानेके कारण हैं। इस प्रकार यदि मुझे मरना पडेगा, तो मर जाऊँगा, किन्तु अपनी प्रतिज्ञाका भग नही करूँगा। इस प्रकार कहनेसे उसका अभिप्राय जानकर शूरवीरने खदिरसारके लिए यक्षीके द्वारा कहा हुआ सर्व वृत्तान्त कहा। वह भी उसे सुनकर श्रावकके अहिंसादि सर्व व्रतोको ग्रहण करके जीवनके अन्तमे मर कर सौधर्म कल्पमे देव उत्पन्न हुआ। पुनः शूरवीर उसकी परलोक सम्बन्धी सब क्रियाके पूर्ण होने पर अपने नगरको वापस जाते हुए यक्षीको देखकर पूछा—कि कहो, क्या मेरा साला तुम्हारा पति हो गया? ऐसा पूछने पर वह बोली—कि उसने मरते समय श्रावकके समस्त व्रत समुदायको स्वीकार कर लिया था, इसलिए वह हीन व्यन्तर देवोंकी गतिसे पराङ्मुख होकर सौधर्म स्वर्गमे उत्पन्न हुआ है और इस प्रकार मेरा पति होनेसे छुटकारा पाकर स्वर्गके उत्तम दिव्य भोगोंका अनुभव कर रहा है। यक्षीका यह कथन सुनकर और हृदयगत उसके वचनका अर्थ निश्चय कर उसने मनमे कहा—अहो व्रतका प्रभाव अभिलषित फलके देनेमे समर्थ है। और फिर समाधिगुप्त मुनिराजके समीप जाकर उसने

द्विसागरोपमकालो दिव्यभोगमनुभूय समनुष्ठितभोगनिदानः स्वजीवितान्ते ततः प्रच्युतः प्रत्यन्तपुरे सुमित्रनामा मित्रराज्ञः पुत्रोऽभूत् । निर्दर्शनतपः कृत्वा व्यन्तर आसीत् । ततः कुणिकनरपतेः श्रीमतीदेव्याश्च श्रेणिकोऽभूदिति । एवं दृष्टादृष्टफलस्याप्यहित मांसम् ।

मद्यपस्य हिताहितविवेकता वाच्यावाच्यता गम्यागम्यता कार्याकार्यं च नास्ति । मद्यमुपसेवितो जनस्य स्मृतिं विनाशयति । विनष्टस्मृतिकः किं न करोति, किं न भाषते, कमुन्मार्गं न गच्छति? सर्वदोषाणामास्पदं तदेव तस्याख्यानम् ।

तथाहि—कश्चिद् ब्राह्मणो गुणी गङ्गास्नानार्थं गच्छन्नटवीप्रदेशे प्रहसनशीलेन मदिरामदोन्मत्तेन कान्तासहितशबरेण स निरुध्य मांसभक्षण-सुरापान-शबरीसंसर्गेषु भवताऽन्यतममङ्गीकरणीयमन्यथा भवन्तं व्यापादयामीत्युक्तः किंकर्तव्यतामूढः प्राण्यङ्गत्वान्मांसभक्षणे पापोपलेपो भवति, शबरीसंसर्गे जातिनाशः संजायते, पिष्टोदकगुडधातक्यादिसमुत्पन्नं निरवद्यं मद्यमिदं पिबामीति पीत्वा विनष्टस्मृतिरगम्यगमनमभक्ष्यभक्षणं च कृतवान् । तथा हि—मद्यपायिनामपराधेन द्वीपायनमुनिकोपाद् भस्मीभूतायां द्वारवत्यां विनष्टा यादवा इति ।

श्रावकके सर्वव्रत ग्रहण कर लिए । खदिरसार दो सागरोपम काल तक दिव्य भोगोका अनुभव कर और आगामी भवमे भी भोगोके पानेका निदान कर अपने जीवनके अन्तमें वहाँसे च्युत हुआ और प्रत्यन्तपुर नामक नगरमे मित्र राजाके सुमित्र नामका पुत्र हुआ । इस भवमे वह सम्यक्त्व-रहित तप करके व्यन्तरदेव हुआ । पुन. वहाँसे च्युत होकर कुणिक नरपति और श्रीमती देवीके श्रेणिक नामका राजा हुआ । इस प्रकार उक्त कथानकोंसे यह स्पष्ट है कि मांस-भक्षणका प्रत्यक्ष फल भी अहितकर है और परोक्ष फल भी अहितकर है । अत. मास-भक्षणका त्याग करना चाहिये।

मदिरा-पान करनेवालेके हित-अहितका कुछ विचार नही रहता, क्या कहना चाहिये, क्या नही? आदि किसी प्रकारका विवेक नही रहता है । मद्य-सेवी मनुष्यकी स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है और जिसकी स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है, वह कौन-सा पाप कार्य नही करता? कौन-से दुर्वचन नही बोलता? और किस कुमार्ग पर नही जाता है? कहनेका तात्पर्य यह है कि वह सभी दोषोंका स्थान बन जाता है । इसका एक कथानक इस प्रकार है—

कोई गुणी ब्राह्मण गंगा-स्नानके लिए जा रहा था । किसी अटवी-प्रदेशमे मदिराके मदसे उन्मत्त, किसी हँसी-मजाक करनेवाले स्त्री-सहित भीलने उसे रोक कर कहा कि मास-भक्षण, मद्य-पान और हमारी भीलनीके साथ संसर्ग, इन तीनोमेंसे कोई एक कार्य आप अगीकार करे, अन्यथा मैं आपको मार डालूगा । ऐसा कहने पर वह ब्राह्मण किंकर्त्तव्य-विमूढ हो गया और विचारने लगा कि प्राणीका अग होनेसे मास-भक्षण करने पर तो पाप लगेगा, भीलनीके साथ ससर्ग करने पर मेरी जातिका नाश हो जायगा । अतएव अन्नकी पीठी जल गुड धातकीके फूल आदिसे उत्पन्न हुआ यह मद्य निर्दोष हैं, अत. इस मद्यको मै पीता हूँ । इस प्रकार विचार कर उसने मद्य पीना स्वीकार किया और पी करके स्मरण-शक्ति नष्ट हो जानेसे उसने अगम्यगमन भी किया अर्थात् भीलनीके साथ ससर्ग भी किया और मास-भक्षण भी किया । और भी देखो—मद्य पीनेवाले यादवोके अपराधसे द्वीपायन मुनिके कोप द्वारा द्वारिकाके भस्म होने पर सब यादव भी नष्ट हो गये ।

मत्तो हिनस्ति सर्वं मिथ्या प्रलपति विवेकविकलतया ।
मातरपि कामयते सावद्यं मद्यमत एव ॥१८॥

सामायिकः सन्ध्यात्रयेऽपि भुवनत्रयस्वामिनं वन्दमानो वक्ष्यमाणव्युत्सर्गतपसि कथितक्रमेण
द्विनिषण्णं यथाजातं द्वादशावर्तमित्यपि ।
चतुर्नति त्रिशुद्धं च कृतिकर्म प्रयोजयत् ॥१९॥

अस्य सामायिकस्यानन्तरोक्तशीलसप्तकान्तर्गतं सामायिकं व्रतं व्रतिकस्य शीलं भवतीति।

प्रोषधोपवास मासे मासे चतुर्ष्वपि पर्व दिनेषु स्वकीयां शक्तिमनिगुह्य प्रोषधनियम मन्यमानो भवतीति व्रतिकस्य यदुक्तं शीलं प्रोषधोपवासस्तदस्य व्रतमिति ।

सचित्तव्रतो दयामूर्त्तिर्मूलफलशाखाकरीरकन्दपुष्पबीजादीनि न भक्षयत्यस्योपभोगपरिभोग परिमाणशीलव्रतातिचारो व्रतं भवतीति ।

रात्रिभक्तव्रता रात्रौ स्त्रीणां भजन रात्रिभक्तं तद् व्रतयति सेवत इति रात्रिव्रतातिचारा रात्रिभक्तव्रत. दिवाब्रह्मचारीत्यर्थः ।

मद्यसे उन्मत्त पुरुष सब जीवोको मारता है, असत्य प्रलाप करता है और विवेक शून्य हो जानेसे अपनी माताके साथ भी काम सेवन करना चाहता है। अतएव मद्य सेवन सर्व पाप कार्यो-से भरा हुआ है ॥१८॥

(इस प्रकार व्रत प्रतिमाका वर्णन किया ।)

अब सामायिक प्रतिमाका वर्णन करते हैं—प्रात. मध्यान्ह और सायंकाल, इन तीनो ही सन्ध्याओमे तीन भुवनके स्वामी जिनेन्द्रदेवकी वन्दना करते हुए आगे कहे जानेवाले व्युत्सर्ग तपमे कथितक्रमसे सामायिक करना चाहिए ।

वह क्रम इस प्रकार है—सामायिक खडे होकर या बैठकर इन दो आसनसे करे। उस समय यथाजात रूप रहे, बारह आवर्त्त करे और चार नमस्कार करे। इस प्रकार सामायिकका कृतिकर्म मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक करे ॥१९॥

सात शीलोके अन्तर्गत सामायिक व्रत प्रतिमाधारीके शील (अभ्यास) रूप है और वही तीसरी सामायिक प्रतिमाधारीके व्रत रूपमे है।

प्रत्येक मासमे जो चार पर्व होते है, उन चारो ही पर्व दिनोमे अपनी शक्तिको नही छिपा-कर प्रोषधोपवास करनेका नियम करना चौथी प्रोषधप्रतिमा है। व्रत प्रतिमाधारीके यह प्रोष-धोपवास शीलरूपमे है और इस प्रतिमावालेके वह व्रतरूपमे है ।

पाँचवी सचित्तप्रतिमाका धारी दयामूर्त्ति होता है, अत. वह मूल, फल, शाक, शाखा, कैर, कन्द, पुष्प और बीजादिक सचित्त वस्तुओको नही खाता है । उपभोगपरिभोगपरिमाण शीलव्रत-के जो सचित्ताहार आदि अतीचार है, उनका त्याग ही इस प्रतिमावालेके व्रतरूप हो जाता है ।

छठी प्रतिमाका नाम रात्रिभक्तिव्रत हैं। रात्रिमे ही स्त्रियोके सेवन करनेका व्रत लेना और दिनमे ब्रह्मचारी रहनेका नियम करना रात्रि भक्तव्रत प्रतिमा है। इस प्रतिमाका धारक रात्रिभोजनव्रतके अतीचारोका त्यागी होता है।

ब्रह्मचारी शुक्रशोणितबीजं रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रसप्तधातुमनेकस्रोतोबिल मूत्रपुरीषभाजनं कृमिकुलाकुलं विविधव्याधिविधुरमपायप्रायं कृमिभस्मविष्ठापर्यवसानमङ्गमित्यनङ्गाद् विरतो भवति।

आरम्भविनिवृत्तोऽसिमषिकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भात् प्राणातिपातहेतोर्विरतो भवति।

परिग्रहविनिवृत्तः क्रोधादिकषायाणामार्त्तरौद्रयोर्हिंसादिपञ्चपापानां भयस्य च जन्मभूमि. दूरोत्सातधर्म्यशुक्लः परिग्रह इति मत्वा दशविधबाह्यपरिग्रहाद्विनिवृत्त. स्वच्छः सन्तोषपरो भवति।

अनुमतिविनिवृत्त आहारादीनामारम्भाणामनुमननाद्विनिवृत्तो भवति।

उद्दिष्टविनिवृत्तः स्वोद्दिष्टपिण्डोपधिशयनवसनादेर्विरतः सन्नेकशाटकधरो भिक्षाशन. पाणिपात्रपुटेनोपविश्य भोजी रात्रिप्रतिमादितप समुद्यत आतापनादियोगरहितो भवति।

अणुव्रति-महाव्रतिनौ समितियुक्तौ सयमिनौ भवतः। समिर्ति विना विरतो। तथा चोक्तं वर्गणाखण्डस्य बन्धनाधिकारे–

सातवी ब्रह्मचर्य प्रतिमा हैं। इस प्रतिमाका धारक ब्रह्मचारी पुरुष इस शरीरको माता-पिताके रज-वीर्यसे उत्पन्न हुआ, रस, रक्त, मास, मेदा, हड्डी, मज्जा और वीर्य इन सात धातुओसे भरा हुआ अनेक छिद्ररूप बिलों वाला, मल-मूत्रका भाजन, कृमि-कुलसे व्याप्त, विविध रोगोंसे ग्रस्त, विनश्वर अपायमय और अन्तमें कीडे पडकर सडने वाला अथवा जलाया जानेपर भस्मभावको प्राप्त होनेवाला अथवा किसीके द्वारा खाये जानेपर विष्टारूप परिणत होनेवाला देखकर काम सेवनसे विरत होता हैं।

आठवी आरम्भ त्यागप्रतिमा है। इस प्रतिमा वाला जीवघातके कारणभूत असि, मषी, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भोसे विरत हो जाता हैं।

नववी परिग्रहत्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमाका धारक श्रावक परिग्रहको क्रोधादि कपायोके उत्पन्न करने की, आर्त्त-रौद्रध्यानकी हिंसादि पञ्च पापोंकी और जन्मभूमि समझ कर तथा उसे धर्म-शुक्लध्यानसे दूर करनेवाला मानकर बाहरी दस प्रकारके परिग्रहसे निवृत्त होता है और हृदयमे स्वच्छ सन्तोषको धारण करता है।

दसवी अनुमतित्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमाका धारक श्रावक आहार बनाने आदि कार्योके आरम्भोंकी अनुमोदनासे भी निवृत्त हो जाता हैं।

ग्यारहवी उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमाका धारक श्रावक अपने निमित्त बने हुए भोजन, उपकरण,शय्या और वस्त्र आदिसे भी विरत होकर एकमात्र शाटक (धोती या चादर) को धारण करता है, भिक्षावृत्तिसे पाणिपुट-द्वारा बैठकर भोजन करता हैं, रात्रिप्रतिमा आदि तपोके करनेमे उद्यत रहता है और दिनमे आतापन योग आदिसे रहित रहता है।

समिति युक्त अणुव्रती और महाव्रती पुरुष क्रमश. देशसयमी और सकलसयमी कहलाते है और समितिके विना वे देशविरत और सर्वविरत कहलाते है। जैसा कि षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके वन्धन अधिकारमे कहा हैं–

"संजम-विरईण को भेदो? समिदिमहव्वयाणुव्वयाइ संजमो। समिदीहिं विणा महव्व-याणुव्वयाइ विरदी" इति।

आद्यास्तु षट्जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥२०॥

असिमषिकृषिवाणिज्यादिभिर्गृहस्थानां हिंसासम्भवेऽपि पक्षचर्यासाधकत्वैर्हिंसाऽभावः क्रियते। तत्राहिंसापरिणामत्वं पक्षः। धर्मार्थं देवतार्थं मन्त्रसिद्धयर्थमौषधार्थमाहारार्थं स्वभोगार्थं च गृहमेधिनो हिंसां न कुर्वन्ति। हिंसासम्भवे प्रायश्चित्तविधिना विशुद्धः सन् परिग्रहपरित्यागकरणे सति स्वगृहं धर्मं च वश्याय समर्प्य यावद् गृहं परित्यजति तावदस्य चर्या भवति। सकलगुण-सम्पूर्णस्य शरीरकम्पनोच्छ्वासनोन्मीलनविधिं परिहरमाणस्य लोकाग्रमनसः शरीरपरित्यागः साधकत्वम्। एवं पक्षादिभिस्त्रिभिर्हिंसाद्युपचितं पापमपगतं भवति।

जैनागमे चत्वार आश्रमाः। उक्तं चोपासकाध्ययने—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमाङ्गाद् विनिःसृताः ॥२१॥

तत्र ब्रह्मचारिणः पञ्चविधाः उपनयावलम्बादीक्षागूढनैष्ठिकभेदेन। तत्रोपनयब्रह्मचारिणो गणधरसूत्रधारिणः समभ्यस्तागमाः गृहधर्मानुष्ठायिनो भवन्ति। अवलम्बब्रह्मचारिणः क्षुल्लक-

---

"शंका—संयम और विरतमे क्या भेद है? समाधान-समिति-सहित महाव्रत और अणुव्रत संयम कहलाते है और समितियोके विना वे महाव्रत और अणुव्रत विरति या व्रत कहे जाते है।"

ऊपर कही गई ग्यारह प्रतिमाओसे जैनियोमे आदिके छह प्रतिमाधारी जघन्य श्रावक, उसके पश्चात् तीन प्रतिमाधारी मध्यम श्रावक और अन्तिम शेष दोनो प्रतिमाधारी उत्तम श्रावक जिनशासनमे कहे गये है ॥२०॥

असि मषि कृषि वाणिज्य आदिके द्वारा गृहस्थोके हिंसा संभव होनेपर भी पक्ष चर्या और साधकपनेके द्वारा हिंसाका अभाव कर दिया जाता है। सदा अहिंसारूप परिणाम रखनेको पक्ष कहते है। गृहस्थ श्रावक धर्मके लिए, देवताके लिए मंत्र-सिद्धिके लिए, औषधिके लिए, आहारके लिए और अपने भोगके लिए हिंसा नही करते है। कदाचित् हिंसा संभव होनेपर प्रायश्चित्त वधि-से विशुद्ध होता हुआ परिग्रहका परित्याग करनेके समय अपने घरको और धर्मको अपने वशमे उत्पन्न हुए पुत्र आदिको समर्पण कर जब तक घरका परित्याग करता है, तब तक उसके व्रतों-का परिपालन करना चर्या कही जाती है। इस प्रकार जीवनपर्यन्त व्रत पालन कर,अन्त समयमे सकलगुणोसे परिपूर्ण होकर वह जब शरीर-कम्पन, ऊर्ध्वश्वास संचलन और नेत्रोन्मीलन विधि-का परिहार कर लोकाग्रनिवासी सिद्धोमे मनको लगाते हुए शरीरका परित्याग करता है, तब उसके साधकपना कहलाता है। इस प्रकार पक्षादि इन तीन धर्मकार्योके द्वारा हिंसादिसे संचित उसका पाप दूर हो जाता है।

जैन आगममे चार आश्रम वर्णित है। जैसा कि उपासकाध्ययनमे कहा है—ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और भिक्षुक। जैनियोके ये चार आश्रम सातवे उपासकाध्ययन अंगसे निकले है॥२१॥

इनमेसे ब्रह्मचारी पाँच प्रकार के है—उपनय, अवलम्ब, अदीक्ष, गूढ और नैष्ठिक। जो गणधर सूत्र (यज्ञोपवीत) को धारण कर और समस्त आगमोंका अभ्यास कर गृहस्थ धर्मका

रूपेणाऽऽगममभ्यस्य परिगृहीतगृहावासा भवन्ति। अदीक्षाब्रह्मचारिण: वेषमन्तरेणाभ्यस्तागमा गृहधर्मनिरता भवन्ति। गूढब्रह्मचारिण: कुमारश्रमणा: सन्त: स्वीकृतागमाभ्यासा बन्धुभिर्दुःसह-परीषहैरात्मना नृपतिभिर्वा निरस्तपरमेश्वररूपा गृहवासरता भवन्ति। नैष्ठिकब्रह्मचारिण: समाधिगतशिखालक्षितशिरोलिङ्गा गणधरसूत्रोपलक्षितोरोलिङ्गा. शुक्लरक्तवसनखण्डकौपीन-लक्षितकटीलिङ्गा: स्नातका भिक्षावृत्तयो देवतार्चनपरा भवन्ति।

गृहस्थस्येज्या वार्ता दत्ति स्वाध्याय: सयम: तप इत्यार्यषट् कर्माणि भवन्ति। तत्रार्हत्पूजे-ज्या, सा च नित्यमहश्चतुर्मुख कल्पवृक्षोऽष्टान्हिक ऐन्द्रध्वज इति। तत्र नित्यमहो नित्य यथा-शक्ति जिनगृहेभ्यो निजगृहाद् गन्धपुष्पाक्षतादिनिवेदनं चैत्यचैत्यालयं कृत्वा ग्रामक्षेत्रादीनां शासनदानं मुनिजनपूजनं च भवति। चतुर्मुखं मुकुटबद्धै: क्रियमाणपूजा, सैव महामह सर्वतोभद्र इति। कल्पवृक्षोऽर्थिन. प्रार्थितार्थै: सन्तर्प्य चक्रवर्त्तिभि: क्रियमाणो मह:। अष्टान्हिक प्रतीतम्। ऐन्द्रध्वज इन्द्रादिभि. क्रियमाण:। बलि स्नपनं सन्ध्यात्रयेऽपि जगत्त्रयस्वामिन. पूजाभिषेककरणम्। पुनरप्येषां विकल्पा अन्येऽपि पूजाविशेषा: सन्तीति।

अनुष्ठान करते है, वे उपनय-ब्रह्मचारी हैं। जो क्षुल्लकरूप धारण करके आगमोका अभ्यास कर गृहवासको स्वीकार करते है, वे अवलम्बब्रह्मचारी है। जो ब्रह्मचारीके वेषको नही धारण करके और आगमोंका अभ्यास करके गृहस्थधर्ममे निरत होते है, वे अदीक्षाब्रह्मचारी है। जो कुमारा-वस्थामे ही श्रमण (मुनि) वेष स्वीकार कर और समस्त आगमोका अभ्यास कर, बन्धुजनोके द्वारा आग्रह किये जाने पर दु सह परीषहोके द्वारा पीडित होने पर, अपने आप अथवा राजाओके द्वारा कहे जानेपर परमेश्वररूप दिगम्बर वेप छोड कर गृहवासमे रत होते है, वे गूढब्रह्मचारी है। जो समाधिगत शिखा (चोटी शिरोलिंगको धारण करते है, गणधरसूत्ररूप उरोलिंगको धारण करते है, भिक्षावृत्तिसे आहार करते है और देवपूजामे सदा तत्पर रहते हैं ऐसे स्नातक नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते है।

इज्या (पूजा), वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप ये गृहस्थोके छह आर्य कर्म करने योग्य होते हैं। अरहतदेवकी पूजा करना इज्या है। वह पाँच प्रकार की है–नित्यमह, चतुर्मुख मह, कल्पवृक्षमह, अष्टान्हिकमह और इन्द्रध्वजमह। नित्य अपनी शक्तिके अनुसार अपने घरसे गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि ले जाकर जिनभवनोके लिए चढाना, जिनदेवकी पूजन करना प्रतिमा और चैत्यालय बनवा करके खेत आदिका राज्यशासनके नियमानुसार दान देना और मुनिजनोका पूजन करना नित्यमह है। मुकुटवद्ध राजाओके द्वारा जो पूजा की जाती है, वह चतुर्मुखमह है। उसे ही महामह और सर्वतोभद्रमह भी कहते है। याचकजनोंकी याचनाको द्रव्य द्वारा सन्तुष्ट कर चक्रवर्ती सम्राटोके द्वारा की जानेवाली पूजा कल्पवृक्षमह कहलाती है। अष्टान्हिक पर्वमे की जानेवाली पूजा अष्टान्हिकमह हैं, जो सुप्रसिद्ध है। इन्द्र आदिके द्वारा की जानेवाली पूजा ऐन्द्रध्वज कहलाती है। इनके अतिरिक्त नैवेद्य समर्पण करना, अभिपेक करना, तीनो सन्ध्याओमे तीन जगत्के स्वामी जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना, अभिपेक करना आदि भी पूजन के ही अन्तर्गत है। उक्त पाँचों प्रकारकी पूजाओके अन्य भी भेद है जो सव पूजा विशेष ही हैं।

वार्ताऽसिमषिकृषिवाणिज्यादिशिल्पकर्मभिर्विशुद्धवृत्त्याऽर्थोपार्जनमिति । दत्तिः दयापात्रसमसकलभेदाच्चतुर्विधा । तत्र दयादत्तिरनुकम्पयाऽनुग्राह्येभ्यः प्राणिभ्यस्त्रिशुद्धिभिरभयदानम् । पात्रदत्तिर्महातपोधनेभ्यः प्रतिग्रहार्चनादिपूर्वकं निरवद्याहारदानं ज्ञानसंयमोपकरणादिदानं च । समदत्तिः स्वसमक्रियाय मित्राय निस्तारकोत्तमाय कन्याभूमिसुवर्णहस्त्यश्वरत्नादिदानम् । स्वसमानाभावे मध्यमपात्रस्यापि दानम् । सकलदत्तिरात्मीयस्वसन्ततिस्थापनार्थं पुत्राय गोत्रजाय वा धर्मं धनं समर्प्य प्रदानमन्वयदत्तिश्च सैव । स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मरणं च । संयमः पञ्चाणुव्रतप्रवर्तनम् । तपोऽनशनादिद्वादशविधानुष्ठानम् ।

इत्यार्यषट्कर्मनिरता गृहस्था द्विविधा भवन्ति–जातिक्षत्रियास्तीर्थक्षत्रियाश्चेति । तत्र जातिः क्षत्रियब्राह्मणवैश्यशूद्रभेदाच्चतुर्विधा । तीर्थक्षत्रियाः स्वजीवनविकल्पादनेकधा भिद्यन्ते ।

वानप्रस्था अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्रखण्डधारिणो निरतिशयतपःसमुद्यता भवन्ति ।

भिक्षवो जिनरूपधारिणस्ते बहुधा भवन्ति–अनगारा यतयो मुनय ऋषयश्चेति । तत्रानगाराः सामान्यसाधव उच्यन्ते । यतय उपशम-क्षपकश्रेण्यारूढा भण्यन्ते । मुनयोऽवधिमनःपर्यय-

---

असि मषि कृषि वाणिज्य आदिसे और शिल्प कार्मोंके द्वारा विशुद्धवृत्तिसे धनोपार्जन करनेको वार्ता कहते है । दत्ति दानको कहते है । वह दया पात्र सम और सकलके भेदसे चार प्रकार की है । अनुकम्पासे अनुग्रह करनेके योग्य प्राणियोके लिए मन वचन कायकी शुद्धिपुर्वक अभयदान देना दयादत्ति है । महातपस्वी साधुओको प्रतिग्रह-पूजादिपूर्वक निर्दोष आहार देना और ज्ञान-सयमके उपकरण आदिका देना पात्रदत्ति है । अपने ही समान क्रियाओका आचरण करनेवाले मित्रके लिए उत्तम निस्तारक गृहस्थाचार्यके लिए कन्या भूमि सुवर्ण हस्ती अश्व रथ और रत्न आदिका दान देना समदत्ति है । अपने समान व्यक्तिके अभावमे मध्यम पात्र श्रावकके लिए भी उक्त वस्तुओका देना भी समदत्ति है । अपनी सन्तान-परम्परा चलानेके लिए पुत्रको या गोत्रज पुरुषको अपने द्वारा किये जानेवाले धर्मकार्य और धनको समर्पण करके सर्वस्व प्रदान करना सकलदत्ति है । इसे ही अन्वयदत्ति कहते है । तत्त्वज्ञानके पठन, पाठन और स्मरण करनेको स्वाध्याय कहते है । पॉच अणुव्रतोका पालन करना सयम है । और अनशनादिक बारह प्रकारके तपोंका आचरण करना तप कहलाता है ।

इन उपर्युक्त छह प्रकारके आर्यकर्मोमे निरत गृहस्थ दो प्रकारके होते है–जातिक्षत्रिय और तीर्थक्षत्रिय । क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रके भेदसे जातिक्षत्रिय चार प्रकार के है । तीर्थक्षत्रिय अपनी आजीविकाके भेदोसे अनेक प्रकारके होते है ।

जिन्होने जिनरूप दिगम्बर वेष ग्रहण नही किया है ऐसे वस्त्रखण्डके धारक और निरतिशय तप करनेमे सदा उद्यत पुरुष वानप्रस्थ कहलाते है ।

जिनरूपको धारण करनेवाले भिक्षु कहलाते है । वे अनेक प्रकारके होते है । यथा–अनगार यति मुनि और ऋषि । सामान्य साधुओको अनगार कहते है । उपशम श्रेणी और क्षपकश्रेणी पर आरूढ और कर्मोकी उपशमना एव क्षपणा करनेमे उद्यत साधु यति कहे जाते है ।

केवलज्ञानिनश्च कथ्यन्ते। ऋषय ऋद्धिप्राप्तास्ते चतुर्विधाः—राजब्रह्मदेवपरमभेदात्। तत्र राजर्षयो विक्रियाऽक्षीणर्द्धिप्राप्ता भवन्ति। ब्रह्मर्षयो बुद्धयौषधिऋद्धियुक्ताः कीर्त्यन्ते। देवर्षयो गगनगमनर्द्धिसंयुक्ताः कथ्यन्ते। परमर्षयः केवलज्ञानिनो निगद्यन्ते। अपि च—

देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनि. स्यादृषिः प्रोद्गतर्द्धि-
रारूढश्रेणियुग्मोऽजनि यतिरनगारोऽपर· साधुरुक्त.।
राजा ब्रह्मा च देवः परम इति ऋषिर्विक्रियाऽक्षीणशक्ति-
प्राप्तो बुद्धयौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ॥२२॥

उक्तैरुपासकैर्मारणान्तिकी सल्लेखना प्रीत्या सेव्या। स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानामुच्छ्वासनि.श्वासस्य च कदलीघात-स्वपाकच्युतिकारणवशात्संक्षयो मरणम्। तच्च द्विविधम्—नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति। तत्र नित्यमरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः। तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्तिरनन्तरोपश्लिष्टपूर्वभवविगमनम्। अत्र पुनस्तद्भवमरणं ग्राह्यम्। मरणान्तः प्रयोजनमस्या इति मारणान्तिकी। बाह्यस्य कायस्याभ्यन्तराणां कषायाणां तत्कारणह्रापनया क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना। उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि निःप्रतिक्रियायां धर्मार्थं तनुत्यजन

अवधिज्ञानी, मन.पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी मुनि कहे जाते है। ऋद्धि-प्राप्त साधु ऋषि कहलाते है। वे चार प्रकारके होते हैं—राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। विक्रिया और अक्षीण ऋद्धिके धारक साधु राजर्षि कहलाते हैं। बुद्धि और औषधिऋद्धिसे युक्त साधु ब्रह्मर्षि कहलाते है। आकाशगमनऋद्धिसे संयुक्त साधु देवर्षि कहे जाते है और केवलज्ञानी परमर्षि कहे जाते हैं। जैसा कि कहा है—

देशप्रत्यक्षके धारक और केवलज्ञान-धारक मुनि कहे जाते हैं। जिन्हे ऋद्धि प्रकट हुई हैं, वे ऋषि कहे गये हैं। दोनों श्रेणियों पर आरूढ साधु यति है और शेष सर्व साधु अनगार कहे गये है। ऋद्धि धारक साधु भी चार प्रकार के है—विक्रिया और अक्षीणशक्तिको प्राप्त साधु राजर्षि हैं, बुद्धि और औषधिऋद्धिके स्वामी ब्रह्मर्षि है। आकाशमे गमन-कुशल साधु देवर्षि है और विश्ववेत्ता सर्वज्ञ परमर्षि जानना चाहिये ॥२२॥

उपर्युक्त सभी प्रकारके उपासकों (श्रावकों) को मारणान्तिक सल्लेखनाका प्रीतिपूर्वक सेवन करना चाहिए। कदलीघातसे, अथवा अपना विपाककाल पूर्ण हो जानेके कारणवशसे अपने परिणामोके द्वारा पूर्व भवमें उपार्जित आयुकर्मका, स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका, मनोबल, वचन बल, कायबलका और श्वासोच्छ्वासका क्षय होना मरण हैं। वह दो प्रकारका हैं—नित्यमरण और तद्भवमरण। प्रतिसमय अपने आयुकर्मके निषेकोकी निर्वृत्ति रूप निर्जरा होनेको नित्यमरण कहते है। नवीन भवकी प्राप्ति और उसके अनन्तर पूर्ववर्ती भवके विनाशको तद्भवमरण कहते हैं। यहाँ पर तद्भवमरण का ग्रहण करना चाहिए। मरणका अन्तकाल जिसका प्रयोजन है ऐसी सल्लेखनाको मारणान्तिकी कहते है। बाहरी शरीरका और भीतरी कषायोका क्रमसे उनके कारणोको घटाते हुए सम्यक् प्रकारसे क्षीण करना सल्लेखना कहलाती है। नि.प्रतीकार उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष पडने पर और बुढापा आ जाने पर धर्मकी रक्षाके लिए शरीरका त्याग करना सल्लेखना है। इसलिए आवश्यकादि करते समय नित्य प्रार्थना किये जानेवाले समाधिमरणके अवसर पर यथाशक्ति प्रयत्न करके और उस समय शीत-उष्ण आदि परीषहोंके प्राप्त होने पर

सल्लेखना। ततो नित्यप्रार्थितसमाधिमरणं यथाशक्ति प्रयत्नं कृत्वा शीतोष्णाद्युपश्लेषे सति तपः-स्थो यथाशक्ति प्रयत्नं कृत्वा शीतोष्णाद्युपश्लेषे सति तपःस्थो यथा शीतोष्णादौ हर्षविषादं न करोति, तथा सल्लेखनां कुर्वाणः शीतोष्णादौ हर्षविषादमकृत्वा स्नेहं सङ्गवैरादिकं परिग्रहं च परित्यज्य विशुद्धचित्तः स्वजनपरिजने क्षन्तव्यं नि.शल्यं च प्रियवचनैर्विधाय विगतमानकषाय. कृतकारितानुमतमेन' सर्वमालोच्य गुरौ महाव्रतमामरणमारोप्यारतिदैन्यविषादभयकालुष्यादिक-मपहाय सत्त्वोत्साहमुदीर्य श्रुतामृतेन मन. प्रसाद्य क्रमेणाहारं परिहाय ततः स्निग्धपानं तदनन्तरं खरपानं तदनु चोपवासं कृत्वा गुरोः पादमूले पञ्चनमस्कारमुच्चारयन् पञ्चपरमेष्ठिनां गुणान् स्मरन् सर्वयत्नेन तनुं त्यजेत्। इयं सल्लेखना यतस्यापि।

अथ सल्लेखनाया मरणविशेषोत्पादनसमर्थाया असंक्लिष्टचित्तेनारभ्यायाः, पञ्चातीचारा भवन्ति–जीविताशंसा मरणाशंसा मित्रानुरागः सुखानुबन्धः निदानं चेति। तत्र शरीरमिदमवश्य जलबुद्बुदवदनित्यमस्यावस्थानं 'कथं स्यादित्यादरो जीविताशंसा। आशंसाऽऽकांक्षणमभिलाष इत्यनर्थान्तरम् रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसंक्लेशस्य मरणं प्रति चित्तप्रणिधानं मरणाशंसा। व्यसने सहायत्वमुत्सवे संभ्रम इत्येवमादि सुकृतं बाल्ये सहपांशुक्रीडनमित्येवमादीनामनुस्मरण

जैसे तपश्चर्यामे स्थित साधु शीत-उष्णादि की बाधा होनेपर हर्ष-विषाद नही करता हैं, उसी प्रकार सल्लेखनाको करता हुआ श्रावक भी हर्ष-विषाद न करके, सर्वपरिजनोसे स्नेह, शत्रुओसे वैर, साथियोकी सगति और परिग्रहका परित्याग कर विशुद्ध चित्त होकर स्वजन और परिजनो-को नि शल्य होकर प्रिय वचनोसे क्षमा करे और क्षमा माँगे। पुन. मानकषायसे रहित होकर कृत कारित और अनुमोदनासे अपने सर्व पापोकी गुरुके समीप आलोचना करके मरणपर्यन्तके लिए महाव्रतोको धारण करके अरति, दीनता, विषाद, भय और कालुष्य आदिको दूर कर बल और उत्साहको प्रकट कर श्रुतवचनामृतसे मनको प्रसन्न करके क्रमसे आहारको घटा-कर स्निग्ध पान प्रारभ करे। तदनन्तर स्निग्ध पानको घटाकर खरपान प्रारभ करे और तत्पश्चात् खरपानको भी घटाकर और यथाशक्ति कुछ दिन तक उपवास करके गुरुके पादमूलमे रहते हुए पच नमस्कार मत्रका उच्चारण करते और पच परमेष्ठियोके गुणोका स्मरण करते हुए पूर्ण सावधानीके साथ शरीरका त्याग करे। इस सल्लेखनाका धारण साधुके भी होता है।

मरण विशेषके उत्पादनमे समर्थ और सक्लेश-रहित चित्तमे आरभ की गई इस सल्लेखना-के पाँच अतीचार इस प्रकार है–जीविताशसा, मरणाशसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान। यह शरीर अवश्य ही हेय है, जलके बबूलेके समान अनित्य हैं, यह जानते हुए भी इसका अवस्थान कैसे हो, इस प्रकार जीनेके प्रति आदर रखना जीविताशसा है। आशसा, आकाक्षा और अभिलाष, ये सब एकार्थक नाम है। रोग या उपद्रवके आ जानेसे आकुलित होकर जीवनमे सक्लेश प्राप्त होने पर मरणके प्रति चित्तको लगाना मरणाशंसा हैं। जो व्यसन (कष्ट) के समय सहायक और उत्सवके समय हर्ष मनानेवाले, तथा अन्य अनेक प्रकार सुकृतके करनेवाले, बचपनमे धूलि पर साथ खेलनेवाले इत्यादि नाना प्रकारके मित्रोका स्मरण करना मित्रानुराग है? मैंने अपने जीवनमे ऐसे भोजन किये, ऐसी शय्याओ पर शयन किया, ऐसे खेले, इत्यादि

मित्रानुराग.। एवं मया भुक्तं शयितं क्रीडितमित्येवादि प्रीतिविशेषं प्रति स्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः। विषयसुखोत्कर्षाभिलाषभोगाकांक्षतया नियतं चित्तं दीयते तस्मिन् तेनेति वा निदानमिति।

इति श्रीमच्चामुण्डरायप्रणीते चारित्रसारे सागारधर्मः समाप्त·।

पूर्व कालीन प्रीति विषयक बातोंको बार-बार याद करना सुखानुबन्ध है। उत्कृष्ट विषयसुख पानेकी अभिलाषा और भोगोंकी आकांक्षासे जिसके लिए या जिसमे नियत रूपसे चित्तको दिया जाय अर्थात् लगाया जाय, उसे, निदान कहते है।

इस प्रकार श्रीमच्चामुण्डराय विरचित चारित्रसारमे सागार
धर्मका वर्णन समाप्त हुआ।

अथामितगतिकृतः श्रावकाचारः

नापाकृतानि प्रभवन्ति भूयस्तमांसि यैर्दृष्टिहराणि सद्यः।
ते शाश्वतीमस्तमयानभिज्ञा जिनेन्दवो वो वितरन्तु लक्ष्मीम् ॥ १
विभिद्य मर्माष्टकशृङ्खलां ये गुणाष्टकैश्वर्यमुपेत्य पूतम्।
प्राप्तास्त्रिलोकाग्रशिखामणित्वं भवन्तु सिद्धा मम सिद्धये ते ॥ २
य चारयन्ते चरितं विचित्रं स्वयं चरन्तो जनमर्चनीयाः।
आचार्यवर्या विचरन्तु ते मे प्रमोदमाने हृदयारविन्दे ॥ ३
येषां तपः श्रीरनघा शरीरे विवेचिका चेतसि तत्त्वबुद्धिः।
सरस्वती तिष्ठति वक्त्रपद्मे पुनन्तु तेऽध्यापकपुङ्गवा वः ॥ ४
कषाय सेनां प्रतिबन्धिनीं ये निहत्य धीराः शमशीलशस्त्रैः।
सिद्धिं विबाधां लघु साधयन्ते ते साधवो मे वितरन्तु सिद्धिम् ॥ ५
विभूषितोऽन्हाय यया शरीरी विमुक्तिकान्तां विदधाति वश्याम्।
सा दर्शनज्ञानचरित्रभूषा चित्ते मदीये स्थिरतामुपैतु ॥ ६
मातेव या शास्ति हितानि पुंसो रज क्षिपन्ती ददती सुखानि।
समस्तशास्त्रार्थविचारदक्षा सरस्वती सा तनुतां मतिं ते ॥ ७
शास्त्राम्बुधेः पारमियर्ति येषां निषेवमाणाः पदपद्मयुग्मम्।
गुणैः पवित्रैर्गुरवो गरिष्ठां कुर्वन्तु निष्ठां मम ते वरिष्ठाः ॥ ८

जिन श्रीजिनचन्द्रके द्वारा यथार्थ दृष्टिके हरण करनेवाले मोहरूप महान्धकारशीघ्र ही दूर किये जाते है अतः वे पुन अपना प्रभाव जगत् पर जमानेमे समर्थ नही होते है और जिन्होंने अज्ञानी पर-वादियोको सदाके लिए अस्त कर दिया है, ऐसे श्री जिनेन्द्रचन्द्र हम और आप सबको शाश्वती मोक्षलक्ष्मी प्रदान करे ॥१॥ जो ज्ञानावरणादि अष्टकर्मरूप साकलका विभेदन कर और सम्यक्त्वादि अष्टगुणरूप पवित्र ऐश्वर्यको पाकर तीन लोकके चूडामणिपनेको प्राप्त हुए है ऐसे वे सिद्धभगवान् मेरे लिए सिद्धिके निमित्त हों ॥२॥ जो नाना प्रकारके चारित्रका स्वय आचरण करते हुए जगत्को आचरण कराते है, ऐसे पूजनीय आचार्यवर्य मेरे प्रमुदित हृदय-कमलमे सदा विचरण करे ॥३॥ जिनके शरीरमे पाप-रहित निर्मल तपोलक्ष्मी सुशोभित है,जिनके चित्तमे भेद-विज्ञान करानेवाली विवेचक तत्त्वबुद्धि विद्यमान है और जितके मुख-कमलमे सरस्वती विराजमान है, ऐसे श्रेष्ठ उपाध्याय परमेष्ठी हम और आपको पवित्र करे ॥४॥ जो धीर वीर सिद्धिकी रोकनेवाली क्रोधादि कषायरूपी सेनाको शम और शीलरूप शस्त्रोके द्वारा विनष्ट करबाधा-रहित सिद्धिको अल्प कालमे शीघ्र ही सिद्ध कर लेते है, वे साधुजन मुझे सिद्धि देवे ॥५॥ जिस रत्नत्रय रूप विभूषासे विभूषित जीव मुक्तिरूपी कान्ताको शीघ्र अपने वशमे कर लेता है,वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप विभूषा मेरे चित्तमे स्थिरताको प्राप्त हो ॥६॥ जो माताके समान पुरुषोंको हित-की शिक्षा देती है, उनकी कर्मरूप रजको दूर करती है और सुखोको प्रदान करती है, वह सर्व-शास्त्रोके अर्थ-विचार करनेमे प्रवीण सरस्वती मेरी बुद्धिको विस्तृत करे ॥७॥ जिनके चरण-कमल-

उपासकाचारसारं सङ्क्षेपतः शास्त्रमहं करिष्ये।
शक्नोति कर्तुं श्रुतकेवलिभ्यो न व्यासतोऽन्यो हि कदाचनापि॥ ९
कुदुष्टभावाः कृतिमस्तदोषां निसर्गतो यद्यपि दूषयन्ते।
तथापि कुर्वन्ति महानुभावास्त्याज्या न यूकाभयतो हि शाटी॥ १०
ससारकान्तारमपास्तपारं बम्भ्रम्यमाणो लभते शरीरी।
कृच्छ्रेण नृत्वं सुखसस्यबीजं प्ररूढदुष्कर्मशमेन नूनम्॥ ११
नरेषु चक्री त्रिदशेषु वज्री मृगेषु सिह. प्रशमो व्रतेषु।
मतो महीभृत्सु सुवर्णशैलो भवेषु मानुष्यभव प्रधानम्॥ १२
त्रिवर्गसारः सुखरत्नखानिर्धर्मप्रधान भवतीह येन।
सम्यक्त्वशुद्धाविह मुक्तिलाभ. प्रधानता तेन मताऽस्य सद्भि.॥ १३
यथा मणिर्ग्रावगणेष्वनर्घो तथा कृतज्ञो गुणवत्सु लभ्य.।
न सारवत्त्वं न तथाङ्गिवर्गः सुखेन मानुष्यभवो भवेषु॥ १४
शमेन नीतिर्विनयेन विद्या शौंचेन कीर्तिस्तपसा सपर्या।
बिना नरत्वेन न धर्मसिद्धि. प्रजायते जातु जनस्य पथ्या॥ १५

युगलकी सेवा करनेवाला मनुष्य शास्त्रसमुद्रके पारको प्राप्त होता है और जो पवित्र गुणोंसे गरिष्ठ है,ऐसे श्रेष्ठ गुरुजन मेरी धर्म-निष्ठाको सुदृढ करे ॥८॥ मैं अमितगति उपासकोंके आचार-विचार करनेवाले इस साररूप श्रावकाचार-शास्त्रको सक्षेपसे निरूपण करूँगा, क्योकि विस्तारसे तो निरूपण करनेके लिए श्रुतकेवलियोसे भिन्न अन्य कोई भी मनुष्य कदाचित् भी समर्थ नहीं है ॥९॥ यद्यपि क्षुद्र स्वभाववाले मनुष्य निर्दोष कृतिको स्वभावसे ही दोष लगाते हैं, तथापि महान् पुरुष अपने कार्यको करते ही हैं, क्योंकि यूका (जू) के भयसे साडी त्यागने योग्य नहीं होती है ॥१०॥

सारसे रहित इस असार संसार-कान्तारमे परिभ्रमण करता हुआ यह प्राणी अति उग्र दुष्कर्मोंके शमनसे प्रादुर्भूत सुखरूप शालिधान्यके बीज समान इस मनुष्यपनाको महान् कष्टसे पाता है ॥११॥ जिस प्रकार मनुष्योंमे चक्रधारी चक्रवर्ती, देवोंमे वज्रधारी इन्द्र, मृगोमें सिंह, व्रतोंमे प्रशमभाव और पर्वतोमे सुवर्णशैल सुमेरु प्रधान माना जाता है, उसी प्रकार देव-नारकादिके सभी भवोंमें मनुष्य-भव प्रधान माना गया है ॥१२॥ जैसे सम्यक्त्वकी शुद्धि होने पर धर्मका लाभ होता है, उसी प्रकार धर्म-अर्थ-कामरूप त्रिवर्गका सार और सुखरूप रत्नकी खानिवाला यह सर्व पुरुषार्थोमे प्रधान धर्म पुरुषार्थ इस मनुष्य भवमे ही संभव है, अतएव सन्त जनोके द्वारा इस नर भवकी प्रधानता मानी गई है ॥१३॥ जैसे पाषाणके समूहमे अनमोल मणि पाना सुलभ नही और जैसे गुणवन्तोंमे कृतज्ञ मनुष्य मिलना सुलभ नही हैं, उसी प्रकार सभी भवोंमे सारवान् सुखकी अपेक्षा मनुष्य भवका पाना प्राणियोंको सुलभ नही है ॥१४॥ जैसे शमभावके विना नीति नहीं रह सकती, विनयके विना विद्या प्राप्त नही हो सकती, निर्लोभपनाके विना कीर्त्ति नही हो सकती और तपके विना पूजा प्राप्त नही हो सकती हैं, उसी प्रकार मनुष्यपनाके विना जीवके हितम्प

अन्नेन गात्रं नयनेन वक्त्रं नयेन राज्य लवणेन भोज्यम् ।
धर्मेण हीनं बत जीवितव्य न राजते चन्द्रमसा निशीथम् ॥ १६
सस्येन देश पयसाऽब्जखण्डः शौर्येण शस्त्री विटपीफलेन ।
धर्मेण शोभामुपयाति मर्त्यो मदेन दन्ती तुरगो जवेन ॥ १७
मानुष्यमासाद्य सुकृच्छ्रलभ्यं नयो विशुद्धिर्विदधाति धर्मम् ।
अनन्यलभ्यं स सुवर्णराशिं दारिद्र्यदग्धो विजहाति लब्ध्वा ॥ १८
अनादरं यो वितनोति धर्मे कल्याणमालाफलकल्पवृक्षे ।
चिन्तामणिं हस्तगत दुरापं मन्ये स मुग्धस्तृणवज्जहाति ॥ १९
दुःखानि सर्वाणि निहन्तुकामैर्निष्पीडितप्राणिगणानि धर्मः ।
उपासनीयो विधिना विधिज्ञैरग्निर्हिमानीव दुरुत्तराणि ॥ २०
सस्यानि बीजं ससिलानि मेघ घृतानि दुग्ध कुसुमानि वृक्षम् ।
काङ्क्षत्यहान्येष विना दिनेश धर्मं विना काङ्क्षति य. सुखानि ॥ २१
आयान्ति लक्ष्म्यः स्वयमेव रुच्य धर्म दधान पुरुषं पवित्रा ।
प्रसूनगन्धस्थगिताखिलाश सरोजिनीखण्डमिवालिमालाः ॥ २२
निषेवते यो विषय विहीनं धर्मं निराकृत्य सुखाभिलाषी ।
पीयूषमत्यस्य स कालकूटं सुदुर्जर खादति जीवितार्थी ॥ २३

धर्मकी सिद्धि भी कदापि नही हो सकती है ॥१५॥ जैसे अन्नसे हीन शरीर, नयनसेहीन मुख, नीतिसे हीन राज्य, नमकसे हीन भोजन, और चन्द्रमासे हीन रात्रि नही सोहै, वैसे ही धर्मसे हीन जीवन भी नही सोहता है ॥१६॥ जैसे धान्यसे देश, जलसे कमल-वन, शौर्यसे शस्त्रधारी, फलसे वृक्ष, मदसे गज और वेगवान् गतिसे अश्व शोभाको प्राप्त होता है, वैसे ही धर्मसे मनुष्य शोभाको प्राप्त होता है ॥१७॥ जो बुद्धि-विहीन मनुष्य ऐसे अतिकष्टसे प्राप्त हुए मनुष्यभवको पाकरके भी धर्मको धारण नही करता है, वह उस दारिद्र्यपीडित पुरुषके समान मूर्ख है, जो अन्यको नही प्राप्त होनेवाली सुवर्णराशिको पाकरके भी उसे छोड देता है ॥१८॥ जो पुरुष कल्याणोकी परम्परारूप फलोको देनेवाले कल्पवृक्षके समान धर्ममे अनादर करता है, वह मूढ अति दुर्लभ हस्तगत चिन्तामणिको तृणके समान छोडता है, ऐसा मै मानता हूँ ॥१९॥ जिन्होने सर्व प्राणियोको पीडित कर रक्खा है, ऐसे समस्त दु खोको नष्ट करनेकी इच्छावाले विधि-ज्ञाता पुरुषोको चाहिए कि वे विधि पूर्वक धर्मकी उसी प्रकारसे उपासना करे, जिस प्रकारसे कि अति भयंकर हिम-पातसे पीडित पुरुष अग्निकी उपासना करते है ॥२०॥ जो पुरुष धर्म-सेवनके विना सुखोको चाहता है, वह उस पुरुषके समान मूर्ख है, जो कि बीजके बिना धान्यको चाहे, मेघके विना जलको चाहे, दुग्धके विना घृतके चाहे, वृक्षके बिना पुष्पको चाहे और सूर्यके बिना दिनको चाहता है ॥२१॥

धर्मको धारण करनेवाले भव्य पुरुषके समीप पवित्र लक्ष्मियाँ स्वय ही आती है, जिस प्रकार कि कुसुमोकी सुगन्धिसे सर्व दिशाओको व्याप्त करनेवाले कमलिनी-वनके समीप भौरोंकी पंक्ति स्वयमेव आती है ॥२२॥ जो हीन पुरुष धर्मका निराकरण कर और सुखाभिलाषी होकर

भोगोपभोगाय करोति दीनो दिवानिशं कर्म यथा सुयत्नः ।
तथा विधत्ते यदि धर्ममेकं क्षणं तदानीं किमु नैति सौख्यम् ।। २४
ये योजयन्ते विषयोपभोगे मानुष्यमासाद्य दुरापमज्ञाः ।
निष्कृत्य कर्पूरवनं स्फुटं ते कुर्वन्ति वाटीं विषपादपानाम् ।। २५
गृण्हन्ति धर्मं विषयाकुला ये न भङ्गुरे मङ्क्षु मनुष्यभावे ।
प्रदह्यमाने भवनेऽग्निना ते निस्सारयन्ते न धनानि नूनम् ।। २६
सर्वेऽपि भावाः सुखकारिणोऽमी भवन्ति धर्मेण विना न पुंसाम् ।
तिष्ठन्ति वृक्षाः फलपुष्पयुक्ताः कालं कियन्तं खलु मूलहीनाः ।। २७
मोक्षावसानस्य सुखस्य पात्रं भवन्ति भव्या भवभीरवो ये ।
भजन्ति भक्त्या जिननाथदृष्टं धर्मं निराच्छादमदूषणं ये ।। २८
लक्ष्मीं विधातुं सकलां समर्थं सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनम् ।
परीक्ष्य गृण्हन्ति विचारदक्षाः सुवर्णवद्वञ्चनभीतचित्ताः ।। २९
स्वर्गापवर्गामलसौख्यखानिं धर्मं गृहीतुं परमो विवेकः ।
सदा विधेयो हृदये पटिष्ठैर्बुधस्तु तं रत्नमिवापदोषम् ।। ३०

इन्द्रिय-विषयोका सेवन करता हैं, वह अमृतको छोडकर और जीवनका अभिलाषी हो करके अति भयंकर कालकूट विषको खाता है ।।२३।। यह दीन पुरुष भोगोपभोगकी प्राप्तिके लिए दिन-रात जैसा प्रयत्न करता है, वैसा प्रयत्न यदि एक क्षणभर भी धर्मके लिए करे,तो क्या वह तभी सुखको नही प्राप्त होगा? अर्थात् अवश्य ही सुखको प्राप्त होगा ।।२४।। जो अज्ञानी जन इस दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पाकर उसे विषयोके उपभोगमें लगाते है, वे मानो कर्पूरके वनको काट कर निश्चयसे विष-वृक्षोंकी वाटिकाको लगाते हैं ।।२५।। जो इस क्षण-भंगुरमनुष्य भवमे विषयाकुलित होकर धर्मको ग्रहण नही करते हैं, वे निश्चयसे अग्नि-द्वारा भवनके जलने पर भी उसमें रखे हुए अपने धनको नही निकालते हैं, ऐसा मै मानता हूँ ।।२६।। धर्मके विना मनुष्यको ये सभी सुखकारी पदार्थ कभी भी प्राप्त नही हो सकते हैं, क्योकि मूल-जडसे हीन फल- युक्त भी वृक्ष कितने काल तक ठहर सकते है ।।२७।। जो भव-भीरु भव्य पुरुष विषय-स्वादसे रहित, निर्दोष जिननाथोपदिष्ट धर्मको भक्तिसे सेवन करते है, वे मोक्ष-पर्यन्त सुखके भाजन होते हैं । २८।। जैसे ठगाये जानेके भयसे चिन्तित मनुष्य भलीभाँतिसे परीक्षा करके सुवर्णको खरीदते हैं, उसी प्रकार विचार-दक्ष पुरुष भी सर्व प्रकारकी लक्ष्मीको देनेमें समर्थ, विश्वकल्याणकारी अति दुर्लभ इस धर्मकी भी परीक्षा करके ही उसे ग्रहण करते है ।।२९।। जिस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य निर्दोष रत्न-के खरीदनेमें परम विवेक रखते है, उसी प्रकार चतुरज्ञानी जनोको भी स्वर्ग और मोक्षके निर्मल सुखोंकी खानिरूप धर्मको ग्रहण करनेके लिए परमविवेक हृदयमें सदा धारण करना चाहिये ।।३०।। संसारके सभी शब्दमात्रसे 'धर्म, धर्म' ऐसा कहते है, किन्तु उसके वास्तविक स्वरूपका विचार नहीं करते है । जैसे 'दुग्ध' नामकी शब्द-समता होनेपर भी आक-दुग्ध और गो-दुग्धमें महान् अन्तर है, वैसे ही 'धर्म' इस नामकी समानता होने पर भी उसकी पूजनीयता नाना भेदोंसे भेदर्गे

तं शब्दमात्रेण वदन्ति धर्मं विश्वेऽपि लोका न विचारयन्ति ।
न शब्दसाम्येऽपि विचित्रभेदैर्विभेद्यते क्षीरमिवार्चनीयम् ॥ ३१
हिंसानृतस्तेयपरांगसंगग्रन्थग्रहादत्तदुरन्तदुःखा ।
धर्मेषु येष्वत्र भवन्ति निन्द्यास्ते दूरतो बुद्धिमतां विवर्ज्याः ॥ ३२
निहन्यते यत्र शरीरिवर्गो निपीयते मद्यमुपास्यते स्त्री ।
बोभुज्यते मांसमनर्थमूलं धर्मस्य वार्ताऽपि न तत्र नूनम् ॥
वधादयः कल्मषहेतवो ये न सेवितास्ते वितरन्ति धर्मम् ।
न कोद्रवाः क्वापि वसुन्धरायां निवीयमाना जनयन्ति शालिम् ॥ ३४
हिंसापरस्त्रीमधुमांससेवां कुर्वन्ति धर्माय विबुद्धयो ये ।
पीयूषलाभाय विवर्द्धयन्ते विषद्रुमांस्ते विविधैरुपायैः ॥ ३५
यैर्मद्यमांसाङ्गिवधादयोऽमी निर्मानियुक्ताः कुशलाय शास्त्रैः ।
आकर्णनीयानि न तानि दक्षैः शत्रूदितानीव वचांसि जातु ॥ ३६
पठन्ति शृण्वन्ति वदन्ति भक्त्या स्तुवन्ति रक्षन्ति नयन्ति बुद्धिम् ।
ये तानि शास्त्राण्यनुमन्यमानास्ते यान्ति सद्योऽपि कुयोनिमग्नाः ॥ ३७
धर्मं वदन्तेऽङ्गिवधादयोऽमी विधीयमाना यदि नाम तथ्यम् ।
सांसारिकाचारविधौ प्रवृत्ता न पापिनः केऽपि तदा भवन्ति ॥ ३८
रागादिदोषाकुलमानसैर्ये ग्रन्थाः क्रियन्ते विषयेषु लोलैः ।
कार्याः प्रमाणं न विचक्षणैस्ते जिघृक्षुभिर्धर्ममगर्हणीयम् ॥ ३९

ाप्त होती है। भावार्थ—वीतराग-प्ररूपित धर्म और सरागियो द्वारा निरूपित धर्ममे महान् अन्तर ॥३१॥ जिन-जिन धर्मोमे अत्यन्त दुःखोके देनेवाले हिंसा, असत्य, स्तेय, स्त्री-संगम और परिग्रह-प ग्रह विद्यमान है, वे सभी धर्म निन्द्य हैं, अतएव बुद्धिमान् लोगोको उनका दूरसे ही परित्याग रना चाहिए ॥३२॥ जिस धर्ममे प्राणिवर्ग मारा जाता है, मद्य-पान किया जाता है, स्त्री-सेवन ाता है और सर्व अनर्थोका मूल मास खाया जाता है, वहाँ पर निश्चयसे धर्मकी मात्रा भी नही , ऐसा जानना चाहिए ॥३३॥ जो हिसादि कार्य पापके हेतु है, वे सेवन करने पर भी धर्मको त्पन्न नही करते है। कभी कही पर पृथिवीमे बोये गये कोदो शालिधान्यको उत्पन्न नही करते ॥३४॥ जो निर्बुद्धि जन धर्म प्राप्त करनेके लिए जीवहिंसा करते है, परस्त्री, मधु और मासका वन करते है, वे लोग अमृत पानेके लिए विविध उपायोसे विषवृक्षोको ही बढाते है ॥३५॥ ान शास्त्रोके द्वारा मद्य-मासका सेवन और हिसादि कार्य कुशल-मंगलके लिए प्रतिपादन किये ये है, वे शास्त्र शत्रुओके द्वारा कहे गये वचनोके समान कदाचित् भी चतुर जनोको नही सुनना ाहिए ॥३६॥ जो अज्ञजन उक्त प्रकारके पाप-वर्धक शास्त्रोंको पढते है, सुनते है, भक्तिसे प्रवचन रते है, स्तवन करते है, उनकी रक्ष एव वृद्धि करते है और अनुमोदना करते है, वे सभी मूर्ख ोग कुयोनिको प्राप्त होते है ॥३७। यदि वे अनुष्ठान किये गये जीवहिंसादि कार्य यथार्थमें र्मको देते है, तब तो फिर सासारिक आचारके विधानमें प्रवृत्त कोई भी पुरुष पापी नही ठहरते ॥३८॥ रागादि दोषोंसे जिनका मन आकुलित है और इन्द्रिय-विषयोके जो लोलुपी है, ऐसे

ये द्वेषरागश्रमलोभमोहप्रमादनिद्रामदखेदहीनाः ।
विज्ञातनिःशेषपदार्थतत्त्वास्तेषां प्रमाणं वचनं विधेयम् ॥ ४०
रागादिदोषा न भवन्ति येषां न सन्त्यसत्यानि वचांसि तेषाम् ।
हेतुव्यपाये नहि जायमानं विलोक्यते किञ्चन कार्यमार्यैः ॥ ४१
विना गुरुभ्यो गुणनीरदेभ्यो जानाति धर्मं न विचक्षणोऽपि ।
निरीक्षते कुत्र पदार्थजातं विना प्रकाशं शुभलोचनोऽपि ॥ ४२
ये ज्ञानिनश्चारुचरित्रभाजो ग्राह्यो गुरूणां वचनेन तेषाम् ।
सन्देहमत्यस्य बुधेन धर्मो विकल्पनीयं वचनं परेषाम् ॥ ४३
भीतैर्यथा वञ्चनतः सुवर्णं प्रताडनच्छेदनतापघर्षैः ।
तथा तपःसंयमशीलशौचैः परीक्षणीयो गुरुरुद्धबोधैः ॥ ४४
संसारमुद्भूतकषायदोषं विलङ्घयन्ते गुरुणा विना ये ।
विभीमनक्रादिगणं ध्रुवं ते वार्धिं तितीर्षन्ति विना तरण्डम् ॥ ४५
येषां प्रसादेन मनःकरीन्द्रः क्षणेन वश्यो भवतीह दुष्टः ।
भजन्ति तान्ये गणिनो न भक्त्या तेभ्यः कृतघ्ना न परे भवन्ति ॥ ४६
कृतोपकारो गुरुणा मनुष्यः प्रपद्यते धर्मपरायणत्वम् ।
चामीकरःश्मेव सुवर्णभावं सुवर्णकारेण विशारदेन ॥ ४७

लोगोके द्वारा जो शास्त्र बनाये जाते है, उन्हे निर्दोष धर्म धारण करनेके इच्छुक विचक्षण जन धर्मके विषयमे प्रमाण न माने ॥३९॥ किन्तु जो द्वेष राग के आश्रयभूत लोभ, मोह, प्रमाद निद्रा, मद, खेदसे रहित है और जिन्होने सर्व पदार्थोंके रहस्यभूत तत्त्वोको जान लिया है, ऐसे वीतरागी सर्वज्ञदेवके वचन प्रमाण मानना चाहिये ॥४०॥ जिनके रागादिक दोष नही होते है, उनके वचन असत्य नही होते है, क्योंकि कारणके अभावमे कोई भी कार्य आर्य पुरुषोके द्वारा नही देखा जाता है। कहनेका भाव यह है कि असत्य बोलनेका कारण राग-द्वेषादिक हैं। जिन पुरुषोके उनका अभाव है, उनके वचन सदा सत्य ही होते है ॥४१॥ गुणोंके समुद्र ऐसे गुरुओके विना विचक्षण पुरुष धर्मको नही जान पाता है। क्या सुन्दर नेत्रवाला भी पुरुष विना प्रकाशके कही किसी भी पदार्थ-समूहको देख सकता है ॥४२॥ जो ज्ञानवान् और सुन्दर पवित्र-चरित्रके धारक हैं, ऐसे गुरुओके वचनसे समझदार पुरुषको सन्देह छोडकर धर्म ग्रहण करना चाहिये। जिनका ज्ञान और चारित्र समुज्ज्वल नही है, ऐसे सामान्य लोगोके वचन सन्देहके योग्य होते हैं ॥४३॥ जिस प्रकार ठगाये जानेके भयसे लोग ताडन, तापन, छेदन और घर्षणके द्वारा सुवर्णकी परीक्षा करते हैं, उसी प्रकार 'गुरु' इस शब्दसे कहे जानेवाले व्यक्तियोकी तप, सयम, शील और ज्ञान इन चार बातोसे परीक्षा करनी चाहिये ॥४४॥ जो गुरुके विना ही कषायरूप दोपके उत्पन्न करनेवाले ससारको लांघना चाहते है, वे निश्चयसे मगर-मच्छादिसे भरे हुए अति भयकर समुद्रको नावके विना ही तिरना चाहते है ॥४५॥ जिनके प्रसादसे इस लोकमे अति दुष्ट मनरूपी मदोन्मत गजेन्द्र क्षणमात्रमे वश हो जाता है, ऐसे गुणी गुरुजनोकी जो लोग भक्तिसे सेवा-उपासना नही करते हैं, उनसे अतिरिक्त अन्य कोई कृतघ्नी नही हैं ॥४६॥

गुरुके द्वारा जिसका उपकार किया गया है, ऐसा मनुष्य धर्ममे निपुणताको प्राप्त हो जाता

निवर्तमान व्रततो गुरुभ्यो न शक्यते वारयितुं परेण ।
व्यलीकवादी व्यवहारकार्ये साक्षीकृतैरेव नियम्यते हि ॥ ४८
दुग्धेन धेनुः कुसुमेन वल्ली शीलेन भार्या सरसी जलेन ।
न सूरिणा भाति विना व्रतस्थः शमेन विद्या नगरी जनेन ॥ ४९
विधीयते सूरिवरेण सारो धर्मो मनुष्ये वचनैरुदारैः ।
मेघेन देशे सलिलैः फलाढ्यो निरस्ततापैरिव सस्यवर्गः ॥ ५०
लब्धे पदे सम्महनीयवृत्तीर्गुरोरनुष्ठाय विनीतचेताः ।
पापस्य भव्यो विदधाति नाश व्याधेरिव व्याधिनिषूदनस्य ॥ ५१
सर्वोपकार निरपेक्षचित्तः करोति यो धर्मधिया यतीशः ।
स्वकार्यनिष्ठैरुपमीयतेऽसौ कथ महात्मा खलु बन्धुलोकैः ॥ ५२
निषेव्यमाणानि वचांसि येषां जीवस्य कुर्वन्त्यजरामरत्वम् ।
नाराधनीया गुरवः कथं न ते विभीरुणा ससृतिराक्षसीतः ॥ ५३
मातापितृज्ञातिनराधिपाद्या जीवस्य कुर्वन्त्युपकारजातम् ।
यत्सूरिदत्तामलधर्मनुन्नास्तेनैष तेभ्योऽतिशयेन पूज्य ॥ ५४
निषेवमाणो गुरुपादपद्म त्यक्तान्यकर्मा न करोति धर्मम् ।
प्ररूढससारवनक्षयाग्नि निरर्थकं जन्म नरस्य तस्य ॥ ५५

है जैसे कि चतुर सुनारके द्वारा सोना सुवर्णताको प्राप्त हो जाता है ।।४७।। व्रतसे पराङमुख होनेवाला मनुष्य गुरुके सिवाय अन्य पुरुषसे निवारण नही किया जा सकता । व्यावहारिक कार्योमे झूठ बोलनेवाला मनुष्य साक्षात्कारी मनुष्योके द्वारा ही नियत्रित किया जाता है । ।।४८।। जैसे दुग्धसे गाय, कुसुमसे वेलि, शीलसे नारी, जलसे सरोवर, प्रशम-भावसे विद्या और मनुष्योंसे नगरी शोभाको प्राप्त होती है उसी प्रकार व्रती पुरुष गुरुसे शोभा पाता है । विना गुरुके व्रती जन भी शोभा नही पाते ।।४९.। उत्तम आचार्य उदार वचनोसे मनुष्यमे सारभूत धर्मका विधान करता है । जैसे कि मेघ फलयुक्त देशमे सन्ताप-को दूर करनेवाले जलसे धान्य-समूहको उपजाता है ।।५०।। जैसे रोगी वैद्यका उपदेश ग्रहण कर उसके द्वारा बतलाई गई औषधिको ग्रहण कर अपनी व्याधिका नाश करता है, उसी प्रकार विनम्रचित्त भव्य पूज्य आचारवाले गुरुसे उपदेशको प्राप्त कर पापका नाश करता है ।।५१।। जो आचार्य निरपेक्ष चित्त होकर धर्मबुद्धिसे सर्व प्राणियोका उपकार करता है, वह महात्मा अपने कार्य-साधनमे तत्पर बन्धुजनोसे कैसे उपमाको प्राप्त हो सकता है । कहने-का भाव यह है कि स्वार्थी बन्धुओसे परमार्थी गुरुकी कोई तुलना नहीं की जा सकती है ।।५२।। जिनके सेवन किये गये वचन जीवको अजर अमर बना देते है, ऐसे गुरुजन ससृतिरूपी राक्षसीसे भयभीत पुरुषके द्वारा कैसे आराधनाके योग्य नही है ।।५३।। लोकमे जो माता-पिता, जातीय बन्धु और राजादिक जीव नाना उपकारोको करते है, वे आचार्य-प्रदत्त निर्मल धर्मसे प्रेरित हो करके ही करते है, इसलिए गुरुजन माता-पितादिसे भी अधिक अतिशयके साथ पूज्य है । ५४।। जो पुरुष अन्य सर्व कार्य छोडकर गुरुके चरणकमलकी सेवा करता हुआ पति प्रौढ ससाररूप वनका नाश करनेके लिए अग्निके समान धर्मका सेवन नही करता है,उसका मनुष्य जन्म निरर्थक है ।।५५।। इस

यं सूरयो धर्मधिया दधन्ते यं बान्धवाः स्वार्थधिया जनानाम् ।
अर्थं तयोरन्तरमत्र वेद्यं सताऽणुमेर्वोरिव जायमानम् ।। ५६
लक्ष्मीं करीन्द्रश्रवणास्थिरां च तृणाग्रतोयस्थितिजीवितव्यम् ।
विनश्वरं यौवनकं च दृष्ट्वा धर्मं न कुर्वन्ति कथं महान्तः ।। ५७
अनश्वरीं यो विदधाति लक्ष्मीं विधूय सर्वा विपदं क्षणेन ।
कथ स धर्मः क्रियते न सद्भिस्त्याज्येन देहेन मलायनेन ।। ८५
पिण्ड ददाना न नियोजयन्ति कलेवरं भृत्यमिवात्मनीने ।
कार्ये सदा ये चरितोपकारे ते वञ्चयन्ति स्वयमेव मूढाः ।। ५९
गृहाङ्गजापुत्रकलत्रमित्रस्वस्वामिभृत्यादिपदार्थवर्गे ।
विहाय धर्मं न शरीरभाजामिहास्ति किञ्चित् सहगामि पथ्यम् ।। ६०
घातिक्षयोद्भूतविशुद्धबोधप्रकाशविद्योतितसर्वतत्त्वाः ।
भवन्ति धर्मेण जिनेन्द्रचन्द्रास्त्रिलोकनाथार्चितपादपद्माः ।। ६१
आराध्यमानस्त्रिदशैरनेकैर्विराजते स्वैः प्रतिबिम्बकैर्वा ।
धर्मप्रसादेन निलिम्पराजः सुराङ्गनावक्त्रसरोजभृङ्गः ।। ६२
द्वात्रिंशदुर्वीशसहस्रमूर्धप्रसूनमालापिहिताङ्घ्रियुग्म ।
धर्मेण राज्यं विदधाति चक्री विडम्बमानस्त्रिदशेन लीलाम् ।। ६३

संसारमे मनुष्योंको जो अर्थ आचार्य धर्मबुद्धिसे देते है और बन्धुजन स्वार्थबुद्धिसे देते है, उन दोनोंका अन्तर सज्जनोंको अणु और सुमेरुके समान जानना चाहिये ।।५६।।

लक्ष्मीको गजराजके कानके समान चचल देखकर, तथा जीवनको तृणके अग्र भाग पर स्थित जल-बिन्दुके समान क्षण-भंगुर देखकर और जवानीको अतिशीघ्र ढलती हुई देखकर महान् पुरुष धर्मको कैसे नही आचरण करते है, अर्थात् ससारकी क्षण-भगुर दशाको देखकर वे धर्मको धारण करते ही है ।।५७।। जो धर्म सभी विपदाओंको क्षणभरमें दूर कर अविनश्वर लक्ष्मीको देता है, वह धर्म सज्जनोके द्वारा इस त्याज्य और मलके घर शरीरसे कैसे नही धारण किया जायगा? अर्थात् सज्जन ऐसे क्षण-भगुर शरीरसे अवश्य ही धर्मका पालन करेंगे ।।५८।। जो पुरुष सेवकके समान इस शरीरको भोजन देते हुए भी अपने कल्याणरूप उपकारी कार्यमें नही लगाते है, वे मूढ जन स्वयमेव ही ठगाये जाते है ।।५९।। इस लोकमे एकमात्र हितकारी धर्मके सिवाय गृह, पुत्री, पुत्र, कलत्र, मित्र, धन, स्वामी, सेवक आदि समस्त पदार्थोंमेंसे कोई भी प्राणियोके साथ परभवमे जानेवाला नही हैं ।।६०।। घातिया कर्मोके क्षयसे प्रकट हुए निर्मल केवलज्ञानरूप परम प्रकाशसे सर्व तत्त्वोको प्रकाशित करनेवाले, और तीनो लोकोके स्वामियों द्वारा जिनके चरणकमल चर्चित हैं, ऐसे जिनेन्द्रचन्द्र तीर्थंकर देव इस धर्मके प्रभावसे होते है ।।६१।। अपने प्रतिबिम्बके समान अनेको देवोके द्वारा आराधना किया जानेवाला, और देवाङ्गनाओके मुख-सरोजका भ्रमर ऐसा देवाधिपति इन्द्र भी धर्मके प्रसादसे ही स्वर्गमे [illegible] है ।।६२।। बत्तीस हजार राजाओके मस्तकोकी पुष्पमालाओसे जिसके चरण-कमल आच्छादित हो रहे है और जो अपनी लीलासे देवोके इन्द्रकी लीलाको विडम्बित करता है, ऐसा चक्रवर्ती [illegible]

मनोभवाक्रान्तविदग्धरामाकटाक्षलक्षीकृतकान्तकायः ।
दिगङ्गनाव्यापितशुद्धकीर्तिर्धर्मेण राजा भवति प्रतापी ।। ६४
मतङ्गजा जङ्गमशैललीलास्तुरङ्गमा निर्जितवायुवेगा ।
पदातयः शक्रपदातिकल्पा रथा विवस्वद्रथसन्निकायाः ।। ६५
योषाश्च शोभाजितदेवयोषा निलिम्पवासप्रतिमा निवासाः ।
अनन्यलभ्या धन्यधान्यकोशा भवन्ति धर्मेण पुरार्जितेन ।। ६६
परेऽपि भावा भुवने पवित्रा भवन्ति पुण्यैर्न विना जनस्य ।
विना मृणालै (र्हि नालैः) क्वचनापि दृष्टाः सम्पद्यमाना न पयोजखण्डाः ।।६७
स्वपूर्वलोकानुचितोऽपि धर्मो ग्राह्यः सतां चिन्तितवस्तुदायी ।
प्रप्रार्थयन्ते न किमीश्वरत्वं स्वजात्ययोग्यं जनता सदाऽपि ।। ६८
त्यजन्त्यनूकागतमप्यवद्यं सम्प्राप्य पुण्यं जनयाचनीयम् ।
कुष्टं कुलायातमपि प्रवीणा कल्पत्वमासाद्य परित्यजन्ति ।। ६९
मूर्खापवादत्रसनेन धर्मं मुञ्चन्ति सन्तो न बुधार्चनीयम् ।
ततो हि दोषः परमाणुमात्रो धर्मव्युदासे गिरिराजतुल्यः ।। ७०
निखिलसुखफलानां कल्पने कल्पवृक्षं कुमतमतिविभीता ये विमुञ्चन्ति धर्मम् ।
विमलमणिनिधानं पावनं दृष्टतुष्टच्चं स्फुटमपगतबोधाः प्राप्य ते वर्जयन्ति ।।७१

अपने महान् साम्राज्यको धर्मके प्रसादसे ही धारण करता है।।६३।। कामदेवके आक्रमणसे आक्रान्त सुन्दर चतुर नारियोके कटाक्षोसे जिनका सुन्दर देह लक्ष्य बनाया गया है और जिनकी निर्मल कीर्त्ति दशों दिशाओमे व्याप्त हो रही है,ऐसा कामदेव सदृश अति सुन्दर और प्रतापी राजा धर्मके प्रभावसे होता है ।।६४।। जगम शैलोकी लीलाके धारक मदोन्मत्त मतगज, (हस्ती) वायुके वेगको जीतनेवाले अश्व, इन्द्रके पदातियोके तुल्य पैदल चलनेवाले सैनिक, सूर्यके समान शीघ्रगामी रथ, अपनी शोभासे देवाङगनाओको जीतनेवाली स्त्रियाँ, इन्द्र-भवनके सदृश निवास,और अन्य जनोके द्वारा अलभ्य धन-धान्यके भण्डार पूर्वोपार्जित धर्मसे ही प्राप्त होते है ।।६५-६६।।

इनके अतिरिक्त ससारमे अन्य भी जितने उत्तम एव पवित्र पदार्थ है, वे सभी मनुष्यको पुण्यके विना नही प्राप्त होते हैं । क्या मृणालके विना कभी कही पर कमलवन पाये जाते देखे गये है ।।६७।। अपने कुलके पूर्व पुरुषोके द्वारा असचित भी चिन्तित वस्तु-दायी सत्य धर्म सज्जनोको ग्रहण करना चाहिये । क्या अपनी जातिके अयोग्य ईश्वरपनेको जनता सदा ही नही चाहा करती है ।।६८।। जैसे प्रवीण पुरुष औषधिके द्वारा कायाकल्प करके कुल क्रमागत भी कुष्ट रोगका परित्याग कर देते है,वैसे ही जनताके द्वारा पूज्य, पवित्र, पुण्यरूप धर्मको प्राप्त करके बुद्धिमान् लोग वश-परम्परागत पापरूप अधर्मको छोड देते है ।।६९।। सज्जन पुरुष मूर्ख जनोके अपवादके भयसे ज्ञानियोसे पूजनीय धर्मको नही छोडते है, क्योकि मूर्खोंसे निन्दा किये जाने पर तो दुखरूप दोष परमाणु बराबर ही है, किन्तु धर्मको छोड देने पर गिरिराज सुमेरुके समान महान् दु.ख प्राप्त होता हैं ।।७०।। जो अज्ञानी पुरुष कुबुद्धिजनोके अपवादसे भयभीत होकर समस्त सुखरूप फलोको देनेके लिए कल्पवृक्षके समान धर्मको छोड देते है, वे निश्चयसे पावन निर्मल मणियोके निधानको

अमरनरविभूतिं यो विधायार्चनीयां नयति निरपवादां लीलया मुक्तिलक्ष्मीम्।
अमितगजिनेशः सेव्यतामेष धर्मः शिवपदमनवद्यं लब्धकामैरकामैः ॥ ७२
इत्यमितगतिकृतश्रावकाचारे प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥

द्वितीयः परिच्छेदः

मिथ्यात्वं सर्वदा हेयं धर्मं वर्धयता सता। विरोधो हि तयोर्बाढं मृत्युजीवितयोरिव ॥ १
संयमा नियमः सर्वे नाश्यन्ते तेन पावनाः। क्षयकालानलेनेव पादपाः फलशालिनः ॥ २
अतत्त्वमपि पश्यन्ति तत्त्वं मिथ्यात्वमोहिताः। मन्यन्ते तृषितास्तोयं मृगा हि मृगतृष्णिकाम्। ३
विभ्रान्ता क्रियते बुद्धिर्मनोमोहनकारिणा। मिथ्यात्वेनोपयुक्तेन मद्येनेव शरीरिण. ॥ ४
पदार्थानां जिनोक्तानां तदश्रद्धानलक्षणम्। ऐकान्तिकादिभेदेन सप्त भेदमुदाहृतम् ॥ ५
क्षणिकोऽक्षणिको जीवः सर्वदा सगुणोऽगुणः। इत्यादिभाषमाणस्य तदैकान्तिकमिष्यते ॥ ६
सर्वज्ञेन विरागेण जीवाजीवादिभाषितम्। तथ्य न वेति संकल्पो दृष्टिः सांशयिकी मता ॥ ७
आगमा लिंगिनो देवा धर्माः सर्वे सदा समाः। इत्येषा कथ्यते बुद्धि पुंसो वैनयिकी जिनैः ॥ ८
पूर्णः कुहेतुदृष्टान्तैर्न तत्त्वं प्रतिपद्यते। मण्डलश्चर्मकारस्य भोज्यं चर्मलवैरिव ॥ ९

पाकर दुष्टजनोको प्रसन्न करनेके लिए छोड देते है ॥७१॥ जो धर्म प्रार्थनाके योग्य देव और मनुष्योंकी विभूतिको देकर लीलामात्रसे निर्दोष मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करता है,वह अमित (अनन्त) ज्ञानशाली जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा गया धर्म सांसारिक कामनाओसे रहित किन्तु निर्दोष शिवपदकी कामना करनेवाले पुरुषोंको अवश्य सेवन करना चाहिये ॥७२॥

इस प्रकार अमितगति आचार्य-रचित श्रावकाचारमे
प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ।

धर्मकी वृद्धि करनेवाले सत्पुरुषको मिथ्यात्वका सर्वथा त्याग करना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व और धर्म इन दोनोमे मरण और जीवनके सदृश महान् विरोध है ॥१॥ जैसे प्रलयकालकी अग्निसे फलशाली वृक्ष जला दिये जाते है, वैसे ही मिथ्यात्वके द्वारा सभी पवित्र यम,नियम और सयम नाश कर दिये जाते है ॥२॥ मिथ्यात्वसे मोहित पुरुष अतत्त्वको भी तत्त्व मानते है। जैसे कि तृषातुर हरिण मृगतृष्णाको भी जल मानते है ॥३॥ जैसे मद्यके द्वारा प्राणीकी बुद्धि विभ्रमरूप हो जाती है, उसी प्रकार मनको मोहित करनेवाले मिथ्यात्वसे उपयुक्त जीवकी बुद्धि भी विभ्रमरूप कर दी जाती है ॥४॥ जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे गये पदार्थोके श्रद्धान न करनेको मिथ्यात्व कहते है, उसे ऐकान्तिक आदि सात भेद कहे गये है ॥५॥ आगे ग्रन्थकार उन सातो भेदोका निरूपण करते है—जीव सर्वथा क्षणिक ही है, अथवा अक्षणिक (नित्य) ही है, सगुण ही है, अथवा निर्गुण ही है, इत्यादि एकान्तरूपसे कथन करनेवालेके ऐकान्तिक मिथ्यात्व कहा गया है ॥६॥ वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे गये जीव-अजीवादि तत्त्व सत्य हैं कि नही, ऐसा विचार करनेवालेके साशयिक मिथ्यात्व माना गया है ॥७॥ सभी आगम, सभी गुरु सभी देव और सभी धर्म सदा समान है, इस प्रकारकी मनुष्यकी बुद्धिको जिनदेवोने वैनयिक मिथ्यात्व कहा है ॥८॥ खोटे हेतु और दृष्टान्तोसे परिपूर्ण मनुष्य यथार्थ तत्त्वको नही प्राप्त कर पाता है।

अतथ्यं मन्यते तथ्यं विपरीतरुचिर्जनः । दोषातुरमनास्तिक्तं ज्वरीव मधुरं रसम् ॥ १०
दीनो निसर्गमिथ्यात्वस्तत्त्वातत्त्वं न बुद्धयते । सुन्दरासुन्दरं रूपं जात्यन्ध इव सर्वदा ॥ ११
देवो रागी यतिः सङ्गी धर्मः प्राणिशुम्भनम् । मूढदृष्टिरिति ब्रूते युक्तायुक्ताविवेचकः ॥ १२
सप्तप्रकारमिथ्यात्वमोहितेनेति जन्तुना । सर्वं विषाकुलेनैव विपरीतं विलोक्यते ॥ १३
न तत्त्वं रोचते जीवः कथ्यमानमपि स्फुटम् । कुधीरुक्तमनुक्तं वा निसर्गेण पुनः परम् ॥ १४
पठन्नपि वचो जैनं मिथ्यात्वं नैव मुञ्चति । कुदृष्टिः पन्नगो दुग्धं पिबन्नपि महाविषम् ॥ १५
उदये दृष्टिमोहस्य मिथ्यात्वं दुःखकारणम् । घोरस्य सन्निपातस्य पञ्चत्वमिव जायते ॥ १६
बहु बध्नाति यः कर्म स्तोकं भुंक्ते कुदर्शनः । स भवारण्यदुःखेभ्यो विमोक्षं लप्स्यते कथम् ॥ १७
अञ्जलिं पचमानस्य पुरुषस्य दिने दिने । धान्यस्य गृण्हतः खारीं कदा धान्यविमुक्तता ॥ १८
न वक्तव्यमिति प्राज्ञैः कदाचन यतो भवी । कर्म भुंक्ते बहु स्तोकं स्वीकरोति विसंशयम् ॥ १९
अन्यथैकेन जीवेन सर्वेषां कर्मणां ग्रहे । सर्वेषां जायतेऽन्येषां न कथं मुक्तिसङ्गतिः ॥ २०
समस्तानां तथैकेन पुद्गलानां ग्रहेऽङ्गिना । अनन्तानन्तकालेन न बन्धः सान्तरः कथम् ॥ २१

जैसे कि चमडेके टुकडोसे भरे हुए मुखवाला चमारका कुत्ता वास्तविक भोजनको नही खा पाता है। यह गृहीत मिथ्यादृष्टि है ।९।। जैसे वात-पित्तादि दोषोसे पीडित चित्तवाला ज्वरवान् मनुष्य मधुर रसको भी कटुक मानता है, इसी प्रकार विपरीत श्रद्धानी मनुष्य अतथ्य भी पदार्थको तथ्य मानता है। यह विपरीत मिथ्यादृष्टि है ।।१०।। जैसे जन्मान्ध मनुष्य सुन्दर और असुन्दर रूपको सर्वथा ही नही जानता है, इसी प्रकार निसर्गमिथ्यात्वसे दूषित दीन पुरुष तत्त्व और अतत्त्वको नही समझता है। यह निसर्गमिथ्यात्वका स्वरूप है ।११।। योग्य अयोग्यके विवेकसे रहित मूढ-दृष्टि मनुष्य सरागी पुरुषको देव, परिग्रही व्यक्तिको गुरु और प्राणि-घातको धर्म कहता हैं। यह मूढ मिथ्यादृष्टि हैं ।।१२।। इन सात प्रकारके मिथ्यात्वोसे मोहित प्राणी सर्व वस्तुतत्त्वको विपरीत ही देखता है। जैसे कि विषसे आकुलित पुरुषको सभी कुछ विपरीत दिखता है ।।१३।। कुबुद्धि पुरुष यथार्थं रीतिसे स्पष्ट कहे गये तत्त्वका भी श्रद्धान नही करता है। किन्तु उक्त या अनुक्त तत्त्वका स्वभावसे ही श्रद्धान करता है ।।१४।। मिथ्यादृष्टि मनुष्य जैन वचनको पढता हुआ भी मिथ्यात्वको नही छोडता हैं। जैसे कि दुग्धको पीता हुआ भी सर्प अपने महाविषको नही त्यागता है ।।१५।। दर्शनमोहनीयकर्मके उदय होने पर दुःखोका कारण मिथ्यात्व प्रकट होता है। जैसे कि घोर सन्निपातके होने पर जीवके मरण प्राप्त होता है ।।१६।।

जो मिथ्यादृष्टि बहुत कर्मको बाँधता हैं और अल्पकर्मको भोगता हैं, वह भव-काननके दुःखोसे कैसे छूट सकेगा ।।१७।। जैसे प्रतिदिन अजली प्रमाण धान्यको खानेवाले और खारी प्रमाण धान्यको ग्रहण करनेवाले मनुष्यके धान्यका बीतना कब हो सकता है ।।१८।

ऐसी आशका करनेवालेके लिए आचार्य उत्तर देते है–ज्ञानी जनोको ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि जीवके परिणामोकी विशुद्धिके योगसे कदाचित् ऐसा भी अवसर आता है, जबकि वह निःसन्देह रूपसे बहुत कर्मको भोगता है और अल्प कर्मको स्वीकार करता है ।।१९।। यदि ऐसा न माना जाय, तो एक जीवके द्वारा सर्व कर्मोके ग्रहण करने पर शेष अन्य सर्व जीवोके मुक्तिकी प्राप्ति कैसे सगत नही होगी ।।२०।। इसी प्रकार एक जीवके द्वारा समस्त कर्मपुद्गलोके ग्रहण करने पर अनन्तानन्तकालके द्वारा भी बन्ध अन्तर-सहित कैसे नही होगा ।।२१।। जिस प्रकार

सस्यानीवोषरक्षेत्रे निक्षिप्तानि कदाचन । न व्रतानि प्ररोहन्ति जीवे मिथ्यात्ववासिते ॥ २२
मिथ्यात्वेनानुविद्धस्य शल्येनेव महीयसा । समस्तापन्निदानेन जायते निर्वृतिः कुतः ॥ २३
षोढानायतनं जन्तोः सेवमानस्य दुःखदम् । अपथ्यमिव रोगित्वं मिथ्यात्वं परिवर्धते ॥ २४
मिथ्यादर्शनविज्ञानचारित्रैः सह भाषिताः । तदाधारा जना पापा. षोढाऽनायतनं जिनैः ॥ २५
एकैकं वा त्रयो द्वे द्वे रोचन्ते न परे त्रयः । एकस्त्रीणीति जायन्ते सप्ताप्येते कुदर्शनाः ॥ २६
दवीयः कुरुते स्थानं मिथ्यादृष्टिरभीप्सितम् । अन्यत्र गमकारीव घोरैर्युक्तो व्रतैरपि ॥ २७
न मिथ्यात्वसमः शत्रुर्न मिथ्यात्वसमं विषम् । न मिथ्यात्वसमो रोगो न मिथ्यात्वसमं तम ॥२८
द्विषद्विषतमोरोगैर्दुःखमेकत्र जायते । मिथ्यात्वेन दुरन्तेन जन्तोर्जन्मनि जन्मनि ॥ २९
वरं ज्वालाकुले क्षिप्तो देहिनाऽऽत्मा हुताशने । न तु मिथ्यात्वसंयुक्त जीवितव्यं कथञ्चन ॥ ३०
पापे प्रवर्त्यते येन येन धर्मान्निवर्त्यते । दुःखे निक्षिप्यते येन तन्मिथ्यात्व न शान्तये ॥ ३१
क्षेत्रस्वभावगो घोरा निरन्ता दुःसहाश्चिरम् । विविधा दुर्दशाः श्वभ्रे कायमानससम्भवाः ॥ ३२

ऊसर भूमिवाले खेतमे बोये गये धान्य कभी भी नही उपजते है, उसी प्रकार मिथ्यात्वसे वासित जीवमें व्रत भी अंकुरित नही होते हैं ॥२२॥ जैसे महान् शल्यसे अनुविद्ध पुरुषके सुखकी प्राप्ति नही होती, उसी प्रकार समस्त आपत्तियोंके निधानभूत मिथ्यात्वसे सयुक्त पुरुषके निर्वृति (मुक्ति) का सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ॥२३॥ जैसे अपथ्यके सेवन करनेवाले मनुष्यके दुःखदायी रोगपना उत्तरोत्तर बढता है, उसी प्रकार छह प्रकारके अनायतनों (अधर्मके स्थानो) के सेवन करनेवाले पुरुषके दुःखदायी मिथ्यात्व भी उत्तरोत्तर बढता है ॥२४॥ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीनोके साथ इनके आधारभूत पापी मनुष्य, ये छह अनायतन जिनदेवने कहे हैं ॥२५॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोमेंसे एक-एकको नही माननेवाले तीन मिथ्यादृष्टि, तथा उनमेंसे किन ही दो-दोको नहीं माननेवाले तीन मिथ्यादृष्टि और तीनोंको ही नही माननेवाले एक मिथ्यादृष्टि इस प्रकारसे सात प्रकारके मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ॥२६॥ जैसे अन्यत्र अर्थात् विपरीत दिशामे गमन करनेवाला जीव अपने अभीष्ट स्थानको और भी दूर करता जाता है, उसी प्रकार अति कठिन घोर व्रतोंके आचरणसे युक्त भी मिथ्यादृष्टि पुरुष अपने मुक्ति स्थानको और भी अत्यन्त दूर करता जाता है ॥२७॥ संसारमे इस जीवका मिथ्यात्वके समान कोई शत्रु नही, मिथ्यात्वके समान कोई विष नही, मिथ्यात्वके समान कोई रोग नही और मिथ्यात्वके समान कोई अन्धकार नही हैं ॥२८॥ शत्रु, विष, अन्धकार और रोग, इनके द्वारा एक भवमें ही दुःख दिया जाता है, किन्तु इस दुरन्त मिथ्यात्वके द्वारा जन्म-जन्ममें जीवको महान् दुःख दिया जाता है ॥२९॥ भयंकर ज्वालाओसे व्याप्त अग्निमे किसी जीवात्माका फेका जाना भला हैं, किन्तु मिथ्यात्वसे सयुक्त जीवितव्य तो किसी भी प्रकारसे भला नही है ॥३०॥ जिस मिथ्यात्वके द्वारा जीव पापमे प्रवृत्त कराया जाता है, धर्ममे दूर हटाया जाता है, तथा दुःखमें फेका जाता है, वह मिथ्यात्व कभी भी जीवकी शान्तिके लिए नही हो सकता है ॥३१॥

इस दुरन्त दुःखदायी मिथ्यात्वके द्वारा जीवोको नरकोमे क्षेत्रस्वभावमे होनेवाले घोर कायिक और मानसिक अकथनीय नाना प्रकारके दुःसह दुःख चिरकाल तक निरन्तर सहना पडते हैं। इस मिथ्यात्वके द्वारा ही विवेकरहित जीवन वितानेवाले पराधीन तिर्यचोमे भी दाह देना, बांधना, चिन्ह करना, अंग छेदना और शीत वात आदिसे होनेवाले नानाप्रकारके भयंकर दुःख

दोहवाहाङ्कनाच्छेदशीतवातादिगोचराः । परायत्तेषु तिर्यक्षु विवेकरहितात्मसु ॥ ३३
दैन्यदारिद्र्यदौर्भाग्यरोगशोकपुरस्सराः । आर्यम्लेच्छप्रकारेषु मानुषेषु निरन्तराः ॥ ३४
स्वस्य हानिं परस्यर्द्धिमीक्षमाणेषु मानिषु । योज्यमानेषु देवेषु हठतः प्रेष्यकर्मणि ॥ ३५
मिथ्यात्वेन दुरन्तेन विधीयन्ते शरीरिणाम् । वेदना दुःश्रवा भीमा वैरिणेव दुरात्मना ॥ ३६
यान्यन्यान्यपि दुःखानि संसाराम्भोधिवर्तिनाम् । न जातु यच्छता तेन मिथ्यात्वेन विरम्यते ॥ ३७
विवेको हन्यते येन मूढता येन जन्यते । मिथ्यात्वतः परं तस्माद्दुःखदं किमु विद्यते ॥ ३८
लब्धं जन्मफलं तेन सार्थकं तस्य जीवितम् । मिथ्यात्वविषमुत्सृज्य सम्यक्त्वं येन गृह्यते ॥ ३९
भव्यः पञ्चेन्द्रियः पूर्णो लब्धकालादिलब्धिकः । पुद्गलार्धपरावर्ते काले शेषे स्थिते सति ॥ ४०
अन्तर्मुहूर्तकालेन निर्मलीकृतमानसः । आद्यं गृह्णाति सम्यक्त्वं कर्मणां प्रशमे सति ॥ ४१
निशीथं वासरस्येव निर्मलस्य मलीमसम् । पश्चादायाति मिथ्यात्वं सम्यक्त्वस्यास्य निश्चितम् ॥४२
तस्य प्रपद्यते पश्चान्महात्मा कोऽपि वेदकम् । तस्यापि क्षायिकं कश्चिदासन्नीभूतनिर्वृतिः ॥ ४३
लब्धशुद्धपरीणामः कल्मषस्थितिहानिकृत् । अनन्तगुणया शुद्ध्या वर्धमानः क्षणे क्षणे ॥ ४४
प्रकृतीनामशस्तानामनुभागस्य खर्वकः । वर्धकः पुनरन्यासां युक्तायुक्तविवेचकः ॥ ४५
स्थितेऽन्तःकोटिकोटीकस्थितिके सति कर्मणि । अधःप्रवृत्तिकं नाम करणं कुरुते पुरा ॥ ४६

भोगना पडते है। इसी मिथ्यात्वके द्वारा नाना प्रकारके आर्य और म्लेच्छ मनुष्योमे निरन्तर दीनता, दरिद्रता, दुर्भाग्य रोग और शोक आदिके नाना दुःखोको भोगना पडता है। तथा इसी मिथ्यात्वके द्वारा देवोमे उत्पन्न हो करके भी परस्पर एक दूसरेकी ऋद्धिको देखकर ईर्ष्याभाव उत्पन्न होनेसे और दासकर्ममे हठात् नियुक्त किये जानेपर अपने अपमानको देखकर उन अभिमानी देवोमे दुःसह दुःख देखे जाते है। इस प्रकार इस दुरात्मा दुरन्त दुःखदायी महान् शत्रु मिथ्यात्वके द्वारा जीवोंको चारो ही गतियोमे दुःसह भयकर वेदनाएँ दी जाती है॥३२-३६॥ ससाररूपी समुद्रमे पडे हुए जीवोको अन्य जितने भी दुःख भोगना पडते है, उन सबको देता हुआ यह मिथ्यात्व कभी भी विश्राम नही लेता है, अर्थात् निरन्तर महादुःखोको देता ही रहता है ॥३७॥ जिस मिथ्यात्वसे विवेक नष्ट होता है और मूढता उत्पन्न होती है, उस मिथ्यात्वसे बढकर और दुःखदायी ससारमे क्या है, अर्थात् मिथ्यात्वसे बढकर ससारमे दुःखदायी और कोई भी पदार्थ नही है ॥३८॥ जिस जीवने ऐसे भयकर मिथ्यात्वरूपी विषको छोडकर सम्यक्त्वको ग्रहण किया है, उसका जीवन सार्थक है और उसीने जन्मका फल प्राप्त किया है ॥३९॥ ससारमे परिभ्रमणका काल अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण शेष रह जाने पर भव्य, पचेन्द्रिय, पर्याप्तक और काललब्धि आदिको पानेवाला जीव अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा अपने मानसको निर्मल करके सम्यग्दर्शनके निरोधक कर्मोके उपशम होने पर आद्य औपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण करता है ॥४०-४१॥ जैसे निर्मल दिनके पश्चात् अवश्य ही मलीमस रात्रि आती है, उसी प्रकार इस औपशमिकसम्यक्त्वके अन्तर्मुहूर्त पश्चात् मिथ्यात्व अवश्य उदयको प्राप्त होता है, यह निश्चित है ॥४२॥ तत्पश्चात् कोई महान् आत्मा वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त होता है और कोई अतिनिकट भव्य क्षायिकसम्यक्त्वको प्राप्त होता है ॥४३॥ जब यह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करनेके सन्मुख होता है, तब प्रतिक्षण अनन्तगुणी विशुद्धिसे वर्धमान विशुद्ध परिणामवाला होता है, पापप्रकृतियोकी स्थितिको प्रतिक्षण हीन करता है, अप्रशस्त प्रकृतियोके अनुभागको प्रतिक्षण घटाता है और प्रशस्त प्रकृतियोके अनुभागको प्रतिक्षण बढाता है और योग्य अयोग्यका विवेचक बनता है। उक्त

अपूर्वकरणं तस्मात्तस्मादप्यनिवृत्तिकम् । विदधाति परीणामशुद्धिकारी क्षणे क्षणे ।। ४७
तत्राद्ये करणे नास्तिच्छेदः स्थित्यनुभागयोः । अनन्तगुणया शुद्धया कर्म बध्नाति केवलम् ।। ४८
द्वितीयः कुरुते तत्र किञ्चित्स्थितिरसक्षयम् । शुभानामशुभानां च वर्धयन् ह्रासयन्त्रसम् ।। ४९
अन्तर्मुहूर्तिकः कालस्तेषां प्रत्येकमिष्यते । आदिमे कुरुते तस्मिन्नान्तरं करणं परम् ।। ५०
प्रशमय्य ततो भव्यः कर्मप्रकृतिसप्तकम् । अन्तर्मुहूर्तिकं पूर्वं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ।। ५१
अन्तरे करणे तत्र युक्त्वाऽनन्तानुबन्धिभिः । अन्तर्मुहूर्तकालेन मिथ्यात्वमपवर्तते ।। ५२
मिथ्यात्वं भिद्यते भेदैः शुद्धाशुद्धविमिश्रितैः । ततः सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वनामभिः ।।५३
क्षपयित्वा परः कश्चित्कर्मकृप्रतिसप्तकम् । आदत्ते क्षायिकं पूतं सम्यक्त्वं मुक्तिकारणम् ।। ५४
प्रशमे कर्मणां षण्णामुदयस्य क्षये सति । आदत्ते वेदकं वन्द्यं सम्यक्त्वस्योदये सति ।। ५५
आदिमं त्रितयं हित्वा गुणेषु सकलेष्वपि । सम्यक्त्व क्षायिकं ज्ञेयं मोक्षलक्ष्मीसमर्पकम् ।। ५६

जीव अन्त.कोडाकोडीप्रमाण कर्मस्थिति सत्त्वके रह जाने पर अधःप्रवृत्तकरणको करता है, पश्चात् प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व परिणामोंको प्राप्त हुआ अपूर्वकरणको करके सम्यक्त्वप्राप्ति किये विना नही लौटनेवाले ऐसे अनिवृत्तिकरणको धारण करके अन्तर्मुहूर्त तक प्रतिक्षण अति शुद्ध परिणामोंको धारण करता है ।।४४-४७।।

उपर्युक्त तीनो करणोंमेंसे पहले अध.करणमे किसी भी कर्मकी स्थिति और अनुभागका विच्छेद नही होता है, केवल वह अनन्तगुणी विशुद्धिसे पुण्य प्रकृतिरूप कर्मको बाँधता है । दूसरा अपूर्वकरण शुद्ध कर्मोके रसको बढाता हुआ और अशुभ कर्मोके रसको घटाता हुआ पाप कर्मोकी स्थिति और रसका कुछ क्षय करता हैं । उपर्युक्त प्रत्येक करणका काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कहा गया है । इनमेंसे आदिके करणमें यह जीव अन्तरकरण करता है ।।४८-५०।। विशेषार्थ—यहाँ जो यह कहा गया हैं कि आदिके करणमे जीव अन्तरकरण करता है, सो यह कथन सिद्धान्तशास्त्रोके विरुद्ध है, क्योंकि उनमे स्पष्ट कहा गया है—'अणियट्टिअद्धाए संखेज्जेसु भागेसु गदेसु अंतर करेदि' (कसायपाहुडसुत्त १०।९३) अर्थात् तीसरे अनिवृत्तिकरणके सख्यात भागोके व्यतीत होने पर जीव अन्तरकरण करता है । विवक्षित कर्मकी अधस्तन और उपरितन स्थितियोको छोडकर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितियोंके निषेकोका करणपरिणामोसे अभाव करनेको अन्तरकरण कहते हैं । (विशेषके लिए देखें कसायपाहुडसुत्त पृ. ६२६) सम्यक्त्वके अभिमुख हुआ जीव उस अन्तरकरणके समयमे अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा अनन्तानुवन्धी कषायोके साथ मिथ्यात्वकर्मका अपवर्तन करता है ।।५१।। इस अन्तरकरणके समय होनेवाले विशुद्धपरिणामोके द्वारा मिथ्यात्वकर्मके शुद्ध, अशुद्ध और मिश्ररूपसे सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व नामवाले तीन टुकडे कर देता हैं ।।५२।। तदनन्तर वह जीव अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क और दर्शनमोहके उक्त तीन विभाग, इन सातों कर्मप्रकृतियोंका उपशम करके अन्तर्मुहूर्तकालकी स्थितिवाले प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है । ५३।। तदनन्तर कोई निकट ससारी भव्य उक्त सातो कर्मप्रकृतियोका क्षय करके मुक्तिका कारण क्षायिकसम्यक्त्वको ग्रहण करता है ।।५४।। कोई जीव उक्त सात कर्मोमेंसे छह कर्मोका उपशम और उदयाभावी क्षय होने पर वन्दनीय वेदक सम्यक्त्वको ग्रहण करता हैं ।।५५।। भावार्थ—वर्तमानकालमे उदय आने योग्य कर्म निषेकोंका उदयाभावी क्षय और आगामी कालमें उदय आनेके योग्य निषेकोका सदवस्थारूप उपशम होने पर, तथा सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय होने

तुर्यादारभ्य विज्ञेयमुपशान्तान्तमादिमम् । चतुर्थे पंचमे षष्ठे सप्तमे वेदकं पुनः ।। ५७
साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते । कथ्यते क्षायिकं साध्यं द्वितीयं साधनं परम् ।। ५८
प्रथमायां त्रयं पृथ्व्यामन्यासु क्षायिकं विना । सम्यक्त्वमुच्यते सद्भिर्भवभ्रमणसूदनम् ।। ५९
तिर्यङ्मानवदेवानां सम्यक्त्वत्रितयं मतम् । निलिम्पीनां तिरश्चीनां क्षायिकं विद्यते न तु ।। ६०
क्षायोपशमिकस्योक्ताः षट्षष्टिर्जलराशयः । अन्तर्मौहूर्तिकी ज्ञेया प्रथमस्य स्थितिः परा ।। ६१
पूर्वकोटिद्वयोपेतास्त्रयस्त्रिंशत्पयोधयः । ईषदूना स्थितिर्ज्ञेया क्षायिकस्योत्तमा बुधैः ।। ६२
अधस्ताच्छ्वभ्रभूषट्के सर्वत्र प्रमदाजने । निकायत्रितये पूर्वं जायते न सुदर्शनः ।। ६३
पञ्चाक्ष सञ्ज्ञिनं हित्वा परेषु द्वादशेष्वपि । उत्पद्यते न सद्दृष्टिर्मिथ्यात्वबलभाविषु ।। ६४
वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा । विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरे द्वयम् ।। ६५
संवेगप्रशमास्तिक्यकारुण्यव्यक्तिलक्षणम् । सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षालक्षणं परम् ।। ६६
निसर्गाधिगमौ हेतू तस्य बाह्यावुदाहृतौ । लब्धिः कर्मसमाधीनामन्तरङ्गो विधीयते ।। ६७
सम्यक्त्वाध्युषिते जीवे नाज्ञानं व्यवतिष्ठते । भास्वता भासिते देशे तमसः कीदृशी स्थितिः ।। ६८

पर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उसे वेदक सम्यक्त्व होते है । शेष छह प्रकृतियोका क्षयोपशम होनेकी अपेक्षा उसे ही क्षायोपशमिकसम्यक्त्व भी कहते हैं । चौदह गुणस्थानोमेसे आदिके तीन गुणस्थानोको छोडकर ऊपरके समस्त गुणस्थानोमे मोक्षलक्ष्मीको समर्पण करनेवाले क्षायिक-सम्यक्त्वका सद्भाव जानना चाहिये ।।५६।। चौथे गुणस्थानसे लेकर उपशान्तमोह नामक ग्यारहवे गुणस्थान तक आदिका औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है । तथा वेदकम्यक्त्व चौथे, पाँचवे, छठे और सातवे गुणस्थानमे पाया जाता है ।।५७।।

साध्य और साधनके भेदसे सम्यक्त्व दो प्रकारका कहा गया है । क्षायिकसम्यक्त्व साध्यरूप हैं और शेष दोनो सम्यक्त्व साधनरूप है ।।५८।। पहली रत्नप्रभा पृथ्वीके नारकियोंके भव-भ्रमणके नाशक तीनो ही सम्यक्त्व पाये जाते है । किन्तु शेष छह पृथिवियोके नारकियोके क्षायिकके विना दो ही सम्यक्त्व सन्त पुरुषो ने कहे है ।।५९।। तिर्यच और मनुष्योंके तीनो ही सम्यक्त्व हो सकते हैं । किन्तु देवागनाओके तथा तिर्यंचनियोके क्षायिकसम्यक्त्व नही पाया जाता है ।।६०।। क्षायोकशमिकसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागरोपम कही गयी है । पहलेकी अर्थात् औपशमिकसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र है ।।६१।। क्षायिकसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम दो पूर्वकोटी वर्षसे अधिक तेतीस सागरोपम ज्ञानियोने कही है ।।६२। सम्यग्दृष्टि-जीव मर कर नीचेकी छह पृथिवियोमे, सभी प्रकारकी स्त्रियोमे, और अपर्याप्त जीवोमे उत्पन्न नही होता है ।।६३।। चौदह जीवसमासोमेसे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त इन दो जीव-समासोको छोडकर मिथ्यात्वके बलसे होनेवाले शेष बारह जीवसमासोमे सम्यग्दृष्टि जीव नही उत्पन्न होता है ।।६४।। ज्ञानियोने सम्यक्त्व दो प्रकारका कहा है—वीतरागसम्यक्त्व और सराग-सम्यक्त्व । इनमे क्षायिक वीतरागसम्यक्त्व है और शेष दोनों सरागसम्यक्त्व है ।।६५।। सवेग, प्रशम आस्तिक्य और कारुण्यभावसे व्यक्त लक्षणवाला सरागसम्यक्त्व है और उपेक्षाभाव-स्वरूप वीतरागसम्यक्त्व चतुर जनोको जानना चाहिये ।।६६।। उस सम्यक्त्वके निसर्ग और अधिगम ये दो बाह्य कारण कहे गये है । दशनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी कर्मोके उपशम आदिकी प्राप्ति-को अन्तरग कारण कहा गया है ।।६७।। सम्यक्त्वसे सहित जीवमे अज्ञान नही ठहर सकता है । सूर्यसे प्रकाशमान प्रदेशमे अन्धकारकी स्थिति कैसे हो सकती है ।।६८।।

न दु.खबीजं शुभदर्शनक्षितौ कदाचन क्षिप्तमपि प्ररोहति।
सदाऽप्यनुप्तं सुखबीजमुत्तमं कुदर्शनी तद्विपरीतमीक्षते ॥ ६९
सम्यक्त्वमेघः कुशलाम्बु वन्दितं निरन्तरं वर्षति धौतकल्मषः।
मिथ्यात्वमेघो व्यसनाम्बु निन्दित जनावनौ क्षालितपुण्यसञ्चयः ॥ ७०
न भीषणो दोषगणः सुदर्शने विगर्हणीयः स्थिरतां प्रपद्यते।
भुजङ्गमानां निवहोऽवतिष्ठते सदा निवासेऽध्युषिते गरुत्मता ॥ ७१
विवर्धमाना यमसयमादयः पवित्रसम्यक्त्वगुणेन सर्वदा।
फलन्ति हृद्यानि फलानि पादपा महोदकेनेव मलापहारिणा ॥ ७२
निषेवते यो विषयाभिलाषुको निरस्य सम्यक्त्वमधीः कुदर्शनम्।
स राज्यमत्यस्य भुजिष्यतां स्फुटं वृहावकाङ्क्षी वृणुते दुराशयः ॥ ७३
तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रपञ्चे देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते।
साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्भहीने संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः ॥ ७४
देहे भोगे निन्दिते जन्मवासे कृष्टेष्वासक्षिप्तबाणास्थिरत्वे।
यद्वैराग्यं जायते निष्प्रकम्पं निर्वेगोऽसौ कथ्यते मुक्तिहेतुः ॥ ७५
कान्तापुत्रभ्रातृमित्रादिहेतोः शिष्टद्विष्टे निर्मिते कार्यजाते।
पश्चात्तापो यो विरक्तस्य पुंसो निन्दा सोक्ताऽवद्यवृक्षस्य दात्री ॥ ७६

सम्यग्दर्शनरूप शुभ भूमिमे गिरा हुआ भी दु खरूप बीज कदाचित् भी अकुरित नही ह ता है। और विना बोया गया भी सुखरूप बीज सदा ही अंकुरित होता है। किन्तु मिथ्यादर्शनरूप अशुभभूमिमें इससे विपरीत देखा जाता है। अर्थात् मिथ्यादृष्टिके दु.खरूप बीज विना बोये भी उगते है और सुखरूप बीज बोये जानेपर भी नही उगते है ॥६९॥ कल्मष पापोको धोनेवाला सम्यक्त्वरूपी मेघ वन्दनीय कल्याणकारी जलकी निरन्तर वर्षा करता है। किन्तु पुण्यके सचयको धोनेवाला मिथ्यात्वरूपी मेघ निन्दनीय दुःखदायी जलको जनरूप भूमिमे निरन्तर बरसाता रहता हैं ॥७०॥ सम्यग्दर्शनके सद्भावमे भीषण एवं निन्दनीय भी दोषोका समूह स्थिरताको नही प्राप्त होता है। गरुडसे सेवित स्थान पर साँपोंक समुदाय क्या कभी ठहर सकता है,अर्थात् कभी नही ठहर सकता ॥७१॥ पवित्र सम्यक्त्वरूप गुणसे सिंचित यमनियमं संयमादिक सदा बढते रहते है। जैसे मलको दूर करनेवाले मेघके जलसे सिंचित वृक्ष सदा मनोहर फलोंको फलते रहते है ॥७२॥ जो कुबुद्धि विषयाभिलाषी होकर और सम्यक्त्वको दूर कर मिथ्यादर्शनका सेवन करता है, वह दुष्ट-चित्त पुरुष राज्यको छोडकर और महत्त्वाकांक्षी वनकर सेवकवृत्तिको अंगीकार करता हैं ॥७३॥

अब आचार्य संवेगादिक गुणोंका वर्णन करते है—हिंसा पापके विस्तारसे रहित अहिंसा-मयी सत्य धर्ममें, राग द्वेष और मोहादिसे रहित देवमे और सर्व प्रकारके परिग्रहके सन्दर्भसे रहित साधुमें जो निश्चल अनुराग होता है, वह संवेग कहलाता है ॥७४॥ निन्दनीय शरीरमे, भोगमे और कान तक खीचकर शीघ्र छोडे गये बाणके समान अस्थिर संसारमे जो निष्प्रकम्प वैराग्य होता हैं, वह मुक्तिका हेतु निर्वेद कहलाता है ॥७५॥ स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र आदिके निमित्तसे राग-द्वेषरूप कार्योके हो जानेपर उनसे विरक्त हुए पुरुषके हृदयमे जो पश्चात्ताप होता है, वह

जाते दोषे द्वेषरागादिदोषैरग्रे भक्त्याऽऽलोचना या गुरूणाम् ।
पञ्चाचाराचारकाणामदोषा सोक्ता गर्हा गर्हणीयस्य हन्त्री ॥ ७७
रागद्वेषक्रोधलोभप्रपञ्चा. सर्वानर्थावासभूता दुरन्ताः ।
यस्य स्वान्ते कुर्वते न स्थिरत्वं शान्तात्माऽसौ कथ्यते भव्यसिंहः ॥ ७८
लोकाधीशाभ्यर्चनीयाङ्घ्रियुग्मे तीर्थाधीशे साधुवर्गे सपर्या ।
या निर्व्याजा भाव्यते भव्यलोकैर्भक्तिः सेष्टा जन्मकान्तारशस्त्री ॥ ७९
कर्मारण्यं छेत्तुकामैरकामैर्धर्माधारैर्व्यावृतिः प्राणिवर्गे ।
भैषज्याद्यैः प्रासुकैर्वर्ध्यते या तद्वात्सल्यं कथ्यते तथ्यबोधैः ॥ ८०
जन्माम्भोधौ कर्मणा भ्राम्यमाणे जीवग्रामे दुःखितेऽनेकभेदे ।
चित्तार्द्रत्वं यद्विधत्ते महात्मा तत्कारुण्यं दर्श्यते दर्शनीयैः ॥ ८१
प्रवर्ध्यते दर्शनमष्टभिर्गुणैः शरीरिणोऽमीभिरपास्तदूषणैः ।
गुरूपदेशैरिव धर्मवर्धनं विधीयमानैर्हृदये निरन्तरम् ॥ ८२
अपारसंसारसमुद्रतारकं वशीकृतं येन सुदर्शनं परम् ।
वशीकृतास्तेन जनेन सम्पदः परैरलभ्या विपदामनास्पदम् ॥ ८३

पापरूप वृक्षोंको नाश करनेवाली निन्दा कही गई है ॥७६॥ राग-द्वेष आदि दोषों द्वारा पापकार्यके हो जाने पर पंच आचारके आचरण करनेवाले गुरुजनोके आगे भक्तिके साथ अपने दोषोकी निर्दोष आलोचना की जाती हैं,उसे निन्दनीय दोषोकी नाश करनेवाली गर्हा कहा गया है ॥७७॥ सभी अनर्थोके निवासभूत और दुःखसे जिनका अन्त होता है ऐसे राग-द्वेष, क्रोध, लोभ आदिक विकारी भाव जिस पुरुषके हृदयमे स्थिरता नही करते हैं, वह भव्यसिंह शान्तात्मा प्रशंसनीय होता है। अर्थात् जिनका मन राग द्वेषादिसे रहित शान्त होता है, उसके उपशम गुण जानना चाहिये ॥७८॥ तीनो लोकोके स्वामी इन्द्र, नरेन्द्र और नागेन्द्रसे जिनके चरणकमल युगल पूजे जाते हैं ऐसे तीर्थंकरदेवमे तथा साधुवर्गमे भव्य लोगोंके द्वारा जो निश्छल पूजा की जाती है, वह ससार-कान्तारको काटने वाली भक्ति कही गई है ॥७९॥ कर्मरूप काननके छेदनेके इच्छुक एवं अन्य कामनाओसे रहित पुरुषोके द्वारा धर्मके आधारभूत प्राणियो पर जो औषधि आदिक प्रासुक द्रव्योसे वैयावृत्त्य की जाती है, उसे यथार्थज्ञानियोंने वात्सल्य गुण कहा है ॥८०॥ ससाररूप समुद्रमे कर्मके निमित्तसे परिभ्रमण करनेवाले महान् दुःखी ऐसे अनेक भेदोवाले प्राणिवर्गमे जो महान् आत्मा चित्तकी दयालुताको धारण करता है, उसे दर्शनीय आचार्योने कारुण्यभाव कहा है ॥८१॥ जिस प्रकार हृदयमे निरन्तर धारण किये गये गुरुजनोके उपदेशोसे धर्मका ज्ञान बढता है, उसी प्रकार दूषण-रहित इन उपर्युक्त आठो गुणोके द्वारा जीवके सम्यग्दर्शन वृद्धिको प्राप्त होता है ॥८२॥ जिस जीवने इस अपार ससार-समुद्रसे पार उतारने वाले और विपदाओसे रहित ऐसे श्रेष्ठ सम्यग्दर्शनको अपने वशमे कर लिया उस पुरुषने दूसरोके द्वारा अलभ्य ऐसी सभी श्रेष्ठ सम्पदाएँ अपने वशमे कर ली, ऐसा समझना चाहिए ॥८३॥

सुदर्शने लब्धमहोदये गुणाः श्रिया निवासा विकसन्ति देहिनि ।
विरस्तदोषापचये सरोवरे हिमेतरांशाविव पंकजाकराः ॥ ८४
दर्शनबन्धोर्न परो बन्धुर्दर्शनलाभान्न परो लाभः ।
दर्शनमित्रान्न परं मित्रं दर्शनसौख्यान्न परं सौख्यम् ॥ ८५
लब्ध्वा मुहूर्तमपि ये परिवर्जयन्ते
सम्यक्त्वरत्नमनवद्यपदप्रदायि ।
भ्राम्यन्ति तेऽपि न चिरं भववारिराशौ
तद्विभ्रतां चिरतर किमिहास्ति वाच्यम् ॥ ८६
पापं यदर्जितमनेकभवैर्दुरन्तैः
सम्यक्त्वमेतदखिल सहसा हिनस्ति ।
भस्मीकरोति सहसा तृणकाष्ठराशि
किं नोर्जितोज्ज्वलशिखो ज्वलनः समृद्धम् ॥ ८७
नैव भवस्थितिवेदिनि जीवे दर्शनशालिनि तिष्ठति दु खम् ।
कुत्र हिमस्थितिरस्ति हि देशे ग्रीष्मदिवाकरदीधितितप्ते ॥ ८८
भुवनजनताजन्मोत्पत्तिप्रपञ्चनिषूदिनी,
जिनमतरुचिश्चिन्तामण्या यकैरुपमीयते ।
त्रिदशसरणीं ते भाषन्ते समा परमाणुना,
प्रभवति मतिर्मिथ्या मिथ्यादृशामथवा सदा ॥ ८९

महान् उदयवाले और समस्त दोषोंके समूहसे रहित ऐसे सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो जानेपर जीवोंमे लक्ष्मीके निवासभू अनेक गुण स्वय विकासको प्राप्त होते है। जैसे रात्रिके दूर होनेपर और सूर्यके उदय होने पर सरोवरमे कमलोका समूह विकासको प्राप्त होता है ॥८४॥ ससारमे सम्यग्दर्शनरूप बन्धुके समान दूसरा कोई बन्धु नही, सम्यग्दर्शनके लाभके समान कोई अन्य लाभ नही, सम्यग्दर्शनरूप मित्रके समान कोई दूसरा मित्र नही और सम्यग्दर्शनके सुखके समान और कोई दूसरा सुख नही है ॥८५॥ ऐसे निर्दोष मोक्ष पदके देनेवाले सम्यक्त्वरूप रत्नको एक मुहूर्त-मात्रके लिए भी पाकर जो छोड देते है, वे जीव भी ससार-समुद्रमे चिरकाल तक परिभ्रमण नही करते है। फिर जो इस सम्यक्त्व रत्नको चिरकाल तक धारण करते है। उनका तो कहना ही क्या है ॥८६॥

जीव अनेक दुरन्त भावों द्वारा जो पाप उपार्जित करता है, उस सबको यह सम्यक्त्व सहसा क्षणमात्रमे विनष्ट कर देता है। क्या स्फुरायमान उज्ज्वल शिखाओवाली अग्नि, तृण और काष्ठके विशाल समूहको सहसा भस्म नही कर देती है ॥८७॥ ससारकी स्थिति जाननेवाले ऐसे सम्यग्दर्शनसे युक्त जीवमे दु.ख नही ठहर सकते है। जैसे ग्रीष्मकालके सूर्यकी किरणोसे प्रदीप्त प्रदेशमे शीतकी स्थिति कैसे रह सकती है ॥८८॥ तीनों लोकोके प्राणियोके ससारकी उत्पत्तिके प्रबन्धको नाश करनेवाली ऐसी जिनमत-विषयक श्रद्धाको जो लोग चिन्तामणिरत्नसे उपमा देते है, वे लोग आकाशको परमाणुके समान कहते है। अर्थात् चिन्तामणिरत्नसे जिनमतकी श्रद्धारूप सम्यक्त्वरत्न बहुत अधिक महत्त्वशाली है। अथवा मिथ्यादृष्टि जीवोकी बुद्धि सदा

अवहितमनाः सद्मोत्सङ्गं निधानमिवोत्तमं,
नयति हृदयं यः सम्यक्त्वं शशाङ्ककरोज्ज्वलम् ।
अमितगतयः क्षिप्रं लक्ष्म्यः श्रयन्ति तमादृता
निरुपमा गुणाः कान्तं कान्तं स्वयं प्रमदा इव ।। ९०

इत्युपासकाचारे द्वितीयः परिच्छेदः

तृतीयः परिच्छेदः

जीवाजीवादितत्त्वानि ज्ञातव्यानि मनीषिणा । श्रद्धानं कुर्वता तेषु सम्यग्दर्शनधारिणा ।। १
तत्र जीवा द्विधा ज्ञेया मुक्तसंसारिभेदतः । अनादिनिधनाः सर्वे ज्ञानदर्शनलक्षणाः ।। २
तत्र क्षताष्टकर्माणः प्राप्ताष्टगुणसम्पदः । त्रिलोकवेदिनो मुक्तास्त्रिलोकाग्रनिवासिनः ।। ३
अनन्तरेषदूनांगसमानाकृतयः स्थिराः । आत्मनीनजनाभ्यर्च्या भाविनं कालमासते ।। ४
संसारिणो द्विधा जीवाः स्थावराः कथितास्त्रसाः । द्वितीयेऽपि प्रजायन्ते पूर्णापूर्णतया द्विधा ।। ५
आहारविग्रहाक्षानवचोमानसलक्षणम् । पर्याप्तीनां मतं षट्कं पूर्णापूर्णत्वकारणम् ।। ६
चतस्रः पञ्च षड्ज्ञेयास्तेषां पर्याप्तयोऽङ्गिनाम् । एकाक्षविकलाक्षाणां पञ्चाक्षाणां यथाक्रमम् ।।७

मिथ्यारूप ही रहती है, इसमे कोई आश्चर्य नही है ।।८९।। जो मनुष्य सावधान चित्त होकर चन्द्रकिरणोंके समान उज्ज्वल सम्यक्त्वको घरके मध्यमें स्थित निधि ज्यों अपने हृदयमे धारण करता है उस मनुष्यका अपरिमित ज्ञानवाली और अनुपम गुणोंको धारण करनेवाली लक्ष्मियाँ शीघ्र ही आदरपूर्वक आश्रय लेती है। जैसे कि सुन्दर पतिको उत्तम स्त्रियाँ स्वयं प्राप्त होती है ।।९०।।

इस प्रकार अमितगति-विरचित श्रावकाचारमे द्वितीय परिच्छेद समाप्त हुआ।

सम्यग्दर्शनके धारक मनीषी पुरुषको जीव, अजीव आदि तत्त्वोका श्रद्धान करते हुए उन्हे सम्यक् प्रकारसे जानना चाहिये ।।१।। उन सात तत्त्वों में जीव मुक्त और संसारीके भेदसे दो प्रकारसे जानना चाहिये । ये सभी जीव अनादिनिधन है,अर्थात् आदि अन्तसे रहित है और ज्ञान-दर्शन लक्षणवाले है ।।२।। उनमे जो मुक्त जीव है, वे अष्टकर्मोसे रहित है, सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंकी सम्पदाको प्राप्त है, तीनो लोकोके ज्ञाता है और लोकके अग्र भाग पर निवास करते है ।।३।। वे मुक्त जीव अन्तिम शरीरसे कुछ कम समान आकारके धारक है, स्थिर है, आत्म-हितैषी जनोंसे पूज्य है और आगामी अनन्त काल तक इसी स्वरूपसे अवस्थित रहेगे ।।४।। ससारी जीव दो प्रकारके कहे गये है–त्रस और स्थावर। ये दोनो ही प्रकारके जीव पर्याप्त और अपर्याप्तरूपसे दो प्रकारके होते हैं ।।५।। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, वचन और मन लक्षणवाली ये छह पर्याप्तियाँ उनके पर्याप्त और अपर्याप्तपनेकी कारण मानी गई है ।।६।। भावार्थ–जिनके अपने योग्य पर्याप्तियोकी पूर्णता होती है, वे पर्याप्त जीव कहलाते है और जिनके पूर्णता नही होती है, वे अपर्याप्त जीव कहलाते है। उन एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्राणियोंके

एकाक्षाः स्थावरा जीवाः पञ्चधा परिकीर्तिताः। पृथिवी सलिलं तेजो मारुतश्च वनस्पतिः ॥ ८
भेदास्तत्र त्रयः पृथ्व्याः कायकायिकतद्भवाः। निर्मुक्तस्वीकृतागामिरूपा एव परेष्वपि ॥ ९
मता द्वित्रिचतुःपञ्चहृषीकास्त्रसकायिकाः। पञ्चाक्षा द्विविधास्तत्र संज्ञ्यसंज्ञिविकल्पतः ॥ १०
सङ्केतदेशनालापग्राहिणः सञ्ज्ञिनो मताः। प्रवृत्तमानसप्राणा विपरीतास्त्वसञ्ज्ञिन. ॥ ११
स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमतीन्द्रियम्। तस्य स्पर्शरसौ गन्धो रूप शब्दश्च गोचर. ॥ १२
गण्डूपदजलौकाख्यकृमिशङ्खेन्द्रगोपकाः। गदिता विविधाकारा द्विहृषीकाः शरीरिणः ॥ १३
यूकापिपीलिकालिक्षाकुन्थुमत्कुणवृश्चिकम्। त्रिहृषीकं मतं प्राज्ञैर्विचित्राकारसयुतम् ॥ १४
पतङ्गमक्षिकादंशमशका भ्रमरादयः। चतुरक्षा बिबोद्धव्या विबुद्धजिनशासनं. ॥ १५
तिर्यग्योनिभवाः शेषाः श्वाभ्रमानवनाकिन। विभिन्ना विविधैर्भेदैः स्वीकृतेन्द्रियपञ्चकाः ॥ १६
हृषीकपञ्चकं भाषाकायस्वान्तबलत्रिकम्। आयुरुच्छ्वासनिश्वासद्वन्द्वं प्राणा दशोदिताः ॥ १७
शरीराक्षायुरुच्छ्वासा भाषिता निखिलेष्वपि। विकलासंज्ञिनां वाणी पूर्णानां संज्ञिनां मन. ॥ १८

यथाक्रमसे चार, पाँच और छह पर्याप्तियाँ जानना चाहिये ॥७॥ भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवके आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ होती है। द्वीन्द्रियसे लगाकर असज्ञी पंचेन्द्रिय तकके विकलेन्द्रिय जीवके उक्त चार और वचन ये पाँच पर्याप्तियाँ होती है और सज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोके मन-सहित शेष सब अर्थात् छह पर्याप्तियाँ होती है। एकेन्द्रिय स्थावर जीव पाँच प्रकारके कहे गये है—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ॥८॥ इनमेसे पृथिवीके तीन भेद है—पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव। एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक जीवके द्वारा छोडा गया शरीर पृथिवीकाय कहलाता है। पृथिवीजीवके द्वारा धारण किया हुआ शरीर पृथिवीकायिक कहलाता है और जो एकेन्द्रिय जीव आगामी समयमें पृथिवोकायिक होने वाला है, ऐसा विग्रह-गति वाला अन्तरालवर्ती जीव पृथिवी जीव कहलाता है। इसी प्रकारसे जल आदि शेष चार प्रकारके एकेन्द्रिय जीवोके भी तीन-तीन भेद जानना चाहिये ॥९॥

त्रसकायिक जीव चार प्रकारके माने गये है—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय-जीव। इनमें पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे दो प्रकारके जानना चाहिये ॥१०॥ जो जीव शिक्षा, उपदेश, आलाप (शब्द) के ग्रहण करनेवाले है, जिनके मनप्राण पाया जाता है, वे संज्ञी कहलाते है। इनसे विपरीत जीवोंको असज्ञी जानना चाहिये ॥११॥ इन्द्रियाँ पॉच होती हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इनका विषय क्रमसे स्पर्श, रस गन्ध, रूप और शब्द हैं ॥१२॥ गिडोला, जौक, कौडी, कृमि, शख और इन्द्रगोप आदि नाना आकार वाले द्वीन्द्रिय जीव कहे गये है ॥१३॥ जू, कीडी, लीख, कुन्थु, खटमल, बिच्छू आदि विचित्र आकारोसे सयुक्त त्रीन्द्रियजीव ज्ञानियोने कहे है ॥१४॥ पतग, मक्खी, डाँस, मच्छर और भौंरा आदि चतुरिन्द्रिय जीव जिनशासनके जानकारो द्वारा ज्ञातव्य है ॥१५॥ उपर्युक्त जीवोके सिवाय शेष तिर्यग्योनिके अनेक भेदवाले जीव तथा नारकी, मनुष्य और देव ये सभी पंचेन्द्रिय जीव जानना चाहिये ॥१६॥ पाँच इन्द्रियाँ, भापाबल, कायबल ये तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दो इस प्रकार दश प्राण कहे गये है ॥१७॥ शरीर, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण सभी एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवोके होते है। विकलेन्द्रिय और असज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवोके वाणी (वचन)

एकद्वित्रिचतु.पञ्चहृषीकाणां विभाजिता. । अन्येषां त्रिचतु:पञ्चषट् सप्ताङ्गायुरिन्द्रियैः ॥ १९
जरायुजाण्डजाः पोता गर्भजा देवनारकाः । उपपादभवा शेषाः सम्मूर्च्छनभवा मता· ॥ २०
श्वाभ्रसम्मूर्च्छिनो जीवा भूरिपापा नपुंसकाः । स्त्रीपुंवेदा मता देवा सवेदास्त्रितयाः परे ॥ २१
सचित्तः संवृत्तः शीतः सेतरो वा विमिश्रकः । विभेदैरान्तरैर्भिन्ना नवधा योनिरङ्गिनाम् ॥ २२
भूरूहेषु दश ज्ञेयाः सप्त नित्यान्यधातुषु । नारकामरतिर्यक्षु चत्वारो विकलेषु षट् ॥ २३
चतुर्दश मनुष्येषु योनयः सन्ति पिण्डिताः । सर्वे शतसहस्राणामशीतिश्चतुरुत्तराः ॥ २४
गतीन्द्रियपुर्योगज्ञानवेदक्रुधादयः । सयमाहारभव्येक्षालेश्यासम्यक्त्वसंज्ञिनः ॥ २५
मार्ग्यन्ते सर्वदा जीवा यासु मार्गणकोविदै । सम्यक्त्वशुद्धये मार्ग्यास्ताश्चतुर्दश मार्गणाः ॥ २६

प्राण होता है और संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंके मन प्राण होता है ॥१८॥ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवोके उत्तरोत्तर विभाजित अधिक-अधिक प्राण होते है। अर्थात् एकेन्द्रिय जीवके स्पर्शनेन्द्रिय, शरीर, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते है। द्वीन्द्रिय जीवके रसनेन्द्रिय और वचन-सहित छह प्राण, त्रीन्द्रिय जीवके घ्राणेन्द्रिय-सहित सात प्राण, चतुरिन्द्रिय जीवके चक्षुरिन्द्रिय-सहित आठ प्राण, असंज्ञी पचेन्द्रियके श्रोत्रेन्द्रिय-सहित नौ प्राण और सज्ञी पचेन्द्रियके मन-सहित दश प्राण होते है। पर्याप्तकोसे भिन्न जो अपर्याप्त जीव हैं, उनमे एकेन्द्रियके स्पर्शनेन्द्रिय, शरीर और आयु ये तीन प्राण होते है। द्वीन्द्रियके रसना-सहित चार प्राण होते है। त्रीन्द्रियके घ्राण-सहित पाँच प्राण चतुरिन्द्रिय के चक्षु-सहित छह प्राण और पचेन्द्रियके श्रोत्र-सहित सात प्राण होते है, ऐसा जानना चाहिये ॥१९॥

माताके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले जीव तीन प्रकार के होते है—जरायुज, अण्डज और पोत। देव और नारकी उपपाद जन्म वाले है और शेष सर्व जीव सम्मूर्च्छन जन्मवाले माने गये है ॥२०॥ अत्यन्त पापी, नारकी और सम्मूर्च्छन जीव नपुसकवेदी है। देव, स्त्री और पुरुषवेदी होते है। इनके सिवाय शष सर्व जीव तीनो वेदवाले माने गये है ॥२१॥ सचित, सवृत, शीत इनसे विपरीत अचित्त, विवृत और उष्ण तथा मिश्रित अर्थात् सचित्ताचित्त, सवृतविवृत और शीतोष्ण इस प्रकार अन्तर भेदोसे भेदको प्राप्त नौ प्रकारकी योनियाँ देह-धारियोके होती हैं ॥२२॥ इन योनियोके उत्तर भेद ८४ लाख है। उनमेसे वृक्षोकी दस लाख योनियाँ जानना चाहिये। नित्यनिगोद, इतरनिगोद और पृथ्वीकायिक आदि चार धातुवाले एकेन्द्रिय जीवोके ७-७ लाख योनियाँ होती है। नारकी,देव और पंचेन्द्रिय तिर्यचोकी ४-४ लाख योनियाँ होती है। विकलत्रय-जीवोकी ६ लाख योनियाँ है और मनुष्योमे १४ लाख योनियाँ होती है। इस प्रकार सभी मिलकर (१० + (७×६=) ४२ + ४ + ४ + ४ + ६ + १४=८४) चौरासी लाख योनियाँ होती है। ये सभी सचित्तादि योनियोके ही उत्तरभेदरूप जानना चाहिये ॥२३-२४॥ जीवोके अन्वेषणमे चतुर पुरुषोके द्वारा जिन आधारो पर जीव सदा अन्वेषण किये जाते है, उन्हे मार्गणा कहते है। वे मार्गणाएँ चौदह होती है—१ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७. ज्ञान, ८ सयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११. भव्यत्व, १२ सम्यक्त्व, १३. सज्ञित्व और १४. आहार-मार्गणा। अपने सम्यक्त्वकी शुद्धिके लिए ज्ञानियोको सदा इनके द्वारा जीवोका अन्वेषण करना

मिथ्यादृक् सासादनो मिश्रदृष्टिः सम्यग्दृष्टिः संयतासंयताख्यः।
ज्ञेयावन्यौ द्वौ प्रमत्ताप्रमत्तौ सत्ता पूर्वेणानिवृत्त्यल्पलोभौ ॥ २७
शान्तक्षीणौ योग्ययोगौ जिनेन्द्रौ द्विः सप्तैवं ते गुणस्थानभेदाः।
त्रैलोक्याग्रारूढिसोपानमार्गास्तथ्यं येषु ज्ञायते जीवतत्त्वम् ॥ २८

धर्माधर्मनभःकालपुद्गला. परिकीर्तिताः। अजीवाः पञ्च सूत्रज्ञैरुपयोगविवर्जिताः ॥ २९
अमूर्ता निष्क्रिया नित्याश्चत्वारो गदिता जिनैः। रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवन्तोऽत्र पुद्गलाः ॥ ३०
लोकालोकौ स्थितं व्याप्य व्योमानन्तप्रदेशकम्। लोकाकाशं स्थितौ व्याप्य धर्माधर्मौ समन्ततः ३१
धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयाः प्रदेशकः। अनन्तानन्तमानास्ते पुद्गलानामुदाहृताः ॥ ३२
जीवानां पुद्गलानां च गतिस्थितिविधायिनौ। धर्माधर्मौ मतौ प्राज्ञैराकाशमवकाशकृत् ॥ ३३
असंख्यभुवनाकाशे कालस्य परमाणवः। एकैका वर्तना कार्या मुक्ता इव व्यवस्थिता ॥ ३४
जीवितं मरणं सौख्यं दु.खं कुर्वन्ति पुद्गलाः। अणुस्कन्धविकल्पेन विकल्पद्वयभागिन ॥ ३५
विश्वम्भराजलच्छायाचक्षुरिन्द्रियगोचरा। कर्माणि परमाणुश्च षड्विधः पुद्गलो मतः ॥ ३६
स्थूलस्थूलमथ स्थूलं स्थूलसूक्ष्मं जिनेश्वरैः। सूक्ष्मस्थूलं मतं सूक्ष्मं सूक्ष्मसूक्ष्मं यथाक्रमम् ॥ ३७
यद्वाक्कायमनःकर्म योगोऽसावास्रवः स्मृतः। कर्मास्रवत्यनेनेति शब्दशास्त्रविशारदैः ॥ ३८

चाहिये ॥२५-२६॥ त्रैलोक्यके अग्र भागपर चढनेके लिए सोपान मार्गके समान चौदह गुणस्थान कहे गये हैं—१. मिथ्यादृष्टि, २. सासादन, ३. मिश्रदृष्टि, ४ असयतसम्यग्दृष्टि, ५ सयतासयत, ६. प्रमत्तसंयत, ७ अप्रमत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण ९. अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मलोभ, ११. उपशान्तमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगिजिनेन्द्र और १४. अयोगिजिनेन्द्र। इन चौदह गुणस्थानोंमे जीवतत्त्वका वास्तविक तथ्य जाना जाता है ॥२७-२८॥

अब अजीवतत्त्वका वर्णन करते हैं। जैन सूत्रज्ञ पुरुषोने चैतन्य उपयोगसे रहित अजीवद्रव्य पाँच प्रकारके कहे है—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य और पुद्गलद्रव्य ॥२९॥ इनमेंसे प्रारम्भके चार द्रव्य जिनेन्द्रदेवने अमूर्त, निष्क्रिय और नित्य कहे है। पुद्गलद्रव्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दवाला कहा है ॥३०॥ आकाशके अनन्त प्रदेश है और वे लोक-अकोकको व्याप्त करके सर्वत्र स्थित है। धर्म और अधर्मद्रव्य समानरूपसे सारे लोकाकाशको व्याप्त करके स्थित है ॥३१॥ धर्म, अधर्म और एक जीवके असंख्यात-असंख्यात प्रदेश हैं। और पुद्गलोके प्रदेश अनन्तानन्त प्रमाण कहे गये है ॥३२॥ ज्ञानियोने धर्म और अधर्मद्रव्यको क्रमसे जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिके करानेवाला कहा है, अर्थात् धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलोकी गतिमे और अधर्मद्रव्य स्थितिमे सहायक होता है। आकाशद्रव्य सर्वद्रव्योको अवकाश देता है ॥३३॥ लोकाकाशमे कालके परमाणु असंख्यात है। वर्तना इनका कार्य है और ये मुक्ताफलके समान लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर भिन्न-भिन्न रूपसे अवस्थित है ॥३४॥ पुद्गल जीवोको जीवन, मरण और सुख-दुःख करते है। अणु और स्कन्धके भेदसे पुद्गलद्रव्यके दो भेद कहे गये है ॥३५॥ जिनेश्वर देवने पुद्गलको छह प्रकारका कहा है—१ स्थूल-स्थूल, जैसे पृथ्वी। २. स्थूल, जैसे जल। ३ स्थूलसूक्ष्म, जैसे छाया ४. सूक्ष्मस्थूल, जैसे नेत्र विना शेष चार इन्द्रियोके विपय रस, गन्ध आदि। ५ सूक्ष्म, जैसे कर्म-वर्गणा। और ६. सूक्ष्मसूक्ष्म, जैसे परमाणु ॥३६-३७। अब आस्रव-

शुभः शुभस्य विज्ञेयस्तत्रान्योऽन्यस्य कर्मणः। कारणस्यानुरूपं हि कार्यं जगति जायते ॥ ३९
संसारकारणं कर्म सकषायेण गृह्यते। येनान्येनाऽकषायेण कषायस्तेन वर्ज्यते ॥ ४०

ज्ञाताज्ञातामन्दमन्दादिभावैश्चित्रैश्चित्र जन्यते कर्मजालम्।
नाचित्रत्वे कारणस्येह कार्यं किञ्चिच्चित्रं दृश्यते जायमानम् ॥ ४१
तिरस्कारमात्सर्यपैशुन्यविघ्नप्रपतापलापादिदोषैरनेकैः।
विबोधावरोधस्तदीक्षावरोधो दुरन्तैः कृतैर्गृह्यते गर्हणीयः ॥ ४२
वधाक्रन्ददैन्यप्रलापप्रपञ्चैर्निकृष्टेन तापेन शोकेन सद्यः।
परात्मोभयस्थेन कर्माङ्गिवर्गैरसात सदा गृह्यते दुःखपाकम् ॥ ४३
साधूपास्याप्राणिरक्षातितिक्षासर्वज्ञार्चादानशौचादियोगैः।
सातं कर्मोत्पद्यते शर्मपाक शिष्टाभीष्टैः पोषितैः सज्जनैर्वा ॥ ४४
मोक्तव्येनावर्णवादेन देवे धर्मे सङ्घे वीतरागे श्रुते च।
मद्येनेवास्वाद्यमानेन सद्यो घोराकारो जन्यते दृष्टिमोहः ॥ ४५

तत्त्वका वर्णन करते है—मन, वचन, कायकी क्रियाको योग कहते है और उसे ही आस्रव कहा गया है। जिसके द्वारा कर्म आते है, उसे आस्रव कहते है, इस प्रकारकी निरुक्ति आस्रव शक्तिकी शब्दशास्त्रके वेत्ताओंने की है ॥३८॥ मन, वचन, कायकी शुभ क्रिया रूप योग शुभ कर्मके आस्रवका कारण है और अशुभ योग अशुभ कर्मके आस्रवका कारण है। क्योंकि जगत्मे कारणके अनुरूप ही कार्य होता है ॥३९॥ यतः सकषाय जीवके द्वारा संसारका कारणभूत कर्म ग्रहण किया जाता है और अकषाय जीवके द्वारा कर्म नही ग्रहण किया जाता है, अत कषायको त्यागने योग्य कहा गया है ॥४०॥

ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, तीव्रभाव, मन्दभाव और आदि शब्दसे अधिकरण और वीर्य आदि नाना प्रकारके भावोसे अनेक प्रकारका कर्मजाल उत्पन्न होता है, अर्थात् भावोंकी हीनाधिकता आदि कारणोसे कर्मके आस्रवमे विभिन्नता पाई जाती है। क्योकि लोकमे कारणकी विचित्रता-के अभावमे कार्यकी विचित्रता उत्पन्न होती हुई नही देखी जाती हैं ॥४१॥ ज्ञान और दर्शनका, तथा इनके धारण करनेवाले जीवोंका तिरस्कार करना, उनसे मत्सरभाव रखना, चुगली खाना, विघ्न करना, विघात करना और उन्हे झूठे दोष लगाना, इत्यादि अनेक प्रकारके दोषयुक्त दुरन्त कार्योसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका निन्दनीय आस्रव होता है ॥४२॥ प्राणियोका वध करना, आक्रन्दन करना, दीनपना प्रकट करना, बकवाद करना, सन्ताप करना, शोक करना इत्यादि निष्कृष्ट कार्य चाहे स्वय करे, चाहे अन्यमे उत्पन्न करावे और चाहे स्व और पर दोनोमे ही पैदा करे, इनसे प्राणिवर्ग दु ख देनेवाले असातावेदनीय कर्मको ग्रहण करता है ॥४३॥ साधुओ-की उपासना करना, प्राणियोंकी रक्षा करना, क्षमाभाव रखना, सर्वज्ञदेवका पूजन करना, दान देना, निर्लोभ परिणाम रखना आदि पुण्यरूप कार्योसे सुख देनेवाले सातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। जैसे कि पालन-पोषण किये गये शिष्ट, इष्ट और सज्जनोसे सुख प्राप्त होता है ॥४४॥ वीतराग, देव, धर्म, संघ और शास्त्रके विषयमे किये निन्द्य त्याज्य अवर्णवादसे घोर भयकर

सौख्यध्वंसी जन्यते निन्दनीयो रौद्रो भावो यः कषायोदयेन ।
धत्ते जन्तोरेष चारित्रमोहं विद्वेषी वाऽऽराध्यमानो निकृष्टः ॥ ४६
बह्वारम्भग्रन्थसन्दर्भदर्पै रौद्राकारैस्तीव्रकोपादिजन्यैः ।
श्वभ्रावासे प्राप्यते जीवितव्यं किंवा दु.खं दीयते नाघचष्टैः ॥ ४७
नानाभेदा कूटमानादिभेदैर्मायाऽनिष्टाऽऽराध्यमाना जनानाम् ।
तैर्यग्योन्यं जीवितव्यं विधत्ते किंवा दत्ते वञ्चना न प्रयुक्ता ॥ ४८
अल्पारम्भग्रन्थसन्दर्भदर्पैः सौम्याकारैर्मन्दकोपादिजन्यैः ।
सद्यो जीवो नीयते मानुषत्वं किं नो सौख्यं दीयते शान्तरूपैः ॥ ४९
सम्यग्दृष्टिः श्रावकीयं चरित्रं चित्रा कामा निर्जरा रागिवृत्तम् ।
आयुर्देवं प्राणभाजां ददन्ते शान्ता भावाः किं न कुर्वन्ति सौख्यम् ॥ ५०
संवादित्वं प्राञ्जला योगवृत्तिर्नाम्नो ज्ञेयं कारणं पूजितस्य ।
वक्रो योगोऽवादि संवादहान्या सार्धं हेतुर्निन्दनीयस्य तस्य ॥ ५१
नीचैर्गोत्रं स्वप्रशंसाऽन्यनिन्दे कुर्वाणोऽसत्सद्गुणोद्भावनाशी ।
प्राप्नोत्यङ्गी प्रार्थनीयं महेष्टैरुच्चैर्गोत्रं मङ्क्षु तद्वैपरीत्ये ॥ ५२

दर्शनमोहकर्मका आस्रव होता है। जैसे कि आस्वादे गये मद्यसे शीघ्र ही घोर आकार वाली बेहोशी प्राप्त होती है ॥४५॥ कषायके उदयसे जो सुखका विध्वंसक निन्दनीय रौद्रभाव उत्पन्न होता है, वह जीवके चारित्रमोहकर्मका आस्रव कराता है। जैसे कि आराधना किया गया निकृष्ट पुरुष चित्तमें विद्वेष भाव उत्पन्न कराता है ॥४६॥ बहुत आरम्भ, परिग्रहके सन्दर्भसे उत्पन्न हुए तथा रौद्र आकारवाले तीव्र क्रोधादि कषायोके द्वारा प्रकट हुए दुर्भावोंसे यह जीव नारकावासमे जीवनको प्राप्त करता हैं, अर्थात् उक्त प्रकारके भावोसे नारकायुका आस्रव होता है। आचार्य कहते है कि पापरूप चेष्टाओंके द्वारा कौन-सा दु.ख नही दिया जाता है ॥४७॥ कूट नाप तौल आदि अनेक प्रकारोंसे आराधना की गई अनेक भेदवाली अनिष्ट मायाचारी जीवोंको तिर्यग्योनियोमे जीवन प्रदान करती है; अर्थात् मायाचारसे तिर्यगायुकर्मका आस्रव होता हैं। दूसरोके साथ की गई वंचना क्या दु.ख नही देती? अर्थात् दु.ख देती ही है ॥४८॥ अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए, सौम्य आकार वाले मन्द क्रोधादि-जनित भावोसे जीव शीघ्र ही मनुष्य भवको प्राप्त करता है, अर्थात् मनुष्यायुका आस्रव करता है। आचार्य कहते है कि शान्तरूप परिणामोंसे क्या सुख नही प्राप्त होता है? होता ही है ॥४९॥

सम्यग्दर्शन धारण करना, श्रावकका चारित्र पालना, नाना प्रकारकी अकामनिर्जरा करना, सराग चारित्र पालना इत्यादि कार्य प्राणियोको देवायु प्रदान करते है। सो ठीक ही है-शान्त परिणाम क्या सुख नही देते है? देते ही हैं? ॥५०॥ विसंवाद-रहित आचरण करना और मन वचन कायकी उज्ज्वल वृत्ति रखना शुभनामकर्मके आस्रवके कारण जानना चाहिए। विसवाद करना और योगोंकी कुटिलता रखना निन्दनीय अशुभनामकर्मके आस्रवके कारण है ॥५१॥ अपनी प्रशंसा करना, अन्यकी निन्दा करना, अपने असत् गुणोंको प्रकट करना और दूसरोके सद् गुणोको भी आच्छादित करना, इत्यादि कार्योंसे जीव नीचगोत्रकर्मका आस्रव करता हैं। इनसे विपरीत

दानं लाभो वीर्यभोगोपभोगा नो लभ्यन्ते देहिना विघ्नभाजा।
विज्ञायेत्थं विघ्नभीतेन विघ्नो नो कर्त्तव्यः पण्डितेन त्रिधाऽपि ॥ ५३
ये गृह्यन्ते पुद्गलाः कर्मयोग्याः क्रोधाद्याढ्यैश्चेतनैरेष बन्धः।
मिथ्या दृष्टिर्निर्व्रतत्वं कषायो योगो ज्ञेयस्तस्य बन्धस्य हेतुः ॥ ५४
बन्धः स मतः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन।
पटुभिश्चतुष्प्रकारो येन भवे भ्रम्यते जीवः ॥ ५५
स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो विभागस्तु प्रदेशोऽशप्रकल्पनम् ॥ ५६
करोति योगात्प्रकृतिप्रदेशौ कषायतः स्थित्यनुभागसञ्ज्ञौ।
स्थितिं न बन्धः कुरुते कषाये क्षीणे प्रशान्ते स ततोऽस्ति हेयः ॥ ५७
स्वीकरोति सकषायमानसो मुञ्चते च विकषायमानसः।
कर्म जन्तुरिति सूचितो विधिर्बन्धमोक्षविषयो विबन्धकैः ॥ ५८
आस्रवस्य निरोधो यः संवरः स निगद्यते।
भावद्रव्यविकल्पेन द्विविधः कृतसंवरैः ॥ ५९

कार्योके करने पर महापुरुषोके द्वारा प्रार्थनीय उच्चगोत्रको जीव शीघ्र ही प्राप्त करता है ॥५२॥ दुसरोंके दान, लाभ, वीर्य, भोग और उपभोगमे विघ्न करनेवाले जीव दान, लाभ, वीर्य, भोग और उपभोगको नही पाते है, ऐसा जानकर विघ्नसे भयभीत पडितजनोको मन, वचन और कायसे किसीके भी लाभ, भोग-उपभोगादिमे विघ्न नही करना चाहिये ॥५३॥ अब बन्धतत्त्वका वर्णन करते है—क्रोधादि कषायोसे मुक्त जीवोके द्वारा जो कर्मयोग्य पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं, वह बन्ध कहलाता हैं। उस बन्धके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति,कषाय और योग जानना चाहिये ॥५४॥ प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे वह बन्ध प्रवीण पुरुषोने चार प्रकारका कहा है। इस बन्धके द्वारा ही जीव संसारमे परिभ्रमण करता है ॥५५॥ ज्ञानावरणादि कर्मोके ज्ञानादिके आवरण करनेके स्वभावको प्रकृतिबन्ध कहते है। बँधे हुए कर्म जितने समय तक आत्मासे सलग्न रहेगे, उतने कालकी मर्यादाको स्थितिबन्ध कहते है। कर्मोके फल देनेके विपाकको अनुभागबन्ध कहते है और आये हुए कर्मपरमाणुओमे ज्ञानावरणादि-रूपसे उनके विभाग होनेको प्रदेशबन्ध कहते है ॥५६॥ योगसे प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है, तथा कषायसे स्थिति और अनुभागबन्ध होता है। जब कषाय उपशान्त या क्षीण हो जाते है, तब कर्मोका स्थितिबन्ध नही होता है, अतएव कषाय छोडने योग्य है ॥५७॥ कषाययुक्त चित्तवाला मनुष्य कर्मोको ग्रहण करता है और कषाय-रहित चित्तवाला मनुष्य कर्मोको छोडता है। इस प्रकार कर्मोके बन्ध और मोक्ष विषयक विधि कर्म-बन्धनसे रहित वीतराग सर्वज्ञदेवने सूचितकी हैं ॥५८॥

अब सवर तत्त्वका वर्णन करते है—कर्मोके आस्रवका निरोध करनेवाले मुनीश्वरोके कर्मोके आनेके निरोधको सवर कहा है। वह संवर दो प्रकारका है—द्रव्यसवर और भावसंवर ॥५९॥

क्रोधलोभभयमोहरोधनं भावसंवरमुशन्ति देहिनाम् ।
भाविकल्मषविशेषरोधनं द्रव्यसंवरमपास्तकल्मषम् ।। ६०

धार्मिकः शमितो गुप्तो विनिर्जितपरीषहः । अनुप्रेक्षापरः कर्म संवृणोमि ससंयमः ।। ६१
मिथ्यात्वाव्रतकोपादियोगैः कर्म यदर्ज्यते । तन्निरस्यति सम्यक्त्वव्रतविग्रहरोधनैः ।। ६२
पूर्वोपार्जितकर्मैकदेशसंक्षयलक्षणा । सविपाकाऽविपाका च द्विविधा निर्जराऽकथि ।। ६३
यथा फलानि पच्यन्ते कालेनोपक्रमेण च । कर्माण्यपि तथा जन्तोरुपात्तानि विसंशयम् ।। ६४

अनेहसा या दुरितस्य निर्जरा साधारणा साऽपरकर्मकारिणी ।
विधीयते या तपसा महीयसा विशोषणी साऽपरकर्मवारिणी ।। ६५
वितप्यमानस्तपसा शरीरी पुराकृतानामुपयाति शुद्धिम् ।
न ध्मायमानः कनकोपलः किं सप्तार्चिषा शुद्ध्यति कश्मलेभ्यः ।। ६६
घातिकर्म विनिहत्य केवलं स्वीकरोति भुवनावभासकम् ।
चेतनः सकललोकसन्तत ध्वान्तराशिमिव भास्करो दिवम् ।। ६७
निर्मूलकाष स निकृत्य कल्मषं प्रयाति सिद्धिं कृतकर्मनिर्जरः ।
विनिर्मलध्यानसमृद्धपावके निवेश्य दग्धाऽखिलबन्धकारणम् ।। ६८

पापोंके नाश करनेवाले आचार्योंने क्रोध, लोभ, भय और मोक्षके निरोधको जीवोंका भावसवर कहा है। तथा आनेवाले कर्मोंके प्रवेश रोकनेको द्रव्यसंवर कहा है ।।६०।। दश धर्मोका पालक, पाँच समितियोंमे सावधान, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित, वाईस परीषहोंका विजेता, वाहर अनुप्रेक्षाओंका चिन्तक और पाँचों संयमोका धारक पुरुष आनेवाले कर्मोका संवर करता है ।।६१।। यह जीव मिथ्यात्व, अव्रत, क्रोधादि कषाय और योगके द्वारा जो कर्म उपार्जित करता है, उसे सम्यक्त्व, व्रत, कषाय, निग्रह और योग-निरोधके द्वारा दूर करता है ।।६२।। अव निर्जरातत्त्वका वर्णन करते है—पूर्वोपार्जित कर्मोके एकदेश क्षय होनेको निर्जरा कहते है। सविपाक और अविपाकके भेदसे वह निर्जरा दो प्रकारकी कही गई है ।।६३।। जिस प्रकार वृक्षोंके फल अपने कालसे, तथा पाल आदि उपक्रमसे पकते है, उसी प्रकारसे जीवोके उपार्जित कर्म भी यथाकाल और उपक्रम द्वारा नि.संशय पकते हैं अर्थात् निर्जीर्ण होते है ।।६४।। जो अपना समय पाकर कर्मकी निर्जरा होती हैं, वह साधारण है, अर्थात् सभी संसारी जीवोंके होती है और वह नवीन कर्मका वन्ध कराती हैं। किन्तु जो महान् तपके द्वारा कर्म-निर्जरा की जाती है. वह पूर्व सचित कर्मोको सुखाती हैं और नवीन आनेवाले कर्मोको रोकती है ।।६५।। तपके द्वारा भलीभाँतिसे तपा हुआ मनुष्य पूर्वोपार्जित कर्मोका क्षय कर शुद्धिको प्राप्त होता है। अग्निके द्वारा संदग्ध सुवर्णपाषाण क्या कीट-कालिमासे शुद्ध नही होता हैं? होता ही है ।।६६।। यह चेतन आत्मा घातिया कर्मोको तपके द्वारा विनष्ट करके सर्वलोक-प्रकाशक एवं सर्वजगन्मान्य केवलज्ञानको प्राप्त करता है। जैसे सूर्य अन्धकारके समूहका नाश कर प्रकाशमान दिनको प्राप्त करता है ।।६७।। अतिनिर्मल शुक्लध्यानरूप समृद्ध पावकमें प्रवेश कराके समस्त कर्मवन्धके कारणोंको जलाकर और सचित कर्मोकी निर्जरा करता हुआ यह आत्मा सर्वकर्मोके कल्मषको निर्मूल क्षय करके सिद्धिको प्राप्त करता हैं ।।६८।।

निसर्गतो गच्छति लोकमस्तकं कर्मक्षयानन्तरमेव चेतनः ।
धर्मास्तिकायेन समीरितोऽनघ समीरणेनेव रजश्चयः क्षणात् ।। ६९
निरस्तदेहो गुरुदु खपीडितां विलोकमानो निखिलां जगत्त्रयीम् ।
स भाविनं तिष्ठति कालमुज्ज्वलो निराकुलानन्तसुखाब्धिमध्यग: ।। ७०
यदस्ति सौख्यं भुवनत्रये पर सुरेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्रभोगिनाम् ।
अनन्तभागोऽपि न तन्निगद्यते निरेनस. सिद्धसुखस्य सूरिभिः ।। ७१
इमे पदार्था. कथिता महर्षिभिर्यथायथ सप्त निवेशिता हृदि ।
विनिर्मलां तत्त्वरुचि वितन्वते जिनोपदेशा इव पापहारिणः ।। ७२
विरागिणा सर्वपदार्थवेदिना जिनेशिनैते कथिता न वेत्ति य: ।
करोति शङ्कां न कदापि मानसे नि.शङ्कितोऽसौ गदितो महात्मना ।। ७३
विधीयमानाः शमशीलसंयमाः श्रियं ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम् ।
सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धिनीं निष्कांक्षितो नेति करोति काङ्क्षाम् ।। ७४
तपस्विनां यस्तनुमस्तसंस्कृतिं जिनेन्द्रधर्मं सुतरां सुदुष्करम् ।
निरीक्षमाणो न तनोति निन्दनं स भण्यते धन्यतमोऽचिकित्सन् ।। ७५
देवधर्मसमयेषु मूढता यस्य नास्ति हृदये कदाचन ।
चित्तदोषकलितेषु सन्मतेः सोऽच्यते स्फुटममूढदृष्टिकः ।। ७६

अब मोक्षतत्त्वका वर्णन करते है—उपर्युक्त प्रकारसे यह जीव नवीन- कर्मबन्धके कारणों-का अभाव कर, तथा सचित कर्मोकी निर्जरा कर सर्व कर्मोके क्षयके अनन्तर ही धर्मास्तिकायसे प्रेरित होता हुआ स्वभावसे ही निर्दोष लोकशिखरको प्राप्त हो जाता है। जैसे कि पवनके द्वारा उडाया गया रजका पुञ्ज क्षणमात्रमे ऊपर चला जाता है ।।६९।। इस प्रकार कर्मरूप देहसे रहित अतएव उज्ज्वलताको प्राप्त हुआ यह आत्मा अतिदु खसे पीडित इस समस्त जगत्त्रयको अव-लोकन करता हुआ आगे अनन्तकाल तक निराकुल अनन्त सुख-सागरके मध्यमे निमग्न रहता है ।।७० । तीनो लोकोमे देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र और सौभाग्यशालियोंको जो उत्कृष्ट सौख्य प्राप्त है, वह कर्म-रहित मोक्ष-सुखके अनन्तवे भाग भी नही है, ऐसा आचार्योने कहा है ।।७१।। मह-र्षियोने ये जो सात तत्त्व या पदार्थ कहे हैं उन्हे जो यथार्थ रीतिसे अपने हृदयमे जिनोपदेशके समान धारण करते है, वे जीव पापोको अपहरण करनेवाली अतिनिर्मल तत्त्वकी प्रतीतिको धारण करते है ।।७२।। अब सम्यक्त्वके नि शकित आदि आठ अगोका वर्णन करते है—वीतरागी सर्व-पदार्थोके वेत्ता जिनेन्द्रदेवने ये सर्व पदार्थ कहे है, अथवा नही? इस प्रकारकी शकाको जो कभी भी मनमे नही करता है, महापुरुषोने उसे पहला नि शकित अंग कहा है ।।७३ । मेरे द्वारा किये जानेवाले ये शम, शील और सयम मुझे सांसारिक अनेक प्रकारके सुखोको बढानेवाली मनोवाछित लक्ष्मीको देवे, ऐसी आकाक्षा नि काक्षित गुणका धारक कभी नहीं करता है। यह दूसरा नि.-काक्षित अग है ।।७४।। जो तपस्वियोके सस्कार-रहित मलिन शरीरको और सुतरा अतिदुष्कर जिनेन्द्र धर्मको निरीक्षण करता हुआ भी उनकी निन्दा नही करता है, वह तीसरे निर्विचिकित्सा अगका धारक उत्तम अन्य पुरुष कहा गया है ।।७५।। जिस सुबुद्धिके हृदयमे नाना प्रकारके दोषोसे युक्त कुदेव,कुधर्म और कुमत पर कभी भी मूढता नही है, वह निश्चयसे चौथे अमूढदृष्टि अगका

यो निरीक्ष्य यतिलोकदूषणं कर्मपाकजनितं विशुद्धधीः।
सर्वथाऽप्यदति धर्मबुद्धितः कोविदास्तमुपगूहकं विदुः ॥ ७७
विवर्तमानं जिननाथवर्त्मनो निपीडचमानं विविधैः परीषहैः।
विलोक्य यस्तत्र करोति निश्चलं निरुच्यतेऽसौ स्थितिकारकोत्तमः ॥ ७८
करोति सङ्घे बहुधोपसर्गैरुपद्रुते धर्मधियाऽनपेक्षः।
चतुर्विधव्यापृतिमुज्ज्वलां यो वात्सल्यकारी स मतः सुदृष्टिः ॥ ७९
निरस्तदोषे जिननाथशासने प्रभावनां यो विदधाति भक्तितः।
तपोदयाज्ञानमहोत्सवादिभिः प्रभावकोऽसौ गदितः सुदर्शनः ॥ ८०
गुणैरमीभिः शुभदृष्टिकण्ठिकां दधाति बद्धां हृदि योऽष्टभिः सदा।
करोति वश्याः सकलाः स सम्पदो वधूरिवेष्टाः सुभगो वशंवदः ॥ ८१
सुदर्शनं यस्य स नामभाजनं सुदर्शनं यस्य स सिद्धिभाजनम्।
सुदर्शनं यस्य स धीविभूषितः सुदर्शनं यस्य स शीलभूषितः ॥ ८२
नो जायेते पावने ज्ञानवृत्ते सम्यक्त्वेन प्राणिनो वर्जितस्य।
शर्माधारे कोशराज्ये न दृष्टे नूनं क्वापि न्यायहीनस्य राज्ञः ॥ ८३
सुदर्शनेनेह विना तपस्यामिच्छन्ति ये सिद्धिकरीं विमूढाः।
कांक्षन्ति बीजेन विनाऽपि मन्ये कृषिं समृद्धां फलशालिनीं ते ॥ ८४

धारक कहा गया है ॥७६॥ जो विशुद्धबुद्धि पुरुष साधु लोगोंमें कर्म-विपाक-जनित किसी दूषणको देखकर धर्मबुद्धिसे सर्वथा रक्षा करता है, उसे ज्ञानियोंने पाँचवें उपगूहन अंग का धारक कहा है ॥७७॥ जो विविध परिषहोंसे पीडित होकर जिनराजके धर्ममार्गसे भ्रष्ट होते हुए पुरुषको देखकर उसे धर्ममार्गमें निश्चल करता है, वह छठे स्थितिकरण अंगके धारकोमें उत्तम कहा गया है ॥७८॥ नाना प्रकारके उपसर्गोंके द्वारा पीडित चतुर्विध संघ पर जो वांछा-रहित होकर धर्मबुद्धिसे निर्मल वैयावृत्त्य करता है, वह सातवे वात्सल्य अंगका धारक सम्यग्दृष्टि माना गया हैं ॥७९॥ जो निर्दोष जिनराजके शासनकी तप, दया, ज्ञान, महोत्सवादिके द्वारा शक्तिके अनुसार प्रभावना करता है, वह आठवें प्रभावना अंगका धारी प्रभावक सम्यग्दृष्टि कहा गया है ॥८०॥

जो पुरुष इन उपर्युक्त आठ गुणोसे निबद्ध शुभ सम्यग्दर्शनरूपी कंठी (माला) को सदा अपने हृदयमें धारण करता हैं, वह सर्व सम्पदाओंको अपने वशमे कर लेता है। जैसे कि उत्तम मालाका धारण करनेवाला सौभाग्यशाली मिष्ट-भाषी पुरुष अभीष्ट स्त्रियोंको अपने वशमें कर लेता हैं ॥८१॥ जिसके सम्यग्दर्शन है वही पुरुष सुपात्र है, जिसके सम्यग्दर्शन है वही मुक्तिका भाजन हैं, जिसके सम्यग्दर्शन हैं; वही बुद्धिसे विभूषित है और जिसके सम्यग्दर्शन है वही शीलसे विभूषित है ॥८२॥ सम्यक्त्वसे रहित जीवके ज्ञान और चारित्र पवित्र नही होते है। जैसे निश्चयसे न्याय-रहित राजाके यहाँ सुखके आधारभूत कोष और राज्य नही देखे जाते ॥८३॥ जो मूढमति पुरुष सम्यग्दर्शनके विना केवल तपस्याको सिद्धि (मुक्ति) की करनेवाली मानते हैं, वे मानो बीज-

लोकालोकविलोकिनीमकलिलां गीर्वाणवर्गार्चिताम्,
दत्ते केवलसम्पद शमवतामानीय या लीलया ।
सम्यग्दृष्टिरपास्तदोषनिवहा यस्यास्ति सा निश्चला
तेन प्रापि न किं सुख बुधजनैरभ्यर्च्यमानं स्थिरम् ।। ८५
सम्यक्त्वोत्तमभूषणोऽमितगतिर्धत्ते व्रतं यस्त्रिधा,
भुक्त्वा भोगपरम्परामनुपमां गच्छत्यसौ निर्वृत्तिम् ।
सर्वापायनिषूदिनीमपमलां चिन्तामणि सेवते,
य. पुण्याभरणार्चित· स लभते पूतां न कां सम्पदम् ।। ८६
इत्यमितगतिकृतश्रावकाचारे तृतीय· परिच्छेद. ।।

चतुर्थः परिच्छेदः

केचिद्वदन्ति नास्त्यात्मा परलोकगमोद्यतः । तस्याभावे विचारोऽय तत्त्वानां घटते कुतः ।। १
विद्यते परलोकोऽपि नाभावे परलोकिन. । अभावे परलोकस्य धर्माधर्मक्रिया वृथा ।। २
इहलोके सुखं हित्वा ये तपस्यन्ति दुर्धिय. । हित्वा हस्तगतं ग्रास ते लिह्यन्ति पदाङ्गुलीः ।। ३
विहाय कलिलाशङ्कां सन्चेष्टं चेष्टतां जनः । चेतनस्य विनष्टस्य विद्यते न पुनर्भवः ।। ४
नान्यलोकमति· कार्या मुक्त्वा शर्मैहलौकिकम् । दृष्ट विहाय नादृष्टे कुर्वते धिषणां बुधाः ।। ५

के विना ही फलशालिनी समृद्ध कृषिको चाहते है ।।८४।। जो लोक-अलोकको अवलोकन करने-वाली, निर्मल-समूहसे पूजित ऐसी कैवल्यसम्पदा शमभावी साधुओंको लीलामात्रसे लाकर देती है, ऐसी सर्वदोष-समुदायसे रहित यथार्थ सच्ची दृष्टि जिसके हृदयमें निश्चलरूपसे विद्यमान है,उस पुरुषने ज्ञानियोसे प्रार्थनीय सुखको क्या चिरकालके लिए नही पा लिया है? पा ही लिया है ।।८५।। जो सम्यक्त्वरूप उत्तम आभूषणका धारक अमितगति पुरुष व्रतोको मन वचन कायरूप त्रियोगसे धारण करता है,वह अनुपम भोगोकी परम्पराको भोग कर मोक्षको प्राप्त होता है । जो पुण्यरूप आभूषणसे अर्चित मनुष्य सर्व अपायोकी नाश करनेवाली मल-रहित चिन्तामणिको सेवन करता है, वह किस पवित्र सम्पदाको नही प्राप्त करता है? अर्थात् सभी प्रकारकी सम्पदाओंको पाता है ।।८६।।

इस प्रकार अमितगति-रचित श्रावकाचारमे तीसरा परिच्छेद समाप्त हुआ ।

कितने ही नास्तिकमति चार्वाक कहते है कि परलोकमे गमन करनेको उद्यत कोई आत्मा दिखाई नही देता है, इसलिये उसके अभावमे तत्त्वोका यह पूर्वोक्त विचार कैसे सुघटित हो सकता है ।।१।। परलोकमे जानेवाले आत्माके अभावमे परलोक भी सिद्ध नही होता है और इस प्रकार परलोकके अभावमे धर्म-अधर्मकी क्रिया व्यर्थ है ।।२।। जो दुर्बुद्धि पुरुष इस लोकके सुखको छोडकर तपश्चरण करते हैं, वे मानो हस्त-गत ग्रासको छोडकर पैरकी अँगुलीको चाटते है ।।३।। इसलिये पापकी शकाको छोडकर मनुष्यको यथेष्ट—मनमाना—आचरण करना चाहिये । क्योकि चेतनके विनष्ट होनेपर उसका पुनर्जन्म नही होता है ।।४।। अतएव पुरुषोको इस लोकका सुख

पृथिव्यम्भोऽग्निवातेभ्यो जायते यन्त्रवाहकः । पिष्टोदकगुडादिभ्यो मदशक्तिरिव स्फुटम् ॥ ६
जन्मपञ्चत्वयोरस्ति न पूर्वपरयोरयम् । सदा विचार्यमाणस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः ॥ ७
परात्मवैरिणां नैतन्नास्तिकानां कथञ्चन । युज्यते वचनं तत्त्वविचारानुपपत्तितः ॥ ८
विद्यते सर्वथा जीवः स्वसंवेदनगोचरः । सर्वेषां प्राणिनां तत्र बाधकानुपपत्तितः ॥ ९
शक्यते न निराकर्तुं केनाप्यात्मा कथञ्चन । स्वयंवेदनवेद्यत्वात् सुखदुःखमिव स्फुटम् ॥ १०
अहं दुःखी सुखी चाहमित्येषः प्रत्ययः स्फुटः । प्राणिनां जायतेऽध्यक्षो निर्बाधो नात्मना विना ॥ ११
स्वसंवेदनतः सिद्धे निजे वपुषि चेतने । शरीरे परकीयेऽपि स सिद्धयत्यनुमानत ॥ १२
परस्य ज्ञायते देहे स्वकीय इव सर्वथा । चेतनो बुद्धिपूर्वस्य व्यापारस्योपलब्धितः ॥ १३
जन्मपञ्चत्वयोरस्ति न पूर्वपरयोरयम् । नैषा गीर्युज्यते तत्र सिद्धत्वादनुमानत ॥ १४
चैतन्यमादिमं नूनमन्यचैतन्यपूर्वकम् । चैतन्यत्वाद्यथा मध्यमन्त्यमन्यस्य कारणम् ॥ १५

छोडकर परलोकके सुखमें बुद्धि नही करना चाहिये । क्योंकि बुधजन प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तुको छोड-कर अदृष्ट परोक्ष वस्तुके पानेकी बुद्धि नही करते है ॥५॥ जैसे दालोकी पीठी, जल, गुड आदिके संयोगसे मदशक्ति स्पष्टरूपसे प्रगट होती दिखती है, इसी प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इस भूतचतुष्टयसे इस शरीररूप यत्रका सचालन करनेवाला आत्मा नामक पदार्थ उत्पन्न होता हैं, वस्तुतः आत्मा नामका कोई पदार्थ नही है ॥६॥ इस प्रकार जन्मसे पूर्वमें और मरणके पश्चात् जीव नामका कोई पदार्थ नही है, क्योकि युक्तिसे विचार करनेपर उसका सर्वथा अभाव प्रतीत होता है ॥७॥ किन्तु पराये और अपने वैरी नास्तिक लोगोका यह कथन कदाचित् भी सत्य नही है, क्योंकि युक्तिसे विचार करने पर वह सत्य सिद्ध नही होता है ॥८॥ सभी प्राणियोके स्वानु-भवगोचर अर्थात् अपने अनुभवमे आनेवाला जीव सर्वथा विद्यमान है, क्योकि स्वसवेदनमें कोई वाधक प्रमाण नही पाया जाता हैं ॥९॥ आत्माका अस्तित्व किसीके भी द्वारा किसी भी प्रकारसे निराकरण करना शक्य नही है, क्योकि वह सुख-दु खके समान स्व-सवेदन प्रत्यय-स्वानुभव-प्रत्यक्षसे स्पष्ट जाना जाना हैं ॥१०॥ 'मै दु खी हूँ, मै सुखी हूँ' ऐसा स्वसवेदन-प्रत्ययरूप स्पष्ट निर्बाध प्रत्यक्ष आत्माके विना प्राणियोके नही हो सकता है ॥११॥ इस प्रकार अपने शरीरमे स्वसवेदन-प्रत्यक्षसे चेतन आत्माके सिद्ध होने पर परके शरीरमें भी अनुमानसे उसकी सिद्धि होती है ॥१२॥ वह अनुमान प्रमाण इस प्रकार है—परके देहमे चेतन आत्मा है, क्योकि उसके बुद्धिपूर्वक व्यापार पाया जाता हैं । जैसे कि अपनेमे बुद्धिपूर्वक व्यापार सर्वथा पाया जाता है ॥१३॥ और जो तुम नास्तिकोने कहा हैं कि 'जन्मसे पूर्व और मरणके पश्चात् जीवनामक कोई पदार्थ नही है, सो यह कथन भी युक्ति-सगत नही है, क्योंकि अनुमानसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध है ॥१४॥ यथा-आद्य चैतन्य निश्चयसे अन्य चैतन्य-पूर्वक है, क्योकि वह चैतन्यरूप है । जैसे कि मध्यका चैतन्य और अन्तका चैतन्य अन्यका कारण है ॥१५॥

भावार्थ—द्रव्यकी पर्याय सदा वदलती रहतो है, फिर भी उसका सर्वथा अभाव नही होता, क्योंकि सत्का कभी अभाव और असत्का उत्पाद असंभव है । इस नियमके अनुसार 'हमारा मनुष्य-पर्यायरूप चैतन्य इससे पूर्ववर्ती देवादिपर्यायवाले चैतन्य-पूर्वक उत्पन्न हुआ हैं जैसे कि बालपनके चैतन्यपूर्वक युवावस्थारूप मध्यवर्ती चैतन्य उत्पन्न होता है और मध्य चैतन्यपूर्वक वृद्धावस्थारूप अन्त्य चैतन्य उत्पन्न होता है । इसी प्रकार अन्त्यचैतन्यपूर्वक आगामी भवका चैतन्य उत्पन्न

तत्रैव वासरे जातः पूर्वकेणात्मना विना। अशिक्षितः कथं बालो मुखमर्पयति स्तने ॥ १६
भूतेभ्यो येन तेभ्योऽयं चेतनो जायते कथम्। विभिन्नजातितः कार्यं जायमानं न दृश्यते ॥ १७
प्रत्येक युगपद्वं (त्ते?) भ्यो-भूतेभ्यो जायते भवी। विकल्पे प्रथमे तस्य तावत्त्वं केन वार्यते ॥ १८
विकल्पे स द्वितीयेऽपि कथमेकस्वभावक। भिन्नस्वभावकर्करैर्भिर्जन्यते वद चेतन ॥ १९
चेतनो येन तेभ्योऽपि भूतेभ्यो न विरुध्यते। भिन्नानां मौक्तिकादीनां तोयादिभ्योऽपि दर्शनात् ॥२०
तदयुक्तं यतो मुक्तातोयादीनां विलोक्यते। एकपौद्गलिकी जार्तिभिन्नताऽत कुतस्तनी। २१
यतः पिष्टोदकादिभ्यो मदशक्तिरचेतना। सम्भूताऽचेतनेभ्योऽतो दृष्टान्तोऽस्ति न चेतने ॥ २२
न शरीरात्मनोरैक्य वक्तव्य तत्त्ववेदिभि.। शरीरे तदवस्थेऽपि जीवस्यानुपलब्धितः ॥ २३

होता है। पूर्वपर्यायवर्ती चैतन्य उत्तरपर्यायवर्ती चैतन्यका कारण है और उत्तरपर्यायिरूप चैतन्य पूर्वपर्यायवर्ती चैतन्यका कार्य है। इस प्रकार बीज-वृक्षके समान यह कार्य-कारणकी परम्परा चैतन्यका भी सदा प्रवर्तमान रहती है। अतएव सिद्ध हुआ कि हमारा वर्तमान चैतन्य पूर्व-पर्यायवर्ती चैतन्यपूर्वक उत्पन्न हुआ है। इस अनुमानसे चेतन आत्माका अस्तित्वऔर परलोकका अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि पूर्व भव आदि न माने जावे तो उस ही दिनका उत्पन्न हुआ अशि-क्षित शिशु आत्माके पूर्वसस्कारके विना माँके स्तन पर अपने मुखको कैसे लगा देता है? कहनेका भाव यह कि तत्कालका उत्पन्न शिशु पूर्वजन्मके सस्कारसे ही माँके स्तनको चूसने लगता है ॥१६॥ और जो तुमने कहा हैं कि पृथ्वी आदि भूतचतुष्टयसे चैतन्य आत्मा उत्पन्न होता है, सो भाई, यह बताओ कि अचेतन भूतोसे यह चेतन आत्मा कैसे उत्पन्न हो जाता है? क्योकि भिन्न जातिवाले कारणसे भिन्न जातिवाला कार्य उत्पन्न होता हुआ नही दिखाई देता है। अर्थात् कारणके अनुसार ही कार्य उत्पन्न होता है। यत पृथ्वी आदि भूत अचेतन है, अतः उनसे भिन्न जातीय चेतनकी उत्पत्ति कभी भी संभव नही है ॥१७॥ फिर भी यदि तुम्हारा यही दुराग्रह हो कि पृथ्वी आदि भूतोमेसे-एक-एक भूतसे चेतन उत्पन्न होता है कि सभीसे युगपत् एक चेतन उत्पन्न होता हैं? प्रथम विकल्प मानने पर जितने भूत है, उतने ही चेतनोका उत्पन्न होना कैसे रोका जा सकता है, अर्थात् प्रत्येक भूतसे अपनी-अपनी जातिका ही चेतन उत्पन्न होगा। ऐसी दशामे भूतचतुष्टयसे एक नही, किन्तु अनेक चेतन उत्पन्न होगे, जो कि दिखाई नही देते है॥१८॥ दूसरे विकल्पके मानने पर हम पूछते है कि भिन्न-भिन्न स्वभाववाले उन भूतोसे एक स्वभाव-वाला चेतन कैसे पैदा हो सकता है, यह बताओ ॥१९॥

यदि आप कहे कि अचेतन भी भूतोसे चेतनका उत्पन्न होना विरुद्ध नही है, क्योंकि भिन्न जातिवाले मोतियोकी उत्पत्ति जलादिसे भी देखी जाती है। सो तुम्हारा यह कथन अयुक्त है, क्योकि मोती और जलादिककी एक पौद्गलिक जाति ही है, अत उनकी जातिकी भिन्नता कैसे सभव है ॥२० २१॥ तथा अचेतन पीठी-गुड-जल आदिके सयोगसे अचेतन ही मदशक्ति उत्पन्न होती है,इसलिये तुम्हारा यह दृष्टान्त चेतनके विषयमे देना ठीक नहीं है ॥२२॥ तत्वज्ञ पुरुषोको शरीर और आत्माकी एकता भी नही कहना चाहिये, क्योकि मरणके पश्चात् शरीरके तदवस्थ रहने पर भी जीवकी उपलब्धि नही होती है। इससे ज्ञात होता हैं कि शरीर और आत्मा ये दो भिन्न-भिन्न जातिके पदार्थ है, एक नही है ॥२३॥ एक ज्ञानमात्र तत्त्वकेमाननेवाले ज्ञानाद्वैतवादी कहते है कि निरश और क्षणिक ज्ञानके अतिरिक्त आत्मा नामकी कोई वस्तु नही है, उनको लक्ष्य करके आचार्य कहते है कि 'ज्ञानको छोडकर आत्मा नामकी कोई वस्तु नही है' यह वचन

ज्ञानं विहाय नात्माऽस्ति नेदं वचनमञ्चितम् । ज्ञानस्य क्षणिकत्वेन स्मरणानुपपत्तितः ।। २४
नात्मा सर्वगतो वाच्यस्तत्स्वरूपविचारिभिः । शरीरव्यतिरेकेण येनासौ दृश्यते न हि ।। २५
शरीरतो बहिस्तस्य विज्ञानं विद्यते न वा । विद्यते चेत्कथं तत्र कृत्याकृत्य न बुद्धयते ।। २६
यदि नास्ति कुतस्तस्य तत्र सत्ताऽवगम्यते । लक्षणेन विना लक्ष्यं न क्वापि व्यवतिष्ठते ।। २७
सर्वेषामेक एवात्मा युज्यते नेति जल्पितुम् । जन्ममृत्युसुखादीनां भिन्नानामुपलम्भतः ।। २८
न वक्तव्योऽणुमात्रोऽयं सर्वैर्येनानुभूयते । अभीष्टकामिनीस्पर्शे सर्वाङ्गीणः सुखोदय. ।। २९
समीरणस्वभावोऽयं सुन्दरा नेति भारती । सुखज्ञानादयो भावाः सन्ति नाचेतने यतः ।। ३०
न ज्ञानविकलो वाच्यः सर्वथाऽऽत्मा मनीषिभिः । क्रियाणां ज्ञानजन्यानां तत्राभावप्रसङ्गत. ।। ३१
प्रधानज्ञानतो ज्ञानी न वाच्यो ज्ञानशालिभि । अन्यज्ञानेन न ह्यन्यो ज्ञानी क्वापि विलोक्यते ।। ३२

सत्य नही है, क्योकि ज्ञानके क्षणिक होनेसे पूर्वज्ञात स्मरण नही होना चाहिये । किन्तु हम आप सभी लोगोको पूर्वज्ञात पदार्थका स्मरण पाया जाता है, अत- आत्मा नामका कोई नित्य पदार्थ अवश्य है, यह सिद्ध होता है ।।२४।। आत्माको सर्वव्यापक माननेवाले ब्रह्माद्वैतवादियोंको लक्ष्य करके आचार्य कहते है कि आत्म-स्वरूपका विचार करनेवालोको 'आत्मा सर्वगत या सर्वव्यापक है, ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि शरीरके अतिरिक्त वह अन्तरालमे कही नही दिखाई देता हैं ।।२५।। इतने पर भी यदि आप आत्माको सर्वव्यापक माने तो हम पूछते है कि शरीरसे वाहिर फिर कृत्य और अकृत्यका ज्ञान क्यों नही होता है? यदि कहा जाय कि शरीरके वाहिर आत्माका ज्ञान नही होता है, तो फिर गरीके बाहिर उस आत्माकी सत्ता कैसे जानी जा सकती है, यह वतलाइये, क्योकि लक्षणके विना लक्ष्य कही पर भी नही ठहर सकता है ।।२६-२७।। भावार्थ– ज्ञान लक्षण है और आत्मा लक्ष्य है । जहाँ पर लक्षण नही पाया जाता हैं, वहाँ पर लक्ष्य कैसे पाया जा सकता है । अतएव आत्माको सवव्यापक मानना मिथ्या है ।

यदि आप कहे कि 'सभी गरीरोमें एक ही आत्मा रहता है' सो यह कहना भी योग्य नहीं है, क्योकि सभी गरीरोमे भिन्न-भिन्न ही जन्म, मरण और सुख-दु.खादिकी उपलब्धि होती हैं, इसलिये सभी शरीरोमे एक आत्माका कथन मिथ्या है ।।२८।। कुछ लोग आत्माको अणुमात्र मानते हैं, उनको लक्ष्य करके आचार्य कहते है कि आत्माका अणुमात्र भी नही कहना चाहिये, क्योकि अभीप्ट स्त्रीके स्पर्शके समय सारे गरीरसे उत्पन्न हुआ सुखका आल्हाद सभी लोग अनुभव करते है ।।२९।। यदि कहा जाय कि सर्वाङ्गमे सुखका अनुभव तो पवनके तीव्र वेगके सचारमे होता हैं, सो यह कहना भी सुन्दर नही है, क्योकि सुख, ज्ञान आदिक चेतनभाव अचेतन पवनमे सभव नही है । अतएव आत्माको अणु-प्रमाण न मानकर शरीर-प्रमाण ही मानना चाहिये ।।३०।। कुछ लोग आत्माको ज्ञानसे रहित मानते है, उनको लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं कि वुद्धिमान् लोगोको आत्मा ज्ञानसे विकल कभी भी नही कहना चाहिये, क्योकि यदि आत्माको ज्ञानसे शून्य माना जाय, तो ज्ञान-जन्य क्रियाओका आत्मामे अभाव प्राप्त होता है । किन्तु आत्मामे तो ज्ञान-जनित क्रियाएँ देखी जाती है अत. उसे ज्ञान-युक्त ही मानना चाहिये ।।३१।। यदि कहा जाय कि आत्मामें जो ज्ञानके सद्भावकी प्रतीति होती है, वह प्रधान (प्रकृति) जनित ज्ञानके समर्गमे

न शुद्धः सर्वथा जीवो बन्धाभावप्रसङ्गतः । न हि शुद्धस्य मुक्तस्य दृश्यते कर्मबन्धनम् ॥ ३३
प्रधानेन कृते धर्मे मोक्षभागी न चेतन· । परेण विहिते भागे तृप्तिभागी कुत. परः ॥ ३४
प्रधान यदि कर्माणि विधत्ते मुञ्चते यदि । किमात्माऽनर्थक सांख्यैः कल्प्यते मम कथ्यताम् ॥३५
न ज्ञानमात्रतो मोक्षस्तस्य जातूपपद्यते । भैषज्यज्ञानमात्रेण न व्याधिः क्वाऽपि नश्यति ॥ ३६
अचेतनस्य न ज्ञानं प्रधानस्य प्रवर्तते । स्तम्भकुम्भादयो दृष्टा न क्वापि ज्ञानयोगिनः ॥ ३७
ऊह्यं स्वयमकर्तार भोक्तारं चेतन पुनः । भाषमाणस्य सांख्यस्य न ज्ञान विद्यते स्फुटम् ॥ ३८
सकलैर्न गुणैर्मुक्त सर्वथाऽऽत्मोपपद्यते । न जातु दृश्यते वस्तु शशशृङ्गमिवागुणम् ॥ ३९
न ज्ञानज्ञानिनोर्भेदः सर्वथा घटते स्फुटम् । सम्बन्धाभावतो नित्यं मेरुकैलासयोरिव ॥ ४०
समवायेन सम्बन्धः क्रियमाणो न युज्यते । नित्यस्य व्यापिनस्तस्य सर्वदाऽप्यविशेषतः ॥ ४१

होती है । इस पर आचार्य कहते है कि ज्ञानशालियोंको ऐसा नही कहना चाहिये, क्योंकि अन्यके ज्ञानसे कोई अन्य पुरुष ज्ञानी हुआ कही भी नही देखा जाता है ॥३२॥ जो लोग ससारी जीवको भी सर्वथा शुद्ध मानते है, उनको लक्ष्य करके आचार्य कहते है कि संसारी जीव सर्वथा शुद्ध नही है, क्योकि उसके शुद्ध मानने पर कर्म-बन्धके अभावका प्रसग आता है । देखो शुद्ध मुक्त जीवके कर्म-बन्धन नही पाया जाता है ॥३३॥ यदि प्रधान (प्रकृति) के द्वारा धर्म किया जाता है, यह माना जाय, तो फिर चेतन पुरुष मोक्षका भागी नही हो सकता, क्योकि अन्यके द्वारा आहारादिके भोगने पर अन्य पुरुष तृप्तिका अनुभव कैसे कर सकता है ॥३४॥ यदि प्रधान पुण्य-पापरूप कर्मो-को करता है और यदि वही छोडता है, तो फिर मुझे बतलाइये कि साख्योने इस अनर्थक आत्मा-की कल्पना क्यो की है ॥३५॥ साख्यमती कहते है कि द्वैतरूप भ्रमसे कर्मबन्ध होता है और अद्वैतरूपके ज्ञानमात्रसे कर्म-बन्ध नष्ट हो जाता है, इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि केवल ज्ञानमात्रसे जीवका मोक्ष कभी भी नही होता है । क्योकि कही पर भी औषधिके ज्ञानमात्रसे व्याधि नष्ट नही होती है ॥३६॥

दूसरी बात यह है कि अचेतन प्रधानके ज्ञानकी प्रवृत्ति नही हो सकती है । क्योकि कही पर भी अचेतन स्तम्भ, कुम्भ आदि पदार्थ ज्ञानोपयोगवाले नही देखे जाते है ॥३७॥ स्वय आत्मा-को अकर्ता कहकर और फिर चेतनको भोक्ता कहनेवाले साख्यके ज्ञान नही है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है ॥३८॥ वैशेपिक-नैयायिक मतावलम्बी मुक्त जीवको बुद्धि-सुख आदि समस्त गुणोसे रहित मानते है, उनको लक्ष्यमे रखकर आचार्य कहते है कि सर्वगुणोसे सर्वथा रहित मुक्त आत्मा संभव नही है, क्योकि शश-शृगके समान सर्वथा गुण-रहित कोई भी वस्तु कदाचित् भी नही दिखाई देती है ॥३९॥ भावार्थ—गुणोके समुदायरूप द्रव्यको ही गुणी कहते हैं । यदि मुक्त अवस्थामे गुणो-का सर्वथा अभाव माना जायगा, तो गुणीका भी अभाव मानना पडेगा । अतएव गुण-रहित मुक्त जीवको कहना मिथ्या है । जो लोग ज्ञान और ज्ञानीमे सर्वथा भेद मानते है, उनका निषेध करते हुए आचार्य कहते है कि ज्ञान और ज्ञानीमे सर्वथा भेद घटित नही होता जैसे कि मेरु और कैलास पर्वतमे सम्बन्धका अभाव होनेसे नित्य ही सर्वथा भेद घटित होता है ॥४०॥ भावार्थ—यदि ज्ञान-से ज्ञानीमे सर्वथा भेद माना जायगा, तो उनका परस्परमे सम्बन्ध नही बन सकेगा । यदि कहा जाय कि समवायके द्वारा ज्ञान और ज्ञानीमे सम्बन्ध बन जायगा, सो यह कहना भी युक्ति सगत नही है, क्योकि समवायके नित्य और व्यापक होनेसे उसका सर्वत्र सभी जड और चेतन पदार्थोसे बिना किसी विशेषताके सम्बन्ध होना चाहिये ॥४१॥ भावार्थ—यदि समवायसे ज्ञान और आत्मा-

नित्यताऽनित्यता तस्य सर्वथा न प्रशस्यते । अभावादर्थनिष्पत्तेः क्रमतोऽक्रमितोऽपि वा ॥ ४२
न नित्यं कुरुते कार्यं विकारानुपपत्तितः । नानित्यं सर्वथाऽनिष्टमारोग्यं मृतवैद्यवत् ॥ ४३
नामूर्तिः सर्वथा युक्तः कर्मबन्धाप्रसङ्गत. । नभसो न ह्यमूर्तस्य कर्मलेपो विलोक्यते ॥ ४४
स यतो बन्धतोऽभिन्नो लक्षणतः पुनः । अमूर्तताऽऽत्मनस्तस्य सर्वथा नोपपद्यते ॥ ४५
निर्बाधोऽस्ति ततो जीवः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मक. । कर्त्ता भोक्ता गुणी सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टा तनुप्रमः
स्थिते प्रमाणतो जीवे सर्वेऽप्यर्थाः स्थिता यत. । क्रियमाणा ततो युक्ता सप्ततत्त्वविचारणा ॥ ४७
परे वदन्ति सर्वज्ञो वीतरागो न विद्यते । किञ्चिज्ज्ञत्वादशेषाणां सर्वथा रागतत्त्वत. ॥ ४८
तदयुक्तं वचस्तेषां ज्ञानं सर्वार्थगोचरम् । न विना शक्यते कर्तुं सर्वपुंज्ञानवारणम् ॥ ४९
समस्ताः पुरुषा येन कालत्रितयवर्तिन. । निश्चिताः स नर शक्त. सर्वज्ञस्य निषेधने ॥ ५०

का सम्बन्ध होना माना जाय, तो घट-पटादि अचेतन पदार्थोमे ज्ञानका सम्बन्ध क्यो न माना जाय? क्योकि उसे नित्य और व्यापक माना गया है।

समवायके सर्वथा नित्यता और अनित्यता भी नही मानी जा सकती है, क्योकि दोनो ही अवस्थाओंमे क्रमसे अथवा युगपत् अर्थ क्रियाका अभाव रहेगा ॥४२॥ आचार्य इसी बातको स्पष्ट करते हुए कहते है कि नित्य पदार्थ तो क्रमसे या एक साथ कार्य नही कर सकता है, क्योकि नित्य पदार्थमे विकार होना संभव नही है, यदि नित्यमे भी विकार माना जायगा, तो उसे अनित्य मानना पडेगा। इसी प्रकार सर्वथा अनित्य पदार्थ भी क्रमसे अथवा युगपत् कार्य नही कर सकता है। जैसे कि मरा हुआ वैद्य रोगी पुरुषको नीरोग नही कर सकता है ॥४३॥ जो लोग संसारी आत्माको सर्वथा अमूर्त मानते हैं उनका निषेध करते हुए आचार्य कहते है कि आत्माको सर्वथा अमूर्त्त कहना युक्ति-सगत नही है, क्योकि ससारी आत्माके कर्म-बन्धका प्रसग देखा जाता है। किन्तु सर्वथा अमूर्त्त आकाशके कर्म-लेप नही देखा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि ससारी आत्मा सर्वथा अमूर्त्त नही है ॥४४॥ यत. यह आत्मा कर्म-बन्धसे अभिन्न है और जीव तथा कर्मके लक्षण भिन्न-भिन्न होनेसे लक्षणकी अपेक्षा द नो भिन्न हैं, अतः जीवके अमूर्तता सर्वथा नही वन सकती है ॥४५॥ भावार्थ—कर्मोके साथ सम्वन्ध होनेसे जीवको कथचित् मूर्त्त मानना चाहिये। उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि जीवका निर्बाध अस्तित्व हैं, वह स्थिति-उत्पत्ति-व्ययात्मक है, कर्मो-का कर्त्ता और भोक्ता है, गुणी है, सूक्ष्म (अमूर्त्त) है, ज्ञाता द्रष्टा और शरीर-प्रमाण है ॥४६॥ इस प्रकार प्रमाणसे जीवतत्त्वकी सिद्धि हो जाने पर अजीव, आस्रव आदि अन्य तत्त्व भी स्वतः सिद्ध हो जाते है। अतएव प्रकृतमे किया गया सप्ततत्त्वका विचार सर्वथा युक्ति-संगत है ॥४७॥ कितने ही लोग कहते है कि ससारमे कोई भी सर्वज्ञ और वीतराग नही है, क्योकि सभी जीवके सर्वदा अल्पज्ञता और रागपना दिखाई देता है ॥४८॥ आचार्य इसका निषेध करते हुए कहते है कि सर्वज्ञ और वीतरागका निषेध-कारक उक्त वचन अयुक्त है, क्योकि सर्व पदार्थोको विषय करनेवाले ज्ञानके विना सभी पुरुपोमे सर्व जाननेवाले ज्ञानका निवारण करना शक्य नही है। जिस व्यक्तिने त्रिकालवर्ती समस्त पुरुपोंको भली-भाँतिसे जान लिया है कि इनमे कोई सर्वज्ञ नही हैं' वही पुरुप सर्वज्ञका निपेध करनेमें समर्थ हो सकता है, अन्य नही ॥४९॥

यदि कहा जाय कि अभाव प्रमाणके द्वारा सर्वज्ञका निषध करना शक्य है, सो यह कथन भी युक्ति-सगत नही हैं, क्योकि अतीन्द्रिय सर्वज्ञके विपयमे अभाव-प्रमाणकी प्रवृत्तिका अभाव

न चाभावप्रमाणेन शक्यते स निषेधितुम् । सर्वज्ञेऽतीन्द्रिये तस्य प्रवृत्तिविगमत्वतः ॥ ५१
प्रमाणाभावतस्तस्य न च युक्तं निषेधनम् । अनुमानप्रमाणं हि साधनं तस्य विद्यते ॥ ५२
वीतरागोऽस्ति सर्वज्ञः प्रमाणाबाधितत्वतः । सर्वदा विदितः सद्भिः सुखादिकमिव ध्रुवम् ॥ ५३
क्षीयते सर्वथा रागः क्वापि कारणहानितः । ज्वलनो हीयते किं न काष्ठानां च वियोगतः ॥ ५४
प्रकर्षस्य प्रतिष्ठानं ज्ञ न क्वापि प्रपद्यते । परिमाणमिवाकाशे तारतम्योपलब्धितः ॥ ५५
प्रकर्षावस्थितिर्यत्र विश्वदृश्वा स गीयते । प्रणेता विश्वतत्त्वानां प्रहृताशेषकल्मषः ॥ ५६
बोध्यमप्रतिबन्धस्य बुध्यमानस्य न श्रमः । बोधस्य दहतोऽसह्य पावकस्येव विद्यते ॥ ५७
अनुपदेशसंवादि लाभालाभादिवेचनम् । समस्तज्ञमृतेऽन्यस्य निर्लिङ्गं शोभते कथम् ॥ ५८
अपौरुषेयतो युक्तमेतदागमतो न च युक्त्या विचार्यमाणस्य सर्वथा तस्य हानितः ॥ ५९

है ॥५०॥ भावार्थ—निषेध-योग्य वस्तु और उसका आधारभूत पदार्थ इन दोनोंका जिस पुरुषको ज्ञान हो, वही पुरुष अभाव प्रमाणके द्वारा निषेध्य वस्तुका निषेध कर सकता है। जैसे कोई पुरुष पहले भूमिके आधार पर आधेय घटको देख रहा था। पीछे घटके नहीं देखने पर ही वह कह सकता है कि यहाँ पर घट नहीं है। किन्तु जैसे घट और भूतल इन्द्रियगोचर है, इस प्रकारसे पुरुषके भीतर पाया जानेवाला सर्व-ज्ञायक ज्ञान इन्द्रिय-गोचर नही है, क्योकि वह अतीन्द्रिय है, अतः अभाव प्रमाणके द्वारा सर्वज्ञका निषेध नही किया जा सकता है। यदि कहा जाय कि सर्वज्ञके सद्भावको सिद्ध करनेवाले प्रमाणका अभाव होनेसे सर्वज्ञका निषेध करते हैं, सो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञका साधक अनुमानप्रमाण विद्यमान है ॥५१॥ वह इस प्रकार है—सन्तोंके द्वारा सर्वदा विदित सर्वज्ञ है, क्योंकि उसके विषयमे सुनिश्चित बाधक प्रमाणका अभाव है। जैसे कि सुखादिक स्वसंवेदन गोचर होनेसे निर्बाध सिद्ध है। इस अनुमान प्रमाणसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है ॥५२॥ अब वीतरागकी सिद्धि करते हैं—किसी आत्मामे राग सर्वथा क्षयको प्राप्त होता हैं, क्योंकि रागके कारणोंकी अतिशय युक्त हानि पायी जाती है। जैसे कि काष्ठादि रूप इन्धनके अभावमे प्रज्वलित भी अग्नि सर्वथा क्षयको प्राप्त हो जाती है ॥५३॥ आगे सर्वज्ञताकी और भी सिद्धि करते हैं—तारतम्यरूपसे प्रकर्षको प्राप्त होनेवाला ज्ञान किसी विशिष्ट आत्मामें चरम प्रकर्षको भी प्राप्त होता है। जैसे कि आकाशमे परिमाणकी वृद्धिके तारतम्य पाये जानेसे उसका चरम प्रकर्ष भी पाया जाता है ॥५५॥ जहाँपर ज्ञानकी परम प्रकर्षरूप अवस्था पायी जाती है, वह पुरुष विश्वदृश्वा सर्वज्ञ कहा जाता है। वही विश्वतत्त्वोका प्रणेता है और समस्त राग-द्वेषादि से रहित वीतराग भी वही पुरुष जानना चाहिए ॥५६॥ यदि कहा जाय कि जानने योग्य पदार्थ तो अनन्त है, उन सबको जाननेमे सर्वज्ञको भारी परिश्रम उठाना पडता होगा? सो इसका उत्तर यह है कि आवरणके प्रतिबन्धसे रहित निरावरण ज्ञानवाले सर्वज्ञको जानने योग्य ज्ञेय पदार्थोंके जाननेमे कोई परिश्रम नही होता है। जैसे कि दहन योग्य इन्धनको जलाते हुए पावकको कोई परिश्रम नही होता है ॥५७॥ दूसरी बात यह है कि देश—कालसे दूरवर्ती परोक्ष पदार्थोका और लाभ-अलाभ का ज्ञान सर्वज्ञके बिना उपदेशके अन्य अल्पज्ञ पुरुषमे कैसे शोभा को प्राप्त हो सकता है? अर्थात् सर्वज्ञके माने बिना न तो देशान्तरित, कालान्तरित सूक्ष्म पदार्थोका ज्ञान ही हो सकता है और न आगामी कालमे होनेवाले हानि-लाभका ही ज्ञान हो सकता है, अतः सर्वज्ञको मानना ही चाहिए ॥५८॥ मीमासक लोक अपौरुषेय वेदरूप आगमसे सर्व पदार्थोका ज्ञान होना मानते है। आचार्य उनका निषेध करते हुए कहते है कि अपौरुषेय आगमसे सर्व पदार्थोका ज्ञान

आगमोऽकृत्रिमः कश्चिन्न कदाचन विद्यते। तस्य कृत्रिमतस्तस्माद्विशेषानुपलम्भत.॥ ६०
पश्यन्तो जायमानं यत्ताल्वादिक्रमयोगतः. वदन्त्यकृत्रिमं वेदमनार्यं किमतः परम्॥ ६१
त्रिलोकव्यापिनो वर्णा व्यज्यन्ते व्यञ्जकैरिति। न सत्यभाषिणी भाषा सर्वव्यक्तिप्रसङ्गतः॥ ६२
एकत्रभाविनः केचिद्व्यज्यन्ते नापरे कथम्। न दीपव्यज्यमानानां घटादीनामयं क्रमः॥ ६३
व्यञ्जकव्यतिरेकेण निश्चीयन्ते घटादय·। स्पर्शप्रभृतिभिर्जातु न वर्णाश्च कथञ्चन॥ ६४
व्यज्यन्ते व्यञ्जकैर्वर्णा न व्यज्यन्ते पुनर्ध्रुवम्। इत्यत्र विद्यते काचिन्न प्रमा वेदवादिनाम्॥ ६५
विना सर्वज्ञदेवेन वेदार्थ. केन कथ्यते। स्वयमेवेति नो वाच्य संवादित्वप्रसङ्गतः॥ ६६
न पारम्पर्यतो ज्ञानमसर्वज्ञै· प्रवर्तते। समस्तानामिवान्धानां मूलज्ञान विना कृतम् ६७
कृत्रिमेष्वप्यनेकेषु न कर्त्ता स्मर्यते यत·। कर्त्रस्मरणतो वेदो युक्तो नाकृत्रिमस्तत.॥ ६८

होता हैं, यह कथन युक्त नही है, क्योकि युक्ति के द्वारा विचार करने पर उस अपौरुषेय आगम की सर्वथा हानि सिद्ध होती है।.५९॥

आचार्य उस अपौरुषेय आगमके विषयमे मीमासकोसे पूछते है कि वह आगम अकृत्रिम है, अथवा कृत्रिम है? अकृत्रिम आगम तो कोई कभी भी सभव नही हैं, क्यो कि उस अकृत्रिम आगमकी कृत्रिम आगमसे कोई विशेषता नही पाई जाती है ॥६०॥ देखो—वेदके जो शब्द तालु-ओष्ठ आदि स्थानोके क्रमिक सयोगसे उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होते है, उन शब्दोको भी यदि मीमासक अकृत्रिम कहते है, तो इससे अधिक और क्या आश्चर्य हो सकता है? यदि कहा जाय कि वर्ण (अक्षर) तो त्रिलोक-व्यापी और नित्य है, वे व्यजक वायुके द्वारा व्यक्त होते है, उत्पन्न नही होते है। सो ऐसी भाषा बोलना भी समीचीन नही है, क्योकि अभिव्यंजक वायुके द्वारा वर्णोको अभिव्यक्त माननेपर तो सर्व ही वर्णोकी अभिव्यक्तिका प्रसग प्राप्त होता है॥६१–६२॥ यह कैसे सभव है कि एक स्थान पर बर्तमान सर्व शब्दोमेसे अभिव्यजक वायुके द्वारा कुछ अक्षर तो अभिव्यक्त हो और कुछ अभिव्यक्त न हो? देखो—दीपकसे अभिव्यक्त होनेवाले घट पटादिकमे यह क्रम नही पाया जाता है। अर्थात् जैसे एक स्थानवर्ती घट-पटादिक दीपकके द्वारा एक साथ सर्व ही प्रकाशित होते है। ऐसा नही होता कि कुछ प्रकाशित हो और कुछ प्रकाशित नही हो ॥६३॥ दूसरी बात यह है कि जैसे व्यञ्जक दीपकादिके बिना भी घट-पटादिक पदार्थ स्पर्श आदिके द्वारा निश्चय किये जाते है, इस प्रकार वर्ण कदाचित् भी अन्य प्रकारसे निश्चय नही किये जाते है॥६४॥ इतने पर भी यदि वेद-वादी कहे कि व्यञ्जक वायुओके द्वारा वर्ण व्यक्त किय जाते है किन्तु नियमसे उत्पन्न नही किये जाते है, सो उनके इस कथनकी पुष्टिमें कोई प्रमाण नही है॥६५॥ इसके अतिरिक्त यह भी बतलाइए कि सर्वज्ञ देवके विना वेदका अर्थ किसके द्वारा कहा जाता है? यदि कहा जाय कि वेद अपने अर्थको स्वय ही कहता है, सो ऐसा नही कह सकते, क्यो कि यदि वेद अपना अर्थ स्वय ही कहता होता, तो फिर उसके अर्थके विषयमे कोई विसवाद नही होना चाहिए था। किन्तु वेद वाक्योके अर्थमे विसवाद पाया जाता है, अतएव यह कहना कि "वेद अपना अर्थ स्वय कहता है" सर्वथा मिथ्या है॥६६। यदि कहा जाय कि वेदका ज्ञान परम्परासे सर्व अज्ञानी जनोमे प्रवर्तता चला आ रहा है, सो यह कथन भी उचित नही है, क्योकि समस्त अन्य पुरुषोका ज्ञान मूलभूत ज्ञानके विना कार्यकारी नही होता हैं॥६७॥ पुन मीमासक कहता है कि वेदके कर्त्ताका किसीको स्मरण नही है, अत वह अकृत्रिम

हिंसादिवादकत्वेन न वेदो धर्मकांक्षिभि. । ठकोपदेशवन्नून प्रमाणीक्रियते बुधै. ॥ ६९
वीतरागश्च सर्वज्ञो जिन एवावशिष्यते । अपरेषामशेषाणां रागद्वेषादिदृष्टित ॥ ७०
न विरागा न सर्वज्ञा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा: । रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादियोगत: ॥ ७१
रागवन्तो न सर्वज्ञा यथा प्रकृतमानवा. । रागवन्तश्च ते सर्वे न सर्वज्ञास्तत स्फुटम् ॥ ७२
आश्लिष्टास्तेऽखिलैर्दोषै कामकोपभयादिभि: । आयुधप्रमदाभूषकमण्डल्वादियोगत: ॥ ७३
प्रमदा भाषते काम द्वेषमायुधसङ्ग्रह । अक्षसूत्रादिक मोहं शौचाभावं कमण्डलु: ॥ ७४
परम पुरुषो नित्य सर्वदोषैरपाकृत । तस्यैतेऽवयवा सर्वे रागद्वेषादिभागिन ॥ ७५
नैषाऽपि रोचते भाषा विचारोद्यतचेतसाम् । रागित्वेऽवयवानां हि विरागोऽवयवी कुत ॥ ७६
बुद्धिमद्धेतुक विश्व कार्यत्वात्कलशादिवत् । बुद्धिमांस्तस्य य. कर्त्ता कथ्यते स महेश्वर ॥ ७७

हैं, सो उनका यह कथन भी ठीक नही है, क्योकि अनेक कृत्रिम भी कार्योका कर्त्ता लोगोको स्मृत नही है, इसलिए क्या वे कार्य अकृत्रिम मान लिये जायेगे? कभी नही। इसलिए स्मरण न होनेसे वेदको अकृत्रिम कहना योग्य नही है ।।६८।। इसके अतिरिक्त वेद हिंसा आदि पापकार्योका भी प्रतिपादन करता है, इसलिए धर्मकी आकाक्षावाले बुधजन ठगोके उपदेशके समान वेदको निश्चयमे प्रामाणिक नही मानते है ।।६९।।

अतएव सत्यार्थ एवं निरवद्य अर्थका प्रकाशक एकमात्र वीतराग रूपसे जिनदेव ही अवशिष्ट रहता है,अत. उसे ही सच्चा देव मानना चाहिए और उसके ही वचन प्रामाणिक है। इस वीतराग सर्वज्ञ जिनदेवके अतिरिक्त शेष समस्त पुरुषोके राग-द्वेषादिके देखे जानेसे उन्हे सत्यार्थ वक्ता या शास्ता नही माना जा सकता है ।।७०।। ससारमे लौकिक जनोके द्वारा देव माने जानेवाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर न वीतराग है और न सर्वज्ञ ही है, क्योकि उनमे राग द्वेष मद क्रोध लोभ मोह आदि दोषोका सयोग पाता है ।।७१।। रागवाले पुरुष सर्वज्ञ नही हो सकते है, जैसे कि सामान्य ससारी मनुष्य। रागवाले वे ब्रह्मादिक सभी देव है, अत. स्पष्ट रूपसे वे सर्वज्ञ नही है ।।७२।। वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर, काम, क्रोध भय आदि समस्त दोषोसे सयुक्त है, क्योकि उनके आयुध, स्त्री, आभूषण और कमण्डलु आदिका सयोग पाया जाता है ।।७३।। प्रमदा स्त्रीका सद्भाव उनके काम-विकारको कहता है, आयुधोका सग्रह उनके द्वेषभाव को प्रकट करता है, माला, यज्ञोपवीतादिक उनके म हके द्योतक हैं और कमडलु उनके शौच का अभाव बतलाते है ।।७४।। प्रकारमे यह सिद्ध हुआ कि जिनके राग-द्वेषादिके कारणभूत स्त्री-शस्त्रा-दिक का परिग्रह पाया जाता है, वे सच्चे देव कदापि नही हो सकते है। पुरुषाद्वैतवादी कहते है कि सर्वदोषोसे रहित एक परम पुरुष ही नित्य है, अत उसे ही सत्यार्थ मानना चाहिए। इस ससार मे जितने भी रागद्वेषादि के धारक पुरुष दिखाई देते है, वे सर्व उस एक परम पुरुष या परम-ब्रह्मके अवयव (अश) है ।।७५।। उनका ऐसा कथन भी विचार-चतुर चित्तवाले पुरुषोंको नही रुचता है, कारण कि अवयवोके सरागी होनेपर अवयवी नीरागी कैसे हो सकता है? भावार्थ— जब परम पुरुषके अवयवभूत ससारी प्राणी सरागी दिखते है, तो उनका आधारभूत अवयवी परम ब्रह्म वीतरागी कैसे हो सकता है? अर्थात् कभी नही हो सकता ।।७६।। जो वैशेषिक आदि अन्तमतावलम्बी लोग ईश्वरको जगत् का कर्त्ता मानते है, उनका निषेध करनेके लिए आचार्य पहले उनका पक्ष उपस्थित करते है—

यह समस्त विश्व किसी बुद्धिमान् पुरुषके निमित्तसे निर्मित है क्योकि वह कार्य है। जो-जो

न विना शम्भुना नूनं देहद्रुमनगादय । कुलालेनेव जायन्ते विचित्रा कलशादय ॥ ७८
ततोऽस्ति जगतः कर्त्ता विश्वदृश्वा महेश्वर. । वचन विद्यते नेद चिन्त्यमानं विचक्षणैः ॥ ७९
कार्यत्वादित्ययं हेतुस्तस्या साधयते यथा । बुद्धिमत्त्वं तथा तस्य देहवत्त्वमपि ध्रुवम् ॥ ८०
नाशरीरी मया दृष्टः कुम्भकार. क्वचिद्यत. । कुलालस्तस्य दृष्टान्तस्ततो ब्रूते सदेहताम् ॥ ८१
सदेहस्य च कर्तृत्वे सोऽस्मदादिसमो मतः । दृश्यतां प्रतिपद्येत कुम्भकारादिवत्तत· ॥ ८२
भुवनं क्रियते तेन विनोपकरणै कथम् । कृत्वा निवेश्यते कुत्र निरालम्बे विहायसि ॥ ८३
विचेतनानि भूतानि सिसृक्षावशत. कथम् । विनिर्माणाय विश्वस्य वर्तन्ते तस्य कथ्यताम् ॥ ८४
बुद्धोऽपि न समस्तज्ञः कथ्यते तथ्यवादिभि· । प्रमाणादिविरुद्धस्य शून्यत्वादेर्निवेदनात् ॥ ८५
प्रमाणेनाप्रमाणेन सर्वशून्यत्वसाधने । विकल्पद्वयमायाति कोकयुग्ममिवाम्भसि ॥ ८६
साधनेऽस्य प्रमाणेन सर्वशून्यव्यतिक्रम । अङ्गीकृते प्रमाणस्य तन्निषेधायिन ॥ ८७
प्रमाणव्यतिरेकेण सर्वशून्यत्वसाधने । सर्वस्य चिन्तितं सिद्धयेत्तत्व केन निषिध्यते ॥ ८८

कार्य होते हैं, वे वे किसी न किसी बुद्धिमान्‌के निमित्तसे निर्मित होते है, जैसे कलश आदि पदार्थ। जो कोई भी बुद्धिमान् इस जगत्‌का कर्त्ता है, वही महेश्वर कहा जाता हैं। विना महेश्वरके शरीर, वृक्ष और पर्वतादिक पदार्थ नही उत्पन्न हो सकते है, जैसे कि कुम्भकारके विना कलश आदि अनेक विचित्र पदार्थ नही उत्पन्न हो सकते है। अतएव इस जगत्‌का कर्ता कोई विश्वदर्शी महेश्वर है। आचार्य उनके इस पूर्व पक्षका निषेध करते हुए कहते है कि यह उपर्युक्त वचन बुद्धिमान् जनो-के द्वारा विचार करनेपर युक्तिसंगत नही ठहरता है ॥७७-७९। देखो—कार्यत्व यह हेतु जिस प्रकारसे उस महेश्वरके बुद्धिमान्‌पनाको सिद्ध करता है, उसी प्रकारसे उसके निश्चयसे शरीरवान-पनाको भी सिद्ध करता है ॥८०॥ क्योकि कही पर भी मैंने कुम्भकारको शरीर-रहित नही देखा है, इसलिए आपके द्वारा कुम्भकारका जो दृष्टान्त दिया गया है वह ईश्वरके सशरीरपनाको ही कहता है ॥८१॥ और शरीर-सहित ईश्वरको जगत्‌का कर्त्ता मानने पर तो वह हम आपके समान दृश्यपनेको प्राप्त हो जाता हैं, जैसे कि सशरीरी कुम्भकार सर्व जनोको प्रत्यक्ष दिखाई देता है ॥८२॥ और आप यह भी वतलाइये कि उपकरणोंके विना वह भुवनको कैसे वनाता है? तथा भुवनवर्ती पदार्थोको वना-वना करके वह इस निरालम्ब आकाशमे उन्हे कहाँ पररखता है ॥८३॥ यदि कहा जाय कि ईश्वरकी सृष्टि रचनेकी इच्छाके वशसे पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय विश्वके निर्माणके लिए प्रवृत्त होते हैं, तो यह कहिये कि वे अचेतन पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय विश्वका निर्माण कैसे कर सकते हैं? इस प्रकार तर्क-वलसे विचारनेपर ईश्वर जगत्‌का कर्त्ता सिद्ध नही होता है ॥८४॥ अव आचार्य बुद्धके सर्वज्ञताका निषेध करते है—यथार्थवादी पुरुष बुद्धको भी सर्वज्ञ नही कहते हैं, क्योंकि उसने प्रमाणादिसे विरुद्ध शून्यत्वादिका कथन किया हैं ॥८५॥ प्रमाण-से अथवा अप्रमाणसे सर्वशून्यताके साधनमे जलमें चक्रवाक-युगलके समान दो विकल्प सामने आते है? अर्थात् वौद्ध लोग यह वतावे कि वे सर्वशून्यताकी सिद्धि किसी प्रमाणसे करते है, अथवा विना किसी प्रमाणके ही करते है ॥८६॥ प्रमाणसे सर्वशून्यताके सिद्ध करनेपर तो सर्व शून्यताका ही व्यतिक्रम हो जाता है, क्योकि उस शून्यताके निषेध करनेवाले प्रमाणको आप वौद्धोने अगी-कार कर लिया है ॥८७॥ यदि कहा जाय कि हम लोग प्रमाणके विना ही सर्वशून्यताका साधन करते है, तो फिर सभी लोगोका चिन्तित—मन चाहा-तत्त्व सिद्ध हो जायगा, उसका विना प्रमाण

सर्वत्र सर्वदा तत्त्वे क्षणिके स्वीकृते सति । फलेन सह सम्बन्धो धार्मिकस्य कुतस्तन. ।। ८९
वध्यस्य वधको हेतु. क्षणिके स्वीकृते कथम् । प्रत्यभिज्ञा कथं लोकव्यवहारप्रवर्तिनी ।। ९०
व्याघ्र्याः प्रयच्छतो देह निगद्य कृमिमन्दिरम् । दातृदेयविमूढस्य करुणा बत कीदृशी ।। ९१
जननी जगत पूज्या हिंसिता येन जन्मनि । मांसोपदेशिनस्तस्य दया शौद्धोदने कुतः ।। ९२
यो ज्ञात्वा प्राकृतं धर्म भाषतेऽसौ निरर्थकः । निर्गुणो निष्क्रियो मूढ सर्वज्ञ कपिलः कथम् ।। ९३
आर्यास्कन्धानलादित्यसमीरणपुरःसराः । निगद्यन्ते कथ देवा सर्वदोषपयोधयः ।। ९४
गूथमश्नोति या हन्ति खुरशृङ्गै शरीरिणः । सा पशुर्गौ कथ वन्द्या वृषस्यन्ती स्वदेहजम् ।। ९५
चेद्दुग्धदानतो वन्द्या महिषी किं न वन्द्यते । विशेषो दृश्यते नास्या महिषीतो मयाऽधिका ।। ९६
या तीर्थमुनिदेवानां सर्वेषामाश्रय सदा । ऊह्यते हन्यते या गौर्मूढैर्विक्रीयते कथम् ।। ९७
मुसल देहली चुल्ली पिप्पलश्चम्पको जलम् । देवा यैरभिधीयन्ते वर्ज्यन्ते तै. परेऽत्र के ।। ९८

के कैसे निषेध किया जा सकेगा ।।८८।। इस प्रकार बौद्धोके द्वारा मानी गई सर्वशून्यता सिद्ध नही होती है, अत उसे मानना मिथ्या है। तथा तत्त्वको सर्व देश और सर्व कालमे सर्वथा क्षणिक स्वीकार करने पर धर्मके फलका धर्मात्मा पुरुषके साथ सम्बन्ध कैसे बन सकेगा ।।८९।। भावार्थ-यदि जीवको सर्वथा क्षणिक माना जाय तो जो धर्म करेगा, वह उसी क्षण नष्ट हो जायगा तब उस धर्मका फल उसे कंसे मिल सकेगा?

इसी प्रकार क्षणिक वस्तुके स्वीकार करने पर हिंसक जीव हिंसाका हेतु कैसे माना जा सकेगा? तथा देन-लेन आदि लोक व्यवहारकी चलाने वाली प्रत्यभिज्ञा कैसे संभव होगी ।।९०।। भावार्थ-इसने मुझे पहले ऋण दिया था, आज मै उसे दे दे रहा हूँ,इस व्यक्तिसे मुझे इतना लेना है आदि लोक व्यवहार प्रत्यभिज्ञान-पूर्वक ही चलते है। यदि सर्वथा क्षणिकवाद माना जाय, तो यह सर्व व्यवहार समाप्त हो जायगा। 'यह शरीर कृमियोका घर हैं' ऐसा कह कर व्याघ्रीके लिए शरीर-समर्पण करने वाले दाता और देयके ज्ञानसे विमूढके करुणा कैसे सभव है, यह अति दु खकी बात है ।।९१।। जिसने जगत्की पूज्य अपनी जननीको जन्मकालमे ही मार दिया और बुद्धत्व प्राप्तिके पश्चात् मास खानेका उपदेश दिया, उस शुद्धोदन राजाके पुत्र बुद्धके दया कैसे मानी जा सकती है ।।९२।। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि बुद्ध भी सर्वज्ञ नही है। अब आचार्य साख्यमतके प्रवर्तक कपिलके भी सर्वज्ञताका निराकरण करते हुए कहते है कि जो ज्ञानको जड प्रकृतिका धर्म कहता है और पुरुषको निर्गुण, निष्क्रिय और प्रयोजन-रहित कहता है वह मूढ कपिल सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ।।९३।। इस प्रकार आर्या (देवी), स्कन्द (कार्तिकेय), अग्नि, सूर्य, समीरण (पवन) आदिक जो सर्व दोषोके समुद्र है, वे देव कैसे कहे जा सकते है ।।९४।। जो गाय विष्टा खाती है, खुर और सीगोसे प्राणियोको मारती है और अपने पुत्रके साथ काम-सेवन करती हैं, वह पशु गाय कैसे वन्दनीय हो सकती है ।।९५।। यदि कहा जाय कि वह लोगोको दुग्ध दान करनेसे वद्य है, तो फिर इसी कारणसे भैंस क्यो वन्दनीय नही है? क्योकि दुग्ध देनेकी दृष्टिसे तो हमे भैसकी अपेक्षा गायमे कोई विशेषता नही दिखाई देती है ।।९६।। जो गायको सभी तीर्थो, मुनिजनो और देवोका सदा आश्रय मानते है आश्चर्य है कि वे मूढ लोग उसे क्यो दुहते है, क्यो मारते है और क्यो वेचते है ।।९७।। इसके अतिरिक्त जो लोग मुसल, देहली चूल्हा, पीपल, चपा और जल आदिको भी देव कहते है, उन लोगोके द्वारा इस लोकमे देव माननेसे और कोन छोडा

इत्थं विविच्य परिमुच्य कुदेववर्गं गृण्हाति यो जिनपतिं भजते स तत्त्वम् ।
गृण्हाति यः शुभमतिः परिमुच्य काचं, चिन्तामणिं स लभते खलु किं न सौख्यम् ॥ ९९
मिथ्यात्वदूषणमपास्य विचित्रदोषं संरूढसंसृतिवधूपरितोषकारि ।
सम्यक्त्वरत्नममलं हृदि यो निधत्ते, मुक्त्यङ्गनाऽमितगतिस्तमुपैति सद्यः ॥ १००

इत्यमितगतिकृतश्रावकाचारे चतुर्थः परिच्छेदः ॥

पञ्चमः परिच्छेदः

मद्यमांसमधुरात्रिभोजन क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा ।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥ १
मद्यपस्य धिषणा पलायते दुर्भगस्य वनितेव दूरतः ।
निन्द्यता च लभते महोदयं क्लेशितेव गुरुवाक्यमोचित ॥ २
विव्हलः स जननीयति प्रियां मानसेन जननीं प्रियीयति ।
किङ्करीयति निरीक्ष्य पार्थिवं पार्थिवीयति कुधीः स किङ्करम् ॥ ३
सर्वतोऽप्युपहसन्ति मानवा वाससीमपहरन्ति तस्करा ।
मूत्रयन्ति पतितस्य मण्डला विस्तृते विवरकाङ्क्षया मुखे ॥ ४

जायगा? अर्थात् फिर तो सभी भली बुरी वस्तुओंको देव मानना चाहिए ॥९८॥ इस प्रकारसे जो भले प्रकार विचार करके कुदेवोके समुदायको छोडकर जिनेन्द्रदेवका आश्रय ग्रहण करता है, वह वास्तविक तत्त्वका सेवन करता हैं। जो श्रेष्ठ बुद्धि पुरुष काचको छोडकर चिन्तामणि रत्नको ग्रहण करता है, वह निश्चयसे क्या सुखको नही पाता है? अर्थात् सुखको पाता ही है ॥९९॥ संसृति (संसार) रूपी वधूको सन्तुष्ट करनेवाले अर्थात् संसारको बढानेवाले और नाना प्रकारके दोषोको करनेवाले मिथ्यात्वरूपी महा दूषणको दूर करके निर्दोष निर्मल सम्यक्त्वरूपी रत्नको अपने हृदयमे धारण करता है,वह पुरुष अमित ज्ञानका धारक होकर शीघ्र ही मुक्ति रूपी अंगना को प्राप्त करता है॥१००॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित उपासकाचारमें चतुर्थ परिच्छेद समाप्त हुआ।

पांचवा परिच्छेद

व्रतोके ग्रहण करनेकी इच्छासे ज्ञानी जन मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन और क्षीरी वृक्षोके फलोके भक्षणका मन वचन कायसे त्याग करते हैं, क्योंकि इनके त्यागका परिपालन करने पर व्रत परिपुष्ट होते हैं। १॥ अब आचार्य सर्वप्रथम मद्यपानके दोष बतलाते हैं—मद्य पीने वालेकी बुद्धि इस प्रकार भाग जाती है, जैसे कि अभागी स्त्री उसे दूरसे छोड कर भाग जाती है। तथा उसकी निन्दा उत्तरोत्तर बढती है, जैसे कि गुरुके वचन न मानने वालेके क्लेश वृद्धिको प्राप्त होता हैं ॥२॥ मद्यपानसे विव्हल चित्त हुआ पुरुष अपनी स्त्रीके साथ माताके समान आचरण करता है और माताके साथ स्त्रीके समान आचरण करता है। इसी प्रकार राजाके साथ किंकरके समान आचरण करता है और किंकरके साथ राजाके समान आचरण करता है ॥३॥ मद्यपायी पुरुषकी सभी मनुष्य सब ओरसे हँसी करते है, चोर उसके वस्त्र चुरा लेते हैं और कुत्ते छेद समझ कर भूमि पर पडे हुए उसके खुले मुखमे मूत देते हैं ॥४॥ मदिरा पान करने वाला पुरुष

मंक्षु मूर्च्छति बिभेति कम्पते फूत्करोति हृदते प्रछर्दति ।
खिद्यते स्खलति वीक्षते दिशो रोदिति स्वपिति जक्षतीर्ष्यति ।। ५
ये भवन्ति विविधाः शरीरिणस्तत्र सूक्ष्मवपुषो रसाङ्गिकाः ।
तेऽखिला झटिति यान्ति पञ्चतां निन्दितस्य चषकस्य पानतः ।। ६
वारुणीनिहितचेतसोऽखिला यान्ति कान्तिमतिकीर्तिसम्पदः ।
वेगतः परिहरन्ति योषितो वीक्ष्य कान्तमपराङ्गनागतम् ।। ७
गायति भ्रमति वक्ति गद्गदं रोति धावति विगाहते क्रमम् ।
हन्ति हृष्यति न बुध्यते हितं मद्यमोहितमतिर्विषीदति ।। ८
तोतुदीति भविनः सुरारतो वावदीति वचनं विनिन्दितम् ।
मोमुषीति परवित्तमस्तधीर्बोभजीति परकीयकामिनीं ।। ९
नानटीति कृतचित्रचेष्टितो नन्नमीति पुरतोऽजनं जगम् ।
लोलुठीति भुवि रासभोपमो रारटीति सुरापविमोहितः ।। १०
सीधुलालसधियो वितन्वते धर्मसंयमविचारणां यके ।
मेरुमस्तकनिविष्टमूर्तयस्ते स्पृशन्ति चरणैर्भुवस्तलम् ।। ११
दोषमेवमवगम्य वारुणीं सर्वथा तु द[1]वयन्ति पण्डिताः ।
कालकूटमवबुध्य दुःखदं भक्षयन्ति किमु जीवितार्थिनः ।। १२

शीघ्र ही मूर्च्छित हो जाता हैं, डरता हैं, काँपता है, चिल्लाता है,रोता है, वमन करता है, खेद-खिन्न होता है, गिरता है, सर्व दिशाओमे देखता है, पुन रोने लगता है. सोता है, अकड जाता है और अन्य लोगोसे ईर्ष्या करता है ।।५।। इस निन्द्य मद्यके पीनेसे उस मदिरामे जोनाना प्रकारके सूक्ष्म शरीरवाले असख्य रसागी जीव उत्पन्न है, वे सब शीघ्र ही मरणको प्राप्त हो जाते है ।।६।। मदिरामे आसक्त चित्तवाले पुरुषकी कान्ति बुद्धि कीर्ति और सम्पत्ति आदि सभी विशेषताएँ उसको छोडकर वेगसे इस प्रकार दूर चली जाती है, जिस प्रकारसे कि अन्य स्त्रीमे आसक्त अपने पतिको देखकर उसकी विवाहिता स्त्री उसे छोडकर चली जाती है ।।७।। मद्य-पानसे मोहित बुद्धिवाला शराबी कभी गाता है, कभी मूच्छित हो भ्रमयुक्त होता है, कभी गद्गद वचन बोलता है, कभी रोता है, कभी इधर-उधर दौडता हैं, कभी किसीको मारता है, कभी हर्षित होता है और कभी विषादको प्राप्त होता है. किन्तु अपने हितको नही जानता है ।।८।। सुरा-पानमे रत पुरुष कभी प्राणियोको सताता हे,कभी निन्दित वचन बोलता है, कभी पराये धनको चुराता है और कभी वह नष्टबुद्धि परायी स्त्रीको भोगने लगता है ।।९।। मदिरासे मोहित हुआ मनुष्य कभी नाना प्रकारकी चेष्टाए करता हुआ नाचता है, कभी प्रत्येक मनुष्यको नमस्कार करने लगता है, कभी गर्दभके समान भूमिपर लोटने लगता है और उसीके समान रेकने लगता है ।।१०।। मदिरा-पानकी लालसा युक्त बुद्धिसे जो मनुष्य धर्म और सयमके पालन करनेका विचार करते है, वे मनुष्य मेरुपर्वतके मस्तकपर बैठकर अपने चरणोसे भूतलका मानो स्पर्श करना चाहते हैं ।।११।। इस प्रकारसे मदिरा-पानके अनेक दोषोको जानकर पण्डितजन उसका सर्वथा ही पान नही करते

१ मु 'न हि धयति' पाठ ।

मांसभक्षणविषक्तमानसो य. करोति करुणां नराधमः ।
भूतले कुलिशवह्नितापिते नूनमेष वितनोति वल्लरीम् ।। १३
जायते न पिशितं जगत्त्रये प्राणिघातनमृते यतस्तत. ।
मंक्षु मूलमुदखानि खादता ही दया झटिति धर्मशाखिनः ।। १४
देहिनो भवति पुण्यसञ्चयः शुद्धया न कृपया विना ध्रुवम् ।
दृश्यते न लतयाऽऽमया विना सार्द्रया जगति पुष्पसञ्चयः ।। १५
भक्षयन्ति पिशितं दुराशया ये स्वकीयबलपुष्टिकारिणः ।
घातयन्ति भवभागिनस्तके खादकेन न विनाऽस्ति घातकः ।। १६
हन्ति स्वादति पणायते पलं मन्यते दिशति संस्करोति य· ।
यान्ति ते षडपि दुर्गतिं स्फुटं न स्थिति. खलु परत्र पापिनाम् ।। १७
अत्ति यः कृमिकुलाकुलं पलं पूयशोणितवसादिमिश्रितम् ।
तस्य किञ्चन न सारमेयतः शुद्धबुद्धिरभिवेक्ष्यतेऽन्तरम् ।। १८
आमिषाशनपरस्य सर्वथा विद्यते न करुणा शरीरिणः ।
पापमर्जति तथा विना परं बम्भ्रमीति भवसागरे ततः ।। १९
नास्ति दूषणमिहामिषाशने यैर्हृषीकवशगैर्निगद्यते ।
व्याघ्रसूकरकिरातधीवरास्तैर्निकृष्टहृदयैर्गुरूकृता. ।। २०

है। कालकूट विपको महादु.खदायी जानकर भी क्या जीनेके इच्छुक पुरुष उसे खाते है? अर्थात् नही खाते हैं ।।१२।। अब आचाय मास-भक्षणका तिषेध करते हैं—मांस भक्षणमे आसक्त चित्त-वाला जो अधम मनुष्य करुणाको करना चाहता है, वह निश्चयसे वज्राग्निसे सन्तप्त भूतल पर लताको विस्तारना चाहता है ।।१३।। यत. जगत्त्रयमे भी प्राणि-घातके विना मास उत्पन्न नहीं होता है, अत. मांसके खानेवाले पुरुषके द्वारा काटे गये धर्मरूप वृक्ष की मूलभूत दया ही शीघ्र खोद डाली गई समझना चाहिए ।।१४।। शुद्ध दयाके विना जीवके पुण्यका संचय निश्चयसे कभी नही हो सकता है। जगत्में मैंने हरी-भरी लताके विना पुष्पोका संचय कही नही देखा है ।।१५।। जो दुष्ट चित्त पुरुष अपने शरीरके बलको पुष्ट करनेकी इच्छासे मांसको खाते है, वे नियमसे अन्य प्राणियोंका घात करते हैं, क्योंकि खानेवालेके विना घातक कसायी जीव-घात नही करता। अर्थात् कसायी मांस-भक्षकोंके लिए ही जीवघात करता है ।।१६।।

जो जीव-घात करता है, मास खाता है, उसे बेचता है, उसके खानेकी अनुमोदना करता है, खानेका उपदेश देता है और मांस पकाता है ये छहों ही पापी निश्चयसे दुर्गतिको जाते है, क्योकि पापियोकी परलोक मे अन्यत्र स्थिति हो नही सकती हैं ।।१७।। जो मनुष्य कृमि-कुलसे व्याप्त और पीव, रक्त, चर्वी आदिसे मिश्रित मांसको खाता हैं, शुद्ध बुद्धिवाले पुरुष उसका कुत्तेसे कुछ भी अन्तर नही देखते है ।।१८।। मांस खानेमें तत्पर पुरुषके करुणा सर्वथा ही नही होती है और करुणाके विना वह पापका ही उपार्जन करता है, जिसके फलसे वह भव-सागरमे ही परि-भ्रमण करता रहता हैं ।।१९।। जो इन्द्रियोके वशीभूत हुए मनुष्य यह कहते है कि मास खानेमें यहाँ कोई दोप नहीं है, उन निकृष्ट चित्त पुरुषोने व्याघ्र, भील और धीवरोको अपना गुरु बना

मांसवल्भननिविष्टचेतसः सन्ति पूजिततमा नरा यदि ।
गूथयूथकृतदेहपुष्टय· सूकरा न नितरां तथा कथम् ।। २१
भक्षयन्ति पलमस्तचेतना· सप्तधातुमयदेहसम्भवम् ।
यद्वदन्ति च सुचित्तमात्मन· किं विडम्बनमतः परं बुधाः ।। २२
भुञ्जते पलमघोघकारि ये ते व्रजन्ति भवदु·खमूर्जितम् ।
ये पिबन्ति गरलं सुदुर्जरं ते श्रयन्ति मरणं किमद्भुतम् ।। २३
चित्रदुःखसुखदानपण्डिते ये वदन्ति पिशिताशने समे ।
मृत्युजीवितविवर्द्धनोद्यते ते वदन्ति सदृशे विषामृते ।। २४
जायते द्वितयलोकदु खदं पिशितमङ्गसङ्गिनाम् ।
भक्षितं द्वितयजन्मशर्मदं जायतेऽशनमपास्तदूषणम् ।। २५
मांसमित्थमवबुध्य दूषित त्यज्यते हितगवेषिणा त्रिधा ।
मन्दिरं न विदता निषेव्यते तीव्रदृष्टिविषपन्नगाकुलम् ।। २६
माक्षिक विविधजन्तुघातजं स्वादयन्ति बहुदुःखकारि ये ।
स्वल्पजन्तुविनिपातिभि. समास्ते भवन्ति कथमत्र खट्टिकं. ।। २७
ग्रामसप्तकविदाहरेफसा तुल्यता न मधुभक्षिरेफस· ।
तुल्यमञ्जलिजलेन कुत्रचिन्निम्नगापतिजल न जायते ।। २८

लिया है ।।२०।। यदि मास-भक्षणमे आसक्त चित्त पुरुष उत्तम और पूज्य माने जावे, तो विष्टा-समूहसे देहके पुष्ट करनेवाले सूकर कैसे अति पूज्य न माने जावे ।।२१।। जो बुद्धि-रहित पुरुष सप्तधातुमय देहसे उत्पन्न होनेवाले मासको खाते है और फिर भी अपने आपके पवित्रता कहते है, सो हे वुधजनो, उससे अधिक और क्या विडम्बना हो सकती है ।।२२।। जो पाप-पुजका संचय करनेवाले माँसको खाते है, वे अति प्रचण्ड सासारिक दु खोको प्राप्त होते हैं । जो अति दुर्जर विपको पोते है, वे यदि मरणको प्राप्त होते है तो इसमे क्या आश्चर्य है ।।२३।। जो लोग नाना प्रकार के दु ख देनेवाले मासको और अनेक प्रकारके सुख देनेवाले अन्नाहारको समान कहते है, वे मृत्यु देनेवाले विषको और जीवन बढानेवाले अमृतको समान कहते है ।।२४।। देहधारियोके मास का भक्षण दोनो लोकोमे दु खोका देनेवाला है और दूषण-रहित अन्नके आहारका भक्षण दोनो लोकोमें सुखका देनेवाला है ।।२५ । इस प्रकारसे अतिदोष युक्त मासको जान करके अपने हितके अन्वेपक जन मन वचन कायसे उसका त्याग करते हैं । क्योकि जानकार लोग तीव्र दृष्टि विष-धारी सर्पोसे व्याप्त मकानमे निवास नही करते है ।।२६।। अब आचार्य मधु-सेबनका निषेध करते है—नाना प्रकारके जन्तुओके घातसे उत्पन्न होनेवाले और भारी दुखोको करनेवाले मधुको जो लोग खाते है, वे इस लोकमे अल्प जन्तुओके मारनेवाले खटीकोके समान कैसे हो सकते है? कहनेका भाव यह है कि मधु-भक्षी पुरुष खटीकसे भी अधिक पापी है ।।२७।। सात ग्रामोके जलाने के पापके साथ भी मधु-भक्षीके पापकी समानता नही है । अजलीमे भरे जलके साथ समुद्रके जलकी समानता कही भी कभी नही हो सकती है । भावार्थ—जैसे अजलीके जलसे समुद्रका जल असख्यात गुणा होता है, उसी प्रकार सात ग्रामोके जलानेके पापसे भी असख्यात गुणा पाप मधुके भक्षणमे

म्लेच्छलोकमुखलालयाऽविलं मद्यमांसशितभाजनस्थितम् ।
सारघं गतघृणस्य स्वादतः कीदृशं भवति शौचमुच्यताम् ॥ २९
यश्चिखादिषति सारघं कुधीर्मक्षिकागणविनाशनस्पृहः ।
पापकर्दमनिषेधनिम्नगा तस्य हन्त करुणा कुतस्तनी ॥ ३०
भक्षितो मधुकणोऽपि सञ्चितं सूदते झटिति पुण्यसञ्चयम् ।
काननं विषमशोचिषः कणः किं न भस्मयति वृक्षसङ्कटम् ३१
योऽत्ति नाम मधु भेषजेच्छया सोऽपि याति लघु दुःखमुल्वणम् ।
किं न नाशयति जीवितेच्छया भक्षितं झटिति जीवितं विषम् ॥ ३२
घोरदुःखदमवेत्य कोविदा वर्जयन्ति मधु शर्मकांक्षिणः ।
कुत्र तापकमवेत्य पावकं गृण्हते शिशिरलोलमानसाः ॥ ३३
संसजन्ति विविधाः शरीरिणो यत्र सूक्ष्मतनवो निरन्तराः ।
तद्ददाति नवनीतमङ्गिनां पापतो न परमत्र सेवितम् ॥ ३४
चित्रजीवगणसूदनास्पदं यैर्विलोक्य नवनीतमद्यते ।
तेषु संयमलवोऽपि विद्यते धर्मसाधनपरायण. कुतः ॥ ३५
यन्मुहूर्तयुगत· परं सदा मूर्च्छति प्रचुरजीवराशिभिः ।
तद् गिलन्ति नवनीतमत्र ये ते व्रजन्ति खलु कां गतिं मृता. । ३६

जानना चाहिए ॥२८॥ म्लेच्छ लोगोके मुखकी लारसे व्याप्त, मद्य और मांसके संचयवाले पात्रमे रखे हुए मधुको खानेवाले निर्दयी पुरुपके पवित्रता कैसे रह सकती है, सो कहिये ॥२९॥ जो कुवुद्धी पुरुष मक्षिका-समूहके विनाशकी इच्छा रखता हुआ मधुको खाना चाहता है. उस पुरुषके पापरूप पंकको धोनेवाली नदीके समान करुणा वुद्धि कैसे हो सकती हैं? अर्थात् कभी नही हो सकती ॥३००॥ मधुका खाया हुआ एक कण भी वहुत कालसे संचित किये पुण्यके पुंजको क्षण मात्रमे नष्ट कर देता है। विषम वन्हिका एक कण क्या वृक्षोंसे व्याप्त वनको नहीं जला देता हैं? अर्थात् जला ही देता है ॥३१॥ जो पुरुष औपधि की इच्छासे भी मधुको खाता है,वह भी शीघ्र उग्र दु.खको प्राप्त होता है। क्या जीनेकी इच्छासे खाया गया विष शीघ्र ही जीवनको नष्ट नहीं करता है? करता ही है ॥३२॥ इस प्रकारसे घोर दु.खदायी मधुको जानकर सुखके वाछक विद्वान् मधुका परित्याग करते हैं। शीतलता पानेकी लालसावाले मनुष्य तापकारी पावकको जानकर कहाँ ग्रहण करते है. अर्थात् नहीं ग्रहण करते हैं। अतः ज्ञानियोंको मधु-भक्षण सर्वथा छोड देना चाहिए॥ ३३॥

अव आचार्य नवनीत (मक्खन) भक्षणका निपेध करते है—जिसके भीतर सूक्ष्मशरीर वाले नाना प्रकारके प्राणी निरन्तर उत्पन्न होते रहते है, ऐसे नवनीतका सेवन मनुष्योंको उस पापका संचय देता है, जिससे वडा और कोई पाप संसारमे नही है ॥३४॥ नाना प्रकारके जीव-समूहके विनाशका स्थान ऐसा नवनीत देखकर भी जो लोग उसे खाते हैं, उनमे संयमका लेश भी नही हैं, फिर धर्मसे साधनकी तत्परता तो कैसे हो सकती हैं ॥३५। जिस नवनीतमें दो मुहूर्तके पश्चात् प्रचुर जीवराशि सदा उत्पन्न होती रहती हैं, उस नवनीतको जो लोग यहाँ पर खाते हैं वे मरकर कौन सी गतिको जाते है, यह हम नही जानते ॥३६॥ यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य

ये जिनेन्द्रवचनानुसारिणो घोरजन्मवनपातभीरवः।
तैश्चतुष्टयमिदं विनिन्दित जीवितावधि विमुच्यते त्रिधा ॥ ३७
मद्यमांसनवनीतसारघं यैश्चतुष्कमिदमद्यते सदा।
गृद्धिरागवधसङ्गबृंहणं तैश्चतुर्गतिभवो विगाह्यते ॥ ३८
यः सुरादिषु निसेवतेऽधमो नित्यमेकमपि लोलमानस.।
सोऽपि जन्मजलधावटाटयते कथ्यते किमिह सर्वभक्षिणः ॥ ३९
यत्र राक्षसपिशाचसञ्चरो यत्र जन्तुनिवहो न दृश्यते।
यत्र मुक्तमपि वस्तु भक्ष्यते यत्र घोरतिमिर विजृम्भते ॥ ४०
यत्र नास्ति यतिवर्गसङ्गमो यत्र नास्ति गुरुदेवपूजनम्।
यत्र सयमविनाशिभोजनं यत्र संसजति जीवभक्षणम् ॥ ४१
यत्र सर्वशुभकर्मवर्जन यत्र नास्ति गमनागमक्रिया।
तत्र दोषनिलये दिनात्यये धर्मकर्मकुशला न भुञ्जते ॥ ४२
भुञ्जते निशि दुराशया यके गृद्धिदोषवशवर्तिनो जनाः।
भूतराक्षसपिशाचशाकिनीसङ्गति कथममीभिरस्यते ॥ ४३
वल्भते दिननिशीथयो· सदा यो निरस्तयमसंयमक्रिय।
शृङ्गपृच्छशफसङ्गवर्जितो भण्यते पशुरय मनीषिभि· ४४

है कि नवनीतके दो मुहूर्त्तकी मर्यादा तपाकर घी बनानेकी अपेक्षासे कही गई है, न कि खानेकी अपेक्षासे। अतएव मक्खनका खाना उचित नही है, क्योकि लारके संयोगसे और भी असख्य सूक्ष्म जीव उसमे उत्पन्न हो जाते है। अतएव जो जिनेन्द्र देवके वचनानुसार आचरण करने वाले है घोर ससार-कान्तारके निपातसे भयभीत है, वे पुरुष मद्य, मास, मधु और नवनीत इन चारो ही अतिनिन्द्य पदार्थोको जीवन भरके लिए मन वचन कायसे खानेका परित्याग कर देते है ॥३७॥ जो लोग गृद्धि, राग और हिसाका संग बढानेवाले मद्य, मास, मधु और नवनीत इन चारोको ही सदा खाते रहते है, वे निश्चयसे इस चतुर्गतिरूप ससार समुद्रमे गोता खाते रहते है ॥३८॥ जो अधम चंचल चित्त पुरुष इन मद्य मासादिकमेसे किसी एक भी निंद्य पदार्थका सेवन करता है, वह भी संसार-सागरमे परिभ्रमण करता है, फिर सभीके खाने वालेकी तो बात ही क्या कहना है ॥३९॥ अब आचार्य रात्रि-भोजनका निषेध करते है—जिस रात्रिमे राक्षस,भूत और पिशाचोका संचार होता है, जिसमे सूक्ष्म जन्तुओका समूह दिखाई नही देता है, जिसमें स्पष्ट न दिखनेसे त्यागी हुई भी वस्तु खा ली जाती है, जिसमे घोर अन्धकार फैलता है, जिसमे साधु वर्गका सगम नही है, जिसमे देव और गुरुकी पूजा नही की जाती हे, जिसमे खाया गया भोजन सयमका विनाशक है, जिसमे जीते जीवोके भी खानेकी संभावना रहती है, जिसमे सभी शुभ कार्योका अभाव होता है, जिसमे सयमी पुरुष गमनागमन क्रिया भी नही करते है, एसे महादोषोके आलय भूत, दिनके अभाव स्वरूप रात्रिके समय धर्म-कार्योमे कुशल पुरुष भोजन नही करते है ॥४०-४२॥ खानेकी गृद्धिताके दोषवशवर्ती जो दुष्ट चित्त पुरुष रात्रिमे खाते है, वे लोग भूत, राक्षस, पिशाच और शाकिनी-डाकिनियोकी संगतिको कैसे छोड सकते है? अर्थात् रात्रिमे राक्षस पिशाचादिक ही खाते है, अत. रात्रिभोजियोको उन्हींकी सगतिका जानना चाहिये ॥४३॥ जो मनुष्य यम-नियम-सयमादिकी क्रियाओको छोड़कर रात्रि-

आमनन्ति दिवसेषु भोजनं यामिनीषु शयनं मनीषिण: ।
ज्ञानिनामवरेषु जल्पनं शान्तये गुरुषु पूजनं कृतम् ।। ४५
भुज्यते गुणवतैकदा सदा मध्यमेन दिवसे द्विरुज्ज्वले ।
येन रात्रिविनयोरनारतं भुज्यते स कथितोऽधमो नर ।। ४६
यो विवर्ज्य वदनावसानयोर्वासरस्य घटिकाद्वयं सदा ।
भुञ्जते जितहृषीकवादिनस्ते भवन्ति भवभारवर्जिता. ।। ४७
ये विधाय गुरुदेवपूजनं भुञ्जतेऽन्हि विमले निराकुला. ।
ते विधूय लघु मोहतामस सम्भवन्ति सहसा महोदया: ।। ४८
यो विमुच्य निशि भोजन त्रिधा सर्वदाऽपि विदधाति वासरे ।
तस्य याति जननार्धमञ्चितं भुक्तिवर्जितमपास्तरेफस: ।. ४९
यो निवृत्तिमविधाय वल्भनं वासरेषु विदधाति मूढधी. ।
तस्य किञ्चन न विद्यते फल भावि तेन भुविना कुलान्तरम् ।। ५०
ये व्यवस्थितमहस्सु सर्वदा शर्वरीषु रचयन्ति भोजनम् ।
निम्नगामि सलिल निसर्गतस्ते नयन्ति शिखरेषु शाखिनाम् ।। ५१
सूचयन्ति सुखदायि येऽङ्गिनां रात्रिभोजनमपास्तचेतना ।
पावकोद्धतशिखाकरालित ते वदन्ति फलदायि काननम् ।। ५२
ये ब्रुवन्ति दिनरात्रिभोगयोस्तुल्यतां रचितपुण्यपापयो ।
ते प्रकाशतमसो: समानतां दर्शयन्ति सुखदु खकारिणो ।। ।। ५३

दिन सदा ही खाया करता है, उसे ज्ञानी पुरुष सीग, पूछ और खुरके सगसे रहित पशु कहते है ।।४४।। बुद्धिमान् लोग तो दिनमे भोजन, रात्रिमें शयन, ज्ञानियोके मध्यमे अवसर पर संभाषण और गुरुजनोमे किया गया पूजन शान्तिके लिए मानते है ।।४५।।

गुणवान् उत्तम पुरुष दिनमे दो बार भोजन करते है। किन्तु जो रात्रि-दिन निरन्तर भोजन करता है, बह अधम पुरुष कहा गया है ।।४६।। इन्द्रियोरूपी ग्रोडोको जीतनेवाले जो पुरुष दिनकी आदि और अन्तिम दो दो घडी समयको छोडकर भोजन करते है, वे ही पुरुष ससारके भारसे रहित होते हैं अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते है ।।४७।। जो पुरुष देव और गुरुका पूजन करके दिनके निर्मल प्रकाशमे निराकुल होकर भोजन करते है, वे शीघ्र ही मोहरूप महा अन्धकारका नाश कर सहसा महान् उदयवाले होते हैं, अर्थात् आर्हन्त्य पदको पाते हैं ।।४८।। जो पुरुष मन वचन कायसे रात्रिमे भोजनका परित्याग करके सदा ही दिनमें भोजन करता है,पापसे रहित उस पुरुषका रात्रिमे भोजनके परित्यागसे आधा जन्म उपवासके साथ व्यतीत होता हैं। भावार्थ—रात्रिभोजन त्यागी अपने जीवनके आधे भागको उपवासके साथ व्यतीत करनेसे महान् पुण्यका सचय और दुष्कर्मकी निर्जरा करता है ।।४९।। जो मूढ पुरुष रात्रि भोजनकी निवृत्ति नही करके दिनमे भी भोजन करते है, उनके उसका कुछ भी फल नही होता हैं। हा, उनका भावी जन्म दिवाभोजी कुलमे होना सभव है ।।५०।। जो रात्रिमे दीपकादिका प्रकाश करके सदा भोजन करते हैं, वे स्वभावत. नीचेकी ओर वहनेवाले जलको वृक्षोके शिखरो पर ले जाना चाहते है ।।५१।। जो अज्ञानी पुरुष रात्रि भोजनको जीवोके लिए सुखदायी कहते है, वे आगकी उद्धत शिखाओसे विकरालताको प्राप्त हुए वनको फलोको देनेवाला कहते है ।।५२।। जो लोग

रात्रिभोजनमधिश्रयन्ति ये धर्मबुद्धिमधिकृत्य दुर्धियः ।
ते क्षिपन्ति पविवन्हिमण्डल वृक्षपद्धतिविवृद्धये स्फुटम् ।। ५४
ये विधृत्य सकल दिनं क्षुधा भुञ्जते सुकृतकांक्षया निशि ।
ते विवृध्य फलशालिनीं लतां भस्मयन्ति फलकांक्षया पुनः ।। ५५
ये सदाऽपि घटिकाद्वय त्रिधा कुर्वते दिनमुखान्तयोर्बुधा ।
भोजनस्य नियमं विधीयते मासि तैः स्फुटमुपोषितद्वयम् ।। ५६
रोगशोककलिराटिकारिणी राक्षसीव भयसूयनी प्रिया ।
कन्यका दुरितपाकसम्भवा रोगिता इव निरन्तरापदः ।। ५७
देहजा व्यसनकर्मयन्त्रिता पन्नगा इव वितीर्णभीतय. ।
निर्धनत्वमनपायि सर्वदाऽपात्रदानमिव दत्तवृद्धिकम् ।। ५८
सङ्कट सतिमिर कुटीरक नीचचित्तमिव रन्ध्रसंकुलम् ।
नीचजातिकुलकर्मसङ्गम शीलशौचशमधर्मनिर्गमं ।। ५९
व्याधयो विविधदुःखदायिनो दुर्जना इव परापकारिणः ।
सर्वदोषगणपीड्यमानता रात्रिभोजनपरस्य जायते ।। ६०

पुण्यकारी दिनके भोजनकी और और पापकारी रात्रिके भोजनकी समानताको कहते है,वे सुखकारी प्रकाश और दु.खकारी अन्धकारकी समानताको प्रकट करते है ।।५३।। जो दुर्बुद्धि मनुष्य धर्म बुद्धि करके रात्रिमे भोजन करते है, वे निश्चयसे वृक्षोकी परम्पराकी वृद्धिके लिए वज्राग्निके मण्डलको वृक्षो पर फेकते है ।।५४।। जो लोग पुण्यकी आकाक्षासे सारे दिन भूखकी बाधा सहन कर रात्रिमे भोजन करते है, वे फल पाने की इच्छासे पहले लताको बढाकर पुन उस फलवाली लताको मानो भस्म करते है ।।५५।। जो ज्ञानी लोग सदा ही दिनकी आदि अन्तकी दो दो घडी कालको मन वचन कायसे छोडकर भोजनका नियम धारण करते है, वे प्रत्येक मासमे निश्चयसे दो उपवास करते है ।।५६।। भावार्थ–प्रतिदिन प्रात और सायकालके एक एककी मिलाकर दो मुहूर्त्त भोजनका त्यागकर मध्यवर्ती समयमें ही भोजन करते है, उन्हे मासके तीस दिनोमे साठ मुहूर्त्त भोजनका त्याग रखनेसे दो उपवासका पुण्यलाभ होता है, क्योकि एक दिनरातके तीस मुहूर्त्त होते है। अब आचार्य रात्रि-भोजनके दोष कहते है–रात्रि भोजन करने वाले मनुष्यको रोग, शोक, कलह और राड करने वाली, तथा भयको देनेवाली राक्षसीके समान स्त्री मिलती है, दुष्कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई, निरन्तर आपदाएँ देनेवाली रोगिणी दुर्भाग्यवाली कन्याएँ पैदा होती है ।।५७।। दुर्व्यसन और कुकर्म करनेमे चतुर, सापोके समान सदा भय देनेवाले पुत्र उत्पन्न होते है, अपात्रदानके समान निरन्तर दु खोकी वृद्धि करने वाली, दरिद्रता निरन्तर प्राप्त होती है ।।५८।। नीच पुरुषके धनके समान अनेक छिद्रोसे व्याप्त, सकटोसे भरा, अन्धकार मय घर प्राप्त होता है, सदा नीच जाति और नीच कुल और नीच कार्य करने का समागम मिलता है, तथा शील शौच शम और धर्मका निर्गमन होता है, अर्थात् कभी धर्म-धारण करनेका भाव नही होता है ।।५९।। परका अपकार करने वाले दुर्जनोके समान नाना प्रकारके दु.खोको देनेवाली व्याधियाँ घेरे रहती है, और रात्रिभोजी पुरुष सदा सभी दोषो एवं रोगोसे पीडित रहता है ।।६०।। अब आचार्य रात्रिभोजन त्याग करनेके गुण वतलाते है–जो मनुष्य सदा रात्रि

पद्मपत्रनयनाः प्रियंवदाः श्रीसमाः प्रियतमा मनोरमाः ।
सुन्दरा दुहितरः कुल.लयाः पुण्यपङ्क्तय इवात्तविग्रहाः ।। ६१
भ्रंशितव्यसनवृत्तयोऽमला· पावना हिमकरा इवाङ्गजा ।
शक्रमन्दिरमिवास्ततामस मन्दिरं प्रचुररत्नराजितम् ।। ६२
लब्धचिन्तितपदार्थमुज्ज्वलं भूरिपुण्यमिव वैभवं स्थिरम् ।
सर्वरोगगणमुक्तदेहता सर्वशर्मनिवहाधिवासिता ।। ६३
ज्ञानदर्शनचरित्रभूतय. सर्वयाचितविधानपण्डिताः ।
सर्वलोकपतिपूजनीयता रात्रिभुक्तिविमुखस्य जायते ।। ६४
सूकरी सवरी वानरी धीवरी रोहिणी मण्डली शाकिनी क्लेशिनी ।
दुर्भगा निःसुता निर्धवा निर्धना शर्वरीभोजिनी जायते भामिनी ।। ६५
बान्धवैरञ्चिता देहजैर्वन्दिता भूषणैर्भूषिता दूषणैर्वजिता ।
श्रीमती ह्रीमती धीमती धर्मिणी वासरे जायते भुक्तित· शर्मिणी ।। ६६
रात्रिभोजनविमोचिनां गुणा ये भवन्ति भवभागिनां परे ।
तानपास्य जिननाथमीशते वक्तुमत्र न परे जगत्त्रये ।। ६७
यत्र सूक्ष्मतनवस्तनूभृत सम्भवन्ति विविधाः सहस्रश ।
पञ्चधा फलमुदुम्बरोद्भवं तन्न भक्षयति शुद्धमानस. ।। ६८

भोजनसे विमुख रहता है उसके कमलपत्रके समान नयनवाली प्रियभाषिणी, लक्ष्मीके समान मनोहारिणी प्रियतमा स्त्रियां प्राप्त होती है सुन्दर आकार वाली, कलाओकी जाननेवाली, पुण्यकी पक्तिके समान शरीरको धारण करनेवाली उत्तम कन्याएँ उत्पन्न होती है ।।६१।। व्यसनोसे रहित, निर्मल आचरण एव व्यापार करने वाले, चन्द्रके समान पावन शान्ति देनेवाले पुत्र पैदा होते है। अन्धकारसे रहित, प्रचुर रत्नराशिसे भरपूर इन्द्रके भवनके सम न सुन्दर मन्दिर प्राप्त होता है ।।६२।। मन-चिन्तित पदार्थोको देनेवाला महान् पुण्यके पुंजके समान उज्ज्वल स्थिर रहने वाला वैभव प्राप्त होता है। सर्व रोगोके समूहसे रहित नीरोग देह मिलती है, सभी सुखोके समुदायसे युक्त निवास प्राप्त होता है ।।६३।। सर्व मनोवाछित सम्पदाओके देनेमे प्रवीण सम्यग्-दर्शन ज्ञान और चारित्रकी विभूति प्राप्त होती है। तथा रात्रिभोजन त्यागी पुरुषके सर्व लोकोके स्वामियोसे पूजनीयता प्राप्त होती है ।।६४।।

जो स्त्री रात्रिमे भोजन करती हैं, वह मर कर रात्रि भोजनके पापसे भीलनी, वानरी, धीवरी, रोहिणी (गाय), कूकरी, सदा शोक और क्लेश भोगने वाली, अभागिनी, नि सन्तान, निर्धन और पति-रहित विधवा स्त्री होती है ।।६५।। जो स्त्री दिनमें भोजन करती है, वह उसके पुण्यसे पर भवमे बान्धवोसे अर्चित, पुत्रोसे वन्दित, भूषणोसे आभूषित, व्याधियोसे वर्जित, श्रीमती, लज्जावती, बुद्धिमती, धर्म करने वाली और सदा सुख भोगनेवाली स्त्री होती है ।।६६।। रात्रि-भोजनका परित्याग करने वाले जीवोके जिन महान् गुणोकी प्राप्ति परभवमे होती है, उन्हे कहने के लिए तीन जगत्मे एक जिननाथको छोडकर और कोई समर्थ नही है ।।६७।। अव आचार्य पच उदुम्बर फलोके खानेका निषेध करते है—जिनमे नाना प्रकारके सूक्ष्म शरीरके धारक सहस्रो प्राणी उत्पन्न होते हैं, ऐसे वड, पीपल, उम्बर और कटूम्बर इन पाँच प्रकार उदुम्बर फलोको

क्षीरभूरुहफलानि भुञ्जते चित्रजीवनिहितानि येऽधमाः ।
जन्मसागरनिपातकारणं पातकं किमिह ते न कुर्वते ।। ६९
असख्यजीवस्य विघातवृत्तिभिर्न धीवरैरस्ति समं समानता ।
अनन्तजीवव्यपरोपकारिणामुदुम्बराहारविलोलचेतसाम् ।। ७०
ये खादन्ति प्राणिवर्गं विचित्रं दृष्ट्वा पञ्चोदुम्बराणां फलानि ।
श्वभ्रावास यान्ति ते घोरदु खं किं निस्त्रिंशै· प्राप्यते नैव दु खम् ।। ७१
अघप्रदायीनि विचिन्त्य धर्मधीरुदुम्बराणां न फलानि वल्भते ।
विधातुमिष्टे सुखदे प्रयोजने करोति कस्तद्विपरीतमुत्तमः ।। ७२
आदावेव स्फुटमिह गुणा निर्मला धारणीया, पापध्वसि व्रतमपमलं कुर्वता श्रावकीयम् ।
कर्त्तुं शक्य स्थिरगुरुभर मन्दिरं गर्तपूर, न स्थेयोभिर्दृढतममृते निर्मितं ग्रावजालैः ।। ७३
दातुं दक्षः सुरतरुरिव प्रार्थनीय जनानां चित्ते येषामिति गुणगणो निश्चलत्व बिभर्ति ।
भुक्त्वा सौख्य भुवनमहितं चिन्तितावाप्तभोग, ते निर्बाधाममितगतयः श्रेयसीं यान्ति लक्ष्मीम् ।।७४

इत्यमितगति कृतश्रावकाचारे पञ्चमः परिच्छेदः

शुद्ध मानस वाले मनुष्य नही खाते है ।।६८।। जो अधम पुरुष क्षीरी वृक्षोसे उत्पन्न हुए और नाना प्रकारके जीवोसे भरे हुए इन उदुम्बर फलोको खाते है, वे संसार-सागरमे निपातके कारणभूत कौनसे पापको इस लोकमे सचय नही करते है? अर्थात् सभी पापोका संचय करते है ।।६९।। अनन्त जीवोंका घात करने वाले उदुम्बर फलोके भक्षणकी लालसा रखनेवाले पुरुषोकी समानता तो असख्य जीवोके मारनेकी आजीविकावाले धीवरोके साथ भी नही है ।।७०।।जो पुरुष पच उदुम्बर फलोके नाना प्रकारके प्राणी वर्गको देखकर भी उन्हे खाते है, वे घोर दु खवाले नारकावासको प्राप्त होते है । सो ठीक ही है, क्योकि निर्दयी पुरुष कौनसे दु खोको नही पाते? सभी दु खोको पाते है ।।७१।। धर्ममे जिसकी बुद्धि है, ऐसा पुरुष पापको देने वाले फलोको विचार करके उदुम्बरोके फलोको नही खाते है । ऐसा कौन उत्तम पुरुष है, जो कि अपने सुखदायक इष्ट प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिए उससे विपरीत कार्यको करेगा? कोई नही करेगा ।।७२।। इस लोकमे पापोका ध्वंस करनेवाले, निर्मल श्रावकोके व्रतोको धारण करने वाले गृहस्थोको ये उपर्युक्त निर्मल मूल गुण प्रारम्भमे ही धारण करना चाहिए । जैसे स्थिर और गुरुभारको धारण करनेमे समर्थ ऐसे मन्दिरकी नीव सुदृढ पाषाण-समूहके द्वारा पूरे किये विना अतिदृढ भवन निर्माण नही किया जा सकता है ।।७३।। याचक जनोको कल्प वृक्षके समान मनोवाछित वस्तुओके देनेमे समर्थ यह उपर्युक्त मूलगुणोका समूह जिन श्रावकोके हृदयमे निश्चलताको धारण करता है, वे मनुष्य संसार-पूज्य मन चिन्तित भोगवाले सुखोको भोगकर अमित ज्ञानके धारक होते हुए सर्व बाधाओसे रहित ने श्रेयसी मुक्ति लक्ष्मीको प्राप्त होते है ।।७४।।

इस प्रकार अमितगति-विरचित श्रावकाचारमे पचम परिच्छेद समाप्त हुआ ।

षष्ठः परिच्छेदः

मद्यादिभ्यो विरतैर्व्रतानि कार्याणि शक्तितो भव्यैः।
द्वादश तरसाच्छेत्तुं शस्त्राणि शितानि भववृक्षम् ॥ १
अणुगुणशिक्षाद्यानि व्रतानि गृहमेधिनां निगद्यन्ते। पञ्चत्रिचतु.सख्यासहितानि द्वादश प्राज्ञैः ॥ २
हिंसाऽसत्यस्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिरूपाणि। ज्ञेयान्यणुव्रतानि स्थूलानि भवन्ति पञ्चात्र ॥ ३
द्वेधा जीवा जैनैर्मतास्त्रसस्थावरप्रभेदेन। तत्र त्रसरक्षायां तदुच्यतेऽणुव्रतं प्रथमम् ४
स्थावरघाती जीवस्त्रसरक्षी विशुद्धपरिणाम.। योऽक्षविषयान्निवृत्त स संयतासंयतो ज्ञेयः ॥ ५
हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरम्भानारम्भजत्वतो दक्षै·। गृहवासतो निवृत्तो द्वेधाऽपि त्रायते तां च ॥ ६
गृहवाससेवनरतो मन्दकषायप्रवर्तितारम्भः। आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतम् ॥ ७
शमिताद्याष्टकषाय· प्रवर्तते य. परत्र सर्वत्र। निन्दागर्हाविष्ट. स संयमासंयमं धत्ते ॥ ८
कामासूयामायामत्सरपैशून्यदैन्यमदहीन·। धीरः प्रसन्नचित्त. प्रियवदो वत्सल· कुशलः ॥ ९
हेयादेयपटिष्टो गुरुचरणाराधनोद्यतमनीषः। जिनवचनतोयधौतस्वान्तकलङ्को भवविभीरु ॥ १०

मद्य-मांसादिसे विरक्त भव्य पुरुषोको चाहिए कि वे ससार वृक्षको वेगसे छेदनेके लिए तीक्ष्ण शस्त्रके समान वारह व्रतोंकों अपनी शक्तिके अनुसार धारण करे ॥१॥ ज्ञानियोने पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकारकी संख्यावाले वारह व्रत गृहस्थोंके कहे है ॥२॥ स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापोकी निवृत्तिरूप पाँच अणुव्रत जाननेके योग्य है ॥३॥ अव आचार्य सर्व प्रथम अहिंसाणुव्रतका वर्णन करते हैं—जैनोने त्रस और स्थावरके भेदसे जीव दो प्रकारके माने है। उनमेंसे द्वीन्द्रियादि त्रस जीवोकी रक्षा करने पर प्रथम अहिंसाणुव्रत होता है ॥४॥ जो पुरुष स्थावर पृथिवीकायिकादि जीवोका घात करता हुआ भी त्रस जीवोंका सरक्षण करता है, विशुद्धपरिणाम वाला है और इन्द्रियोके विषयोसे निवृत्त है,उसे संयतासयत श्रावक जानना चाहिए ॥५॥ जैन शास्त्रोंमे दक्ष पुरुषोने आरम्भजा और अनारम्भजा के भेदसे हिंसा दो प्रकारकी कही है। जो मनुष्य गृहवाससे निवृत्त होता है, वह दोनों ही प्रकारकी हिंसाको वचाता है। किन्तु जो गृहवासके सेवनमे निरत है, मन्दकषायी है, आरम्भमे प्रवृत्त है, वह निश्चयसे आरम्भजा हिंसाकी रक्षा करनेमे समर्थ नही है ॥६–७॥ भावार्थ—खान-पान और व्यापार आदिमे होने वाली हिंसाको आरम्भजा हिंसा कहते है। तथा सकल्प पूर्वक की जानेवाली हिंसाको अनारम्भजा या साकल्पिकी हिंसा कहते हैं। गृहत्यागी साधु दोनो ही प्रकारकी हिंसाका त्यागी होता है, किन्तु गृहवासी श्रावक केवल सांकल्पिकी हिंसाका ही त्यागी होता है, क्योंकि अपन और अपने कुटुम्वके निर्वाहके लिए उसे कृपि, व्यापार आदिके आरम्भको करना ही पडता है। जिसकी अनन्तानुवन्धी और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ ये आदिकी आठ कषाय शान्त हो गई है, और जो सभी लौकिक और पारलौकिक कार्योंमे अपनी निन्दा और गर्हासे युक्त होकर प्रवृत्ति करता है, वह पुरुष सयमासयमको धारण करता है ॥८॥ इस सयमासयमका धारक पुरुष काम, असूया (डाह-ईर्ष्या), माया, मत्सर, पैशुन्य, दैन्य और मदसे रहित होता है,धीर वीर होता है,सदा प्रसन्नचित्त रहता है, प्रिय वचन बोलता है, सर्वके साथ वात्सल्य भाव रखता है, धर्म-कार्यमे कुशल होता है, हेय और उपादेयका जानकार होता है, गुरुजनोके चरणोंकी आराधनामे जिसकी वुद्धि उद्यत रहती है, जिनवचनरूप जलसे जिसने अपने हृदयके कलंकको धो डाला है,

सम्यक्त्वरत्नभूषो मन्दीकृतसकलविषयकृतगृद्धिः। एकादशगुणवर्ती निगद्यते श्रावकः परम ॥ ११
संरम्भसमारम्भारम्भैर्योगकृतकारितानुमतै । सकषायैरभ्यस्तैस्तरसा सम्पद्यते हिंसा ।। १२
त्रित्रित्रिचतु सख्यै संरम्भाद्यैः परस्परं गुणितैः। अष्टोत्तरशतभेदा हिंसा सम्पद्यते नियतम् ॥ १३
जीवत्राणेन विना व्रतानि कर्माणि नो निरस्यन्ति । चन्द्रेण विना ऋक्षैर्न हन्यन्ते तिमिरजालानि ॥१४
तिष्ठन्ति व्रतनियमा नाहिंसामन्तरेण सुखजनकाः। पृथिवी न विना दृष्टास्तिष्ठन्त पर्वताः क्वापि १५
निघ्नानेनाहिंसामा-माऽऽधारां निपात्यते नरके। स्वाधारां नहि शाखां छिन्नानः पतति किं भूमौ॥ १६
स मतो विरताविरतः स्वल्पकषायो विवेकपरमनिधिः ।
रक्षति यस्त्रसदशकं प्रणिहन्ति स्थावरचतुष्कम् ॥ १७
सर्वविनाशी जीवस्त्रसहननं त्यज्यते यतो जैनै । स्थावरहननानुमतिस्ततः कृता तै. कथ भवति ॥ १८

ससारसे भयभीत हैं, सम्यक्त्वरत्नसे विभूषित है, सर्व इन्द्रियोके विषयोमे जिसकी गृद्धि मन्द हो गई है, ऐसा ग्यारह प्रतिमारूप गुणोका धारक परम श्रावक कहा जाता है ।।९-११।। गृहस्थके एक सौ आठ भेदवाली हिंसा नियमसे होती रहती है । वे एक सौ आठ भेद इस प्रकारसे होते हैं— संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ रूप तीन प्रकारकी हिंसा मन वचन कायरूप तीन योगोसे, कृत कारित और अनुमोदनारूप तीन प्रकारोसे तथा क्रोध मान माया और लोभ रूप चार कषायोसे निरन्तर होती रहती हैं । इनका परस्पर गुणा करने पर हिंसाके एक सौ आठ भेद हो जाते है ।।१२-१३।। भावार्थ–हिंसा करनेका विचार सरम्भ कहलाता है हिंसाके उपकरण आदिके जुटानेको समारम्भ कहते है और हिंसा प्रारम्भ करनेको आरम्भ कहते है । ये तीनो ही कार्य मन वचन और काय इन तीनो योगोसे किये जाते है, अत उक्त तीनोका इन तीन योगोसे गुणा करने पर नौ (३×३=९) भेद हो जाते है। पुन ये नवो ही कार्य स्वयं करे, दूसरोसे करावे और दूसरोको करते हुए देखकर उनकी अनुमोदना करे तो (९×३=२७) सत्ताईस भेद हो जाते है। यह सत्ताईस भेदरूप हिंसा क्रोधसे भी होती है, मानसे भी होती है मायासे भी होती है और लोभ कषायसे भी होती है । अत. उक्त सत्ताईस भेदोका इन चार कषायोसे गुणा करने पर (२७×४=१०८) एक सौ आठ भेद हो जाते है । इन एक सौ आठ प्रकारोसे जीव-हिंसाका पाप सदा लगता रहता है। अत: धर्मधारणके इच्छुक श्रावकोको उक्त एक सौ आठ प्रकारसे त्रस हिंसका त्याग करना चाहिए तभी उसका अहिंसाणुव्रत निर्दोप पल सकता है। जीवोकी रक्ष के विना व्रते कर्मोका विनाश नही कर सकते है । जैसे कि चन्द्रके विना नक्षत्र अन्धकारके जालको नही नष्ट कर पाते है ॥१४॥ अहिंसाके विना व्रत-नियमादिक सुखके उत्पादक नही होते है । जैसे कि पृथिवीके बिना पर्वत कही पर भी ठहरे हुए नही दिखाई देते है ॥१५॥ आत्म-गुणोकी आधारभूत अहिंसाको विनाश करने वाला पुरुप अपनी आत्माको नरकमे गिराता है । अपनी आधारभूत शाखाको छेदनेवाला पुरुष क्या भूमि पर नही गिरता है ॥१६॥

जो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय, असञ्ज्ञी पचेन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्तरूप दश भेद वाले त्रसोके तथा बादरसूक्ष्म एकेन्द्रियोके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद रूप चार प्रकारके स्थावरोके प्राणियोके हितकी रक्षा करता है, अत्यल्प कषाय वाला है और परम विवेकका निधान है, वह पुरुष विरताविरत श्रावक माना गया है ॥१७॥ यहाँ पर कोई आशका करता है कि केवल त्रस हिसाके त्यागका उपदेश देकर गृहस्थको स्थावर हिंसाकी अनुमोदनाका दोष प्राप्त होता है? उसका परिहार करते हुए आचार्य कहते है कि जीव साधारणत सर्व जीवोका

त्रिविधा त्रिविधेन मता विरतिर्हिसादितो गृहस्थानाम् ।
त्रिविधा त्रिविधेन पुनर्गृहचारकतो निवृत्तानाम् ।। १९

जीववपुषोरभेदो येषामैकान्तिको मतः शास्त्रे । कायविनाशे तेषां जीवविनाशः कथ वार्यः ।। २०
आत्मशरीरविभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेकाः । कायवधे हन्त कथ तेषां सञ्जायते हिंसा ।। २१
भिन्नाभिन्नस्य पुन. पीडा सम्पद्यते तरां घोरा । देहवियोगे यस्मात्तस्मादनिवारिता हिंसा ।। २२
तत्पर्यायविनाशो दु खोत्पत्ति. परश्च संक्लेशः । य सा हिंसा सद्भिर्वर्जयितव्या प्रयत्नेन ।। २३
प्राणी प्रमादकलितः प्राणव्यपरोपणं यदाधत्ते । सा हिंसाऽकथि दक्षैर्भववृक्षनिषेकजलधारा ।। २४
म्रियतां मा मृत जीवः प्रमादबहुलस्य निश्चिता हिंसा । प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमादहीनस्य सा नास्ति २५
यो नित्योऽपरिणामी तस्य न जीवस्य जायते हिंसा ।न हि शक्यते निहन्तुं केनापि कदाचनाकाशम्।।२६

क्षणिको यो व्ययमानः क्रियमाणा तस्य निष्फला हिंसा ।
चलमानः पवमानो न चाल्यमानः फलं कुरुते ।। २७

विनाश करता हैं । और प्रत्येक जैन सर्व हिंसाके त्यागका भाव रखता हैं, किन्तु स्थावर हिंसाके छोडनेकी असमर्थता होनेसे यत· जैन लोग त्रस-हिंसाका त्याग करते है, अत. उनके द्वारा स्थावर जीवघातकी अनुमोदना कैसे की गई हो सकती है? अर्थात् वे स्थावर जीवोकी अनुमोदनाके दोषके भागी नही होते है ।।१८।। गृहस्थोके हिंसादि पापोंसे निवृत्ति कृत और कारितकी मन वचन काय इन तीन योगोसे होती है । किन्तु गृहाचारसे निवृत्त पुरुषोंके कृत कारित और अनुमोदनाकी मन वचन कायसे हिंसादि पापोकी निवृत्ति होती हैं ।।१९।। भावार्थ–गृहमे रहने वालोकी कृषि आदि हिंसाके कार्योमें अनुमोदना होती रहती है, अत· उन्हे हिंसाका कृत और कारितसे त्यागी जानना चाहिए । किन्तु गृहाचारसे निवृत्त पुरुषोकी नव कोटी विशुद्ध हिंसादि-निवृत्ति होती है, ऐसा जानना चाहिए । जिन अन्यमतावलम्बियोंके शास्त्रमे जीव और शरीरम एकान्तरूपसे अभेद माना गया हैं, उनके मतानुसार शरीरके विनाश होनेपर जीवका विनाश कैसे रोका जा सकता है ।।२०।। इसी प्रकार जो विवेक-रहित पुरुष जीव और शरीरमे सर्वथा भेद मानते हैं, उनके मतानुसार कायका वध होनेपर जीवोकी हिंसा कैसे हो सकती है, यह आश्चर्य की बात हैं ।।२१।। किन्तु जो शरीरसे आत्माको कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानते हैं, उन जैनोंके मतानुसार तो देहके वियोग होनेपर यतः घोर पीडा प्राप्त होती है, अत. हिंसा अनिवार्य रूपसे होनी ही है ।।२२।। इस जीवकी वर्तमान पर्यायका विनाश होनेपर दु खकी उत्पत्ति होती हैं और परम सक्लेश भी होता है । अत सज्जनोंको प्रयत्नके साथ हिंसाका परित्याग करना चाहिए ।।२३।। जव प्रमाद-सयुक्त कोई प्राणी किसीके या अपने प्राणोका घात करता है, तव शास्त्रोमे निपुण पुरुषोने संसार वृक्षको सीचनेके लिए जल धाराके समान उसे हिंसा कहा है ।।२४।। प्रमाद-वहुल जीवके द्वारा प्राणी मरे, अथवा नही मरे, उसके हिंसा निश्चित है किन्तु प्रमादसे रहित जीवके उसके द्वारा किसीके प्राण घात हो जानेपर भी हिंसा नहीं है ।।२५।। जो साख्यमती जीवको नित्य और अपरिणामी मानते है उनके मतानुसार जीवकी हिंसा नही होती है । क्योकि कभी भी किसीके द्वारा आकाश विनष्ट नही किया जा सकता है ।।२६।।

जो बौद्धमती जीवको सर्वथा क्षणिक और प्रति समय व्ययस्वभावी मानते है, उनके मतमें की गई भी हिंसा निष्फल है अर्थात् फल नही देती हैं । जैसे कि स्वयं चलता हुआ पवन

यस्मान्नित्यानित्यः कायवियोगे निपीडयते जीवः। तस्मादुक्ता हिंसा प्रचुरकलिकबन्धवृद्धिकरी॥ २८

देवातिथिमन्त्रौषधिपित्रादिनिमित्ततोऽपि सम्पन्ना।
हिंसाऽऽधत्ते नरके किं पुनरिह साऽन्यथा विहिता॥ २९

आत्मवधो जीववधस्तस्य च रक्षाऽऽत्मनो भवति रक्षा।
आत्मा न हि हन्तव्यस्तस्य वधस्तेन मोक्तव्यः॥ ३०

सर्वा विरतिः कार्या विशेषयित्वाऽतिचारभीतेन। पौर्वापर्यं दृष्ट्वा सूत्रार्थं तत्त्वतो बुद्ध्वा॥ ३१
शक्त्यनुसारेण बुधैर्विरतिः सर्वाऽपि युज्यते कर्तुम्। तामन्यथा दधानो भङ्गं याति प्रतिज्ञायाः॥ ३२
केचिद्वदन्ति मूढा हन्तव्या जीवघातिनो जीवाः। परजीवरक्षणार्थं धर्मार्थं पापनाशार्थम्॥ ३३
युक्तं तन्नैवं सति हिंस्रत्वात्प्राणिनामशेषाणाम्। हिंसायाः कः शक्तो निषेधने जायमानायाः॥ ३४
धर्मोऽहिंसाहेतुर्हिंसातो जायते कथं तथ्यः। न हि शालिः शालिभवः कोद्रवतो जायते जातु॥ ३५

दूसरेके द्वारा चलाये जानेपर भी फल नही करता है ॥२७॥ भावार्थ–जीवको सर्वथा नित्य माननेपर किसीके द्वारा घात भी किया जाय, तो वह मर नही सकता हैं, अत जीवकी हिंसा संभव ही नही। तथा सर्वथा अनित्य एवं क्षण-विनश्वर मानने पर जब वह प्रति समय स्वय ही विनप्ट हो रहा है, तब उसके मारनेपर भी दूसरेको हिसाका फल नही मिलेगा। अत· जीवको सर्वथा नित्य और अनित्य मानना युक्ति सगत नही है। किन्तु यत कायके वियोग होनेपर जीव पीडाको प्राप्त होता हैं, अत उसे कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य मानना चाहिए। अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षा वह नित्य है और पर्यायका वियोग होता है अत अनित्य है। अतएव हिंसाको प्रचुर पाप-बन्धकी वृद्धि करने वाली कहा गया है ॥२८॥ जब देवता, अतिथि, मत्र, औपधि और पितर आदिके निमित्तसे भी की गई हिंसा जीवको नरकमे ले जाती है, तब अन्य प्रकारसे की गई हिंसा क्या उसे नरकमे नही पहुँचायगी? अर्थात् किसी भी प्रकारसे की गई हिसा जीवको नरकमे ले ही जाती है ॥२९॥ किसी भी जीवका वध करना आत्म-वध है और अन्य जीवकी रक्षा करना आत्म-रक्षा है यत आत्म-वध करना योग्य नही है, अत· पराये जीवका घात छोडना ही चाहिए ॥३०॥ इस लिए अतीचारके भयसे डरने वाले गृहस्थको पूर्वापर स्थितिको देखकर तथा आगमके अर्थको तत्त्वरूपसे जानकर सर्व-प्रकारकी हिंसाका विशेष रूपसे त्याग करना चाहिए ॥३१॥ ज्ञानी जनोंकी शक्तिके अनुसार सम्पूर्ण हिंसाका त्याग करना योग्य है। जो अन्यथा अर्थात् शक्तिके विपरीत हिंसाका त्याग करते है, वे प्रतिज्ञाके भगको प्राप्त होते है ॥३२॥ कितने ही मूढ कहते है कि अन्य जीवोंकी रक्षाके लिए, धर्म उपार्जनके लिए और पापके नाशके लिए जीवोके घात करनेवाले प्राणियोको मार देना चाहिए ॥३३॥ किन्तु उनका यह कथन योग्य नही है, क्योकि इस प्रकार समस्त प्राणी ही हिंसक हो जायेंगे, फिर उनकी की जानेवाली हिंसाको रोकनेमे कौन समर्थ होगा? ॥३४॥

भावार्थ–यदि यह नियम मान लिया जाय कि जो अन्यको हिंसा करता है, वह मारनेके योग्य है, या उसके मारनेसे अन्य जीवकी रक्षा, धर्मका उपार्जन और पापका विनाश होता हैं, तो जो मनुष्य हिंसक सिंह आदिको मारेगा, वह उसको मारनेवाला होनेसे स्वय हिंसक हो जाता है, अत. वह भी मारने योग्य सिद्ध होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर सभी प्राणी हिंसक बनते जावेगे। फिर उन सबकी हिसाका निषेध कैसे किया जा सकेगा? अत जीवघाती प्राणी मार देना चाहिए, यह कथन युक्ति सगत नही हैं। सत्य धर्म तो अहिंसा-हेतुक है, वह हिंसासे कैसे हो

पापनिमित्तं हि वधः पापस्य विनाशने कथं शक्तः।
छेदनिमित्तः परशुः शक्नोति लतां न वर्धयितुम् ॥ ३६
हिंस्राणां यदि घाते धर्मः सम्भवति विपुलसुखदायी।
सुखविघ्नस्तर्हि कृतः परजीवविघातिनां घाते ॥ ३७
यस्माद् गच्छन्ति गतिं निहता गुरुदुःखसङ्कटां हिंस्राः।
तस्माद् दुःखं वधतः पापं न कथं भवति घोरम् ॥ ३८

दुःखवतां भवति वधे धर्मो नेदमपि युज्यते वक्तुम्। मरणे नरके दुःखं घोरतरं वार्यते केन ॥ ३९
सुखितानामपि घाते पापप्रतिषेधने परोऽधर्मः। जीवस्य जायमानो निषेधितुं शक्यते केन ॥ ४०
पौर्वापर्यविरुद्धं सम्यक्त्वमहीध्रपाटने वज्रम्। इत्थं विचार्य सद्भिः परवचनं सर्वथा हेयम् ॥ ४१
अज्ञानतो यदेनो जीवानां जायते परमघोरम्। तच्छक्यते निहन्तुं ज्ञानव्यतिरेकतः केन ॥ ४२
यो धर्मार्थं छिन्ते हिंस्राहिंस्रसुखदुःखिनो भविनः। पीयूषं स्वीकर्तुं स वपति विषविटपिनो नूनम् ॥४३
वचसा वपुषा मनसा हिंसां विदधाति यो जनो मूढः। जन्मवनेऽसौ दीर्घे दीर्घं सञ्चूर्यते दुःखी ॥४४

सकता है? क्योंकि शालिधान्यसे उत्पन्न होने वाला शालि-तन्दुल कोदोसे उत्पन्न हुआ नही दिखाई देता है ॥३५॥ जीवोका घात तो पापके उपार्जनका ही निमित्त है। वह पापका विनाश करनेमे समर्थ नहीं हो सकता। जो कुठार लताके काटनेमे निमित्त हैं, वह लताको बढानेके लिए समर्थ नही हो सकता है ॥३६॥ यदि हिंसक प्राणियोके घातमें महान् फलको देनेवाला धर्म सभव है, तो फिर अन्य जीव-घातक प्राणियोके घात करनेपर उनके सुखमे विघ्न भी सभव है, अत हिंसक जीवोके घातसे सुखका उपार्जन मानना असंगत है ॥३७॥ यत मारे गये हिसक प्राणी घोर दु.खोसे व्याप्त नरकादि दुर्गतिको जाते है, अतः उन्हे दु.खको देनेवाले पुरुषके घोर पाप कैसे नही होगा ॥३८॥ जो लोग यह कहते हैं कि दु खी प्राणियोके मारनेमे धर्म होता है, क्योकि मारने वाला उसको दुखसे छुडा देता है, आचार्य इसका निषेध करते हुए कहते है कि यह कहना भी योग्य नही है, क्योकि दु खी प्राणी के मरण होनेपर आगे नरकमें मिलने वाला अति घोर दु ख कौन रोक सकेगा? ॥३९॥ भावार्थ—दुखी जीवको मारनेसे वह दु.खसे छूट जायगा, इसका क्या प्रमाण है। अधिक सभव तो यही है कि जो यही पर महाकष्ट भोग रहा है, वह मरकर नरकमे और भी घोर दु ख भोगेगा। अत. दु खीको मारनेसे वह दु खसे छूट जायगा, यह मानना सर्वथा अनुचित है।

कोई लोग कहते है कि सुखी जीवोंके घात करने पर उनके द्वारा किये जाने वाले पापोके रोकनेसे परमधर्म होता है। उनका यह कथन भी योग्य नही है, क्योकि जीवके अन्यत्र उत्पन्न होने पर वहा किये जाने वाले पापोको कौन रोक सकता है? इसलिए सुखी जीवोको मारनेमे धर्म नही है ॥४०॥ इस प्रकार विचार कर पूर्वापर विरोधसे युक्त और सम्यक्त्वरूप पर्वतके भेदनेमे वज्रके समान अज्ञानियोके वचन सज्जनोको सर्वथा त्यागनेके योग्य है ॥४१॥ अज्ञानसे जीवोके जो महाघोर पापका उपार्जन होता है, वह ज्ञानके अतिरिक्त और किससे विनाशको प्राप्त किया जा सकता है? अर्थात् अज्ञान-जनित पाप सद्-ज्ञानसे ही दूर हो सकता है, अत सद् ज्ञानकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिए ॥४२॥ जो लोग धर्मके लिए हिंसक, अहिंसक, सुखी और दुखी प्राणियोंको मारते है, वे निश्चयसे अमृत पानेके लिए विषके वृक्षको बोते है ॥४३॥ जो

यन्म्लेच्छेष्वपि गर्ह्यं यदनादेयं जिघृक्षतां धर्मम् । यदनिष्टं साधुजनैस्तद्वचनं नोच्यते सद्भिः ॥ ४५
कामक्रोधाव्रीडाप्रमादमदलोभमोहविद्वेषैः । वचनमसत्यं सन्तो निगदन्ति न धर्मरतचित्ताः ॥ ४६
सत्यमपि विमोक्तव्यं परपीडारम्भतापभयजनकम् । पापं विमोक्तुकामैः सुजनैरिव पापिनां वृत्तम् ॥४७
भाषन्ते नासत्यं चतुष्प्रकारमपि संसृतिविभीताः । विश्वासधर्महननं विषादजननं बुधावमतम् ॥४८
असदुद्भावनमाद्य वचनमसत्यं निगद्यते सद्भिः ऐकान्तिकाः समस्ता भावा जगतीति विज्ञेयम् ॥४९
तदपलपन द्वितीय वितथ कथयन्ति तथ्यविज्ञानाः ।
सृष्टिस्थितिलययुक्त किञ्चिन्नास्तीति यदभिहितम् ॥ ५०
विपरीतमिदं ज्ञेय तृतीयक यद्वदन्ति विपरीतम् । सग्रन्थं निर्ग्रन्थं निर्ग्रन्थमपीह सग्रन्थम् ॥ ५१
सावद्याप्रियगर्ह्यप्रभेदतो निन्द्यमुच्यते त्रेधा । वचनं वितथं दक्षैर्जन्माब्धिनिपातने कुशलम् ॥ ५२
आरम्भाः सावद्या विचित्रभेदा यत प्रवर्तन्ते । सावद्यमिदं ज्ञेयं वचन सावद्यवित्रस्तैः ॥ ५३
कर्कशनिष्ठुरभेदनविरोधनादिबहुभेदसंयुतम् । अप्रियवचनं प्रोक्त प्रियवाक्यप्रवणवाणीकैः ॥ ५४
हिंसनताडनभीषणसर्वस्वहरणपुरःसरविशेषम् । गर्ह्यवचो भाषन्ते गर्होज्झितवचनमार्गज्ञाः ॥ ५५

मूढ पुरुष मनसे, वचनसे और कायसे हिंसाको करता है, वह इस अतिदीर्घ ससाररूप वनमे दीर्घ कालतक हिंसाके फलसे दुख भोगता हुआ परिभ्रमण करता रहता है ।।४४।। अब आचार्य सत्याणुव्रतका वर्णन करते है- जो वचन म्लेच्छ जनोमे भी निन्द्य माने जाते है, धर्मको ग्रहण करने वालोको जो अनादरणीय है. और साधु जनोको जो इष्ट नही है, ऐसे वचन सज्जन पुरुषोंको नही बोलना चाहिए ।।४५।। जिनका धर्ममे चित्त संलग्न है, ऐसे पुरुष काम क्रोध कुतुहल प्रमाद मद लोभ मोह और विद्वेष भावसे असत्य वचन नही बोलते है ।।४६।। जिस प्रकार सज्जन पुरुष पापियोके आचरणको छोडते है, इसी प्रकारसे पापको छोडनेकी इच्छा वाले सज्जनोको पर-पीडा-कारक, आरम्भ-जनक, सन्ताप उत्पादक और भय-वर्धक सत्य वचन भी छोडना योग्य है। अर्थात् ऐसे सत्य वचन भी नही बोलना चाहिए जो दूसरे जीवोको पीडा, सन्ताप, भय आदि उत्पन्न करे ।।४७।। ससारसे भयभीत पुरुष विश्वास और धर्मके जलाने वाले, विषादके उत्पन्न करने वाले और बुधजनोसे तिरस्कार पानेवाले असदुद्भावन, भूतनिन्हव, विपरीत और निन्द्य इन चारो ही प्रकारके असत्य वचनोको नही बोलते है ।।४८।। ससारमे समस्त पदार्थ नित्य ही है, अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार से एक धर्म रूप कहे जाने वाले वचनोको सज्जनोने असदुद्भावन नामका प्रथम असत्य कहा है, ऐसा जानना चाहिए ।।४९।।

उत्पत्ति, स्थिति और विनाशयुक्त कोई भी वस्तु नही है, ऐसे कथनको सत्यज्ञानी पुरुषोने सत्का अपलाप करनेवाला दूसरा भूतनिन्हव नामका असत्य कहा है ।।५०।। लोकमे जो परिग्रह-सहित है उन्हे निर्ग्रन्थ कहना और जो परिग्रह-रहित है उन्हे सग्रन्थ कहना, ऐसे जो विपरीत कथन करते है, उसे विपरीत नामका तीसरा असत्य जानना चाहिए ।।५१।। सावद्य, अप्रिय और गर्ह्यके भेदसे दक्ष पुरुषोने निन्द्य वचन तीन प्रकारका कहा गया है। यह चौथा असत्य वचन ससार-समुद्रमे डुबानेमे कुशल है ।।५२।। जिस वचनके बोलनेसे अनेक भेदवाले पाप-युक्त आरम्भ कार्य प्रवृत्त होते है,उसे पापसे भयभीत पुरुषोको सावद्य वचन जानना चाहिए ।। ५३।। प्रिय वचन रूप वाणीके बोलनेमें प्रवीण पुरुषोने कर्कश, निष्ठुर, भेद-कारक और विरोध-वर्धक आदि अनेक भेदोसे संयुक्त वचनोको अप्रिय वचन कहा है ।।५४।। गर्ह्यवचनसे रहित जैन मार्गके ज्ञाता पुरुषो-ने हिंसाकारी, ताडनारूप, भयानक और पराये धनके हरण करनेवाले इत्यादि लोक-निन्द्य वचनो-

अर्थ्यं पथ्यं तथ्यं श्रव्यं मधुरं हितं वचो वाच्यम् ।
विपरीतं मोक्तव्यं जिनवचनविचारकैर्नित्यम् ॥ ५६

वैरायासाप्रत्ययविषादकोपादयो महादोषाः । जन्यन्तेऽनृतवचसा कुभोजनेनेव रोगगणाः ॥ ५७

वचसाऽनृतेन जन्तोर्व्रतानि सर्वाणि झटिति नाश्यन्ते ।
विपुलफलवन्ति महता दवानलेनैव विपिनानि ॥ ५८

क्षेत्रे ग्रामेऽरण्ये रथ्यायां पथि गृहे खले घोषे । ग्राह्यं न परद्रव्यं भ्रष्टं नष्टं स्थितं वाऽपि ॥ ५९

तृणमात्रमपि द्रव्य परकीय धर्मकांक्षिणा पुंसा । अवितीर्णं नादेयं वह्निसमं मन्यमानेन ॥ ६०

यो यस्य हरति वित्तं स तस्य जीवस्य जीवितं हरति ।
आश्वासकर बाह्य जीवानां जीवितं वित्तम् ॥ ६१

सदृश पश्यन्ति बुधाः परकीयं काञ्चनं तृण वाऽपि ।
सन्तुष्टा निजवित्तैः परतापविभीरवो नित्यम् ॥ ६२

तैलिकलुब्धकखट्टिकमार्जारव्याघ्रधीवरादिभ्यः । स्तेनः कथितः पापी सन्ततपरतापदानरतः ॥ ६३

स्वसृमातृदुहितृसदृशीर्दृष्ट्वा परकामिनीः पटीयांसः । दूरं विवर्जयन्ते भुजगीरिव घोरदृष्टिविषाः ॥

न निषेव्या परनारी मदनानलतापितैरपि त्रेधा । क्षुत्क्षामैरपि दक्षैर्न भक्षणीयं परोच्छिष्टम् ॥ ६५

विषवल्लीमिव हित्वा परारामां सर्वथा त्रिधा दूरम् । सन्तोषः कर्तव्यः स्वकलत्रेणैव बुद्धिमता ॥६६

को गर्ह्यवचन कहा है ॥५५॥ इसलिए जिनवचनोके विचारक पुरुषोको कभी भी गर्ह्य वचन नही बोलना चाहिए और प्रयोजनवाले पथ्य, तथ्य, श्रवण योग्य, मधुर, हितकारी वचन बोलना चाहिए ॥५६॥ जैसे खोटा भोजन करनेसे अनेक रोग उत्पन्न होते है, उसी प्रकार असत्य वचन बोलनेसे वैरभाव, विभ्रम, प्रतीति, विषाद और क्रोध आदि अनेक महादोप उत्पन्न होते है ॥५७॥ जैसे महा दावानलसे महान् फलशाली वृक्षोसे युक्त वन जला दिये जाते है, उसी प्रकार असत्य वचनसे जीवोके सर्व व्रत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥५८॥ अब आचार्य अचौर्याणुव्रतका वर्णन करते है– खेतमे, ग्राममे, वनमे, गलीमे, मार्गमें, घरमें, खलिहानमे अथवा ग्वालटोलीमे रखे, गिरे, पडे या नष्ट भ्रष्ट हुए पराये द्रव्यको नही ग्रहण करना चाहिए ॥५९॥ धर्मकी आकाक्षा रखनेवाले पुरुषको चाहिए कि वह विना दिया हुआ तृणमात्र भी पराया द्रव्य अग्निके समान मानकर ग्रहण न करे ॥६०॥ जो पुरुष जिस किसीके धनको हरण करता है, वह उसके जीवनका ही अपहरण करता है । क्योकि धन जीवोका धैर्य बधाने वाला बाहरी प्राण हैं ॥६१॥ अपने धनसे सन्तुष्ट रहनेवाले और दूसरोको सन्त प देनेसे सदा डरनेवाले ज्ञानी जन पराये सुवर्ण और तृणको भी समान ही दृष्टिसे देखते है ॥६२॥ सदा दूसरोंको सन्ताप देनेमे सलग्न चोर, तेली, शिकारी, खटीक, विलाय, वाघ धीवर आदिसे भी अधिक पापी कहा गया है ॥६३॥

अब आचार्य ब्रह्मचर्याणुव्रतका वर्णन करते है–ज्ञानी पुरुष परायी स्त्रियोको वहिन, माता और पुत्रीके समान देखकर घोर दृष्टि-विपवाली सर्पिणीके समान दूरसे ही परित्याग करते है ॥६४॥ कामाग्निसे अत्यन्त सन्तप्त भी पुरुषोको मन वचन कायसे परायी स्त्रीका सेवन नही करना चाहिए । जैसे कि भूखसे अति पीडित भी पुरुषोंको पराया झूठा भोजन नही खाना चाहिए ॥६५॥ इसलिए वुद्धिमान् पुरुपको परायी स्त्री विप वेलिके समान जानकर सदा मन वचन कायमे दूर से ही छोडकर अपनी विवाहिता स्त्रीसे ही सन्तोप करना चाहिए ॥६६॥ कामदेवमे आकुलित भी

नासक्त्या सेवन्ते भार्यां स्वामपि मनोभवाकुलिता ।
वन्हिशिखाऽप्यासक्त्या शीतार्तैः सेविता दहति ।। ६७
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा श्लिष्ट्वा दृष्टिविषायाऽहिर्मूर्तिरिव हन्ति ।
तां पररामां भव्यो मनसाऽपि न सेवते जातु ।। ६८
तीव्राकारा तप्ता या स्पृष्टा दहति पावकशिखेव । मारयति योपभुक्ता प्ररूढविषविटपिशाखेव ।।६९
मोहयति झटिति चित्त निषेवमाणा सुरेव या नितराम् ।
या गलमालिङ्गति निपीडयति गण्डमालेव ।। ७०
व्याघ्रीव याऽऽमिषाशा विलोक्य रभसा जनं विनाशयति ।
पुरुषार्थपरैः सद्भिः परयोषा सा त्रिधा त्याज्या ।। ७१
मलिनयति कुलद्वितय दीपशिखेवोज्ज्वलाऽपि मलजननी ।
पापोपभुज्यमाना परवनिता तापने निपुणा ।। ७२
वास्तु क्षेत्रं धान्य दासी दासश्चतुष्पद भाण्डम् । परिमेय कर्तव्य सर्वं सन्तोषकुशलेन ।। ७३
विध्यापयति महात्मा लोभ दावाग्निसन्निभ ज्वलितम् । भुवन तापयमान सन्तोषोद्गाढसलिलेन ।७४
सर्वारम्भा लोके सम्पद्यते परिग्रहनिमित्ता । स्वल्पयते यः सङ्ग स्वल्पयति स सर्वमारम्भम् ।।७५
ककुबष्टकेऽपि कृ वा मर्यादां यो न लङ्घयति धन्य ।
दिग्विरतेस्तस्य जिनैर्गुणव्र कलथ्यते प्रथमम् ।। ७६

ज्ञानीजन अति आसक्तिसे अपनी स्त्रीका भी सेवन नही करते है । देखो--शीतसे पीडित पुरुषोके द्वारा अति आसक्तिसे सेवन की गई अग्निकी ज्वाला उन्हे जलाती ही है । ६७।।जो परायी स्त्री देखी, स्पर्शी और आलिंगन की गई दृष्टिविषा नागिनीके समान पुरुषका घात करती है, उस-पररामाका भव्य पुरुष मनसे भी कदापि सेवन नही करते है ।।६८।। यह जो स्पर्श की गई भी परस्त्री अति प्रदीप्त आकार वाली तप्तायमान अग्निशिखाके समान जलाती है और सेवन की गई परस्त्री तो विस्तृत विषवृक्षकी शाखाके समान मार देती है ।।६९।। जो सेवन की गई परस्त्री मदिराके समान चित्तको शीघ्र अत्यन्त मोहित कर देती है और जो गलेमे आलिंगन की गई पर-स्त्री गंडमाल रोग के समान अत्यन्त पीडा देती है ।।७०।। जो परस्त्री मास-भक्षिणी व्याघ्रीके समान देखते ही मनुष्यको शीघ्र विनष्ट कर देती है, ऐसी परायी स्त्री धर्म पुरुषार्थमे तत्पर सज्जनोको मन वचन कायसे त्याग देना चाहिए ।।७१।। उज्ज्वल सुन्दर आकार वाली भी भोगी गई पापिनी परायी स्त्री प्रकाशमान दीपशिखाके समान दोनों कुलोको मलिन करती है,मलको उत्पन्न करती है और सन्तापको बढाती है ।।७२।। अब आचार्य परिग्रहपरिमाण-अणुव्रतका वर्णन करते है-- सन्तोषमे कुशल गृहस्थको मकान, खेत, धन, धान्य, दासी, दास, चौपाये--गाय आदि और वासन-वस्त्रादिक सर्व प्रकारके परिग्रहका परिमाण करना चाहिए ।।७३।। परिग्रहपरिमाण करने वाला महात्मा सन्तोष रूप प्रगाढ जलके पूरसे दावाग्निके समान जलने वाले और सारेसंसारको सतप्त करनेवाले लोभको बुझाकर शान्त कर देता है ।।७४।। लोकमे सभी आरम्भ परिग्रहके निमित्त ही सम्पादित किये जाते हैं । अत जो पुरुष परिग्रहको अल्प करता है, वह सभी आरम्भोको भी कम करता है ।।७५। अव दिग्विरति नामक प्रथम गुणव्रत कहते है--जो धन्य पुरुष आठों दिशाओंमे जीवन भरके लिए जाने जानेकी मर्यादा करके उसे उल्लघन नही करता है उसके जिन भगवान्ने दिग्विरति नामका प्रथम गुणव्रत कहा है ।।७६।। दिग्व्रतकी मर्यादाके वाहिर सर्व आरम्भकी निवृत्ति

सर्वारम्भानिवृत्तेस्ततः परं तस्य जायते पूतम् । पापापायपटीयः सुखकारि महाव्रतं पूर्णम् ॥ ७७
देशावधिमपि कृत्वा यो नाक्रामति सदा पुनस्त्रेधा । देशविरतेर्द्वितीयं गुणव्रतं वर्ण्यते[1] तस्य ॥ ७८
काष्ठेनेव हुताशं लाभेन विवर्धमानमतिमात्रम् ।
प्रतिदिवसं यो लोभं निषेधयति तस्य क. सदृशः ॥ ७९
सोऽनर्थं पञ्चविध परिहरति विवृद्धशुद्धधर्ममतिः । सोऽनर्थदण्डविरतिं गुणव्रतं नयति परिपूर्तिम्॥८०
पञ्चानर्था दुष्टाध्ययनं पापोपदेशनासक्तिः । हिंसोपकारि दानं प्रमादचरणं श्रुतिर्दुष्टा ॥ ८१
मण्डलविडालकुक्कुटमयूरशुकसारिकादयो जीवाः । हितकामैर्न ग्राह्याः सर्वे पापोपकारपराः ॥ ८२
लोहं लाक्षा नीली कुसुम्भमदनं विषं शस्त्रम् । सन्धानकं च पुष्प सर्वं करुणापरैर्हेयम् ॥ ८३
नाली सूरणकन्दो दिवसद्वितयोषिते च दधिमथिते ।
विद्ध पुष्पितमन्नं कालिङ्ग द्रोणपुष्पिका त्याज्या ॥ ८४
आहारो नि.शेषो निजस्वभावादन्यभावमुपयातः । योऽनन्तकायिकोऽसो परिहर्तव्यो दयालीढैः ॥ ८५

हो जानेसे उसके अणुव्रत भी पापोके विनाश करनेमे निपुण, सुखकारी और पवित्र पूर्ण महाव्रत रूप हो जाते है ॥७७॥

अब दूसरे देशविरति गुणव्रतका स्वरूप कहते है-दिग्व्रतकी मर्यादाके भी भीतर दैनिक आवश्यकताके अनुसार देश की मर्यादा को करके जो उसका मन वचन कायसे अतिक्रमण नहीं करता है, उसके देशविरति नामका दूसरा गुणव्रत कहा जाता है ॥७८॥ जैसे काठके लाभसे अग्नि उत्तरोत्तर बढती है,उसी प्रकार परिग्रहकी प्राप्तिसे लोभ भी उत्तरोत्तर अत्यधिक बढता है। जो पुरुष प्रतिदिन लोभका निषेध करता है, उसके समान कौन हो सकता है ॥७९॥ अब अनर्थदण्ड विरतिनामक तीसरे गुणव्रतको कहते है—जिसकी शुद्ध धर्म धारण करनेमे बुद्धि बढ रही है, ऐसा जो पुरुष वक्ष्यमाण पाचों प्रकारके अनर्थो का परिहार करता है, वह अनर्थ दण्ड विरति नामक गुणव्रतकी परिपूर्ति करता है ॥८०॥ दुष्ट ध्यान (अपध्यान) पापोपदेशनासक्ति, हिंसोपकरणदान, प्रमादाचरण और दुष्टशास्त्रश्रवण, ये पाच अनर्थदण्ड कहे गये है ॥८१॥ भावार्थ—किसीकी जीत और किसीकी हारका चिन्तवन करना, आर्त और रौद्र ध्यान करना दुष्टध्यान अनर्थदण्ड है। हिंसादि पाप कर्मोका उपदेश देना पापोपदेश अनर्थदण्ड है। हिंसा करने वाले अस्त्र-शस्त्रादि उपकरणोको देना हिसोपकरणदान अनर्थ दण्ड है। निष्प्रयोजन एकेन्द्रिय जीवोंकी विराधना करना प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है और राग-द्वेष वढाने वाली खोटी कथाओका सुनना दु श्रुति अनर्थदण्ड है श्रावकको इन पाचो ही अनर्थदण्डोका त्याग करना चाहिए। आत्म-हितके इच्छुक पुरुषोको कुत्ता, विलाव, मुर्गा, मोर, तोता, मैना आदि पापोका उपकार करने वाले अर्थात् पापोको वढाने वाले हिंसक जीव ग्राह्य नही है, अत. इन्हे नही पालना चाहिए ॥८२॥ करुणामे तत्पर पुरुषोको लोहा, लाख, नील, कुसुम (रंग), धतूरा, विष, सन, शस्त्र, सन्धानक (अचार-मुरब्बा) और सभी प्रकारके पुष्प इन वस्तुओका त्याग करना चाहिए। अर्थात् इनका व्यापार न करे और न स्वयं उपयोगमें लावे ॥८३॥ कमलनाल, सूरण, जमीकन्द, तथा दो दिनका वासी दही छाँछ, वीधा अन्न-अकुरित अन्न, कलीदा (तरबूज) और द्रोणपुष्पिका (राई-सरसो) इन वस्तुओका भक्षण त्यागने के योग्य है ॥८४॥ जो चारो ही प्रकार का आहार अपने वास्तविक स्वभावसे अन्य स्वभावको प्राप्त हो जाय, अर्थात् जिसका स्वाद बिगड जाय, ऐसा चलितरस वाला आहार और सभी प्रकार-

---

१, मु. 'तम्य जायेत' ।

त्यक्तार्त्तरौद्रयोगो भक्त्या विदधाति निर्मलध्यानः । सामायिक महात्मा सामायिकसंयतो जीवः ।।८६
कालत्रितये त्रेधा कर्त्तव्या देववन्दना सद्भिः । त्यक्त्वा सर्वारम्भ भवमरणविभीतचेतस्कैः ।। ८७
सदनारम्भनिवृत्तैराहारचतुष्टयं त्रिधा हित्वा । पर्वचतुष्के स्थेयं शमसंयमसाधनोद्युक्तैः ।। ८८
ताम्बूलगन्धमाल्यस्नानाभ्यङ्गादिसर्वसंस्कारम् । ब्रह्मव्रतरतचित्तै स्थातव्यमुपोषितैस्त्यक्त्वा ।।८९
उपवासानुपवासैकस्थानेष्वेकमपि विधत्ते य. । शक्त्यनुसारपरोऽसौ प्रोषधकारो जिनैरुक्त ।। ९०
उपवासं जिननाथा निगदन्ति चतुर्विधाशनत्यागम् । सजलमनुपवासममी एकस्थान सकृद्भुक्तम् ।।९१
भोगोपभोगसख्या विधीयते येन शक्तितो भक्त्या । भोगोपभोगसंख्याशिक्षाव्रतमुच्यते तस्य ।। ९२
ताम्बूलगन्धलेपनमज्जनभोजनपुरोगमो भोगः । उपभोगो भूषास्त्रीशयनासनवस्त्रवाहाद्यः ।। ९३
परिकल्प्य संविभाग स्वनिमित्तकृताशनौषधादीनाम् । भोक्तव्यं सागारैरतिथिव्रतपालिभिर्नित्यम् ९४
अतति: स्वयमेव गृह संयममविराधयन्ननाहूतः । य सोऽतिथिरुद्दिष्टः शब्दार्थविचक्षणैः साधुः ।।९५
अशनं पेयं स्वाद्यं खाद्यमिति निगद्यते चतुर्भेदम । अशनमतिथेर्विधेयो निजशक्त्या संविभागोऽस्य ।।

की अनन्तकाय वाली वनस्पति दयालु पुरुषोको त्यागना चाहिए ।।८५।। अब शिक्षाव्रतका वर्णन हुए पहले सामायिक शिक्षाव्रतको कहते है—जो आर्त्त और रौद्रध्यानको छोडकर और निर्मल धर्म-ध्यानसे युक्त होकर भक्तिके साथ सामायिक करता हे, वह महात्मा सामायिक सयत जीव जानना चाहिए ।।८६।। जन्म-मरणके भयसे डरने वाले सज्जन पुरुषोको पूर्वाण्ह, मध्यान्ह और अपराण्ह इन तीनो ही कालोमे सर्व आरम्भको छोडकर देववन्दना करना चाहिए। यह प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत है ।।८७।।

अब दूसरे प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतको कहते है—शमभाव और सयमके साधनामे उद्युक्त पुरुषोको सदा प्रत्येक मासकी ही दोनो अष्टमी और दोनो चतुर्दशी इन चारो पर्वोमे घरके आरम्भसे निवृत्त होकर और खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय इन चारो ही प्रकारके आहारको छोडकर धर्मस्थानमे रहना चाहिए ।।८८।। उपवास करने वाले श्रावकोको ब्रह्मचर्यव्रतमे सलग्न चित्त होकर ताम्बूल, सुगन्ध, माला, स्नान, उबटन आदि सभी शारीरिक सस्कार छोडकर एक स्थान पर धर्म-साधन करते हुए ठहरना चाहिए ।।८९।। जो-जो श्रावक शक्तिके अनुसार उपवास, अनुपवास, और एकाशन इनमेसे एकको भी पर्वके दिनोमे करता है, वह भी जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रोपधव्रतधारी कहा गया है ।।९०। चारो प्रकारके त्यागको जिनेन्द्र भगवान्ने उपवास कहा है, जलके सिवाय शेष तीन प्रकारके आहार त्यागको अनुपवास और एक बार भोजन करनेको एकस्थान या एकाशन कहा है ।।९१।।

अब तीसरे भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रतको कहते है—जो अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिसे भोग और उपभोगकी सख्याका नियम करते है, उसे सन्त पुरुषोने भोगोपभोगसख्यान शिक्षाव्रत कहा हे ।।९२।। ताम्ब्रूल, गन्ध-लेपन, स्नान, भोजन आदि एक वार भोगनेमें आनेवाले पदार्थ भोग कहलाते है और आभूषण, स्त्री, शय्या, आसन, वस्त्र, सवारी आदि वार–वार भोगनेमे आनेवाले पदार्थोको उपभोग कहते है ।।९३।। अब चाथे अतिथिसविभाग शिक्षाव्रतको कहते है—अतिथिसविभाग व्रतके पालन करनेवाले गृहस्थोको अपने निमित्त बनाये गये भोजन औषधि आदिका अतिथिके लिए सविभाग करके नित्य भोजन करना चाहिए ।।९४।।'अतिथि' इस शब्दके अर्थ-विचारक पुरुषोने उसे अतिथि कहा है जो कि सयमकी विराधना नही करता हुआ बिना बुलाये श्रावकके घर स्वय जाता है ।।९५।। अशन, पेय, स्वाद्य और खाद्य इन

मुद्गौदनाद्यमशनं क्षीरजलाद्यं मतं जिनैः पेयम् । ताम्बूलदाडिमाद्यं स्वाद्यं खाद्यं त्वपूपाद्यम् ॥९७
ज्ञात्वा मरणागमनं तत्त्वमतिर्दुर्निवारमतिगहनम् । पृष्ट्वा बान्धववर्गं करोति सल्लेखनां धीरः ॥ ९८
आराधनां भगवतीं हृदये निधत्ते सज्ज्ञानदर्शनचरित्रतपोमयीं यः ।
निर्धूतकर्ममलपङ्कमसौ महात्मा शर्मोदकं शिवसरोवरमेति हंसः ॥ ९९
जिनेश्वरनिवेदितं मननदर्शनालंकृत, द्विषड्विधमिदं व्रतं विपुलबुद्धिभिर्धारितम् ।
विधाय नरखेचरत्रिदशसम्पदं पावनीं, ददाति मुनिपुंगवामितगतिस्तुतिं निर्वृतिम् ॥
इत्यमितगत्याचार्यकृतश्रावकाचारे षष्ठः परिच्छेद. ॥

सप्तमः परिच्छेदः

व्रतानि पुण्याय भवन्ति जन्तोर्न सातिचाराणि निषेवितानि ।
सस्यानि किं क्वापि फलन्ति लोके मलोपलीढानि कदाचनापि ॥ १
मत्वेति सद्भिः परिवर्जनीया व्रते व्रते ते खलु पञ्च पञ्च ।
उपेयनिष्पत्तिमपेक्षमाणा भवन्त्युपाये सुधियः सयत्ना ॥ २
भारातिमात्रव्यतिरोपघातच्छेदान्नपानप्रतिषेधबन्धाः ।
अणुव्रतस्य प्रथमस्य दक्षै. पञ्चापराधाः प्रतिषेधनीयाः ॥ ३

प्रकार आहार के चार भेद कहे गये है । इनका अपनी शक्तिके अनुसार अतिथिके लिए श्रावकको विभाग करना चाहिए ॥९६॥ मुगकी दाल, भात आदिको अशन कहते है । पीने योग्य दूध-जलादिको जिनदेवने पेय कहा है । ताम्बूल, अनार आदि फलोको स्वाद्य कहा है और पूआ मिठाई आदिको खाद्य कहा है ॥९७॥ अब सल्लेखनाका वर्णन करते है—अपने दुर्निवार अति भयकर मरणका आगमन जानकर तत्त्वज्ञानी धीर वीर श्रावक अपने बान्धव वर्गसे पूछकर सल्लेखनाको धारण करते हैं ॥९८॥ जो श्रावक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपोमयी भगवती आराधनाको अपने हृदयमे धारण करता हैं, वह भव्य हंस महात्मा सर्वकर्म मलरूप पंकसे रहित, सुखरूप सलिलसे भरपूर शिवरूप सरोवरको प्राप्त होता है ॥ ९९॥ इस प्रकार जिनेश्वर देवसे कथित, सम्यग्दर्शन-ज्ञानसे अलकृत और विशालवुद्धि श्रावकोसे धारण किये ये बारह भेदरूप व्रत मनुष्य, विद्याधर और देवलोककी पावन सम्पदाको देकर अन्तमें अमितज्ञानधारी मुनिश्रेष्ठोसे पूजित मुक्ति लक्ष्मीको देते है ॥१००॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित श्रावकाचारमे छठा परिच्छेद समाप्त हुआ।

अतीचार-सहित सेवन किये गये व्रत मनुष्योको पुण्यके लिए नही होते है । लोकमे क्या कही भी कदाचित् मलसे व्याप्त धान्य फलती है । नही फलती है ॥१॥ ऐसा जानकर सज्जनोको एक-एक व्रतके पाँच अतीचार नियमसे छोडना चाहिए । उपेय जो व्रत उनको भले प्रकारसे निष्पन्न करनेकी अपेक्षा रखनेवाले वुद्धिमान् लोग अतीचारोके त्यागरूप उपायमे प्रयत्नशील होते है ॥२॥ अब सर्वप्रथम अहिंसाणुव्रतके अतीचार कहते है—भारका अधिक मात्रामे लादना, लाठी-वेत आदिसे आघात पहुचाना, नाक-कान आदि अगो का छेदना, अन्न-पानका रोकना और रस्सी आदि से वाधना ये पाँच अपराधरूप अतीचार प्रथम अणुव्रतके है अतएव व्रत-धारण करनेमें दक्षपुरुषोको इनका त्याग करना चाहिए ॥३॥ अव दूसरे सत्याणुव्रतके अतीचार कहते है—दूसरेके न्यास (धरोहर)

न्यासापहारः परमन्त्रभेदो मिथ्योपदेशः परकूटलेखः ।
प्रकाशना गुह्यविचेष्टितानां पञ्चातिचाराः कथिता द्वितीये ॥ ४
व्यवहारः कृत्रिमजः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।
ते मानवैपरीत्यं विरुद्धराज्यव्यतिक्रमणम् ॥ ५
आत्तानुपात्तेत्वरिकाङ्गसङ्गावनङ्गसङ्गो मदनातिसङ्गः ।
परोपयामस्य विधानमेते पञ्चातिचारा गदितास्चतुर्थे ॥ ६
क्षेत्रवास्तुधनधान्यहिरण्यस्वर्णकर्मकरकुप्यकसंख्याः ।
योऽतिलङ्घति परिग्रहलोलस्तस्य पञ्चकमवाचि मलानाम् ॥ ७
स्मृत्यन्तरपरिकल्पनमूर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमाः प्रोक्ताः ।
क्षेत्रवृद्धिः प्राज्ञैरतिचाराः पञ्च तद्विरते ॥ ८
आनयनयुज्ययोजनपुद्गलजल्पनशरीरसञ्ज्ञाख्याः ।
अपराधाः पञ्च मता देशव्रतगोचराः सद्भिः ॥ ९
असमीक्षितकारित्वं प्राहुर्भोगोपभोगनैरर्थ्यम् । कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमनर्थदण्डस्य ॥ १०

का अपहरण करनेवाला वचन कहना, परके गुप्तमत्रका भद करना, मिथ्या उपदेश देना, परको ठगनेके लिए कूटलेख करना अर्थात् जाली दस्तावेज आदि बनाना और दूसरेकी गुप्त या एकान्तमे की गई चेष्टाओंका प्रकाशन करना ये पाँच अतीचार दूसरे अणुव्रतके कहे गये हैं ॥४॥ अब तीसरे अचौर्याणुव्रतके अतीचार कहते है–कृत्रिम व्यवहार करना, अर्थात् असली वस्तुमे नकली मिलाकर बेचना,स्तेन-नियोग करना, अर्थात् चोरको चोरी करनेमे लगाना, चोरीसे लाये गये द्रव्यको लेना, मान वैपरीत्य करना, अर्थात् बडे बाँटोसे लेना और छोटे बाटोसे देना और राज्य नियमोका उल्लघन करना, ये पाँच अतीचार अचौर्याणुव्रतके है ॥५॥ अब चौथे ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार कहते है–दूसरेकी गृहीता या अगृहीत व्यभिचारिणी स्त्रीके अगके साथ सगम करना,अनग-क्रीडा करना, कामसेवनका तीव्र भाव रखना और दूसरेके विवाहका विधान करना, ये पाँच अतीचार चौथ अणुव्रतके कहे गये है ॥६॥ अब पाँचवे परिग्रहपरिमाणव्रतके अतीचार कहते है–क्षेत्र,वास्तु, धन-धान्य, हिरण्य-सुवर्ण,दासी-दास आदि नौकर और कुप्य-भाण्डकी ग्रहण की गई सख्याका जो परिग्रह-लोभी पुरुष उल्लघन करता है, उसके ये पाच अतीचार कहे गये है ॥७॥

अब प्रथम दिग्व्रत गुणव्रतके अतीचार कहते है–ग्रहण की गई क्षेत्र-मर्यादाका भूल जाना, ऊर्ध्वगमनकी मर्यादाका उल्लघन करना, अधोगमनकी मर्यादा का उल्लघन करना, तिर्यग्गमनकी मर्यादाका उल्लघन करना, और क्षेत्रकी मर्यादा बढा लेना, ये पाँच अतीचार दिग्विरति गुणव्रतके प्राज्ञ पुरुषो ने कहे है ॥८॥ अब दूसरे देशव्रत गुणव्रतके अतीचार कहते है–देशकी गृहीत मर्यादाके बाहरसे किसी पुरुषको या वस्तुको बुलाना, मर्यादाके बाहिर भेजना, मर्यादाके बाहिर लोष्ठ आदि फेंककर सकेत करना, मर्यादाके बाहिर अवस्थित पुरुषके साथ बोलता और मर्यादाके बाहिर शरीर का सकेत कर कार्य कराना, ये पाँच देशव्रतके अतीचार सन्तपुरुषोके द्वारा माने गये है ॥९॥ अब तीसरे अनर्थण्डविरति गुणव्रतके अतीचार कहते है–विना देखे-सोचे कार्य करना, अनर्थक भोग-उपभोग की वस्तुओका सग्रह करना, हास्य मिश्रित अयोग्य वचन बोलना, कायकी कुचेष्टा करना और निरर्थक वकवाद करना, ये अनर्थदण्डव्रतके पाँच अतीचार है ॥१०॥ अब प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत के अतीचार कहते है–मन, वचन और काय इन तीनों योगोका खोटा उपयोग

योगा: दुष्प्रणिधाना: स्मृत्यनुपस्थानमादराभाव: ।
सामायिकस्य जैनैरतिचारा: पञ्च विज्ञेया: ॥ ११

ज्ञेया गतोपयोगा उत्सर्गादानसंस्तरकविद्धा: ।
उपवासे मुनिमुख्यैरनादर: स्मृत्यसमवस्था ॥ १२

सहचित्तं सम्बद्धं मिश्रं दुष्पक्वमभिषवाहार: ।
भोगोपभोगविरतेरतिचारा: पञ्च परिवर्ज्या: ॥ १३

मत्सरकालातिक्रमसचित्तनिक्षेपणापिधानानि ।
दानेऽन्यव्यपदेश: परिहर्तव्या मला: पञ्च: ॥ १४

जीवितमरणाशंसानिदानमित्रानुरागसुखशंसा: ।
सन्न्यासे मलपञ्चकमिदमाहुर्विदितविज्ञेया: ॥ १५

शङ्काकांक्षानिन्दापरशंसासंस्तवा मला: पञ्च ।
परिहर्तव्या: सद्भि: सम्यक्त्वविशोधिभि: सततम् ॥ १६

सप्तति परिहरन्ति मलानामेवमुत्तमधियो व्रतशुद्धयै ।
श्रावका जगति ये शुभचित्ता ते भवन्ति भुवनोत्तमनाथा. ॥ १७

करना (रखना), सामायिक करनेकी याद भूल जाना और सामायिक करनेमे आदर नही रखना ये पाँच अतीचार सामायिकके जैनियोंको जानना चाहिए ॥ ११॥ अब दूसरे प्रोषध्रोपवास शिक्षाव्रतके अतीचार कहते हैं—उपयोग रहित होकर विना देखे-शोधे किसी वस्तुका छोडना, ग्रहण करना और विस्तरादिका विछाना, उपवास करनेमे अनादर करना और उपवास करना भूल जाना, ये पाँच अतीचार श्रेष्ठ मुनियोने उपवासके कहे है ॥१२॥ अब तीसरे भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतीचार कहते हैं—सचित्त वस्तुका आहार करना, सचित्तसे स्पर्शित वस्तुका आहार करना, सचित्तसे मिश्रित वस्तुका आहार करना, दु पक्व वस्तुका आहार करना और गरिष्ठ वस्तुका आहार करना, ये भोगोपभोग विरक्तिके पाँच अतीचार छोडना चाहिए ॥१३॥ अब चौथे अतिथि-संविभाग शिक्षाव्रतके अतीचार कहते है—दान देनेवालोके साथ मत्सर भाव रखना, दान देनेके समयका उल्लघन करना, दान-योग्य वस्तुका सचित्त पत्रादि पर रखना, आहारको सचित्त पत्रादि-से ढकना और दान दूसरेसे दिलवाना, ये पाँच अतीचार अतिथि संविभाग व्रतके है, इनका परिहार करना चाहिए ॥१४॥

अब सल्लेखनाके अतीचार कहते है—समाधिमरण लेनेके पश्चात् शरीरको स्वस्थ होता जानकर जीनेकी इच्छा करना, रोगादिके वढने पर मरणकी इच्छा करना, आगामी भवमे सुख प्राप्तिका निदान करना, मित्रोंके अनुरागका स्मरण करना और पूर्वकालमे भोगे हुए भोगोका चिन्तवन करना ये पाँच अतीचार सर्वज्ञदेवने संन्यासके कहे है ॥१५॥ अब सम्यग्दर्शनके अतीचार कहते है—जिनदेवके वचनोमे शका करना, भोगोंकी आकांक्षा करना, मिथ्या दृष्टियोकी प्रशंसा करना और उनकी स्तुति करना ये पाँच सम्यग्दर्शनके अतीचार हैं। सम्यग्दर्शनकी शुद्धि चाहने वाले सन्तोंको इनका निरन्तर परिहार करना चाहिए ॥१६॥ जो उत्तम बुद्धिवाले श्रावक व्रतोकी शुद्धिके लिए उपर्युक्त सत्तर अतीचारोंका परिहार करते है, वे प्रशस्त चित्त पुरुष तीनो भुवनोके उत्तम स्वामी होते हैं ॥१७॥ अब शल्य दूर करनेका उपदेश देते है—निदान, माया और विपरीत दृष्टि (मिथ्यात्व) ये तीन शल्य वाणोकी पक्तिके समान दु:खो को करनेवाली

निदानमायाविपरीतदृष्टीर्नाराचपङ्क्तीरिव दुःखकर्त्रीः।
ये वर्जयन्ते सुखभागिनस्ते निःशल्यता शर्मकरीह लोके ॥ १८
यस्यास्ति शल्यं हृदये त्रिभेद व्रतानि नश्यन्त्यखिलानि तस्य।
स्थिते शरीरं ह्यवगाह्य काण्डे जनस्य सौख्यानि कुतस्तनानि ॥ १९
प्रशस्तमन्यच्च निदानमुक्त निदानमुक्तैर्व्रतिनामृषीन्द्रैः।
विमुक्तिसंसारनिमित्तभेदा द्विधा प्रशस्ता पुनरभ्यधायि ॥ २०
कर्मव्यपायं भवदु.खहानिं बोधिं समाधिं जिनबोधसिद्धिम्।
आकांक्षतः क्षीणकषायवृत्तेर्विमुक्तिहेतुः कथित निदानम् ॥ २१
जातिं कुलं बान्धववर्जितत्वं दरिद्रतां वा जिनधर्मसिद्धयै।
प्रयाचमानस्य विशुद्धवृत्तेः संसारहेतुर्गदित जिनेन्द्रैः ॥ २२
उत्पत्तिहीनस्य जनस्य नून लाभो न जातिप्रभृतेः कदाचित्।
उत्पत्तिमाहुर्भवमुद्धबोधा भवं च ससारमनेककष्टम् ॥ २३
ससारलाभो विदधाति दु ख शरीरिणां मानसमाङ्गिकं च।
यतस्ततः ससृतिदुःखभीतैस्त्रिधा निदान न तदर्थमिष्टम् ॥ २४
भोगाय मानाय निदानमीशैर्यदप्रशस्त द्विविध तदिष्टम्।
विमुक्तिलाभप्रतिबन्धहेतो. ससारकान्तारनिपातकारि ॥ २५
ये सन्ति दोषा भुवनान्तराले तानङ्गभाजां वितनोति भोग।
के तेऽपराधा जननिन्दनीया न दुर्जनो यान् रभसा करोति ॥ २६

है। जो इनका परित्याग करते है, वे सुखके भागी होते है। क्योकि लोकमे नि शल्यता सुखको करने वाली है ॥१८॥ जिसके हृदयमे ये तीन प्रकारकी शल्य रहती है, उनके समस्त व्रत नष्ट हो जाते है। शरीरमे भीतर प्रविष्ट हुए वाणके विद्यमान रहने पर मनुष्यको सुख कहाँ से हो सकते है ॥१९॥ निदानसे रहित ऋषिराजोने व्रतियोके निदान दो प्रकारके कहै है–प्रशस्त-निदान और अप्रशस्तनिदान। पुन मुक्ति और संसारके निमित्त भेदसे प्रशस्त निदान भी दो प्रकारका कहा है ॥२०॥ कर्मोका विनाश, सासारिक दु खोकी हानि, बोधि, समाधि और जिनेन्द्र-प्ररूपित ज्ञानकी सिद्धिको चाहने वाले कषाय-रहित पुरुषका निदान मुक्तिका कारण कहा गया है ॥२१॥ जिनधर्मकी सिद्धिके लिए उत्तम जाति, उत्तम कुल, बन्धु-बान्धवसे रहितता और दरिद्रताको चाहने वाले विशुद्धवृत्ति पुरुषका निदान जिनेन्द्रदेव ने ससारका कारण कहा है ॥२२॥ उत्पत्ति-रहित जीवके जाति आदिका लाभ कदाचित् भी नही होता है। उत्कृष्ट बोधवाले पुरुषोने उत्पत्तिको भव कहा है, भव नाम ससार का है और ससार अनेक कष्टमय है ॥२३॥ यत संसारका लाभ देहधारियोको अनेक मानसिक और शारीरिक दु ख देता है अत संसारके दु खोसे भयभीत पुरुषोको सासारिक सुखके लिए मन, वचन, कायसे किया गया निदान कभी भी इष्ट नही है ॥२४॥

अब आचार्य अप्रशस्त निदानके दोष कहते है–आचार्योने अप्रशस्त निदान दो प्रकार-का कहा है–भोगके लिए और मानके लिए। ये दोनो ही प्रकारका अप्रशस्त निदान मुक्ति लाभके प्रतिबन्धका कारण होनेसे संसार-काननमे ही गिराने वाला है ॥२५॥ इस लोकके मध्य-में जितने भी दोष है, उन सबको यह भोग-निमित्त किया गया निदान विस्तृत करता है। वे कौन

ये पीडयन्ते परिचर्यमाणा ये मारयन्ते बत पोष्यमाणाः।
ते कस्य सौख्याय भवन्ति भोगा जनस्य रोगा इव दुर्निवाराः ॥ २७
विनश्वरात्मा गुरुपङ्ककारी मेघो जलानीव विवर्धमानः।
ददाति यो दुःखशतानि कष्टं स कस्य भोगो विदुषोऽनिषेव्यः ॥ २८
यो बाधते शक्रममेयशक्ति स कस्य बाधां न करोति भोग.।
यः प्लोषते पर्वतवर्गमग्निः स मुञ्चते किं तृणपर्णराशिम् ॥ २९
समीरणाशीव विभीमरूपः कोपस्वभावः पररन्ध्रवर्ती।
अनात्मनीनं परिहर्तुकामैर्न याचनीयः कुटिल. स भोगः ॥ ३०
देवं गुरुं धार्मिकमर्चनीयं मानाकुलात्मा परिभूय भूयः।
पाथेयमादाय कुकर्मजालं नीचां गतिं गच्छति नीचकर्मा ॥ ३१
वामनः पामनः कोपनो वञ्चनः कर्कशो रोमशः सिध्मलः कश्मलः।
कौलिको मालिकः सालिकश्छिम्पकः किङ्करो लुब्धको मुग्धकः कुष्ठिकः ॥ ३२
श्वित्रकः कौशिको मूषको जाहको वञ्जुलो मञ्जुलः पिप्पलः पन्नगः।
कुक्कुरस्तित्तिरो रासभो वायसः कुर्कुटो मर्कटो मानतो जायते ॥ ३३

से मनुष्योके द्वारा निन्दनीय अपराध हैं, जिन्हे यह दुष्ट निदान शीघ्र ही न करता हो ॥२६॥ जो भोग भली भांतिसे परिचर्या करने पर भी पीडा देते है और खूव पोषण किये जाने पर भी जीवोंको मारते है, अति आश्चर्य है कि वे भोग किसके सुखके लिए हो सकते है, जो कि मनुष्य-को दुर्निवार रोगोंके समान दुःख देते है ॥२७॥ ये सांसारिक भोग क्षण भगुर हैं, महापाप-पंक को उपजाने वाले हैं, जैसे कि अधिक जलको वरसाने वाला मेघ भारी कीचड उत्पन्न कर देता है। जो काले मेघके समान सैकडों दु खोंको देता है, वह भोग किस विद्वान्के लिए सेवन करने के योग्य है? ॥२८॥ जो काम भोग अपरिमित शक्तिशाली शक्रको भी वाधित करता हैं वह फिर किसके बाधा नहीकरेगा? जो अग्नि पर्वतोके समूहको भी जला देती हैं, वह क्या तृण और पत्तोके पुंजको छोड देगी? कभी नही ॥२९॥ काम-भोग पवन-भक्षी सूर्यके समान अतिभयंकर है, क्रोधी स्वभावाला है, कीडियोके द्वारा वनाई गई बांभी के विलोंमे रहता हैं। अतएव आत्माके अकल्याणका परिहार करनेके इच्छुक जनोंको यह सर्पके समान कुटिल गति वाला भोग कभी याचना नही करना चाहिए। अर्थात् सर्परूप भोगका निदान सर्वथा त्याज्य हैं ॥३०॥ अव मान-निमित्तक निदानके दोष कहते हैं—मानसे जिसकी आत्मा आकुलित है,वह पुरुष देव, गुरु और धर्मात्मा पूज्य जनोका वार वार अपमान करता हैं और उसके फलसे वह नीचकर्म उपार्जन कर खोटे कर्म जालरूप पाथेय (मार्ग-भोजन) को साथ लेकर नीच गतिको जाता हैं ॥३१॥ मानकषायके पोषण-निमित्त किये गये निदानसे यह जीव नाना गतियोमे वौना, चर्म-रोगी,क्रोधी,वचक,कर्कश, रोम युक्त, भूरे शरीरवाला, कोली (जुलाहा), माली, सिलावट, छीपा, चाकर, लुब्धक (भील), मूढ, कोढी, चीता, घूघू, मूषक,सेही वंजुल, मंजुल तथा तिप्पल जातिका पक्षी, सर्प, कुत्ता, तीतर, गर्दभ, काक, मुर्गा और वानर होता हैं ॥३२–३३॥ भावार्थ-मनुष्य और तिर्यंचमे जितनी भी नीच जातियां है, उनमे यह जीव मानकषायके निमित्त वाले निदानसे ही जन्म लेता है।

इसी प्रकार सेवन किया गया यह मान निदान मनुष्यकी लक्ष्मी,क्षमा, कीर्त्ति, दया, पूजा,

लक्ष्मीक्षमाकीर्तिकृपासपर्या निहत्य सत्या जनपूजनीयाः ।
निषेव्यमाणो रभसेन मानः श्वभ्रालये निक्षिपतेऽतिघोरे ॥ ३४
अनन्तकालं समवाप्य नीचां यद्येकदा याति जनोऽयमुच्चाम् ।
तथाप्यनन्ता बत याति जातीरुच्चा गुणः कोऽपि न चात्र तस्य ॥ ३५
उच्चासु नीचासु च हन्त जन्तोर्लब्धासु नो योनिषु वृद्धिहानी ।
उच्चो न नीचोऽहमपास्तबुद्धिः स मन्यते मानपिशाचवश्यः ॥ ३६
उच्चोऽपि नीचं स्वमवेक्ष्यमाणो नीचस्य दुःख न किमेति घोरम्
नीचोऽपि वा पश्यति यः स्वमुच्चं स सौख्यमुच्चस्य न किं प्रयाति ॥ ३७
उच्चत्वनीचत्वविकल्प एष विकल्पमानः सुखदुःखकारी ।
उच्चत्वनीचत्वमयी न योनिर्ददाति दुःखानि सुखानि जातु ॥ ३८
हिनस्ति धर्मं लभते न सौख्यं कुबुद्धिरुच्चत्वनिदानकारी ।
उपैति कष्टं सिकतानिपीडी फलं न किञ्चिज्जननिन्दनीयः ॥ ३९
यशांसि नश्यन्ति समानवृत्तेर्गदातुरस्येव सुखानि सद्यः ।
विवर्धते तस्य जनापवादो विषाकुलस्येव मनोविमोहः ॥ ४०
हुताशनेनेव तुषारराशिर्विनाश्यतेऽलं विनयो मदेन ।
नैवानुराग विनयेन हीने लोकेऽशमेनेव चरित्रमेति ॥ ४१

आदि सभी जन-पूजनीय गुणोका नाश करके अति घोर नरकालयमे शीघ्र फेक देता है ॥३४॥ मान कषायके निमित्तसे यह जीव अनन्त काल तक नीची जातियोको पाकर यदि एक बार ऊँची जातिको पा भी लेता है, तो भी पुन अनन्तो नीच जातियोको पाता है। जब यह एकादि बार ऊंच जाति को पाता भी है, तो दुख है कि उसमे उसके कोई भी उच्च गुण नही प्राप्त होता ॥३५॥ इस प्रकार ऊच और नीच जातियोमे नाना योनियोके पाने पर भी जीवकी कोई वृद्धि या हानि नही होती है, अर्थात् जीवत्व विद्यमान रहता है, तथापि यह मान कषायरूप पिशाचके वशमे हो बुद्धि रहित बनकर मैं ऊंच हूँ, मै नीच हूँ, ऐसा मानता है, यह अति खेदकी बात है ॥३६॥ उच्च कुलीन पुरुष भी अपने से अधिक उच्चकुलीन पुरुषको देखता हुआ क्या नीच जातिके घोर दुखको नही पाता है? इसी प्रकार नीच जातिका पुरुष भी स्वयको ऊचा देखता हुआ क्या उच्च जातिके सुखको नही पाता है? ॥३७॥ वास्तविक बात यह हे कि ऊचता और नीचताकी कल्पना एक विकल्प ही है, जिसे करने पर वह विकल्प सुख और दुख करता है। ऊचता या नीचता मयी योनि जीवको कदाचित् भी सुख या दुख नही देती है, किन्तु किये गये पुण्य कर्म या पाप कर्म ही जीवको सुख दुख देते है ॥३८॥ उच्चता का निदान करने वाला कुबुद्धि अपने धर्मको नाश करता है और सुखको नही पाता है। वालूको पेलनेवाला केवल कष्ट ही पाता है, किन्तु वह जन-निन्दनीय पुरुष कुछ भी फलको नही पाता है ॥३९॥ निदान करने वाले पुरुषका यश नष्ट हो जाता है, जैसे कि रोगसे पीडित पुरुषका सुख शीघ्र नष्ट हो जाता है। उसका लोगोमे अपवाद बढता है, जैसे कि विषसे आकुलित पुरुष का मनोविभ्रम बढता है ॥४०॥ जैसे अग्नि से तुषार पुज विनष्ट होता है, उसी प्रकार अहकार-से विनय गुण सर्वथा नष्ट हो जाता है। विनयसे हीन पुरुष लोकमे किसीका अनुराग नही पाता है जैसे कि शमभाव के विना मनुष्य चारित्र को नही पाता है ॥४१॥ गर्ववाले पुरुष

पूता गुणा गर्ववतः समस्ता भवन्ति वन्ध्या यमसंयमाद्याः ।
प्ररोप्यमाणा विधिना विचित्राः किमूषरे भूमिरुहाः फलन्ति ॥ ४२
न जातु मानेन निदानमित्थं करोति दोषं परिचिन्त्य चित्रम् ।
प्राणापहारं न विलोक्यमानो विषेण तृप्ति वितनोति कोऽपि ॥ ४३
यो घातकत्वादिनिदानमज्ञः करोति कृत्वाऽऽचरणं विचित्रम् ।
ही वर्धयित्वा फलदानदक्षं स नन्दनं भस्मयते वराक. ॥ ४४
यः संयमं दुष्करमादधानो भोगादिकांक्षां वितनोति मूढः ।
कण्ठे शिलामेष निधाय गुर्वीं विगाहते तोयमनल्पमध्यम् ॥ ४५
त्रिधाऽविधेयं सनिदानमित्थं विज्ञानदोषं चरणं चरद्भि. ।
अपथ्यसेवां रचयन्ति सन्तो विज्ञातदोषा न कृतौषधेच्छाः ॥ ४६
आयासविश्वासनिराशशोकद्वेषावसादश्रमवैरभेदाः ।
भवन्ति यस्यामवनाविवागाः सा कस्य माया न करोति कष्टम् ॥ ४७
स्वल्पाऽपि सर्वाणि निषेव्यमाणा सत्यानि माया क्षणतः क्षिणोति ।
नाल्पा शिखा किं दहतीन्धनानि प्रवेशिता चित्ररुचेश्चितानि ॥ ४८
निर्कर्तितुं वृत्तवनं कुठारी, संसारवृक्षं सवितुं धरित्री ।
बोधप्रभां ध्वंसयितुं त्रियामा माया विवर्ज्या कुशलेन दूरम् ॥ ४९

के यम, सयमादिक सभी पवित्र गुण निष्फल जाते है। ऊषर भूमिमे विधि पूर्वक आरोपण किये भी नाना प्रकारके वृक्ष क्या फल देते है ॥४२॥ इस प्रकार नाना प्रकारके दोपोंका चिन्तवन कर कोई भी बुद्धिमान मनुष्य मानसे निदानको कभी भी नही करता हैं। प्राणोके अपहरणको करने वाले विषको देखता हुआ कोई भी पुरुष विषसे अपनी तृप्ति नही करता हैं ॥४३॥

जो अज्ञानी पुरुष नाना प्रकारके चारित्रका पालन करके दूसरेके घात करने आदिका द्वीपायन मुनिके समान निदान करता हैं, यह दीन वराक उत्तम फल देनेमे समर्थ नन्दन वनका सवर्धन करके पुन उसे भस्म करता है ॥४४॥ अति कठिन संयमको धारण करता हुआ भी जोमूढ पुरुष भोग आदिकी आकाक्षाको करता हैं, वह अपने कण्ठमे भारी वजनी शिलाको वाधकर अत्यन्त गहरे जलमे अवगाहन करता है ॥४५॥ इस प्रकार निदानके दोषोको जानकर चारित्रका पालन करनेवाले पुरुपोको मन वचन कायसे निदान नही करना चाहिए। जिन्होने अपथ्य सेवनके दोप जान लिये है, और जो नीरोग होनेके इच्छासे औपधिका सेवन करते है ऐसे सन्त पुरुप अपथ्यका सेवन नही करते है इस प्रकार निदान शल्यका वर्णन किया ॥४६॥ अब मायाशल्यका वर्णन करते है—जैसे भूमिमे वृक्ष उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार जिस मायाके होने पर प्रयास, विश्वासका विनाश, शोक, द्वेप, अवसाद, श्रम और वैर आदि अनेक भेदवाले दोप उत्पन्न होते है, यह माया किस पुरुपको कप्ट नही देती है ॥४७॥ थोडी सी भी सेवन की गई माया क्षण भरमें सर्व सत्यका विनाश कर देती है। अग्निको प्रवेश की गई छोटी सी भी ज्वाला क्या सचित्त इंधनको नही जलाती है? जलाती ही है ॥४८॥ जो चारित्ररूप वनको काटनेके लिए कुठारीके समान हैं, ससाररूपी वृक्षको उपजानेके लिए पृथिवीके समान है, ज्ञानरूप सूर्यकी प्रभाका विध्वंस करनेके लिए रात्रिके समान है, ऐसी मायाका कुशल पुरुपोको दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिए ॥४९॥ यह माया मैत्री का घात करती है, सत्रुताको बढाती हैं, पापको विस्तारती हैं, धर्मका विध्वंस करती है, दुःख

हिनस्ति मैत्रीं वितनोत्यमैत्रीं तनोति पापं विधुनोति धर्मम् ।
पुष्णाति दुःखं विधुनोति सौख्यं न वञ्चना किं कुरुते विनिन्द्यम् ॥ ५०
न बुध्यते तत्त्वमतत्त्वमङ्गी विमोह्यमानो रभसेन येन ।
त्यजन्ति मिथ्यात्वविषं पटिष्ठाः सदा विभेदं बहुदुःखदायि ॥ ५१
वदन्ति केचित्सुखदुःखहेतुर्न विद्यते कर्म शरीरभाजाम् ।
मानस्य तस्मिन्निखिलस्य हानेर्मानव्यपेतस्य न चास्ति सिद्धिः ॥ ५२
सत्त्वेऽपि कर्तुं न सुखादिकार्यं तस्यास्ति शक्तिर्गतचेतनत्वात् ।
प्रवर्तमानाः स्वयमेव दृष्टा विचेतना क्वापि मया न कार्ये ॥ ५३
एषा महामोहपिशाचवश्यैर्न युज्यते गीरभिधीयमाना ।
प्रमाणमस्माकमबाध्यमानं यतोऽस्य सिद्धावनुमानमस्ति ॥ ५४
रागरोषमदमत्सरशोकक्रोधलोभभयमन्मथमोहाः ।
सर्वजन्तुनिवहैरनुभूताः कर्मणा किमु भवन्ति विनैते ॥ ५५
ते जीवजन्याः प्रभवन्ति नूनं नैवाऽपि भाषा खलु युक्तियुक्ता ।
नित्यप्रसक्तिः कथमन्यथैषां सम्पद्यमाना प्रतिषेधनीया ॥ ५६

का पोपण करती है और सुखका विनाश करती है, वह माया किस निन्द्य कार्यको नही करती है, अर्थात् सभी निन्द्य कार्योको करती है । इस प्रकार माया शल्यका वर्णन किया ।।५०।। अब मिथ्यात्व शल्यका वर्णन करते है—जिसके द्वारा अति शीघ्र विमोहित हुआ प्राणी तत्त्व और अतत्त्वको नही समझता हैं, ऐसे बहुत दु खोके देनेवाले अनेक प्रकारके मिथ्यात्वरूप विषका चतुर पुरुष सदा ही परित्याग करते है ।।५१।। कितने ही मतावलम्बी कहते है कि प्राणियोको सुख-दुख देनेमें कारण-भूत कोई कर्म नही है, क्योकि उसकी सिद्धि करनेमे सभी प्रमाणोकी हानि अर्थात् अभाव है और प्रमाणके अभावमे कर्मकी सिद्धि हो नही सकती है । भावार्थ—अन्य मतवाले जो कर्मको नही मानते है, उनका कहना हैं कि कर्म नामक पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नही है, क्योकि वह इन्द्रियोसे नही दिखता है । अनुमान प्रमाणका भी विषय नही है, क्योकि उसका साधक कोई लिंग दृष्टि-गोचर नही होता है, जिससे कि उसकी सिद्धि की जा सके । कर्मके समान अन्य पदार्थके नही पाये जानेसे वह उपमान प्रमाणसे भी सिद्ध नही होता है । कर्मके विना नही होनेवाले पदार्थकी अप्राप्ति से यह अर्थापत्ति प्रमाणका भी विषय नही है । हमारे आगममे कर्म नामक पदार्थका वर्णन नही है अत आगमसे भी उसकी सिद्धि नही है । परिशेषमे अभाव प्रमाणसे उसका अभाव ही सिद्ध होता है ।।५२।। उनका कहना है कि जैन लोग कर्मको अचेतन मानते है और इसीलिए उसकी जीवमे सुख-दु खादि कार्य करनेकी शक्ति नही है । उनका कहना है कि मैंने किसी भी कार्यमे प्रवर्तमान कोई भी अचेतन पदार्थ कही पर भी नही देखा है इसलिए कर्म नामका कोई पदार्थ नही है ।।५३।। आचार्य उनका उत्तर देते हुए कहते है-कि महामोहरूप पिशाचके वशमे हुए लोगोकी यह उपर्युक्त वाणी योग्य नही है, क्योकि हमारे पास कर्मकी सिद्धिमे अबाध्यमान अनुमान प्रमाण है ।।५४।। यथा-सर्वप्राणिसमूहके द्वारा अनुभवमे आनेवाले ये राग, द्वेष, मद, मत्सर, शोक, क्रोध,लोभ, भय, काम और मोह आदि विकार भाव कर्मके विना कैसे हो सकते है? अत इन विकाररूप कार्योसे उनके कारणरूप कर्मका अनुमान होता है ।।५५।। यदि आप कहे कि ये रागादि भाव नियमसे जीव-जनित ही है, कर्म-जनित नही, सो ऐसी भी भाषा आपकी निश्चयसे युक्ति-सगत नही है,

नित्ये जीवे सर्वदा विद्यमाने कादाचित्का हेतुना केन सन्ति ।
निर्मुक्तानां जायमाना निषेद्धुं ते शक्यन्ते केन मुक्तिश्च तेभ्यः ॥ ५७
तुल्यप्रतापोद्यमसाहसानां केचिल्लभन्ते निजकार्यसिद्धिम ।
परे न तामत्र निगद्यतां मे कर्माणि हित्वा यदि कोऽपि हेतु. ॥ ५८
विचित्रदेहाकृतिवर्णगन्धप्रभावजातिप्रभवस्वभावाः ।
केन क्रियन्ते भुवनेऽङ्गिवर्गाश्चिरन्तनं कर्म निरस्य चित्राः ॥ ५९
विवर्द्धर्य मासान्नव गर्भमध्ये बहुप्रकारैः कलिलादिभावैः ।
उद्वर्त्य निष्कासयते सविव्याः को गर्भतः कर्म विहाय पूर्वम् ॥ ६०
विलोकमानाः स्वयमेव शक्ति विकारहेतु विषमद्यजाताम् ।
अचेतनं कर्म करोति कार्यं कथ वदन्तीति कथं विदग्धाः ॥ ६१
नानाप्रकारा भुवि वृक्षजातीर्विधूय पत्राणि पुरातनानि ।
अचेतनः किं न करोति कालः प्रत्यग्रपुष्पप्रसवादिरम्याः ॥ ६२
यैर्निःशेष चेतनामुक्तमुक्त कार्याकारि ध्वस्तकार्यावबोधैः ।
धर्माधर्माकाशकालादि सर्वं द्रव्यं तेषां निष्फलत्व प्रयाति ॥ ६३

क्योकि रागादि भावोंको जीव-जनित मानने पर उनका जीवके साथ नित्य सम्बन्ध प्राप्त होता है, फिर उनका प्रतिषेध कैसे किया जा सकेगा? भावार्थ—यदि रागादि भावोको आत्माका स्वभाव माना जाय, तो स्वभावका अभाव कभी होता नही, अत मुक्त जीवोके भी उनका सद्भाव मानना पडेगा। किन्तु मुक्त जीवोंके रागादिका अभाव सभी मानते है। अतएव उन्हे जीवका स्वभाव नही माना जा सकता ॥५६॥ जीवके सर्वदा नित्य विद्यमान रहने पर रागादि भावोका कदाचित् होना किस कारणसे संभव है। मुक्त जीवोके उनकी उत्पत्ति होनेका निषेध कैसे किया जा सकता है? और उनसे मुक्ति अर्थात् छुटकारा भी कैसे हो सकता है। ५७। समान प्रतापी, समान उद्यमी और समान साहसी पुरुषोमेंसे कितने ही पुरुष तो अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धिको प्राप्त करते है और कितने ही पुरुष सफलताको नही पाते है। इनकी सफलता और विफलतामे यदि कर्मको छोड कर कोई अन्य हेतु है, तो मुझे बतलाओ? भावार्थ—समान पुरुषार्थ करने वालोमेंसे कुछको सफलता मिलने और कुछको सफलता नही मिलनेमे कर्मके सिवाय और कोई अन्य कारण नही है ॥५८॥ ससारमे नाना प्रकारके विचित्र देहोके आकार, वर्ण, गन्ध, प्रभाव, जाति और कुलादिमे उत्पन्न होनेवाले भिन्न-भिन्न स्वभावके धारक प्राणियोको पुरातन कर्मके सिवाय और कौन बनाता है? ॥५९॥ माताके गर्भके मध्यमें बहुत प्रकारके रस, रुधिर आदि भावोके द्वारा नौ मास तक बढाकार पूर्व कर्मके सिवाय गर्भसे बाहिर कौन निकालता है ॥६०॥ यदि कहा जाय कि कर्म तो अचेनन है, वे शरीरोके नाना प्रकारके कार्य कैसे कर सकते है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते है—विष और मदिराके पीनेसे उत्पन्न हुई विकार हेतुक शक्तिको स्वयमेय ही देखनेवाले चतुर पुरुष यह कैसे कहते है कि अचेतन कर्म कैसे कार्य करता है ॥६१॥ और भी देखो—भूतल पर अपने पुराने पत्रोको छोडकर और नवीन उत्पन्न हुए अकुर, पुष्प और फलादिसे रमणीय नाना प्रकारकी वृक्ष जातियोको क्या अचेतन काल नही करता है। भावार्थ—जैसे अचेतन काल वृक्षोके पुराने पत्रोको झडाकर नवीन पत्रादिको उत्पन्न करनेमें निमित्त है, उसी प्रकारसे अचेतन कर्म भी जीवोके नाना प्रकारके शरीरादिके निर्माणमे हेतु है ॥६२॥ कार्य-कारण सम्बन्धी ज्ञानसे

जीवैरमूर्तैः सह कर्म मूर्तं सम्बध्यते नेति वचो न वाच्यम् ।
अनादिभूतं हि जिनेन्द्रचन्द्राः कर्माङ्गिसम्बन्धमुदाहरन्ति । ६४
इत्यादि मिथ्यात्वमनेकभेदं यथार्थतत्त्वप्रतिपत्तिसूदि ।
विवर्जनीयं त्रिविधेन सद्भिर्जैनं व्रतं रत्नमिवाश्रयद्भिः ।। ६५
एकादशोक्ता विदितार्थतत्त्वैरुपासकाचारविधेर्विभेदाः ।
पवित्रमारोढुमनस्यलभ्य सोपानमार्गा इव सिद्धिसौधम् ।। ६६

दार्शनिक

यो निर्मलां दृष्टिमनन्यचित्तः पवित्रवृत्तामिव हारयष्टिम् ।
गुणावनद्धां हृदये निधत्ते स दर्शनी धन्यतमोऽभ्यधायि ।। ६७

व्रतिकः

विभूषणानीव दधाति धीरो व्रतानि यः सर्वसुखाकराणि ।
आकृष्टुमीशानि पवित्रलक्ष्मीं त वर्णयन्ते व्रतिनं वरिष्ठाः ।। ६८

सामायिकः

रौद्रार्थमुक्तो भवदु.खमोची, निरस्तनिशेषकषायदोषः ।
सामायिकं यः कुरुते त्रिकालं सामायिकस्थः कथितः स तथ्यम् ।। ६९

रहित जो पुरुष चेतना-रहित सभी पदार्थोको कार्यकारी नही मानते है, उनके मतमे धर्म, अधर्म, आकाश, कालादि सभी द्रव्य निष्फलताको प्राप्त होते है ।।६३।। और यह कहना कि अमूर्त जीवो-के साथ मूर्त्त कर्म सम्बन्धको प्राप्त नही होते है, सो नही कहना चाहिए, क्योंकि जिनेन्द्र-चन्द्र जीव और कर्मके सम्बन्धको अनादिकालीन कहते है और अनादि वस्तु तर्कका विषय नही होती है ।।६४।। इत्यादि अनेक भेदवाले और यथार्थ तत्त्वज्ञानका नाश करनेवाले मिथ्यात्वका रत्न के समान जैन व्रतोका आश्रय करनेवाले सज्जन पुरुषोको मन वचन कायसे परित्याग करना चाहिए ।।६५।।

अब आचार्य श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओका वर्णन करते है—तत्त्वार्थके जानने वाले महापुरुषोने श्रावकाचार विधिके ग्यारह भेद कहे है, जो कि अन्य साधारण जनोके द्वारा अलभ्य और पवित्र सिद्धिरूपी सौध (महल) पर आरोहण करनेके लिए सोपान मार्गके समान है ।।६६।।

१ दार्शनिक श्रावक

जिसका अन्यत्र चित्त नही लग रहा है, ऐसा जो पुरुष पवित्र और गोल मणियो वाली गुण (सूत्र) से पिरोयी गई हारकी लडीके समान निर्मल समीचीन दृष्टिको अपने हृदयमे धारण करता है, वह दर्शन प्रतिमाधारी उत्तम धन्य पुरुष कहा गया है ।।६७।।

२ व्रतिक श्रावक

जो धीर पुरुष सर्व प्रकारके सुखोके भण्डार और पवित्र स्वर्ग-मोक्षरूप लक्ष्मीको आकृष्ट करनेमे समर्थ ऐसे बारह व्रतोको आभूषणोके समान धारण करता है, उसे व्रतधारियोमें श्रेष्ठ पुरुष व्रत प्रतिमाधारी कहते है ।।६८।।

३. सामायिकी श्रावक

जो रुद्र और आर्त्तध्यानसे रहित है, सासारिक दु.खोका त्याग करना चाहता है और

प्रोषधोपवासी

मन्दीकृताक्षार्थसुखाभिलाषः करोति यः पर्वचतुष्टयेऽपि ।
मदोपवासं परकर्म मुक्त्वा स प्रोषधी शुद्धधियामभीष्टः ।। ७०

सचित्तविरतः

दयार्द्रचित्तो जिनवाक्यवेदी न वल्भते किञ्चन यः सचित्तम् ।
अनन्यसाधारणधर्मपोषी सचित्तमोची स कषायमोची ।। ७१

दिवाब्रह्मचारी

निषेवते यो दिवसेन नारीमुद्दामकन्दर्पमदापहारी ।
कटाक्षविक्षेपशरैरविद्धो बुधैर्दिवाब्रह्मचर. स बुद्धः ।। ७२

ब्रह्मचारी

यो मन्यमानो गुणरत्नचोरीं विरक्तचित्तस्त्रिविधेन नारीम् ।
पवित्रचारित्रपदानुसारी स ब्रह्मचारी विषयापहारी ।। ७३

आरम्भविरतः

विलोक्य षड्जीवविघातमुच्चैरारम्भमत्यस्यति यो विवेकी ।
आरम्भमुक्त· स मतो मुनीन्द्रैर्वैरागिक· संयमवृक्षसेकी ।। ७४

समस्त कषायरूप दोषोसे मुक्त हैं, ऐसा जो पुरुष त्रिकाल सामायिक करता है, वह यथार्थ सामायिकमे स्थित कहा गया है ।।६९।।

४ प्रोषधोपवासी श्रावक

जो पुरुष इन्द्रिय-सुखोकी अभिलाषाको मन्द करके प्रत्येक मासकी चारो ही पर्वोमे अन्य सर्व कार्य छोडकर सदा उपवास करता हैं, वह शुद्ध बुद्धि वालोका अभीष्ट प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी श्रावक है ।।७०।।

५. सचित्तविरत श्रावक

जिन वचनोंका वेत्ता जो दयालु चित्त पुरुष किसी भी सचित्त वस्तुको नही खाता है, वह अनन्य साधारण धर्मका पोषक एव कषायोका विमोचक सचित्तत्याग प्रतिमाधारी है ।।७१।।

६. दिवाब्रह्मचारी श्रावक

अत्यन्त उग्र कामदेबके मदको दूर 'करने वाला, स्त्रियोके कटाक्ष विक्षेपरूप बाणोसे नही वेधा गया जो पुरुष दिनमे स्त्रीका सेवन नही करता है, उसे ज्ञानियोने प्रबुद्ध दिवाब्रह्मचारी श्रावक कहा है ।।७२।।

७ अहर्निश ब्रह्मचारी श्रावक

जो विषय-सेवनसे विरक्त चित्त पुरुष स्त्रीको गुणरूप रत्नोकी चुराने वाली मानता हुआ मन वचन कायसे उसका सेवन नही करता है, वह पवित्र चारित्र पदका अनुसरण करने वाला और विषयोका अपहारक ब्रह्मचारी कहा गया है ।।७३।।

८. आरम्भविरत श्रावक

जो विवेकी पुरुष आरम्भको षट्कायिक जीवोंका विघातक देखकर कृषि व्यापारादि आरम्भ करनेका त्याग करता हैं, वह विरागी संयमरूप वृक्षका सीचने वाला आरम्भ त्यागी श्रावक मुनिराजोके द्वारा माना गया है ।।७४।।

परिग्रहत्यागी

यो रक्षणोपार्जननश्वरत्वैर्ददाति दुःखानि दुरुत्तराणि ।
विमुच्यते येन परिग्रहोऽसौ गीतोऽपसङ्गैरपरिग्रहोऽसौ ॥ ७५

अनुमतित्यागी

आरम्भसन्दर्भविहीनचेताः कार्येषु मारीमिव हिंस्ररूपाम् ।
यो धर्मसक्तोऽनुमतिं न धत्ते निगद्यते सोऽननुमन्तृमुख्यः ॥ ७६

उद्दिष्टत्यागी

यो बन्धुराबन्धुरतुल्यचित्तो गृण्हाति भोज्यं नवकोटिशुद्धम् ।
उद्दिष्टवर्जी गुणिभि स गीतो विभीलुकः संसृतियातुधान्याः ॥ ७७

क्रमेणामूं दिव्यत्ते निदधति मुदैकादशगुणानल निन्दागर्हानिहितमनसो येऽस्ततमसः ।
भवान् द्वित्रान् भ्रान्त्वाऽमरमनुजयोर्भूरिमहसो विधूतैनोबन्धाः परमपद[1] मायान्ति सुखदम्[2] ॥ ७८

इद धत्ते भक्त्या गृहिजनहितं योऽत्र चरित मदक्रोधायासप्रमदमदनारम्भमकरम् ।
भवाम्भोधिं तीर्त्वा जननमरणावर्तनिचितं, व्रजत्येषोऽध्यात्मामितगतिमत निर्वृतिपदम् ॥ ७९

इत्यमितगत्याचार्यकृतश्रावकाचारे सप्तम. परिच्छेदः समाप्तः

---

९ परिग्रहत्यागी श्रावक

जो परिग्रह रक्षण, उपार्जन, विनाश आदिके द्वारा जीवोको अति भयकर दु खोको देता है, ऐसा समझकर जो सत्पुरुष परिग्रहको छोडता है, यह निर्ग्रन्थ पुरुषोके द्वारा अपरिग्रही श्रावक कहा गया है ॥७५॥

१० अनुमतित्यागी श्रावक

जो सर्व आरम्भ-परिग्रहसे रहित और धर्ममे आसक्त चित्त पुरुप पापकार्योमें हिंसक मारीके समान प्रवीण अनुमतिको नही देता है, वह अनुमति त्यागियोमे मुख्य कहा जाता है ॥७६॥

११ उद्दिष्टत्यागी श्रा क

जो भले और बुरे आहारमे समान चित्त रखने वाला पुरुष नव कोटीसे विशुद्ध भोजनको ग्रहण करता है, वह ससृतिरूप राक्षसीसे भयभीत उद्दिष्टत्यागी श्रावक गुणिजनोके द्वारा कहा गया हैं ॥७७॥ जिनका अज्ञान अन्धकार दूर हो गया है, अपने पापोंकी निन्दा और गर्हामे जिनका चित्त लग रहा है, ऐसी जो पुरुष जो क्रमसे हर्ष पूर्वक इन ग्यारह प्रतिमावाले गुणोको भली भातिसे चित्तमे धारण करते है, वे देव और मनुष्यके दो तीन तेजस्वी भवोको धारण कर अन्तमें कर्म-बन्धनको दूर करते हुए सुखदायी परम पदको प्राप्त होते हैं ॥७८॥ इस प्रकार जो पुरुष इस लोकमे गृहस्थजनोका हितकारी चारित्र भक्तिसे धारण करता है, वह मद क्रोध-आयास प्रमोद, कामविकार, और आरम्भ रूप मगर-मच्छोवाले, जन्म-मरणरूप भ्रमरोसे व्याप्त इस ससार-समुद्रको तिर करके अतीन्द्रिय अमित ज्ञान-सुखवाले मोक्ष-पदको शीघ्र प्राप्त होता है ॥७९॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित श्रावकाचारमे सप्तम परिच्छेद समाप्त हुआ ।

---

१ मु पदवी । २ मु सुखदाम् ।

अष्टमः परिच्छेदः

जिनं प्रणम्य सार्वीयं सर्वज्ञं सर्वतोमुखम् । आवश्यकं मया षोढा संक्षेपेण निगद्यते ॥ १
आगमोऽनन्तपर्यायो मतो जैनो व्यवस्थितः । अभिधातुं तत केन विस्तरेण स शक्यते ॥ २
मत्तोऽपि सन्ति ये बालाश्चित्राकारेषु जन्तुषु । अस्यावबोधतस्तेषामुपकारो भविष्यति ॥ ३
आवश्यकं न कर्त्तव्यं नैष्फल्यादित्यसाम्प्रतम् । प्रशस्ताध्यवसायस्य फलस्यात्रोपलब्धितः ॥ ४
प्रशस्ताध्यवसायेन सञ्चितं कर्म नाश्यते । काष्ठं काष्ठान्तकेनेव दीप्यमानेन निश्चितम् ॥ ५
जायते न स सर्वत्र न वाच्यमिति कोविदैः । स्फुटं सम्यक्कृते तत्र तस्य सर्वत्र सम्भवात् ॥ ६
न सम्यक्करणं तस्य जायते ज्ञानतो विना । शास्त्रतो न विना ज्ञानं शास्त्रं तेनाभिधीयते ॥ ७
लाभपूजायशोऽर्थित्वैस्तस्य सम्यक्कृतावपि । प्रशस्ताध्यवसायस्य सम्भवो नोपलभ्यते ॥ ८
तदयुक्तं यतो नेदं सम्यक्करणमुच्यते । अत एवात्र मृग्यन्ते सम्यक्कृत्यधिकारिणः ॥ ९
संसारदेहभोगानां योऽसारत्वमवेक्षते । कषायेन्द्रिययोगानां जयनिग्रहरोधकृत् ॥ १०
अनेकयोनिपाताले विचित्रगतिपत्तने । जन्ममृत्युजरावर्ते भूरिकल्मषपाथसि ॥ ११
संसारसागरे भीमे दुःखकल्लोलसङ्कुले । रागद्वेषमहानक्ररौद्रव्याधिझषाकुले ॥ १२

सर्व-हितकारी सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जिनदेवका नमस्कार करके मैं संक्षेपसे छह आवश्यकोको कहता हूँ ॥१॥ जिन-भाषित आगम यतः अनन्त पर्यायरूप अवस्थित है, अतः उसे विस्तारसे कहनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है ॥२॥ नाना प्रकारके प्राणियोंमे जो मेरेसे भी अल्पबुद्धिवाले मनुष्य है उनका उपकार मेरे द्वारा किये जानेवाले वर्णनसे होगा, यह समझकर मे उनका वर्णन करता हूँ ॥३॥ कितने ही लोग कहते है कि आवश्यकोका पालन नही करना चाहिए, क्योकि उनका कोई फल नही है । आचार्य उत्तर देते है कि यह कथन अयुक्त है, क्योकि आवश्यक करनेमे प्रशस्त अध्यवसाय परिणाम-रूप फलकी प्राप्ति पायी जाती है । इस प्रशस्त अध्यवसायके द्वारा संचित कर्म विनाशको प्राप्त होता है जैसे कि प्रदीप्त अग्निके द्वारा काष्ठ निश्चित रूपसे भस्म हो जाता है ॥४-५॥ यदि कहा जाय कि यह कर्म विनाशरूप फल सब लोगोके नही देखा जाता है। विज्ञजनोको ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योकि आवश्यकोके सम्यक् प्रकारसे करने पर उनका फल निश्चितरूपसे सर्वत्र संभव है ॥६॥ आवश्यकोका सम्यक् प्रकारसे करना ज्ञानके विना नही होता है और ज्ञानकी प्राप्ति शास्त्रके विना नही होती हैं, इस कारण शास्त्र-स्वाध्याय करना आवश्यक कहा गया है ॥७॥ यदि कहा जाय कि लाभ पूजा और यशकी इच्छासे सम्यक् प्रकार आवश्यकोके करने पर भी प्रशस्त अध्यवसायका होना संभव नही पाया जाता है, तो यह कथन अयुक्त है, क्योकि लाभ पूजा आदिकी इच्छासे आवश्यकोके करनेको सम्यक् प्रकारसे करना नही कहा जाता है । इसीलिए ही सम्यक् प्रकारसे आवश्यक करनेके अधिकारी पुरुष यहाँपर अन्वेषण किये जाते है ॥८-९॥ अब आचार्य आवश्यक करनेके योग्य पुरुषका स्वरूप कहते है—जो निरन्तर संसार देह और इन्द्रिय-भोगोकी असारता को देखता हो, कषाय-जयी हो, इन्द्रिय-निग्रही हो और मन वचन कायरूप योगोका निरोध करनेवाला हो ॥१०॥

तथा अनेक योनिरूप पातालवाले, विचित्र गतिरूप नगरवाले, जन्म-जरा-मरणरूप भँवरवाले, अत्यन्त मलिन जलसे भरे हुए, दुःखरूप कल्लोलोसे व्याप्त, राग-द्वेषरूप महान् मगरोंसे और रौद्र व्याधिरूप मीनोंसे आकुलित ऐसे महा भयंकर संसार-सागरमें चिरकालसे परिभ्रमण करनेवाले जीवोके जिनेन्द्रदेवके चरणोकी वन्दनाका प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, ऐसा अपने हृदयमें

चिरं बम्भ्रम्यमाणानां जिनेन्द्रपदवन्दना । दुरापा जायतेऽत्यन्तमिति यो हृदि मन्यते ।। १३
अनर्थकारिण कान्ताजननीजनकादय । स्वस्योपकारिणो येन बुध्यन्ते परमेष्ठिनः ।। १४
सर्वाणि गृहकार्याणि परकार्याणि पश्यति । शुद्धधीर्धर्मकार्याणि निजकार्याणि यः सदा ।। १५
यौवनं जीवितं धिष्ण्यमैश्वर्य जनपूजितम् । नश्वरं वीक्षते सर्वं शरदभ्रमिवानिशम् ।। १६
दर्शनज्ञानचारित्रत्रितय भवकानने । जानीते दुर्लभं भूयो भ्रष्टं रत्नमिवाम्बुधौ ।। १७
मयूरस्येव मेघौघे वियुक्तस्येव बान्धवे । तृष्णार्तस्येव पानीये विबद्धस्येव मोक्षणे ।। १८
सव्याधेरिव कल्यत्वे विदृष्टेरिव लोचने । जायते यस्य सन्तोषो जिनवक्त्रविलोकने ।। १९
परीषहसह. शान्तो जिनसूत्रविशारद । सम्यग्दृष्टिरनाविष्टो गुरुभक्त प्रियंवदः ।। २०
आवश्यकमिद धीरः सर्वकर्मविषूदनम् । सम्यक्कर्तुमसौ योग्यो नापरस्यास्ति योग्यता ।। २१
औचित्यवेदक श्राद्धो विधानकरणोद्यत । कर्मनिर्जरणाकांक्षी स्ववशीकृतमानस ।। २२
भावितको बुद्धिमानर्थी बहुमानपरायणः । पठने श्रवणे योग्यो विनयोद्यमभूषित. ।। २३
गुणाय जायते शान्ते जिनेन्द्रवचनामृतम् । उपशान्तज्वरे पूत भैषज्यमिव योजितम् ।। २४
अयोग्य य वचो जैन जायतेऽनर्थहेतवे । यतस्तत प्रयत्नेन मृग्यो योग्यो मनीषिभिः ।। २५
कषायाकूलिते व्यर्थं जायते जिनशासनम् । सन्निपातज्वरालीढे दत्त पथ्यमिवौषधम् ।। २६

मानता हो, स्त्री माता पितादि कुटुम्बी जन मेरे अनर्थकारी है, पच परमेष्ठी ही मेरे उपकारी है, ऐसा जो जानता हो, जो घरके सभी कार्योको पर-काय देखता हो, धर्मके कर्मोको जो सदा निज कार्य मानता हो, शुद्ध बुद्धि हो, जो यौवन, जीवन, गृह और लोक-मान्य ऐश्वर्यको निरन्तर शरद् ऋतुके बादलके समान विनश्वर देखता हो, जो भववनमे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रयका पाना समुद्रमे गिरे हुए रत्नके समान अति दुर्लभ जानता हो, जिसे जिनेन्द्रदेवके मुख-कमलके अवलोकन करनेपर ऐसा परम सन्तोष प्राप्त होता हो, जैसा कि मयूरको मेघ-समूहके देखने पर, वियोगी पुरुषको बान्धवके देखनेपर, प्याससे पीडितको जलके देखनेपर, बन्धन-बद्ध पुरुषको बन्धन-से छूटनेपर, व्याधि-युक्त पुरुषको नीरोग होनेपर और अन्धे पुरुषको नेत्र मिलनेपर परम हर्ष होता है। जो परीषको सहन करनेवाल हो, शान्तस्वभावी हो, जिन आगममे विशारद हो, सम्यग्दृष्टि हो, अहकार-रहित हो, गुरुभक्त और प्रिय वक्ता हो, ऐसा धीर वीर पुरुष सव कर्मोके विनाश करनेवाले आवश्यकोके करनेके लिए योग्य हैं। जिसके उपर्युक्त गुण नही है उसके आवश्यकोके करनेकी योग्यता नही है, ऐसा जानना चाहिए ।।१०–२१।। आवश्यकोके करनेमे उद्यत पुरुष क्षेत्र कालादिका वेत्ता हो, श्रद्धा-युदत हो, कर्मोकी निर्जरा करनेका इच्छुक हो, अपने मनको अपने वशमे करनेवाला हो, भक्ति-युक्त हो, बुद्धिमान् हो, धर्मार्थी हो, महान् विनयमे परायण हो, शास्त्रोके पठन-श्रवणमे योग्य हो और विनयके साथ आवश्यक करनेमे उद्यम-सयुक्त हो, वह पुरुष आवश्यकोके करनेके योग्य है ।।२२–२३।। जिसके कषाय शान्त है, ऐसे पुरुषमे जिनेन्द्रके वचनरुप अमृत गुणके लिए होता है, जैसे कि जिसका ज्वर उपशान्त हो गया है, ऐसे पुरुषको दिया गया शुद्ध औषधि आरोग्य वृद्धिके लिए होता है। किन्तु अयोग्य पुरुषके जैन वचन अनर्थके लिए होते है। इसलिए मनीषी पुरुषोको प्रयत्नके साथ आवश्यक करनेका अधिकारी योग्य व्यक्ति ढूढना चाहिए क्योकि कषायसे आकुलित पुरुषमे जिनदेवका उपदेशरूप शासन व्यर्थ जाता हैं, जैसे कि सन्निपात ज्वरसे व्याप्त पुरुषको दी गई पथ्य औषधि भी व्यर्थ जाती है ।।२४–२६।। अव आचार्य आवश्यक करनेवाले पुरुषके चिन्ह कहते है—जिसे उत्तम धर्म कथा सुननेमे आनन्द आता हो, जो

तत्कथाश्रवणानन्दो निन्दाश्रवणवर्जनम् । अलुब्धत्वमनालस्यं निन्द्यकर्मव्यपोहनम् ॥ २७
कालक्रमाव्युदासित्वमुपशान्तत्वमार्जवम् । विज्ञेयानीति चिन्हानि षडावश्यककारिणः ॥ २८
सामायिकं स्तवः प्राज्ञैर्वन्दना सप्रतिक्रिया । प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः षोढाऽऽवश्यकमीरितम् ॥ २९
द्रव्यतः क्षेत्रतः सम्यक्कालतो भावतो बुधैः । नामतो न्यासतो ज्ञात्वा प्रत्येकं तन्नियुज्यते ॥ ३०
जीविते मरणे योगे वियोगे विप्रिये प्रिये । शत्रौ मित्रे सुखे दुःखे साम्यं सामायिकं विदुः ॥ ३१
जिनानां जितजेयानामनन्तगुणभागिनाम् । स्तवेऽस्तावि गुणस्तोत्रं नामनिर्वचनं तथा ॥ ३२
कर्मारण्यहुताशानां पञ्चानां परमेष्ठिनाम् । प्रणतिर्वन्दनाऽवादि त्रिशुद्धया त्रिविधा बुधैः ॥ ३३
द्रव्यक्षेत्रादिसम्पन्नदोषजालविशोधनम् । निन्दागर्हाक्रियालीढं प्रतिक्रमणमुच्यते ॥ ३४
नामादीनामयोग्यानां षण्णां त्रेधा विवर्जनम् । प्रत्याख्यानं समाख्यातमागाम्यागोनिषिद्धये ॥ ३५
आवश्यकेषु सर्वेषु यथाकालमनाकुलः । कायोत्सर्गस्तनूत्सर्गः प्रशस्तध्यानवर्द्धकः ॥ ३६
ज्ञेयास्तत्रासनं स्थानं कालो मुद्रा तनूत्सृतिः । नामावर्तप्रमा दोषाः षडावश्यककारिभिः ॥ ३७
आस्यते स्थीयते यत्र येन वा वन्दनोद्यतैः । तदासनं विबोद्धव्य देशपद्मासनादिकम् ॥ ३८
संसक्तः प्रचुरच्छिद्रस्तृणपांश्वादिदूषित. । विक्षोभको हृषीकाणां रूपगन्धरसादिभिः ॥ ३९

दूसरोंकी निन्दाके सुननेका त्यागी हो, लोभ-रहित हो, आलस्य-रहित हो, निन्दा कर्म न करता हो, काल-क्रमका उल्लंघन करनेवाला न हो, उपशान्त चित्त हो और मार्दवगुणका धारक हो ये षट् आवश्यक करनेवालेके चिन्ह जानना चाहिए ॥२७–२८

ज्ञानी पुरुषोंने आवश्यक छह प्रकारके कहे हैं—सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ॥२॥ ये छहों ही प्रकारके आवश्यक नाम, स्थापना,द्रव्य,क्षेत्र, काल, और भाव की अपेक्षा छह-छह प्रकारके जानकर ज्ञानियोको करना चाहिए ॥२९-३०॥ १ सामायिक का स्वरूप—जीवनमे, मरणमे, संयोगमे, वियोगमे, प्रियमे, अप्रियमे, शत्रुमे, मित्रमे, सुखमे, और दु.खमे समता रखनेको सामायिक कहते है ॥३१॥ २ स्तवनका स्वरूप—जिन्होने जीतने योग्य कर्मोको जीत लिया हैं ऐसे अनन्त गुणशाली जिनेन्द्रदेवोके गुणोंकी स्तुति करना, तथा उनके नामोंकी निरुक्ति करना स्तवन कहलाता हैं ॥३२॥ ३ वंदनाका स्वरूप—कर्म रूपवनको जलानेके लिये अग्नि समान पाचों परमेष्ठियोको मन वचन कायकी शुद्धिसे नमस्कार करनेको ज्ञानियोने तीन प्रकारकी वन्दना कहा है ॥३३॥ ४ प्रतिक्रमणका स्वरूप—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिके निमित्तसे उत्पन्न हुए दोषोके पुजकी शुद्धि करना, निन्दा और गर्हारूप क्रियाके साथ अपनी आलोचना करना सो प्रतिक्रमण कहा गया है ॥३४॥ ५ प्रत्याख्यानका स्वरूप—धर्म साधनके अयोग्य नामादिक अर्थात् नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छहोका वचन कायसे त्याग करना प्रत्याख्यान कहा गया है । यह प्रत्याख्यान आगामी कालमें पापोके निषेधके लिए करना आवश्यक हैं ॥३५॥ ६ कायोत्सर्गका स्वरूप—सभी आवश्यक कर्मोमे यथा समय आकुलता-रहित होकर शरीरसे ममत्वका त्याग करना कायोत्सर्ग कहलाता है । यह आवश्यक प्रशस्तध्यानका वढाने वाला है ॥३६॥ उपर्युक्त छह आवश्यक करनेवालोंको उनके योग्य आसन, स्थान, काल, मुद्रा, कायोत्सर्ग, प्रणाम, आवर्त और प्रमाण दोप जानना चाहिए ॥३७॥

इनमेंसे सबसे पहले आसनका वर्णन करते है—वन्दना करनेके लिए उद्यत पुरुष जिस स्थानपर या जिसके द्वारा 'आस्यते' अर्थात् स्थिर होते हैं, वह देश (क्षेत्र) और पद्मासनादिक आसन जानना चाहिए ॥३८॥ अब आवश्यक करनेके अयोग्य क्षेत्रको कहते है—जो स्थान स्त्री-

परीषहकरो दंशशीतवातातपादिभि । असम्बद्धजनालाप. सावद्यारम्भगर्हित: ।. ४०
आर्द्रीभूतो मनोऽनिष्ट· समाधाननिषूदकः । योऽशिष्टजनसञ्चारः प्रदेशं तं विवर्जयेत् ।। ४१
विविक्त: प्रासुक· सेव्य समाधानविवर्धक: । देवर्जुदृष्टिसम्पातर्वाजतो देवदक्षिण· ।। ४२
जनसञ्चारनिर्मुक्तो ग्राह्यो देशो निराकुल: । नासन्नो नानिदूरस्थः सर्वोपद्रववर्जित: ।। ४३
स्थेयोऽच्छिद्र सुखस्पर्शं विशब्दकमजन्तुकम् । तृणकाष्ठादिक ग्राह्य विनयस्योपबृंहकम् ।। ४४
जङ्घाया जङ्घयाऽऽश्लेषे मध्यभागे प्रकीर्तितम् । पद्मासन सुखाधायि सुसाध्यं सकलैर्जनैः ।। ४५
बुधैरुपर्यधोभागे जघयोरुभयोरपि । समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यङ्कासनमासनम् ।। ४६
ऊर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति । वीरासनं चिरं कर्तुं शक्य धीरैर्न कातरै· ।। ४७
युतपार्ष्णिभवे योगे स्मृतमुत्कुटुकासनम् । गवासनं जिनैरुक्तमार्याणां यतिवन्दने ।। ४८
विनयासक्तचित्तानां कृतिकर्मविधायिनाम् । न कार्यव्यतिरेकेण परमासनमिष्यते ।। ४९

पुरुप-नपुसकादिसे संसक्त हो, जिस भूमि पर छेद या बिल अधिक हो,जो तृण धूलि आदिसे दूषित हो, रूप रस गन्ध आदिके द्वारा जो इन्द्रियोके विक्षोभको करे, डास, मच्छर, शीत, उष्णता और पवनादिके द्वारा परीषह उत्पन्न करे, अज्ञानी जनोके असबद्ध वचनालाप से युक्त हो, सावद्य और आरम्भसे निन्दा-योग्य हो, पानीसे या सीलनसे गीला हो,मनको अप्रिय या अनिष्टकारी हो, चित्तके समाधानका विनाशक हो और जहाँ पर अशिष्ट जनोका ससार हो, ऐसे आवश्यकोके अयोग्य प्रदेशको छोड देना चाहिए ।।३९-४१।। अब आवश्यक करनेके योग्य क्षेत्रको कहते है—जहाँ पर सर्वथा एकान्त हो, प्रासुक भूमि हो, साधर्मी व्रतीजनोके सेवन योग्य हो, चित्तमे समाधान बढाने वाला हो, देवकी सीधी दृष्टिके सपात रहित हो, देवके दक्षिण भागमे हो जन-संचारसे निर्मुक्त हो, आकुलता रहित हो, न अधिक समीप हो और न अधिक दूर हो और सर्व प्रकारके उपद्रवसे रहित हो । ऐसा स्थान आवश्यक करनेके लिए ग्रहण करनेके योग्य है ।।४२-४३।। आवश्यक करने-वाला जिस भूमि, काष्ठपट्ट या चटाई आदि पर बैठे वह स्थिर हो, छिद्र-रहित हो,सुख स्पर्शरूप हो, शब्द-रहित हो, जीव-रहित हो, विनयका बढाने वाला हो, ऐसे तृण, काठ, चटाई आदिको आवश्यक करनेके लिए ग्रहण योग्य कहा गया है ।।४४।। अब सामायिक आदि आवश्यक करनेके योग्य आसनका निरूपण करते है—जंघाका जघाके साथ समभागमे आश्लेषपूर्वक बैठनेको पद्मासन कहा गया है । यह सर्व जनोके द्वारा सुसाध्य है और सुखदायक है, अत इसे सुखासन भी कहते है ।।४५।। भावार्थ—दायिनी जाँघके नीचे बाये पैरका, तथा बायी जाँघके नीचे दाहिने पैरको रखकर बैठना पद्मासन या सुखासन है । दोनो ही जघाओमेसे एक जाँघके आधे भागमे और दूसरी जाँघके ऊर्ध्व भागमे करने पर बुधजनोंको पर्यंकासन नामका आसन जानना चाहिए । अर्थात् बायी जाँघके ऊपर दाये पैरको, अथवा दाहिनी जाँघके ऊपर बाये पैरको रखकर बैठना पर्यंकासन है ।।४६।।

दोनो जाँघोके ऊपर दोनों पैरोको रखकर बैठनेको वीरासन कहते है। यह वीरासन चिर काल तक वीर पुरुष ही माड सकते है, कायर पुरुष नही माड सकते है ।।४७।। दोनो एडियोको मिलाकर उकडू बैठनेको उत्कुटुकासन कहते है । गायके समान बैठनेको गवासन कहते है। साधुओकी वन्दनाके समय आर्यिकाओको गवासनसे वन्दना करनेका विधान जिनेन्द्रदेवने किया है ।।४८।। विनयमे जिनका चित्त आसक्त है, ऐसे कृतिकर्म करने वाले पुरुषोको आवश्यक कार्योके विना अन्य आसन करना नही कहा गया हैं । अर्थात् सामायिक आदिके समय पद्मासन आदिका

स्थीयते येन तत्स्थानं द्विप्रकारमुदाहृतम् । वन्दना क्रियते यस्मादूर्ध्वीभूयोपविश्य वा ॥ ५०
घटिकानां मतं षट्कं सन्ध्यानां त्रितयं जिनैः । कार्यस्यापेक्षया काल. पुनरन्यो निगद्यते ॥ ५१
जिनेन्द्रवन्दनायोगमुक्ताशुक्तिविभेदतः । चतुर्विधोदिता मुद्रा मुद्रामार्गविशारदैः । ५२
जिनमुद्राऽन्तरं कृत्वा पादयोश्चतुरंगुलम् । ऊर्ध्वं जान्वोरध. स्थानं प्रलम्बितभुजद्वयम् ॥ ५३
मुकुलीभूतमाधाय जठरोपरिकूर्परम् । स्थितस्य वन्दनामुद्रा करद्वन्द्वं निवेदिता ॥ ५४
जिनाः पद्मासनादीनामङ्कमध्ये निवेशनम् । उत्तानकरयुग्मस्य योगमुद्रां बभाषिरे ॥ ५५
मुक्ताशुक्तिर्मता मुद्रा जठरोपरिकूर्परम् । ऊर्ध्वजानोः करद्वन्द्वं संलग्नाङ्गुलि सूरिभि. ॥ ५६
त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता । उपविष्टोपविष्टादिविभेदेन चतुर्विधा ॥ ५७
आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते । उपविष्टोपविष्टाख्या कथ्यते सा तनूत्सृतिः ॥ ५८
धर्मशुक्लद्वय यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते । उपविष्टोत्थितां सन्तस्तां वदन्ति तनूत्सृतिम् ॥ ५९
आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते । उत्थितोपविशत्सञ्ज्ञां तां भाषन्ते विपश्चितः ॥ ६०
धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुत्थितेन विचिन्त्यते । उत्थितोत्थितनामानं तां वदन्ति मनीषिण. ॥ ६१

उपयोग करे और आवश्यकता होने पर अन्यका भी उपयोग करे ॥४९॥ अब आचार्य स्थानका वर्णन करते हैं—सामायिकादि आवश्यक करते समय जिस प्रकारसे अवस्थित रहे, उसे स्थान कहते हैं । वह दो प्रकारका कहा गया है, क्योकि वन्दना या तो खडे हो करके की जाती है,अथवा वैठकर की जाती है ॥५०॥ अब सामायिकादिके कालको कहते है—जिनेन्द्रदेवने तीनों ही सन्ध्याओंमे आवश्यक करनेका काल छह घडी कहा है । किन्तु कार्यकी अपेक्षा अन्य काल भी कहा है । भावार्थ—सामायिकादि आवश्यक तीनो सन्ध्याओंमे किये जाते है और उनका उत्कृष्ट काल छह घडी हैं । शक्तिके अभावमे, अथवा अन्य आवश्यक कार्यके आ जाने परचार घडीका मध्यमकाल और दो घडीका जघन्यकाल भी कहा गया हैं ॥५१॥ अब आचार्य मुद्राके भेद कहते है—जिनेन्द्र मुद्रा, वन्दनामुद्रा, योगमुद्रा और मुक्ताशुक्तिमुद्राके भेदसे मुद्रा मार्गके विशारदोंने चार प्रकारकी मुद्रा कही हैं ॥५२॥

अब आगे मुद्राओंका स्वरूप कहते है—दोनों पैरोंमें चार अंगुल प्रमाण अन्तर रखकर और दोनों भुजाओको नीचे लटका कर सीधी जंघाएँ रखते हुए कायोत्सर्गरूपसे खडे होनेको जिनमुद्रा कहते हैं ॥५३॥ दोनो हाथोंको मुकुलित कर और उनकी कोहिनियोको पेटके ऊपर रख कर खडे हुए पुरुषके वन्दना मुद्रा कही गई है ॥५४॥ पद्मासन, पर्यंकासन और वीरासनसे वैठनेके समय आसनोंकी गोदमे नाभिके समीप दोनो हाथोंकी हथेलियोंको चित्त रखनेको जिनेन्द्रदेव योगमुद्रा कहते है ॥५५॥ दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको मिला कर दोनो कुहनियोंको पेट पर रखकर खडे हुए पुरुषके आचार्योंने मुक्ताशुक्तिमुद्रा कही है ॥५६॥ अब कायोत्सर्गका वर्णन करते है—शरीर-से ममत्व भावके त्यागको कायोत्सर्ग कहा गया है । वह उपविष्टोपविष्ट आदिके भेदसे चार प्रकार का है ॥५७॥ जिस कायोत्सर्गमे आर्त्त और रौद्र ये दोनो अप्रशस्त ध्यान वैठ करके चिन्तवन किये जाते है, वह उपविष्टोपविष्ट नामका कायोत्सर्ग कहा जाता हैं ॥५८॥ जिस कायोत्सर्गमे वैठकर धर्म और शुक्ल ये दो प्रशस्त ध्यान चिन्तवन किये जाते है, उसे सन्त पुरुष उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग कहते है ॥५९॥ जिस कायोत्सर्गमे आर्त्त और रौद्र ये दो अप्रशस्त ध्यान खडे होकर चिन्तवन किये जाते है, उसे महाबुद्धिशाली पुरुप उत्थितोपविष्टनामका कायोत्सर्ग कहते हैं ॥६०॥ जिस कायोत्सर्गमें धर्म और शुक्ल ये दो प्रशस्त ध्यान खडे हो करके चिन्तवन किये जाते है, उसे

एकद्वित्रिचतु पञ्चदेहांशप्रणतेर्मतः । प्रणामः पञ्चधा देवैः पादानतनरामरैः ॥ ६२
एकाङ्गः शिरसो नामे स द्व्यङ्गः करयोर्द्वयोः । त्रयाणां मूर्द्धहस्तानां स त्र्यङ्गो नमने मतः ॥६३
चतुर्णां करजानूनां नमने चातुरंगकः । करमस्तकजानूनां पञ्चाङ्गः पञ्चके नते ॥ ६४
कथिता द्वादशावर्ता वपुर्वचनचेतसाम् । स्तवसामायिकाद्यन्तपरावर्तनलक्षण. ॥ ६५
अष्टाविंशतिसंख्याना. कायोत्सर्गा मता जिनै· । अहोरात्रगताः सर्वे षडावश्यककारिणाम् ॥ ६६
स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञैर्वन्दनायां षडीरिता । अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ ॥ ६७
अष्टोत्तरशतोच्छ्वास कायोत्सर्ग. प्रतिक्रमे । सान्ध्ये प्राभातिके चार्धमन्यस्तत्सप्तविंशतिः ॥६८

[illegible] उत्थितोत्थित नामका कायोत्सर्ग कहते है ॥६१॥ अब प्रणामका वर्णन करते हे—जिनके चरणोंमे मनुष्य और देवगण नमस्कार करते है ऐसे जिनेन्द्रदेवोने एक दो तीन चार और पाँच अंगोंके नमनसे प्रणाम पाँच प्रकारका कहा है ॥६२॥ एक शिरके नमानेको एकाङ्ग नमस्कार कहते है। दोनों हाथोंको जोडकर नमस्कार करनेको द्वयाङ्ग नमस्कार कहते है। एक शिर और दोनों हाथोको जोडकर नमन करनेको त्र्याङ्ग नमस्कार माना गया है। दोनो हाथो और दोनों जांघोंको नमा करके नमस्कार करनेपर चतुरङ्ग नमस्कार होता है। तथा दोनों हाथ, दोनो जाँघे और मस्तक इन पांचों अंगोंको नमा करके नमस्कार करनेपर पञ्चाङ्ग नमस्कार कहा गया है ॥६३–६४॥ अब आवर्तोका वर्णन करते है—स्तवन और सामायिकके आदिमें और अन्तमे काय, वचन और मनरूप तीन योगोंके परिवर्तन स्वरूप बारह आवर्त्त कहे गये है ॥६५॥

विशेषार्थ—मन वचन कायके परिवर्तन करनेको आवर्त्त कहते है। तीनो योगोंका परिवर्तन चार बार किया जाता है, अत. (३×४=१२) बारह आवर्त्त हो जाते है। जैसे 'णमो अरहताण' इत्यादि सामायिक दण्डकके पहले क्रिया विज्ञापनरूप मनोविकल्प होता है, उस मनोविकल्पको छोड-कर सामायिक दण्डकके उच्चारणमे मनको लगाना मन परावर्तन है। उसी सामायिक दण्डकके पूर्व भूमि स्पर्श करते हुए नमस्कार किया जाता है, उस समय वन्दनामुद्रा की जाती है, उस वन्दना-मुद्राको त्यागकर पुन. खडे होकर मुक्त-शुक्ति मुद्रारूप दोनो हाथोको करके तीन बार घुमाना सो काय-परावर्तन है। 'चैत्यभक्तिकायोत्सर्ग करोमि' इत्यादि पाठको छोडकर 'णमो अरहताण' इत्यादि पाठका उच्चारण करना वाक्परावर्तन है। इस प्रकार सामायिक दण्डकके आदिमे मन वचन और काय परावर्तनरूप तीन आवर्त होते है। इसी प्रकार सामायिक दण्डकके अन्तमे भी तीन आवर्त होते है। इस प्रकार सामायिक दण्डकके आदि अन्तके छह आवर्त और स्तव दण्डकके आदि अन्तके छह आवर्त होते है। दोनोके मिलाकर बारह आवर्त हो जाते है। ये बारह आवर्त एक कायोत्सर्गमे होते है। कुछ लोग बारह आवर्तोका इस प्रकार कथन करते है—सामायिक करनेके पूर्व मन वचन कायकी शुद्धि स्वरूप तीन बार हस्त-सम्पुटको घुमाकर नमस्कार करनेको एक दिशा सम्बन्धी तीन आवर्त कहते है। इस प्रकार चारो दिशाओके बारह आवर्त हो जाते है। अब कायोत्सर्गकी संख्या और उनके करनेका विचार करते है—छहो आवश्यक करनेवालोके दिन और रात्रि सम्बन्धी सर्व कायोत्सर्ग जिनदेवोने अट्ठाईस कहे है ॥६६॥ यथा—स्वाध्याय करनेमे बारह, और वन्दनामें छह कायोत्सर्ग ज्ञानियोंने कहे है। प्रतिक्रमण करते समय आठ और योगभक्ति करते समय दो कायोत्सर्ग कहे गये हें ॥६७॥ अब विभिन्न ससयोमे किये जानेवाले कायोत्सर्गोका काल-प्रमाण बतलाते है—सन्ध्या अर्थात् सायंकाल-सम्बन्धी प्रतिक्रमण करते समय एकसौ आठ श्वासोच्छ्वासवाला कायोत्सर्ग किया जाता है। प्रभातकाल-सम्बन्धी प्रतिक्रमणमे उससे आधा

सप्तविंशतिरुच्छ्वासा· संसारोन्मूलनक्षमे । सन्ति पञ्चनमस्कारे नवधा चिन्तिते सति ॥ ६९
प्रतिक्रमद्वयं प्राज्ञैः स्वाध्यायानां चतुष्टयम् । वन्दनात्रितयं योगभक्तिद्वितयमिष्यते ॥ ७०
उत्कृष्टश्रावकेणैते विधातव्याः प्रयत्नतः । अन्यैरेते यथाशक्ति संसारान्तं यियासुभिः ॥ ७१
इच्छाकारं समाचारं संयमासंयमस्थित । विशुद्धवृत्तिभिः सार्धं विदधाति प्रियवद. ॥ ७२
वैराग्यस्य परां भूमिं संयमस्य निकेतनम् । उत्कृष्ट· कारयत्येष मुण्डनं तुण्डमुण्डयो. ॥ ७३
केवलं वा सवस्त्रं वा कौपीनं स्वीकरोत्यसौ । एकस्थानान्नपानीयो निन्दागर्हापरायणः ॥ ७४
स धर्मलाभशब्देन प्रतिवेश्म सुधोपमाम् । सपात्रो याचते भिक्षां जरामरणसूदनीम् ॥ ७५
समस्तादरनिर्मुक्तो मदाष्टकवशीकृत· । प्रतीक्ष्यपीडनाकारी कूर्चमूर्द्धजकुंचकः ॥ ७६

अर्थात् चौपन श्वासोच्छ्वासला कायोत्सर्ग कहा गया है । अन्य सर्व कायोत्सर्ग सत्ताईस श्वासोच्छ्वास-काल प्रमाण कहे गये है ॥६८॥ संसारके उन्मूलनमे समर्थ पचनमस्कार मंत्रके नौ वार चिन्तवन करनेपर सत्ताईस श्वासोच्छ्वास माने जाते है ॥६९.। विशेषार्थ—एक वार नमस्कारमत्रको तीन श्वासोच्छ्वासोंमे बोलना या मनमे उच्चारण करना चाहिए। बाहरसे भीतरकी ओर वायुके खीचनेको श्वास कहते हैं। भीतरकी ओर से बाहर वायुके निकालनेको उच्छ्वास कहते है। इन दोनोके समूहको श्वासोच्छ्वास कहते है । श्वास लेते समय 'णमो अरहंताण' पद और श्वास छोडते समय 'णमो सिद्धाण' पद बोले । पुन· श्वास लेते समय 'णमो आयरीयाणं' और श्वास छोडते समय 'णमो उवज्झायाणं' पद बोले । पुन. पंचम पदके आधे भागको श्वास लेते समय और शेष आधे भागको श्वास छोडते समय बोले । अर्थात् 'णमो लोए' श्वास लेते समय और 'सव्वसाहूण' श्वास छोडते समय बोलना चाहिए । इस प्रकार एक पचनमस्कार मत्रका उच्चारण तीन श्वासोच्छ्वासमे करना चाहिए। इस विधिसे नौ वार णमोकारमंत्रके उच्चारणके चिन्तवनमे सत्ताईस श्वासोच्छ्वास प्रमाण कालका एक जघन्य कायोत्सर्ग होता है । मध्यम कायोत्सर्गका काल चौपन श्वासोच्छ्वास प्रमाण और उत्कृष्ट कायोत्सर्गका काल एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण कहा गया है। श्रावकोंको प्रतिदिन दो वार प्रतिक्रमण, चार वार स्वाध्याय, तीन बार वन्दना और दो वार योगभक्ति करना चाहिए, ऐसा ज्ञानियोने कहा है ॥७०॥ उत्कृष्ट श्रावकको ये सर्व कार्य प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए। और संसारके पार जानेके इच्छुक अन्य पुरुषोंको उन्हे यथा शक्ति करना चाहिए ॥७१॥

संयमासंयम (देश चारित्र) की स्थितिवाले प्रियभाषी श्रावक विशुद्ध वृत्तिवाले श्रावकोके साथ इच्छाकार समाचारको करते है ॥७२॥ ग्यारहवी प्रतिमाधारक उत्कृष्ट श्रावक वैराग्यकी परम भूमिरूप, तथा सयमके गृहस्वरूप शिर और दाढीके मुडनको कराता है ॥७३॥ वह केवल कौपीन (लंगोटी) अथवा वस्त्र-सहित कौपीनको स्वीकार करता हैं। अर्थात् ऐलक एक कौपीन रखते है और क्षुल्लक कौपीन और एक वस्त्र रखते हैं। ये उत्कृष्ट श्रावक एक स्थान पर ही अन्न-पानको ग्रहण करते है और अपनी निन्दा और गर्हामे तत्पर रहते है ॥७४॥ वे पात्र-(भाजन) सहित श्रावकके प्रति घर जाकर अमृतके समान जरा-मरणका नाश करनेवाली भिक्षाको 'धर्म लाभ हो', एसा कहकर याचना करते है ॥७५॥ यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि ऐलक न तो भोजन-पात्र ही रखते हैं और न घर-घर जाकर भिक्षा-याचना ही करते है । श्लोक-कथित विधि क्षुल्लकके लिए हैं। अब वन्दनाके बत्तीस दोषोका वर्णन करते है—समस्त प्रकारके आदरमे रहित होकर वन्दना करना अनादरदोप है १। जातिकुलादि आठ मदोमेंसे किसी भी मदके वशीभूत

चलयन्नखिल कायं दोलारूढ इवामितः । अग्रतः पार्श्वतः पश्चाद्रिङ्खन् कूर्म इवाभित ॥ ७७
करटीवांकुशारूढः कुर्वन्मूर्द्धनतोन्नतिम् । क्षिप्रं मत्स्य इवोत्पत्य' परेषां निपतन् पुरः ॥ ७८
कुर्वन् वृक्षोभुजद्वन्द्व विज्ञप्ति द्राविडीमिव । पूज्यात्मासादनाकारी गुर्वादिजनभीषित ॥ ७९
भयसप्तकवित्रस्त परिवारर्द्धिगर्वित । समाजतो बहिर्भूय किञ्चिल्लज्जाकुलाशय ॥ ८०॥
प्रतिकूलो गुरोर्भूत्वा कुर्वाणो जल्पनादिकम् । कस्यचिदुपरि क्रुद्धस्तस्याकृत्वा क्षमां त्रिधा ॥ ८१
ज्ञास्यते वन्दनां कृत्वा भ्रमयंस्तर्जनीमिति । हसनोद्धट्टने कुर्वन् भ्रुकुटीकुटिलालकः ॥ ८२
निकटीभूय गुर्वादेराचार्यादिनिरीक्षित । करदान गणैर्मत्वा हृत्वा दृष्टिपथं गुरो ॥ ८३
लब्ध्वोपकरणादीनि तेषां लाभाशयाऽपि च । असम्पूर्णविधानेन सूत्रोदितपिधायकम् ॥ ८४
कुर्वन्मूक इवात्यर्थं हुकारादिपुरस्सरम् । वन्दारूणां स्वशब्देन परेषां छादयन् ध्वनिम् ॥ ८५

होकर वन्दना करना स्तब्ध दोष हैं २। वन्दनीय जनको देखकर अगोके दाबनेको पीडित दोष कहते है ३। वन्दनाके समय शिर मूछ-दाढीके केशोको मरोडना कुचित दोष है ४। वन्दनाके समय झूलामे बैठे हुएके समान सर्व ओरसे सारे शरीरको चलाना दोलायित दोष है ५। कछुएके समान आगेसे, पीछेसे, बाजूसे—चारों ओरसे अगोंका सकोच-विस्तार करना कच्छप-रिंगित दोष है ६। हाथके अगूठेको मस्तक पर अकुशके समान रखकर हाथीके समान शिरको ऊँचा-नीचा करना अकुशित दोष है ७। मच्छके समान शीघ्र उछलकर दूसरे वन्दना करनेवालोके आगे पडना अथवा मछलीके समान तडफडाते हुए वन्दना करना मत्स्योद्वर्तन दोष है । ८। द्रविड देशके पुरुषकी विनतीके समान वक्षस्थल पर दोनो हाथोको करके वन्दना करना द्राविडी विज्ञप्ति दोष हैं ९। पूज्य पुरुषोकी अवज्ञा करते हुए वन्दना करना आसादना दोष है १०। गुरु आदिके भयसे वन्दना करना विभीत दोष है ११। इहलोक भय परलोकभय आदि सात भयोसे डरते हुए वन्दना करना भय दोष है १२। अपने कुटुम्ब-परिवारकी ऋद्धिके गर्वसे युक्त होकर वन्दना करना ऋद्धि गौरव दोष है १३। सांधर्मी समाजसे बाहर होकर कुछ लज्जाकुलित चित्त होकर वन्दना करना लज्जित दोष है १४। गुरुके प्रतिकूल होकर वन्दना करना प्रतिकूल दोष है १५। वचनालाप करते हुए वन्दना करना शब्ददोष है १६। किसीके ऊपर क्रोधित होकर तथा उससे मन वचन काय द्वारा क्षमा न माँग कर वन्दना प्रदुष्ट दोष है १७। कोई जान ले कि मैने वन्दना की है इस अभिप्रायसे तर्जनीको घुमाते हुए वन्दना करना मनोदुष्ट दोष है १८। हँसते और अगोको घिसते हुए वन्दना करना हसनोद्घट्टन दोष है १९। भृकुटीको टेडी करते हुए वन्दना करना भृकुटी कुटिलदोष हे २०। गुरु आदिके अति निकट जाकर वन्दना करना प्रविष्ट दोष है २१। आचार्य आदिकके द्वारा देखने पर तो सम्यक् प्रकारसे वन्दना करना, अन्यथा यद्वा तद्वा वन्दना करना दृष्ट दोष है २२। संघमे कर दान मानकर वन्दना करना करमोचन दोष है २३। गुरुकी दृष्टि बचाकर वन्दना करना अदृष्ट दोष हैं २४। उपकरण आदि प्राप्तकर वन्दना करना आलब्ध दोष है २५। उपकरण आदिके पानेकी इच्छासे वन्दना करना अनालब्ध दोष है २६। काल, शब्द आदिकी पूरी विधि न करके अधूरी वन्दना करना हीन दोष है २७। सूत्र-कथित अर्थको ढककर वन्दना करना पिधायक दोष है २८। गूगेके समान अत्यधिक हुंकारादि करते हुए वन्दना करना मूकदोष है २९। अन्य वन्दना करनेवालोके शब्दको अपने उच्चस्वरसे बोले गये शब्दोमे ढकते हुए वन्दना करना दुर्दुरदोष हैं ३०। गुरु आदिके विलकुल आगे खडे होकर वन्दना करना अगदोष है

---

१. मु. 'इवोत्प्लुत्य' पाठ

गुर्वादेरग्रतो भूत्वा मूर्द्धोपरिकरभ्रमी । द्वात्रिंशदिति मोक्तव्या दोषा वन्दनकारिणाम् ॥ ८६
क्रियमाणा प्रयत्नेन क्षिप्रं कृषिरिवेप्सितम् । निराकृतमला दत्ते वन्दना फलमुल्बणम् ॥ ८७
स्तब्धीकृतैकपादस्य स्थानमश्वपतेरिव । चलनं वातधूताया लताया इव सर्वतः ॥ ८८
श्रयणं स्तम्भकुड्यादेः पट्टिकाद्युपरि स्थितिः । मालमालम्बनं कृत्वा शिरसाऽवस्थितिः कृता ॥ ८९
निगडेनेव बद्धस्य विकटाङ्घ्रेरवस्थितिः । कराभ्यां जघनाच्छादः किरातयुवतेरिव ॥ ९०
शिरसो नमनं कृत्वा विधायोन्नमनं स्थितिः । उन्नमय्य स्थितिर्वक्षः शिशोर्धात्र्या इव स्तनम् ॥ ९१
काकस्येव चलाक्षस्य सर्वतः पार्श्ववीक्षणम् । ऊर्ध्वाधःकम्पनं मूर्ध्नः खलीनार्तहरेरिव ॥ ९२
स्कन्धारूढगजस्येव कृतग्रीवानतोन्नती । सकपित्थकरस्येव मुष्टिबन्धनकारिणः ॥ ९३
कुर्वतः शिरसः कम्पं मूकसञ्ज्ञाविधायिनः । अङ्गुलीगणनादीनि भ्रूनृत्यादिविकल्पनम् ॥ ९४
मदिराकुलितस्येव घूर्णनं दिगवेक्षणम् । ग्रीवोर्ध्वनयनं भूरि ग्रीवाधोनयनादिकम् ॥ ९५

३१। वन्दना करते हुए अन्त भागको जल्दी-जल्दी वोलकर, या क्रम भूल जाने पर मध्यके भागको छोडकर अन्तिम भागको वोलते हुए वन्दना करना उत्तरचूलिक दोष है ३२। वन्दना करनेवालोंको ये वत्तीस दोष छोडना चाहिए। क्योंकि प्रयत्न पूर्वक दोषरहित की गई वन्दना खेतीके समान शीघ्र ही अभीष्ट उत्तम फलको देती है ॥७६-८७॥

अव कायोत्सर्गके वत्तीस दोष कहते है-घोडेके समान एक पाँव उठाकर कायोत्सर्ग करना घोटक दोप है १। वायुसे कम्पित लताके समान शरीरके ऊपरी भागको सर्व ओर घुमाते हुए कायोत्सर्ग करना लता दोष है २। स्तम्भ भित्ति आदिका आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करना स्तम्भकुडय दोष है ३। पाटे आदिके ऊपर खडे होकर कायोत्सुर्ग करना पट्टिकादोप है ४। शिरसे मालाका आलवन लेकर खडे रहना मालादोष हैं ५। वेडीसे वधे हुए पुरुषके समान टेढे पैर रखकर कायोत्सर्ग करना निगडदोप हैं ६। दोनो हाथोसे भीलनीके समान जघन भागको ढंककर खडे हो कायोत्सर्ग करना किरात युवति दोष है ७। शिरको वहुत नीचे झुकाकर कायोत्सर्ग करना शिरोनमन दोप हैं ८। शिरको वहुत ऊँचा उठा कर कायोत्सर्ग करना उन्नमन दोप है ९। जैसे धाय वालकको दूध पिलानेके लिए अपने स्तनको ऊँचा उठाती है, उसी प्रकार अपने वक्षःस्थल ऊँचा उठाकर कायोत्सर्ग करना धात्री दोप है १०। काकके समान चंचल नेत्रके द्वारा सर्व ओर पार्श्वभागमें देखते हुए कायोत्सर्ग करना वायस दोप है ११। खलीन (लगाम) से पीडित घोडेके समान शिरको कभी ऊँचे और कभी नीचे कँपाते हुए कायोत्सर्ग करना खलीन दोप है १२। जिसके कंधे पर महावत वैठा है, ऐसे हाथीके समान ग्रीवाको ऊँची नीची करते हुए कायोत्सर्ग करना गज दोप है। किसी किसी प्रतिमें गजके स्थान पर 'युग' पाठ पाया जाता हैं। तदनुसार जिसके कंधे पर रथका जूवा रखा हुआ है, उस गजके समान ग्रीवाको ऊँचे नीचे करते हुए कायोत्सर्ग करनेको युगदोप जानना चाहिए १३। हाथमें कपित्थ (कैंथा) लिये हुएके समान मुट्ठी बांधकर कायोत्सर्ग करना कपित्थ दोप है १४। शिरको कँपाते हुए कायोत्सर्ग करना शिरःकम्पित दोप है १५। गूंगे पुरुषके समान अंगोंसे सकेत करते हुए कायोत्सर्ग करना मूकदोप है १६। अंगुली गिनते हुए कायोत्सर्ग करना अंगुलीदोप है १७। भ्रकुटी नचाते हुए कायोत्सर्ग करना भ्रूदोष है १८। मदिरा पानसे व्याकुल पुरुषके समान घूमते हुए कायोत्सर्ग करना मदिरापायी दोप है १९। दिशाओंको देखते हुए कायोत्सर्ग करना दिगवेक्षण दोप हैं २०। ग्रीवाको अधिक ऊँची करके कायोत्सर्ग करना ग्रीवोर्ध्वनयन दोप है २१। ग्रीवाको अधिक नीची करके

निष्ठीवनं वपुस्पर्शः प्रपञ्चबहुला स्थितिः । सूत्रोदितविधेर्न्यूनं वयोपेक्षादिवर्जनम् ।। ९६
कालापेक्षाव्यतिक्रान्तिर्व्याक्षेपासक्तचित्तता । लोभाकुलितचित्तत्वं पापकार्योद्यमः परः ।। ९७
कृत्याकृत्यविमूढत्वं द्वात्रिंशदिति सर्वथा । कायोत्सर्गविधेर्दोषास्त्याज्या निर्जरणार्थिभिः ।। ९८
समाहितमनोवृत्तिः कृतद्रव्यादिशोधनः । विविक्तं स्थानमासाद्य[1] कृतेर्यापथशोधनः ।। ९९
गुर्वादिवन्दनां कृत्वा पर्यङ्कासनमास्थितः । विधाय वन्दनामुद्रां सामान्योक्तनमस्कृतिः ।। १००
ऊर्ध्वः सामायिकं स्तोत्रं स मुक्ताशुक्तिमुद्रकः । पठित्वाऽऽवर्तितावर्तो विदधाति तनूत्सृतिम् ।। १०१
कृत्वा जैनेश्वरीं मुद्रां ध्यात्वा पञ्चनमस्कृतिम् । उक्त्वा तीर्थंकरस्तोत्रमुपविश्य यथोचितम् ।। १०२
चैत्यभक्ति समुच्चार्य भूयः कृत्वा तनूत्सृतिम । उक्त्वा पंचगुरुस्तोत्र कृत्वा ध्यानं यथाबलम् ।।१०३
विधाय वन्दनां सूरेः कृतिकर्मपुरस्सराम् । गृहीत्वा नियमं शक्त्या विधत्ते साधुवन्दनाम् ।। १०४
आवश्यकमिदं प्रोक्तं नित्य व्रतविधायिनाम् । नैमित्तिकं पुनः कार्यं यथागममतन्द्रितैः ।। १०५
येन केन च सम्पन्नं कालुष्यं दैवयोगतः । क्षमयित्वैव तं त्रेधा कर्त्तव्याऽवश्यकक्रिया ।। १०६

कायोत्सर्ग करना ग्रीवाधोनयन दोष है २२। कायोत्सर्ग करते समय थूकना निष्ठीवन दोष है २३। कायोत्सर्ग करते समय शरीरके अगोका स्पर्श करना वपूस्पर्शनदोष है २४। छल-प्रपचके भावोंके साथ कायोत्सर्ग करना पपचबहुलदोष है २५। आगमोक्त विधिसे हीन कायोत्सर्ग करना विधिन्यून दोष हैं २६। अपनी आयुकी अपेक्षा न करके मात्रासे अधिक कायोत्सर्ग करना वयोपेक्षादिवर्जन दोष है २७। कायोत्सर्गके कालकी अपेक्षाका उल्लघन कर कायोत्सर्ग करना कालापेक्षव्यतिक्रान्तिदोष है २८। मनके क्षोभ कारक कार्योमे चित्त लगाते हुए कायोत्सर्ग करना व्याक्षेपासक्त चित्त दोष है २९। लोभसे आकुलित चित्त होकर कायोत्सर्ग करना लोभाकुलित दोष है ३०। पाप कार्यंमे उद्यमशील होते हुए कायोत्सर्ग करना पाप कार्योद्यम दोष है ३१। कर्त्तव्य-अकर्तव्यके ज्ञानसे रहित पुरुषका कायोत्सर्ग करना मूढदोष हैं ३२। कर्मनिर्जरा करनेके इच्छुक मुमुक्षु जनोको कायोत्सर्ग विधिके ये बत्तीस दोष सर्वथा त्यागने योग्य है ।।८८-८९।।

जिसकी चित्तवृत्ति समाधानको प्राप्त है और जिसने द्रव्य क्षेत्रादिकी भली-भाँतिसे शुद्धि की है, ऐसा श्रावक एकान्त स्थानको प्राप्त होकर और ईर्यापथ शुद्धि करके गुरु आदिकी वन्दना करके पर्यंकासनसे बैठकर वन्दनामुद्रा करके सामान्य रीतिसे नमस्कारमंत्र पढ पच परमेष्ठियोको नमस्कार करे। पुन खडा होकर सामायिकस्तोत्र पढकर मुद्राशुक्तिमुद्रा धारण करके आवर्त क्रिया कर कायोत्सर्ग करे। पुन जैनेश्वरी मुद्रा धारण कर पञ्चनमस्कारमंत्रका ध्यानकर और तीर्थङ्करस्तोत्रको पढकर यथोचित आसनसे बैठकर, चैत्यभक्तिका उच्चारण कर पुन कायोत्सर्ग करके और फिर भी कायोत्सर्ग करके पचपरमेष्ठिस्तोत्र पढकर और अपने बलके अनुसार ध्यान करके कृतिकर्म पूर्वक आचार्यकी वन्दना करके और अपनी शक्तिके अनुसार भोग-उपभोगका नियम करके अन्तमें साधु-वन्दना करे। यह आवश्यक नित्य प्रति व्रतधारी श्रावकको के लिए कहा गया है। तथा नैमित्तिक आवश्यक भी आगमानुसार आलस्यरहित होकर करना चाहिए ।।९९-१०५।। दैवयोगसे जिस किसी भी पुरुषके द्वारा जिस किसी भी निमित्तसे चित्तमे कलुषता उत्पन्न हो जाय, तो उसे मन वचन कायसे क्षमा करा करके ही आवश्यक क्रिया करनी चाहिए ।।१०६।। जो मूढ पाक्षिक या चातुर्मासिक क्रियाको क्षमा-याचना किये विना ही करता है, वह उसके

---

१. मु. 'मास्थाय' पाठः ।

क्रियां पक्षोद्भवां मूढश्चतुर्मासभवां च यः। विधत्तेऽक्षमयित्वाऽसौ न तस्याः फलमश्नुते ॥ १०७

देवनराद्यैः कृतमुपसर्गं वन्दनकारी सहति समस्तम्।
कम्पनमुक्तो गिरिरिव धीरो दुष्कृतकर्मक्षपणमवेक्ष्य ॥ १०८
इत्थमदोष सततमनूनं निर्मलचित्तो रचयति नूनम्।
यः कृतिकर्माभितगतिदृष्ट याति स नित्यं पदमनदृष्टम ॥ १०९
इत्यमितगत्याचार्यप्रणीते श्रावकाचारे अष्टमः परिच्छेदः।

नवमः परिच्छेदः

दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः। श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ॥ १
दानं वितरता दात्रा देयं पात्रं विधिर्मतिः। फलैषिणाऽवबोध्यानि धीमता पञ्च तत्त्वतः ॥ २
भाक्तिकं तौष्टिक श्राद्ध सविज्ञानमलोलुपम्। सात्त्विकं क्षमकं सन्तो दातार सप्तधा विदुः ॥ ३
यो धर्मधारिणां दत्ते स्वयं सेवापरायण। निरालस्योऽशठ.। शान्तो भाक्तिकः स मतो बुधैः ॥ ४
तुष्टिर्दत्तवतो यस्य ददतश्च प्रवर्तते। देयासक्तमतेः शुद्धास्तमाहुस्तौष्टिकं जिनाः ॥ ५
साधुभ्यो ददता दानं लभ्यते फलमीप्सितम्। यस्यैवा जायते श्रद्धा नित्य श्राद्धं वदन्ति तम् ॥ ६
द्रव्यं क्षेत्रं सुधीः कालं भावं सम्यग्विचिन्त्य य। साधुभ्यो ददते दान सविज्ञानमिमं विदुः ॥ ७

फलको नही पाता हैं ॥१०७॥ वन्दनादि आवश्यक करनेवाला पुरुष देव, मनुष्यादिके द्वारा किये गये सभी उपसर्गको अपने द्वारा किये गये खोटे कर्मोका क्षय देखकर कम्पन-रहित पर्वतके समान धीर-वीर होकर सहन करता है ॥१०८॥ इस प्रकार जो निर्मल चित्त होकर कृतिकर्मको करके नित्य सम्पूर्ण विधि पूर्वक निर्दोष वन्दनादि आवश्यक कर्म करता हैं, वह अमित ज्ञानियोके द्वारा देखे गये और हमारे अदृष्ट ऐसे नित्य मोक्ष पदको प्राप्त करता हैं ॥१०९॥

इस प्रकार अमितगति विरचित श्रावकाचारमे आठवा परिच्छेद समाप्त हुआ।

जिनदेवने दान पूजा शील और उपवास यह चार प्रकारका धर्म श्रावकोके ससार-कान्तार-को जलानेके लिए अग्निके समान कहा है ॥१॥ दानको देनेवाले और उसके फलको चाहनेवाले बुद्धिमान् श्रावकको दाता, दानयोग्य वस्तु, पात्र, विधि और बुद्धि ये पाँच बाते यथार्थरीतिसे जानना चाहिए ॥२॥ सर्व प्रथम दाताका स्वरूप कहते है—सन्त पुरुषोने दाताको भक्तिमान्, सन्तोषी, श्रद्धा युक्त, दान देनेके ज्ञानसे सहित, लोलुपता रहित, सात्त्विक और क्षमाशील इन सात गुणोवाला कहा है ॥६॥ जो बुद्धिमान् श्रावक आलस्यरहित और शान्त है तथा धर्म धारकोकी सेवामे स्वयं ही तत्पर रहता है, उसे ज्ञानीजनोने भक्ति गुणसे युक्त दाता कहा है ॥४॥ जिसके चित्तमें पहले दिये गये दानमे और अभी वर्तमानमें दिये जानेवाले दानमें सन्तोष है और देय वस्तुमें जिसकी बुद्धि लोभ-रहित है ऐसे दातारको वीतरागी जिनदेवोने सन्तोष गुणसे युक्त दाता कहा हैं ॥५॥ साधुओ को दान देनेवाला सदा ही अभीष्ट फल पाता हैं ऐसी दृढ श्रद्धा जिसके हृदयमे नित्य रहती है, उस श्रावकको श्रद्धागुणसे युक्त दाता कहते हे ॥६॥ जो बुद्धिमान् श्रावक द्रव्य क्षत्र काल भावका भली भाँतिसे विचार करके साधुओके लिए दान देता है, उसे विज्ञान गुण-युक्त दाता कहते हैं ॥७॥

त्रिधाऽपि याचते किंचिद्यो न सांसारिक फलम् । ददानो योगिनां दानं भाषन्ते तमलोलुपम् ॥ ८
स्वल्पवित्तोऽपि यो दत्ते भक्तिभारवशीकृतः । स्वाढ्याश्चर्यंकरं दानं सात्त्विकं त प्रचक्षते ॥ ९
कालुष्यकारणे जाते दुर्निवारे महीयसि । यो न कुप्यति केभ्योऽपि क्षमक कथयन्ति तम् ॥ १०
सर्वैरलंकृतो वर्यो जघन्यो वर्जितो गुणैः । मध्यमोऽनेकधाऽवाचि दाता दानविचक्षणै ॥ ११
विनीतो धार्मिकः सेव्यस्तत्कालक्रमवेदक । जिनेशशासनाभिज्ञो भोगनि स्पृहमानस ॥ १२
दयालु सर्वजीवानां रागद्वेषादिवर्जित । संसारासारतावेदी समदर्शी महोद्यम ॥ १३
परीषहसहो धीरो निर्जिताक्षो विमत्सरः । [1]'परात्मसमयाभिज्ञ' प्रियवादी निरुत्सुक ॥ १४
वासितो व्रतिनां पूतैः परासाधारणैर्गुणैः । लोकलोकोत्तराचारविचारी सङ्घवत्सल ॥ १५
आस्तिक्यो निरहङ्कारो वैयावृत्यपरायणः । सम्यक्त्वालङ्कृतो दाता जायते भुवनोत्तमः ॥ १६
आत्मीयं मन्यते द्रव्य यो दत्तं व्रतवर्तिनाम् । शेषं पुत्रकलत्राद्यैस्तस्करैरिव लुण्ठितम् ॥ १७
यो लोकद्वितये सौख्यं कुर्वते मम साधवः । बान्धवा दारुणं दु खमिति पश्यति चेतसा ॥ १८
योऽत्रैव स्थावरं वेत्ति गृहकार्ये नियोजितम् । सहगामि पर वित्तं धर्मकार्ये यथोचितम् ॥ १९

जो योगिजनोको दान देते हुए भी किसी भी सांसारिक फलकी कुछ भी याचना मन वचन कायसे नही करता है, उसे अलुब्धता गुण-युक्त दान कहते है ॥८॥ जो अल्पधनी हो करके भी भक्तिभारसे नम्रीभूत श्रावक धनियोंको भी आश्चर्यकारी दान देता है, उसे सत्त्वगुणसे युक्त दाता कहते है ॥९॥ किसी महान दुर्निवार कालुष्य कारणके उपस्थित होने पर भी जो किसी पर भी कुपित नही होता है, उसे क्षमागुणसे युक्त दाता कहते है ॥१०॥ दाताके इन सातो गुणोसे सयुक्त दाताको दानशास्त्रके विद्वानोने उत्तम दाता कहा है । इन गुणोसे रहित दाताको जघन्य दाता कहा है तथा दो, तीन, चार आदि गुणवाले अनेक प्रकारके दाताको मध्यम दाता कहा है ॥११॥ अब दाताके कुछ और भी विशेष गुण कहते है–जो विनीत हो, धर्मात्मा हो, अन्य पुरुषोसे सेव्य हो, दानके कालक्रमका वेत्ता हो, जिनेन्द्रदेवके शासनका ज्ञाता हो, जिसका मन भोगोसे नि स्पृह हो, सर्वजीवो-पर दया करने वाला हो, राग-द्वेषादिसे रहित हो, ससारकी असारताका जानकार ही, समदर्शी हो, महान् उद्यमी हो, परीषहोको सहनेवाला हो, धीर वीर हो, इन्द्रियजयी हो, मत्सर-रहित हो, अपने और परके सिद्धान्तका ज्ञाता हो, प्रियवादी हो, विषयोके सेवनमें उत्सुकता-रहित हो,दूसरे लोगोमे नही पाये जानेवाले ऐसे असाधारण पवित्र व्रतियोके गुणोसे जिसका चित्त संवासित हो, लौकिक और लोकोत्तर आचारका विचारक हो, सघमे वात्सल्य भावका धारक हो, आस्तिक हो, अहकार-रहित हो, वैयावृत्य करनेमे तत्पर हो और सम्यक्त्वसे अलकृत हो, ऐसा दाता लोकमे उत्तम माना जाता है ॥१२-१६॥

व्रतियोके लिए दिये गये द्रव्यको जो अपना मानता हो और शेष द्रव्यको पत्र-स्त्री आदि लुटेरोके द्वारा लूटा गया जैसा मानता हो, वही दाता श्रेष्ठ जानना चाहिए ॥१७। ये साधुजन तो मेरे दोनो लोकोमे सुख करने वाले है और ये बन्धुजन दोनो लोकोमे दु ख करनेवाले है, ऐसा जो अपने हृदयसे देखता हो, वही दाता प्रशसाके योग्य है ॥१८॥ जो गृह-कार्यमे लगाये गये धनको यही रहनेवाला जानता है और धर्मकार्यमे यथोचित लगाये धनको अपने साथ जानेवाला मानता है, वही यथार्थमे दाता है ॥१९॥ जो जीवन यौवन और धन को शरद् ऋतुके मेघोके समान क्षण-

---

१ मु 'वरात्मट' पाठ ।

शारदभ्रसमाकारं जीवितं यौवन धनम् । यो जानाति विचारज्ञो दत्ते दानं स सर्वदा ।। २०
यो न दत्ते तपस्विभ्यः प्रासुकं दानमञ्जसा । न तस्यात्मम्भरेः कोऽपि विशेषो विद्यते पशोः ।।२१
गृहं तदुच्यते तुङ्गं तर्प्यन्ते यत्र योगिन. ।निगद्यते परं प्राज्ञैः शारदं घनमण्डलम् ।। २२
धौतपादाम्भसा सिक्तं साधूनां सौधमुच्यते । अपरं कर्दमालिप्तं मर्त्यचातकबन्धनम् ।। २३
स गृही भण्यते भव्यो यो दत्ते दानमञ्जसा । न परो गेहयुक्तोऽपि पतत्रीव कदाचन ।। २४
किं द्रव्येण कुबेरस्य किं समुद्रस्य वारिणा । किमन्धसा गृहस्थस्य भक्तिर्यत्र न योगिनाम् ।। २५
ध्यानेन शोभते योगी संयमेन तपोधनः । सत्येन वचसा राजा गृही दानेन चारुणा ।। २६
तपोधनं गृहायातं यो न गृण्हाति भक्तितः । चिन्तामणिं करं प्राप्त स कुधीस्त्यजति स्फुटम् ।। २७
विद्यमानं धनं धिष्ण्ये साधुभ्यो यो न यच्छति । स वञ्चयति मूढात्मा स्वयमात्मानमात्मना ।।२८
स भण्यते गृहस्वामी यो भोजयति योगिनः । कुर्वाणो गृहकर्माणि परं कर्मकर विदु ।। २९
यः सर्वदा क्षुधां धृत्वा साधुवेलां प्रतीक्षते । स साधूनामलाभेऽपि दानपुण्येन युज्यते ।। ३०
भवने नगरे ग्रामे कानने दिवसे निशि । यो धत्ते योगिनश्चित्ते दत्तं तेभ्योऽमुना ध्रुवम् ।। ३१
यः सामान्येन साधूनां दानं दातुं प्रवर्तते । त्रिकालगोचरास्तेन भोजिता. पूजिताः स्तुताः ।। ३२
दत्ते दूरेऽपि यो गत्वा विमृश्य व्रतपालिनः । स स्वय गृहमायाते कथ दत्ते न योगिनि ।। ३३

भंगुर जानता है, वही विचारशील दाता सदा ही दान देता है ।।२०।। जो गृहस्थ तपस्वियोके लिए प्रासुक दान नही देता है, उसका अपना पेट भरनेवाले पशुसे निश्चयत कोई भी भेद नही है ।।२१।। जिस घरमे साधुजन दान द्वारा तृप्त किये जाते है, वही ऊँचा घर कहा जाता है । दान रहित घरको तो ज्ञानियोंने शारदीय मेघमण्डल कहा है ।।२२।। साधुओके चरण-कमलोके धोये गये जलसे जो घर संसिक्त है, वही सौध कहा जाता है, अन्य घर तो मनुष्यरूप चरनेवाले पशुके बाँधने का कीचडलिप्त स्थान है ।।२३।। वही भव्य गृहस्थ कहा जाता है, जो नियमसे दान देता है । दान-रहित अन्य पुरुष तो गृह-युक्त होनेपर भी पक्षीके समान कदाचित् भी गेही अर्थात् घरवाला नही कहा जा सकता ।।२४।। जहांपर योगियोंका भोजन पान नही, ऐसे कुबेरके द्रव्यसे क्या, समुद्रके जलसे क्या और गृहस्थके अन्न-पानसे क्या लाभ है ।।२५।। योगी ध्यानसे, तपोधन सयम-से, राजा सत्य वचनसे और गृहस्थ सुन्दर दानसे शोभा पाता है ।।२६।।

जो गृहस्थ स्वयं घर आये हुए तपोधन साधुको भक्तिसे पडिगाहता नही है, वह कुबुद्धि हाथमें आये हुए चिन्तामणि रत्नको निश्चय ही छोडता है ।।२७।। जो श्रावक घरमे विद्यमान भी धनको साधुओके लिए नही देता है, वह मूढात्मा स्वयं ही अपने आपके द्वारा अपनेको ठगता है ।।२८।। जो योगियोको भोजन कराता है, वही पुरुप गृहका स्वामी कहा जाता है । दानके विना घरके कार्योको करनेवालोको तो घरका कर्मकर (नौकर) कहते हैं ।।२९।। जो गृहस्थ भूख लगने पर भोजन करनेके पूर्व साधुओके आहारकी वेलामे उनके आगमनकी प्रतीक्षा करता है,वह साधुओ-के अलाभ होने पर भी दानके पुण्यसे संयुक्त होता है ।।३०।। जो पुरुप भवनमें, नगरमे, ग्राममें, वनमें, दिनमे, और रात्रिमे योगियोको अपने चित्तमें धारण करता है, अर्थात् उनका सदा स्मरण करता रहता है, उसने साधुओंको निश्चयसे दान दिया,ऐसा जानना चाहिए ।।३१।। जो सामान्यत सदा ही साधुओंको दान देनेमें प्रवृत्त होता है उसने त्रिकालवर्ती साधुओंको भोजन कराया, उनकी पूजा और स्तुति की, ऐसा समझना चाहिए ।।३२। जो दूर जाकर और व्रती पुरुषोंका अन्वेषण करके उन्हे दान देता है वह स्वयं ही घरमें आये योगीको कैसे दान नहीं देगा? अवश्य

सद्रव्याद्रव्ययोर्मध्ये य पात्रं प्राप्य भक्तितः । ददान. कथ्यते दाता न दाता भक्तिवर्जित ॥ ३४
पात्रे ददाति योऽकाले तस्य दान निरर्थकम् । क्षेत्रेऽप्युप्तं विना काल कुत्र बीजं प्ररोहति ॥ ३५
काले ददाति योऽपात्रे वितीर्णं तस्य नश्यति । निक्षिप्तमूषरे बीजं किं कदाचिदवाप्यते ॥ ३६
प्रक्रमेण विना बन्ध्यं वितीर्णं पात्रकालयो· । फलाय किमसस्कारं विक्षिप्तं क्षेत्रकालयोः ॥ ३७
क लं पात्रं विधिं ज्ञात्वा दत्तं स्वल्पमपि स्फुटम् । उप्त बीजमिव प्राज्ञैर्विधत्ते विपुल फलम् ॥ ३८
देयं स्तोकादपि स्तोक व्यपेक्षो न महोदय· । इच्छानुसारिणी शक्ति· कदा कस्य प्रजायते ॥ ३९
श्रुत्वा दानमतिर्वर्यो भण्यते वीक्ष्य मध्यम । श्रुत्वा दृष्ट्वा च यो दत्ते दानं स च जघन्यक ॥४०
ताडनं पीडनं स्तेयं रोषणं दूषण भयम् । कृत्वा ददाति यो दान स दाता न मतो जिनैः ॥ ४१
पटीयसा सदा दानं प्रदेयं प्रियवादिना । प्रियेण रहितं दत्त परम वैरकारणम् ॥ ४२
यः शमापाकृतं वित्त विश्राणयति दुर्मति । कलिं गृण्हाति मूल्येन दुर्निवारमसौ ध्रुवम् ॥ ४३
जीवा येन विहन्यन्ते येन पात्र विनाश्यते । रागो विवर्धते येन यस्मात्सम्पद्यते भयम् ॥ ४४
आरम्भा येन जन्यते दु खितं यच्च जायते । धर्मकामैर्न तद्देय कदाचन निगद्यते ॥ ४५
हलैर्विदार्यमाणायां गर्भिण्यामिव योषिति । म्रियन्ते प्राणिनो यस्यां सा भू किं ददतः फलम् ॥४६

ही देगा ॥३३॥ सधन और निर्धन इन दो प्रकारके दातारोके मध्यमे जो पात्रको पाकर भक्ति पूर्वक दान देता है, वही दाता कहा जाता है। भक्ति-रहित होकरके देनेवाला दाता नही कहा जाता है ॥३४॥ जो असमयमे पात्रको दान देता है, उसका दान निरर्थक है, खेतके भीतर असमयमे बोया गया बीज कहाँ अकुरित होता है ॥३५॥ जो अपात्रको समयपर भी दान देता है,उसका वह दान नष्ट हो जाना है। क्योकि ऊसर भूमिमे बोया गया बीज क्या कभी प्राप्त होता है ॥३६॥ योग्य पात्रको और योग्य समयमे विधिके विना दिया दान निष्फल जाता है। क्या सस्कार-रहित बीज योग्य क्षेत्रमे योग्य समयपर बोनेपर भी फलके लिये होता है? अर्थात् फल नही देता है ॥३७॥ काल, पात्र और विधिको जानकर बुद्धिमानोके द्वारा दिया गया अति अल्प भी दान योग्य भूमिमे ठीक समयपर विधिवत् बोये गये अल्प भी बीजके समान विपुल फलको देता है ॥३८॥ नही शक्ति हो, तो भी कमसे कम ही दान देते रहना चाहिए, किन्तु अधिक धनके होनेकी अपेक्षा नही रखना चाहिए, क्योकि इच्छाके अनुसार दान देनेकी शक्ति कब किसके पूरी होती है? भावार्थ–जब जैसी सामर्थ्य हो उसके अनुसार दानको देते रहना चाहिए ॥३९॥

साधुको आया हुआ सुनकर दान देनेमे बुद्धि करने वाला पुरुष उत्तम दाता कहा जाता है। साधुको देखकर दान देनेवाला पुरुष मध्यम दाता कहलाता है। और जो सुनकर और देखकर पीछे दान देता है वह जघन्य दाता कहलाता है ॥४०॥ जो ताडन, पीडन, चोरी, रोप.दोप और भय करके दान देता है, जिनदेवने उसे दाता नही माना है ॥४१॥ चतुर पुरुपोको प्रिय वचन बोलते हुए ही सदा दान देना चाहिए। क्योकि प्रिय वचनसे रहित दिया गया दान तो परम वैरका ही कारण होता है ॥४२॥ जो दुर्बुद्धि पुरुष शम-भावसे रहित होकर धनको देता है, वह निश्चयसे मूल्य देकर दुर्निवार पापको ग्रहण करता है ॥४३॥ अब दान देनेके योग्य देय वस्तुका निर्णय करनेके पूर्व आचार्य दानमे नही देने योग्य वस्तुओका निरूपण करते हैं– जिसके देनेसे जीव मारे जावे, जिससे पात्रका विनाश हो, जिससे रागभाव बढे, जिससे भय उत्पन्न हो, जिससे आरम्भ बढे और जिससे दु.ख पैदा हो, ऐसी वस्तुएं धर्मकी कामना करनेवाले गृहस्थो के द्वारा कभी भी देय नही कही गई है ॥४४–४५॥ जिस भूमिके हलोंसे विदारे

सर्वत्र भ्रमता येन कृतान्तेनेव देहिनः। विपाटचन्ते न तल्लोहं दत्तं कस्यापि शान्तये ॥ ४७
यदर्थं हिंस्यते पात्र यत्सदा भयकारणम्। संयमा येन हीयन्ते दुष्कालेनेव मानवाः ॥ ४८
रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहमनोभवाः। जन्यन्ते तापका येन काष्ठेनेव हुताशनाः ॥ ४९
तद्येनाष्टापदं यस्य दीयते हितकाम्यया। स तस्याष्टापदं मन्ये दत्ते जीवितशान्तये ॥ ५०
संसजन्त्यङ्गिनो येषु भूरिशस्त्रसकायिकाः। फलं विश्राणने तेषां तिलानां कल्मषं परम् ॥ ५१
प्रारम्भा यत्र जायन्ते चित्रा संसारहेतवः। तत्सद्म ददतो घोरं केवलं कलिलं कलम् ॥ ५२
पीडा सम्पद्यते यस्या वियोगे गोनिकायतः। यथा जीवा विहन्यन्ते पुच्छशृङ्गखुरादिभिः ॥ ५३
यस्यां प्रदुह्यमानायां तर्णकः पीडचते तराम्। तां गां वितरतो श्रेयो लभ्यते न मनागपि ॥ ५४
या सर्वतीर्थदेवानां निवासी भूतविग्रहा। दीयते सा गौः कथं दुर्गतिगामिभिः ॥ ५५
तिलधेनुं घृतधेनुं कांचनधेनुं च रुक्मधेनुं च। परिकल्प्य भक्षयन्तश्चण्डालेभ्यस्तरां पापाः ॥ ५६
या धर्मवनकुठारी पातकवसतिस्तपोदयाचोरी। वैरायासासूयाविषादशोकश्रमक्षोणी ॥ ५७

जाने पर शस्त्रोंसे विदीर्ण किये गर्भिणी स्त्रीके समान प्राणी मरते है, वह भूमि क्या देने वालेके फलको दे सकती हैं? अर्थात् नही दे सकती हैं, अतः भूमिका दान योग्य नही है ॥४६॥ जिसके द्वारा सर्वत्र परिभ्रमण करने वाले यमराजके तुल्य प्राणी मारे जाते है, वह दिया गया लोहेका शस्त्र किसीकी भी शान्तिके लिए नही हो सकता है। अत. लोहदान योग्य नही हैं ॥४७॥ जिस सुवर्णकी प्राप्तिके लिए लोग पात्रको भी मार देते है जो सदा भयका कारण है, जिसके द्वारा संयम नष्ट होता है, जैसे कि दुष्कालके द्वारा मानव नष्ट होते है, जिसके द्वारा राग द्वेष मद क्रोध लोभ मोह और काम विकार जैसे सन्ताप-दायी दुर्भाव पैदा होते है, जैसे कि काष्ठसे सन्तापक पावक उत्पन्न होता हैं। ऐसा अष्टापद (सुवर्ण) जो अन्यको हित-कामनासे देता है, वह उसके जीवनको शान्त करनेके लिए अष्टापदनामका हिंसक प्राणी देता हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। अतएव सुवर्णदान भी देनेके योग्य नही है ॥४८–५०॥ जिन तिलोंमे भारी त्रसकायिक जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं ऐसे उन तिलोंके दान देनेमें महा पापका संचय ही फल जानना चाहिए। अतः तिल-दान भी योग्य नही ॥५१॥

जिसमें रहने पर संसारके कारणभूत अनेक प्रकारके आरम्भ होते है, ऐसे घरको देनेवाले पुरुषके केवल घोर पापरूप ही फल प्राप्त होता हैं। अत गृह-दान भी योग्य नहीं है ॥५२॥ गायोंके समूह से वियुक्त करने पर जिसके भारी पीडा होती है, जो पूंछ, सीग और खुर आदिसे जीवोको मारती है और जिसके दुहने पर वछड़ा अत्यन्त पीडित होता है, ऐसी गायको दानमे देते हुए पुरुष का जरा सा भी कल्याण नही होता हैं। अत. गो-दान भी योग्य नही है ॥५३-५४॥ जिन अन्यमतावलम्बियोने गायके शरीरमे सर्वतीर्थ और सर्व देवताओ का निवास कहा है, उसी गायको दुर्गतिगामी पुरुष कैसे तो देते हैं और लेने वाले कैसे लेते हैं, यह महान् आश्चर्यकी बात है। अत. गो-दान भी योग्य नही हैं ॥५५॥ जो लोग तिलकी गाय, घीकी गाय, सोनेकी गाय और चांदीकी गाय बनाकर पुनः उसे खाते है, वे लोग तो चाण्डालसे भी अधिक पापी हैं, क्योकि चाण्डाल तो कम से कम गायको नहीं खाता है ॥५६॥ जो कन्या धर्मरूप वनको काटनेके लिए कुठारी के समान हैं, अनेक पापोकी वसति है. तप और दयाको चुरानेवाली है, वैर, आयास असूया, विषाद, शोक और श्रमकी भूमि है और जिसमें आसक्त हुए पुरुष अति दुःखवाले संसार-

यस्यां सक्ता जीवा: दु खतमान्नोत्तरन्ति भवजलधे. । क: कन्यायां तस्यां दत्तायां विद्यते धर्मः ॥५८
सर्वारम्भकर ये वीवाहं कारयन्ति धर्माय । ते तरुखण्डविवृद्धयै क्षिपन्ति वन्हिज्वलज्ज्वालम् ॥५९
यः संक्रान्तौ ग्रहणे वारे वित्त ददाति मूढमतिः । सम्यक्त्ववनं छित्वा मिथ्यात्ववनं वपत्येषः ॥६०
ये ददते मृततृप्त्यै बहुधा दानानि नूनमस्तधियः । पल्लवयितुं तरु ते भस्मीभूत निषिञ्चन्ति ॥६१
विप्रगणे सति भुक्ते तृप्तिः सम्पद्यते यदि पितृणाम् । नान्येन घृते पीते भवति तदाऽन्य कथ पुष्टः॥६२
दाते दत्ते पुत्रैर्मुच्यन्ते पापतोऽत्र यदि पितरः । विहिते तदा चरित्रे परेण मुक्ति परो याति ॥ ६३

गङ्गा गतेऽस्थिजाते भवति सुखी यदि मृतोऽत्र चिरकालम् ।
भस्मीकृतस्तदाऽम्भःसिक्तः पल्लवयते वृक्षः ॥ ६४

उपयाचन्ते देवान्नष्टधियो ये धनादि ददमानाः । ते सर्वस्व दत्वा नूनं क्रीणन्ति दुःखानि ॥ ६५
पूर्णे काले देवैर्न रक्ष्यते कोऽपि नूनमुपयातैः । चित्रमिद प्रतिबिम्बैरचेतनै रक्ष्यते तेषाम् ॥ ६६
मांसं यच्छन्ति ये मूढा ये च गृण्हन्ति लोलुपाः । द्वये वसन्ति ते श्वभ्रे हिंसामार्गप्रवर्तिनः ॥ ६७
धर्मार्थं ददते मांसं ये नूनं मूढबुद्धयः । जिजीविषन्ति ते दीर्घं कालकूटविषाशने ॥ ६८
तादृशं यच्छतां नास्ति पापं दोषमजानताम् । यादृश गृण्हतां मांस जानतां दोषमूर्जितम् ॥ ६९

सागरसे पार नही उतर सकते है, ऐसी कन्याके देने पर कौन सा धर्म होता है? अर्थात् धर्म नही, प्रत्युत पाप ही होता है। अतः कन्या-दान भी योग्य नही है ॥५७–५८॥ जो लोग धर्म-प्राप्तिके लिए सभी आरम्भके करनेवाले विवाहको कराते हे, वे वक्षोके वनकी वृद्धिके लिए जलती ज्वालावाली अग्निको फेकते है, ऐसा मै मानता हूँ। अत अन्यका विवाह कराना योग्य नही है ॥५९॥ जो मूढ वुद्धि पुरुष सक्रान्ति, ग्रहण, रविवार आदिके समय धनको देता है, वह सम्यक्त्व-रूप वनका छेदन करके मिथ्यात्वरूप वनको बोता है ॥६०॥ जो नष्ट वुद्धि पुरुष मरे पुरुषोकी तृप्तिके लिए अनेक प्रकारके दान देते है, वे भस्म हुए वृक्षको पल्लवित करनेके लिए मानो सीचते है ॥६१॥ यदि ब्राह्मण वर्गके भोजन करने पर पितर लोगोको तृप्ति प्राप्त होती है,तो यहा पर अन्य पुरुषके घी पीने पर दूसरा पुरुष क्यो पुष्ट नही हो जाता है। अत पितृ-तृप्तिके लिए ब्राह्मणोको भोजन कराना योग्य नही है ॥६२॥ यदि पुत्रके द्वारा दान दिये जाने पर पितर लोग पापसे छूट जाते है, तो दूसरेके द्वारा चारित्र धारण करने पर अन्य दूसरेको मुक्ति मे जाना चाहिए ॥६३॥

यदि अस्थि-पुजके गगामे विसर्जन करने पर मृत पुरुष चिरकाल तक सुखी रहता है, तो समझना चाहिए कि भस्मीभूत हुआ वृक्ष जलसे सीचने पर पल्लवित हो रहा है ॥६४॥ जो नष्ट बुद्धि पुरुष देवोंको धन देते हुए उनसे और भी अधिक धनकी याचना करते है, वे अपना सर्वस्व देकर नियम से दुखोको खरीदते है ॥६५॥ आयु कालके समाप्त हो जाने पर समीपमे आये हुए स्वयं देव भी नियमसे किसीकी रक्षा नही कर सकते, तो यह आश्चर्यकी बात है कि उन देवोके बनाये गये अचेतन प्रतिविम्ब मरते की कैसे रक्षा कर सकते हे? कभी नही कर सकते ॥६६॥ जो मूढ मासका दान करते है और जो लोलुपी उसे ग्रहण करते है-वे हिसामार्गके प्रवर्तक दोनो ही मरकर नरकमे निवास करते है ॥६७॥ जो मूढ बुद्धि पुरुष धर्मके लिए मासको देते है, वे निश्चयसे कालकूट विषके खाने पर जीनेकी इच्छा करते है ॥६८॥ मास देने के दोषो को नही जानने वाले पुरुषो के मास-दान करने पर वैसा उग्रपाप नही होता है, जैसा कि मास-भक्षणके उग्र पापोको जानते हुए उसे ग्रहण करने वाले पुरुषोके महान् पापका सचय होता है ॥६९॥

दाता दोषमजानानो दत्ते धर्मधियाऽखिलम् । यः स्वीकरोति तद्दानं पात्रं त्वेष न सर्वथा ॥ ७०
बहूनि तानि दानानि विधिरेषा न शेमुषी । विपद्येत तरां प्राणी भूरिभिर्यक्षितैर्विषैः ॥ ७१
अल्पं जिनमतं दान ददातीदं न कोविदाः । पीयूषेणोपभुक्तेन किं नाल्पेनापि जीव्यते ॥ ७२
ग्रहीतु. कुरुते सौख्यं दानैस्तैरखिलैर्यतः । पुण्यभागी ततो दाता नेद वचनमञ्चितम् ॥ ७३
आपाते लभते सौख्य विपाके दुःखमुल्बणम् । अपथ्यैरिव तैर्दानैर्दुर्जरैर्जननिन्दितैः ॥ ७४
आपातसुखदैः पुण्यमन्ते दु खवितारिभिः । भूमिदानादिभिर्दत्तैर्न किम्पाकफलैरिव ॥ ७५
प्रचुरापात्रसघात मर्दयित्वाऽपि पोषिते । पात्रे सम्पद्यते धर्मो नैषा भाषा प्रशस्यते ॥ ७६
निहत्य भेकसन्दर्भं यः प्रीणति भुजङ्गमम् । सोऽश्नुते यादृशं पुण्यं नूनमन्योऽपि तादृशम् ॥ ७७
आत्मीकरोति यो दान जीवमर्दनसम्भवम् । आकांक्षन्नात्मनः सौख्यं पात्रता तस्य कीदृशी ॥ ७८
न सुवर्णादिकं देय न दाता तस्य दायकः । न च पात्रं गृहीताऽस्य जिनानामिति शासनम् ॥ ७९
पात्र विनाशितं तेन तेनाधर्मः प्रवर्तितः । येन स्वर्णादिक दत्तं सर्वानर्थविधायकम् ॥ ८०

मूढ दाता तो दोषको नही जानने हुए धर्म बुद्धिसे सभी दानोको देता हैं, इसलिए वह वैसा पापी नही है किन्तु जो ऐसे असद् दानको स्वीकार करता है वह तो सर्वथा भी पात्र नही माना जा सकता है ॥७०॥ 'लोकमें अनेक प्रकारके दान दिये जाते है, या शास्त्रोंमे अनेक प्रकारके दान बतलाये गये है' ऐसी बुद्धि करके उनका देना यह विधि ठीक नही है, क्योकि अनेक प्रकारके खाये गये विषोसे प्राणी अत्यधिक विपत्तिको ही प्राप्त होता है। अतः उक्त कुदानोका देना श्रेयस्कर नही है ॥७१॥ जिन मतमें बतलाया गया आहारादिका दान तो बहुत कम है, उससे क्या फल मिलेगा? ऐसा कुछ विद्वान् लोग कहते है। आचार्य उनको उत्तर देते हुए कहते है कि ऐसी बात नही है। देखो थोडेसे उपभोग किये गये अमृतसे क्या मनुष्य जीवित नही हो जाता है? होता ही है ॥७२॥ यदि कहा जाय कि उन भूमि-स्वर्ण-गोदानादि समस्त दानोसे ग्रहण करने वालेको सुख प्राप्त होता है, अत. उससे दाता भी पुण्यका भागी होता हैं, सो ऐसा कथन युक्ति-सगत नही है ॥७३॥ क्योकि उन भूमि दान आदिके द्वारा वर्तमानमे भले ही कुछ सुख प्राप्त हो, परन्तु विपाक कालमे तो अपथ्य सेवनके समान उन दुर्जर एवं जन-निन्दित दानोके द्वारा अत्यन्त उग्र दु ख ही प्राप्त होता है ॥७४॥ किंपाक फलके समान प्रारम्भमे सुख देने वाले और अन्तमे दु ख देनेवाले उन अधिक भूमि दानादिके देने पर भी पुण्य नही होता है ॥७५॥

यदि कहा जाय कि भारी भी अपात्र जीवोके समूहका नाश करके एक पात्रके पोषण करने पर धर्म-सम्पादन होता है। सो ऐसी भाषा भी प्रशंसनीय नही है ॥७६॥ देखो—जो प्रतिदिन मेढकोका समूह मारकर साँपका पोषण करता है, वह पुरुष जैसा पुण्य प्राप्त करता है, निश्चयसे आपके द्वारा कहा गया वह अन्य पुरुष भी वैसे ही पुण्य-सचयको प्राप्त करता है। भावार्थ—जैसे मेढक मारकर साँपके पोषणमे पुण्य नही है, उसी प्रकार जीवोका घात करके किसी कुपात्रके पोषण करनेमे भी कोई पुण्य नही है। ७७॥ दूसरी बात यह है कि जो पुरुष जीव-घातसे उत्पन्न हुआ दान अपने सुखको चाहता हुआ, स्वीकार करता है उसकी पात्रता कैसी है? अर्थात् वह पात्र है ही नही, प्रत्युत कुपात्र या अपात्र हैं ॥७८॥ इस प्रकार कुदानोके निषेधका उपसहार करते हुए आचार्य कहते है—न तो सुवर्णादिक पदार्थ देय है, न उनका देनेवाला दाता ही है और न उनका ग्रहण करनेवाला सत्पात्र ही है, ऐसा जिनदेवोका शासन (आदेश या मत) है ॥७९॥ जिसने सभी अनर्थोका करनेवाला सुवर्णादिकका दान दिया, उसने पात्रका भी विनाश कर दिया और अधर्म भी

रागो निषूद्यते येन येन धर्मो विवर्द्धते । सयम: पोष्यते येन विवेको येन जन्यते ॥ ८१
आत्मोपशम्यते येन येनोपक्रियते पर: । न येन नाश्यते पात्रं तद्दातव्य प्रशस्यते ॥ ८२
अभयाहारौषधज्ञानभेदतस्तच्चतुर्विधम् । दान निगद्यते सद्भि: प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८३
धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यत: स्थिति: । तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे सन्ति देहिनाम् ॥ ८४
देवैरुक्तो वृणीष्वैक त्रैलोक्यप्राणितव्ययो: । त्रैलोक्य वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥ ८५
त्रैलोक्यं न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते । तद्रक्षता ततो दत्तं प्राणिनां किं न कांक्षितम् ॥ ८६
नाभीतिदानतो दान समस्ताधारकारणम् । महीयो निर्मल नित्य गगनादिव विद्यते ॥ ८७
आहारेण विना पुंसां जीवितव्यं न तिष्ठति । आहार यच्छता दत्त ततो भवति जीवितम् ॥ ८८
नेत्रानन्दकरं सेव्यं सर्वचेष्टाप्रवर्तनम् । अन्धसा धार्यते गात्रं जीवितेनेव जन्मिनाम् ॥ ८९
कान्ति: कीर्तिर्मति: क्षान्ति शान्तिर्नीतिर्गती रति: । उक्ति: शक्तिर्द्युति: प्रीति. प्रतीति: श्रीर्व्यवस्थिति:
आहारवर्जित्तं देह सर्वे मुञ्चन्ति तत्त्वत । द्रविणापाकृत मर्त्यं वेश्या इव मनोरमा: ॥ ९१
शमो दमो दया धर्म: संयमो विनयो नय: । तपो यशो वचोदाक्ष्य दीयतेऽन्नप्रदायिना ॥ ९२
क्षुद्रोगेण समो व्याधिराहारेण समौषधि: । नासीन्नास्ति न वा भावि सर्वव्यापारकारिणी ॥ ९३

प्रवर्तित किया, ऐसा जानना चाहिए ॥८०॥ अव आचार्य देने योग्य वस्तुका वर्णन करते है—जिससे रागभाव नाशको प्राप्त हो, जिससे सयम धर्म बढे, जिससे सयम पुष्ट हो, जिससे विवेक उत्पन्न हो, जिससे आत्मा उपशम भावको प्राप्त हो, जिससे दूसरेका उपकार किया जाय और जिससे पात्र विनाशको प्राप्त न हो, वही वस्तु दाताके देने योग्य है और वही देय प्राज्ञपुरुषोके द्वारा प्रशसाको प्राप्त होता है ॥८१-८२॥ प्राणियोका उपकार करनेवाला वह दान अभय आहार औषध और ज्ञान-दानके भेदसे सन्त पुरुषोने चार प्रकारका कहा है ॥८३॥

यत. जीवनके स्थित रहनेपर ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारो पुरुषार्थोकी स्थिति सभव है, अत जीवोको जीवन (अभय) दान देनेसे वे सभी पुरुषार्थ दिये जाते है, ऐसा समझना चाहिए ॥८४॥ यदि देवतागण किसीपर प्रसन्न होकर कहे कि तुम त्रैलोक्यका राज्य और जीवितव्य इन दोनोमेसे किसी एकको वरण करो अर्थात् मॉगो, तो क्या कोई पुरुष जीवनको छोडकर त्रैलोक्यके साम्राज्यका वरण करेगा? कदापि नही ॥८५॥ यत त्रैलोक्य भी जीवनका मूल्य नही है, अत उस जीवनकी रक्षा करनेवालेने प्राणियोको कौन-सी मनोवाछित वस्तु नही दी? अर्थात् सभी दी, ऐसा समझना चाहिए ॥८६॥ आकाशके समान समस्त वस्तुओके आधारका कारण, महान्, निर्मल और नित्य ऐसा अभयदानके सिवाय और कोई दान नही है ॥८७॥ ऐसे अभय दान का वर्णन किया। अब आहारदानका निरूपण करते है—आहारके विना पुरुषोका जीवन नही ठहर सकता है, अतएव आहार देनेवाले पुरुषके द्वारा जीवन ही दिया जाता है, ऐसा जानना चाहिए ॥८८॥ जीवितव्य (आयुर्बल) के समान नेत्रोको आनन्दकारी, सेवन योग्य और सर्व चेष्टाओके प्रवर्तनरूप जीवोका देह आहारसे ही धारण किया जाता है ॥८९॥ जिस प्रकार धनसे रहित पुरुषको मनोहर वेश्याए छोड देती है। उसी प्रकार आहारसे रहित देहको कान्ति कीर्त्ति, वुद्धि, क्षमा, शान्ति, नीति, गति, रति, उक्ति, शक्ति, दीप्ति, प्रतीति, लक्ष्मी और स्थिरता ये सब भी छोड देती है ॥९०-९१॥ अन्न दान देनेवालेके द्वारा कषायोकी मन्दतारूप शमभाव, इन्द्रिय-दमन, दया, धर्म, सयम, विनय नीति, तप, यश और वचनकी दक्षता ये सब गुण दिये जाते है ॥९२॥ इस ससारमे क्षुधारोगके समान कोई व्याधि और आहारके समान सर्व व्यापार करानेवाली

दुर्गन्धि ववथितं शीर्णं विवर्णं नष्टचेष्टितम् । भोजनेन विना गात्रं जायते मृतकोपमम् ॥ ९४
न पश्यति न जानाति न श्रृणोति न जिघ्रति । न स्पृशति न वा वक्ति भोजनेन विना जनः ॥९५
प्रविक्रीयान्नकृच्छ्रेषु कान्ताकन्यातनूभुवः । आहार गृण्हते लोका वल्लभानपि निश्चितम् ॥ ९६
यया खादन्त्यभक्ष्याणि क्षुधाया क्षपिता जना. । सा हन्यतेऽशनेनैव राक्षसीव भयकरी ॥ ९७
यथैवाहारमात्रेण शरीरं रक्ष्यते नृणाम् । चामीकरस्य कोटीभिर्बह्वीभिरपि नो तथा ॥ ९८
क्षिप्र प्रकाश्यते सर्वमाहारेण कलेवरम् । नभो दिवाकरेणेव तमोजालावगुण्ठितम् ॥ ९९
न शक्नोति तपः कर्तुं सरोग संयतो यतः । ततो रोगापहारार्थं देयं प्रासुकमौषधम् ॥ १००
न देहेन विना धर्मो न धर्मेण विना सुखम् । यतोऽतो देहरक्षार्थं भैषज्यं दीयते यतः ॥ १०१
शरीरं सयमाधारं रक्षणीय तपस्विनाम् । प्रासुकैरौषधैः पुंसा यत्नतो मुक्तिकांक्षिणा ॥ १०२
विवेको जन्यते येन संयमो येन पाल्यते । धर्म. प्रकाश्यते येन मोहो येन निहन्यते ॥ १०३
मनो नियम्यते येन रागो येन निकृत्यते । तद्देय भव्यजीवानां शास्त्रं निर्धूतकल्मषम् ॥ १०४
विवेको न विना शास्त्र तदृतेन तपो यतः । ततस्तपोविधानार्थं देयं शास्त्रमनिन्दितम् ॥ १०५
वस्त्रपात्राश्रयादीनि पराण्यपि यथोचितम् । दातव्यानि विधानेन रत्नत्रितयवृद्धये ॥ १०६

कोई औषधि न तो भूतकालमे हुई है,न वर्तमानमें हैं और न भविष्यकालमें होगी ही ॥९३॥ भोजन, के बिना यह शरीर दुर्गन्ध युक्त, विकृत, जीर्ण शीर्ण' विरूप और चेष्टा-शून्य मरे हुएके समान हो जाता है ॥९४॥ भोजनके विना मनुष्य न देख पाता है, न कुछ जान पाता हैं, न सुनता है, न सूघता है, न स्पर्श कर पाता है और न बोल ही पाता है ॥९५॥ अन्नका कष्ट पडनेपर दुर्भिक्षके समय लोग अपनी प्यारी स्त्री, कन्या और प्रिय पुत्रोको भो बेच देते है और वदलेमे आहारको ग्रहण करते हैं ॥९६॥ जिस क्षुधासे पीडित जन नही खाने योग्य वस्तुओको भी खाने लगते है, राक्षसीके समान भयकर वह क्षुधा आहारसे ही न'ट होती है ॥९७॥ केवल आहारके द्वारा मनुष्यो का शरीर जैसा रक्षित होता है, बैसा अनेक सुवर्ण कोटि दीनारोसे भी रक्षित नही हो पाता है ॥९८॥ जैसे अन्धकारके जालसे आच्छादित आकाश सूर्यसे शीघ्र प्रकाशमान हो जाता है इसी प्रकार भूखसे पीडित शरीर आहारसे शीघ्र कान्ति युक्त हो जाता है। अत. आहार दान श्रेष्ठ है और उसे देना चाहिए ॥९९॥

अब आचार्य ओषधिदानका वर्णन करते है—यतः रोग-सहित साधु तप नही कर सकता, अत. उसके रोगको दूर करनेके लिए प्रासुक औषधि देना चाहिए ॥१००॥ यत देहके विना धर्म सभव नही, और धर्मके विना सुख मिलना संभव नही, अत देहकी रक्षाके लिए साधुको औषधि देनी चाहिए ॥१०१॥ सयमका आधार शरीर है, अत तपस्वियोके शरीरकी मुक्ति चाहनेवाले पुरुष प्रासुक औषधियोसे प्रयत्न पूर्वक रक्षा करे ॥१०२॥ अव आचार्य ज्ञान (शास्त्र) दानका वर्णन करते है—जिसके द्वारा हित-अहितका विवेक उत्पन्न होता है जिसके द्वारा सयम पाला जाता है, जिसके द्वारा धर्म प्रकाशित होता है, जिसके द्वारा मोह नष्ट होता है, जिसके द्वारा मनका निग्रह होता है और जिससे रागका उच्छेद किया जाता है,ऐसा पाप-नाशक शास्त्र (ज्ञान) दान भव्य जीवोको देना चाहिए ॥१०३-१०४॥ यत. शास्त्रके विना विवेक जागृत नही होता है और उसके विना तप नही हो सकता है,अत. तपको करनेके लिए निर्दोष शास्त्रको देना चाहिए ॥१०५॥ उपर्युक्त चार दानोके सिवाय संयमी पुरुषोंको रत्नत्रयधर्मकी वृद्धिके लिए विधिपूर्वक वस्त्र,पात्र,

वर्यमध्यजघन्यानां पात्राणामुपकारकम् । दानं यथायथं देयं वैयावृत्यविधायिना ॥ १०७

पोष्यन्ते येन चित्राः सकलसुखफलस्तोमरोपप्रवीणाः
सम्यक्त्वज्ञानचर्या यमनियमतपोवृक्षजातिप्रबन्धाः ।
भव्यक्षोणीषु तद्य क्षतनिखिलमल मुञ्चते दानतोयं ।
तुल्यस्तस्योपकारी मधुपरवकृतो भव्यमेघस्य नान्य ॥ १०८

वात्सल्यासक्तचित्तो नयविनयपरो दर्शनालङ्कृतात्मा,
देयादेये विदित्वा वितरति विधिना यो यतिभ्योऽत्र दानम् ।
कीर्ति कुन्दावदातामभितगतिमतां पूरयन्तीं त्रिलोकीं,
लब्ध्वा क्षिप्रं स याति क्षपितभवभयं मोक्षमक्षीणसौख्यम् ॥ १०९

इत्युपासकाचारे नवम परिच्छेदः समाप्तः ।

दशमः परिच्छेदः

पात्रकुपात्रापात्राण्यवबुध्य फलार्थिना सदा देयम् । क्षेत्रमनवबुद्धयोप्तं बीज नहि फलति फलमिष्टम् ।
पात्रं तत्त्वपटिष्ठैरुत्तममध्यमजघन्यभेदेन । त्रेधा क्षेत्रमिवोक्त त्रिविधफलनिमित्ततां ज्ञात्वा ॥ २
उत्तममुत्तमगुणतो मध्यमगुणतोऽत्र मध्यम पात्रम् । विज्ञेयं बुद्धिमता जघन्यगुणतो जघन्यं च ॥ ३
तत्रोत्तमं तपस्वी विरताविरतश्च मध्यमं ज्ञेयम् । सम्यग्दर्शनभूषः प्राणी पात्रं जघन्य स्यात् ॥ ४

आश्रय आदि यथायोग्य पात्रका विचारकर देना चाहिए ॥१०६॥ इस प्रकार उत्तम पात्र मुनिजन, मध्यम पात्र एकादश प्रतिमाधारी श्रावक और जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि, इन तीनो ही प्रकारके पात्रोंको उनका उपकार करनेवाली वस्तु वैयावृत्य करनेवाले गृहस्थ के द्वारा यथायोग्य दानमे देना चाहिए ॥१०७॥ जिस भव्यरूप मेघके जल-दानसे समस्त सुखरूप फलोंके समूहोके रोपनेमे प्रवीण नाना प्रकारके सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, यम, नियम, तपरूप वृक्षजातियोके समुदाय पुष्टिको प्राप्त होते है, और जो भव्यजीवरूपी पृथ्वी पर सर्व मलको नाश करनेवाले दानरूप जलको बरसाता है, उस मधुर शब्द करनेवाले भव्यरूप मेघके समान जीवोका उपकारी और कोई अन्य नही है ॥१०८॥ वात्सल्य भावमे जिसका चित्त आसक्त है, नीति और विनयमे तत्पर है, जिसका आत्मा सम्यग्दर्शन से अलकृत है, ऐसा जो गहस्थ देय और अदेय वस्तुको जानकर विधिपूर्वक साधुओंको दान देता है, वह अमित ज्ञानियोके द्वारा कही गई, कुन्द पुष्पके समान उज्ज्वल, और तीन लोकमे व्याप्त होनेवाली कीर्त्तिको पाकर शीघ्र ही अनन्त सुखवाले और संसारके भयको नष्ट करनेवाले मोक्षको प्राप्त करता है ॥१०९॥

इस प्रकार अमितगति विरचित श्रावकाचारमे नवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।

दसवा परिच्छद

फलके इच्छुक पुरुष द्वारा सदा ही पात्र, कुपात्र और अपात्रको जानकर ही दान देना चाहिए। क्योंकि क्षेत्रका विचार किये बिना बाया गया बीज इष्ट बीजका नही फलता हैं ॥१॥ तत्त्वके जानकारोने उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे पात्रको तीन प्रकारका कहा है। जैसे कि तीन प्रकारके फल पानेके निमित्तसे जानकर क्षेत्रको तीन प्रकारका कहा गया है ॥२॥ बुद्धिमान् पुरुपके द्वारा उत्तम गुणसे उत्तम पात्र, मध्यम गुणसे मध्यम पात्र और जघन्य गुणसे जघन्य पात्र जानने योग्य है ॥३॥ इनमे तपस्वी साधु उत्तम पात्र है, विरताविरत श्रावक मध्यमपात्र है और सम्यग्द-

जीवगुणमार्गणविधिं विधानतो यो विबुध्य निश्शेषम् । रक्षति जीवनिकायं सवितेव परोपकारपरः ॥५
पथ्यं तथ्यं श्रव्यं वचनं हृदयङ्गमं गुणगरिष्ठम् । यो ब्रूते हितकारी परमानसतापतो भीतः ॥६
निर्माल्यकमिव मत्वा परवित्तं यस्त्रिधाऽपिनादत्ते । दन्तान्तरशोधनमपि पतितंदृष्ट्वाऽप्यदत्तमतिः॥७
तिर्यङ्मानुषदेवाचेतनभेदां चतुर्विधां योषाम् । परिहरति य. स्थिरात्मा मारीमिव सर्वथा घोराम् ८
विविधं चेतनजातं सङ्गं चेतनमचेतनं त्यक्त्वा । यो नादत्ते भूयो वान्तमिवान्नं त्रिधा धीरः ॥ ९
त्रिविधालम्बनशुद्धिः प्रासुकमार्गेण यो दयाधार. । युगमात्रान्तरदृष्टि· परिहरमाणोऽङ्गिनोयाति१०
हृदय विभूषयन्तीं वाणीं तापापहारिणीं विमलाम् । मुक्तानामिव मालां यो ब्रूते सूत्रसम्बद्धाम्॥११
षट्चत्वारिंशद्दोषापोढां यो विशुद्धिनवकोटीम् । मृष्टामृष्टसमानो भुक्ति विदधाति विजिताक्षः १२
द्रव्यं विकृतिपुर.सरमङ्गिग्रामप्रपालनासक्त । गृह्णाति यो विमुञ्चति यत्नेन दयाङ्गनाश्लिष्ट· १३
निर्जन्तुकेऽविरोधे दूरे गूढे विसङ्कटे क्षिपति । उच्चारप्रस्रवणश्लेष्माद्यं य शरीरमलम् ॥ १४

जिनवचनपञ्जरस्थं विहाय बहुदु.खकारणं क्षिप्रम् ।
विदधाति यः स्ववश्यं मर्कटमिव चञ्चल चित्तम् ।। १५
यो वचनौषधमनघ जन्मजरामरणरोगहरणपरम् ।
बहुशो मौनविधायी ददाति भव्याङ्गिनां महितम् ॥ १६

र्शनसे भूषित व्रत रहित जीव जघन्य पात्र जानना चाहिए ॥४॥ अब उत्तम पात्रका स्वरूप कहते हैं—जो मनुष्य जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणाओके स्वरूपको भली भाँतिसे जानकर सर्व त्रस-स्थावर जीव-समूहकी रक्षा करता है, सूर्यके समान परोपकार करनेमे तत्पर है, जो परके चित्त-सन्तापसे डरता हुआ पथ्य, तथ्य, श्रव्य, हृदय ग्राह्य-गुणगरिष्ठ हितकारी वचन बोलता है, जो पराये धनको निर्माल्यके समान समझकर मन वचन कायसे उसे ग्रहण नही करता है, यहाँ तक कि दाँतोके भीतर लगे मैलको दूर करनेके लिए गिरे हुए तिनके को देखकर भी उसके उठानेकी बुद्धि नही करता है,जो स्थिर चित्त तिर्यचिनी,मनुष्यनी, देवी और अचेतन पुतली रूप चारो प्रकारकी स्त्रियो को भयंकर मारीके समान समझकर उनका परिहार करता हैं, जो धीर अनेक प्रकारके चेतन और अचेतन सभी परिग्रहोको छोड वमन किये हुए अन्नके समान त्रियोगसे पुन नही ग्रहण करता हैं, जो दयाको धारण कर त्रियोगकी आलम्बन शुद्धिवाला चार हाथ प्रमाण भूमिको देखता हुआ और प्राणियोकी रक्षा करता हुआ प्रासुक मार्गसे जाता है, जो सूत्र (आगम ओर धागा) मे सबद्ध मोतियोकी मालाके समान हृदयको भूषित करनेवाली, सन्तापको दूर करनेवाली ऐसी निर्मल वाणीको बोलता है, जो इन्द्रिय-विजयी छयालीस दोष-रहित, नव कोटीसे विशुद्ध,ऐसे रूक्ष-स्निग्ध भोजनको समान मानता हुआ खाता है, जो दयासे आलिंगित शरीर वाला प्राणियोके समूहकी परिपालनामे आसक्त चित्त होकर विकृति पुरस्सर द्रव्यको अर्थात् हस्तादिके धोने योग्य भस्म आदि को ओर शास्त्र पीछी कमण्डलु आदि ज्ञान - सयमके साधनोको यत्न-पूर्वक ग्रहण करता है और यत्न-पूर्वक ही रखता है, जो जीव-रहित, छिद्र-रहित, विरोध-रहित दूरवर्ती गुप्त और संकट-रहित स्थान पर मल मूत्र कफ आदिक शारीरिक मलका क्षेपण करता है,जो वानरके समान चंचल और अनेक दु.खोका कारणभूत चित्तको जिन वचनरूप पिंजरेमें बन्द कर अपने वशमे रखता है, जो प्राय मौन धारण करता है, तो भी जरा मरण रोगको दूर करनेवाली निर्दोष औषधिके समान अपनी महती वाणीको भव्य जीवोके लिए प्रदान करता है,कर्मोका क्षय करनेके लिए कायोत्सर्ग करता है, संसारसे भयभीत है, कर्तव्य और अकर्तव्यमें निपुण है, जो आगमानुमोदित कार्यको

कायोत्सर्गविधायी कर्मक्षयकारणाय भवभीत: । कृत्याकृत्यपरो य. कार्य वितनोति सूत्रमतम् ।।१७
यस्येत्थ स्थेयस्य सम्यग्व्रतसमितिगुप्तयः सन्ति । प्रोक्त स पात्रमुत्तममुत्तगुणभाजनं जैनै ।।१८
रागो द्वेषो मोहो क्रोधो लोभो मदः स्मरो माया । य परिहरन्ति दू : दिवाकरमिवान्धकारचयः १९
दर्शनबोधचरित्रत्रितय यस्यास्ति निर्मल हृदये । आनन्दितभव्यजन विमुक्तिलक्ष्मीवशीकरणम्।।२०
यस्यानवद्यवृत्तेर्जङ्गममिव मदिरं तपोलक्ष्म्या । कायक्लेशैरुग्रै कृशीकृत राजते गात्रम् ।। २१
यैर्विजिता जगदीशा विविधा विपद सदा प्रपद्यन्ते । तानीन्द्रियाणि सद्यो महीयसा येन जीयन्ते ।।२२
पूजायामपमाने सौख्ये दु खे समागमे विगमे । क्षुभ्यति यस्य न चेत: पात्रमसावुत्तम साधु । २३
यस्य स्वपरविभागो न विद्यते निर्ममत्वचित्तस्य । निर्बाधबोधदीपप्रकाशिताशेषतत्त्वस्य ।। २४
संसारवनकुठार दातुं कल्पद्रुम फलमभीष्टम् । यो धत्ते निरवद्य क्षमादिगुणसाधनं धर्मम् ।। २५
लोकाचारनिवृत्त कर्ममहाशत्रुमर्दनोद्युक्त । यो जातरूपधारी स यतिः पात्रं मतं वर्यम् ।। २६

करता है,इस प्रकारसे जिस साधुके सम्यक् महाव्रत, समिति और गुप्तियाँ पाई जाती है, उसे जैन लोगोंने उत्तम गुणोका भाज न उत्तम पात्र कहा है ।।५-१८।।

भावार्थ—इन तेरह श्लोकोमे क्रमश पाँच महाव्रत, पाँच समिति, और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकारके चारित्रके धारक साधुको उत्कृष्ट पात्र कहा गया है। अब इसी उत्तम पात्रका और भी विशेष स्वरूप कहते है—जैसे अन्धकारका समूह सूर्यको दूरसे ही त्यागता है, इसी प्रकार जिस साधुको राग द्वेष मोह लोभ क्रोध मद कामविकारका समूह सूर्यको दूरसे ही त्यागते है, अर्थात् दूर रहते है, जिसके हृदयमे भव्यजनोको आनन्दित करनेवाला और मोक्ष लक्ष्मीको वशमे करने वाला निर्मल सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म विद्यमान है,जिस निर्दोष वृत्तिवाले साधुका उग्र कायक्लेशोसे कृश किया हुआ शरीर तपोलक्ष्मीके जंगम (चलनेवाला) मन्दिरके समान शोभा-को प्राप्त करता है,जिनके द्वारा पराजित हुए जगत्के ईश्वर ब्रह्मा विष्णु महेश इन्द्रादिक देव भी सदा नाना विपदाओंको पाते है, ऐसी बलवती इन्द्रियोको भी जिस महात्माने अति शीघ्र जीत लिया है, जिसका चित्त पूजामे, अपमानमे,सुखमें दु खमे और सयोगमें वियोगमे क्षोभको प्राप्त नही होता है, वह साधु उत्तम पात्र है ।।१९-२३।। जिसका चित्त ममतासे रहित है,और बाधा रहित ज्ञानरूप दीपकके प्रकाशसे समस्त तत्त्वोका ज्ञायक है, एसे जिस साधुके अपने और परायेका विभाग नही है, जो ससाररूप वनको कुठारके समान और अभीष्ट फलको देनेके लिए कल्पवृक्षके समान क्षमा आदि गुणोके द्वारा सिद्ध होनेवाले निर्दोष धर्मको धारण करता है, जो लोकाचारसे रहित है, कर्मरूप महाशत्रुओके मर्दन करनेके लिए उद्यत है, और यथाजातरूप दिगम्बर वेषको धारण करता है, ऐसा साधु उत्तम श्रेष्ठ पात्र माना गया है ।।२४-२६।। अब मध्यम पात्रका स्वरूप कहते है—जो पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान उज्ज्वल सम्यग्दर्शनसे भूषित हो,जिसकी व्रत और शीलरूपी लक्ष्मी बढ रही हो,जिसकी चित्तवृत्ति सामायिक करनेमे सलग्न हो,निरन्तर चारो पर्वोमें उपवास करनेसे जिसका शरीर कृश हो रहा हो, सचित्त आहारसे जिसका चित्त निवृत्त हो,जो वैरागी हो और दिवामैथुन-सेवनसे रहित हो, जिसने सदा ही दिन और रातमे स्त्री-सेवनका त्याग किया हो, जिसने असयम-कारक सर्व आरम्भोका निराकरण कर दिया हो, जिसने सर्व प्रकारके परिग्रहकी इच्छाका निवारण कर दिया हो, जो सावद्य (पाप-युक्त) कार्योकी अनुमोदना न करना हो,अपने उद्दश्यसे बनाये गये आहारसे जिसकी बुद्धि निवृत्त हो, इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाधारी हो और

राकाशशाङ्कोज्ज्वलदृष्टिभूषः, प्रवर्धमानव्रतशीललक्ष्मीः ।
सामायिकारोपितचित्तवृत्तिर्निरन्तरोपोषितशोषिताङ्ग ॥ २७
सचेतनाहारनिवृत्तचितो वैरागिको मुक्तदिनव्यवायः ।
निरस्तशश्वद्वनितोपभोगो निराकृतासंयमकारिकर्मा. ॥ २८
निवारिताशेषपरिग्रहेच्छः सावद्यकर्मानुमतेरकर्त्ता ।
औद्देशिकाहारनिवृत्तबुद्धिर्दुरन्तसंसारनिपातभीतः ॥ २९
उपासकाचारविधिप्रवीणो मन्दीकृताशेषकषायवृत्ति. ।
उत्तिष्ठते यो जननव्यपाये तं मध्यमं पात्रमुदाहरन्ति ॥ ३०
कुमुदबान्धवदीधितिदर्शनो भवजरामरणार्तिविभीलुक ।
कृतचतुर्विधसङ्घहिते हितो जननभोगशरीरविरक्तधी. ॥ ३१
भवति यो जिनशासनभासकः सततनिन्दनगर्हणचञ्चुर. ।
स्वपरतत्त्वविचारणको विदो व्रतविधाननिरुत्सुकमानसः ॥ ३२
जिनपतीरिततत्त्वविचक्षणो विपुलधर्मफलेक्षणतोषितः ।
सकलजन्तुदयार्द्रितचेतनस्तमिह पात्रमुशन्ति जघन्यकम् ॥ ३३
चरति यश्चरणं परदुश्चरं विकटघोरकुदर्शनवासितः ।
निखिलसत्त्वहितोद्यतचेतनो वितथकर्कशवाक्यपराङ्मुख. ॥ ३४
धनकलत्रपरिग्रहनिःस्पृहो नियमसंयमशीलविभूषितः ।
कृतकषायहृषीकविनिर्जयः प्रणिगदन्ति कुपात्रमिमं बुधाः ॥ ३५
गतकृपः प्रणिहन्ति शरीरिणो वदति यो वितथं परुषं वचः ।
हरति वित्तमदत्तमनेकधा मदनबाणहतो भजतेऽङ्गनाम् ॥ ३६

इस दुरन्त संसार-सागरमे गिरनेके भयसे डर रहा हो, श्रावकोके आचार विधिमें प्रवीण हो, जिसने अपनी समस्त कषायवृत्तिको मन्द कर दिया हो, तथा जो संसारके विनाशमें उद्यत हो, ज्ञानियोने उसे मध्यम पात्र कहा हैं ॥२७ ३०॥

अब जघन्य पात्रका स्वरूप कहते है—जिसका सम्यग्दर्शन कुमुदवन्धु—चन्द्रकी किरणोके समान उज्ज्वल हो, जो जन्म जरा और मरणके दुःखोंसे भयभीत हो, जिसने चतुर्विध संघके हित-का भाव किया हो, संसार और भोगोसे विरक्त चित्त हो, जो जिनशासनका प्रभावक हो, निरन्तर अपनी निन्दा और गर्हामे प्रवीण हो, जो स्व-परतत्त्वके विचारनेमे विद्वान् हो, जिसका मन व्रतोके धारण करनेमें उत्सुक न हो, फिर भी जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्ररूपित तत्त्वोका जानकार हो, धर्मके विशाल फलके देखनेसे सन्तुष्ट हो और सर्व प्राणियोपर जिसका हृदय दयासे द्रवित हो, ऐसे अविरति सम्यग्दृष्टि जीवको जघन्य पात्र कहते हैं ॥३१-३३॥ अब कुपात्रका स्वरूप कहते है-जो विकट घोर मिथ्यात्वसे वासित चित्त हो फिर भी परम दुष्कर तपश्चरण करता हो, जिसका चित्त सकल प्राणियोके हित करनेमें उद्यत हो, असत्य कर्कश वचन बोलनेसे पराङ्मुख हो, धन, स्त्री और परिग्रहसे नि.स्पृह हो, नियम, संयम और शीलसे विभूषित हो, जिसने कषाय और इन्द्रियोंका विजय किया हो, ऐसे पुरुषको बुधजन कुपात्र कहते है ॥३४-३५॥

अब अपात्रका स्वरूप कहते है—जो निर्दय होकर प्राणियोको मारता, जो असत्य और परुष

विविधदोषविधायिपरिग्रहः पिबति मद्यमयन्त्रितमानसः ।
कृमिकुलाकुलितं ग्रसते[1] फलं कलिलकर्मविधानविशारदः ॥ ३७
दृढकुटुम्बपरिग्रहपञ्जरः प्रशमशीलगुणव्रतवर्जितः ।
गुरुकषायभुजङ्गमसेवितो विषयलोलमपात्रमुशन्ति तम् ॥ ३८
विबुध्य पात्र बहुधेति पण्डितैर्विशुद्धबुद्ध्या गुणदोषभाजनम् ।
विहाय गर्ह्यं परिगृह्य पावन शिवाय दान विधिना वितीर्यते ॥ ३९
कृतोत्तरासङ्गपवित्रविग्रहो निजालयद्वारगतो निराकुलः ।
ससम्भ्रमः स्वीकुरुते तपोधनं नमोऽस्तु तिष्ठेति कृतध्वनिर्नतः ॥ ४०
सुसस्कृते पूज्यतमे गृहान्तरे तपस्विन स्थापयते विधानत. ।
मनीषितानेकफलप्रदायक सुदुर्लभ रत्नमिवास्तदूषणम् ॥ ४१
अनेकजन्मार्जितकर्मकर्तिनस्तपोनिधेस्तत्र पवित्रवारिणा ।
स सादर क्षालयते पदद्वयं विमुक्तये मुक्ति सुखाभिलाषिण ॥ ४२
प्रसूनगन्धाक्षतदीपिकादिभिः प्रपूज्य मर्त्यामरवर्गपूजितम् ।
मुदा मुमुक्षो. पदपङ्कजद्वय स वन्दते मस्तकपाणिकुड्मलः ॥ ४३
मनोवच.कायविशुद्धिमञ्जसा विधाय विध्वस्तमनो भवद्विषे ।
चतुर्विधाहारमहार्यनिश्चयो ददाति स प्रासुकमात्मकल्पितम् ॥ ४४

वचन बोलता हो, जो विना दिया धन अनेक अवैध मार्गोसे हरण करता हो, कामबाणसे पीडित होकर जो स्त्रीका सेवन करता हो, अनेक दोषोका विधायक परिग्रह रखता हो,जो मद्यको पीता हो, अनियन्त्रित चित्त हो, जो कृमि-समूहसे भरे हुए मास और उदुम्बर फलोंको खाता हो,पाप-कर्मोके करनेमे विशारद हो, जो कुटुम्ब और परिग्रहके दृढ पिंजरेमे बन्द हो, जो प्रशमभाव, शील, व्रत और गुणव्रतसे रहित हो, जो प्रबल कषायरूप भुजगोसे सेवित हो और इन्द्रियोके विषयोंका लोलुपी हो, ऐसे पुरुषको अपात्र कहते है ।।३६-३८।। इस प्रकार पडितजन अपनी विशुद्ध बुद्धिसे गुण और दोषके भाजन अनेक प्रकारके पात्रोको जानकर निंद्य पात्रको छोडकर और पवित्र पात्रको ग्रहण कर मोक्ष-प्राप्तिके लिए विधि-पूर्वक दान देते है ।।३९।। अब उत्तम पात्रको आहार देनेकी विधि कहते है—जिसने स्नानसे पवित्र होकर धोती और दुपट्टा धारण किया है, जो अपने भवनके द्वारपर खडा है, आकुलतासे रहित है, ऐसा श्रावक स्वयं आये हुए तपोधन साधुको देखकर 'नमोऽस्तु', 'तिष्ठ' ऐसी ध्वनि करता हुआ अत्यन्त हर्षके साथ उन्हे स्वीकार करता है, अर्थात् पडिगाहना है, पुन. सुसस्कृत और पूज्यतम गृहके मध्यमे विधिपूर्वक उस तपस्वीको बैठाता है, पुनः मनोवाछित अनेक फलोके देनेवाले, अति दुर्लभ निर्दोष रत्नके समान अनेक जन्म-सचित कर्मोके काटनेवाले और मुक्ति-सुखके अभिलाषी उस तपोनिधिके चरण-युगलको मुक्ति पानेके लिए पवित्र जलसे सादर प्रक्षालन करता है, पुन मनुष्य और देव गणसे पूजित उस मुमुक्षु साधुके चरण-कमल युगलक पुष्प, गन्ध, अक्षत, दीपक आदि द्रव्योसे पूजाकर अपने मस्तकपर हस्त-युगलको जोडकर रखते हुए उनकी वन्दना करता है, पुन. मन वचन कायकी शुद्धिको करके निश्चयसे कामदेव-रूपी शत्रुके विध्वसक उस तपोधनको अपने लिए बनाये प्रासुक चतुर्विध आहारको अप-

---

१ मु 'पल' पाठ ।

अनेन दत्तं विधिना तपस्विनां महाफलं स्तोकमपि प्रजायते ।
वसुन्धरायां वटपादस्य किं न बीजमुप्तं परमेति विस्तरम् ॥ ४५
निवेशितं बीजमिलातलेऽनघे विना विधानं न फलावहं यथा ।
तथा न पात्राय वितीर्णमञ्जसा ददाति दानं विधिना विना फलम् ॥ ४६
सदाऽतिथिभ्यो विनयं वितन्वता निजं प्रदेयं प्रियजल्पिना धनम् ।
प्रजायते कर्कशभाषिणा स्फुटं धनं वितीर्णं गुरुवैरकारणम् ॥ ४७
निगद्य यः कर्कशमस्तचेतनो निजं प्रदत्ते द्रविणं शठत्वतः ।
सुखाय दुःखोदयकारणं परं मूल्येन गृह्णाति स दुर्मना कलिम् ॥ ४८
सम्यग्भक्ति कुर्वतः संयतेभ्यो द्रव्यं भावं कालमालोक्य दत्तम् ।
दातुर्दानं भूरि पुण्यं विधत्ते सामग्रीतः सर्वकार्यप्रसिद्धिः ॥ ४९
बलाहकादेकरसं विनिर्गतं यथा पयो भूरिरसं निसर्गतः ।
विचित्रमाधारमवाप्य जायते तथा स्फुटं दानमपि प्रदातृतः ॥५०॥
घटे यथाऽऽमे सलिलं निवेशितं पलायते क्षिप्रमसौ च भिद्यते ।
तथा वितीर्णं विगुणाय निष्फलं प्रजायते दानमसौ च नश्यते ॥५१॥
विना विवेकेन यथा तपस्विना यथा पटुत्वेन विना सरस्वती ।
तथा विधानेन विना वदान्यता न जायते कर्मकरी कदाचन ॥५२॥

रिहार्य नियमके साथ अलोभवृत्तिसे देता हैं। सारांश—उक्त प्रकारसे पडिगाहना आदि नवधा भक्तिपूर्वक साधुओंको निर्दोष प्रासुक आहार देना चाहिए ॥४०–४४॥

इस उपर्युक्त विधिसे तपस्वियोंको दिया गया थोडा सा भी दान महान् फलको उत्पन्न करता है। उत्तम भूमिमें बोया वट वृक्षका बीज क्या महा विस्तारको नही प्राप्त होता है? होता ही हैं ॥४५॥ और जैसे निर्दोष भी भूमितल पर विना विधिके बोया गया बीज फल-प्रदायक नही होता हैं, उसी प्रकार विना विधिके पात्रके लिए दिया गया दान भी नियमसे फलको नही देता हैं ॥४६॥ इसलिए सदा ही विनयका विस्तार करते हुए प्रिय वचन बोलनेवाले गृहस्थको अतिथियोंके लिए अपना धन देना चाहिए। क्योकि कर्कश बोलनेवाले दाताके द्वारा दिया धन नियमसे महा वैरका कारण होता है ॥४७॥ जो निर्बुद्धि पुरुष मूर्खतासे कर्कश वचन बोल कर सुख पानेके लिए पात्रोंको धन देता है,वह दुर्बुद्धि धनरूप मूल्यसे परम दुखोके उदयके कारणभूत पापको ग्रहण करता है ॥४८॥ जो बुद्धिमान् पुरुष द्रव्य, क्षेत्र,काल भावका विचार करके भले प्रकारसे भक्तिको करते हुए संयमी पुरुषोके लिये दान देता है, वह दान दाताके लिए भारी पुण्यका विधान करता है, क्योकि सभी कार्योंकी सिद्धि समुचित कारण-सम्पन्न सामग्रीसे होती है ॥४९॥ जैसे मेघसे एक रसवाला निकला हुआ जल नाना प्रकारके आधारोको पाकर स्वभावतः विभिन्न रसवाला हो जाता है उसी प्रकार दातासे दिया गया एक प्रकारका भी दान पात्रोके भेदसे स्पष्टतः नाना प्रकारका फल देनेवाला हो जाता है ॥५०॥ जैसे मिट्टीके कच्चे घडेमें भरा हुआ जल शीघ्र ही बाहिर निकल जाता है और वह घडा भी फूट जाता है, इसी प्रकार गुण-रहित पात्रके लिए दिया गया दान भी निष्फल जाता है और वह पात्र भी विनष्ट हो जाता है ॥५१॥ जैसे विवेकके विना तपस्वीपना सुखकारी नहीं, जैसे चातुर्यके विना सरस्वती सुख कारिणी नही है, इसी प्रकार नवधा भक्तिरूप विधि विधानके

यथा वितीर्णं भुजगाय पावनं प्रजायते प्राणहरं विषं पयः।
भवत्यपात्राय धनं गुणोज्ज्वलं तथा प्रदत्तं बहुदोषकारणम् ॥५३॥
वितीर्य यो दानमसंयतात्मने जनः फलं कांक्षति पुण्यलक्षणम्।
वितीर्य बीजं ज्वलिते स पावके समीहते सस्यमपास्तदूषणम् ॥५४॥
विमुच्य यः पात्रमवद्यविच्छिदे कुधीरपात्राय ददाति भोजनम्।
स कर्षितं क्षेत्रमपोह्य सुन्दरं फलाय बीजं क्षिपते बलोपले ॥५५॥
यथा रजोधारिणि पुष्टिकारणं विनश्यति क्षीरमलाबुनि स्थितम्।
प्ररूढमिथ्यात्वमलाय देहिने तथा प्रदत्तं द्रविणं विनश्यति ॥५६॥
नो दातारं मन्मथाक्रान्तचित्तः संसारार्तेर्याति पापावलीढः।
अम्भोराशेर्दुस्तराल्लोहमय्या नावा लोहं तार्यमाणं न दृष्टम् ॥५७॥
ग्रन्थारम्भक्रोधलोभादिपुष्टो ग्रन्थारम्भक्रोधलोभादि पुष्टम्।
जन्मारातेः रक्षितुं तुल्यदोषौ नूनं शक्तो नो गृहस्थं गृहस्थः ॥५८॥
लोभमोहमदमत्सरहीनो लोभमोहमदमत्सरगेहम्।
पाति जन्मजलधेरपरागो रागवन्तमपहस्तितपापः ॥५९॥
[1]भूरिदोषनिचिताय फलार्थी यो ददाति धनमस्तविचारः।
तद्ददाति मलिम्लुचहस्ते कानने पुनरपि ग्रहणाय ॥६०॥
दानं यतिभ्यो ददता विधानतो मतिर्विधेया भवदुःखशान्तये।
दुरन्तसंसारपयोधिपातिनी न भोगबुद्धिर्मनसाऽपि धीमता ॥६१॥

विना उदारता भी सुखकारी नही होती है ।५२॥ जैसे सांपके लिये पिलाया गया पवित्र भी दूध प्राण-हारी विषको ही उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अपात्रके लिए दिया गया उज्ज्वल गुणकारी भी धन अनेक दोषोका कारण होता है ॥५३॥ जो मनुष्य असयमी पुरुषको दान देकर पुण्यवाले फलको चाहता हैं, वह जलती हुई अग्निमे बीजको डाल करके दोष-रहित धान्यको चाहता है ॥५४॥ जो कुबुद्धि पापके नाशके लिए पात्रको छोडकर अपात्रके लिए भोजन देता है, वह जोते गये सुन्दर खेतको छोडकर फल-प्राप्तिके लिए पाषाणपर बीज फेकता है, यह अत्यन्त दुःख हैं ॥५५

जैसे कडवीरजको धारण करनेवाली तूबडीमे रखा गया पुष्टिकारक दूध विनष्ट हो जाता हैं, इसी प्रकार मिथ्यात्वमलसे व्याप्त पुरुषके लिए दिया गया धन भी विनष्ट हो जाता है ॥५६॥ काम विकारसे जिसका चित्त व्याकुल है ऐसा पापसे व्याप्त पात्र ससारके दुःखसे दाताकी रक्षा नही कर सकता हैं। जैसे दुस्तर समुद्रसे लोहमयी नावके द्वारा लोहा तिराया गया किसीने नही देखा है ॥५७॥ परिग्रह, आरम्भ और क्रोध-लोभादि कषायोसे पुष्ट गृहस्थ, परिग्रह, आरम्भ और क्रोध-लोभादि कषायोसे पुष्ट गृहस्थको ससाररूपी वैरीसे रक्षा करनेके लिए समर्थ नही है क्योकि दोनो ही समान दोषोके धारक है ॥५८॥ किन्तु लोभ मोह मद मत्सरसे रहित, पापोसे मुक्त वीतरागी पात्र लोभ, मोह, मद और मत्सरके स्थान और रागवाले दाताकी ससार-समुद्रसे रक्षा करता है ॥५९॥ जो विचार-रहित पुरुष फल पानेका इच्छुक होकर सर्वदोषोमे भरे हुए पुरुषको धन देता है, वह वापिस पानेके लिए वनके भीतर चोरके हाथमें धनको देता है ॥६०॥ अतएव

---

१. मु. सव' पाठ ।

प्रदाय दानं यतिनां महात्मनां यो याचते भोगमनर्थकारणम् ।
मनीषितानेकसुखप्रदं मणिं प्रदाय गृह्णाति स दुर्जरं विषम् ॥६२॥
पन्नगानामिव प्राणिवित्रासिनामर्जने रक्षणे पोषणे सेवने ।
याति घोराणि दुःखानि येषां जनः सन्ति भोगाः कथं ते मता धीमताम् ॥६३॥
श्रद्धीयमाना अपि वञ्चयन्ते निषेव्यमाणा अपि मारयन्ते ।
ये पोष्यमाणा अपि पीडयन्ते ते सन्ति भोगाः कथमर्थनीयाः ॥६४॥
उत्पद्यमाना निलयं स्वकीयं ये हव्यवाहा इव धार्यमाणाः ।
प्रप्लोषयन्ते हृदयं ज्वलन्तस्ते याचनीयाः कथमिन्द्रियार्थाः ॥ ६५
दत्तप्रलापभ्रमशोकमूर्च्छाः सन्तापयन्तः सकलं शरीरम् ।
ये दुर्निवारां जनयन्ति तृष्णां ज्वरा इवैते न सुखाय सन्ति ॥ ६६
विश्राण्य दानं कुधियो यतिभ्यो ये प्रार्थयन्ते विषयोपभोगम् ।
ते लाङ्गलैर्गां खलु काञ्चनीयैर्विलिख्य किम्पाकवनं वपन्ति ॥ ६७
भिन्दन्ति सूत्राय मणिं महार्घं काष्ठाय ते कल्पतरुं लुनन्ति ।
नावं च लोहाय विपाटयन्ते भोगाय दानं ननु ये ददन्ते ॥ ६८
परैरशक्यं दमितेन्द्रियाश्वाश्चरन्ति धर्मं विषयार्थिनो ये ।
पाषाणमादाय गले महान्तं विशन्ति ते नीरमलभ्यपारम् ॥ ६९

बुद्धिमान् गृहस्थको चाहिए कि वह विधि पूर्वक साधुओको दान देते हुए ससारके दु.खोकी शान्तिके लिए अपनी बुद्धि करे, अर्थात् संसारके दु.खोंसे छूटनेकी भावनासे साधुओंको दान देना चाहिए। किन्तु दुरन्त संसार-समुद्रमे गिरानेंवाली भोग-प्राप्तिकी बुद्धि तो मनसे भी नही करना चाहिए ॥६१॥ जो व्रती महात्माओंको दान देकर अनर्थके कारणभूत भोगको चाहता है,वह मनोवाञ्छित अनेक सुखोंको देनेवाले मणिको देकर दुर्जर विषको ग्रहण करता है ॥६२॥ प्राणियोको अतित्रास देनेवाले सांपोंके समान जिन भोगोके उपार्जनमें, संरक्षणमे, पोषणमे और सेवनमे मनुष्य घोर दुःखोंको प्राप्त होता है, वे भोग बुद्धिमान् पुरुषोंके अभिमत कैसे हो सकते हैं? कभी नही हो सकते ॥६३॥ जो भोग श्रद्धायुक्त प्रीति करते हुए भी पुरुषोंको ठगते है, सेवन किये जाने पर भी मारते है, पोषण किये जाने पर भी पीडा देते है, वे भोग बुद्धिमानोंके द्वारा चाहने योग्य कैसे हो सकते है, कभी नही हो सकते ॥६४॥ जैसे जलती हुई अग्नि अपने उपजनेके स्थान घरको ही जला देती हैं, इसी प्रकार ये मान्यता किये गये इन्द्रियो के विषयभूत भोग जलते हुए हृदयको और भी जलाते है ॥६५॥ प्रलाप भ्रम शोक मूर्च्छा आदि को देनेवाले सारे शरीरको सन्ताप पहुंचाने वाले ये भोग दुर्निवार तृष्णाको ही उत्पन्न करते है, वे सुखके लिए नही हो सकते ॥६६॥ जो कुबुद्धि लोग साधुओंको दान देकर विषयोके उपभोगकी कामना करते है, वे सुवर्णके हलोंसे पृथ्वीको जोतकर उसमें किम्पाक वृक्षोके वनको बोते हैं ॥६७॥ जो लोग भोगोंकी प्राप्ति के लिए दान देते है, वे निश्चयसे सूत्र (धागा) के पानेके लिए महामूल्य मणियोके हारको तोडते है, काष्ठके लिए कल्पवृक्षको काटते हैं और लोहाके लिए नावको उखाडते है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥६८॥ दमन किये हैं इन्द्रियरूप अश्व जिन्होने ऐसे जो संयमी पुरुष विषयोके अर्थी होकर साधारण अन्य जनोंके द्वारा अशक्य धर्मका आचरण करते हैं, वे अपने गलेमें महान् पाषाणको

दिने दिने ये परिचर्यमाणा विवर्धमाना: परिपीडयन्ति ।
ते कस्य रोगा इव सन्ति भोगा विनिन्दनीया विदुषोऽर्थनीया ॥ ७०
प्रयच्छन्ति सौख्यं सुराधीश्वरेभ्यो न ये जातु भोगा: कथ ते परेभ्य: ।
निशुम्भन्ति ये मत्तमत्र द्विपेन्द्रं न कण्ठीरवास्ते कुरङ्ग त्यजन्ति ॥ ७१
न याचनीया विदुषेति दोष विज्ञाय रोगा इव जातु भोगा: ।
किं प्राणहारित्वमवेक्षमाणो जिजीविषु खादति कालकूटम् ॥ ७२
भोगा सम्पद्यमाना सुरमनुजभवाश्चिन्तितप्राप्तसौख्या
याच्यन्ते लब्धुकामै. कथमपविपद धर्मतो मुक्तिकान्ताम् ।
सस्यं स्वीकर्तुकामा: क्षुदुरुतरतरो काण्डविच्छेददक्ष
स्वीकर्तुं किं पलाल फलममलधिय कुर्वते कर्षणं हि ॥ ७३
त्यक्त्वा भोगाभिलाषं भवमरणजरारण्यनिर्मूलनार्थं,
दत्ते दान मुदा यो नयविनयपर संयतेभ्यो यतिभ्य: ।
भुक्त्वा भोगानरोगानमरवरवधूलोचनाम्भोजभानु-
र्नित्यां निर्वाणलक्ष्मीममितगतियतिप्रार्थनीयां स याति ॥ ७४

इत्युपासकाचारे दशम परिच्छेद

बाँध कर अलभ्य अपार तीर वाले समुद्रमे प्रवेश करते हैं ॥६९॥ जो भोग दिन दिन परिचर्या किये जाने पर भी रोगोके समान बढते हुए मनुष्योंको अति पीडा देते है, वे अति निन्दनीय भोग किस विद्वान्के चाहने योग्य हो सकते हैं ॥७०॥

जो भोग देवोके स्वामी इन्द्रोके लिए भी कभी सुख नही देते है, वे अन्य लोगोंको तो कैसे दे सकते हैं? जो सिह इस लोकमे मदोन्मत्त गजराज को मारते है, वे हरिणको नही छोडते है ॥७१॥ इस प्रकार विद्वान् पुरुषको चाहिए कि रोगके समान भोगोके दोष जानकर उनके पानेके लिए कदाचित् भी याचना अर्थात् निदान नही करना चाहिए। प्रत्यक्षमे कालकूट विषकी प्राण अपहरण करनेकी शक्तिको देखता हुआ जीनेका इच्छुक पुरुष क्या उसे खाता है? नही खाता ॥७२॥ धर्म सेवन करके सर्व विपदाओसे रहित मुक्तिरूपी कान्ताको प्राप्त करनेके इच्छुक पुरुष विना चिन्तवन किये ही स्वयमेव प्राप्त होनेवाले देव और मनुष्य-सम्बन्धी भोगोकी कैसे याचना करते है? अर्थात् नही करते है। क्षुधा रूपी विशाल वृक्षके काण्ड-भागके विच्छेदमे दक्ष धान्यको प्राप्त करनेकी इच्छावाले निर्मल बुद्धि पुरुष क्या पलाल (पियार भूसा) को पानेके लिए खेती करते है? नही करते है ॥७३॥ अत एव भोगोकी अभिलाषा छोडकर जन्म जरा मरणरूप वनके निर्मूलन करनेके लिए नय और विनयमे तत्पर जो गृहस्थ हर्षके साथ सयमी साधुओको दान देता है, वह देवलोककी श्रेष्ठ देवाङ्गनाओके नयन-कमलोको विकसित करनेके लिए सूर्य-सदृश होकर रोग-रहित भोगोको भोगकर अन्तमे अमितगति-यतिसे प्रार्थनीय नित्य निर्वाण-लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥७४॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित श्रावकाचारमे दशम परिच्छेद समाप्त हुआ।

एकादशः परिच्छेदः

फल नाभयदानस्य वक्तुं केनापि पार्यते । यस्याऽऽकल्पं मुख जिव्हा व्याप्रियन्ते सहस्रश ॥ १
धर्माऽऽर्थकाममोक्षाणां जीवित मूलमिष्यते । तद्रक्षता न किं दत्तं हरता तन्नं किं हृतम् ॥ २
गोपालब्राह्मणस्त्रीत पुण्यभागी यदीष्यते । सर्वप्राणिगणत्रायी नितरां न तदा कथम् ॥ ३
यद्येकमेकदा जीवं त्रायमाणः प्रपूज्यते । न तथा सर्वदा सर्वं त्रायमाणः कथं बुधैः ॥ ४
चामीकरमयीमुर्वी ददान पर्वतैः सह । एकजीवाभय नूनं ददानस्य सम. कुतः ॥ ५
गुणानां दुरवापाणामर्थितानां महात्मभिः । दयालुर्जायते स्थान मणीनामिव सागर ॥ ६
संयमा नियमा सर्वे दयालो सन्ति देहिनः । जायमाना न दृश्यन्ते भूरुहा धरणीमृते ॥ ७
कारणं सर्ववैराणां प्राणिनां विनिपातनम् । तत्सदा त्यज्यतस्त्रेधा कुतो वैरं प्रजायते ॥ ८
मनोभूरिव कान्ताङ्ग सुवर्णाद्रिरिवः स्थिर. । सरस्वानिव गम्भीरो भास्वानिव हि भासुर.[1] ॥ ९
आदेयः सुभगः सौम्यस्त्यागी भोगी यशोनिधिः । भवत्यभयदानेन चिरंजीवी निरामय ॥ १०
तीर्थकृच्चक्रिदेवानां सम्पदो बुधवन्दिता । क्षणेनाभयदानेन दीयन्ते दलितापद ११
तदस्ति न सुखं लोके न भूतं न भविष्यति । यन्न सम्पद्यते सद्यो जन्तोरभयदानत ॥ १२

अब आचार्य सर्वप्रधान अभयदानका फल वर्णन करते है—

जिसके मुखमे हजारो जिव्हाए हो, ऐसा व्यक्ति भी यदि कल्प काल-पर्यन्त अभयदानके फलको कहनेके लिए व्यापार करे, तो भी वह कहनेको समर्थ नही हो सकता है ॥१। धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारो पुरुषार्थोका मूल कारण जीवन कहा जाता है। उस जीवनकी रक्षा करने वालेने क्या नही दिया? और जीवनको हरण करने वालेने क्या नही हरा ॥२॥ गाय बालक ब्राह्मण और स्त्री इनकी रक्षा करनेसे यदि मनुष्य पुण्यभागी कहा जाता हैं, तो सर्व प्राणि-समूहकी रक्षा करने वाला अधिक पुण्यभागी कैसे नही होगा? अर्थात् प्राणिमात्रका रक्षक सर्वाधिक पुण्यभागी है ॥३॥ यदि एक बार एक जीवकी रक्षा करने वाला जगत्मे पूजा जाता है, तो सर्वदा सर्व प्राणियोकी रक्षा करनेवाला पुरुष ज्ञानियोके द्वारा कैसे नही पूजा जायगा ॥४॥ सर्व पर्वतोके साथ सुवर्णमयी पृथ्वीको देनेवाला पुरुष एक जीवको अभय दान देनेवाले पुरुषके साथ निश्चयसे कैसे समान हो सकता है? नही हो सकता ॥५॥ जिस प्रकार सर्व प्रकारके मणियोका स्थान समुद्र है,उसी प्रकार अति दुर्लभ और महात्माओसे पूजित सर्व गुणोका स्थान दयालु पुरुष होता है ॥६॥ दयालु पुरुषके सभी संयम और नियम स्वत. होते है। क्योकि पृथ्वीके विना वृक्ष उत्पन्न होते हुए नही दिखाई देते हैं ॥७॥ प्राणियो का विनाश सर्व प्रकारके वैर–भावों का कारण है इसलिए प्राणियो के विनाशको मन वचन कायसे सदा त्याग करनेवाले पुरुषके वैरभाव कैसे प्रवृत्त हो सकता है ॥८॥ अभयदानके फलसे जीव कामदेवके समान सुन्दर देह वाला होता हैं, सुवर्णाचलके समान स्थिर होता है, सागरके समान गम्भीर होता है, सूर्यके समान भास्वर होता है, सर्व लोगोका प्यारा होता है, सौभाग्यशाली होता है, सौम्यमूर्त्ति होता है, त्यागी होता है, भोगवान् और यशोनिधान होता हैं, एव नीरोग तथा चिरजीवी होता है ॥९–१०॥ ससारमे आपत्तियोको दूर करने वाली और विद्वानोसे वन्दित जितनी भी तीर्थंकर, चक्रवर्ती और देवोकी सम्पदाए है, वे सव अभयदानके द्वारा क्षणभरमे दी जाती है ॥११॥ इस ससारमें ऐसा कोई सुख न है न भूतकालमे था और न आगामी कालमें होगा, जो जीवको अभयदानसे शीघ्र न प्राप्त होता

---

१. मु. भास्वर.।

शरीरं ध्रियते येन शमेनेव महाव्रतम् । कस्तस्याहारदानस्य फल शक्नोति भाषितुम् ॥१३
आहारेण विना कायो न तिष्ठति कदाचन । भास्करेण विना कुत्र वासरो व्यवतिष्ठते ॥१४
शमस्तपो दया धर्म संयमो नियमो दमः । सर्वे तेन वितीर्यन्ते येनाहारो वितीर्यते ॥१५
चिन्तितं पूजितं भोज्य क्षीयते तस्य नालये । आहारो भक्तितो येन दीयते व्रतवर्तिनाम् ॥ १६
कल्याणानामशेषाणां भाजन स प्रजायते । सलिलानामिवाम्भोधिर्येनाहारो वितीर्यते । १७
स्वयमेव श्रियोऽन्विष्य धनं दातारमन्धस । आयान्ति तरसा श्रेष्ठा सुभग वनिता इव ॥१८
सम्पदस्तीर्थकर्तृणां चक्रिणामर्धचक्रिणाम् । भजन्त्यशनद सर्वा पयोधिमिव निम्नगा. ॥१९
प्रक्षीयन्ते न तस्यार्था ददानस्यापि भूरिशः । ददाना जनतानन्द चन्द्रस्येव मरीचय ॥२०
यत्फल ददत. पृथ्वीं प्रासुक यच्च भोजनम् । अनयोरन्तरं मन्ये तृणाब्धि-जलयोरिव ॥२१
अन्नदानप्रसादेन यत्र यत्र प्रजायते । तत्र तत्रास्यते[1] भोगैर्न भास्वानिव रश्मिभि ॥२२
ददानोऽशनमात्र यत्फलमाप्नोति मानव । दाता सुवर्णकोटीनां न कदाचन तद् ध्रुवम् ॥२३
विना भोगोपभोगभ्यश्चिर जीवति मानवः । न विनाऽऽहारमात्रेण तुष्टिपुष्टिप्रदायिना ॥२४

हो। अर्थात् अभय दानके फलसे सभी सुख प्राप्त होते है ॥१२॥ जिस प्रकार समभावके द्वारा महाव्रत पुष्ट होते है, उसी प्रकार अभयदानके द्वारा शरीर पुष्ट होता है। ऐसे उस अभयदानके फलको कहनेके लिए कौन पुरुष समर्थ हो सकता है। अर्थात् अभयदानका फल वर्णनातीत है ॥१३॥

अब आचार्य आहार दानका वर्णन करते है—आहारके विना यह शरीर किसीभी प्रकारसे नही ठहर सकता है जैसे कि सूर्यके विना दिन कहा ठहर सकता है ॥१४॥ जो पुरुष आहार देता है, उसके द्वारा शम, तप, दया, धर्म, संयम नियम और दम आदि सभी गुण दिये दाते है, एसा जानना चाहिए ॥१५॥ जो पुरुष भक्तिसे व्रतधारियोको आहार देता है, उसके घरमे मनोवाछित और प्रशंसनीय भोजन सामग्री कभी क्षयको प्राप्त नही होती है ॥१६॥ जो आहार दान देता हैं वह समस्त कल्याणोका भाजन होता है, जैसे कि समुद्र सर्वजलोका भाजन होता है ॥१७॥ जैसे उत्तम स्त्रिया सौभाग्यशाली पुरुषके पास स्वय आती है, उसी प्रकार आहार दान देनेवाले धन्य-पुरुषके पास सर्व प्रकारकी लक्ष्मिया अन्वेषण करके स्वयमेव शीघ्र आती है ॥१८॥ जेसे समस्त नदिया समुद्रको प्राप्त होती है, उसी प्रकार तीर्थकर चक्रवर्ती और अर्धचक्री नारायण आदिकी समस्त सम्पदाए आहार देनेवाले पुरुषको प्राप्त होती है ॥१९॥ जैसे जनताके आनन्दको देने वाली चन्द्रमाकी किरणे कभी क्षीण नही होती है, उसी प्रकार वहुत भी आहारदान देनेवाले पुरुषकी सम्पदाए कभी भी क्षयको प्राप्त नही होती है ॥२०॥ समस्त पृथ्वीके दानका जो फल है और प्रासुक भोजनके दानका जो फल है, इन दोनों मे मै तृण और समुद्र जलके समान महान् अन्तर मानता हूँ। भावार्थ—तृणकी नोकपर रखा जल-विन्दु और समुद्रका जल जैसा भू-दान और आहार-दानमे महान अतर है ॥२१॥ अन्न दानके प्रसादसे यह जीव जहा जहा भी उत्पन्न होता है, वहा वहा पर भोगोसे रिक्त नही होता है। जैसे कि सूर्य जहा जहा भी जाय, वह किरणो से रहित नही होता है ॥२२॥ केवल आहार दानको देनेवाला मानव जो फल प्राप्त करता है.वह कोटि-सुवर्णके दानसे भी नियमत. कदाचित् भी प्राप्त नही होता है ॥२३॥ भोग और उपभोग

---

१. मु तत्रोज्झ्यते .

केवलज्ञानतो ज्ञानं निर्वाणसुखत. सुखम् । आहारदानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ॥ २५
अन्धसा क्रियते यावानुपकारः शरीरिण. । न तावान् रत्नकोटीभिः पुञ्जिताभिरिति'स्फुटम् ॥२६
हीयन्ते निखिलाश्चेष्टा विना भोजनमात्रया । गुप्तयो व्यवतिष्ठन्ते विना कुत्र तितिक्षया ॥ २७
शीर्यते तरसा गात्रं जन्तोर्वर्जितमन्धसा । विना नीरं क्व सस्यस्य कोमलस्य व्यवस्थिति' ॥ २८
यथाऽऽहारः प्रियः पुंसां न तथा किञ्चनापरम् । विक्रीयन्ते प्रियाः पुत्रास्तदर्थं कथमन्यथा ॥ २९
यत्किञ्चित्सुन्दरं वस्तु दृश्यते भुवनत्रये । तदन्नदायिना क्षिप्रं लभ्यते लीलयाऽखिलम् ॥ ३०
बहुनाऽत्र किमुक्तेन विना सकलवेदिना । फलं नाऽऽहारदानस्य पर' शक्नोति भाषितुम् ॥ ३१
रक्ष्यते व्रतिनां येन शरीरं धर्मसाधनम् . पार्यते न फलं वक्तुं तस्य भैषज्यदायिन' ॥ ३२
येनौषधप्रदस्येह वचनै. कथ्यनैः कथ्यते फलम् । चुलकैर्मीयते तेन पयो नूनं पयोनिधेः ॥ ३३
वातपित्तकफोत्थानै रोगैरेष न पीड्यते । दावैरिव जलस्थायी भेषजं येन दीयते ॥ ३४
रागैर्निपीडितो योगी न शक्तो व्रतरक्षणे । नास्वस्थैः शक्यते कर्तुं स्व-स्वकर्म कदाचन ॥ ३५
न जायते सरोगत्वं जन्तोरौषधदायिन' । पावकं सेवमानस्य तुषारं हि पलायते ॥ ३६

के विना मनुष्य चिरकाल तक जीवित रह सकता हैं । किन्तु तुष्टि और पुष्टिको देनेवाले केवल आहारके विना जीवित नही रह सकता है ॥२४॥ इस संसारमें केवलज्ञानसे उत्तम कोई दूसरा ज्ञान नही है, निर्वाणके सुखसे श्रेष्ठ कोई सुख नही हैं और आहार दानसे उत्तम कोई दान नही हैं ॥२५॥ भोजनके द्वारा शरीर-धारीका जितना उपकार किया जाता हैं, उतना उपकार एकत्र पुंज किये कोटि-रत्नोके द्वारा भी नही किया जाता है यह बात स्पष्ट है ॥२६ । भोजनकी मात्राके विना प्राणीकी समस्त चेष्टाए नष्ट हो जाती है । देखो—क्षमाके विना मन-वचन-काय-गुप्तिया कहां ठहर सकती हैं ॥२७॥ आहारके विना प्राणीका शरीर शीघ्र क्षीण हो जाता हैं। देखो-जलके विना कोमल घासकी स्थिति कहां हो सकती है ॥२८ । मनुष्योको जैसा आहार प्यारा हैं,वैसी और कोई वस्तु प्यारी नही हैं। यदि ऐसा न माना जाय, तो केवल आहार प्राप्त करनेके लिए मनुष्य अपने प्रिय पुत्रोंको कैसे बेंच देते है ॥२९॥ तीन भुवनमें जो कुछ भी सुन्दर वस्तु दिखाई देती वह सर्व अन्नदान करने वाले पुरुषको लीला मात्रसे शीघ्र प्राप्त हो जाती हैं ॥३०॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ हैं । आहारदानके फलको सर्वज्ञके विना अन्य कोई पुरुष कहनेके लिए समर्थ नही हैं ॥३१॥

अब आचार्य औषधिदानका वर्णन करते है—जिस औषधिदानके द्वारा धर्मके साधनभूत व्रती पुरुषोके शरीरकी रक्षा की जाती हैं, उस औषधि-दाता पुरुषके पुण्य-फलको कहनेके लिए कोई समर्थ नही है ॥३२॥ जो पुरुष औषधि-दाताके पुण्यफलको इस ससारमें वचनोंसे कहना चाहता है, मानों वह समुद्रके जलको चुल्लुओंसे मापना चाहता है ॥३३॥ जो पुरुष औषधि देता है, वह वात पित्त और कफसे उत्पन्न होनेवाले रोगोसे पीडित नही होता हैं, जैसे कि जलमें स्थित पुरुष दावानलसे पीडित नही होता है ॥३४॥ रोगोंसे पीडित हुआ योगी अपने व्रतके संरक्षणमें समर्थ नही हो सकता है । क्योकि अस्वस्थ पुरुष आकुलताके कारण निराकुल स्वस्थ कार्य कदाचित् भी नही कर सकते है ॥३५॥ औषधिदान देनेवाले पुरुषका शरीर रोग-सहित कभी नही हो जाता है क्योंकि अग्निका सेवन करने वाले पुरुषके पाससे तुषार दूर भाग जाता है ॥३६॥

---

१ मु—रपि ।

दासीदासद्विपम्लेच्छसारमेयादयोऽत्र ये। कुपात्रदानतो भोगस्तेषां भोगवतां स्फुटम् ।।८७
दृश्यन्ते नीचजातीनां ये भोगा भोगिनामिह। सर्वे कुपात्रदानेन ते दीयन्ते महोदया ।।८८
अपात्राय धन दत्त व्यर्थ सम्पद्यतेऽखिलम्। ज्वलिते पावके क्षिप्त बीज कुत्राङ्कुरीयत ।।८९
अपात्रदानत किञ्चिन्न फल पापत परम्। लभ्यते हि फलं खेदो वालुका पुञ्जपीडने ।।९०
वितारणितमपात्राय विधत्तेऽनर्थमूर्जितम्। अपथ्य भोजन दत्ते व्याधि किं न दुरुद्धरम्[1] ।।९१
संस्कृत्य सुन्दर भोज्य येनापात्राय दीयते। उत्पाद्य प्रबलं धान्य दह्यते तेन दुर्धिया ।।९२
शीघ्रपात्रेण संसारादेकेनापि महीयसा[2]। तार्यन्ते बहवो लोका पोतेनेव पयोनिधे. ।।९३
जगदुद्योतते सर्वमेकेनापि विवस्वता। नक्षत्रनिवहै सर्वैरुदितैरपि नो पुन. ।।९४
एकेनापि सुपात्रेण तार्यते भवनीरधेः। सहस्रैरप्यपात्राणां पुञ्जितैर्न पुनर्जनः ।।९५
अपात्रदानदोषेभ्यो बिभ्यता पुण्यशालिना। विबुध्य यत्नत. पात्र देय दान विधानतः ।।९६
अपात्राय धन दत्ते यो हित्वा पात्रमुत्तमम्। साधुं विहाय चौराय धनमर्पयति स्फुटम् ।।९७
अपात्रमिव य. पात्र विबुद्धिरवलोकते। चिन्तामणिमसौ मन्ये मन्यते लोष्ठसन्निभम् ।।९८
त्यक्त्वा शर्मप्रद पात्रमपात्र स्वीकरोति य। स कालकूटमादत्ते मुक्त्वा पीयूषमस्तधी. ।।९९

कुपात्रदानसे प्राप्त हुए जानना चाहिए ।।८७।। तथा यहा पर नाना प्रकारके भोगोको भोगने वाले नीच जाति के जः भाग्यशाली लोग दिखाई देते है, वे सब कुपात्रदानसे दिये गये भोग है ।।८८।।

(जो पुरुष व्रत और सम्यक्त्वसे रहित एव उन्मार्गगामी होता है, उसे अपात्र कहते हैं।) ऐसे अपात्रके लिए दिया गया समस्त धन व्यर्थ जाता है। क्योकि जलती हुई अग्निमे फेका गया बीज कहा अकुरित हो सकता है ।।८९।। अपात्रोको दान देनेसे पापके सिवाय और कुछ भी फल नही है। क्योकि बालूके पुजके पेलने पर खेदरूप फल ही प्राप्त होता है ।।९०।। कभी कभी तो अपात्रके लिए दिया गया दान महान् अनर्थ को करता है। रोगी पुरुषको दिया गया अपथ्य भोजन क्या दुरुद्धर व्याधिको नही उत्पन्न करता है? करता ही है।।९१।। जो पुरुष सुन्दर भोजन बना करके अपात्रके लिए देता है, वह दुर्बुद्धि उतम धान्य उत्पन्न करके उसे जलाता है ।।९२।। इसलिए अपात्रको कभी दान नही देना चाहिए। जैसे एक जहाजके द्वारा बहुतसे लोग समुद्रके पार उतार दिये जाते है, उसी प्रकार एक ही गरिष्ठ पात्रके द्वारा अनेक लोग ससार-सागरसे पार उतार दिये जाते है। ९३।। देखो—एक ही सूर्यके द्वारा सारा जगत् प्रकाशित हो जाता है, किन्तु उदयको प्राप्त सर्व नक्षत्रोके समूहोसे भी सारा जगत् प्रकाशित नही होता ।।९४।। इसी प्रकार एक ही सुपात्रके द्वारा अनेक जीव ससार-सागरसे पार उतार दिये जाते है, किन्तु सहस्रो अपात्रोके समूह द्वारा एक भी जन संसार-सागरसे पार नही उतरता है ।।९५।। इस प्रकार अपात्र दानके दोषोसे डरनेवाले पुण्यशाली पुरुषो को प्रयत्न पूर्वक पात्रका ज्ञान करके विधिसे उसे दान देना चाहिए ।।९६।। जो पुरुष उत्तम पात्रको छोडकर अपात्रके लिए दान देता है,वह निश्चय-से साधु पुरुषको छोडकर चोरके लिए धन अर्पण करता है ।।९७।। जो निर्बुद्धि पुरुषपात्र को भी अपात्रके समान देखता है,वह चिन्तामणि रत्नको लोष्टके समान समझता है, ऐसा जानना चाहिए ।।९८।। जो पुरुष सुख देनेवाले पात्रको छोडकर दु खदायी अपात्रको स्वीकार करता है, वह

---

१. मु दुरुत्तरम्। २ मु गरीयसा।

पात्रापात्रविभागेन मिथ्यादृष्टेरिदं फलम् । उदितं दानजं प्राज्यं सम्यग्दृष्टेर्वदाम्यतः ॥१००
दानं त्रिविधपात्राय सम्यग्दृष्टिर्यथागमम् । ददानो लभते याच्यां कल्याणानां परम्पराम् ॥१०१
पात्राय विधिना दत्वा दानं मृत्वा समाधिना । अच्युतान्तेषु कल्पेषु जायन्ते शुद्धदृष्टयः ॥१०२
उत्पद्योत्पादशय्यायां देहोद्योतितपुष्करा: । सुप्तोत्थिता इव क्षिप्रमुत्तिष्ठन्ति दिवौकसः ॥१०३
निषण्णैस्तत्र शय्यायां तैर्वीक्ष्यन्ते समन्ततः । निकाया देव-देवीनां रचिताञ्जलिकुड्मलाः ॥१०४
स्तुवाना मां स्तवैः श्रव्यैर्दिव्याभरणभासुराः । मूर्ता: केऽमी विलोक्यन्ते,पुण्यपुञ्जा इवाभितः॥१०५
रम्या रामा मयेमाः काश्चित्रचाटुपरायणा । लावण्याम्बुनिधेर्वेला लोक्यन्ते कलनिस्वनाः ॥१०६
किमिदं दृश्यते स्थानं रामणीयकमन्दिरम् । कथमत्राहमायात. किं स्वप्नोऽयमुतान्यथा ॥१०७
किमकारि मया पुण्य यातो येनात्र बन्धुरे । न पुण्यव्यतिरेकेण लभते सुखसम्पदम् ॥१०८
इत्थं चिन्तयतां तेषां भवकारणकोऽवधिः । सम्पद्यते तरां दीप्रः पूर्वसम्बन्धसूचक. ॥१०९
ज्ञानेन तेन विज्ञाय दानपुण्यप्रभावतः । त्रिदशीभूतमात्मानं ते व्रजन्ति सुखासिकाम् ॥११०
प्रीतेनामरवर्गेण स्वसम्बन्धेन सादरम् । क्रियमाण ततस्तुष्टा भजन्ते जननोत्सवम् ॥१११
ज्ञात्वा धर्मप्रसादेन तत्र प्रभवमात्मन. । पूजयन्ति जिनार्चास्ते भक्त्या धर्मस्य वृद्धये ११२

नष्टबुद्धि पुरुष अमृतको छोडकर कालकूट विषको ग्रहण करता है ॥९९॥ यह दानसे उत्पन्न होने वाला फल पात्र-अपात्रके विभागसे मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे कहा। अब इससे आगे सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा पात्र-दानके फलको कहते है ॥१००॥ सम्यग्दृष्टि पुरुष तीन प्रकारके पात्रोके लिये आगमके अनुसार दान देता हुआ प्रार्थनीय कल्याणोकी परम्पराको प्राप्त होता है॥१०१॥ पात्रके लिये विधि-पूर्वक दान देकर और समाधिके साथ मरण करके शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव अच्युत पर्यन्त सोलह स्वर्गोमे उत्पन्न होते है ॥१०२॥ वहां स्वर्गोमे उत्पादशय्या पर उत्पन्न होकर अपने शरीरकी कान्तिसे आकाशको प्रकाशमान करते हुए वे देव लोग सोकर उठे हुए के समान शीघ्र उठ बैठते है ॥१०३॥ उस उत्पादशय्या पर बैठे बैठे ही देव लोग अपने चारोओर हाथो की अंजलि बांधे हुए देव और देवियोके समुदायोंको देखते है ॥१०४॥ और विचारते है कि सुनने योग्य सुन्दर स्तवनोसे मेरी स्तुति करते हुए, भव्य आभरणोसे भासुरायमान मूर्त्तमान् पुण्य-पुंजके समान ये कौन मेरे चारो ओर दिखाई दे रहे है? ॥१०५॥ नाना प्रकारकी चाटुकारी करनेमे परायण, कल-कल मधुर शब्द बोलने वाली, सौन्दर्य-सागरकी वेलाके समान ये रमणीक कौनसी स्त्रियां देख रही हैं ॥१०६॥ यह अत्यन्त रमणीक भवनवाला कौन सा स्थान मुझे दिखाई दे रहा हैं? मै ऐसे दिव्य स्थान पर कैसे आया हूँ? अथवा क्या यह सब स्वप्न है ॥१०७॥ मैंने पूर्णजन्ममे क्या पुण्य किया हैं कि मै ऐसे सुन्दर स्थानमे उत्पन्न हुआ हूँ। क्योकि पुण्यके विना ऐसी सुख-सम्पदा नही प्राप्त होती है ॥१०८॥ इस प्रकार चिन्तवन करते हुए उन देवोके पूर्वरूपके सम्बन्ध-का सूचक, अति देदीप्यमान भव-कारणक अवधिज्ञान उत्पन्न होता है ॥१०९॥ उस ज्ञानके द्वारा यह जानकर कि मै दानके पुण्य-प्रभावसे यहा देव लोकमें देव उत्पन्न हुआ हूँ' वे लोग सुखरूप समाधानको प्राप्त होते है ॥११०॥ तत्पश्चात् प्रीतिको प्राप्त हुए देवगण सादर अपने अपने सम्बन्धको प्रकट करके सन्तुष्ट होते हुए उनका जन्मोत्सव करते हैं और वे देवगण जन्मोत्सवके आनन्दका उपभोग करते है ॥१११॥

तदनन्तर धर्मके प्रभावसे स्वर्गलोकमे अपना जन्म जान कर वे देवगण धर्मकी और भी वृद्धिके लिये भक्तिके साथ जिन भगवान्का पूजन करते है ॥११२॥ वे देवगण अपने प्रतिबिम्बके

सुखवारिधिमग्नास्ते सेव्यमाना. सुधाशिभिः । सर्वदा व्यवतिष्ठन्ते प्रतिबिम्बैरिवात्मन ॥११३
ते सर्वे क्लेशनिर्मुक्ता द्वाविंशतिमुदन्वताम् । आसते तत्र भुञ्जाना दानवृक्षफलं सुरा· ॥११४
तेषां सुखप्रमां वक्ति वचोभिर्यो महात्मनाम् । प्रयाति पदविक्षेपैर्गगनान्तमसौ ध्रुवम् ॥११५
नवयौवनसम्पना दिव्यभूषणभूषिता । ते वरेण्यादिसंस्थाना जायन्तेऽन्तर्मुहूर्तत. ॥११६
तेषां खेदमदस्वेदजरारोगादिवर्जिता । जायन्ते भास्कराकारा· स्फाटिका इव विग्रहा ॥११७
राजते हृदये तेषां हारयष्टिर्विनिर्मला । निसर्गसम्भवा मूर्ता सम्यग्दृष्टिरिव स्थिता ॥११८
मुकुटो मस्तके तेषामुद्योतितदिगन्तरः । निषधानामिवादित्य तमोध्वसी विभासते ॥११९

निधुवनकुशलाभि पूर्णचन्द्राननाभि· स्तनभरविनताभिर्मन्मथाध्यासिताभिः ।
पृथुतरजघनाभिर्बन्धुराभिर्वधूभि. सममलवचोभि सर्वदा ते रमन्ते ॥१२०
दिवोऽवतीर्योजितचित्तवृत्तयो, महानुभावा भुवि पुण्यशेषतः ।
भवन्ति वशेषु बुधार्चितेषु विशुद्धसम्यक्त्वधना नरोत्तमा ॥१२१
अवाप्य ते चक्रधरादिसम्पदं मनोरमामत्र विपुण्यदुर्लभाम ।
नयन्ति कालं निखिल निराकुला न लभ्यते किं खलु पात्रदानतः ॥१२२
निषेव्य लक्ष्मीमिति शर्मकारिणीं, प्रथीयसीं द्वित्रिभवेषु कल्मषम् ।
प्रदह्यते ज्ञानकृशानुनाऽखिल, श्रयन्ति सिद्धि विगतापद सदा ॥१२३

समान अन्य देवोसे सेवित होते हुए सदा सुख-सागरमे निमग्न रहते हैं ।।११३।। वे देवगण सदा सर्व प्रकारके क्लेशोसे विमुक्त रहते है, और दानरूप वृक्षके फलको भोगते हुए बाईस सागरोपम काल तक स्वर्ग लोकमे रहते है ।।१ ४। उन महान् भाग्यशाली देवोके सुखके प्रमाणको जो पुरुष वचनोसे कहना चाहता है, वह निश्चयसे एक एक पद-निक्षेप करते हुए अनन्त आकाशके अन्तको जाना चाहता है ।।११५।। वे देव सदा नवयौवनसे सम्पन्न रहते है, दिव्य आभूषणों से भूषित रहते है, उत्तम प्रथम समचतुरस्रसस्थानके धारक होते है, और अन्तर्मुहूर्तमे ही वे उत्पन्न हो जाते है ।।११६।। उन देवोके शरीर खेद, मल, प्रस्वेद, जरा, रोग आदिसे रहित और स्फटिक मणिके समान स्वच्छ प्रकाशमान आकार वाले होते है ।।११७।। उनके वक्ष स्थल पर अति निर्मल हारोकी लडी इस प्रकार शोभित होती है, मानो स्वभावसे उत्पन्न हुई मूर्त्तरूप सच्ची दृष्टि ही हृदय पर अवस्थित है ।।११८।। उन देवोके मस्तक पर दिशाओके अन्तरालको प्रकाशित करनेवाला मुकुट इस प्रकार शोभित होता है, मानो निषध पर्वत पर अन्धकारका ध्वस करनेवाला सूर्य ही प्रकाशमान हो रहा है ।।११९।। वे देव सदा ही काम सेवनमे कुशल, पूर्ण चन्द्रके समान मुखवाली, स्तनोके भारसे नम्रीभूत, कामदेवसे व्याप्त, विशाल जघनवाली और निर्मल वचन बोलनेवाली सुन्दर स्त्रियोके साथ रमण करते रहते है ।।१२०।। वे लोग स्वर्गसे अवतरण करके शेष पुण्यके प्रभावसे विद्वत्पूज्य वशोमे उदार चित्तवृत्तिवाले, विशुद्ध सम्यक्त्वरूप धनके धारक मनुष्योमे उत्तम ऐसे महानुभाववाले महा मानव उत्पन्न होते है ।।१२१।। वे जीव इस मनुष्य भवमे पुण्यहीन जनोको अतिदुर्लभ ऐसी चक्रवर्ती आदिकी मनोरम सम्पदाको पाकर निराकुल रहते हुए अपने समस्त जीवन-कालको व्यतीत करते है । क्योकि पात्र दानके पुण्यसे क्या नही प्राप्त होता ? अर्थात् सभी कुछ प्राप्त होता है ।।१२२।। इस प्रकार मनुष्य और देवोके दो-तीन भवोमें सुखकारिणी विशाल लक्ष्मीका उपभोग करके ध्यानरूप वन्हिके द्वारा समस्त पाप कर्मोको जला करके वे सदाके लिए सर्व आपदाओसे रहित सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त होते है ।।१२३।।

विधाय सप्ताष्टभवेषु वा स्फुटं जघन्यतः कल्मषकक्षकर्तनम्।
व्रजन्ति सिद्धिं मुनिदानवासिता व्रतं चरन्तो जिननाथभाषितम् ॥१२४
पात्रदानमहनीयपादपः शुद्धदर्शनजलेन वर्द्धितः।
यद्ददाति फलमर्चितं सतां, तस्य को भवति वर्णने क्षम. ॥१२५
गणेशिनाऽमितगतिना यदीरितं, दानजं फलमिदमीर्यते परै.।
विभासितं दिनमणिना यदम्बरं भास्यते कथमपि दीपकैरिदम् ॥१२६
इत्यमितगत्याचार्यकृतोपासकाचारे एकादशः परिच्छेदः ॥११॥

द्वादशः परिच्छेदः

भावद्रव्यस्वभावा यैरुन्नताः कर्मपर्वताः। विभिन्ना ध्यानवज्रेण दुःखव्यालालिसङ्कुलाः ॥१
कर्मक्षयभवाः प्राप्ता मुक्तिदूतीरघच्छिदः। नवकेवललब्धीर्ये पञ्चकल्याणभागिन ॥२
सर्वभाषामयी भाषा बोधयन्ती जगत्त्रयीम्। आश्चर्यकारिणी येषां ताल्वोष्ठस्पन्दवर्जितः ॥३
वचांसि तापहारीणि पयांसीव पयोमुच.। क्षिपन्तो लोकपुण्येन भूतले विहरन्ति ये ॥४
प्रातिहार्याष्टकं कृत्वा येषां लोकातिशायिनीम्। सपर्यां चक्रिरे सर्वे सादरा भुवनेश्वरा ॥५
येषामिन्द्राज्ञया यक्षः स्वर्गशोभाभिभाविनीम्। करोत्यास्थायिकीं कीर्णां लोकत्रितयजन्तुभि· ॥६
आद्यसंहतिसंस्थाना निःस्वेदा क्षीरशोणिता। राजते सुन्दरा येषां सुगन्धिरमला तनू ॥७

अथवा जघन्यरूपसे सात-आठ भवोंमे पापोकी कक्षाका क्षय करके मुनिदानकी वासनासे वासित वे जीव जिननाथसे भाषित व्रतोका आचरण करते हुए सिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥१२४॥ शुद्ध सम्यग्दर्शनरूप जलसे बढाया गया यह पात्र दानरूप महान् वृक्ष सज्जनोको जो उत्तम फल देता है, उसका वर्णन करनेमे कौन समर्थ हो सकता है? कोई भी नही ॥१२५॥ अमित ज्ञानके धारक गणधर देवोने दानका जो फल वर्णन किया है, वह दूसरे सामान्य लोगोके द्वारा नही कहा जा सकता है। जो आकाश दिनमणि सूर्यके द्वारा प्रकाशित होता है, वह दीपकोंके द्वारा किसी भी प्रकारसे प्रकाशित नही हो सकता है ॥१२६॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित उपासकाचारमे ग्यारहवा परिच्छेद समाप्त हुआ।

अब आचार्य जिनदेवकी पूजाका महत्त्व बतलाते हुए पहले जिनदेवके स्वरूपका वर्णन करते है—जिन्होने द्रव्य और भावस्वरूपकी अपेक्षा अति उन्नत और दुःखरूप सर्पोकी पंक्तिसे व्याप्त ऐसे कर्मरूप पर्वतोको ध्यानरूप वज्रके द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया है, जिन्होने पापोंके छेदनेवाली तथा कर्मक्षयसे उत्पन्न हुई नव केवललब्धियोको मुक्तिरूपी स्त्रीकी दूतीके समान प्राप्त कर लिया है जो गर्भ-जन्मादि पच कल्याणकोके धारक हैं, जिनकी सर्व भाषामयी भाषा तीनों जगत्को प्रबोध करनेवाली है, और तालु ओष्ठके सयोगसे रहित होनेके कारण जगत्को आश्चर्य करनेवाली है, और जैसे मेघ सन्तापहारी जलको बरसाते है, उसी प्रकार जो जगत्के सन्तापको हरनेवाले वचनोकी वर्षा करते हुए लोगोके पुण्यसे इस भूतल पर विहार करते हैं, भुवनके ईश्वर इन्द्रादिक जिनके समीप आठ आश्चर्यकारी प्रातिहार्योको रच कर आदरके साथ जिनकी लोकातिशायिनी पूजाको करते है, इन्द्रकी आज्ञासे यक्ष स्वर्गकी शोभाको भी तिरस्कृत करनेवाली और तीन जगत्के प्राणियोसे व्याप्त ऐसी जिनकी आस्थायिका (सभा-भूमि-या समवसरण) को रचता है, जिनका शरीर आद्य वज्रवृषभनाराचसहनन और आद्य समच-

दासीदासद्विपम्लेच्छसारमेयादयोऽत्र ये। कुपात्रदानतो भोगस्तेषां भोगवतां स्फुटम् ॥८७
दृश्यन्ते नीचजातीनां ये भोगा भोगिनामिह। सर्वे कुपात्रदानेन ते दीयन्ते महोदया. ॥८८
अपात्राय धन दत्त व्यर्थं सम्पद्यतेऽखिलम्। ज्वलिते पावके क्षिप्त बीज कुत्राङ्कुरीयत ॥८९
अपात्रदानत किञ्चिन्न फल पापत परम्। लभ्यते हि फलं खेदो वालुका पुञ्जपीडने ॥९०
वितीर्णितमपात्राय विधत्तेऽनर्थमूर्जितम्। अपथ्य भोजन दत्ते व्याधिं किं न दुरुद्धरम्[1] ॥९१
संस्कृत्य सुन्दर भोज्य येनापात्राय दीयते। उत्पाद्य प्रबल धान्य दह्यते तेन दुर्धिया ॥९२
शीघ्रपात्रेण संसारादेकेनापि महीयसा[2]। तार्यन्ते बहवो लोका. पोतेनेव पयोनिधे. ॥९३
जगदुद्योतते सर्वमेकेनापि विवस्वता। नक्षत्रनिवहै सर्वैरुदितैरपि नो पुन. ॥९४
एकेनापि सुपात्रेण तार्यते भवनीरधेः। सहस्रैरप्यपात्राणां पुञ्जितैर्न पुनर्जन ॥९५
अपात्रदानदोषेभ्यो बिभ्यता पुण्यशालिना। विबुध्य यत्नत. पात्र देय दान विधानत: ॥९६
अपात्राय धन दत्ते यो हित्वा पात्रमुत्तमम्। साधुं विहाय चौराय धनमर्पयति स्फुटम् ॥९७
अपात्रमिव य पात्र विबुद्धिरवलोकते। चिन्तामणिमसौ मन्ये मन्यते लोष्ठसन्निभम् ॥९८
त्यक्त्वा शर्मप्रदं पात्रमपात्र स्वीकरोति य। स कालकूटमादत्ते मुक्त्वा पीयूषमस्तधी. ॥९९

कुपात्रदानसे प्राप्त हुए जानना चाहिए ॥८७॥ तथा यहा पर नाना प्रकारके भोगोको भोगने वाले नीच जाति के जः भाग्यशाली लोग दिखाई देते है, वे सब कुपात्रदानसे दिये गये भोग है ॥८८॥

(जो पुरुष व्रत और सम्यक्त्वसे रहित एव उन्मार्गगामी होता है, उसे अपात्र कहते हैं।) ऐसे अपात्रके लिए दिया गया समस्त धन व्यर्थ जाता है। क्योकि जलती हुई अग्निमें फेका गया बीज कहा अकुरित हो सकता है ॥८९॥ अपात्रोको दान देनेसे पापके सिवाय और कुछ भी फल नही है। क्योकि बालूके पुजके पेलने पर खेदरूप फल ही प्राप्त होता है ॥९०॥ कभी कभी तो अपात्रके लिए दिया गया दान महान् अनर्थ को करता है। रोगी पुरुषको दिया गया अपथ्य भोजन क्या दुरुद्धर व्याधिको नही उत्पन्न करता है? करता ही है ॥९१॥ जो पुरुष सुन्दर भोजन बना करके अपात्रके लिए देता है, वह दुर्बुद्धि उत्तम धान्य उत्पन्न करके उसे जलाता है ॥९२॥ इसलिए अपात्रको कभी दान नही देना चाहिए। जैसे एक जहाजके द्वारा बहुतसे लोग समुद्रके पार उतार दिये जाते है, उसी प्रकार एक ही गरिष्ठ पात्रके द्वारा अनेक लोग ससार-सागरसे पार उतार दिये जाते है। ९३॥ देखो—एक ही सूर्यके द्वारा सारा जगत् प्रकाशित हो जाता है, किन्तु उदयको प्राप्त सर्व नक्षत्रोके समूहोसे भी सारा जगत् प्रकाशित नही होता ॥९४॥ इसी प्रकार एक ही सुपात्रके द्वारा अनेक जीव ससार-सागरसे पार उतार दिये जाते हैं, किन्तु सहस्रो अपात्रोके समूह द्वारा एक भी जन ससार-सागरसे पार नही उतरता है ॥९५॥ इस प्रकार अपात्र दानके दोषोसे डरनेवाले पुण्यशाली पुरुषो को प्रयत्न पूर्वक पात्रका ज्ञान करके विधिमे उसे दान देना चाहिए ॥९६॥ जो पुरुष उत्तम पात्रको छोडकर अपात्रके लिए दान देता है, वह निश्चय-से साधु पुरुषको छोडकर चोरके लिए धन अर्पण करता है ॥९७॥ जो निर्बुद्धि पुरुषपात्र को भी अपात्रके समान देखता है, वह चिन्तामणि रत्नको लोष्टके समान समझता है, ऐसा जानना चाहिए ॥९८॥ जो पुरुष सुख देनेवाले पात्रको छोडकर दुखदायी अपात्रको स्वीकार करता है, वह

---

१ मु दुस्तरम्। २ मु गरायसा।

**पात्रापात्रविभागेन मिथ्यादृष्टेरिदं फलम् । उदितं दानजं प्राज्यं सम्यग्दृष्टेर्वदाम्यतः ॥१००
दानं त्रिविधपात्राय सम्यग्दृष्टिर्यथागमम । ददानो लभते याच्यां कल्याणानां परम्पराम् ॥१०१
पात्राय विधिना दत्वा दानं मृत्वा समाधिना । अच्युतान्तेषु कल्पेषु जायन्ते शुद्धदृष्टयः ॥१०२
उत्पद्योत्पादशय्यायां देहोद्योतितपुष्करा । सुप्तोत्थिता इव क्षिप्रमुत्तिष्ठन्ति दिवौकसः ॥१०३
निषण्णैस्तत्र शय्यायां तैर्वीक्ष्यन्ते समन्ततः । निकाया देव-देवीनां रचिताञ्जलिकुड्मला ॥१०४
स्तुवाना मां स्तवैः श्रव्यैर्दिव्याभरणभासुराः । मूर्ता केऽमी विलोक्यन्ते,पुण्यपुञ्जा इवाभितः॥१०५
रम्या रामा मयेमाः काश्चित्रचाटुपरायणाः । लावण्याम्वुनिधेर्वेला लोक्यन्ते कलनिस्वनाः ॥१०६
किमिदं दृश्यते स्थानं रमणीयकमन्दिरम् । कथमत्राहमायातः किं स्वप्नोऽयमुतान्यथा ॥१०७
किमकारि मया पुण्यं यातो येनात्र वन्धुरे । न पुण्यव्यतिरेकेण लभते सुखसम्पदम् ॥१०८
इत्थं चिन्तयतां तेषां भवकारणकोऽवधिः । सम्पद्यते तरां दीप्रः पूर्वसम्बन्धसूचकः ॥१०९
ज्ञानेन तेन विज्ञाय दानपुण्यप्रभावतः । त्रिदशीभूतमात्मानं ते व्रजन्ति सुखासिकाम् ॥११०
प्रीतेनामरवर्गेण स्वसम्बन्धेन सादरम् । क्रियमाणं ततस्तुष्टा भजन्ते जननोत्सवम् ॥१११
ज्ञात्वा धर्मप्रसादेन तत्र प्रभवमात्मनः । पूजयन्ति जिनार्चास्ते भक्त्या धर्मस्य वृद्धये ११२**

नष्टबुद्धि पुरुष अमृतको छोडकर कालकूट विषको ग्रहण करता है ॥९९॥ यह दानसे उत्पन्न होने वाला फल पात्र-अपात्रके विभागसे मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे कहा । अब इससे आगे सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा पात्र-दानके फलको कहते है ॥१००॥ सम्यग्दृष्टि पुरुष तीन प्रकारके पात्रोके लिये आगमके अनुसार दान देता हुआ प्रार्थनीय कल्याणोकी परम्पराको प्राप्त होता हैं॥१०१॥ पात्रके लिये विधि-पूर्वक दान देकर और समाधिके साथ मरण करके शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव अच्युत पर्यन्त सोलह स्वर्गोमे उत्पन्न होते है ॥१०२॥ वहा स्वर्गोमे उत्पादशय्या पर उत्पन्न होकर अपने शरीरकी कान्तिसे आकाशको प्रकाशमान करते हुए वे देव लोग सोकर उठे हुए के समान शीघ्र उठ बैठते है ॥१०३॥ उस उत्पादशय्या पर बैठे बैठे ही देव लोग अपने चारोओर हाथो की अंजलि वाघे हुए देव और देवियोके समुदायोको देखते है ॥१०४॥ और विचारते है कि सुनने योग्य सुन्दर स्तवनोसे मेरी स्तुति करते हुए, भव्य आभरणोसे भासुरायमान मूर्त्तमान् पुण्य-पुजके समान ये कौन मेरे चारों ओर दिखाई दे रहे हैं? ॥१०५॥ नाना प्रकारकी चाटुकारी करनेमें परायण, कल-कल मधुर शब्द बोलने वाली, सौन्दर्य-सागरकी वेलाके समान ये रमणीक कौनसी स्त्रियां देख रही है ॥१०६॥ यह अत्यन्त रमणीक भवनवाला कौन सा स्थान मुझे दिखाई दे रहा हैं? मै ऐसे दिव्य स्थान पर कैसे आया हूँ? अथवा क्या यह सब स्वप्न हैं ॥१०७॥ मैंने पूर्णजन्ममे क्या पुण्य किया हैं कि मै ऐसे सुन्दर स्थानमे उत्पन्न हुआ हूँ । क्योकि पुण्यके विना ऐसी सुख-सम्पदा नही प्राप्त होती है ॥१०८॥ इस प्रकार चिन्तवन करते हुए उन देवोंके पूर्वरूपके सम्बन्ध-का सूचक, अति देदीप्यमान भव-कारणक अवधिज्ञान उत्पन्न होता है ॥१०९॥ उस ज्ञानके द्वारा यह जानकर कि मै दानके पुण्य-प्रभावसे यहां देव लोकमें देव उत्पन्न हुआ हूँ' वे लोग सुखरूप समाधानको प्राप्त होते है ॥११०॥ तत्पश्चात् प्रीतिको प्राप्त हुए देवगण सादर अपने अपने सम्वन्धको प्रकट करके सन्तुष्ट होते हुए उनका जन्मोत्सव करते हैं और वे देवगण जन्मोत्सवके आनन्दका उपभोग करते है ॥१११॥

तदनन्तर धर्मके प्रभावसे स्वर्गलोकमे अपना जन्म जान कर वे देवगण धर्मकी और भी वृद्धिके लिये भक्तिके साथ जिन भगवान्‌का पूजन करते है॥११२॥ वे देवगण अपने प्रतिविम्वके

सुखवारिधिमग्नास्ते सेव्यमाना: सुधाशिभिः। सर्वदा व्यवतिष्ठन्ते प्रतिबिम्बैरिवात्मन ॥११३
ते सर्वे क्लेशनिर्मुक्ता द्वाविंशतिमुदन्वताम्। आसते तत्र भुञ्जाना दानवृक्षफलं सुरा ॥११४
तेषां सुखप्रमां वक्ति वचोभिर्यो महात्मनाम्। प्रयाति पदविक्षेपैर्गगनान्तमसौ ध्रुवम् ॥११५
नवयौवनसम्पन्ना दिव्यभूषणभूषिता.। ते वरेण्यादिसंस्थाना जायन्तेऽन्तर्मुहूर्तत. ॥११६
तेषां खेदमदस्वेदजरारोगादिवर्जिता.। जायन्ते भास्कराकारा स्फाटिका इव विग्रहा ॥११७
राजते हृदये तेषां हारयष्टिर्विनिर्मला। निसर्गसम्भवा मूर्ता सम्यग्दृष्टिरिव स्थिता ॥११८
मुकुटो मस्तके तेषामुद्योतितदिगन्तरः। निषधानामिवादित्य तमोध्वंसी विभासते ॥११९

निधुवनकुशलाभि. पूर्णचन्द्राननाभि· स्तनभरविनताभिर्मन्मथाध्यासिताभिः।
पृथुतरजघनाभिर्बन्धुराभिर्वधूभि समममलवचोभि सर्वदा ते रमन्ते ॥१२०
दिवोऽवतीर्योर्जितचित्तवृत्तयो, महानुभावा भुवि पुण्यशेषतः।
भवन्ति वंशेषु बुधार्चितेषु विशुद्धसम्यक्त्वधना नरोत्तमा. ॥१२१
अवाप्य ते चक्रधरादिसम्पदं मनोरमामत्र विपुण्यदुर्लभाम।
नयन्ति कालं निखिल निराकुला न लभ्यते किं खलु पात्रदानत ॥१२२
निषेव्य लक्ष्मीमिति शर्मकारिणी, प्रथीयसीं द्वित्रिभवेषु कल्मषम्।
प्रदह्यते ज्ञानकृशानुनाऽखिल, श्रयन्ति सिद्धिं विगतापद सदा ॥१२३

समान अन्य देवोसे सेवित होते हुए सदा सुख-सागरमे निमग्न रहते है ॥११३॥ वे देवगण सदा सर्व प्रकारके क्लेशोसे विमुक्त रहते है, और दानरूप वृक्षके फलको भोगते हुए वाईस सागरोपम काल तक स्वर्ग लोकमे रहते है ॥११४॥ उन महान् भाग्यशाली देवोके सुखके प्रमाणको जो पुरुष वचनोंसे कहना चाहता है, वह निश्चयसे एक एक पद-निक्षेप करते हुए अनन्त आकाशके अन्तको जाना चाहता है ॥११५॥ वे देव सदा नवयौवनसे सम्पन्न रहते है, दिव्य आभूषणो से भूषित रहते है, उत्तम प्रथम समचतुरस्रसस्थानके धारक होते है, और अन्तर्मुहूर्तमे ही वे उत्पन्न हो जाते है ॥११६॥ उन देवोके शरीर खेद, मल, प्रस्वेद, जरा, रोग आदिसे रहित और स्फटिक मणिके समान स्वच्छ प्रकाशमान आकार वाले होते है ॥११७॥ उनके वक्ष स्थल पर अति निर्मल हारोकी लडी इस प्रकार शोभित होती है, मानो स्वभावसे उत्पन्न हुई मूर्तरूप सच्ची दृष्टि ही हृदय पर अवस्थित है ॥११८॥ उन देवोके मस्तक पर दिशाओके अन्तरालको प्रकाशित करनेवाला मुकुट इस प्रकार शोभित होता है, मानों निषध पर्वत पर अन्धकारका ध्वस करनेवाला सूर्य ही प्रकाशमान हो रहा है ॥११९॥ वे देव सदा ही काम सेवनमे कुशल, पूर्ण चन्द्रके समान मुखवाली, स्तनोंके भारसे नम्रीभूत, कामदेवसे व्याप्त, विशाल जघनवाली और निर्मल वचन बोलनेवाली सुन्दर स्त्रियोके साथ रमण करते रहते है ॥१२०॥ वे लोग स्वर्गमे अवतरण करके शेष पुण्यके प्रभावसे विद्वत्पूज्य वशोमे उदार चित्तवृत्तिवाले, विशुद्ध सम्यक्त्वरूप धनके धारक मनुष्योंमें उत्तम ऐसे महानुभाववाले महा मानव उत्पन्न होते है ॥१२१॥ वे जीव इस मनुष्य भवमें पुण्यहीन जनोंको अतिदुर्लभ ऐसी चक्रवर्ती आदिको मनोरम सम्पदाको पाकर निराकुल रहते हुए अपने समस्त जीवन-कालको व्यतीत करते है। क्योकि पात्र दानके पुण्यसे क्या नहीं प्राप्त होता? अर्थात् सभी कुछ प्राप्त होता है ॥१२२॥ इस प्रकार मनुष्य और देवोंके दो-तीन भवोंमें सुखकारिणी विशाल लक्ष्मीका उपभोग करके ध्यानरूप वन्हिके द्वारा समस्त पाप कर्मोंको भस्म करके वे सदाके लिए सर्व आपदाओमे रहित सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त होते है ॥१२३॥

विधाय सप्ताष्टभवेषु वा स्फुटं जघन्यतः कल्मषकक्षकर्तनम ।
व्रजन्ति सिद्धि मुनिदानवासिता व्रतं चरन्तो जिननाथभाषितम् ॥१२४
पात्रदानमहनीयपादपः शुद्धदर्शनजलेन वर्द्धितः ।
यद्ददाति फलमर्चित सतां, तस्य को भवति वर्णने क्षम ॥१२५
गणेशिनाऽमितगतिना यदीरितं, दानजं फलमिदमीर्यते परैः ।
विभासित दिनमणिना यदम्बर भास्यते कथमपि दीपकैरिदम् ॥१२६
इत्यमितगत्याचार्यकृतोपासकाचारे एकादशः परिच्छेद ॥११॥

द्वादशः परिच्छेदः

भावद्रव्यस्वभावा यैरुन्नताः कर्मपर्वताः । विभिन्ना ध्यानवज्रेण दु खव्यालालिसङ्कुलाः ॥१
कर्मक्षयभवा. प्राप्ता मुक्तिदूतीरघच्छिदः । नवकेवललब्धीर्ये पञ्चकल्याणभागिन. ॥२
सर्वभाषामयी भाषा बोधयन्ती जगत्त्रयीम् । आश्चर्यकारिणी येषां ताल्वोष्ठस्पन्दवर्जित ॥३
वचांसि तापहारीणि पयांसीव पयोमुच. । क्षिपन्तो लोकपुण्येन भूतले विहरन्ति ये ॥४
प्रातिहार्याष्टकं कृत्वा येषां लोकातिशायिनीम् । सपर्या चक्रिरे सर्वे सादरा भुवनेश्वरा ॥५
येषामिन्द्राज्ञया यक्षः स्वर्गशोभाभिभाविनीम् । करोत्यास्थायिकीं कीर्णां लोकत्रितयजन्तुभि ॥६
आद्यसंहतिसंस्थाना नि स्वेदा क्षीरशोणिता । राजते सुन्दरा येषां सुगन्धिरमला तन् ॥७

अथवा जघन्यरूपसे सात-आठ भवोमे पापोकी कक्षाका क्षय करके मुनिदानकी वासनासे वासित वे जीव जिननाथसे भाषित व्रतोका आचरण करते हुए सिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥१२४॥ शुद्ध सम्यग्दर्शनरूप जलसे बढाया गया यह पात्र दानरूप महान् वृक्ष सज्जनोको जो उत्तम फल देता हैं, उसका वर्णन करनेमे कौन समर्थ हो सकता है? कोई भी नही ॥१२५॥ अमित ज्ञानके धारक गणधर देवोने दानका जो फल वर्णन किया है, वह दूसरे सामान्य लोगोके द्वारा नही कहा जा सकता है। जो आकाश दिनमणि सूर्यके द्वारा प्रकाशित होता है, वह दीपकोके द्वारा किसी भी प्रकारसे प्रकाशित नही हो सकता हैं ॥१२६॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित उपासकाचारमे ग्यारहवा परिच्छेद समाप्त हुआ।

अब आचार्य जिनदेवकी पूजाका महत्त्व बतलाते हुए पहले जिनदेवके स्वरूपका वर्णन करते है—जिन्होने द्रव्य और भावस्वरूपकी अपेक्षा अति उन्नत और दु खरूप सर्पोकी पंक्तिसे व्याप्त ऐसे कमरूप पर्वतोको ध्यानरूप वज्रके द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया है, जिन्होने पापोके छेदनेवाली तथा कर्मक्षयसे उत्पन्न हुई नव केवललब्धियोको मुक्तिरूपी स्त्रीकी दूतीके समान प्राप्त कर लिया है जो गर्भ-जन्मादि पच कल्याणकोके धारक हैं, जिनकी सर्व भाषामयी भाषा तीनो जगत्को प्रबोध करनेवाली है, और तालु ओष्ठके सयोगसे रहित होनेके कारण जगत्को आश्चर्य करनेवाली है, और जैसे मेघ सन्तापहारी जलको बरसाते है, उसी प्रकार जो जगत्के सन्तापको हरनेवाले वचनोको वर्षा करते हुए लोगोके पुण्यसे इस भूतल पर विहार करते है, भुवनके ईश्वर इन्द्रादिक जिनके समीप आठ आश्चर्यकारी प्रातिहार्योको रच कर आदरके साथ जिनको लोकातिशायिनी पूजाको करते हैं, इन्द्रकी आज्ञासे यक्ष स्वर्गकी शोभाको भी तिरस्कृत करनेवाली और तीन जगत्के प्राणियोसे व्याप्त ऐसी जिनकी आस्थायिका (सभा-भूमि-या समवसरण) को रचता है, जिनका शरीर आद्य वज्रवृषभनाराचसहनन और आद्य समच-

येषां द्विष्टः क्षयं याति तुष्टो लक्ष्मीं प्रपद्यते । न रुष्यन्ति न तुष्यन्ति ते तयोः समवृत्तय ॥८
लक्ष्मीं सातिशयां येषां भुवनत्रयतोषिणीम् । अनन्यभाविनीं शक्तो वक्तुं कश्चिन्न विद्यते ॥९
रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादयोऽखिला । येषु दोषा न तिष्ठन्ति तप्तेषु नकुला इव ॥१०
शक्तितो भक्तितोऽर्हन्तो जगतीपतिपूजिता । ते द्वेधा पूजया पूज्या द्रव्यभावस्वरूपया[1] ॥११
वचोविग्रहसङ्कोचो द्रव्यपूजा निगद्यते । तत्र मानससङ्कोचो भावपूजा पुरातनै ॥१२
गन्धप्रसूनसान्नाय[2]दीपधूपाक्षतादिभिः । क्रियमाणाऽथवा ज्ञेया द्रव्यपूजा विधानत ॥१३
व्यापकानां विशुद्धानां जिन नामनुरागत । गुणानां यदनुध्यान भावपूजेयमुच्यते ॥१४
द्वेधाऽपि कुवत पूजा जिनानां जितजन्मनाम् । न विद्यते द्वयो लोके दुर्लभ वस्तु पूजितम् ॥१५
यैः कल्मषाष्टक प्लुष्ट[3] विशुद्धध्यानतेजसा । प्राप्तमष्टगुणैश्वर्यमात्मनीनमनव्ययम् ॥१६
क्षुधातृषाश्रमस्वेदनिद्रातोषाद्यभावत । अन्नपानासनस्नानशयनाभरणादिभि ॥१७
क्षुधादिनोदनैर्येषां नास्ति जातु प्रयोजनम् । सिद्धे हि वांछिते कार्ये कारणान्वेषण वृथा ॥१८
कर्मव्यपायतो येषां न पुनर्जन्म जायते । विलय हि गते बोजे कुत सम्पद्यतेऽङ्कुर ॥१९

तुरस्रसस्थानवाला है, प्रस्वेदरहित है,क्षीर वर्णका रुधिर है,ऐसा निर्मल सुगन्ध मय जिनका सुन्दर शरीर शोभाको प्राप्त हो रहा है, जिनसे द्वेष करनेवाला क्षयको प्राप्त होता हैं और सन्तुष्ट होनेवाला लक्ष्मीको प्राप्त होता है, फिर भी जो दोनोमे समवृत्ति रहते हुए न किसीसे रुष्ट होते है, और न किसीसे सन्तुष्ट ही होते है,जिनकी तीन भवनको सन्तोष देनेवाली और अन्यमे नही पाई जानेवाली ऐसी सातिशय लक्ष्मीका वर्णन करनेके लिए कोई भी पुरुष समर्थ नही है,जिनमे राग द्वेष मद क्रोध लोभ मोह आदिक सभी दोष सर्वथा नही पाये जाते है, जैसे कि तप्त स्थानो पर नेवले नही पाये जाते है, एसे तीनो लोकोके स्वामियोसे पूजित अरहन्तदेव द्रव्य और भावस्वरूप दो प्रकारके पूजनके द्वारा शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक पूजनीय है ॥१-११॥ वचन और शरीरका सकोच करना अर्थात् अन्य क्रियाएँ रोककर जिनेन्द्रदेवके सन्मुख करना. यह द्रव्यपूजा कही जाती है। तथा मनका सकोच करना अर्थात् मनको अन्य ओरसे हटाकर जिन भक्तिमे लगाना इसे पुरातन पुरुषोने भावपूजा कही है ॥१२॥ अथवा गन्ध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, अक्षत आदिसे विधिपूर्वक की जानेवाली पूजाको द्रव्यपूजा जानना चाहिए। और जिनेन्द्रदेवोके व्यापक विशुद्ध गुणोंका परम अनुरागसे जो बार-बार चिन्तवन करना सो यह भावपूजा कही जाती है ॥१३-१४॥ ससारको जीतनेवाले जिनेन्द्रदेवोकी दोनो ही प्रकारसे पूजा करनेवाले पुरुषको दोनो ही लोकोमे कोई भी श्रेष्ठ वस्तु पाना दुर्लभ नही है ॥१५॥

जिन्होने विशुद्ध ध्यानके तेजसे आठो कर्माका विनाश करके अपने अक्षय स्वरूपवाले आठ गुण रूप ऐश्वर्यको प्राप्त कर लिया है, भूख, प्यास,श्रम,प्रस्वेद. निद्रा,हर्ष,विषाद आदिके अभाव होनेसे जिनके क्षुधा आदिके दूर करनेवाले अन्न, पान, आसन, स्नान, शयन और आभूषण आदिसे जिन सिद्ध भगवन्तोके कदाचित् भी कोई प्रयोजन नही रहा है, क्योकि वाछित कार्यके सिद्ध हो जाने पर कारणोका अन्वेषण करना वृथा है ॥१६-१८॥ कर्मोका अभाव हो जानेसे जिनके ससारमें पुन जन्म नही होता है, क्योकि बीजके ही विनष्ट हो जाने पर अकुर कैसे उत्पन्न हो सकता है ॥१९॥ जिनके कर्म-जनित राग-द्वेषादिक कोई भी दोष नही पाये जाते है, क्योकि निमित्तके नही

---

१. मु स्वभावया। २ मु सान्नाह्य। ३. मु प्लुष्ट्वा।

रागद्वेषादयो दोषा येषां सन्ति न कर्मजाः । निमित्तरहितं क्वापि न नैमित्तं विलोक्यते ।।२०
न निर्वृतिममी मुक्त्वा पुनरायान्ति संसृतिम् । शर्मदं हि पदं मुक्त्वा दुःखदं कः प्रपद्यते ।।२१
सुखस्य प्राप्यते येषां न प्रमाणं कथञ्चन । आकाशस्येव नित्यस्य निर्मलस्य गरीयस. ।।२२
पश्यन्ति ये सुखीभूता लोकाग्रशिखरस्थिताः । लोकं कर्मभ्रुकुंशेन नाट्यमानमनारतम् ।।२३
येषां स्मरणमात्रेण पुंसां पापं पलायते । ते पूज्या न कथं सिद्धा मनोवाक्कायकर्मभि. ।।२४
चारयन्त्यनुमन्यन्ते पञ्चाचारं चरन्ति ये । जनका इव सर्वेषां जीवानां हितकारिणः ।।२५
येषां पादपरामर्शैर्जीवा मुञ्चन्ति पातकम् । निखिलं हिमरश्मीनां चन्द्रकान्तोपला इव ।।२६
उपदेशैः स्थिरं येषां चारित्रं क्रियते तराम् । ते पूज्यन्ते त्रिधाऽऽचार्याः पदं वर्यं यियासुभि ।।२७
उन्नतेभ्यः ससत्त्वेभ्यो येभ्यो दलितकल्मषाः । जायन्ते पावना विद्या. पर्वतेभ्य इवापगाः ।।२८
चरन्तः पञ्चधाऽऽचारं भवारण्यदवानलम् । द्वादशाङ्गश्रुतस्कन्ध पाठयन्ति पठन्ति ये ।।२९
येषां वचोन्हदे स्नाता न सन्ति मलिना जनाः । तेऽर्च्यन्ते न कथं दक्षैरुपाध्याया विरेफसः ।।३०
येऽ[1]रनङ्गानलस्तीव्रः सन्तापितजगत्त्रयः । विध्यापितः शमाम्भोभि. पापपङ्कापहारिभि. ।।३१

रहने पर कही पर भी नैमित्तिक कार्य नही देखा जाता है ।।२०।। वे सिद्ध भगवन्त मुक्तिको छोडकर कभी भी संसारमें नही आने है । क्योंकि सुख देनेवाले पदको छोडकर कौन दुःखदायी पदको पाना चाहता है ।।२१।। जिनके आकाशके समान नित्य, निर्मल और महान् सुखका प्रमाण कभी भी नहीं पाया जा सकता हैं ।।२२।।

जो लोकके अग्र शिखर पर अवस्थित हो परम सुखी होकर कर्मरूप नटके द्वारा नचाये जानेवाले संसारको निरन्तर देखते रहते है, और जिनके स्मरण मात्रसे पुरुपोके पाप दूर भाग जाते है ऐसे वे परम शुद्ध स्वभावी सिद्ध भगवन्त मन वचन कायसे कैसे पूजने योग्य नही है, अपितु अवश्य ही पूजने योग्य है ।।२३-२४।। जो पाँच प्रकारके आचारका स्वयं आचरण करते हैं, दूसरोंको आचरण कराते है और आचरण करनेवालोको अनुमति देते है, जो पिताके तुल्य सब जीवोंके हितकारी हैं, जैसे कि चन्द्र किरणोंका स्पर्श करके चन्द्रकान्तमणि जलको छोडता है, उसी प्रकार जिनके चरणोंका स्पर्श करके जीव अपने पापोंको छोड देते है, जिनके उपदेशोसे साधुजन अपने चारित्रको अति दृढ करते है, वे आचार्य परमेष्ठी श्रेष्ठ पदको जानेके इच्छुक भव्य पुरुषोके द्वारा मन वचन कायसे पूजे जाते हैं ।।२५-२७।।

जैसे उन्नत पर्वतोसे पावन नदियां निकलती हैं, उसी प्रकार जिन विद्योन्नत सत्त्वशाली उपाध्यायोसे पापोका दलन करनेवाली पवित्र विद्याएँ उत्पन्न होती है, जो ससार-कानन को जलानेके लिए दावानलके समान पंच आचारोंका स्वय आचरण करते है, जो द्वादशाङ्गरूप श्रुतस्कन्धको स्वयं पढते है और अन्य शिष्योको पढाते है, जिनके वचनरूप सरोवरमें स्नान करनेवाले मलिन पुरुष भी मलिन नही रहते, प्रत्युत निर्मल हो जाते है, ऐसे पाप-रहित उपाध्याय परमेष्ठी चतुर पुरुषोके द्वारा कैसे नही पूजे जाते है, अर्थात् अवश्य ही पूजे जाते है ।।२८-३०।। जिन्होने तीन जगत्को सन्तापित करनेवाले, तीव्र कामरूप अनल (अग्नि) को पापरूप कीचडके दूर करनेवाले शमभावरूप जलसे बुझा दिया है, जो भव-काननको जलानेकी इच्छासे निर्दोष तपको करते है, जिन्होने सर्व प्रकारके परिग्रह को दूर कर दिया हैं, जो अपने

---
१. मु विरेपस. ।

दिघक्षवो भवारण्यं ये कुर्वन्ति तपोऽनघम् । निराकृताखिलग्रन्था निस्स्पृहा: स्वतनावपि ॥३२
निधानमिव रक्षन्ति ये रत्नत्रयमादृता: । ते सद्भिर्वरिवस्यन्ते साधवो भव्यबान्धवा: ॥३३
अर्चयद्भ्यस्त्रिधा पुंभ्य: पञ्चेति परमेष्ठिन: । नश्यन्ति तरसा विघ्ना बिडालेभ्य इवाऽऽखव ॥३४
पूजयन्ति न ये दीना भक्तित: परमेष्ठिन: । सम्पद्यते कुतस्तेषां शर्म निन्दितकर्मणाम् ॥३५
इन्द्राणां तीर्थकर्तॄणां केशवानां रथाङ्गिनाम् । सम्पद: सकला: सद्यो जायन्ते जिनपूजया ॥३६
मानवैर्मानवावासे त्रिदशैस्त्रिदशालये । खेचरै: खेचरावासे पूज्यन्ते जिनपूजका: ॥३७
सकामा मन्मथालापा निबिडस्तनमण्डला । रमणी रमणीयाङ्गा रमयन्ति जिनार्चिन. ॥३८
पवित्र यन्निरातङ्कं मुक्तानां[1] पदमव्ययम् । दुष्प्रापं विदुषामर्थ्यं प्राप्यते तज्जिनार्चकै. ॥३९
जिनस्तव जिनस्नान जिनपूजां जिनोत्सवम् । कुर्वाणो भक्तितो लक्ष्मीं भजते याचितां जन: ॥४०
संसारारातिभीतस्य व्रतानां गुरुसाक्षिकम् । गृहीतानामशेषाणां रक्षणं शीलमुच्यते ॥४१
साक्षीकृता व्रतादाने कुर्वते परमेष्ठिन: । भूपा इव महादु ख विचारे व्यभिचारिण: ॥४२
एकदा ददते दु खं नरनाथास्तिरस्कृता. । गुरवो न्यक्कृता दु.ख वितरन्ति भवे भवे । ४३

शरीरमे भी निस्पृह है, जो निधानके समान रत्नत्रय धर्मकी अति आदरपूर्वक रक्षा करते है ऐसे भव्य जीवोके बन्धु साधुजन सज्जनोके द्वारा निरन्तर आराधना किये जाते है ॥३१-३३॥ इस प्रकार उपर्युक्त इन पच परमेष्ठियोका मन वचन कायसे पूजन करनेवाले पुरुषोके सर्व विघ्न इस प्रकारसे शीघ्र विनष्ट हो जाते है, जिस प्रकार कि विलावोसे मूषक विनष्ट हो जाते है ॥३४॥ जो दीन पुरुष पच परमेष्ठीकी भक्तिसे पूजा नही करते है उन निन्द्य कर्म करनेवाले पुरुषोको सुख कहासे प्राप्त हो सकता है ॥३५॥ जिनेन्द्रदेवकी पूजासे इन्द्रोकी, तीर्थंकरोकी, नारायणोकी और चक्रवर्तियोंकी सर्व सम्पदाए शीघ्र प्राप्त होती है ॥३६॥ जिन देवकी पूजा करने वाले पुरुष मनुष्यलोकमे मानवोके द्वारा, देवलोकमे देवोके द्वारा और विद्याधरोके आवासमे विद्याधरोके द्वारा पूजे जाते है ॥३७॥ जिन भगवान्‌की पूजा करनेवाले मनुष्योको काम सेवनके लिए उत्सुक, मधुर वचन बोलनेवाली, सघन स्तन-मण्डलोंकी धारक और रमणीय शरीर वाली ऐसी रमणिया रमाती है, अर्थात् जिनपूजनके पुण्यबन्धसे स्वर्गादिमे उत्तम स्त्रियोकी प्राप्ति होती है ॥३८॥ सिद्धोंका जो पद परम पवित्र है, आतक-रहित है, अव्यय है, दुष्प्राप्य है और विद्वानोके द्वारा प्रार्थनीय है, वह जिनदेवकी पूजा करनेवाले पुरुषोको प्राप्त होता है ॥३९॥ जिनदेवका स्तवन, जिनेन्द्रका अभिषेक, जिन पूजा और जिन देवका उत्सव भक्तिसे करनेवाला मनुष्य मनोवाछित लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥४०॥ अब आचार्य आगे शीलका वर्णन करते है—ससाररूप शत्रुसे भयभीत पुरुषके गुरु-साक्षी पूर्वक ग्रहण किये समस्त व्रतोंकी रक्षा करनेको शील कहते है ॥४१॥ व्रत-ग्रहण करनेमे साक्षी किये गये परमेष्ठी व्रतोके पालने के विचारमे व्यभिचार करने वाले पुरुषको राजाओं के समान महादुःख देते है ॥४२॥

भावार्थ—जैसे राजा के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा के भग करने वाले पुरुषको राजा भारी दण्ड देता हैं, उसी प्रकार पच परमेष्ठीकी साक्षी पूर्वक व्रत ग्रहण करके उसे भग करनेवाला पुरुष महान् दु ख को पाता है । अरहन्तादि परमेष्ठी वीतराग है, वे किसी को कुछ दु.ख नही देते है । किन्तु उनकी साक्षीपूर्वक व्रत लेकर उसे भग करने वाला पुरुष अपने ही मलिन

1. मु. सिद्धाना ।

भक्षयित्वा विषं घोरं वरं प्राणा विसर्जिताः । न कदाचिद्व्रतं भग्नं गृहीत्वा सूरिसाक्षिकम् ।।४४
वसनैर्भूषणैर्हीनः सकलैरपि शोभते । शीलेन बुधपूज्येन न पुनर्वर्जितो जनः ।।४५
सहजं भूषणं शीलं शील मण्डनमुत्तमम् । पाथेयं पुष्कलं शील शीलं रक्षणमूर्जितम् ।।४६
शीलेन रक्षितो जीवो न केनाप्यभिभूयते । महाह्रदनिमग्नस्य किं करोति दवानलः ।।४७
बान्धवाः सुहृद सर्वे निःशीलस्य पराङ्मुखा । शत्रवोऽपि दुराराध्या. सम्मुखा. सन्ति शीलिन ।।४८
शीलतो न परो बन्धुः शीलतो न पर सुहृत् । शीलतो न परा माता शीलतो न पर पिता ।।४९
उपकारो न शीलस्य कर्तुमन्येन शक्यते । कल्पद्रुम फलं दत्ते पर. कुत्र महीरुह ।।५०
तापेऽपि सुखितः शीली शीलमोची पुनर्जनः । चित्रं जनांगुलिच्छाये स्थितोऽपि परितप्यते ।।५१
कदाचन न केनापि सुशील. परिभूयते । न तिरस्क्रियते यो हि श्लाघ्यते तस्य जीवितम् ।।५२
भङ्गस्थानपरित्यागी व्रत पलायतेऽमलम् । तस्करैर्लुट्यते कुत्र दूरतोऽपि पलायितः ।।५३
नानानर्थंकर द्यूत मोक्तव्यं शीलशालिना । शील हि नाश्यते तेन गरलेनेव जीवितम् ।।५४

परिणामोंसे पापका उपार्जन कर नरकादिमे दु खोंको भोगता है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए। तिरस्कार किये गये राजा लोग तिरस्कार करनेवाले मनुष्यको एक बार ही दु ख देते है। किन्तु तिरस्कार किये गये गुरुजन भव-भवमे दु.ख देते है । यहा पर भी ऊपर कहा भावार्थ जानना ।।४३।। भयंकर घोर विषको खाकरके प्राणोंका विसर्जन करना उत्तम है, किन्तु गुरुकी साक्षी पूर्वक व्रतको ग्रहण करके उसे भग्न करना कदाचित् भी अच्छा नही है ।।४४।।सर्व वस्त्रोसे और आभूषणोसे भी रहित पुरुष यदि विद्वत्पूज्य शीलसे सयुक्त हो, तो शोभाको प्राप्त होता है। किन्तु शीलसे रहित और वस्त्राभूषणोसे भूषित पुरुष शोभाको नही पाता है ।।४५।। शील सहज भूषण है, शील उत्तम मण्डन है, शील पुष्ट पाथेय (मार्ग भोजन) है और शील ही जीवोंका परम संरक्षण हैं ।।४६।। शील से रक्षित पुरुष किसीके द्वारा भी पराभव को प्राप्त नही हो सकता। क्योकि महान् सरोवरमे निमग्न पुरुष का दावानल क्या करेगा? कुछ भी नही कर सकता है ।।४७।। शीलसे रहित पुरुषके सभी वन्धु और मित्रजन पराङ्मुख हो जाते है। किन्तु शीलवान् पुरुषके अत्यन्त दुराराध्य शत्रु भी सन्मुख होकर सहायक होते है ।।४८।। शीलसे श्रेष्ठ कोई वन्धु नही, शीलसे श्रेष्ठ कोई मित्र नही, शीलसे श्रेष्ठ कोई माता नही और शीलसे श्रेष्ठ कोई पिता इस संसारमे नही है ।।४९।। शीलके समान जीवका अन्य कोई उपकार नही कर सकता है। कही अन्य कोई वृक्ष कल्पद्रुमके समान मनोवाछित फलको दे सकता है ।।५०।। आचार्य कहते हैं कि शीलवान् पुरुष ताप (घाम) मे खडा होकरके भी सुखी है और शीलका छोडनेवाला व्यक्ति मनुष्योकी अगुलियो की छायामे स्थित रहते हुए भी सन्तापको पाता है, यह महान् आश्चर्य है ।।५१।। उत्तम शीलका धारक पुरुप कभी भी किसीके द्वारा पराभवको प्राप्त नही हो सकता है और न किसीके द्वारा तिरस्कृत ही होता है। शीलवान् पुरुषका जीवन ही प्रशसनीय होता है ।।५२।। व्रत-भंग होनेके स्थानका परित्यागी पुरुष ही व्रतको निर्मल पालता है। जो चोरो को दूरसे ही देखकर भाग जाता है, वह चोरोके द्वारा कहा लूटा जा सकता है ।।५३।। अब आचार्य शील भंग करनेवाले व्यसनोसे दूर रहनेका उपदेश देते हुए पहले जुआ खेलनेका निपध करते है— शीलवान् पुरुषको नाना अनर्थ करनेवाला द्यूतका त्याग करना ही चाहिए। जैसे विपपानमे जीवनका नाश होता है, उसी प्रकार जुआ खेलनेसे शीलका नाश होता है ।।५४।।

विषादः कलहो रोटिः कोपो मान· श्रमो भ्रम । पैशुन्यं मत्सर· शोकः सर्वे द्यूतस्य बान्धवा· ॥५५
दु खानि तेन जन्यन्ते जलानीवाम्बुवाहिना । व्रतानि तेन धूयन्ते रजांसीव च वायुना ॥५६
न श्रियस्तत्र तिष्ठन्ति द्यूतं यत्र प्रवर्तते । न वृक्षजातयस्तत्र विद्यन्ते यत्र पावक ॥५७
मातुरप्युत्तरीयं यो हरते जनपूजितम् । अकर्तव्य पर तस्य कुर्वतः कीदृशी त्रपा ॥५८
सम्पदं सकलां हित्वा स गृह्णाति महाऽऽपदम् । स्वकुलं मलिनीकृत्य वितनोति च दुर्यश ॥५९
नरकैरपरै क्रुद्धैर्नारकस्येव मस्तके । जनस्य कितवैस्तस्य दुर्ज्वालो ज्वाल्यतेऽनल. ॥६०
कर्कश दु श्रवं वाक्य जल्पन्तो वञ्चिता परे । कुर्वन्ति द्यूतकारस्य कर्णनासादिकर्तनम् ॥६१
विज्ञायेति महादोष द्यूत दीव्यन्ति नोत्तमा । जानाना. पावकोष्णत्व प्रविशन्ति कथ बुधा ॥६२
वितनोति दृशो राग या वात्येव रजोमयी । विध्वसयति या लोकं शर्वरीव तमोमयी ॥६३
या स्वीकरोति सर्वस्व चौरीवार्थपरायणा । छलेन या निगृण्हाति शाकिनीवामिषप्रिया ॥६४
वन्हिज्वालेव या स्पृष्टा सन्तापयति सर्वत । शुनीव कुरुते चाटु दानतो याऽतिकश्मला ॥६५
विमोहयति या चित्त मदिरेव निषेविता । सा हेया दूरतो वेश्या शीलालङ्कारधारिणा ॥६६

विषाद, कलह, राड, क्रोध, मान, श्रम, भ्रम, पैशुन्य, मत्सर और शोक ये सभी द्यूतके ब.न्धव है। अर्थात् जहाँ द्यूत-सेवन होगा, वहाँ पर सर्व ही दोष उपस्थित रहेगे ॥५५॥ जैसे मेघोंके द्वारा जल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार उ न द्यूतके द्वारा दु.ख उत्पन्न होते है और जैसे पवनके द्वारा धूलि उडा दी जाती है, उसी प्रकार द्यूतके द्वारा व्रत उडा दिये जाते है।॥५६॥ जहाँ पर द्यूतकी प्रवृत्ति होती है, वहा पर लक्ष्मी नही ठहरती है। जहाँ पर अग्नि विद्यमान है, वहाँ पर वृक्षोकी जातियाँ नही रह सकती है ॥५७॥ जो द्यूत व्यसनी माताके भी जन-पूजित उत्तरीय (ओढनेके वस्त्र) को भी हर ले जाता है, उसे किसी भी नही करने योग्य कार्यको करते हुए लज्जा कैसे हो सकती हैं ॥५८॥ जुआ खेलने वाला पुरुष सर्व सम्पदाका त्याग कर महा आपदाओ को ग्रहण करता है और अपने कुलका मलिन करके अपयशको विस्तारता हैं ॥५९॥ जैसे क्रोधित नारकी अन्य नारकी के शिर पर भयकर अग्नि जलाते है, उसी प्रकार अन्य जुआरी पुरुष भी हारने वाले जुआरीके मस्तक पर अग्नि जलाते है ॥६०। जिनका धन ठग लिया गया है, ऐसे जुआरी कर्कश और कर्णोको दु खदायी वचनोको बोलते हुए जुआरीके कान, नाक आदि अगोंको काटते है ॥६१॥ इस प्रकार जुआ खेलनके महादोषोको जानकर उत्तम पुरुष जुआ नही खेल्ते हैं। अग्निकी उष्णताको जानते हुए ज्ञानी जन अग्निमे कैसे प्रवेश कर सकते हैं ॥६२॥

अब आचार्य वेश्या-व्यसनका निषेध करते है—जो धूलि उडानेवाली आंधीके समान आँखों-मे रागको विस्तारती है, जो अन्धकारमयी रात्रिके समान लोकका विध्वंस करती है, जो चोरके समान अर्थपरायण होकर दूसरेके सर्व धनका अपहरण करती है. जो मास-भक्षण-प्रिय राक्षसीके समान लोगोको निगल जाती है अर्थात् उनके शरीरका सत्त्व खीच कर उन्हे नि सत्त्व कर देती है, जो अग्नि ज्वालाके समान स्पर्श की हुई सर्व ओरसे सन्ताप उत्पन्न करती हैं, जो कुत्तीके समान स्वार्थ-साधनके लिए अपने यारकी चाटुकारी करती हैं, जो दान देनेमें अति कृपण है। अथवा जो धनके देनेसे अति पापिनी कुत्तीके समान खुशामद करती है,और जो मदिराके समान सेवन की गई चित्तको विमोहित करती है, ऐसी वेश्या शीलरूप अलकारको धारण करनेवाले पुरुषके द्वारा दूरसे ही हेय है ॥६३-६६॥ व्यभिचारी पुरुष सत्य,शौच, शमभाव, शील, सयम, नियम,यम आदि सर्व

सत्यं शीलं शमं शौचं संयमं नियमं दमम् । प्रविशन्ति बहिर्मुक्त्वा विटाः पण्याङ्गनागृहम् ॥६७
तपो व्रतं यशो विद्या कुलीनत्वं दमो दया । छेद्यन्ते वेश्यया सद्यः कुठार्येवाखिला लताः ॥६८
जननी जनको भ्राता तनयस्तनया स्वसा । न सन्ति वल्लभास्तस्य दारिका यस्य वल्लभाः ॥६९
न तस्मै रोचते सेव्य गुरूणां वचनं हितम् । सशर्करमिव क्षीरं पित्ताकुलितचेतसे ॥७०
वेश्यावक्त्रगतां निन्द्यां लालां पिबति योऽधम । शुचित्वं मन्यते स्वस्य का पराऽतो विडम्बना ॥७१
यो वेश्यावदनं लिस्ते मूढो मद्यादिवासितम् । मद्यमांसपरित्यागव्रतं तस्य कुतस्तनम् ॥७२
वदनं जघनं यस्या नीचलोकमलाविलम् । गणिकां सेवमानस्य तां शौच बत कीदृशम् ॥७३
या परं हृदये धत्ते परेण सह भाषते । परं निषेवते लुब्धा परमाव्हयते दृशा ॥७४
सरलोऽपि स दक्षोऽपि कुलीनोऽपि महानपि । ययेक्षुरिव निःसारः सुपर्वापि विमुच्यते ॥७५
न सा सेव्या त्रिधा वेश्या शीलरत्नं यियासता । जानानो न हि हिंस्रत्वं व्याघ्रीं स्पृशति कश्चन ॥७६
तिरश्ची मानुषी देवी निर्जीवा च नितम्बिनी । परकीया न भोक्तव्या शीलरत्नवता त्रिधा ॥७७
जीवितं हरते रामा परकीया निषेविता । प्लोषते सर्पिणी दुष्टा स्पृष्टा दृष्टिविषा न किम् ॥७८

गुणोंको बाहिर ही छोडकर वेश्याके घरमे प्रवेश करते है। अर्थात् वेश्याके घरमे प्रवेश करते ही उक्त सर्व धर्मकार्योका विनाश हो जाता हैं ॥६७॥ जैसे कुठारीके द्वारा सभी लताएँ विच्छिन्न हो जाती है, उसी प्रकार वेश्याके द्वारा तप व्रत यश विद्या कुलीनता इन्द्रिय-दमन और दया आदि गुण शीघ्र विच्छिन्न हो जाते है ॥६८॥ जिस पुरुषको वेश्या प्यारी है, उसे मातापिता भाई पुत्र पुत्री और बहिन आदि कोई भी प्यारे नहीं रहते हैं ॥६९॥ वेश्या-व्यसनी पुरुषको गुरुजनोके हित-कारी सेवन-योग्य वचन भी नही रुचते है, जैसे कि पित्तसे आकुलित चित्तवाले पुरुषको शक्कर मिला-हुआ दूध भी नही रुचता है ॥७०॥ जो अधम पुरुष वेश्याके मुखकी निन्द्य लारको पीता है और फिर भी अपने आपके पवित्रता मानता है, इससे अधिक और क्या विडम्बना हो सकती हैं ॥७१॥ जो मूढ मनुष्य मदिरा आदिसे वासित वेश्याके मुखको चूमता है, उसके मद्य और मासके परित्यागका व्रत कैसे रह सकता है ॥७२॥ जिस वेश्याका मुख और जघन नीच लोगोके थूक और मूत्रादि मलसे व्याप्त रहता है, ऐसी वेश्याको सेवन करनेवाले पुरुषके बताओ-पवित्रता कैसे रह सकती हैं ॥७३॥ जो वेश्या किसी अन्य पुरुषको हृदयमे धारण करती हैं, किसी और के साथ सभाषण करती है, धनकी लोभिनी होकर किसी अन्यका सेवन करती हैं और नेत्र-कटाक्षसे किसी और पुरुषको बुलाती है, (वह क्या कभी किसीके साथ सच्चा प्यार कर सकती है) ॥७४॥ जिस वेश्याके द्वारा सरल, सुचतुर, कुलीन और महान् भी पुरुष धन रहित होने पर उत्तम पोर वाले निःसार साँठेके समान छोड दिया जाता हैं, (उस वेश्याके साथ प्रीति करना कहाँ तक उचित है) ॥७५॥ इसलिए शीलरूप रत्नकी रक्षा करनेके इच्छुक पुरुषको मन वचन और कायसे ऐसी वेश्याका कभी सेवन नही करना चाहिए। व्याघ्रीकी हिंसकताको जानता हुआ कोई पुरुष उसका स्पर्श नही करता है ॥७६॥

अब आचार्य परस्त्री व्यसनका निषेध करते है—शीलवान् पुरुषको तिर्यचनी, मनुष्यनी, देवी और निर्जीव काष्ठ पाषाणरूप आकार वाली स्त्री, य चारो ही प्रकारकी परायी स्त्रियोको मन वचन कायसे कभी भी नही भोगना चाहिए ॥७७॥ सेवन की गई परायी स्त्री मनुष्यके जीवन का अपहरण करती है। दुष्ट दृष्टिविषवाली सर्पिणी स्पर्श किये जाने पर क्या नही जलाती है?

यच्चेह लौकिकं दु ख परनारीनिषेवणे । तत्प्रसून मतं प्राज्ञैर्नारकं दारुण फलम् ॥७९
स्वजने रक्ष्यमाणायास्तस्या लाभोऽतिदुष्कर· । तापस्तु चिन्त्यमानायां सर्वाङ्गीणो निरन्तर· ॥८०
प्राप्यापि कष्टकष्टेन तां देशे यत्र तत्र वा । किं सुख लभते भीत सेवमानस्त्वरान्वितः ॥८१
या हिनस्ति स्वक कान्त सा जार न कथं खला । बिडाली याऽत्ति पुत्र स्वं सा किं मुञ्चति मूषकम्॥८२
यावद्दर्शं कुचेतस्क कि वाञ्छति पराङ्गनाम् । न पापत: परो लाभ कदाचित्तत्र विद्यते ॥८३
या स्व मुञ्चति भर्तारं विश्वासस्तत्र कीदृशः । का विश्वासमृते स्नेह. किं सुख स्नेहतो विना ॥८४
वधो बन्धो धनभ्रंशस्ताप शोक कुलक्षय । आयास कलहो मृत्यु पारदारिक-बान्धवा. ॥८५
लिङ्गच्छेद खरारोह कुलालकुसुमार्चनम् । जननिन्दामभोग्यत्वं लभते पारदारिक· ॥८६
लब्ध्वा विडम्बनां गुर्वीमत्र प्राप्त स पञ्चताम् । श्वभ्रे यद्दु खमाप्नोति कस्तद्वर्णयितुं क्षमः ॥८७
एकान्ते यौवन-ध्वान्ते नारीं नेदीयसीं सतीम् । दृष्ट्वा क्षुभ्यति धीरोऽपि का वार्ता कातरे जने॥८८
जल्पन हसन नर्म क्रीडा वक्त्रावलोकनम् । आसन गमन स्थानं वर्णन भिन्नभाषणम् ॥८९
नार्या परिचय सार्धं कुर्वाण परकीयया । वृद्धोऽपि दूष्यते प्रायस्तरुणो न कथं पुन. ॥९०

अपितु जलाती ही है ॥७८॥ परस्त्रीके सेवन करने पर इस लोकमे जो लौकिक दु ख प्राप्त होते है, ज्ञानियोने उन्हे तो उसके फूल कहे है और नरकोके दारुण दु ख उसके फल कहे है ॥७९॥ स्वजनोके द्वारा रक्षा की जाती हुई परस्त्रीकी प्राप्ति ही प्रथम तो अतिदुष्कर है। उसे पानेकी चिन्ता करते रहनेपर निरन्तर सर्व अंगमे सन्ताप उत्पन्न होता है ॥८०॥ यदि वह परस्त्री किसी प्रकार अतिकष्टसे प्राप्त भी हो जाय तो जिस किसी स्थानपर भयभीत होकर आतुरतासे युक्त होकर सेवन करता हुआ पुरुष क्या सुख पा सकता है? कुछ भी नही ॥८१। जो परस्त्री अपने सग पतिको भी मार डालती है, वह दुष्ट क्या अपने जारको नही मार सकती है? जो बिल्ली अपने पुत्रको खा जाती है, वह क्या चूहीको छोड देगी ॥८२॥ ऐसी आपदा देनेवाली परस्त्रीको खोटे चित्तवाले पुरुष क्यो भोगते है, यह आश्चर्य एव दु खकी बात है। परस्त्रीके सेवनमे पापके सिवाय कदाचित् भी कोई लाभ नही है ॥८३॥ जो परस्त्री अपने भर्तारको भी छोड देती है, उसमे विश्वास कैसा? और विश्वासके विना स्नेह कैसा? तथा स्नेहके विना सुख क्या मिल सकता है ॥८४॥ वध, बन्ध, धन-विनाश, सन्ताप, शोक, कुल-क्षय, परिश्रम, कलह और मृत्यु ये सभी अवगुण परस्त्री-सेवन करनेवाले पुरुषके बान्धव है ॥८५॥ परस्त्री-सेवी पुरुष इसी लोकमे लिंगके छेदनको, गधेपर चढनेको, कुलाल-कुसुमोके द्वारा पूजनको अर्थात् गोबरी कडों आदिकी मारको, जन-निन्दाको और अभोगपना या दुर्भाग्यको प्राप्त होता है ॥८६। इस प्रकार इसी लोकमें उक्त प्रकारकी बडी-बडी विडम्बनाओको पाकर वह मरणको प्राप्त होता है और नरकोंमे उत्पन्न होकर वहाँ पर जो जो दु ख पाता ह, उसे वर्णन करनेके लिए कौन समर्थ है ।८७॥ एकान्त स्यानपर यौवनके अन्धकारमे अतिवृद्ध सती साध्वी स्त्रीको देखकर धीर-वीर पुरुष भी क्षोभको प्राप्त हो जाता है, तो फिर कायर पुरुषकी तो बात ही क्या है ॥८८॥ परायी स्त्रीके साथ एकान्तमे बोलना, हँसना, मजाक करना, खेलना, उनका मुख देखना अथवा 'वक्र'–पाठ माननेपर तिरछी नजरसे देखना, उनके साथ बैठना, गमन करना, खडे रहना, किसी बातका वर्णन करना, गौल-भेदक संभाषण करना और परिचय प्राप्त करना आदि कार्य करते हुए प्राय वृद्ध पुरुष भी दोषको प्राप्त होता है, तो फिर जवान पुरुष क्यो नही दोषको प्राप्त होगा? अवश्य ही होगा ॥८९-९०॥

विबुध्येति महादोषं पररामा मनीषिभिः। विवर्ज्या दूरतः सद्भिर्भुजङ्गीव भयङ्करा ॥९१
नामापि कुरुते यस्या गृहीतं गुरु कल्मषम्। मृगया सा त्रिधा हेया भवदुःखविभीरुणा ॥९२
त्रस्यन्ति सर्वदा दीनाश्चलतः पर्णलोऽपि ये। हिंस्यन्ते तेऽपि यैर्जीवास्तेभ्यः किं निर्घृणाः परे ॥९३
निरागसः पराधीनाः नश्यन्तो भयविह्वलाः। कुरङ्गा यैर्निहन्यन्ते पापिष्ठा न परे ततः ॥९४
गृह्णीतोऽपि तृणं दन्तैर्देहिनो मारयन्ति ये। व्याघ्रेभ्यस्ते दुराचारा विशिष्यन्ते कथं खलाः ॥९५
ये मारयन्ति निस्त्रिंशा ये मार्यन्ते च विह्वला। तेषां परस्परं नास्ति विशेषस्तत्क्षणं विना ॥९६
स्वमांसं परमांसैर्ये पोषयन्ति दुराशयाः। स्वमांसमेव खाद्यन्ते हठतो नारकैरिमे ॥९७
स्वल्पायुर्विकलो रोगी विचक्षुर्बधिरः खलः। वामनः पामनः षण्ढो जायते स भवे भवे ॥९८
दुःखानि यानि दृश्यन्ते दुःसहानि जगत्त्रये। सर्वाणि तानि लभ्यते प्राणिमर्दनकारिणा ॥९९
इति दोषवती मत्वा मृगया हितकांक्षिणा। नानाऽनर्थकरी त्याज्या राक्षसीव विभीषणा ॥१००
भोजनं कुर्वता कार्यं मौनं शीलवता सता। सन्तोषित्वमिवानिन्द्यं भैक्ष्यशुद्धिविधायिना ॥१०१
सर्वदा शस्यते जोषं भोजने तु विशेषतः। रसायनं सदा श्रेष्ठं सरोगित्वे पुनर्न किम् ॥१०२

इस प्रकार परस्त्री-सेवनके महादोषोंको जानकर मनीषी सत्-पुरुषोको परस्त्री भयकर सर्पिणीके समान दूरसे ही छोड देनी चाहिए ॥९१

अब आचार्य मृगया (शिकार) व्यसनका निषेध करते है—जिसका नाम लेना भी भारी पापका उपार्जन करता है, वह मृगया संसारके दुःखोंसे डरनेवाले पुरुषको मन वचन कायसे छोड देना चाहिए ॥९२॥ जो बेचारे दीन प्राणी पत्तेके हिलनेसे भी सदा त्रासको प्राप्त होते है, उन्हे जो मारते है उनसे अधिक निर्दयी और कौन है ॥९३॥ जो लोग निरपराधी,पराधीन, भय-विह्वल हो भागते हुए ऐसे हरिणोंको मारते है, उनसे अधिक और कोई पापी नही है ॥९४॥ जो दांतोमे तृणोंको दबाये हुई है, ऐसे हरिणादिकको जो मारते हैं,वे दुष्ट दुराचारी मनुष्य व्याघ्रोसे कैसे विशिष्ट हैं? अर्थात् वे व्याघ्रसमान ही हैं ॥९५॥ जो निर्दयी पुरुष जीवोको मारते हैं और जो भय-विह्वल जीव मारे जाते है, उन दोनोंमें परस्पर उस क्षणके विना और कोई विशषता नही है भावार्थ—वर्तमान समयमे तो मरनेवाले और मारनेवालेमे हीनाधिकता है। किन्तु आगे नरक-गतिमे उत्पन्न होनेपर वे आपसमे एक दूसरेको मारेगें, अत वहाँकी अपेक्षा कोई हीनाधिकता नही है ॥९६॥ जो दुष्टचित्त जीव दूसरोंके मांससे अपने मासको पोषित करते है, वे जीव हठात् नारकियोके द्वारा अपने ही मासको खाते हैं। भावार्थ—जो यहाँपर पराये मासको खाते है, नरकमे उत्पन्न होनेपर वहाँ नारकी उन्हीका मांस काट-काटकर उन्हे खिलाते है ॥९७। शिकार खेलने-वाला मनुष्य भव भवमे अल्पायुका धारी, विकलागी, रोगी, अन्धा, बहिरा, दुष्ट, बौना, कोढी और नपुंसक होता है ॥९८॥ इस तीन जगत्में जितने भी दुःसह भयानक दुःख दिखाई देते है, वे सर्व दुःख जीवोका घात करनेवाला प्राणी पाता है ॥९९॥ इस प्रकारसे अत्यन्त दोषवाली मृगयाको जानकर अपना हित चाहनेवाले पुरुषको नाना अनर्थ करनेवाली भयानक राक्षसीके समान उसका त्याग कर देना चाहिए ॥१००॥

अब आचार्य मौनके गुणोका वर्णन करते हुए भोजनादिके समय मौन-धारण करनेका उपदेश देते हैं—जैसे भिक्षाकी शुद्धिका आचरण करनेवाले साधुको अनिन्द्य सन्तोषपनाके साथ मौन-धारण करना आवश्यक है, उसी प्रकार शीलवान् पुरुषको भी भोजन करते हुए सदा मौन धारण करना चाहिए ॥१०१॥ मौन सदा रहना ही प्रशंसनीय है। फिर भोजनके समयमें तो

सन्तोषो भाव्यते तेन वैराग्यं तेन दृश्यते । संयम. पोष्यते तेन मौन येन विधीयते ॥१०३
वचोव्यापारतो दोषा ये भवन्ति दुरुत्तरा· । ते सर्वेऽपि निवार्यन्ते मौनव्रतविधायिना ॥१०४
सागारोऽपि जनो येन प्राप्यते यतिसयमम् । मौनस्य तस्य शक्यन्ते केन वर्णयितुं गुणा· ॥१०५
जोषेण विशतो रोध कल्पषस्य विधीयते । बलिष्ठेन महिष्ठेन सलिलस्येव सेतुना ॥१०६
हुङ्काराङ्गुलिखात्कारभ्रूमूर्द्धचलनादिभि. । मौनं विदधता सञ्ज्ञा विधातव्या न गृद्धये ॥१०७
सार्वकालिकमन्यच्च मौन द्वेधा विधीयते । भक्तित शक्तितो भव्यैर्भवभ्रमणभीरुभि ॥१०८
भव्येन शक्तित कृत्वा मौन नियतकालिकम् । जिनेन्द्रभवने देया घण्टिका समहोत्सवम् ॥१०९
न सार्वकालिके मौने निर्वाहव्यतिरेकत । [1]उद्यापन पर प्राज्ञै किञ्चनापि विधीयते ॥११०
आवश्यके मलक्षेपे पापकार्ये विशेषत । मौनी न पीडचते पापै सन्नद्धः सायकैरिव ॥१११
क्रोपादयो न सक्लेशा मौनव्रतफलार्थिना । पुर. पश्चाच्च कर्तव्या सूद्यते तद्धितैः कृतं. ॥११२
वाचंयमः पवित्राणां गुणानां हित[2]कारिणाम् । सर्वेषां जायते स्थानं मणीनामिव नीरधिः ११३

मौन रखना विशषकर प्रशसनीय है। रसायनका सेवन सदा ही श्रेष्ठ है, फिर सरोगी होनेपर तो उनका सेवन कैसे श्रेष्ठ नही होगा ॥१०२॥ जो पुरुष मौन धारण करता है, उसका सन्तोष दृढ होता है, उससे वैराग्य भाव दिखाई देता है और उससे सयम पुष्ट होता है ॥१०३॥ वचनोके व्यापारसे जो भयकर दोष उत्पन्न होते हैं, वे सब मौन व्रतके धारण करनेवाले पुरुषके द्वारा सहजमें ही निवारण कर दिये जाते है ॥१०४॥

जिस मौनव्रतके द्वारा गृहस्थ भी मनुष्य मुनिके सयमको प्राप्त होता: है, उस मौनव्रतके गुण किसके द्वारा वर्णन किये जा सकते है ॥१०५॥ जैसे पुख्ता बने हुए महान् बाँधके द्वारा जल रोका जाता है, उसी प्रकार मौनके द्वारा भीतर प्रवेश करते हुए पापोका निरोध किया जाता है ॥१०६॥ मौनको धारण करनेवाला पुरुष भोजनकी शुद्धिके लिए हुँकार, अगुलि-चालन, खारकार (खखारना), भ्रकुटी चढाना और शिर हिलाना आदिके द्वारा किसी प्रकारका सकेत न करे ॥१०७॥ भवभ्रमणसे भयभीत भव्य पुरुषोको अपनी शक्तिके अनुसार भक्ति-पूर्वक सर्वकालिक और असार्वकालिक यह दो प्रकारका मौन धारण करना चाहिए। भावार्थ—जीव-पर्यन्तके लिए धारण किया गया मौन सार्वकालिक कहलाता है। अल्प या नियत समयके लिए धारण किया गया मौन असार्वकालिक कहलाता है ॥१०८॥ नियत कालिक मौन पालन करके भव्य पुरुषको भक्तिसे जिनेन्द्रभवनमे महोत्सव करके एक घण्टा देना चाहिए ॥१०९॥ सार्वकालिक मौनमे निर्वाहके अतिरिक्त और किसी प्रकारके उद्यापनका कुछ भी विधान ज्ञानियोने नही किया है। भावार्थ—असार्वकालिक मौनव्रतकी पूर्णता होनेपर मन्दिरमे घण्टाका दान करना उसका उद्यापन है। किन्तु सार्वकालिक मौनमे उसका पूर्ण रीतिसे निर्वाह करना ही उद्यापन है ॥११०॥ जिस-प्रकार सदा बख्तर (कवच) आदिसे सन्नद्ध योद्धा बाणोसे पीडित नही होता है, उसी प्रकार सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाओके करते समय, मल-मूत्रके क्षेपणके समय, भोजनके समय और विशेषकर मैथुन-सेवनादि पापकार्योके करते समय मौन-धारण करनेवाला पुरुष पापोसे पीडित नही होता है ॥१११॥ मौनव्रतके फलार्थी पुरुषको भोजनादिके करनेके पूर्व या पश्चात् क्रोधादिक अथवा किसी प्रकारका सक्लेशादिक नही करना चाहिए। क्योकि कषाय या सक्लेशादि करनेसे मौनव्रतका विनाश हो जाता है ॥११२॥ जैसे समुद्र सर्व प्रकारके मणियोका स्थान है, उसी-प्रकार वचनका सयम पालनेवाला मौन-धारक पुरुष सभी सुखकारी पवित्र गुणोका स्थान हो जाता

१ मु उद्योतन। २ मु सुख–।

वाणी मनोरमा तस्य शास्त्रसन्दर्भगर्भिता । आदेया जायते येन क्रियते मौनमुज्ज्वलम् ।।११४
पदानि यानि विद्यन्ते वन्दनीयानि कोविदैः । सर्वाणि तानि लभ्यन्ते प्राणिना मौनकारिणा ।।११५
निर्मलं केवलज्ञानं लोकालोकावलोकनम् । लीलया लभ्यते येन किं तेनान्यन्न कांक्षितम् ।।११६
रागो निवार्यते येन धर्मो येन विवर्धते । पापं निहन्यते येन संयमो येन जन्यते ।।११७
अनेक जन्मसंबद्धकर्मकाननपावकः । उपवासः स कर्तव्यो नीरागीभूतचेतसा ।।११८
उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यत । वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासोऽभिधीयते ।।११९
स सार्वकालिको जैनैरेकोऽन्योऽसार्वकालिकः । द्विविधः कथ्यते शक्तो हृषीकाश्वनियन्त्रणे ।।१२०
तत्राद्यो म्रियमाणस्य वर्तमानस्य चापर. । कालानुसारत कार्यं क्रियमाण महाफलम् ।।१२१
वर्तमानो मतस्त्रेधा स वर्यो मध्यमोऽधमः । कर्त्तव्य कर्मनाशाय निजशक्त्यनगूहकैः ।।१२२
चतुर्णां यत्र भुक्तीनां त्यागो वर्यश्चतुर्विधः । उपवास सपानीयस्त्रिविधो मध्यमो मत: ।।१२३
भुक्तिद्वयपरित्यागे द्विविधो[1] गदितोऽधमः । उपवासस्त्रिधाऽप्येष शक्तित्रितयसूचक. ।।१२४

है अर्थात् मौन धारण करनेवाले पुरुषको सभी उत्तम गुण स्वयं प्राप्त होते है ।।११३।। जो पुरुष उज्ज्वल निर्दोष मौनका पालन करता है, उसकी वाणी शास्त्र-सन्दर्भसे युक्त, मनोहर और सर्वके द्वारा आदरणीय हो जाती है ।।११४।। संसारमे विद्वानोके द्वारा वंदनीय जितने भी पद है, वे सब मौन-धारण करनेवाले प्राणोको प्राप्त होते है ।।११५।। जिस मौनव्रतके द्वारा लोक और अलोकका अवलोकन करनेवाला निर्मल केवलज्ञान लीलामात्रसे प्राप्त हो जाता हैं, उससे अन्य मनोवांछित कौनसी वस्तु नही मिलेगी? सर्व ही मिलेगी ।।११६।।

अब आचार्य उपवासका वर्णन करते है—जिसके द्वारा इन्द्रियोके विषयोका राग दूर किया जाता है, जिसके द्वारा धर्मकी वृद्धि होती हैं, जिसके द्वारा पाप विनष्ट होते है, जिसके द्वारा सयम उत्पन्न होता है और जो अनेक जन्मोमे बँधे हुए कर्मरूप काननको जलानेके लिए अग्निके समान है, ऐसा उपवास राग-रहित चित्तसे व्रती पुरुषको करना चाहिए ।।११७-११८।। जिसमे सर्व इन्द्रियाँ अपने अपने कार्यसे निवृत्त होकर आत्माके समीप निवास करती हैं, उसे उपवास कहते है । ऐसा उपवास ज्ञानी जनोको करना चाहिए ।।११९।। जिन देवोने इन्द्रियरूप घोडोके नियन्त्रण करनेमे समर्थ वह उपवास दो प्रकारका कहा है—एक सार्वकालिक और दूसरा असार्वकालिक ।।१२०।। इनमेसे पहला सार्वकालिक उपवास समाधिसे मरनेवाले पुरुषके कहा गया है । और दूसरा असार्वकालिक उपवास विद्यमान पुरुषके कालके नियमानुसार किया जाता हैं और महाफलको देता है ।।१२१।। वर्तमान पुरुषके द्वारा किया जानेवाला असार्वकालिक उपवास तीन प्रकारका माना गया है—उत्तम, मध्यम और अधम । यह तीनो ही प्रकारका उपवास अपनी शक्तिको नही छिपा करके कर्मोका नाश करनेके लिए व्रतीजनोको करना चाहिए ।।१२२।। जिस उपवासमे चारो प्रकारके भोजनका त्याग हो, वह उत्तम उपवास हैं । जिसमे पानी मात्र रखकर शेष तीन प्रकारके आहारका त्याग किया जाय,वह मध्यम उपवास माना गया है । जिसमे खाद्य और स्वाद्य इन दो प्रकारके आहारका त्यागकर लेह्य और पेयरूप दो प्रकारका आहार ग्रहण किया जाय, वह अधम उपवास कहा गया है । यह तोनों ही प्रकारका उपवास श्रावककी तीन प्रकारकी शक्तिका सूचक हैं ।।१२३-१२४।।

---

१. मु. त्रिविधो ।

प्रहरद्वितये भुक्त्वा समेत्याचार्यसन्निधिम् । वन्दित्वा भक्तितः कृत्वा कायोत्सर्गं यथागमम् ॥१२५
पञ्चाङ्गप्रणतिं कृत्वा गृहीत्वा सूरिवाक्यतः । उपवासं पुनः कृत्वा कायोत्सर्गं विधानतः ॥१२६
आचार्यं स्तवतः स्तुत्वा वन्दित्वा गणनायकम् । दिनद्वयं ततो नेयं स्वाध्यायासक्तचेतसा ॥१२७
विधाय साक्षिणं सूरिं गृह्यमाणः पटीयसा । सम्पद्यते तरामेष व्यवहार इव स्थिरः ॥१२८
सर्वभोगोपभोगानां कर्त्तव्या विरतिस्त्रिधा । शयितव्यं महीपृष्ठे प्रासुके कृतसस्तरे ॥१२९
विहाय सर्वमारम्भमसंयमविवर्धकम् । विरक्तचेतसा स्थेयं यतिनेव पटीयसा ॥१३०
तृतीये वासरे कृत्वा सर्वमावश्यकादिकम् । भोजयित्वाऽतिथिं भक्त्या भोक्तव्यं गृहमेधिना ॥१३१
उपवासः कृतोऽनेन विधानेन विरागिणा । हिनस्त्येकोऽपि रेफांसि तमांसीव दिवाकरः ॥१३२
उपवासं विना शक्तो न परः स्मरमर्दने । सिंहेनैव विदीर्यन्ते सिन्धुरा मदमन्थराः ॥१३३
उपवासेन सन्तप्ते क्षिप्रं नश्यति पातकम् । ग्रीष्मार्काध्यासिते तोयं कियत्तिष्ठति पल्वले[1] ॥१३४
नित्यो नैमित्तिकश्चेति द्वेधाऽसौ कथितो बुधैः । प्रोषधे स मतो नित्यो बहुधाऽन्ये व्यवस्थिता ॥१३५

अब आचार्य उत्तम उपवास करनेकी विधि कहते है—उपवास करनेके पहले दिन दोपहरके समय भोजन करके, आचार्यके समीप आकर, भक्तिसे उनकी वन्दनाकर, कायोत्सर्ग करके यथाक्रमसे पंचाग नमस्कार करे। पुनः आचार्यके वचनोंसे उपवासको ग्रहण कर और पुनः कायोत्सर्ग करके विधिपूर्वक आचार्यकी स्तुति करके तथा गणनायककी वन्दना करके स्वाध्यायमे चित्त लगाकर दो दिन व्यतीत करना चाहिए ॥१२५-१२७॥ भावार्थ—यहाँपर जो दो दिन स्वाध्यायपूर्वक बितानेका निर्देश किया है, उसका अभिप्राय यह है कि एक दिनमे आठ पहर होते है। पूर्वोक्त रीतिसे उपवास करनेवाला पर्वके पूर्ववर्ती दिनके मध्यान्ह कालमे भोजन करके भोजनका परित्याग किया। पुन. पर्वके दिन पूरे आठ पहर भोजन नही किया। पुन. पर्वके अगले दिन मध्यान्ह कालमे भोजन किया। इस प्रकार पर्वके पूर्ववर्ती दिनके दो पहर, रात्रिके चार पहर, पर्वके दिनके आठ पहर और अगले दिनके दो पहर इस प्रकार सोलह पहरतक अन्न-जलका त्याग रहनेसे दो दिन धर्मध्यानपूर्वक बितानेका आचार्यने उल्लेख किया है। आचार्यकी साक्षी करके चतुर पुरुषके द्वारा ग्रहण किया गया उपवास अति स्थिरताको प्राप्त होता है। जैसे कि बडे पुरुषकी साक्षीमे किया गया व्यवहार स्थिर होता है। उपवासके दिन सर्व प्रकारके भोग और उपभोगोका मन वचन कायसे त्याग करना चाहिए भूतल पर प्रासुक बिस्तर बिछाकर सोना चाहिए, और असंयमका बढानेवाला सर्व आरम्भ छोडकर विरक्त चित्त हो चतुर पुरुषको साधुके समान रहना चाहिए। तीसरे दिन सर्व आवश्यक क्रिया आदिको करके और भक्तिके साथ अतिथिको भोजन करा करके गृहस्थको स्वय भोजन करना चाहिए। इस प्रकारकी विधिसे विरागी पुरुषके द्वारा किया गया एक भी उपवास अनेक भवके पापोका नाश कर देता है, जैसे कि सूर्य अन्धकारका नाश कर देता है ॥१२८-१३२॥ उपवासके विना अन्य कोई व्रतादिक कामदेवके मर्दन करनेमे समर्थ नही है। क्योकि मदसे उन्मत्त हाथी सिंहके द्वारा ही विदीर्ण किये जाते है ॥१३३॥ उपवाससे तपाये गये पुरुषके पाप शीघ्र नष्ट हो जाते है। ग्रीष्म ऋतुके सूर्यसे तपाय गये भूतलपर जल कितनी देर ठहर सकता है ॥१३४॥ ज्ञानियोने नित्य और नैमित्तिकसे भेदसे यह उपवास दो प्रकारका कहा हैं। अष्टमी और चतुर्दशी पर्वके दिन किया जानेवाला नित्य उपवास कहा जाता है और अन्य दिन-

---

१. मु भूतले।

उपवासा विधीयन्ते ये पञ्चम्यादिगोचराः । उक्ता नैमित्तिकाः सर्वे ते कर्मक्षपणक्षमाः ॥१३६
गुरुतरकर्मजालसलिलं भवभक्षकर बहुपरिणाममेघनिवहप्रसवं[1] प्रसभम् ।
क्षपयति सर्वमुग्र उपवासपयोजपतिर्विरचितसवृति[2] निखिलदेहितडागतते: ॥१३७
जनयति यो विधूय विपद रभसाऽपचिर्ति[3] घटयति सम्पद त्रिदशमानववर्गनुताम्[4] ।
विधिविहितस्य तस्य पुरुषः श्रुतकेवलिनो वदति फल न कोऽप्यनशनस्य परो भुवने ॥१३८
रचयति यस्त्रिधा व्रतमिद महितं महितैरमितगतिश्चतुर्विधमनन्यमना पुरुष ।
भवशतसञ्चितं कलिलमेष निहत्य पुन[5] शिवपदमेति शाश्वतमपास्तसमस्तमलम् ॥१३९

इत्युपासकाचारे द्वादशः परिच्छेद. ।

त्रयोदशः परिच्छेदः

शशाङ्कामलसम्यक्त्वो व्रताभरणभूषितः । शीलरत्नमहाखानि पवित्रगुणसागरः ॥१
ऋजुभूतमनोवृत्तिर्गुरुशुश्रूषणोद्यतः । जिनप्रवचनाभिज्ञ. श्रावक. सप्तधोत्तमः ॥२
निसर्गजरुचौ जन्तावेकान्तरुचिराजिते । असहाये महाप्राज्ञे सदायतनसेवके ॥३

विशेषोपर किया जानेवाला उपवास नैमित्तिक कहलाता है, जो कि अनेक प्रकारका शास्त्रोमे बताया गया है ॥१३५॥ पचमी, एकादशी आदिके दिन जो उपवास किये जाते है,वे नैमित्तिक कहे गये है । ये सभी नित्य-नैमित्तिक उपवास कर्मोका क्षय करनेमे समर्थ है ॥१३६॥

संवरको धारण करनेवालेका समस्त प्राणियोरूप तालाबोकी पक्तिमे भरे हुए ससाररूप वृक्षको उत्पन्न करनेवाले, नाना प्रकारके कषाय परिणामरूप मेघोसे उत्पन्न हुए एसे अतिगुरु कर्मजाल रूप उग्र जलको उपवासरूप सूर्य शीघ्र ही सुखा देता है ॥१३७॥ जो उपवास वेगसे संचित हुई विपत्तियोका विनाशकर देव और मनुष्य वर्गकी उत्तम सम्पदाको शीघ्र घटित करता है, ऐसे विधिपूर्वक किये गये उपवासके फलको श्रुतकेवलीके सिवाय और कोई पुरुष इस लोकमे नही कह सकता है ॥१३८। इस प्रकार महापुरुषोके द्वारा पूजित है,इस चतुर्विध व्रतको मन वचन काय द्वारा जो अमितगति पुरुष एकाग्रचित्तसे धारण करता है,वह सैकडो भवोको सचित पापको विनष्ट करके पुनः सर्वमलोंसे रहित होकर शाश्वत शिवपदको प्राप्त करता है ॥१३९॥

इस प्रकार अमितगति विरचित उपासकाध्ययनमे बारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ।

अब आचार्य श्रावकके विशेष गुणोंका वर्णन करते हैं—

शंकादि दोषोसे रहित चन्द्रमाके समान निर्मल सम्यक्त्वका धारक, व्रतरूप आभरणसे भूषित, शीलरूप रत्नकी महाखानि, पवित्र गुणोका सागर,सरल मन और बुद्धिवाला, गुरुकी सेवा शुश्रूषा करनेमें उद्यत,तथा जिन-आगमका ज्ञाता, ऐसे सात प्रकारका उत्तम श्रावक होता है ॥१-२॥ आगे कहे जानेवाले गुणोसे युक्त पुरुषमे सम्यग्दर्शन निश्चय रूपसे रहता है—जिसके तत्त्वोकी स्वभाव-जनित श्रद्धा हो, जो आत्मप्रतीतिपर एकान्त दृढ रुचिसे विराजमान हो, परकी सहायता-

---

१ मु–प्रभव । २. मु. संवृते. । ३. मु.–सोपचिति । ४–मताम् ।
५ मु घन ।

कृतानायतनत्यागे परदृष्टयविमोहिते । शासनासादनाहीने जिनशासनबृंहके ॥४
सोपानं सिद्धिसौधस्य कल्मषक्षपणक्षमम् । ज्ञानचारित्रयोर्हेतु स्थिरं तिष्ठति दर्शनम् ॥५
न निरस्यति सम्यक्त्व जिनशासनभावितः । गृहीतं वन्हिसन्तप्तो लोहपिण्ड इवोदकम् ॥६
दर्शनज्ञानचारित्रतपस्सु विनय परम् । करोति परमश्रद्धस्तितीर्षुर्भववारिधिम् ॥७
जिनेशानां विमुक्तानामाचार्याणां विपश्चिताम् । साधूनां जिनचैत्यानां जिनराद्धान्तवेदिनाम् ॥८
कर्त्तव्या महती भक्तिः सपर्या गुणकीर्तनम् । अपवादतिरस्कार सम्भ्रमः शुभदृष्टिभिः[1] ॥९
आगमाध्ययन कार्यं कृतकालादिशुद्धिना । विनयारूढचित्तेन बहुमानविधायिना ॥१०
कुर्वताऽवग्रह योग्यं सूरिनिन्हवमोचिना । परमा कुर्वता शुद्धि व्यञ्जनार्थद्वयस्थिताम् ॥११
सयमे संयमाधारे संयमप्रतिपादिनि । आदर कुर्वतो ज्ञेयश्चारित्रविनय पर ॥१२
महातपःस्थिते साधौ तप कार्ये ससयमे । भक्तिमात्यन्तिकीं प्राहुस्तपसो विनय बुधाः ॥१३
सम्यक्त्वचरणज्ञानतपांमीमानि जन्मिनाम् । निस्तारणसमर्थानि दुःखोर्मिभवनीरधेः ॥१४
चतुर्विध[2]मिद साधो पोष्यमाणमहर्निशम् । सिद्धि साधयते सद्य प्रार्थितां नृपतेरिव ॥१५
सिषाधयिषते सिद्धि चतुरङ्गमृतेऽत्र य । स पोतेन विना मूढस्तितीर्षति पयोनिधिम् ॥१६

से रहित दृढ आत्मविश्वासी हो, महान् बुद्धिमान् हो, उत्तम धर्मस्थानोका सेवक हो, अनायतनो अर्थात कुधर्मस्थानोंका त्यागी हो, मिथ्यामतोसे विमोहित न हो, जिनशासनको आसादनासे रहित हो, जिनशासनका बढाने वाला हो,ऐसे पुरुषमे मुक्तिरूप महलके सोपान स्वरूप, ज्ञान-चारित्रका हेतु और कर्मोके क्षय करनेमे समर्थ ऐसा सम्यग्दर्शन स्थिर होकर ठहरता है ॥३-५॥ जिनशासनकी भली-भाँतिसे भावना करनेवाला पुरुष सम्यक्त्वको नही त्यागता है। जैसे अग्निसे सन्तप्त लोहेका पिण्ड ग्रहण किये गये जलको नही त्यागता है ॥६॥ जो पुरुष श्रद्धालु हैं और ससार-सागरसे पार उतरना चाहता है, वह दर्शन ज्ञान चारित्र और तपमें परम विनयको धारण करता है ॥७॥ जिनेन्द्रदेव, सिद्धपरमेष्ठी, आचार्य, महाज्ञानी उपाध्याय, साधुगण, जिन चैत्य और जिन सिद्धान्तके वेत्ताओंकी महाभक्ति पूजा और गुणस्तुति उत्तम सम्यग्दृष्टियोको करनी चाहिए । तथा जैन शासनमें उठे हुए अपवादका सोत्साह निराकरण करना चाहिए यह दर्शन विनय हैं ॥८-९॥ काल आदिको शुद्धिको करके, और चित्तमें विनय भाव धारण करके, बहुत सम्मानको करते हुए, योग्य अवग्रह (प्रतिज्ञा) करके, अपने गुरुका निन्हव त्याग कर शब्दकी, अर्थकी और दोनोकी परम शुद्धि को रखते हुए आगमका अध्ययन करना चाहिए । यह ज्ञानविनय है ॥१०-११॥

सयममे, सयमके आधारभूत साधुओमे,सयमके-प्रतिपादन करनेवाले आचार्य और उपाध्यायमे परम आदरभाव रखनेवाले पुरुषके चारित्रविनय जानना चाहिए ॥१२॥ महान्तपमे स्थित साधुमे और सयम-युक्त तपके कार्यमे अत्यन्त भक्ति रखनेको ज्ञानियोने तपकी विनय कहा हैं ॥१३॥ ये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप चार आराधनाएँ प्राणियोको दुःख रूप तरगोसे युक्त ससाररूप समुद्रसे पार उतारनेम समर्थ है ॥१४॥ रात्रि-दिन पोषण की गई ये चार प्रकारकी आराधनाएँ साधुको शीघ्र ही मुक्तिको सिद्ध करती है । जैसे कि भली प्रकार पोषण की गई राजाकी चतुरग सेना वाछित कार्यको सिद्ध करती है ॥१५॥ जो अज्ञानी पुरुष इस लोकमे चार आराधनाओके विना सिद्धिको साधन करना चाहता है,वह जहाजके विना ही समुद्रको तिरना

१. मु–दृष्टिता । २ मु चतुरडग–।

लोकद्वयेऽपि सौख्यानि दृश्यन्ते यानि कानिचित् । जन्यन्ते तानि सर्वाणि चतुरङ्गेण देहिन ॥१७
निरस्यति रज सर्वं न्यायं[1] सूचयते हितम् । मातेव कुरुते किं न चतुरङ्गनिषेवणा ॥१८
चतुरङ्गमपाकृत्य कुर्वते कर्म ये परम् । कल्पद्रुममपाकृत्य ते भजन्ति विषद्रुमम् ॥१९
चतुरङ्ग सुखं दत्तेयत्तत्कर्म परं कथम् । यत्करोति सुहृत्कार्यं तन्न वैरी कदाचन ॥२०
ये सन्ति साधवोऽन्ये[2] च चतुरङ्गविभूषणाः । विधेयो विनयैस्तेषां मनोवाक्कायकर्मभि ॥२१
गुणानामनवद्यानां तदीयानामनारतम । चिन्तनीयं पटीयोभिरुपबृंहणकारणम् ॥२२
ध्यायतो योगिनां पथ्यमपथ्यप्रतिषेधनम् । मानसो विनय साधोर्जायते [3]शुद्धिसाधक. ॥२३
यश्चिन्तयति साधूनामनिष्टं दुष्टमानस. । सर्वानिष्टखनिर्मूढो जायते स भवे भवे । २४
दुर्भगो विकलो मूर्खो निर्विवेको नपुंसक । नीचकर्मकरो नीचो यतिदूषणचिन्तक. ॥२५
विज्ञायेति महाप्राज्ञाः संयतानामरेफसाम् । सञ्चिन्तयति नानिष्टं त्रिविधेन कदाचन ॥२६
श्रवणीयमनाक्षेपं सपर्याप्रतिपादकम् । अनवज्ञापरं तथ्यं मधुरं हृदयङ्गमम् ॥२७
वचनं वदत: पथ्यं रागद्वेषाद्यनाविलम् । वाचिको विनयोऽवाचि वचनीयनिखर्वक ॥२८
अभ्याख्यानतिरस्कारकारकं गुणदूषकम् । न वाच्यं वचनं भक्तैस्तपोधनविनिन्दकम् ॥ २९
वदन्ति दूषणं दीना ये साधूनामनेनसाम् । ते भवन्ति दुराचारा दूष्या जन्मनि जन्मनि ॥३०

चाहता है ॥१६॥ इस लोक और परलोकमे जितने कुछ भी सुख दिखाई देते है वे सब जीवको इस चतुरंगी आराधनाके द्वारा ही प्राप्त होते है ॥१७॥ भली-भाँतिसे सेवित यह चतुर्विध आराधना माताके समान कर्म-रजको दूर करती है, न्याय युक्त कर्तव्यको सूचित करती है और ऐसा कौन सा हितकारी कार्य है, जिसे यह न करती हो ॥१८॥ जो पुरुष इस चतुरंगी आराधनाको छोडकर मुक्ति प्राप्तिके लिये अन्य कार्य करते है, वे कल्पवृक्षको छोडकर विप वृक्षकी सेवा करते है ॥१९॥ यह चतुर्विध आराधना जो सुख देती हैं, वह अन्य कार्य कैसे दे सकता हैं? मित्र जो सुखका कार्य करता है, वह वैरी कदाचित् भी नही कर सकता ॥२०॥ जो साधु इस चतुर्विध आराधनाओसे विभूषित है, वे अन्य हैं और उनकी विनय मन वचन कायसे करना चाहिए ॥२१॥ निर्दोष गुणोंका बुद्धिमान् पुरुषोंको निरन्तर चिन्तवन करना चाहिए, क्योंकि वह धर्म बढानेका कारण हैं॥२२॥ योगियोंके पथ्य (हित) रूप और अपथ्यका निषेध करनेवाले गुणका चिन्तवन करते हुए साधुके सिद्धिका साधक मानसिक विनय होता हैं ॥२३॥ जो दुष्टचित्त पुरुष साधुओंका अनिष्ट चिन्तवन करता है, वह मूढ भव भवमे सभी अनिष्टोंकी खानि होता है ॥२४॥ यतियोके दोषोका चिन्तवन करनेवाला पुरुष भव भवमें दुर्भागी विकलांगी मूर्ख अविवेकी नपुंसक और नीचकर्म करनेवाला होता हैं। २५॥ ऐसा जानकर महान् ज्ञानी पुरुष पाप-रहित साधुओंके अनिष्टका त्रियोगसे कदाचित् भी चिन्तवन नहीं करते है ॥२६॥ यह मानसिक विनयका वर्णन किया ।

अब वाचनिक विनयका वर्णन करते है—सुननेके योग्य, आक्षेप-रहित, पूजा-उपासनाके प्रतिपादक, अवज्ञा-रहित, सत्य,मधुर,हृदयको प्रिय, पथ्य और राग-द्वेपादिसे रहित वचन बोलनेवाले पुरुषके वचन-सम्बन्धी दोषोंका दूर करनेवाला वाचनिक विनय कहा गया है ॥२७-२८॥ भक्त श्रावकोको साधुके दोष प्रकट करनेवाले, तिरस्कार करनेवाले,गुणोमे दोप लगानेवाले और उनकी निन्दा करनेवाले वचन कभी नही कहना चाहिए ॥२९॥ जो अज्ञानी हीन जन दोष-रहित साधुओंके दोप कहते है, वे जन्म-जन्ममें दुराचारी और दोषोके भाजन होते है ॥३०॥यति-निन्दा

---

१. मु ज्ञेय। २. मु धन्या । ३. मु सिद्धि- ।

अनादेयगिरो गर्ह्या क्लेशिनः शोकिनो जडाः । यतिनिन्दापराः सन्ति जन्मद्वितयदूषिताः ॥३१
किं चित्रमपरं तस्माद्यदुदासीनचेतसाम् । वन्दका वन्दितास्तेषां निन्दका सन्ति निन्दिताः ॥३२
यादृशं क्रियते भावः फलं तत्रास्ति तादृशम् । यादृशं चर्च्यते रूपं तादृशं दृश्यतेऽब्दके ॥३३
व्रतिनां निन्दकं वाक्यं विबुद्धयेति न सर्वदा । मनोवाक्काययोगेन वक्तव्यं हितमिच्छता ॥३४
अभ्युत्थानासनत्यागप्रणिपाताञ्जलिक्रिया । आयाति संयते कार्या यात्यनुव्रजनं पुनः ॥३५
आयान्तं ये तपोराशिं विलोक्यापि न कुर्वते । अभ्युत्थानासनत्यागौ नेभ्यः सन्त्यधमाः परे ॥३६
यत्र यत्र विलोक्यन्ते संयता यतमानसाः । तत्र तत्र प्रणन्तव्या विनयोद्यतमानसैः ॥३७
शय्योपवेशनस्थानगमनादीनि सर्वदा । विधातव्यानि नीचानि संयताराधनापरैः ॥३८
पुण्यवन्तो वयं येषामाज्ञां यच्छन्ति योगिनः । मन्यमानैरिति प्राज्ञैः कर्तव्यं यतिभाषितम् ॥३९
निष्ठीवनमवष्टम्भं जृम्भणं गात्रभञ्जनम् । असत्यभाषणं नर्म हास्यं पादप्रसारणम् ॥४०
अभ्याख्यानं करस्फोटं करेण करताडनम् । विकारमङ्गसंस्कारं वर्जयेद्यतिसन्निधौ ॥४१
उच्चस्थानस्थितैः कार्या वन्दना न तपस्विनाम् । न गतिर्वामतः कार्या विनीतैर्न च पृष्ठतः ॥४२
त्रिधेति विनयोऽध्यक्षः करणीयो मनीषिभिः । परोक्षेऽपि स साधूनामाज्ञाकरणलक्षणः ॥४३

करनेवाले पुरुष अनादरणीय वचन वाले, निन्द्य, क्लेश-युक्त, रोगी शोकी मूर्ख और दोनो जन्मोको दूषित करनेवाले होते है ॥३१॥ इससे अधिक आश्चर्यकी और क्या बात हो सकती है कि उदासीन चित्त रहनेवाले साधुओकी वन्दना करनेवाले इस ससारमें वन्दनीय होते है और निन्दा करनेवाले पुरुष निन्दाके पात्र होते है ॥३२॥ जो मनुष्य इस जन्ममे जैसा भाव करता है उसे पर भवमे वैसा ही फल प्राप्त होता है। मनुष्य जैसा रूप बनाता है, दर्पणमें वैसा ही दिखाई देता है ॥३३॥ ऐसा जानकर अपना हित चाहनेवाले पुरुषको व्रतियोके निन्दक वाक्य कभी भी मन वचन कायसे नही बोलना चाहिए ॥३४॥ यह वाचनिक विनय है। अब कायिक विनयका वर्णन करते है—सयमी साधुके आनेपर उठकर खडा होना, अपने आसनका त्याग करना, नमस्कार करना, हाथ जोडकर अजुली बाँधना आदि क्रियाएँ भक्तिसे करना चाहिए। तथा उनके चलने पर पीछे-पीछे चलना चाहिए ॥३५॥ जो पुरुष तपोराशि साधुको आता हुआ देखकर भी उठकर खडे नही होते और अपना आसन-त्याग नही करते हैं उनसे अधम और कोई सा्रु मनुष्य नही है ॥३६॥ जहाँ-जहाँ पर भी सयत मनवाले साधुजन दिखाई देवे, वहाँ-वहाँ पर विनयसे उद्यत चित्तवाले श्रावकोको उन्हे नमस्कार करना चाहिए ॥३७॥ साधुओकी आराधनामे तत्पर श्रावकोको सदा ही साधुओसे नीचे स्थानपर सोना उठना व बैठना, और गमनादिक क्रिया करना चाहिए ॥३८। 'हम लोग पुण्यवान् है, जिनपर योगीजन आज्ञा करते हैं' ऐसा मानते हुए ज्ञानीजनोको साधुओ द्वारा कहा गया कार्य विनयके साथ करना चाहिए ॥३९॥ साधुओके समीप थूकना, सहारा लेकर बैठना, जभाई लेना, शरीरके अगोका चटकाना, असत्य बोलना, हसी-मजाक करना, पैर पसारना, गुप्त बात कहना, चुटकी बजाना, हाथसे हाथ ताडना अर्थात् ताली बजाना, अगोकी विकाररूप चेष्टा करना और अंगोका संस्कार करना, इत्यादि अयोग्य कार्योको नही करना चाहिए ॥४०-४१॥ ऊँचे स्थानपर बैठकर उन्हे बाई ओर या पीछेको ओर करके तपस्वियोको वन्दना नही करना चाहिए तथा विनीत पुरुषोको साधुके साथ गमन करते समय न उन्हे बाई ओर करके गमन करना चाहिए और न पीछेकी ओर करके आगे गमन करना चाहिए ॥४२॥

इस प्रकार मनीषीजनोको मानसिक वाचनिक और कायिक यह तीन प्रकारका प्रत्यक्ष

संघे चतुर्विधे भक्त्या रत्नत्रितयराजिते। विधातव्यो यथायोग्यं विनयो नयकोविदैः ॥४४
विनयेन विहीनस्य व्रतशीलपुरस्सराः। निष्फलाः सन्ति निश्शेषा गुणा गुणवतां मताः ॥४५
विनश्यन्ति समस्तानि व्रतानि विनयं विना। सरोरुहाणि तिष्ठन्ति सलिलेन विना कथम् ॥४६
निर्वृतिस्तरसा वश्या विधीयते। आत्मनीनसुखाधारा सौभाग्येनेव कामिनी ॥४७
सम्यग्दर्शनचारित्रतपोज्ञानानि देहिना। अवाप्यन्ते विनीतेन यशांसीव विपश्चिता ॥४८
तस्य कल्पद्रुमो भृत्यस्तस्य चिन्तामणिः करे। तस्य सन्निहितो यक्षो विनयो यस्य निर्मलः ॥४९
आराध्यन्तेऽखिला येन त्रिदशाः सपुरन्दराः। सङ्घस्याराधने तस्य विनीतस्यास्ति कः श्रमः ॥५०
क्रोधमानादयो दोषाश्छिद्यन्ते येन वैरदाः। न वैरिणो विनीतस्य तस्य सन्ति कथञ्चन ॥५१
कालत्रयेऽपि ये लोके विद्यन्ते परमेष्ठिनः। तेन विनीतेन निश्शेषाः पूजिता वन्दिताः स्तुताः ॥५२
गर्वो निखर्व्यते तेन जन्यते गुरुगौरवम्। आर्जवं दर्श्यते स्वस्य विनयं[1] वितनोति यः ॥५३
विनयः कारणं मुक्तेर्विनयः कारणं श्रियः। विनयः कारणं प्रीतेर्विनयः कारणं मतेः ॥५५

विनय करना चाहिए। तथा साधुजनोंके परोक्षमें भी उनकी आज्ञाको पालन करना ही है लक्षण जिसका ऐसा परोक्ष विनय करना चाहिए ॥४३॥ नयविशारद जनोंको रत्नत्रयसे विराजित चतुर्विध संघपर भक्तिके साथ यथायोग्य विनय करना चाहिए। क्योंकि विनयसे रहित पुरुषके व्रत-शीलपूर्वक शेष समस्त गुण निष्फल है, ऐसा गुणीजनोंका मत है ॥४४-४५॥ विनयके बिना समस्त व्रत उसी प्रकारसे विनष्ट हो जाते है, जिस जलके बिना कमल नष्ट हो जाते है। क्योंकि सरोवरमें जलके विना कमल कैसे जीवित रह सकते है ॥४६॥ जिस प्रकार सौभाग्यके द्वारा कामिनी स्त्री वशमें आजाती है, उसी प्रकार विनयके द्वारा आत्माके हितरूप सुखकी आधारभूत मुक्तिरूपी स्त्री भी शीघ्र ही अवश्य वशमें की जाती हैं ॥४७॥ जैसे विद्वान् पुरुष अपनी विद्वत्ताके द्वारा यशको प्राप्त करता है, उसी प्रकार प्राणीगण भी विनयसे सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र, तप और ज्ञानको प्राप्त करते हैं ॥४८॥ जिस पुरुषके पास निर्मल विनय गुण होता है, उसका कल्पवृक्ष दास है, उसके हाथमे चिन्तामणि आ गया है और सर्व कार्यका कर्त्ता यक्ष समीपस्थ हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥४९। जिस विनीत पुरुषके द्वारा इन्द्र-सहित समस्त देवगण आराधना किये जाते है अर्थात् सेवक बन जाते हैं, उस विनीत पुरुषकी संघकी आराधना करनेमें क्या परिश्रम है, अर्थात् कुछ भी नही है ॥५०॥ जिस विनयके द्वारा वैर-भावके देने और बढानेवाले क्रोध मान आदिक दोष नाश किये जाते है, उस विनयके धारक विनीत पुरुषके वैरी किसी भी प्रकार नही हो सकते है ॥५१॥

इस लोकमें तीनों कालोंमें जितने भी परमेष्ठी विद्यमान है, वे सब विनीत पुरुषके द्वारा पूजे, वदे और स्तुति किये गये समझना चाहिए ॥५२॥ जो मनुष्य विनयका विस्तार करता है उसके द्वारा गर्वका विनाश किया जाता है, गुरुजनोका गौरव बढाया जाता हैं और अपना सरल-भाव प्रकट किया जाता है ॥५३॥ विनयवान् पुरुषकी निर्मल कीर्ति महीतलपर अतिशयरूपसे परिभ्रमण करती है, अर्थात् सर्व जगत्में फैलती हैं और चन्द्रकी कान्तिके समान जगत्के प्राणियोंको सुख उपजाती है ॥५४॥ विनय मुक्तिका कारण है, विनय लक्ष्मीका कारण है, विनय प्रीति

---

[1] मु. प्रश्रय।

विनयेन विना पुंसो न सन्ति गुणसम्पदः। न बीजेन विना क्वापि जायन्ते सस्यजातय ॥५६
प्रश्रयेण विना लक्ष्मीं यः प्रार्थयति दुर्मनाः। स मूल्येन विना नून रत्नं स्वीकर्तुमिच्छति ॥५७
का सम्पदविनीतस्य का मैत्री चलचेतस। का तपस्या विशीलस्य का कीर्तिः कोपवर्त्तिनः ॥५८
न शठस्येह यस्यास्ति तस्यामुत्र कथ सुखम्। न कच्छे कर्कटी यस्य गृहे तस्य कुतस्तनी ॥५९
लाभालाभौ विबुद्धचेति भो विनीताविनीतयो। विनीतेन सदा भाव्य विमुच्याविनय त्रिधा ॥६०
कृतान्तैरिव दुर्वारैः पीडितानां परीषहैः। वैयावृत्त्य विधातव्यं मुमुक्षूणां विमुक्तये ॥६१
दुर्भिक्षे मरके घोरे चौरराजाद्युपद्रुते। कर्मक्षयाय कर्त्तव्या व्यावृतिर्व्रतवर्तिनाम् ॥६२
आचार्येऽध्यापके वृद्धे गणरक्षे प्रवर्तके। शैक्षे तपोधने सङ्घे गणे ग्लाने दशस्वपि ॥६३
प्रासुकैरौषधैर्योग्यैर्मनसा वपुषा गिरा विधेया व्यावृति सद्भिर्भवभ्रान्ति जिहासुभि ॥६४
तपोभिर्दुष्करैः रोगैः पीडयमानं तपोधनम्। यो दृष्ट्वोपेक्षते शक्तो निर्धर्मा न तत पर. ॥६५
गृहस्थोऽपि यतिर्ज्ञेयो वैयावृत्त्यपरायणः। वैयावृत्त्यविनिर्मुक्तो न गृहस्थो न सयतः ॥६६
वैयावृत्त्यपरः प्राणी पूज्यते संयतैरपि। लभते न कुत पूजामुपकारपरायणः ॥६७
सयमो दर्शन ज्ञान स्वाध्यायो विनयो नयः। सर्वेऽपि तेन दीयन्ते वैयावृत्य तनोति यः ॥६८

का कारण है और विनय बुद्धिका भी कारण है ॥५५॥ विनयके विना पुरुषको गुणरूप सम्पदा प्राप्त नही होती है, जैसे बीजके बिना कही भी धान्यकी जातियाँ उत्पन्न नही होती है ॥५६॥ जो दुर्बुद्धि पुरुष विनयके विना लक्ष्मीको चाहता हैं, वह निश्चयसे मूल्यके विना ही रत्नको पानेको इच्छा करता है ॥५७॥ अविनीत अर्थात् विनय-रहित पुरुषके सम्पदा कहा? चचल चित्त मनुष्य की मित्रता कैसी? शील-रहित पुरुषके तपस्या कहाँ और क्रोधी पुरुषकी कीर्ति कैसे सभव है ॥५८॥ जिस शठ पुरुषके इस लोकमे सन्तोष रूप सुख नही है उसके परलोकमे सुख कहाँसे प्राप्त हो सकता है? जिसकी कछवाडीमे ककडी नही है, उसके घरमे वह कहासे हो सकती है ॥५९॥ इसलिए हे भक्त पुरुषो, विनयवान् और अविनयीके इस प्रकारके लाभ और अलाभको जान करके अविनयको त्रियोगसे छोडकर सदा विनीत रहना चाहिए ॥६०॥ इस प्रकार विनयका वर्णन किया।

अब आचार्य वैयावृत्त्य तपका वर्णन करते है यमराजके समान दुर्निवार परीषहोसे पीडित मोक्षाभिलाषी साधुजनोकी वैयावृत्त्य मोक्ष-प्राप्तिके लिए करना चाहिए ॥६१॥ दुर्भिक्षके समय, मारीके आनेपर, रोगके होनेपर तथा चोर, राजा आदिके उपद्रव होनेपर कर्मक्षयके लिए व्रती पुरुषोंकी वैयावृत्त्य करना चाहिए ॥६२॥ ससारके परिभ्रमणके त्यागकी इच्छा रखनेवाले सज्जन पुरुषोको आचार्य, उपाध्याय, वृद्ध मुनि, गणरक्षक, प्रवर्त्तक, शक्ष्य, तपस्वी, संघ, गण और ग्लान (रोगी) साधु, इन दशो ह प्रकारके साधुओकी योग्य प्रासुक औषधियोके द्वारा मन-वचन और कायसे वैयावृत्य करनी चाहिए ॥६३–६४॥ सामर्थ्यवान् हो करके भी जो पुरुष तपोसे और दुष्कर रोगोसे पीडित तपोधन साधुको देखकर उपेक्षा करता है, अर्थात् उनको वैयावृत्त्य नही करता है, उससे अन्य कोई अधर्मी नही है ॥६५॥

वैयावृत्त्यमे तत्पर गृहस्थ भी साधुके समान जानना चाहिए। जो वैयावृत्त्यसे रहित हैं, वह पुरुष न गृहस्थ है और न साधु ही है ॥६६॥ वैयावृत्त्य करनेवाला प्राणी सयमी पुरुषोके द्वारा भी पूजा जाता है। दूसरेके उपकारको करनेवाला पुरुष पूजाको कैसे नही पाता है? अर्थात् अवश्य ही पूजाको पाता है ॥६७॥ जो पुरुष वैयावृत्य करता है, वह सयम दर्शन ज्ञान स्वाध्याय

निर्वृतिर्दीयते तेन तेन धर्मो विधास्यते । आगमोऽध्याप्यते तेन क्रियते तेन वा न किम् ॥६९
समाधिर्विहितस्तेन जिनाज्ञा तेन पालिता । धर्मो विस्तारितस्तेन तीर्थं तेन प्रवर्तितम् ॥७०
दुष्प्रापं तीर्थकर्तृत्वं त्रैलोक्यक्षोभणक्षमम् । प्राप्यते व्यावृतेर्यस्यास्तस्या किं न परं फलम् ॥७१
परस्यापोह्यते दुःख सदा येनोपकुर्वता । सम्पद्यते कथं तस्य क्व कार्यं कारणं विना ॥७२
सेव्यो दीर्घायुरादर्यो नीरोगो निरुपद्रव· । वदान्य. सुन्दरो दक्षो जायते स प्रियवदः ॥७३
स धार्मिकः स सद्दृष्टि· स विवेकी स कोविद· । स तपस्वी स चारित्री व्यावृत्ति विदधाति य· ॥७४
आश्रित्य भक्तित. सूरि रत्नत्रितयभूषितम् । प्रायश्चित्त विधातव्य गृहीत्वा व्रतशुद्धये ॥७५
न सदोष. क्षम कर्तुं दोषाणां व्यपनोदनम् । कर्दमाक्त कथं वास. कर्दमेण विशोध्यते ॥७६
दोषमालोचित ज्ञानी सूरिरीशो व्यपोहितुम् । अज्ञानेनैव वैद्येन व्याधि. क्वापि चिकित्स्यते ॥७७
आलोच्यर्जुस्वभावेन ज्ञानिने सयतात्मने । तदीयवाक्यत· कार्यं प्रायश्चित्तं मनीषिणा ॥७८
प्राञ्जलीभूय कर्तव्या सूरेरालोचना त्रिधा । विपाके दु खद कार्यं वक्रभावेन निर्मितम् । ७९

विनय, नय आदि सभी कुछ देता है । क्योकि वैयावृत्यसे स्वास्थ्य-लाभ करनेपर ही संयम-पालनादि सभव है ॥६८॥ जिस पुरुषके द्वारा वैयावृत्य करनेसे निराकुलता प्रदान की जाती हैं,उसके द्वारा धर्म साधन कराया जाता है, और आगमका पठन-पठन कराया जाता है । अथवा अधिक क्या कहे–वैयावृत्य करनेवालेके द्वारा क्या नही कराया जाता? अर्थात् सभी उत्तम कार्य कराये जाते हैं ॥६९॥ जिस पुरुषने साधुजनोंकी वैयावृत्य की, उसने उन्हे समाधि कराई, उसने जिनेन्द्रकी आज्ञाका पालन किया उसने धर्मका विस्तार किया और उसने तीर्थका प्रवर्तन किया ॥७०॥ जिस वैयावृत्त्यके द्वारा तीन लोकको क्षोभित करने वाला अत्यन्त कष्टसे पाने योग्य ऐसा तीर्थकरपना प्राप्त होता हैं, उस वैयावृत्य करनेका अन्य क्या फल नही प्राप्त हो सकता है? अर्थात् सभी कुछ प्राप्त हो सकता है ॥७१॥ सदा परोपकार करनेवाले जिस पुरुषके द्वारा अन्यके दु·ख दूर किये जाते है, उसके दु ख कैसे प्राप्त हो सकता है? अर्थात् कभी वह दुखी नही हो सकता । क्योकि कारणके विना कार्य कहाँ हो सकता है ॥७२॥ वैयावृत्य करनेवाला पुरुष सत्पुरुषोके द्वारा सेव्य होता है, दीर्घायु होता है, आदरणीय, नीरोग, उपद्रव-रहित, उदार, प्रियभाषी,सुन्दर और चतुर होता है ॥७३॥ जो पुरुष वैयावृत्त्य करता है, वह धर्मात्मा है, वह सम्यग्दृष्टि है, वह विवेकी है, वह विद्वान् है, वह तपस्वी हैं और यह चारित्रका धारक है ।।७४।। इस प्रकार वैयावृत्यका वर्णन किया ।

अव आचार्य प्रायश्चित्त तपका वर्णन करते है–व्रतको ग्रहण करके उसमे लगनेवाले दोषोंकी शुद्धिके लिये रत्नत्रयसे विभूषित आचार्यका आश्रय लेकर भक्तिसे अपने दोषोका प्रायश्चित्त करना चाहिए । ७५।। जो आचार्य स्वय ही दोप युक्त है, वह अन्यके दोषोको दूर करनेमें समर्थ नही है । क्योकि कीचडसे लिप्त वस्त्र कीचडसे कैसे शुद्ध किया जा सकता है? अर्थात् कभी भी शुद्र नही किया जा सकता है ॥७६॥ ज्ञानवान् आचार्य ही शिष्यके द्वारा कहे गये दोषको दूर करनेमे समर्थ है । क्योकि अज्ञानी वैद्यके द्वारा कही पर भी व्याधिकी चिकित्सा नही की जा सकती है ॥७७॥ इसलिए ज्ञानी सयमी आचार्यके आगे सरल भावसे अपने दोपोकी आलोचना करके उनके वचनानुसार मनीपी मुनि और गृहस्थोको प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥७८॥ मन वचन कायको सरल करके अजलि बाँधकर आचार्यके आगे आलोचना करना चाहिए । क्योकि कुटिल भावसे किया गया कार्य परिणामके समय दु खदायी होता हैं ॥७९॥ प्रायश्चित्तमे जिसके दोपोकी शुद्धि

फलाय जायते पुंसो न चारित्रमशोधितम् । मलग्रस्तानि सस्यानि कीदृशं कुर्वते फलम् ॥८०
वाचना पृच्छनाऽऽनुप्रेक्षा धर्मदेशना । स्वाध्यायः पञ्चधा कृत्यः पञ्चमीं गतिमिच्छता ॥८१॥

तपोऽन्तरानन्तरभेदभिन्ने तपोविधौ किञ्चन पापहारि ।
स्वाध्यायतुल्यं न विलोक्यतेऽन्यद्धृषीकदोषप्रशमप्रवीणम् ॥८२
स्वाध्यायमत्यस्य चलस्वभावं न मानसं यन्त्रयितुं समर्थः ।
शक्नोति नोन्मूलयितुं प्रवृद्धं तमः परो भास्करमन्तरेण ॥८३
यां स्वाध्यायः पापहानिं विधत्ते कृत्वैकाग्र्यं नोपवासः क्षमस्ताम् ।
शक्तः कर्तुं संयतानां[1] न कार्यं लोके दृष्टोऽसं[2]यतो दुष्टचेष्टः ॥८४
विज्ञातनिःशेषपदार्थजातः कर्मास्रवद्वारपिधानकारी ।
भूत्वा विधत्ते स्वपरोपकारं स्वाध्यायवर्ती बुधपूजनीयः ।८५
यद्बुद्धतत्त्वो विधुनोति सद्यो विध्वसिताशेषहृषीकदोषः ।
तपोविधानैर्भवकोटिलक्षर्नूनं तदज्ञो न धुनोति कर्म ८६

नही की गई है, ऐसा चारित्र पुरुषको फल नही देता है। क्योकि मलसे दूषित धान्य उत्तम फलको कैसे उत्पन्न कर सकता है ॥८०॥ इस प्रकार प्रायश्चित तपका वर्णन किया। अब आचार्य स्वाध्याय तपका वर्णन करते है-पचमीगति मुक्तिको चाहनेवाले पुरुषोको वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्मदेशनारूप पॉच प्रकारका स्वाध्याय करना चाहिए ॥८१॥ विशेषार्थ आगमके निर्दोष शब्द और अर्थका भव्योको पढाना—सिखाना वाचवा स्वाध्याय है। संशयके दूर करनेके लिए तत्त्वका रहस्य गुरुजनोसे पूछना पृच्छना स्वाध्याय है। आगमके पाठका शुद्ध उच्चारण करना कठस्थ याद करना आम्नाय स्वाध्याय है। पदार्थके शास्त्र-प्ररूपित स्वरूपका बार-बार चिन्तवन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय हैं। दूसरोके लिए धर्मका उपदेश देना धर्मदेशना नामक स्वाध्याय है। इन पॉच प्रकारोंमे से जहाँ जब जो सभव एव आवश्यक हो, वहां पर उस स्वाध्यायको करते रहना चाहिए। अन्तरंग और बाह्यके भेदसे भिन्न बारह प्रकारके तपो-विधानमे पापोंका दूर करनेवाला और इन्द्रियोके दोषोके प्रशमन करनेमे प्रवीण ऐसा स्वाध्यायके समान अन्य और कोई तप नही है ॥८२॥ इस चचल स्वभाववाले मनको नियत्रित करनेके लिए स्वाध्यायको छोडकर अन्य कोई तप समर्थ नही हैं। बढे हुए अन्धकारको उन्मूलन करनेके लिए सूर्यके अतिरिक्त और कौन समर्थ हो सकता है ॥८३॥ एकाग्र होकर किया हुआ स्वाध्याय जितनी पाप हानिको करता हैं,उतनी पाप हानिको करनेके लिए उपवास समर्थ नही है। क्योकि सयत पुरुषोके कार्यको करनेके लिए लोकमे दुष्ट चेष्टावाला असयत मनुष्य समर्थ नही हो सकता है। प्रतियोमे संवृत पाठ भी पाया जाता है, तदनुसार सवर-मुक्त पुरुषोके कार्यको सवर-रहित दुष्ट चित्त पुरुष नही कर सकता, एसा अर्थ होता है ॥८४॥ स्वाध्याय करनेवाला पुरुष श्रुतज्ञानके बलसे समस्त पदार्थ-समूहको जानता है, कर्मोके आनेके द्वारोको बन्द करता हैं, तथा अपना और पराया उपकार करता है, अतएव वह विद्वज्जनोके द्वारा पूजनीय होता है ॥८५। जो तत्त्वोंका ज्ञाता है और जिसने इन्द्रियों-के समस्त दोषोको विश्वस्त कर दिया है, एसा ज्ञानी पुरुष शीघ्र (एक अन्तर्मुहूर्तमे) जितने कर्मका विनाश करता है, उतने ही कर्मका विनाश अज्ञानी पुरुष लाखो करोडों भवोमें सहस्रो

---

१. मु सवृताना। २ मु. असवृतो।

निरस्तसर्वाक्षकषायवृत्तिर्विधीयते येन शरीरिवर्गः ।
प्ररूढजन्माङ्कुरशोषपूषा स्वाध्यायतोऽन्योऽस्ति ततो न योगः ॥८७
गुणा पवित्राः शमसंयमाद्या विबोधहीना क्षणतश्चलन्ति ।
कालं कियन्तं तलपुष्पपूर्णास्तिष्ठन्ति वृक्षाः क्षतमूलबन्धाः ॥८८
जानात्यकृत्यं न जनो न कृत्यं जैनेश्वरं वाक्यमबुध्यमानः ।
करोत्यकृत्यं विजहाति कृत्यं ततस्ततो गच्छति दुःखमुग्रम् ॥८९
अनात्मनीनं परिहर्तुकामा गृहीतुकामाः पुनरात्मनीनम् ।
पठन्ति शश्वज्जिननाथवाक्यं समस्तकल्याणविधायि सन्तः ॥९०
सुखाय ये सूत्रमपास्य जैनं मूढाः प्रयन्ते वचनं परेषाम् ।
तापच्छिदे ते परिहृत्य[1] तोयं भजन्ति कल्पक्षयकालवह्निम् ॥९१
विहाय वाक्यं जिनचन्द्रदृष्टं परं न पीयूषमिहास्ति किञ्चित् ।
मिथ्यादृशां वाक्यमपास्य नूनं पश्यामि नो किञ्चन कालकूटम् ॥९२
विधीयते येन समस्तमिष्टं कल्पद्रुमेनेव महाफलेन ।
आवर्ज्य या विश्वजनीनवृत्तिर्मुक्त्वा परं कर्म जिनागमोऽसौ ॥९३

तपों विधानोके द्वारा निश्चयसे नही कर सकता हैं ॥८६॥ जिस स्वाध्यायके द्वारा प्राणिवर्ग समस्त इन्द्रियों और कषायोकी प्रवृत्तिसे रहित किया जाता हैं और जो बढते हुए भवाङ्कुरके सुखानेके लिए सूर्य सदृश हैं, ऐसे स्वाध्यायसे अन्य और कोई योग (ध्यान) नही है ॥८७।

कषायोकी मन्दता रूप प्रशम भाव और सयम आदिक जितने भी पवित्र गुण है, वे सब यदि ज्ञानसे रहित है, तो क्षण मात्रमे चलायमान हो जाते है। जिन वृक्षोका मूल जड-बन्धन विनष्ट हो गया हैं, ऐसे पत्र-पुष्पोसे परिपूर्ण भी वृक्ष कितने समय तक खडे रह सकते है ॥८८॥ भावार्थ-- सर्व गुणोका मूल आधार ज्ञान है, उसके विना अन्य गुण अधिक कालतक ठहर नही सकते। अत. स्वाध्यायके द्वारा ज्ञानार्जन करना आवश्यक है। जिनराजके कहे वचनोको नही जाननेवाला मनुष्य कृत्य (करने योग्य) और अकृत्य (नही करने योग्य) को नही जानता हैं इसलिए वह अकृत्य-कर्मको करता है और कृत्य कार्यको छोडता है। और इसीसे वह उग्र दु.खको प्राप्त होता है ॥८९॥ जो सन्त पुरुष आत्माके अकल्याणकारी मिथ्यात्वादिको छोडनेके इच्छुक है, तथा आत्माके कल्याणकारी सम्यक्त्वादिको ग्रहण करनेके अभिलाषी है, वे सर्वप्रकारके कल्याणोको करनेवाले जिनेन्द्रदेवके वचनोको निरन्तर पढते है ॥९०॥

जो मूढजन सुख पानेके लिए जैन सूत्र (आगम) को छोडकर अन्य मिथ्यादृष्टियोके वचनोका आश्रय लेते हैं, वे मानो अपने सन्तापको दूर करने के लिए जलको छोडकर कल्पान्तके समयवाली प्रलयकालकी अग्निका सेवन करते हैं ॥९१॥ जिनेन्द्रचन्द्रके द्वारा उपदिष्ट वाक्यको छोडकर इस लोकमे अन्य कुछ भी उत्तम अमृत नही है। तथा मिथ्यादृष्टियोके वाक्यको छोडकर निश्चयसे मैं अन्य कोई कालकूट विषको नही देखता हूँ ॥९२॥ जिस जिनागमके अभ्याससे महान् फलदायक कल्पवृक्षके समान समस्त इष्ट अर्थ प्राप्त होते हैं, ऐसे इस विश्व-कल्याणकारी जिनागमका अन्य सर्व कार्य छोडकर निरन्तर अभ्यास करना चाहिए ॥९३॥ इस प्रकार स्वाध्यायतप-

१. मु. परिमुच्य ।

परेऽपि ये सन्ति तपोविशेषा जिनेन्द्रचन्द्रोदितसूत्रदृष्टाः ।
स्वशक्तितस्ते निखिला विधेया विधानतः कर्मनिकर्तनाय ॥९४
सौख्यं स्वस्थं दीयते येन नित्यं रागावेशश्छिद्यते येन सद्यः ।
येनानन्दो जन्यते याचनीयस्तं सन्तोषं कुर्वते केन भव्याः ॥९५
नेष्टं दातुं कोऽप्युपायः समर्थः सौख्यं नृणामस्ति सन्तोषतोऽन्यः ।
अम्भोजानां कः प्रबोधं विधातुं शक्तो हित्वा भानुमन्तं न दृष्टः ॥९६
विमुच्य सन्तोषमपास्तबुद्धिः सुखाय यः काङ्क्षति कञ्चनान्यम् ।
दारिद्र्यहानाय स कल्पवृक्षं निरस्य गृह्णाति विषद्रुमं हि ॥९७
क्रोधलोभमदमत्सरशोका धर्महानिपटवः परिहार्याः ।
व्याधयो न सुखघातपटिष्ठाः पोषयन्ति कृतिनः सुखकांक्षाः ॥९८
सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं सङ्क्लिश्यमानेषु कृपापरत्वम् ।
मध्यस्थभावो विपरीतवृत्तौ सदा विधेयो विदुषा शिवाय ॥९९
अनश्वरश्रीप्रतिबन्धकेषु प्रभूतदोषोपचितेषु नित्यम् ।
विरागभावः सुधिया विधेयो भवाङ्गभोगेषु विनश्वरेषु ॥१००
श्रावकधर्मं भजति विशिष्टं योऽनघचित्तोऽमितगतिदृष्टम् ।
गच्छति सौख्यं विगलितकष्टं स क्षपयित्वा सकलमनिष्टम् ॥१०१

इत्युपासकाचारे त्रयोदशः परिच्छेदः ॥

का वर्णन किया। उपर्युक्त वैयावृत्य, स्वाध्याय आदिके सिवाय अन्य भी जो तपोविशेष जिनेन्द्र-चन्द्रोपदिष्ट आगममे प्रतिपादन किये गये है, उन सबको भ अपनी शक्तिके अनुसार कर्मोके काटनेके लिए विधिपूर्वक करना चाहिए ॥९४॥ जिसके द्वारा आत्मीय नित्य सुख प्रदान किया जाता है, जिसके द्वारा रागका आवेश शीघ्र छेदा जाता है और जिसके द्वारा मनोवांछित आनन्द उत्पन्न होता है, उस सन्तोषको कौन भव्य पुरुष धारण नही करते है। अर्थात् ऐसे परम सुख और शान्तिके देनेवाले सन्तोषको धारण करना चाहिए ॥९५॥ मनुष्योको अभीष्ट सुख देनेके लिए सन्तोषके सिवाय अन्य कोई उपाय समर्थ नही है। कमलोको विकसित करनेके लिए सूर्यके सिवाय और कौन समर्थ देखा गया है ॥९६॥ जो नष्टबुद्धि पुरुष सुख पानेके लिए सन्तोषको छोडकर अन्य काम-भोगादिककी आकाक्षा करता है, वह दरिद्रताको दूर करनेके लिए कल्पवृक्षको छोडकर नियमसे विषवृक्षको ग्रहण करता है ॥९७॥ धर्मकी हानि करनेमे दक्ष ऐसे क्रोध लोभ मद मत्सर और शोकका परिहार करना चाहिए। क्योकि सुखके इच्छुक ज्ञानीजन सुखका घात करनेवाली व्याधियोको पोषण नही करते है ॥९८॥ विद्वानोको आत्मकल्याणके लिए सदा सर्व प्राणियोपर मैत्रीभाव, गुणी जनोपर प्रमोदभाव, दुखी जीवोपर करुणाभाव और विपरीत दृष्टि-वालोपर माध्यस्थभाव रखना चाहिए ॥९९॥ अविनाशी लक्ष्मीके प्रतिबन्धक, अनेक दोषोसे सयुक्त और विनश्वर ऐसे ससार, शरीर और इन्द्रिय-भोगोमे ज्ञानीको सदा विरागभाव रखना चाहिए ॥१००॥ इस प्रकार अमितज्ञानी जिनेन्द्रदेवसे उपदिष्ट तथा अमितगति आचार्यसे प्ररूपित ऐसे विशिष्ट श्रावक धर्मको जो निर्मलचित्त पुरुष धारण करता है, वह सकल अनिष्टोका क्षय करके सर्व कष्टोंसे रहित ऐसे अविनाशी सुखको प्राप्त होता है ॥१०१॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित श्रावकाचारमे तेरहवा परिच्छेद समाप्त हुआ।

चतुर्दशः परिच्छेदः

यौवनं नगनदीस्यदोपमं शारदाम्बुदविलासि जीवितम् ।
स्वप्नलब्धधनविभ्रमं धनं स्थावरं किमपि नास्ति तत्त्वत. ॥१
विग्रहा गदभुजङ्गमालया सङ्गमा विगमदोषदूषिता ।
सम्पदोऽपि विपदाकटाक्षिता नास्ति किञ्चिदनुपद्रवं स्फुटम् ॥२
प्रीतिकीर्तिमतिकान्तिभूतयः पाकशासनशरासनस्थिराः ।
अध्वनीनपथसङ्गसङ्गमाः सन्ति मित्रपितृपुत्रबान्धवाः । ३
मोक्षमेकमपहाय कृत्रिमं नास्ति वस्तु किमपीह शाश्वतम् ।
किञ्चनापि सहगापि नात्मनो ज्ञानदर्शनमपास्य पावनम् ॥४
सन्ति ते त्रिभुवने न देहिनो येन यान्ति समवर्तिमन्दिरम् ।
चक्रचापखचिता हि कुत्र ते ये व्र[1]जन्ति न विनाशमम्बुदाः ॥५
देहपंजरमपास्य जर्जरं यत्र तीर्थपतयोऽपि पूजिता ।
यान्ति पूर्णसमये शिवास्पदं तत्र के जगति नात्र गत्वरा ॥६
यं करोति पुरतो यमराजो भक्षणाय भुवने क्षुधितात्मा ।
कानने मृगमिव द्विपवैरी तस्य नास्ति शरणं भुवि कोऽपि । ७

अब आचार्य बारह अनुप्रेक्षाओंका वर्णन करते हुए पहली अनित्यानुप्रेक्षाका स्वरूप करते हैं—

मनुष्यका यौवन तो पर्वतकी नदीके वेगके समान हैं, जीवन शरद् ऋतुके मेघके विलास समान है अर्थात् क्षणमात्रमे विलयको प्राप्त हो जाता है । तथा यह धन स्वप्नमें पाये हुए धनके समान झूठा है । वास्तवमे यहाँ कोई भी वस्तु स्थिर नही है ॥१॥ ये शरीर रोगरूप सर्पोंके घर हैं, इष्ट वस्तुओके संयोगके दोपसे दूषित हैं, तथा सम्पदाएँ भी विपदाओके कटाक्षसे युक्त हैं । अत. यह स्पष्ट है कि इस संसारमें कोई भी वस्तु उपद्रव-रहित नही हैं ॥२॥ प्रीति, कीर्त्ति, बुद्धि, कान्ति और विभूति ये सब इन्द्र-धनुषके समान अस्थिर है, और ये मित्र पुत्र पिता बन्धुजन मार्गमे मिले हुए पथिकोंके संयोगके समान शीघ्र हो बिछुड जानेवाले हैं ॥३॥ एकमात्र मोक्षको छोडकर शेष सब कृत्रिम वस्तुओमें से कोई भी वस्तु इस लोकमे शाश्वत नही है । तथा पवित्र आत्मीय गुण ज्ञान दर्शनको छोडकर आत्माके साथ और कुछ भी जाने वाला नही है ॥४॥ तीन लोकमें ऐसे कोई भी प्राणी नही हैं जो कि यमराजके मन्दिरको न जाते हो? अर्थात् सभी प्राणी मरणको प्राप्त होते है । इन्द्र-धनुषसे संयुक्त ऐसे कौनसे मेघ है, जो कि विनाशको प्राप्त न होने हो ॥५॥ जब आयुके पूर्ण हो जानेपर जगत्पूज्य तीर्थंकर देव भी इस जर्जर देह-पंजरको छोडकर मोक्ष-धामको चले जाते है, तब फिर ऐसे वे कौन जन हैं जो कि यम-मन्दिरको जानेवाले न हों? अर्थात् सभी प्राणी जाने वाले हैं ॥६॥ इस प्रकार अनित्य भावना कही ।

अब अशरणानुप्रेक्षाको कहते हैं—भूखी है आत्मा जिसकी ऐसा यमराज संसारमें जिस जीवको खानेके लिए आगे करता है, उस जीवकी रक्षा करनेके लिए लोकमें कोई भी शरण नहीं

---

1. मु. भजन्ति ।

अन्तकेन यदि विग्रहभाज' स्वीकृतस्य समपत्स्यत पाता ।
रक्षित सुरवरैरमरिष्यन्नो तदा सुर-वधूनिकुरम्ब ॥८
यं निहन्तुममरा न समर्था हन्यते न स परै समवर्ती ।
यो द्विपैर्न समदैरपि भग्नो भज्यते हि शशकैर्न स वृक्ष ॥९
स्यन्दनद्विपपदातितुरङ्गैर्मन्त्रतन्त्रजपपूजनहोमैः ।
शक्यते न स खलु रक्षितुमङ्गी जीवितव्यपगमे म्रियमाण ॥१०
ये धरन्ति धरणीं सह शैलैर्ये क्षिपन्ति सकल ग्रहचक्रम् ।
ते भवन्ति भुवने न स कश्चिद्यो निहन्ति तरसा यमराजम् ॥११
यो हिनस्ति रभसेन बलिष्ठानिन्द्रचन्द्ररविकेशवरामान् ।
रक्षको भवति कश्चन मृत्योर्निघ्नतो भवभृतो न ततोऽत्र ॥१२
चित्रजीवाकुलायां तनूभागिना कुर्वता चेष्टित सर्वदा मोहिना ।
गृण्हता मुञ्चता विग्रह ससृतौ नर्तकेनेव रङ्गक्षितौ भ्रम्यते ॥१३
श्वसिति रोदिति सीदति खिद्यते स्वपिति रुष्यति तुष्यति ताम्यति ।
लिखति दीव्यति सीव्यति नृत्यति भ्रमति जन्मवने कलिलाकुल ॥१४
जनकस्तनयस्तनयो जनको जननी गृहिणी गृहिणी जननी ।
भगिनी दुहिता दुहिता भगिनी भवतीति बताङ्गिगणो बहुश' ॥१५

है। जैसे कि वनमे सिंह जब हरिणको भक्षण करनेको उद्यत हो, तब उसे बचानेके लिए कोई भी ससारमें शरण नही है ॥७॥ यदि यमराजसे ग्रसित प्राणीको बचाने वाला कोई होता, तो उत्तम देवो और इन्द्रोसे सुरक्षित देवाङ्गनाओका समुदाय कभी नही मरता ॥८॥ जिस यमराजको मारनेके लिए देवगण भी समर्थ नही है, वह यमराज दूसरे प्राणियोके द्वारा नही मारा जा सकता है। जो वृक्ष मदोन्मत हाथियोके द्वारा भी भग्न नही किया जा सकता, वह शशको (खरगोशो) के द्वारा कैसे भग्न किया जा सकता है ॥९॥ जीवनके समाप्त होनेपर मरते हुए प्राणीकी रक्षा करने लिए रथ हाथी प्यादे घोडे, तथा मत्र तत्र जप पूजन और हवन भी निश्चयसे समर्थ नही है ॥१०॥ ससारमे ऐसे पुरुष है जो पर्वतोके साथ पृथिवीका धारण कर सकते है और ऐसे भी पुरुषोका होना सभव ह जोकि समस्त ग्रहचक्रको उठाकर फेक सकते है। किंतु जो यमराजको शीघ्र मार सके, ऐसा कोई पुरुष इस भुवनमे नही है ॥११॥ जो मृत्यु रूप यमराज बडे बलशाली इन्द्र चन्द्र सूर्य नारायण और बलभद्रको अतिशीघ्र मार देता है,उस मृत्युसे ससारके प्राणियोको मारनेसे बचाने वाला इस ससारमे कोई भी रक्षक नही है ॥१२॥ इस प्रकार अशरण भावना कही।

अब संसारानुप्रेक्षाको कहते है–नाना प्रकारके जीवोसे भरी हुई इस ससाररूपी रगभूमि पर नाना प्रकारकी चेष्टाए करते हुए यह मोही शरीरधारी शरीरको ग्रहण करते और छोडते हुए सर्वदा परिभ्रमण करता रहता है ॥१३॥ पाप कर्मसे व्याकुल हुआ यह जीव सर्वदा ससाररूप वनमें कभी श्वास लेता है, कभी रोता है, कभी पीडित होता है,कभी खेद खिन्न होता है, कभी सोता है, कभी रुष्ट होता है कभी सन्तुष्ट होता है, कभी तमतमाता है, कभी लिखता है, कभी खेलता है, कभी कपडे सीता है और कभी नाचता है। इस प्रकार नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करता हुआ घूमता रहता है ॥१४॥ इस ससारमे आज जो पिता है, मरकर कल वह पुत्र बन जाता है आज जो पुत्र है

कलिलजालवशः स्वयमात्मनो भवति यत्र सुतो निजमातरि ।
किमपरं बत तत्र निगद्यते विविधदुःखखनौ जननार्णवे ॥१६
किमपि वेत्ति शिशुर्न हिताहित विविध'दु.खमुपैति युवा परम् ।
विकलतां भजते स्थविरस्तरां भवति शर्म कदा बत संसृतौ ॥१७
न सोऽस्ति सम्बन्धविधिर्जगत्त्रये समं समस्तैरपि देहधारिभिः ।
अवापि यो न भ्रमता भवार्णवे शरीरिणा कर्मनियन्त्रितात्मना ॥१८
यत्र चित्रैर्विवर्तैः परावर्त्यते कर्मणाऽनारतं भ्रम्यमाणो जन. ।
दु सहं दुर्वचं मानस कायिक तत्र दु ख न किं संसृतावश्नुते ॥१९
देहबान्धवनिमित्तमङ्गिना पापकर्म विविध विधीयते ।
एककेन बृहती विषह्यते नारकीं गतिमुपेयुषा व्यथा ॥२०
पद्मपत्रनयना मनोरमा. कारयन्ति दुरितं दुरुत्तरम् ।
दुर्गति विकटदु खसङ्कटामेककस्य शरणं न गच्छत । २१
मातृतातसुतदारबान्धवाः शर्मदा मम मुधेति तप्यते ।
कर्म पूर्वमपहाय विद्यते नात्र कोऽपि सुखदु खकारक ॥२२

वह पिता वन जाता है। माता गृहिणी वन जाती है, गृहिणी माता वन जाती है, वहिन पुत्री वन जाती है और पुत्री वहिन वन जाती है। यह वहुत दु खकी वात है कि प्राणिगण इस प्रकार परस्परमे नाना प्रकारके सम्बन्धोको प्राप्त होते हुए ससारमे परिभ्रमण करते है ॥१५॥ विविध दुःखोंकी खानिरूप इस ससार-समुद्रमे इससे अधिक और आश्चर्य और दु.खको क्या वात हो सकती है कि जहाँ पर पाप-जालके वश होकर स्वय यह जीव अपनी माताके गर्भमे अपना पुत्र हो सकता है ॥१६॥ बाल्यावस्थामे वालक अपने हित और अहितको कुछ भी नही जानता है, युवा पुरुष वियोगके परम दु खको प्राप्त होता है और वृद्ध पुरुष अत्यन्त विकलताको प्राप्त होता है। फिर बताओ संसारमे जीवके सुख कब होता है ॥१७॥ कर्मरूप यत्रसे प्रेरित इस देहधारी आत्माने ससार-समुद्रके परिभ्रमण करते हुए तीन लोकमें ऐसा कोई भी नाते रिश्तेदारीका सम्वन्ध नही है, जो कि समस्त देहधारियोके साथ अनन्तवार नही पाया हो ॥१८॥ जिस ससारमे कर्मके वशसे निरन्तर परिभ्रमण करता हुआ यह जीव नाना प्रकारकी पर्यायोसे परिवर्त्तित होता रहता है, उस संसारमे बताओ ऐसा कौन-सा दु सह वाचनिक मानसिक और कायिक दु ख है, जो न इसने भोगा हो? अर्थात् सभी प्रकारके दु ख इस जीवने अनन्तवार भोगे है ॥१९॥ यह संसार भावना कही।

अव एकत्वानुप्रेक्षा कहते है—यह जीव शरीर और वन्धु जनोके निमित्त नाना प्रकारके पापकर्म करता है, किन्तु उसके फलसे नारकगतिको प्राप्त होकर अकेला ही वहाँकी भारी व्यथाको सहता हैं ॥२०॥ कमलपत्रके समान नेत्रवाली ये मनोहर स्त्रियाँ दुस्तर पापको कराती है। किन्तु उस पापके फलसे विकट दु.खोसे व्याप्त दुर्गतिको अकेले जाते हुए इस जीवका कोई शरण नही है ॥२१॥ ये माता पिता पुत्र स्त्री और बन्धुजन मेरे है, ऐसा मान कर यह जीव सदा निरर्थक सतप्त होता रहता है। किन्तु पूर्व कर्मको छोड करके इस ससारमें जीवको कोई सुख या दु खका देने वाला नही है ॥२२॥ इस लोकमें अपने कर्मसे उत्पन्न हुई वेदनाको प्राप्त हुए जीवका यत्नसे

१. मु विरह ।

वेदनां गतवत स्वकर्मजामत्र यो न विदधाति किञ्चन।
किं करिष्यति परत्र यत्नतो देहजादिनिवह स पालित ॥२३
एकको भ्रमति दु खकानने याति निर्वृतिनिवासमेकक ।
एकक: श्रयति दु खमेकक शर्म याति न परोऽस्य विद्यते ॥२४
जन्ममृत्युरतिकीर्तिसम्पदामेकको भवति भाजन सदा।
नास्ति कोऽपि सचिव शरीरिणो द्रव्यमुक्तिमपहाय तत्त्वत. ॥२५
अनादिरात्माऽनिधन सचेतनो विधाय य: कर्म फलस्य भोजक ।
हिताहितादानविमोक्षकोविदस्तत शरीर विपरीतमात्मन ॥२६
सदाऽपि या यत्नशतै प्रपाल्यते न यत्र कायोऽपि निज. स देहिन:।
पर स्वकीय किमु तत्र विद्यते प्रवर्तते यत्र ममेति मोहित ॥२७
विमुच्य जन्तोरुपयोगमञ्जसा न दर्शनज्ञानमय पर निजम्।
परत्र सर्वत्र ममेति शेमुषी प्रवर्तते मोहपिशाचनिर्मिता॥ २८
भवन्ति ये कार्मणयोगसम्भवा परेऽत्र भावा वपुरात्मजादय ।
विहाय ते दु खपरम्परां परां पर न किञ्चिद्धितरीतुमीशते ॥२९
अनात्मनीना भवदु खहेतवो विनश्वरा कर्मभवा यतोऽखिला ।
ततो न बाह्येषु विशुद्धबुद्धयो ममेति बुद्धि मनसाऽपि कुर्वते ॥३०

पालन किया हुआ यह पुत्र आदिका समूह जब कुछ उपकार नही कर सकता है, तब वह परलोकमें क्या उपकार करेगा? अर्थात् कुछ भी नही करेगा ॥२३॥ यह जीव इस भववनमे अकेला ही भ्रमण करता है और अकेला ही मुक्तिधामको जाता है। अकेला ही यह दु ख भोगता है और अकेला ही सुख भोगता है। इसका दूसरा कोई सगा-साथी नही है ॥२४॥ यह जीव सदा अकेला ही जन्म मरण, प्रीति, कीर्त्ति और सम्पदाओंका भाजन होता हैं। इस देहधारीका कोई भी सचिव या साथी एक मुक्तिदशाको छोडकर वास्तवमे और कोई नही है ॥२५॥ यह एकत्वभावना कही।

अव अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते है–यह आत्मा अनादि हैं, अनन्त है, सचेतन है, कर्मोका कर्त्ता है और कर्मोके फलका भोक्ता है, तथा हितके ग्रहण और अहितके छोडनेमे कुशल है। किन्तु शरीर आत्माके उक्त स्वभावसे विपरीत है, अर्थात् आदि और अन्तवाला है, जड है, न वह कर्मका कर्त्ता-भोक्ता है और न हित-अहितका जानने वाला है। अतएव यह सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर ये दो भिन्न पदार्थ है ॥२६॥ जो शरीर इस ससारमे सदा ही सैकडो प्रयत्नोसे पालन किया जाता है, वह शरीर भी जब जीवका निजी नही है, तव अन्य वस्तु अपनी कैसे हो सकती है, जिसमे कि 'यह मेरी वस्तु है' ऐसा कहकर मोहित हुआ यह जीव प्रवृत्ति करता है ॥२७॥ जीवके दर्शन-ज्ञानमयी उपयोगको छोडकर निश्चयसे कोई पर वस्तु अपनी नही है। फिर भी आश्चर्य है कि मोह पिशाचसे निर्मित 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि सर्वत्र पर पदार्थोमे सदा लगी रहती है ॥२८॥ कर्मोके सयोगसे उत्पन्न हुए जितने भी शरीर, पुत्र आदिक पर पदार्थ ससारमे हैं, दु खकी उत्कट परम्पराके सिवाय और कुछ भी देनेके लिए समर्थ नही है। अर्थात् उनसे सुख पानेकी कल्पना करना व्यर्थ है ॥२९॥ कर्मोके संयोगसे उत्पन्न हुए जितने भी पदार्थ है, वे सब आत्माके हितकारी नही है, ससारके दु खोके कारण है

न विद्यते यत्र कलेवरं निजं स्वकीयबुद्धया मनसि व्यवस्थितम् ।
तदीयसम्बन्धभवाः सुतादयः परे कथं तत्र निजा निगद्यताम् ॥३१
करोति बाह्येषु ममेति शेमुषीं परेष्वयं यावदनर्थकारिणीम् ।
न निर्ममस्तावदमुष्य संसृतेरिति त्रिधा सा विदुषा विमुच्यताम् ॥३२
क्षणादमेध्याः शुचयोऽपि भावाः ससर्गमात्रेण भवन्ति यस्य ।
शरीरतः सन्ततपूतगन्धेस्ततः पर किञ्चन नास्त्यशौचम् ॥३३
बहुप्रकाराशुचिराशिपूर्णे शुक्रास्रजाते शुचिता क्व काये ।
अमेध्यपूर्णः किममेध्यकुम्भो दृष्टो हि मेध्य वमुपाददानः ॥३४
मज्जास्थिमेदोमलमांसखानि विगर्हणीयं कृमिजालगेहम् ।
देह दधानः शुचिताभिमान मूर्खो विधत्ते न विशुद्धबुद्धिः ॥३५
स्रवन्नवस्रोतविचित्रगूथं यो वारिणा शोधयते शरीरम् ।
अन्हाय दुग्धेन निघृष्य मन्ये विशुद्धमङ्गारमसौ विधत्ते ॥३६
न हन्यते तेन जलेन पापं विवर्ध्यते येन विविर्ध्य रागम् ।
यद्यस्य जन्म[1]प्रभवे समर्थं तत्तस्य दृष्टं न विनाशकारि ।३७
विनाश्यते चेत्सलिलेन पापं धर्मस्तदानीं क्रियते किमर्थम् ।
आरोहणं कोऽपि करोति वृक्षे फले हि हस्तेन न लभ्यमाने ॥३८

और विनाशीक है। इस लिए निर्मल बुद्धिवाले ज्ञानी जन बाह्य पदार्थोंमे 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धिको मनसे भी नही करते है ॥३०॥ जहां 'यह मेरा है' इस प्रकारकी आत्मबुद्धिसे मनमे अवस्थित यह शरीर भी अपना नही है, वहां उस शरीरके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए ये पर पुत्रादिक निजी कैसे हो सकते है, यह कहो? अर्थात् जब यह शरीर ही अपना नही, तो पुत्रादिक अपने कैसे हो सकते है ॥३१॥ जब तक यह अज्ञानी जीव बाहिरी पर पदार्थोंमे 'यह मेरा है' ऐसी अनर्थकारिणी बुद्धिको करता है, तब तक इसका ससारसे निकलना संभव नही है,अतः ज्ञानी जनोको पर पदार्थोंमें ममत्वबुद्धि मन वचन कायसे छोड देना चाहिए ॥३२॥ यह अन्यत्व भावना कही।

अब अशुचिभावना कहते है—जिस शरीरके संसर्गमात्रसे पवित्र भी पदार्थ क्षण भरमें अपवित्र हो जाते हैं, ऐसे निरन्तर दुर्गन्धमय शरीरसे अन्य और कोई भी वस्तु अपवित्र नही है ॥३३॥ अनेक प्रकारकी अशुचि वस्तुओंसे भरे हुए और रज-वीर्यसे उत्पन्न हुए इस शरीरमे पवित्रता कहाँ सम्भव हैं? विष्ठासे भरा हुआ अपवित्र घडा क्या पवित्रताको प्राप्त होता हुआ कहीं देखा गया है ॥३४॥ मज्जा, हड्डी, मेदा, मल-मूत्र और मांसकी खानिवाला, तथा कृमिजालका घर एसे निन्दनीय शरीरको धारण करते हुए मूर्ख मनुष्य ही पवित्रताका अभिमान करता है, किन्तु विशुद्ध बुद्धिवाला पुरुष ऐसे निन्द्य शरीरमें पवित्रताका भाव नही करता है ॥३५॥ जिसके नौ द्वारोंसे निरन्तर मल-मूत्रादिक बहते रहते है, ऐसे शरीरको जो जलसे शुद्ध करना चाहता है, वह काले कोयलेको दूधसे घर्षण करके निर्मल बनाना चाहता हैं, ऐसा मै मानता हूँ ॥३६॥ जिस जलके द्वारा धोनेसे शरीरका राग बढकर पाप बढता है, उस जलसे वह पाप कैसे विनष्ट किया जा सकता है? जो वस्तु जिसके उत्पन्न करनेमें समर्थ है, वह उसका विनाश करनेवाली नहीं देखी गई है ॥३७॥ यदि जलसे पाप विनष्ट किया जाता है, तो बताओ—धर्म किसलिए

---

[1] स विर्ध-।

माघेन तीव्र क्रियते शशाङ्को ग्रीष्मेण भानुर्यदि नाम शीत ।
देहस्तदानीं पयसा विशुद्धो विधीयते दुर्वचगूथयूथ ॥३९
सज्ज्ञानसम्यक्त्वचरित्रतोयैर्विगाह्यमानैर्मनसाऽपि जीव ।
विशोध्यमानस्तरसा पवित्रैर्नाशुद्धिमभ्येति भवान्तरेऽपि ॥४०
रन्ध्रैरिवाम्बु विततैरुदधौ तरण्डे जीवे मनोवचनकायविकल्पजाले ।
जन्मार्णवे विशति कर्म विचित्ररूप सद्यो निमज्जनविधायि सुदुर्निवारम् ॥४१
चित्रेण कर्मपवनेन नियुज्यमान प्राणिप्लवो बहुविधासुखभाण्डपूर्णः ।
ससारसागरमसारमलभ्यपार भूरिभ्रम भ्रमति कालमनन्तमानम् ॥४२
कर्मादिदाति यदय भविन कषाय ससारदु खमविधाय न तद् व्यपैति ।
यद्बन्धनं हि विदधाति विपक्षवर्गस्तन्नाम कस्य विरचय्य सुख प्रयाति ॥४३
भेदा सुखासुखविधानविधौ समर्था ये कर्मणो विविधबन्धरसा भवन्ति ।
जन्तो शुभाशुभमन परिणामजन्यास्तैर्भ्रम्यते भववने चिरमेष जीव[1] ॥४४
गृण्हाति कर्म सुखद शुभयोगवृत्त्या दु खप्रदायि तु यतोऽशुभयोगवृत्त्या ।
आद्या सुखार्थिभिरत सतत विधेया हेया परा प्रचुरकष्टनिदानभूता ॥४५

किया जाता है? हाथसे फल के प्राप्त किये जानेपर कोई भी पुरुष वृक्षपर आरोहण नही करता है।।३८।। यदि माघ मासके द्वारा चन्द्रमा तीव्र सन्तप्त किया जाय और ग्रीष्मऋतुके द्वारा सूर्य शीतल किया जाय, ये दोनो असम्भव कार्य सम्भव हो, तो निन्दनीय मल-मूत्रका पुज यह देह भी जलसे शुद्ध होता है ऐसा माना जा सकता है ।।३९।। इस लिए मनके द्वारा अवगाहन किये गये पवित्र सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्ररूप जलसे शीघ्र शुद्ध किया गया यह जीव अन्य भवमे भी अशुद्धिको प्राप्त नही होता है ।।४०।। भावार्थ-जलादिसे पवित्रता मानना मिथ्या है। जीवकी शुद्धि रत्नत्रय रूप धर्मके परिपालनसे ही होती है। यह अशुचि भावना कही।

अब आस्रवानुप्रेक्षा कहते है—जिस प्रकार समुद्रके विस्तत छिद्रोके द्वारा नावके भीतर जल प्रवेश करता है, उसी प्रकार ससाररूप समुद्रमे पडे हुए जीवके भीतर मन वचन कायके विकल्पजालोसे अति दुर्निवार और शीघ्र डुबानेवाला नाना प्रकारका कर्म प्रवेश करता है।।४१।। तीव्र-मन्द आदि अनेक प्रकारके पवनके द्वारा प्रेरित और नाना प्रकारके दु खरूप भाडो (बर्तनो) से परिपूर्ण यह प्राणीरूपी नौका इस असार अगम अपार और भारी भवरवाले संसार-सागरमे अनन्तकाल तक परिभ्रमण करती रहती है ।।४२।। जीवका जो यह कषायभाव कर्मको ग्रहण करता है, वह जीवको सासारिक दु ख दिये विना दूर नही होता है। जैसे शत्रुवर्ग जो बन्धन बाँधता है, वह किसे सुख दे करके जाता है? अर्थात् वह तो दु ख दे करके ही छूटता है ।।४३।। जीवके नाना प्रकारके शुभ-अशुभ मनके परिणामोसे उत्पन्न हुए, सुख और दु ख देनेकी विधिमे समर्थ जो अनेक प्रकारके अनुभागबन्धके रस-भेदवाले कर्म बँधते है, उनके द्वारा यह जीव इस भयकर भव-वनमे चिरकालतक परिभ्रमण कराया जाता है ।।४४।। यत शुभयोगकी परिणतिसे यह जीव सुखदायी पुण्यकर्मको ग्रहण करता है और अशुभ योगकी परिणतिसे दु खदायक पापकर्म को ग्रहण करता है, अत सुखार्थीजनोको आद्य जो शुभयोग परिणति है, यह नित्य करना चाहिए

---

1 मु भोमे।

एकप्रकारमपि योगवशादुपेतं कुर्वन्ति कर्म विविध विविधा. कषायाः।
एकस्वभावमुपगम्य जलं धनेभ्य· प्राप्य प्रदेशमुपयाति न किं विभेदम् ॥४६
मिथ्यात्वदौर्वृत्यकषाययोगप्रमाददोषा विविधप्रकारा· ।
कर्मास्रवा. सन्ति शरीरभाजां जलास्रवा वा सरसां प्रवाहा· ॥४७
संवरणं तरसा दुरितानामास्रवरोधकरेषु नरेषु ।
आगमनस्य कृते हि निरोधे कुत्र विशन्ति जलानि सरस्सु ॥४८
नश्यति कर्म कदाचन जन्तो. सवरेण विना न गृहीतम् ।
शुष्यति कुत्र जलं हि तडागे सङ्गमने बहुधाऽभिनवस्य ॥४९
योगनिरोधकरस्य सुदृष्टेरस्तकषायरिपोर्विरतस्य ।
यत्नपरस्य नरस्य समस्तं संवृतिमृच्छति नूतनमेन ॥५०
धर्मधरस्य परीषहजेतुर्वृत्तवतः समितस्य सुगुप्ते. ।
आगमवासितमानसवृत्ते· सङ्गतिरस्ति न कर्मरजोभि. ॥५१
दर्शनबोधचरित्रतपोभिश्चेतसि कल्मषमेति न तुष्टे[1] ।
शूरतरैः पुरुषैः कृतरक्षे शत्रुबलं विशति क्व पुरे हि ॥५२
पातकमास्रवति स्थिररूप सम्मृतिमाप्तवतां न यतीनाम् ।
वर्मधरान्न नरान् रणरङ्गे क्वापि भिनत्ति शिलीमुखजालम् । ५३

और प्रचुर कष्ट देनेकी करणभूत दूसरी अशुभयोग प्रवृत्ति छोडना चाहिए ॥४५॥ योगके वशके ग्रहण किये गये एक प्रकारके भी कर्मको नाना प्रकारकी कषाय नाना प्रकारका फल देनेवाला कर देती है। जैसे मेघोसे एक स्वभाववाला जल नीम ईख आदि विभिन्न जातिके वृक्षोके प्रदेशको प्राप्त होकर क्या कटुक मिष्ट आदि अनेक भेदको नही प्राप्त हो जाता है? अर्थात् हो ही जाता है ॥४६॥ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और प्रमादरूप दोष शरीरधारियोके नाना प्रकारके कर्मास्रवके कारण है। जैसे कि सरोवरके प्रवाह उसमे जलके आनेके कारण है ॥४७॥ यह आस्रव भावना कही।

अव सवरानुप्रेक्षा कहते है—सम्यक्त्वादि भावोके द्वारा आस्रवका निरोध करनेवाले मनुष्योमे कर्मोके आनेका शीघ्र संवर होता है क्योकि जलआगमनके द्वारोंका निरोध कर दिये जानेपर सरोवरोमे जल कहाँ प्रवेश कर सकते है ॥४८॥ सवरके विना ग्रहण किया हुआ जीवका कर्म कदाचित् भी नष्ट नही होता हैं। जैसे कि अनेक द्वारोसे नवीन जलका संगम होते रहने पर सरोवरमे जल कहाँ सूख सकता है ॥४९॥ योगोका निरोध करनेवाले, सम्यग्दृष्टि, कषायरूप शत्रुके विनाशक, सयमी और सावधान पुरुषके समस्त नवीन कर्म सवरको प्राप्त होता हैं ॥५०॥ भावार्थ—कर्मास्रवके कारणभूत मिथ्यात्वादिक भावोके दूर होनेपर कर्मका आना रुकता ही है। जो मनुष्य उत्तम क्षमादि दशधर्मोका धारण करनेवाला हैं, परीषहोका विजेता हैं, सामानिकादि चारित्रका धारक है, ईर्यादि समितियोसे संयुक्त है, गुप्तियोसे सुरक्षित है और जैनागमसे जिसकी चित्तवृत्ति सुवासित है, उस पुरुषके कर्मरूप रजसे सगति नही हो सकती है ॥५१॥ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तपसे युक्त चित्तमे पापकर्म प्रवेश नही कर पाता है, जैसे कि अत्यन्तशूरवीर पुरुषोसे जिसकी रक्षा की जा रही है, ऐसे नगरमे शत्रुओको सेना कहाँ प्रवेश कर सकती है ॥५२॥ स्थिररूप आत्माका अनुभव करनेवाले आत्मज्ञानी साधुओके

---

१. मु. जुष्टे।

कामकषायहृषीकनिरोधं यो विदधाति परैरसुसाध्यम् ।
केवललोकविलोकितलोको याति स मुक्तिपुरीमनपायाम्[१] ॥ ५४
दृढीकृतो याति न कर्मपर्वतः शरीरिणां निर्जरया विना क्षयम् ।
न धान्यपुञ्ज प्रलयं प्रपद्यते व्ययं विना क्वापि विवर्धितश्चिरम ॥ ५५
निरन्तरानेकभवार्जितस्य या पुरातनस्य क्षतिरेकदेशत. ।
विपाकजापाकजभेदतो द्विधा यतीश्वरास्तां निगदन्ति निर्जराम् ॥ ५६
अनेहसा या कलिलस्य निर्जरा विपाकजां तां कथयन्ति सूरयः ।
अपाकजाता भवदु खखर्विणी विधीयते या तपसा गरीयसा ॥ ५७
विपाकजायामुदितस्य कर्मणो मता परस्यामखिलस्य विच्युतिः ।
यतो द्वितीयाऽत्र ततो विधानतः सदा विधेया कुशलेन निर्जरा ॥ ५८
तपोभिरुग्रै. सति संवरे रजो निषूद्यमानं सकलं पलायते ।
निरास्रवं वारि विवस्वदंशुभिर्न शोष्यमाणं सरसोऽवतिष्ठते ॥ ५९
परेण जीवस्तपसा प्रतापितो विनिर्मलत्वं रभसा प्रपद्यते ।
सुवर्णशैलस्य मलोऽवतिष्ठते प्रताप्यमानस्य कृशानुना कथम् ॥ ६०

कर्मका आस्रव नही होता है । जैसे कि रणभूमिमे कवचधारी मनुष्योको बाणोका समूह कही भी नही भेद सकता है ॥ ५३ ॥ जो मनुष्य साधारण जनोके द्वारा असाध्य ऐसे काम-विकार, कषाय और इन्द्रिय-विषयोंका निरोध करता है, वह केवलज्ञानको प्राप्तकर उसके द्वारा समस्त लोकको देखता हुआ अपाय-रहित एव अति कठिनतासे पाने योग्य एसी मुक्तिपुरीको जाता है ॥ ५४ ॥ इस प्रकार सवर भावना कही ।

अब निर्जरानुप्रेक्षा कहते है–जीवोंके साथ दृढरूपसे बँधा हुआ कर्मरूपी पर्वत निर्जराके विना क्षयको प्राप्त नही होता है । जैसेकि चिरकालतक वृद्धिको प्राप्त हुआ धान्यका पुज व्ययके विना कभी भी विनाशको नही प्राप्त हो सकता है ॥ ५५ ॥ निरन्तर अनेक भवोमे उपार्जित पुरातन कर्मके एकदेश विनाशका निर्जरा कहते है । यतीश्वरोंने विपाकजा और अविपाकजाके भेदसे निर्जराको दो प्रकारका कहा है ॥ ५६ ॥ अपनी स्थितिके पूर्ण होनेपर यथाकाल होनेवाली कर्मकी निर्जराको आचार्य विपाकजा निर्जरा कहते है । जो उग्र तपके द्वारा ससारके दु खोका विनाश करनेवाली निर्जरा की जाती है, वह अविपाकजा निर्जरा कहलाती है ॥ ५७ ॥ विपाकजा निर्जरामे तो उदयको प्राप्त हुए कर्मकी ही हानि होती है, किन्तु दूसरी अविपाकजा निर्जरामें उदय और अनुदय प्राप्त सभी कर्मका विनाश होता है । इसलिए कुशल पुरुषको सदा विधिपूर्वक दूसरी अविपाकजा निर्जरा करनी चाहिए ॥ ५८ ॥ नवीन कर्मोका सवर होनेपर उग्रतपोंके द्वारा निर्जरा किया जानेवाला कर्मरूप समस्त रज पलायमान हो जाता है क्योकि नवीन जलके आगमनसे रहित सरोवरका पुरातन जल सूर्यकी किरणोके द्वारा सुखाये जानेपर ठहरता नहीं है ॥ ५९ ॥ उत्कृष्ट तपके द्वारा तपाया गया जीव शीघ्र निर्मलताको प्राप्त होता है । अग्निके द्वारा भली भांतिसे तपाये गये सुवर्ण पाषाणका मल कैसे ठहर सकता है ? अर्थात् नही ठहर सकता ॥ ६० ॥ यह निर्जरा भावना कही ।

---

१. मु० दुरवापाम् ।

व्योममध्यगमकृत्रिमं स्थिरं लोकमङ्गिनिवहेन सलङ्कुलम् ।
सप्तरज्जुघन सम्मितं जिना वर्णयन्ति पवमानवेष्टितम् ।। ६१
जन्ममृत्युकलितेन जन्तुना कर्मवैरिवशवर्तिना सता ।
यो न तत्र बहुशो विगाहितो विद्यते न विषयः स कश्चन ।। ६२
भूरिशोऽत्र सुखदुःखदायिनीर्मू[1]र्तिजातिगतियोनिसम्पदः ।
यन्त्रितो विविधकर्मशृङ्खलैः का न निर्विशति चेतनश्चिरम् ।। ६३
बान्धवो भवति शात्रवोऽपि वा कोऽत्र कस्य निजकार्यवर्जित. ।
बन्धुरेष मम शत्रुरेष वा शेमुषीमिति करोति मोहितः ।। ६४
देवमर्त्यपशुनारकेष्वयं दु खजालकलितेष्वनारतम् ।
कामकोपमदलोभवासितो वर्तते भवविपर्ययाकुल. ।। ६५
जन्मवर्तिनिवहो वियुज्यते युज्यते स्वकृतकर्मभि पुनः
शुष्कपत्रनिवह.[2] परस्परं मारुतैरिव विभीमवृत्तिभि. ।। ६६
एष वेष्टयति भोगकांक्षया कोशकार इव लालया स्वयम् ।
कर्मबीजभवया विनिन्द्यया घोरमृत्युभयदानदक्षया ।। ६७
चेतसीति सततं वितन्वतो लोकरूपमुपजायते परा ।
राक्षसी त इव संसृते. स्फुटं धर्मकर्मजननी विरक्तता ।। ६८

अब लोकभावना कहते हैं–यह लोक अनन्त आकाशके मध्यमे अवस्थित है. अकृत्रिम है, स्थिर है, प्राणियोके समूहसे भरा हुआ है, सातराजुके घन प्रमाण (७ X ७ X ७ = ३४३) तीन सौ तैंतालीस राजु है और तीन वातवलयोसे वेष्टित है, ऐसा लोकका स्वरूप जिन देव वर्णन करते हैं ।। ६१ ।। कर्मरुप वैरीके वशवर्ती होकर जन्म मरणको करते हुए इस जीवने इस लोकमे ऐसा कोई भी स्थान नही है. जिसे कि अनेकवार अवगाहन न किया हो ।। ६२ ।। इस लोकमें विविध कर्म-शृंखलासे वँधे हुए इस चेतन प्राणीने भारी सुख-दु.ख देनवाली ऐसी कौनसी मूर्ति, जाति, गति, योनि और सम्पदा है जिसे अनन्तबार न प्राप्त किया हो ? अर्थात् सभीको पाया है ।। ६३ ।। इस लोकमे अपने कार्यसे रहित होकर अर्थात् विना स्वार्थके कौन किसका बान्धव या वेरी होता है ? किन्तु मोहसे मोहित हुआ यह जीव ऐसी बुद्धि करता है कि यह मेरा बन्धु है और यह मेरा शत्रु है ।। ६४ ।। दु.खोंके समूहसे भरे हुए देव मनुष्य पशु और नारक पर्यायमे निरन्तर काम क्रोध मद और लोभसे वासित हुआ यह जीव सांसारिक विपरीत बुद्धिसे आकुल-व्याकुल होता रहता है ।। ६५ ।। अपने द्वारा किये गये पूर्व कर्मोसे संसारी जीवोका समूह सदा सयुक्त और वियुक्त होता रहता है जैसे कि प्रचण्ड वेग वाले पवनोसे उडाया गया सूखे पत्रोंका समूह परस्पर संयुक्त और वियुक्त होता रहता है ।। ६६ ।। यह जीव कर्मरूप बीजसे उत्पन्न होनवाली, घोर मृत्युके भयको देनेमें दक्ष और अति निन्द्य ऐसी भोगोकी आकांक्षासे स्वयंको कर्मोसे वेष्टित करता रहता है, जेसे कि कोशाका कीडा अपनी लारसे स्वयंको वेष्टित करता रहता है ।। ६७ ।। इस प्रकारसे चित्तमें निरन्तर लोकका स्वरूप विचारते हुए राक्षसीके समान इस ससारसे धर्म-कार्यकी जननी, परम उदासीनतारूप विरक्ति उत्पन्न होती है ।। ६८ ।। यह लोक भावना कही ।

---

१. मु० 'भूति' पाठ । २. मु० निकर· ।

देशजातिकुलरूपकल्पताजीवितव्यबलवीर्यसम्पद ।
देशनाग्रहणबुद्धिधारणा सन्ति देहिनिवहस्य दुर्लभा ।६९
हन्त तासु सुखदानकोविदा ज्ञानदर्शनचरित्रसङ्गति. ।
लभ्यते तनुभृताऽतिकृच्छ्रत. कामिनीष्विव कृतज्ञता सती ।। ७०-
साधुलोकमहिता प्रमादतो बोधिरत्र यदि जातु नश्यति ।
प्राप्यते न भविना तदा पुनर्नीरधाविव मनोरमो मणि ।। ७१
हन्त बोधिमपहाय शर्मणे योऽधमो वितनुते धनार्जनम् ।
जीविताय विषवल्लरीं स्फुटं सेवतेऽमृतलतामपास्य स ।। ७२
योऽत्र धर्ममुपलभ्य मुञ्चते क्लेशमेष लभतेऽतिदारुणम् ।
यो निधानमनघं व्यपोहते खिद्यते स नितरां किमद्भुतम् ।। ७३
मुञ्चता जननमृत्युयातनां गृह्णता च शिवतातिमुत्तमाम् ।
शाश्वतीं मतिमता विधीयते बोधिरद्रिपतिचूलिका स्थिरा ।। ७४
निरुपमनिरवद्यशर्ममूलं हितमभिपूजितमस्तसर्वदोषम् ।
भजति जिननिवेदितं स धर्मं भजति जन सुखभाजनं सदा य ।। ७५
व्यपनयति भवं दुरन्तदु खं वितरति मुक्तिपदं निरामयं य ।
भवति कृतधिया त्रिधा विधेय सकलसमीहितसाधन स धर्म ।। ७६

अब बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कहते हैं–धर्म-धारण करनके योग्य देश जाति कुल रूप सौन्दर्य दीर्घायु बल वीर्य सम्पदा, जिनवाणीका उपदेश, उसके ग्रहण करनेकी बुद्धि और उसे धारण करनेकी शक्ति इतनी बातोका मिलना जीव-समुदायको उत्तरोत्तर दुर्लभ है ।। ६९ ।। आचार्य खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त सामग्रीमे भी सुख देनेमे प्रवीण ऐसी सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी सगति यह प्राणी अति कष्टसे प्राप्त करता है, जैसे कि स्त्रियोमे सुन्दर कृतज्ञता अति कष्टसे पाई जाती है ।। ७० ।। इस लोकमें साधुजनोसे पूजित रत्नत्रयकी प्राप्तिरूप यह बोधि यदि कदाचित् प्रमादसे नष्ट हो जाती है, तो वह फिर ससारी जीवको नही प्राप्त होती है। जैसे कि समुद्रमे गिरा हुआ मनोहर मणि पुन. नही प्राप्त होता हैं ।। ७१ ।। यह बडे दु खकी बात है कि ऐसी अतिदुर्लभ बोधिको पाकरके भी जो अधम पुरुष उसे छोडकर सुखके लिए धनका उपार्जन करता है, वह अमृतलताको छोडकर जीवित रहनेके लिए नियमसे विषवेलिका सेवन करता है ।। ७२ ।। जो मनुष्य इस भवमे ऐस उत्तम धर्मको पाकरके छोडता है, वह अतिदारुण क्लेशको पाता है। जो निर्दोष धनके भण्डारको छोडता है, वह अत्यन्त खेदित होता है, इसमे क्या आश्चर्य है ।। ७३ ।। जो मतिमान् पुरुष जन्म-मरणकी यातनाको छोडता है और उत्तम कल्याण-परम्पराको ग्रहण करता है, वह सुमेरुकी स्थिर चूलिकाके समान रत्नत्रयकी प्राप्तिरूप बोधिको शाश्वत नित्य बनाता है ।। ७४ ।। यह बोधिदुर्लभ भावना कही ।

अब धर्मानुप्रेक्षा कहते हैं–जो जीव जिनभाषित, निरुपम, निष्पाप, सुखका मूलकारण हितकारक, जगत्पूजित और सर्व दोषरहित ऐसे जिनधर्मका सेवन करता है, वह जीव सदा ही सुखका भाजन होता हैं ।। ७५ ।। जो धर्म दुरन्त दु:खवाले ससारको दूर करता है और निरामय मुक्तिपदको देता है, ऐसा सर्व मनोरथोका साधन करनेवाला वह धर्म मनीषी जनको मन वचन

मनुजभवमवाप्य यो न धर्मं विषयसुखाकुलित करोति पथ्यम् ।
मणिकनकनगं समेत्य मन्ये पिपतिषति स्फुटमेष जीवितार्थी ।। ७७
कलुषयति कुधीर्निरस्तधर्मो भवशतमेकभवस्य कारणं य. ।
अभिलषितफलानि दातुमीशं त्यजति तृणार्थितया स कल्पवृक्षम् ।। ७८
शमयमनियमव्रताभिरामं चरति न यो जिनधर्ममस्तदोषम् ।
भवमरणनिपीडितो दुरात्मा भ्रमति चिरं भवकानने स भीमे ।। ७९
विगलितकलिलेन येन युक्तो भवति नरो भुवनस्य पूजनीयः ।
शुचिवचनमनःशरीरवृत्त्या भजति बुधो न कथं तमत्र धर्मम् ।। ८०
क्षान्तिर्मार्दवमार्जवं निगदितं सत्यं शुचित्वं तप-
स्त्यागोऽकिञ्चनता मुमुक्षुपतिभिर्ब्रह्मव्रतं संयम. ।
धर्मस्येति जिनोदितस्य दशधा निर्दूषणं लक्षणं
कुर्वाणो भवयन्त्रणाविरहितो मुक्त्यङ्गनां श्लिष्यति ।। ८१
योऽनुप्रेक्षा द्वादशापीति नित्यं भव्यो भक्त्या ध्यायति ध्यानशील ।
हेयादेयाशेषतत्त्वाववोधी सिद्धि सद्यो याति स ध्वस्तकर्मा ।। ८२
सूचिततत्त्वं ध्वस्तकुतत्त्वं भवभयविदलनदमयमकथनम् ।
यो हृदि धत्ते पापनिवृत्त्यै शुचिरुचिरुचिरं जिनपतिवचनम् ।। ८३

कायसे धारण करनेके योग्य है ।। ७६ ।। मनुष्य भवको पाकरके जो जीव विषय सुखसे आकुलित होकर हितकारी पथ्यरूप धर्मका आचरण नहीं करता है, वह रत्न-सुवर्णके पर्वतको प्राप्त होकरके भी जीनेका इच्छुक होकर उससे नीचे गिरनेकी इच्छा करता है, ऐसा मै नियमसे मानताहूँ ।। ७७ ।। जो कुवुद्धि पुरुष धर्म छोडकर एक भवके कारण अनेक भवोंका विगाडता है, वह अभिलषित फलोका देनेमे समर्थ कल्प वृक्षको तृणका इच्छुक होकर छोडता है, ऐसा मै मानता हूँ ।। ७८ ।। जो दुरात्मा पुरुष शम यम नियम और व्रतोसे अभिराम, तथा सर्व दोषोसे रहित ऐसे जिनधर्मका आचरण नही करता है, वह जन्म मरणसे पीडित होता हुआ इस भयंकर भव-काननमें चिरकाल तक परिभ्रमण करता है ।। ७९ ।। जिस निष्पाप धर्मसे संयुक्त मनुष्य जगत्का पूजनीय हो जाता है, उस धर्मको इस लोकमें ज्ञानी जन पवित्र मन वचन और कायकी प्रवृत्तिसे कैसे नही सेवन करते हैं ? अर्थात् सेवन करते ही हैं ।। ८० ।। मोक्षके अभिलाषी जनोके स्वामी जिनदेवोंने धर्म दश प्रकारका कहा है–क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच संयम तप त्याग आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य । जो जीव जिनोपदिष्ट इस दश प्रकारके निर्दोष लक्षण वाले धर्मका पालन करता है, वह भवयंत्रणासे रहित होकर मुक्तिरूपी अगना को आलिंगन करता है ।। ८१ ।। इस प्रकार धर्म भावना कही ।

जो ध्यानशील भव्य भक्तिसे नित्य ही इन बारह भावनाओंका चिन्तवन करता है, वह समस्त हेय-उपादेय तत्त्वका ज्ञाता बनकर और कर्मोका नाश कर शीघ्र ही सिद्धिको प्राप्त होता है ।। ८२ ।। जो पुरुष तत्त्वको प्रकट करनेवाले, कुतत्त्वके विनाशक, भव-भवके विदलन करनेवाले इन्द्रिय-दमन और पाप- विरमणरूप संयमका कथन करने वाले, तथा पवित्ररुचिसे सुन्दर ऐसे जिनेन्द्रदेवके वचनको पापोकी निवृत्तिके लिए हृदयमे धारण करता है, वह केवलज्ञानरूप प्रकाशसे सर्वलोकको प्रकाशित कर स्वय सर्व जगत्को देखता हुआ मुनिराजों और देवराजोसे पूजित,

केवललोकालोकितलोकोऽमितगतियतिपतिसुरपतिमहिताम् ।
याति स सिद्धिं पावनशुद्धिं विगलितकलिमलगुणमणिसहिताम् ।। ८४

इत्युपासकाचारे चतुर्दश. परिच्छेद: ।

पञ्चदशः परिच्छेदः

नियम्य करणग्रामं व्रतशीलगुणावृतै[1] । सर्वो विधीयते भव्यैर्विधिरेष विमुक्तये ।। १
न सा सम्पद्यते जन्तो: सर्वकर्मक्षयं विना । रजोऽपहारिणी वृष्टिर्बलाहकमिवोजिता ।। २
समस्तकर्मविश्लेषो ध्यानेनैव विधीयते । न भास्करं विनाऽन्येन हन्यते शार्वरं तमः ।। ३
यत्न: कार्यो बुधैर्ध्याने कर्मभ्यो मोक्षकांक्षिभि रोगेभ्यो दु खकारिभ्यो व्याधितैरिव भेषजे ।। ४
आद्यत्रिसंहते. साधोरान्तर्मौहूर्तिकं परम् । वस्तुन्यकत्र चित्तस्य स्थैर्यं ध्यानमुदीर्यते ।। ५
तदन्येषां यथाशक्ति मनोरोधविधायिनाम् । एकद्वित्रिचतु:पञ्चषडादिक्षणगोचरम् ।। ६
साधकः साधनं साध्यं फलं चेति चतुष्टयम् । विबोद्धव्यं विधानेन बुधैः सिद्धिं विधित्सुभिः ७
संसारी साधको भव्यः साधनं ध्यानमुज्ज्वलम् । निर्वाणं कथ्यते साध्यं फलं सौख्यमनश्वरम् ।। ८
आर्तं रौद्रं तथा[2] धर्म्यं शुक्ल चेति चतुर्विधम् । ध्यानं ध्यानवतां मान्यैर्भवनिर्वाणकारणम् ।। ९

कल्मषसे रहित एवं अनन्त गुणरूप मणियोसे सहित ऐसी पावन शुद्धिवाली सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करता है । ८३–८४ ।।

इस प्रकार अमितगति-विरचित श्रावकाचारमे चौदहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ।

अब आचार्य ध्यानका वर्णन करते है–व्रत शील और गुणोसे सयुक्त भव्य पुरुष मुक्तिकी प्राप्तिके लिए अपने इन्द्रियोंके समूहका नियमन करके यह आगे कहे जानेवाली सर्व विधिका पालन करते है ।। १ ।। वह मुक्ति सर्व कर्मोके क्षय हुए विना जीवको नही प्राप्त हो सकती है · जैसे कि मेघके विना धूलिको दूर करने वाली उत्तम वर्षा नही हो सकती है ।। २ ।। सर्व कर्मोका अभाव ध्यानके द्वारा ही किया जाता है । क्योंकि सूर्यके विना रात्रिका अन्धकार अन्यके द्वारा दूर नही किया जा सकता है ।। ३ ।। इसलिए कर्मोसे मोक्ष पानेकी आकांक्षा रखने वाले ज्ञानी जनोको ध्यानमे प्रयत्न करना चाहिए । जैसे कि दु:खकारी रोगोसे छुटकारा पानेके लिए रोगी पुरुष औषधिके लिए प्रयत्न करते है ।। ४ ।।

अब ध्यानका स्वरूप कहते है–आदिके तीन सहननोमेसे किसी एक सहननके धारक साधुकी उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक जो एक वस्तुके चिन्तवनमे चित्तकी स्थिरता रहती है, उसे ध्यान कहते है ।। ५ ।। उक्त उत्तम तीन सहननोके सिवाय अन्य सहनन-धारक और मनका निरोध करने वाले पुरुषोंके उनकी सामर्थ्यके अनुसार एक दो तीन चार पांच छह आदि क्षणों तक चित्तकी स्थिरता रहती है ।। ६ ।। सिद्धिके इच्छुक ज्ञानी जनोंको ध्यानका साधक, साधन साध्य और फल इन चार बातोंका विधिपूर्वक ज्ञान करना चाहिए ।। ७ ।। आचार्य उक्त चारों बातोका स्पष्टीकरण करते है–ससारी भव्य पुरुष ध्यानका साधक होता है, उज्ज्वल ध्यान साधन है, मोक्ष साध्य है और अविनश्वर सुख ध्यानका फल है ।। ८ ।।

अब ध्यानके भेद कहते है–आर्तध्यान रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान यह चार

---

१. मु० दृतै । २. मु मत ।

संसारकारणं पूर्वं परं निर्वृतिकारणम् । इत्याद्यं द्वितयं त्याज्यमादेयमपरं बुधैः ॥ १०
प्रियायोगाप्रियायोगपीडालक्ष्मीविचिन्तनम् । आर्तं चतुर्विधं ज्ञेयं तिर्यग्गतिनिबन्धनम् ॥ ११
रौद्रं हिंसानृतस्तेयभोगरक्षणचिन्तनम् । ज्ञेयं चतुर्विधं शक्तं श्वभ्रभूमिप्रवेशने ॥ १२
आज्ञापायविपाकानां चिन्तनं लोकसंस्थितेः । चतुर्धाऽभिहितं धर्म्यं निमित्तं नाशकर्मणः ॥ १३
शुक्लं पृथक्त्ववीतर्कवीचारं प्रथमं मतम् । जिनैरेकत्ववीतर्कावीचारं च द्वितीयकम् ॥ १४
अन्यत्सूक्ष्मक्रियं तुर्यं समुच्छिन्नक्रियं मतम् । इत्थं चतुर्विधं शुक्लं सिद्धिसौधप्रवेशकम् ॥ १५
आर्तं तनूमतां ध्यानं प्रमत्तान्तगुणाश्रितम् । संयतासंयतान्तानां रौद्रं ध्यानं प्रवर्तते ॥ १६
अनपेतस्य धर्मस्य धर्मतो दशभेदतः । चतुर्थः पञ्चमः षष्ठः सप्तमश्च प्रवर्तकः ॥ १७

प्रकारका ध्यान ध्यानवालोके मान्य गणधरादि देवोंने क्रमशः ससार और मोक्षका कारणभूत कहा है ॥ ९ ॥ उनमेंसे आदिके दो ध्यान ससारके कारण है और अन्तिम दो ध्यान मोक्षके कारण है। अतः ज्ञानी जनोंको आदिके दो ध्यान छोडना चाहिए और अन्तके दो ध्यान ग्रहण करना चाहिए ॥ १० ॥

अब आर्त्तध्यानका वर्णन करते हैं–प्रिय वस्तुके वियोगका, अप्रिय वस्तुके आयोग (संयोग) की पीडाके दूर करनेका और लक्ष्मीकी प्राप्तिका चिन्तवन करना, यह चार प्रकारका आर्त्तध्यान है। इसे तिर्यग्गतिका कारण जानना चाहिए ॥ ११ ॥

अब रौद्रध्यानका वर्णन करते है–हिंसा करनेका झूठ बोलनेका, चोरी करनेका तथा भोगोकी रक्षाका चिन्तवन करना, यह चार प्रकारका, रौद्रध्यान है। यह नरकभूमिमे प्रवेश करानेमे समर्थ है, ऐसा जानना चाहिए ॥ १२ ॥

अब धर्म्यध्यानका वर्णन करते है–सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका चिन्तवन करना, सासारिक दुःखो-के विनाशका चिन्तवन करना, कर्मोके विपाक (फल) का चिन्तवन करना और लोकके सस्थानका विचार करना यह चार प्रकारका धर्म्यध्यान है, जो कि स्वर्गके सुखका कारण कहा गया है ॥ १३ ॥

अब शुक्लध्यानका वर्णन करते है–पहला पृथक्त्ववितर्कवीचार, दूसरा एकत्ववितर्क-अवीचार, तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और चौथा समुछिन्न क्रिया निवृत्ति यह चार प्रकारका शुक्ल-ध्यान जिन भगवान्ने कहा है, जो कि मुक्ति-महलमे प्रवेश करानेका कारण है ॥ १४–१५ ॥

विशेषार्थ–वस्तुके द्रव्य गुण और पर्यायका परिवर्तन करते हुए चिन्तवन करना एकत्ववितर्क विचार है। योगोको वादररूपसे सूक्ष्म क्रियामें परिणत होना सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान है। योगोकी क्रियाके विच्छिन्न होनेको समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान कहते है। इनमेंसे पहला शुक्लध्यान आठवेंसे ग्यारहवें गुणस्थान तक रहता है। दूसरा शुक्लध्यान वारहवें गुणस्थान-मे होता है। तीसरा शुक्लध्यान तेरहवे गुणस्थानके अन्तमे और चौथा शुक्लध्यान चौदहवे गुण-स्थानमे होता है।

अब ध्यानके स्वामियोको कहते है–आर्त्तध्यान छठे प्रमत्तसयत गुणस्थान तकके जीवोंके होता है। रौद्रध्यान सयतासयत नामक पांचवे गुणस्थान तक के जीवोंके होता है ॥ १६ ॥ धर्मसे संयुक्त धर्म्यध्यान आज्ञाविचय आदिके भेदसे दश प्रकारका कहा गया है और इसके प्रवर्तक या आराधक स्वामी चौथे, पाचवे, छठे और सातवे गुणस्थानके धारक जीव होते हैं ॥ १७ ॥

समर्थं निर्मलीकर्तुं शुक्लं रत्नशिखास्थिरम् । अपूर्वकरणादीनां मुमुक्षूणां प्रवर्तते ॥ १८
अन्हायोद्धूयते सर्वं कर्म ध्यानेन सञ्चितम् । वृद्धं समीरणेनेव बलाहककदम्बकम् ॥ १९ ॥
ध्यानद्वयेन पूर्वेण जन्यन्ते कर्मपर्वताः । वज्रेणेव विभिद्यन्ते परेण सहसा पुनः ॥ २०
यो ध्यानेन विना मूढः कर्मच्छेदं चिकीर्षति । कुलिशेन विना शैलं स्फुटमेष बिभित्सति ॥ २१
ध्यानेन निर्मलेनाऽऽशु हन्यते कर्मसञ्चयः । हुताशनकणेनापि प्लुष्यते[1] किं न काननम् ॥ २२

विशेषार्थ—धर्म्यध्यानके वे दश भेद इस प्रकार है—अपायविचय उपायविचय जीवविचय अजीवविचय विपाकविचय विरागविचय भवविचय सस्थानविचय आज्ञाविचय और हेतुविचय। इनका स्वरूप संक्षेपमे इस प्रकार है—ससारमे परिभ्रमण करते और नाना प्रकारके दु खोको उठाते हुए ये जीव कैसे इनसे छूटें ? मैं भी कैसे इनसे छूटूं ? इस प्रकारके चिन्तवन करनेको अपायविचय धर्मध्यान कहते है । सासारिक दु.खोंसे छूटनेकी कारणभूत मन वचन कायकी उत्तम प्रवृत्ति मेरे कब वा कैसे हो, ऐसा विचारना उपाय विचय धर्मध्यान है । जीव उपयोग स्वरूप है, अपने शुभ-अशुभ कर्मोका कर्त्ता और उनके फलका भोक्ता है. असख्यात प्रदेशी है, सूक्ष्म एव अमूर्त है, इत्यादिरूपसे जीवके स्वरूपका चिन्तवन करना जीवविचयधर्मध्यान है । अजीवद्रव्यका स्वरूप और उनके भेदोका विचार करना अजीवविचय धर्मध्यान है । आठ कर्मोंके फल देनेका, उनके शुभ-अशुभ अनुभागका विचारना विपाकविचयधर्मध्यान है । यह शरीर अशुचि है, अशुचिका बीज है, कर्मबन्धका कारण है, इसमे रति करना नरक-निगोदका कारण है, इत्यादि रूपसे वैराग्यका चिन्तवन करना विरागविचय धर्मध्यान है । यह जीव नाना योनियोमे जरायुज, अण्डज आदि नाना प्रकारके जन्मोको धारण करता हुआ, एक भवसे अन्य भवमे ऋजुगति, वक्रगतिसे गमन करता रहता है, ससारमे परिभ्रमण करते हुए इस जीवने अनन्त भवपरिवर्तन किये है—इत्यादि विचार करना भवविचय धर्मध्यान है । लोकके आकारका चिन्तवन करना सस्थानविचय धर्मध्यान है । अतीन्द्रिय पदार्थोका ज्ञान छद्मस्थ जीवोंके नही हो सकता है, अत. उनके विषयमे वितराग सर्वज्ञ देवकी आज्ञाको प्रमाण मानकर परलोक, बन्ध, मोक्ष आदिका विचार करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है । आगमनके किसी विवादास्पद विषयको तर्ककी कसोटीपर कसकर स्याद्वादनयके द्वारा उसका निर्धारण करना हेतुविचय धर्मध्यान है । इन दशो भेदोका विवेचन चारित्रसारसे जानना चाहिए ।

आत्माको निर्मल करनेके लिए समर्थ और रत्नकी ज्योतिके समान स्थिर ऐसा शुक्लध्यान आठवे अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवर्त्ती मुमुक्षु साधुओके होता है ॥ १८ ॥ चिरकालसे सचित सब कर्म ध्यानके द्वारा शीघ्र उडा दिये जाते है, जिस प्रकार कि बढे हुए बादलोका समुदाय पवनके द्वारा उडा दिया जाता है ॥ १९ ॥ पूर्वके आर्त्त और रौद्र इन दो ध्यानोंके द्वारा कर्म रूप पर्वत उत्पन्न किये जाते हैं और अन्तके धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानोके द्वारा वे वज्रके समान सहसा छिन्न-भिन्न कर दिये जाते है ॥ २० ॥ ध्यानके विना जो मूढ कर्मोका छेद करना चाहता है, वह निश्चयसे वज्रके विना पर्वतका भेदन करना चाहता है ॥ २१ ॥ निर्मल ध्यानके द्वारा कर्मोका सचय शीघ्र विनष्ट कर दिया जाता है क्या अग्निके कण-द्वारा वन जला नही दिया जाता है ? अर्थात् जला ही दिया जाता है ॥ २२ ॥ ध्यानको करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको ध्याता ध्येय ध्यानकी

१. मु० 'स्युष्यते' पाठ ।

ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं विधि फलम् । विधेयानि प्रसिद्ध्यन्ति सामग्रीतो विना न हि ॥२३
निसर्गमार्दवोपेतो निष्कषायो जितेन्द्रिय । निर्ममो निरहङ्कार पराजितपरीषह. ॥ २४
हेयोपादेयतत्त्वज्ञो लोकाचारपराङ्मुख । विरक्त. कामभोगेषु भवभ्रमणभीरुक. ॥ २५
लाभेऽलाभे सुखे दुःखे शत्रौ मित्रे प्रियेऽप्रिये । मानपमानयोस्तुल्यो मृत्युजीवितयोरपि ॥ २६
निरालस्यो निरुद्वेगो जितनिद्रो जितासन । सर्वव्रतकृताभ्यास. सन्तुष्टो निष्परिग्रह. ॥ २७
सम्यक्त्वालङ्कृतः शान्तो रम्यारम्यनिरुत्सुकः । निर्भयो भक्तिक श्राद्धो वीरो [1]वैरागिकोऽशठः ॥ २८
निर्निदानो निरापेक्षो विभङ्क्षुर्देहपञ्जरम् । भव्यः प्रशस्तते ध्याता यियासु पदमव्ययम ॥ २९
ध्येयं पदस्थपिण्डस्थरूपस्थारूपभेदतः । ध्यानस्यालम्बनं प्राज्ञैश्चतुर्विधमुदाहृतम् । ३०
यानि पञ्चनमस्कारपदादीनि मनीषिणा । पदस्थं ध्यातुकामेन तानि ध्येयानि तत्त्वतः ॥ ३१
मरुत्सखशिखो वर्णो भूतान्तः शशिशेखर. । आद्यलघ्वादिको ज्ञात्वा ध्यातु पापं निषूदते । ३२

विधि और ध्यानका फल ये चार बाते जानने योग्य हैं । क्योकि योग्य सामग्रीके विना करने योग्य कार्य सिद्ध नहीं नही होते हैं ।। २३ ॥

अब ध्यान करनेवाले ध्याताका स्वरूप कहते हैं—जो स्वभावसे ही कोमल परिणामोंसे युक्त हो, कषाय-रहित हो, इन्द्रिय-विजेता हो, ममत्व-रहित हो, अहंकार-रहित हो, परीषहोको पराजित करनेवाला हो, हेय और उपादेयतत्त्वका ज्ञाता हो, लोकाचारसे पराङ्मुख हो, काम-भोगोसे विरक्त हो, भव-भ्रमणसे भयभीत हो, लाभ-अलाभमें, सुख-दुःखमें, शत्रु-मित्रमें, प्रिय-अप्रियमे, मान-अपमानमे और जीवन-मरणमे समभावका धारक हो, आलस्य-रहित हो, उद्वग-रहित हो, निद्रा विजयी हो, आसन-विजेता अर्थात् दृढासन हो, अहिंसादि सर्व व्रतोंका अभ्यासी हो, सन्तोष-युक्त हो, परिग्रह-रहित हो, सम्यग्दर्शनसे अलंकृत हो, शान्त हो, सुन्दर और असुन्दर वस्तुमें निरुत्सुक हो, भय-रहित हो, देव गुरु शास्त्रकी भक्ति करनेवाला हो, श्रद्धागुणसे युक्त हो, कर्म-शत्रुओके जीतनेमें शूर-वीर हो, वैराग्य-युक्त हो, मूर्खता-रहित हो, अर्थात् ज्ञानवान् हो निदान-रहित हो, परकी अपेक्षासे रहित हो, अर्थात् स्वावलम्वी हो, शरीररूप पिंजरेके भेदनेका इच्छुक हो और जो अविनाशी शिवपदको जानेका अभिलाषी हो, ऐसा ध्याता भव्य पुरुष प्रशंसनीय होता है ॥ २४-२९ ॥

अव ध्येयका स्वरूप कहते हैं—ध्यानके आलम्वनको ध्येय कहते हैं । वह ज्ञानियोंने पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीतके भेदसे चार प्रकारका कहा है ॥ ३० ॥

अव पहले पदस्थध्यानका स्वरूप कहते है—पदस्थ ध्यानको ध्यानेकी इच्छा करनेवाले मनीषो पुरुषको पंच नमस्कार पद आदि जितने भी परमेष्ठी-वाचक मन्त्र पद है, उन्हे निश्चयसे चिन्तवन करना चाहिए ॥ ३१ ॥

अव उन्ही मन्त्रपदोका स्पष्टीकरण करते हैं—अग्निकी शिखावाचक रेफ या रकार वर्ण जिसके ऊपर है, ऐसा जो सबका अन्तिमवर्ण ह कार है और चन्द्र जिसके शेखरस्वरूप है, तथा आदिका लघु अक्षर अकार जिसके आदिमे है, ऐसा 'अर्हं' पद जान

---

१. मु० 'वैरगिको' पाठ. ।

स्थितोऽसि आ उ सा मन्त्रश्चतुष्पत्रे । कुशेशये । ध्यायमानः प्रयत्नेन कर्मोन्मूलयतेऽखिलम् ।। ३३
तन्नाभौ हृदये वक्त्रे ललाटे मस्तके स्थिम् । गुरुप्रसादतो बुद्ध्वा चिन्तनीयं कुशेशयम् ।। ३४
अयुय[1] वित्यमी वर्णाः स्थिता. पद्मे चतुर्दले । विश्राणयन्ति पञ्चापि सम्यग्ज्ञानानि चिन्तिताः । ३५
स्थितपञ्चनमस्काररत्नत्रयपदैर्दलैः । अष्टभिः कलिते पद्मे स्वरकेसरराजिते ।। ३६
स्थितोऽर्हमित्ययं मन्त्रो ध्यायमानो विधानतः । ददाति चिन्तितां लक्ष्मीं कल्पवृक्ष इवोप्रिताम् । ३७

करके ध्यान करने पर ध्याताके पापको विनष्ट करता है ।। ३२ ।। तथा चार पत्रवाले कमलमें और मध्यकर्णिकापर क्रमश. 'अ सि आ उ सा' अक्षररूप मन्त्र का प्रयत्नपूर्वक ध्यान किया जाय तो वह ध्याताके सर्व कर्मोंका उन्मूलन करता है ।। ३३ ।। उसकी रचना इस प्रकार है—
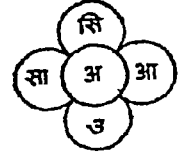
इसी चार पत्रवाले कमलको नाभिमें, हृदयमे, मुखमे, ललाट-पर और मस्तकपर गुरुप्रसादसे जानकर चिन्तवन करना चाहिए ।। ३४ ।। 'अ इ उ ए' ये चार पत्रवाले कमलपर स्थापितकर यदि चिन्तवन किये जावें तो वे पाँचों ही ज्ञानोंको प्रदान करते है, ।। ३५ ।। यथा—
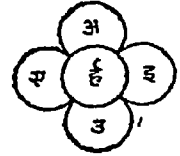
आठ पत्रवाले कमलपर पंचनमस्कारमन्त्रके पाँच पद और रत्नत्रयके तीन पद स्थापित करके तथा मध्यकर्णिकाकी केसर पर १६ स्वरोंको स्थापित करके और मध्यमे 'अर्हं' स्थापित कर यदि यह मन्त्र विधिपूर्वक ध्यान किया जाता है तो कल्पवृक्षके समान श्रेष्ठ लक्ष्मीको प्रदान करता है ।। ३३-३७ ।। इस मन्त्रकी रचना इस प्रकार है—

[1] अ इ उ य उ ।

हसतींकारस्तोमः सोऽहं मध्यस्थितो विगतमूर्द्धा । पार्श्वप्रणवचतुष्को ध्येयो द्विप्रान्तकृतमायः ॥ ३८
सहस्रा द्वादश प्रोक्ता जपहोमविचक्षणैः । ॐ जोग्गेत्यादिमन्त्रस्य तद्भागो दशमः पुनः ॥ ३९
मन्त्रः-ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारस्से स्वाहा　अयं मन्त्रः, जाप्यं द्वादशसहस्रं १२००० । होमः द्वादशशतम् १२०० ।
चक्रस्योपरिजाप्येन जातिपुष्पैर्मनोरमैः । विद्या सूचयते सम्यक् स्वप्ने सर्वं शुभाशुभम् ॥ ४०

पार्श्वभागमें चार प्रणव (ॐ) और प्रान्त भागमें दो माया (ह्रीं) वर्णो को रखकर मध्यमें सः हः स्थापित कर प्रमाद रहित हो कर उक्त मंत्र का ध्यान करना चाहिए ।। ३८ ।। विशेषार्थ—भाषावचनिकाकार स्व० पं० भागचन्द्रजीने श्लोक ३२ से ४८ तक का अर्थ नहीं लिखा है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि इनका अर्थ हमकौं यथार्थ सर्व प्रतिभास्या नाही, तातैं नहीं लिख्या है । श्री दिगम्बराचार्य शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णवमे तथा श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रकृत योगशास्त्रमे इस श्लोकके अर्थपरक बहुत कुछ समतावाले श्लोक मिलते हैं, जो कि नीचे टिप्पणी[1] में दिये गये है, इन दोनोमें परस्पर बहुत कुछ समानता होने पर भी मध्यवर्ती ह्लली पद योगशास्त्रमे अधिक मिलता है । मराठी अनुवाद वाले प्रस्तुत ग्रन्थमे भी इस श्लोक का अर्थ नही लिखा है । केवल इतना लिखा है कि इस प्रकारसे इस मन्त्र का ध्यान करे ।

योगशास्त्रके गुजराती अनुवादमे लिखा है कि 'ह्रीँ ओँ ओँ स. ह्लली हं ओँ ओँ ह्रीँ' इस प्रमाण चिन्तवन करे । मुद्रित एवं वि० स० १८७८ के हस्तलिखित ऐ० प० दि जैन सरस्वती भवन के ज्ञानार्णवमे ह्री ॐ ॐ सः ह्री हं स ' ऐसे मत्र को लिखा है । परन्तु 'प्रणव युगलस्य युग्म' पद का अर्थ चार ओकार होता है, अत. तदनुसार 'ह्री ॐ ॐ स. ह ॐ ॐ ह्री' ऐसा मन्त्र होना चाहिए । प्रस्तुत श्लोकके प्रथम चरण 'हसतीकारस्तोमः' का स्पष्ट भाव मुझे भी समझनेमें नहीं आया है । फिर भी यह पद मराठी अनुवाद सहित मुद्रित चित्र गत 'क्ष्मीं' या योगशास्त्रके श्लोकके चतुर्थ चरणगत 'ह्लली' पद विशेष का द्योतक प्रतीत होता है । मन्त्र शासनके वेत्ताजनोसे इसका ठीक भाव समझ कर ही इसमे कहे गये मंत्रका जाप करना चाहिए ।

जप और होम करनेमें विचक्षण पुरुषोने 'ॐ जोग्गे' इत्यादि मंत्रका जाप १२ हजार करने को कहा है, तथा उसका दशम भाग होम करना कहा है । पूर्ण मत्र इसप्रकार है—'ॐजोग्गे मग्गे

---

१. प्रणवयुगलस्य युग्मं पार्श्वे मायायुग विचिन्तयति ।
मूर्द्धस्थ हसपद कृत्वा व्यस्त वितन्तद्रात्मा ॥
(ज्ञानार्णव, प्रक० २८, श्लो० ८९)

द्विपार्श्वप्रणवद्वन्द्व प्रान्तयोर्मायया वृतम् ।
सोऽह मध्येऽविमूद्धान ह्ललीकार विचिन्तयेत् ॥
(योगशास्त्र, प्रकाश ८, श्लो० ६३)

ॐ ह्रींकारद्वयान्तस्थो हंकारो रेफभूषित । ध्यातव्योऽष्टदले पद्मे कल्मषक्षपणक्षम ॥ ४१
सप्ताक्षरं महामन्त्रं ॐ ह्रींकारपदानतम् विदिग्दलगतं तत्र स्वाहान्तं विनिवेशयेत् ॥ ४२
दिशिस्वाहान्तमों ह्रीं हूं[1] नमो ह्रौं[2] ह्र पदोत्तमम् ।
तत्र स्वाहान्तमों ह्रीं र्हं कर्णिकायां विनिक्षिपेत् ॥ ४३
तत्पद्मं त्रिगुणीभूतं मायाबीजेन वेष्टयेत् । विचिन्तयेच्छुचीभूत स्वेष्ट कृत्यप्रसिद्धये ॥ ४४
पद्मस्योपरि यत्नेन हेयादेयोपलब्धये । मन्त्रेणानेन कर्तव्यो जप. पूर्वविधानत. ॥ ४५
ॐह्रीं णमो अरहंताणं नम [3] इति मूलमन्त्रः । जाप्य १००๐० । होम १००० ।

तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारस्से स्वाहा' । इस मत्रका १२००० प्रमाण जाप करे और १२०० प्रमाण आहुति देवे ॥ ३९ ॥ नाभि, हृदय और मस्तक पर कमल चक्र से ऊपर मनोहर मालती के पुष्पो द्वारा उपर्युक्त मंत्रका जाप करने से उक्त विद्या स्वप्नमे सर्व शुभ और अशुभ फल को उत्तम प्रकार से सूचित करती है ॥ ४० ॥

आठ पत्रवाले कमलमे ॐ ह्रीं इन दोनोके अन्तमे स्थित रेफ-युक्त अह पद अर्थात् 'अर्हं' इस मन्त्रका ध्यान करना चाहिए। ॐ ह्री अर्हं यह मन्त्र सर्व पापो के क्षय करनेमे समर्थ है **भावार्थ**-कमलके प्रत्येक पत्र पर तथा कर्णिकाके मध्यमे 'ॐ ह्रीं अर्हं' इस मन्त्रका ध्यान करे ॥ ४१ ॥

आठ दलवाले कमलके विदिशावाले पत्रो पर 'ॐ ह्रीं' पदसे युक्त तथा अन्तमे 'स्वाहा' पद-सहित 'णमो अरहताण' इस सात अक्षर वाले मत्र को स्थापित करे। पुनः दिशावाले पत्रो पर आदिमे 'ॐ' पद तथा अन्तमे 'स्वाहा' पदके साथ क्रमश 'ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः' इन पदो से युक्त 'णमो अरहंताण, इस मन्त्र को स्थापित करे । कर्णिका मे 'ॐ ह्रीं अर्हं स्वाहा' यह मत्र लिखे। इस कमलको 'ह्रीं' इस मायाबीज से तीन बार वेष्टित करे। इस प्रकारके यन्त्र को कमल के ऊपर लिखकर पवित्र होकर अपने इष्ट कार्य की सिद्धि के लिए, तथा हेय उपादेय की प्राप्तिके लिए 'ॐ' ह्रो णमो अरहताणं ह्रं नमः इस मत्रका पूर्वोक्ति विधिसे जप करना चाहिए ॥ ४२-४५ ॥

उक्त कमलकी रचना इस प्रकार है—
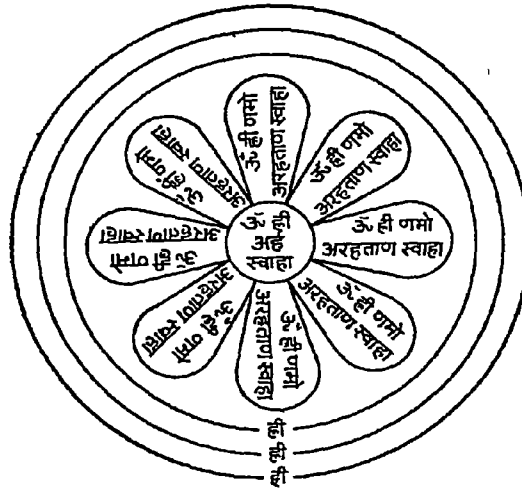
'ॐ ह्रीं णमो अरहताणं नमः' यह मूल मंत्र है। इसका जाप १० हजार करे और एक हजार होम करे।

---

१ मु० हूं। २. ह्री। ३. मु० ॐ ह्री हूं नमो ह्रं णमो अरहेताणं ह्री नम ।

सव्येनाप्रतिचक्रेण फडिति प्रत्येकमक्षरम् । कोणषट्के विचक्राय स्वाहा बाह्येऽपसव्यत ।। ४६
निवेश्य विधिना दक्षो मध्ये तस्य निवेशयेत् । भूतान्तं बिन्दुसंयुक्तं चिन्तयेच्च विशुद्धधीः ।। ४७
विधाय वलयं बाह्ये तस्य मध्ये विधानतः । णमो जिणाणमित्याद्यैः पूरयेत् प्रणवादिकैः ।। ४८

ॐ णमो जिणाणं १ । ॐ णमो परमोहिजिणाणं २ । ॐ णमो सव्वोहिजिणाणं ३ । ॐ णमो अणंतोहिजिणाणं ४ । ॐ णमो कोट्ठबुद्धीणं ५ । ॐ णमो बीजबुद्धीणं ६ । ॐ णमो पदाणुसारीणं ७ । ॐ णमो संभिण्णसोदराणं ८ । ॐ णमो उज्जुमदीणं ९ । ॐ णमो विउलमदीणं १० । ॐ णमो दसपुव्वीणं ११ । ॐ णमो चोद्दसपुवीणं १२ । ॐ णमो अट्ठंगणिमित्तकुसलाणं १३ । ॐ णमो विगुव्वणइड्ढिपत्ताणं १४ । ॐ णमो विज्जाहराणं १५ । ॐ णमो चारणाणं १६ । ॐ णमो पण्ण-समणाणं १७ । ॐ णमो आगासगामीणं १८ । ॐ णमो

छह कोणवाला चक्र बनाकर भीतरी छह कोण में बाई ओर से'अप्रतिचक्रे फट्' इन अक्षरो को लिखे, तथा बाहिरी छह कोणों के मध्य मे 'विचक्राय स्वाहा' इन अक्षरोंको दक्ष पुरुष विधिसे स्थापित करे । पुनः वह विशुद्ध बुद्धि ध्याता पुरुष मध्यवर्ती स्थान मे रेफ बिन्दु संयुक्त अन्तिम अक्षर 'ह' का अर्थात् 'ह्रँ' पदका चिन्तवन करे । पुन. इसके बहिरी भागमे वलयाकार बनाकर और विधि पूर्वक उसके विभाग कर 'णमो जिणाणं' इत्यादि पदोंको प्रणवादि पदों के साथ अर्थात् 'ॐ ह्रीँ अर्हं, के साथ लिखे । अन्तमे 'ओँ ज्रौ ज्रौँ श्री ह्री धृति कीर्ति बुद्धि लक्ष्मी स्वाहा' इन पदों के द्वारा उक्त वलयको पूरित करे । इस यत्र की आराधना करनेके पूर्व पाचों अंगुलियो पर पंचनमस्कार मंत्रको स्थापित करते हुए सकलीकरण करे । यथा–'ॐ णमो अरहंताणं ह्राँ स्वाहा, यह मंत्र बोलकर अंगूठे की शुद्धि करे, 'ॐ णमो सिद्धाणं ह्री स्वाहा' यह बोलकर तर्जनीकी शुद्धि करे, ॐ णमो आयरियाणं ह्रूँ स्वाहा' यह बोलकर मध्यमाकी शुद्धि करे, ॐ णमो उवज्झाय णं ह्रौ स्वाहा' यह बोलकर अनामिकाकी शुद्धि करे और 'ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः स्वाहा' यह मंत्र बोलकर कनिष्ठा अंगुलीकी शुद्धि करे । इस प्रकार तीन वार अगुलियों पर मंत्र-विन्यास करके पुन. मस्तकके ऊपर तथा, पूर्व दक्षिण, पश्चिम और उत्तर वाले शरीर-भाग पर मंत्र विन्यास करके जप प्रारम्भ करे ।। ४६-४८ ।।

उपर्युक्त यन्त्रकी रचना इस प्रकार हैं–

ॐ ज्रौं झ्रौं श्री ह्री धृति कीर्त्ति बुद्धि लक्ष्मी स्वाहा, इति पदैर्वलयं पूरयेत् । एवं पञ्च-नमस्कारेण पञ्चाङ्गुलिन्यस्तेन सकलीक्रियते ॐ णमो अरहंताणं ह्र स्वाहा अङ्गुष्ठे । ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीं स्वाहा तर्जन्याम् । ॐ णमो आयरियाणं ह्रं स्वाहा मध्यमायाम् । ॐ णमो उवज्झायाणं ह्रौं स्वाहा अनामिकायाम् । ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः स्वाहा कनिष्ठिकायाम् । एवं वारत्रय-मङ्गुलीषु विनस्य मस्तकस्योपरि पूर्वदक्षिणापरोत्तरेषु विन्यस्य जपं कुर्यात् ।

अभिधेया नमस्कारपदैर्ये परमेष्ठिनः । पदस्थास्ते विधीयन्ते शब्देऽर्थस्य व्यवस्थितेः ।। ४९
अनन्तदर्शनज्ञानसुखवीर्यैरलङ्कृतम् । प्रतिहार्याष्टकोपेतं नरामरनमस्कृतम् ।। ५०
शुद्धस्फटिकसंकाशशरीरमुरुतेजसम् । घातिकर्मक्षयोत्पन्ननवकेवललब्धिकम् ।। ५१
विचित्रातिशयाधारं लब्धकल्याणपञ्चकम् । स्थिरधीः साधुरर्हन्तं ध्यायत्येकाग्रमानसः ।। ५२
पिण्डस्थो ध्यायते यत्र जिनेंद्रो हतकल्मष. । तत्पिण्डपञ्चकध्वन्सि पिण्डस्थं ध्यानमिष्यते ।। ५३
प्रतिमायां समारोप्य स्वरूपं परमेष्ठिनः । ध्यायत शुद्धचित्तस्य रूपस्थं ध्यानमिष्यते ।। ५४
सिद्धरूपं विमोक्षाय निरस्ताशेषकल्मषम् । जिनरूपमिव ध्येयं स्फटिकप्रतिबिम्बितम् ।। ५५
अरूपं ध्यायति ध्यानं पर संवेदनात्मकम् । सिद्धरूपस्य लाभाय नीरूपस्य निरेनस ।। ५६
बहिरन्त परश्चेति त्रेधाऽऽत्मा परिकीर्तित । प्रथम द्वितयं हित्वा परात्मान विचिन्तयेत् । ५७
बहिरात्माऽऽत्मविभ्रान्ति शरीरे मुग्धचेतस । या चेतस्यात्मविभ्रान्ति सोऽन्तरात्याऽभिधीयते ।।५८
श्यामो गौर. कृशः स्थूल. काणः कुण्ठोऽबलो बली । वनिता पुरुष षण्ढो विरूपो रूपवानहम् ।। ५९

नमस्कार वाले पदोंके द्वारा जो परमेष्ठी कहे जाते हैं, वे पदस्थ कहलाते है, क्योकि शब्दमे अर्थ की व्यवस्था मानी गई है ।। ४९ ।। इस प्रकार पदस्थ ध्यानका वर्णन किया । अब पिण्डस्थ ध्यानका वर्णन करते है–एकाग्र चित्तवाला स्थिरबुद्धि साधु अनन्त दर्शन ज्ञान सुख वीर्यसे अलंकृत, आठ प्रातिहार्यो से संयुक्त, मनुष्य और देवोसे पूजित, शुद्ध स्फटिक मणिके सदृश निर्मल-शरीर और महान् तेजके धारक, घातिया कर्मोके क्षय से उत्पन्न हुई नौ केवललब्धिके स्वामी, नाना प्रकारके अतिशयोंके आधार और पांच कल्याणकोके प्राप्त होने वाले ऐसे अरहन्त परमेष्ठी को पिण्डस्थ ध्यानमें ध्याता है ।। ५०-५२ ।। जिस परमौदारिक शरीररूप पिण्ड मे स्थित पापोके विनाशक जिनेन्द्रदेव ध्याये जाते है, वह औदारिकादि पाच शरीर रूप पिण्डका नाशक पिण्डस्थ ध्यान कहा जाता है ।। ५३ ।। अब रूपस्थ ध्यानका स्वरूप कहते है–परमेष्ठीके स्वरूपको प्रतिमामे आरोपण करके ध्यान करनेवाले शुद्धचित्त पुरुषके ध्यानको रूपस्थ ध्यान कहते है ।। ५४ ।। अब अरूपस्थ या रूपातीत ध्यानका स्वरूप कहते है–समस्त कर्मोसे रहित सिद्धभगवान्‌के स्वरूपका स्फटिक मे प्रतिबिम्बित जिनराजके रूपके समान रूप रस गन्ध स्पर्श से रहित, केवलज्ञानात्मक ध्यान करना अरूपस्थ ध्यान है । यह रूपातीत और सर्व कर्मरहित निर्मल सिद्ध स्वरूपकी प्राप्तिके लिए ध्याया जाता है ।। ५५-५६ ।। अब आत्माके तीन भेदो का वर्णन करते है–बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा–इस प्रकार आत्मा तीन प्रकार का कहा गया है । इनमेंसे प्रथम और द्वितीय भेदको छोडकर परमात्माका चिन्तवन करना चाहिए । जिस मूढ बुद्धि पुरुषको शरीरमे आत्माकी भ्रान्ति है, वह बहिरात्मा है । चित्तमे जिसे आत्माकी भ्रान्ति है, वह अन्तरात्मा कहा जाता है ।। ५७-५८ ।।

भावार्थ–अन्य आचार्योंने केवल बहिरात्मा को त्याज्य कहा है और यहां पर अन्तरा-

जातदेहात्मविभ्रान्तेरेषा भवति कल्पना । विवेकं पश्यतः पुंसो न पुनर्देहदेहिनोः ॥ ६०
शत्रुमित्रपितृभ्रातृमातृकान्तासुतादयः । देहसम्बन्धतः सन्ति न जीवस्य निसर्गजाः ॥ ६१
श्वाभ्रस्तिर्यङनरो देवो भवामीति विकल्पना । श्वाभ्रतिर्यङ्नृदेवाङ्ग[1]सङ्गतो न स्वभावतः ॥ ६२
बालकोऽहं कुमारोऽहं तरुणोऽहमहं जरी । एता देहपरीणामजनिताः सन्ति कल्पनाः । ६३
विदग्धः पण्डितो मूर्खो दरिद्रः साधनोऽधन. । कोपनोऽसूयको मूढो द्विष्टस्तुष्टोऽशठः शठः ॥ ६४
सज्जनो दुर्जनो दीनो लुब्धो मत्तोऽपमानितः । जातचित्तात्मसम्भ्रान्ते[1]रेषा भवति शेमुषी ॥ ६५
देहे यात्ममतिर्जन्तोः सा वर्द्धयति संसृतिम् । आत्मन्यात्ममतिर्या सा सद्यो नयति निर्वृतिम् ॥ ६६
यो जागर्त्याऽऽत्मनः कार्ये कायकार्ये स मुञ्चति । यः स्वपित्यात्मनः कार्ये कायकार्यं करोति सः ॥ ६७
ममेदमहमस्यास्मि स्वामी देहादिवस्तुनः । यावदेषा मतिर्बाह्ये तावद्धयानं कुतस्तनम् ॥ ६८

त्माको त्याज्य कहा है, सो यह विरोध कैसा ? ऐसी शंका नहीं करना चाहिए । कारण कि यहां पर चेतनके विकार रूप मन, राग-द्वेषादिकको आत्मस्वरूप माननेवालेके लिए अन्तरात्मा कहा गया है, सो वह त्यागने योग्य ही है । जहां पर 'सम्यग्दृष्टिको अन्तरात्मा' कहा गया है, वह उपादेय ही है, ऐसा विवक्षाभेद जानना । अब बहिरात्माका स्वरूप कहते हैं—जो अपने को मैं काला हूं मैं गोरा हूँ, मै पतला हूं, मैं मोटा हूं. मैं काणा हूं, मैं विकलांग हूं, मै निर्वल हू, मैं सवल हूं, मै स्त्री हू. मैं पुरुष हू मैं नपुसक हू, मै कुरूप हूं, मै रूपवान हूं, इस प्रकार शरीरमे आत्माकी भ्रान्तिवाले जिस पुरुषकी कल्पना होती है और जिसे देह और देही (जीव)का भेद दिखाई नही देता, उसे बहिरात्मा कहते हैं । किन्तु जिसे देह और देहीका भेद दिखाई देता हैं, ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुषको उक्त प्रकारकी कल्पना नहीं होती है ॥ ५९-६९ ॥ यह शत्रु है, यह मित्र है, यह पिता है, यह भाई है, यह माता है, यह स्त्री है और ये पुत्रादिक हैं, ऐसी कल्पनाए देहके सम्बन्धसे जीवकी होती हैं. किन्तु ये शत्रु-मित्रादिकके सम्बन्ध स्वभाव-जनित नहीं हैं ॥ ६१ ॥ मैं नारकी हूं, मै तिर्यंच हू, मै मनुष्य हूं और मै देव हूं, यह कल्पना नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिके शरीरके संगसे होती है, स्वभावसे नहीं है ॥ ६२ ॥ मैं बालक हूं, मै कुमार हू मै जवान हू, मै बूढा हू, ये सब कल्पनाएं देहके परिवर्तन से उत्पन्न होती हैं, ॥ ६३ ॥ मैं चतुर हू, विद्वान् हू, मूर्ख हू, दरिद्र हू, धनिक हू, निर्धन हू, क्रोधी हूं, ईर्ष्यालु हू, द्वेषी हू, सन्तुष्ट हू, ज्ञानी हू, अज्ञानी हू, सज्जन हूं, दुर्जन हूं, दीन हूं, लोभी हू, उन्मत्त हू, अपमानित हूं, ऐसी बुद्धिरूप कल्पना चित्तमें आत्माकी भ्रान्तिवाले पुरुषके होती है ॥ ६४-६५ ॥

जीवकी शरीरमे जो आत्मबुद्धि होती है, वह संसारको बढाती है । किन्तु आत्मामें जो आत्मबुद्धि होती है, वह शीघ्र ही मुक्तिको ले जाती है ॥ ६६ ॥ जो पुरुष आत्माके कार्यमें जागता है, वह शरीरके कार्यको छोडता है । किन्तु जो आत्माके कार्यमे सोता है, वह शरीरके कार्यको करता है ॥ ६७ ॥ जब तक 'यह मेरा है' और 'मै इसका स्वामी हूँ' ऐसी बुद्धि बाहिरी देहादि वस्तुमे लगी रहेगी, तब तक ध्यान कहांसे हो सकता है ? अर्थात् देहादिक परपदार्थमें आत्मबुद्धि बनी रहने तक तो आर्त्त-रौद्र ध्याय ही होंगे 'शुद्ध ध्यान कहासे संभव है ॥ ६८ ॥ 'मैं किसीका नहीं हूं, और न कोई बाहरी पदार्थ मेरा है,' ऐसी बुद्धि जब साधकके प्रकट होती है,

---

१. मु०—'नृवेपाङ्गलिङ्गतो' पाठ ।

नाहं कस्यापि मे कश्चिन्न भावोऽस्ति बहिस्तन । यदैषा शेमुषी साधो शुद्धध्यानं तदा मतम् ।। ६९
रागद्वेषमदक्रोधलोभमन्मथमत्सरा. । न यस्य मानसे सन्ति तस्य ध्यानेऽस्ति योग्यता ।। ७०
रागद्वेषादिभि क्षिप्तं मनः स्थैर्यं प्रचाल्यते । कांचनस्येव काठिन्यं दीप्यमानैर्हुताशनैः ।। ७१
विद्यमाने कषायेऽस्ति मनसि स्थिरता कथम् । कल्पांतपवनै स्थौर्यं तृणं कुत्र प्रपद्यते ।। ७२
अक्षय्यकेवलालोकविलोकितचराचरम् । अनन्तवीर्यशर्माणममूर्त्तमनुपद्रवम् ।। ७३
निरस्तकर्मसंबंधं सूक्ष्मं नित्यं निरास्रवम् । ध्यायत परमात्मानमात्मनः कर्मनिर्जरा ।। ७४
आत्मानमात्मना ध्यायन्नात्मा भवति निर्वृतः : घर्षयन्नात्मनाऽऽत्मानं पावकोभवति द्रुमः ।। ७५
न यो विविक्तमात्मानं देहादिभ्यो विलोकते । स मज्जति भवांभोधौ लिंगस्थोऽपि दुस्तरे ।। ७६
सविज्ञानमविज्ञानं विनश्वरमनश्वरम् । सदानात्मीयमात्मीयं सुखदं दुःखकारणम् ।। ७७
अनेकमेकमंगादि मन्यमानो निरस्तधीः । जन्ममृत्युजरावर्ते बंभ्रमीति भवोदधौ ।। ७८
आत्मनो देहतोऽन्यत्वं चिन्तनीयं मनीषिणा । शरीरभारमोक्षाय सायकस्येव कोशत ।। ७९
या देहात्मैकताबुद्धि सा मज्जयति संसृतौ । सा प्रापयति निर्वाण या देहात्मविभेदधी ।। ८०
य शरीरात्मनोरैक्यं सर्वथा प्रतिपद्यते । पृथक्त्वशेमुषी तस्य गूथमाणिक्ययोः कथम् ।। ८१

तभी उसके शुद्धध्यान माना गया है ।। ६९ ।। राग द्वेष मद क्रोध लोभ काम-विकार और मत्सर भाव जिस पुरुषके मनमें नही होते है, उसके ध्यान की योग्यता होती है ।। ७० ।। राग-द्वेषादिकसे विक्षिप्त हुए मनकी स्थिरता चलायमान हो जाती है । जैसे कि देदीप्यमान अग्निसे सोनेकी कठिनता भी पिघल जाती है ।। ७१ ।। मनमे कषायके विद्यमान रहने पर स्थिरता कैसे सभव है ? प्रलयकालके पवन द्वारा उडाये गये तृण स्थिरताको कहा पा सकते है ।। ७२ ।। जिन्होने अक्षय केवलज्ञानके द्वारा सर्व चर-अचर जगत्को देख लिया है, जो अनन्त बल और सुखके धारक है अमूर्त्त हैं, उपद्रव-रहित है, जिन्होने सर्व कर्मोके सम्बन्धको दूर कर दिया है, सूक्ष्म स्वरूपी हैं, नित्य है और कर्मोके आस्रवसे सर्वथा रहित है, ऐसे सिद्ध परमात्माका ध्यान करनेवाले जीवके कर्मोकी निर्जरा होती हैं ।। ७३-७४ ।। आत्माके द्वारा आत्माको ध्याता हुआ यह आत्मा निर्वृत्त होता हुआ स्वय सिद्धपरमात्मा बन जाता है । जैसे कि अपने आपसे घर्षणको प्राप्त हुआ वृक्ष अग्नि बन जाता है ।। ७५ ।। जो पुरुष देहादिकसे अपने आपको भिन्न नही देखता है, वह मुनि, लिंगमे स्थित हो करके भी इस दुस्तर ससार-समुद्रमे डूबता है ।। ७३ ।। जो अज्ञानी जीव अचेतनको चेतन मानता है, विनश्वरको अविनश्वर मानता है, परायेको अपना मानता है, दुःखके कारणको सुखदायी मानता है और शरीर-रागादि अनेक विभिन्न पदार्थोको एक मानता है, वह जन्म-जरा, मरणरूप भंवर वाले ससार-समुद्रमें चिरकाल तक परिभ्रमण करता है ।। ७७-७८ ।। इसलिए शरीरके भारसे मुक्ति पानेके लिए ज्ञानी जनोको तरकस से बाणके समान देहसे आत्माकी भिन्नता-का चिन्तवन करना चाहिए ।। ७९ ।। देहमे जो आत्माके एकत्वकी बुद्धि है, वह ससार मे डुबाती है और देहसे आत्माके भिन्नत्वकी जो बुद्धि है, वह निर्वाणको प्राप्त कराती है ।। ८० ।।

जो जीव शरीर और आत्मामे सर्वथा एकपना मानते हैं, उनके विष्टा और माणिकमे भिन्नपनेकी बुद्धि कैसे हो सकती है ? **भावार्थ**–आत्मा तो माणिक रत्नके समान पवित्र है और शरीर विष्टाके समान अपवित्र है । जो विष्टामे पडे रत्नके समान शरीरमे अवरुद्ध चेतन आत्मा-रामको एक माने, उन मिथ्या दृष्टि जीवोका कल्याण कहाँ सभव है ।। ८१ ।। जैसे नेत्रका विषय

देहचेतनयोर्भेदो भिन्नज्ञानोपलब्धित. । सर्वदा विदुषा ज्ञेयश्चक्षुःघ्राणार्थयोरिव ।। ८२
न यस्य हानितो हानिर्न वृद्धिर्वृद्धितो भवेत् । जीवस्य सह देहेन तेनैकत्वं कुतस्तनम् ।। ८३
तत्त्वतः सह देहेन यस्य नानात्वमात्मन. । किं देहयोगजैस्तस्य सहैकत्वं सुतादिभि ।। ८३
ममत्वधिषणा येषां पुत्रमित्रादिगोचरा । साऽऽत्मरूपपरिच्छेदच्छेदिनी मोहकल्पिता ।। ८५
पत्तनं काननं सौधमेषाऽनात्मधियां मतिः । निवासो दृष्टत्त्वानामात्मैवास्त्यक्षयोऽमलः ।। ८६

शुद्धस्य जीवस्य निरस्तमूर्त्ते सर्वे विकारा परकर्मजन्या. ।
मेघादिजन्या इव तिग्मरश्मेर्विनश्वराः संति विभास्वरस्य ।। ८७
दृष्टात्मतत्त्वो द्रविणादिलक्ष्मीं न मन्यते कर्मभवां स्वकीयाम् ।
विपक्षलक्ष्मीं भुवने विवेकी प्रपद्यते चेतसि क स्वकीयाम् ।। ८८
ज्ञानदर्शनमय निरामय मृत्युसंभवविकारवर्जितम् ।
आमनन्ति सुधियोऽत्र चेतनं सूक्ष्ममव्ययमपास्तकल्मषम् ।। ८९
विग्रह कृमिनिकायसकुल दु खदं हृदि विचिंतयति ये ।
गुप्तिबद्धमिव ते सचेतन मोचयन्ति तनुयन्त्रमन्त्रितम् ।। ९०
स्थित्वा प्रदेशे विगतोपसर्गे पर्यंकबधस्थितपाणिपद्मः
नासाग्रसंस्थापितदृष्टिपातो मन्दीकृतोच्छ्वासविवृद्धवेग. ।। ९१

रूप और घ्राणका विषय गन्ध ये दोनो भिन्न-भिन्न है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न ज्ञानकी उपलब्धि होनेसे शरीर और चेतन आत्माका भेद भी विद्वान्को सदा ही जानना चाहिए ।। ८२ ।। जिस शरीरकी हानिसे जीवकी कोई हानि नही होती और जिस शरीरकी वृद्धिसे जीवकी कोई वृद्धि नही होती है, उस जीवका देहके साथ एकपना कैसे हो सकता है ।। ८३ ।। तात्त्विकरूपसे जिस आत्माका देहके साथ भिन्नपना है, उसका देहके सयोगसे उत्पन्न हुए पुत्रादिके साथ एकपना कैसे हो सकता है ।। ८४ ।। जिन जीवोके पुत्र-मित्रादि-विषयक ममत्व बुद्धि लग रही है, वह मोहकर्म-कल्पित है और आत्माके ज्ञानस्वरूपको छेदने वाली है ।। ८५ ।। मेरा निवास नगर है, वन है और भवन है, ऐसी बुद्धि आत्म-ज्ञानसे रहित मिथ्यादृष्टि जीवोके होती है । किन्तु जिन्होने वस्तु-स्वरूपको जाना है, ऐसे आत्मदर्शी ज्ञानियोका निवास तो अक्षय निर्मल आत्मा ही है ।। ८६ ।। अमूर्त्त शुद्ध जीवके राग-द्वेषादि सभी विकार भाव कर्मोदय-जनित है। जैसे कि प्रकाशमान सूर्यके मेघादि-जनित विनश्वर विभाव देखे जाते हैं ।। ८७ ।। जिन पुरुषने आत्मतत्त्वको जाना है, वह कर्म-जनित धनादिसम्पदाको अपनी नही मानता है । लोकमे एसा कौन विवेकी पुरुष है जो अपने शत्रुकी लक्ष्मीको मनमे अपनी समझता हो ।। ८८ ।। ज्ञानीजन तो जन्म मरण आदि विकरोसे रहित, निरामय, सूक्ष्म, अव्यय और कर्ममल रहित ज्ञान दर्शनमयी शुद्ध चेतनको ही अपना मानते है ।। ८९ ।। जो ज्ञानी पुरुष अपने मनमे शरीरको कृमिजालसे भरा हुआ और दुखोका देनेवाला चिन्तवन करते है, वे शरीररूप यन्त्रसे बधे हुए सचेतन आत्मारामको गुप्त बन्धनसे बंधे हुए किसी पुरुषके समान छुडाते हैं ।। ९० ।।

मनीषी पुरुषी उपसर्ग-रहित किसी एकान्त प्रदेशमे जा कर, पद्मासनसे बैठकर, हस्त कमल-को उस पर रख कर, अपनी दृष्टिको नासाके अग्रभाग पर स्थापित कर, श्वासोच्छ्वासके बढे हुए वेगको मन्द कर, चचल स्वभाववाले मनको वशमे कर, इन्द्रियोंकी विषय-प्रवृत्तिको जीतकर और

विधाय वश्यं चपलस्वभावं मनो मनीषी विजिताक्षवृत्तिः ।
विमुक्तये ध्यायति ध्वस्तदोषं विविक्तमात्मानमनन्यचित्तः ॥ ९२
अभ्यस्यतो ध्यानमनन्यवृत्तेरित्थं विधानेन निरन्तरायम् ।
व्यपैति पापं भवकोटिबद्धं महाशमस्येव कषायजालम् ॥ ९३
ध्यानं पटिष्ठेन विधीयमानं कर्माणि भस्मीकुरुते विशुद्धम् ।
किं प्रेर्यमाणः पवनेन नाग्निश्चिलानि सद्यो दहतींधनानि ॥ ९४
त्यागेन हीनस्य कुतोऽस्ति कीर्ति. सत्येन हीनस्य कुतोऽस्ति पूजा ।
न्यायेन हीनस्य कुतोऽस्ति लक्ष्मी ध्यानेन हीनस्य कुतोऽस्ति सिद्धि ॥ ९५
तपांसि रौद्राण्यनिशं विधत्तां शास्त्राण्यधीतामखिलानि नित्यम् ।
धत्तां चरित्राणि निरस्ततन्द्रो न सिध्यति ध्यानमृते तथापि । ९६
ध्यानं यद्दह्राय ददाति सिद्धि न तस्य खेद परशर्मदाने ।
क्षयानलं हन्ति यदभ्रवृन्दं न तस्य खेदः परवह्निघाते । ९७
तपोऽन्तरानन्तरभेदभिन्ने तपोविधाने द्विविधे कदाचित् ।
समस्तकर्मक्षपणे समर्थ ध्यानेन शुद्धेन समं न दृष्टम् ॥ ९८
ध्यानस्य दृष्ट्-वेति फलं विशालं मुमुक्षुणाऽऽलस्यमपास्य कार्यम् ।
कार्ये प्रमाद्यति न शक्तिमन्तो विलोकमानाः फलभूरिलाभम् ॥ ९९
तपोविधानैर्बहुजन्मलक्षैर्यो दह्यते संचितकर्मराशिः ।
क्षणेन स ध्यानहुताशनेन प्रवर्त्तमानेन विनिर्मलेन ॥ १००

एकाग्रचित्त होकर सर्व दोष-रहित अपनी एक मात्र निर्मल आत्माका ध्यान करता है ॥ ९१-९२ ॥ इस प्रकार पूर्वोक्त विधान से निरन्तराय ध्यानका अभ्यास करनेवाले एकाग्रचित्त पुरुषके कोटि भवोके बँधे पाप नष्ट हो जाते है जैसे कि महान् प्रशमभावके धारकके कषायोंका समूह नष्ट हो जाता है ॥ ९३ ॥ चतुर ज्ञानी पुरुषके द्वारा किया गया निर्मल ध्यान कर्मोको भस्म कर देता है। पवनके द्वारा प्रेरणाको प्राप्त अग्नि सञ्चित ईंधनको क्या शीघ्र नही जला देती है ॥ ९४ ॥ दानसे हीन पुरुषकी कीर्ति कैसे सभव है ? सत्यसे रहित मनुष्यकी पूजा कैसे हो सकती है ? न्यायसे रहित पुरुषको लक्ष्मी कैसे प्राप्त हो सकती है और ध्यानसे रहित पुरुषको सिद्धि (मुक्ति) कैसे मिल सकती है ? अर्थात् नही मिल सकती है ॥ ९५ ॥ भले ही कोई पुरुष निरन्तर भयंकर तपोंको करे, भले ही कोई सदा समस्त शास्त्रोको पढ और भले ही कोई मनुष्य आलस्य-रहित होकर चरित्र धारण करे, तथापि ध्यानके विना वह सिद्धि को नही पाता है। अर्थात् सभी धर्म-कार्योमे ध्यान प्रधान है ॥ ९६ ॥ जो ध्यान शीघ्र सिद्धिको प्रधान करता है, अर्थात् परम अतीन्द्रिय शिव--सुखको देता है, उसको इद्रियज सांसारिक सुखके देनेमें क्या खेद हो सकता है ? जो मेघ-समूह प्रलयाग्निका नाश करता है, उसे अन्य अग्निके बुझानेमे कोई खेद नही होता है ॥ ९७ ॥ अन्तरंग और बाह्य तपके भेदसे भिन्न दो प्रकारके तपोविधानमे समस्त कर्मोके क्षय करनेमे समर्थ शुद्धध्यानकेसमान अन्य तप नही देखा गया है ॥ ९८ ॥ इस प्रकार ध्यानके विशाल फलको देखकर मुमुक्षु पुरुषको आलस्य छोडकर ध्यान करना चाहिए क्योकि शक्तिशाली पुरुष भारी फलका लाभ देखते हुए अपने अभीष्ट कार्यमें प्रमाद नही करते है ॥ ९९ ॥ अनेकों लाखो जन्मोंमे किये गये नाना प्रकरके

निर्वाणहेतौ[1] भवपातभीतैर्ध्यानि प्रयत्नः परमो विधेयः ।
यियासुभिर्मुक्तिपुरीमबाधामुपायहीना न हि साध्यसिद्धिः ॥ १०१
देहात्मनोरात्मवता वियोगो मनः स्थिरीकृत्य तथा विचिन्त्यः ।
हेतुर्भवानर्थपरम्परायाः स्वप्नेऽपि योगो न यथाऽस्ति भूयः ॥ १०२
निरस्तसर्वेन्द्रियकार्यजालो यो देहकार्यं न करोति किंचित् ।
स्वात्मीयकार्योद्यतचित्तवृत्ति स ध्यानकार्यं विदधाति धन्य ॥ १०३
यद्धिडमानं जगदन्तराले धर्तुं न शक्यं मनुजामरेन्द्रैः
तन्मानसं यो विदधाति वश्यं ध्यानं स धीरो विदधात्यवश्यम् ॥ १०४
बाणैः समं पंचभिरुग्रवेगैर्विद्धस्त्रिलोकस्थितजीववर्गः ।
न मन्मथस्तिष्ठति यस्य चित्ते विनिश्चलस्तिष्ठति तस्य योगः ॥ १०५
न रोषो न तोषो न मोषो न दोषो न कामो न कम्पो न दामो न लोभः ।
न मानो न माया न खेदो न मोहो यदीयेऽस्ति चित्ते तदीयेऽस्ति योगः ॥ १०६
प्रवर्द्धमानोद्धतसेवनायां जीवस्य गुप्ताविव मन्यते यः ।
शरीरकुट्यां वसति महात्मा हानाय तस्या यतते स शीघ्रम् ॥ १०७

उपवासादि तपोके द्वारा जितनी सचित कर्मराशि जलाई जाती है, उतनी कर्मराशि अति निर्मलता पूर्वक किये गये ध्यानरूप हुताशनके द्वारा क्षणभरमें जला दी जाती है ॥१००॥ इसलिए जो ससारमें पडनेसे भयभीत पुरुष है, और बाधारहित मुक्तिपुरीको जानेके इच्छुक है, उन्हे निर्वाणके कारण-भूत ध्यानमे परम प्रयत्न करना चाहिये। क्योकि उपायके विना अभीष्ट साध्यकी सिद्धी नही होती है ॥१०१॥ आत्मज्ञानी पुरुषको मन स्थिर करके देह और आत्माकी विभिन्नता का इस प्रकारसे चिन्त-वन करना चाहिए, कि संसारके अनर्थोकी परम्पराका कारणभूत इस देहका सयोग आगे फिर स्वप्नमें भी कभी नही होवे ॥१०२॥ जो पुरुष सर्व इन्द्रियोके विषयभूत कार्यसमूहको दूर करके देहके कुछ भी कार्यको नही करता है और अपने आत्मीय कार्यके करनेमें उद्यत चित्तवृत्ति होकर ध्यानके कार्यको करता है, वह पुरुष धन्य है ॥१०३॥

जगत्के अन्तरालमे डोलता हुआ जो मन नरेन्द्र, देवेन्द्र और अहमिन्द्रोके द्वारा भी वशमें करनेके लिए शक्य नही है,उस मनको जो अपने वशमे कर लेता है,वह धीर-वीर पुरुष अवश्य ध्यानको करने मे समर्थ होता है ॥१०४॥ अपने उग्र पच बाणोसे जिस कामदेवने त्रिलोकमे स्थित समस्त प्राणिवर्गको विद्ध कर रक्खा है, वह कामदेव जिसके मनमे नही रहता है, उसका ध्यानरूप योग निश्चल रह सकता है ॥१०५॥ जिसके चित्तमें न द्वेष है, न राग है, न चोरीका भाव है, न अन्याय आदि कोई दोष है, न कामभाव है, न कम्पन है, न दम्भ है, न लोभ है, न मान है, न माया है, न खेद है और न मोह है; उसी पुरुषके चिन्तमे ध्यान हो सकता है ॥१०६। जो महान् आत्मा दु ख रूप उद्धत परिणतिसे प्रवर्धमान इस शरीररूपी कुटीमें अवस्थित जीवको कारागारमे निबद्ध पुरुषके समान मानता है, वही पुरुष उस शरीररूप कुटीके विनाशके लिए शीघ्र प्रयत्न करता है ॥१०७॥ जो पुरुष समाधिके विध्वस करनेमे अतिकुशल ऐसे लोक-व्यवहाररूप जालको कभी भी नही करता है, और जिसकी चित्तवृत्ति सर्व सांसारिक कार्योंसे निस्पृह है उसी पुरुषके

---

१. मु०-हेतोर्भव-।

समाधिविध्वंसविधौ पटिष्टं न जातु लोकव्यवहारपाशम ।
करोति यो निस्पृहचित्तवृत्ति प्रवर्तते ध्यानममुष्य शुद्धम् १०८
विधीयते ध्यानमवेक्षमाणैर्यद्धूतबोधैरिह लोककार्यम् ।
रौद्रं तदार्त्तं च वदन्ति सन्तः कर्मद्रुमच्छेदनबद्धकांक्षाः ।। १०९
सांसारिकं सौख्यमवाप्तुकामैर्ध्यानं विधेयं न विमोक्षकारि ।
न कर्षणं सस्यविधायि लोके पलाललाभाय करोति कोऽपि ।। ११०
अभ्यस्यमानं बहुधा स्थिरत्वं यथैति दुर्बोधमपीह शास्त्रम् ।
नूनं तथा ध्यानमपीति मत्वा ध्यानं सदाऽभ्यस्यतु मोक्तु काम ।। १११
अवाप्य मानुष्यमिदं सुदुर्लभं करोति यो ध्यानमनन्यमानस ।
भनक्ति संसारदुरतपंजरं स्फुटं स सद्यो गुरुदुःखमन्दिरम् ।। ११२
यो जिनदृष्टं शमयमसहितं ध्यानमपाकृतसकलविकारः ।
ध्यायति धन्यो मुनिजनमहितं चित्तनिवेशितपरमविचार ।। ११३
नाकिनिकायस्तुतपदकमलोदीर्णदुरुत्तरभवभयदुःखाम् ।
याति स भव्योऽमितगतिरनघां मुक्तिमनश्वरनिरुपमसौख्याम् ।। ११४
यदर्थमात्रापदवाक्यहीन मया प्रमादादिह किञ्चनोक्तम् ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी सरस्वती केवलबोधलक्ष्मीम् ।। ११५

इत्यमितगति-विरचिते उपासकाचारे पञ्चदश परिच्छेद समाप्त।

निर्मल ध्यान होता है ।।१०८।। जो बोध-रहित अज्ञानी पुरुष लौकिक कार्यकी इच्छा रखते हुए ध्यान करते है, उसे कर्मरूप वृक्षको छेदनेमे कमर बाधकर उद्यत सन्त जन रौद्र और आर्त्तध्यान कहते हैं ।।१०९।। मोक्षके सुखको करनेवाला ध्यान सांसारिक सुखके पानेकी इच्छासे ज्ञानियोको नही करना जाहिए। क्योकि लोकमे धान्यको उत्पन्न करनेवाला कृषिकार्य कोई भी भूसेके लाभको लिए नही करता हैं ।।११०।। जैसे अत्यन्त कठिन भी शास्त्र निरन्तर अनेक प्रकारसे अभ्यास किये जाने पर स्थिरताको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकारसे ध्यानको भी मानकर मुक्ति पानेके इच्छुक पुरुषको निश्चयसे ध्यानका सदा अभ्यास करना चाहिए ।।१११।। इस अति दुर्लभ मनुष्यभवको पा करके जो पुरुष एकाग्र चित्त होकर ध्यानको करता है, वह भारी दुखोंके गृहरूप इस दु.खदायी संसार पिंजरको शीघ्र भेदता है ।।११२।।

जो पुरुष सकल विकारोंको दूर कर और चित्तमे परम शुद्ध विचारोको अवस्थित कर जिनेन्द्रोपदिष्ट कषायोके निरोधरूप शमभावसे और पंच पापोके त्यागरूप संयमभावसे युक्त ममि-जन-पूजित ध्यानको ध्याता है वह पुरुष धन्य है ।।११३।। परम शुक्ल ध्यानकी करनेवाला ऐसा भव्य पुरुष अमितज्ञानी होकर और देव-समूहसे पूजित चरण-कमलवाला बन कर दुरुत्तर भव-भयके दुःखोसे रहित, निर्दोष, अविनश्वर, अनुपम सुखवाली मुक्तिको प्राप्त करता है ।।११४।।

इस ग्रन्थमे मैंने प्रमादसे यदि अर्थ, मात्रा, पद और वाक्यसे हीन कुछ भी कहा हो तो सरस्वती देवी उसके लिए मुझे क्षमा करके केवलज्ञानरूप लक्ष्मी को देवें ।।११५।।

इस प्रकार अमितगति आचार्य विरचित
उपासकाध्ययनमे पन्द्रहवाँ परिच्छेद
समाप्त हुआ ।

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः

अभूत्समो यस्य न तेजसेनः स शुद्धबोधोऽजनि देवसेनः ।
मुनीश्वरो निर्जितकर्मसेनः पादारविन्दप्रणतेन्द्रसेनः ॥ १
दोषान्धकारपरिमर्दनबद्धकक्षो भूतस्ततोऽमितगतिर्भुवनप्रकाश. ।
तिग्मद्युतेरिव दिनः कमलाव बोधी मार्गप्रबोधनपरो बुधपूजनीयः ॥ २
विद्वत्समूहार्चितचित्रशिष्यः श्रीनेमिषेणोऽजनि तस्य शिष्यः ।
श्रीमाथुरानूकनभ शशाङ्कः सदा विधूताऽऽर्हततत्त्वशङ्कु. ॥ ३
माधवसेनोऽजनि महनीयः संयतनाथो जगति जनीयः ।
जीवनराशेरिव मणिराशी रम्यतमोऽस्तोखिलतिमिराशी ॥ ४
विजितनाकिनिकायमवज्ञया जयति यो मदनं पुरुविक्रमम् ।
त्यजति मा किमयं परनाशधीरिति कषायगणो विगतो यत. ॥ ५
तस्मादजायत नयादिव साधुवादः शिष्टार्चितोऽमितगतिर्जगति प्रतीतः ।
विज्ञातलौकिकहिताहितकृत्यवृत्तेराचार्यवर्यपदवीं दधत पवित्राम् ॥ ६
अयं तडित्वानिव वर्षण धनो रजोपहारी धिषणापरिष्कृतः ।
उपासकाचारमिमं महामनाः परोपकाराय महन्नतोऽकृत ॥ ७

जिनके चरणारविन्दोंमे इन्द्रोंकी सेना नम्रीभूत है, जिन्होंने कर्मोकी सेनाको जीता है और जो शुद्ध ज्ञानके धारक हैं, ऐसे देवसेन मुनिराज इस कालमें हुए । जिनके तेजको समता सूर्य भी नही कर सकता था ॥ १ ॥ उन देवसेनके शिष्य अमितगति हुए. जो कि सूर्यके समान दोषरूप अथवा दोषा (रात्रि) रूप अन्धकारके परिमर्दन करनेमे कमर कसे हुए थे, समस्त भुवनके प्रकाशक थे, भव्यरूप कमलो को प्रवुद्ध कर उन्हे सन्मार्गका ज्ञान करानेवाले थे और ज्ञानियोंके द्वारा पूजनीय थे ॥ २ ॥ उनके शिष्य श्री नेमिषेण हुए जिनके अनेक शिष्य विद्वद्वृन्दसे पूजित थे, जो श्री माथुरसम्प्रदायरूप आकाशको प्रकाशित करनेवाले चन्द्रमाके समान थे और जो सदा ही जैनमत-प्रतिपादित तत्त्वों में शंकाएं उठानेवालोका भलीभांतिसे निराकरण करते थे ॥ ३ ॥ नेमिषेण शिष्य माधवसेन हुए, जो कि महान् पूज्य थे, साधुओके स्वामी थे, और जगज्जनोंके परम हितैषी थे । जैसे जल-राशि (समुद्र) से अतिरमणीय मणिराशि उत्पन्न होती है और जैसे क्षीरसागरसे सर्वलोकका अन्धकारनाशक चन्द्रमा प्रकट हुआ माना जाता है, उसी प्रकार श्री नेमिषेणसे उनके शिष्य माधवसेन प्रकट हुए ॥४॥ जिसने देव-समूहके जीतनेवाले कामदेवको भी तिरस्कार करके जीत लिया है, जो महान् पराक्रमी है पर(शत्रु)पक्षके नाश करनेमें जिसकी वुद्धि लग रही है ऐसा माधवसेन मुझे क्यो छोडेगा, यह सोचकर ही मानों कपायोका समूह उनसे दूर भाग गया । अर्थात् वे माधवसेन काम-जयी और कपायरहित थे ॥ ५ ॥ जैसे न्यायनीतिसे साधुवाद प्रकट होता है, उसी प्रकार लौकिक हित-अहितरूप कर्तव्योके ज्ञाता, और पवित्र आचार्य पदवीके धारक उन माधवसेनसे शिष्टजनों के द्वारा पूजित और जगत्मे प्रसिद्ध मे अमितगति हुआ ॥ ६ ॥ जैसे विजली-युक्त मेघ जलकी वर्षा करके जगत्की रजको दूर करता है, उसी प्रकार वुद्धिसे परिष्कृत, महामना और महोदयवाले इस अमितगतिने भव्य जीवोंके उपकारके लिए इस उपासकाचार (श्रावकाचार) को वनाया ॥ ७ ॥ इस ग्रन्थमें जो सिद्धान्त-विरुद्ध कहा गया है, वह ज्ञानीजनोको सशोधन करके

यदत्र सिद्धान्तविरोधि भाषितं विशोध्य सद्ग्राह्यमिमं मनीषिभिः ।
पलालमत्यस्य न सारकांक्षिभिः किमत्र शालिः परिगृह्यते जनैः ॥ ८ ॥
यावत्तिष्ठति शासनं जिनपतेः पापापहारोद्यतं यावद् ध्वंसयते हिमेतररुचिर्विश्व तमः शार्वरम् ।
यावद् धारयते मही प्रवचित वातत्रयी विष्टपं तावच्छास्त्रमिदं करोतु विदुषाम्यस्यस्यमानं मुदम् ॥९

ग्रहण करना चाहिए । जैसे कि धान्यरूप सारके इच्छुक पुरुष इस लोकमें भूसेको छोडकर क्या शालिको ग्रहण नहीं करते है ? करते ही है ॥ ८ ॥

ग्रन्थकार की अन्तिम मंगल-कामना

जब तक पापोंके दूर करनेमें उद्यत यह जिनेन्द्रदेवका जैन शासन संसारमे विद्यमान रहे, जब तक उष्ण किरणवाला यह सूर्य रात्रिकालीन अन्धकारका नाश करता रहे, और जबतक तीनो वातवलय पर्वतोंमें व्याप्त इस विश्वको धारण करते रहे, तब तक पठन-पाठन रूपसे अभ्यास किया जाता हुआ यह उपासकाचार-शास्त्र विद्वानोके आनन्दको करता रहे ॥ ९ ॥

○

सिरि वसुणंदि आइरियविरइय

वसुनन्दि-श्रावकाचार

सुरवइतिरीडमणिकिरणवारिधाराहिसित्तपयकमलं[1] ।वरसयलविमलकेवलपयासियासेसतच्चत्थं॥१
सायारो णायारो भवियाणं जेण[2] देसिओ धम्मो । णमिऊण तं जिणिदं सावयधम्मं परूवेमो॥२
विउलगिरि[3]पव्वए णं इंदभूइणा सेणियस्स यह सिट्ठं । तह गुरुपरिवाडीए भणिज्जमाणं णिसामेह ॥३
दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सचित्त-राइ[4]भत्ते य बंभारंभ-परिग्गह-अणुमण-उद्दिट्ठ-देसविरयम्मि ॥४
एयारस ठाणाइं सम्मत्तविवज्जियस्स जीवस्स । जम्हा ण संति तम्हा सम्मत्तं सुणह वोच्छामि ॥५
अत्तागमतच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ । संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं ॥६
अत्ता दोसविमुक्को पुव्वापरदोसवज्जियं वयणं । तच्चाइं जीवदव्वाइ[5]याइं समयम्हि णेयाणि ॥७

छुह-तण्हा[6] भय-दोसो राओ मोहो जरा रुजा चिंता
मिच्चू[7] खेओ सेओ अरइ मओ विम्हओ जम्मं ॥८

णिद्दा तहा विसाओ दोसा एएहिं वज्जिओ अत्ता । वयणं तस्स पमाणं [8]संतत्थपरूवयं जम्हा ॥९

देवेन्द्रोंके मुकुटोंमे लगी हुई मणियोकी किरणरूपी जलधारासे जिनके चरण-कमल अभिषिक्त हैं, जो सर्वोत्कृष्ट निर्मल केवलज्ञानके द्वारा समस्त तत्त्वार्थको प्रकाशित करनेवाले हैं और जिन्होने भव्य जीवोके लिए श्रावकधर्म और मुनिधर्मका उपदेश दिया है, ऐसे श्री जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके हम (वसुनन्दि) श्रावकधर्मका प्ररूपण करते हैं॥ १-२॥ विपुलाचल पर्वतपर (भगवान् महावीरके समवसरणमें) इन्द्रभूति नामक गौतम गणधरने बिम्बसार नामक श्रेणिक महाराजको जिस प्रकारसे श्रावकधर्मका उपदेश दिया है उसी प्रकार गुरु-परम्परासे प्राप्त वक्ष्यमाण श्रावकधर्मको, हे भव्य जीवो, तुम लोग सुनो । ३ ॥ देशविरति नामक पंचम गुणस्थानमे दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग, ये ग्यारह स्थान (प्रतिमा, कक्षा या श्रेणी-विभाग) होते हैं ॥ ४ ॥ उपर्युक्त ग्यारह स्थान यत: (चूंकि) सम्यक्त्वसे रहित जीवके नही होते हैं, अत. (इसलिए) मै सम्यक्त्वका वर्णन करता हूँ, सो हे भव्य जीवो, तुम लोग सुनो ॥५ ॥ आप्त (सत्यार्थ देव) आगम (शास्त्र) और तत्त्वोका शंकादि (पच्चीस) दोष-रहित जो अतिनिर्मल श्रद्धान होता है, उसे सम्यक्त्व जानना चाहिए ॥६॥ आगे कहे जानेवाले सर्व दोषोसे विमुक्त पुरुषको आप्त कहते हैं । पूर्वापर दोषसे रहित (आप्तके) वचनको आगम कहते हैं और जीवद्रव्य आदिक तत्त्व हैं । इन्हे समय अर्थात् परमागमसे जानना चाहिए ॥ ७ ॥ क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, जरा, रोग, चिन्ता, मृत्यु, खेद स्वेद (पसीना), अरति, मद, विस्मय, जन्म निद्रा और विषाद, ये अट्ठारह दोष कहलाते हैं, जो आत्मा इन दोषोमे रहित है, वही आप्त कहलाता है । तथा उसी आप्तके वचन प्रमाण हैं, क्योंकि वे विद्यमान अर्थके

---

१ ध. जुअलं । २ द. जिणेण । ३ झ द इरि । ४ द. ध. राय । ५ ध दिवाइ । ६ ध. तम्हा । ७ द. मच्चुस्सेओखेओ । ८ ध. सुत्तत्थ ।

जीवाजीवासव-बंध-संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो। एयाइं सत्त तच्चाइं सद्दहंतस्स[1] सम्मत्तं ॥१०

जीवतत्त्व-वर्णन

सिद्धा संसारत्था दुविहा जीवा जिणेहिं पण्णत्ता। असरीरा णंतचउट्टय[2] ण्णिया णिव्वुदा सिद्धा ॥११
संसारत्था दुविहा थावर-तसभेयओ[3] मुणेयव्वा। पंचविह थावरा खिदिजलग्गिवाऊवणप्फइणो ॥१२
पज्जत्तापज्जत्ता बायर-सुहुमा णिगोद णिच्चियरा। पत्तेय-[4]पइट्ठियरा थावरकाया अणेयविहा॥१३
वि-ति-चउ-पंचिंदियभेयओ तसा चउव्विहा मुणेयव्वा।
पज्जत्तियरा सण्णियरभेयओ हुंति बहुभेया ॥१४
आउ-कुल-जोणि-मग्गण-गुण-जीवुवओग[5]पाण-सण्णाहिं। णाऊण जीवदव्वं सद्दहणं होइ कायव्वं। १५

अजीवतत्त्व-वर्णन

दुविहा अजीवकाया उ रूविणो[6] अरूविणो मुणेयव्वा।
खंधा देस-पएसा अविभागी रूविणो चदुधा ॥१६
सयलं मुणेहि[7] खंधं अद्धं देसो पएसमद्धद्धं। परमाणू अविभागी पुग्गलदव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥१७
पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय-कम्म-परमाणू। अइथूलथूलं सुहुमं सुहुमं च[8] अइसुहुमं[9] ॥१८

प्ररूपक है ॥ ८-९ ॥ जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष, ये सात तत्त्व कहलाते हैं और उनका श्रद्धान करना सम्यक्त्त कहलाता है ॥ १० ॥ सिद्ध और ससारी, ये दो प्रकारके जीव जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहे हैं। जो शरीर-रहित है, अनन्त-चतुष्टय अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यसे संयुक्त है तथा जन्म-मरणादिकसे निर्वृत्त है, उन्हे सिद्ध जीव जानना चाहिए ॥ ११ ॥ स्थावर और त्रसके भेदसे संसारी जीव दो प्रकारके जानना चाहिए। इनमे स्थावर जीव पाँच प्रकारके है—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ॥ १२॥ पर्याप्त-अपार्याप्त, बादर-सूक्ष्म, नित्यनिगोद-इतरनिगोद, प्रतिष्ठितप्रत्येक और अप्रतिष्ठितप्रत्येकके भेदसे स्थावरकायिक जीव अनेक प्रकारके होते है ॥१३॥ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रियके भेदसे त्रसकायिक जीव चार प्रकारके जानना चाहिए। ये ही त्रस जीव पर्याप्त-अपर्याप्त और सज्ञी-असज्ञी आदिक प्रभेदोसे अनेक प्रकारके होते है ॥१४॥ आयु, कुल, योनि, मार्गणास्थान, गुणस्थान, जीवसमास, उपयोग, प्राण और संज्ञाके द्वारा जीवद्रव्यको जानकर उसका श्रद्धान करना चाहिए ॥१५॥ (विशेष अर्थके लिए परिशिष्ट देखिये) अजीवद्रव्यको रूपी और अरूपीके भेदसे दो प्रकारका जानना चाहिए। इनमे रूपी अजीवद्रव्य स्खध, देश, प्रदेश और अविभागीके भेदसे चार प्रकारका होता है। सकल पुद्गलद्रव्यको स्कंध, स्कंधका आधे भागको देश, आधेके आधेको अर्थात् देशके आधेको प्रदेश और अविभागी अशको परमाणु जानना चादिए, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है ॥१६-१७॥ अतिस्थूल (बादर-ब दर), स्थूल (बादर), स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म और सूक्ष-सूक्ष्म, इस प्रकार पृथिवी आदिकके छ भेद होते हैं ॥ (इन छहोके दृष्टान्त इस प्रकार है—पृथिवी अतिस्थूल पुद्गल है। जल स्थूल है। छाया स्थूल-सूक्ष्म है। चार इन्द्रियोके

---

१ ध॰ सद्दहण। २ ध -टृठयणिया। ३ ध भेददो। ४ झ॰ ध॰ पयट्ठियरा। ५ द॰ ओय। ६ ध॰ रूविणोऽरूविणो। ७॰ द॰ ध॰ मुणेहि। ८॰ चकारात् 'सुहुमथूल' ग्राह्यम्। ९ मुद्रित पुस्तकमें इस गाथाके स्थानपर निम्न दो गाथाए पाई जाती हैं—

चउविहमरूविदव्व धम्माधम्मंबराणि कालो य । गइ-ठाणुग्गहणलक्खणाणि तह वट्टण[1] गुणो य ।।१९
परमत्थो ववहारो दुविहो कालो जिणेहि पणत्तो । लोयायासपएसट्ठियाणवो मुक्खकालस्स ।। २०
गोणसमयस्स[2] एए कारणभूया जिणेहि णिद्दिट्ठा । तीदागणादभूओ ववहारो णंतसमओ य ।। २१
परिणामि-जीव-मुत्ताइएहि णाऊण दव्वसब्भावं । जिणवयणमणुसरंतेहि थिरमइ होइ कायव्वा ।। २२

परिणामि जीव मुत्तं सपएसं एयखित्त किरिया य ।
णिच्चं कारणकत्ता सव्वगदमियरम्हि अपवेसो ।। २३
दुण्णि य एयं एयं पंच य तिय एय दुण्णि चउरो य ।
पंच य एयं एयं मूलस्स य उत्तरे णेयं ।। २४
सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा ।
वंजणपज्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था । २५

विषय अर्थात् स्पर्श, रस, गंध और शब्द सूक्ष्म-स्थूल है । कर्म सूक्ष्म हैं और परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म है । ।। १८ ।। धर्मास्तिकाय. अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये चार प्रकारके अरूपी अजीवद्रव्य हैं । इनमे आदिके तीन क्रमश. गतिलक्षण, स्थितिलक्षण और अवगाहनलक्षणवाले हैं तथा काल वर्तनालक्षण है ।। १९ ।। जिनेन्द्र भगवान्ने कालद्रव्य दो प्रकारका कहा है--परमार्थकाल और व्यवहारकाल । मुख्यकालके अणु लोकाकाशके प्रदेशोंपर स्थित है । इन कालाणुओंको व्यवहारकालका कारणभूत जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है व्यवहारकाल अतीत और अनागत-स्वरूप अनन्त समयवाला कहा गया है ।। २०-२१ ।। परिणामित्व, जीवत्व और मूर्त्तत्वके द्वारा द्रव्यके सद्भावको जानकर जिन भगवान्के वचनोका अनुसरण करते हुए भव्य जीवोंको अपनी बुद्धि स्थिर करना चाहिए ।। २२ ।। उपर्युक्त छह द्रव्योंमेसे जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी है । एक जीवद्रव्य चेतन है और सब द्रव्य अचेतन हैं । एक पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है और सब द्रव्य अमूर्त्तिक है । जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश ये पाँच द्रव्य प्रदेशयुक्त हैं, इसीलिए बहुप्रदेशी या अस्तिकाय कहलाते है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और आकाश, ये तीन द्रव्य एक-एक (और एक क्षेत्रावगाही) हैं । एक आकाशद्रव्य क्षेत्रवान् है, अर्थात् अन्य द्रव्योको क्षेत्र (अवकाश) देता है । जीव और पुद्गल, ये दो द्रव्य क्रियावान् हैं धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये चार द्रव्य नित्य है, (क्योंकि, इनमे व्यंजनपर्याय नही है ।) पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये पांच द्रव्य कारणरूप है । एक जीवद्रव्य कर्त्ता है । एक आकाश, द्रव्य सर्वव्यापी है । ये छहों द्रव्य एक क्षेत्रमें रहनेवाले है, तथापि एक द्रव्यका दूसरेमे प्रवेश नही है । इस प्रकार छहों मूलद्रव्योके उपर्युक्त उत्तर गुण जानना चाहिए ।। २३-२४ ।। पर्यायके दो भेद है--अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय । इनमें अर्थपर्याय सूक्ष्म है, अवाय (ज्ञान) विषयक है अतः

अइथूलथूलथूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं च सुहुमसुहुमं धराइयं होई छब्भेयं ।। १८
पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्मपरमाणू ।
छव्विहभेय भणियं पुग्गलदव्वं जिणिदेहि ।। १९

ये दोनो गाथाएं गो० जीवकांडमें क्रमश ६०२ और ६०१ न० पर कुछ शब्दभेदके साथ पाई जाती है । [1] झ ध. वत्तण० । [2] व्यवहारकालस्य ।

परिणामजुदो जीवो गइगमणुवलंभओ असंदेहो ।
तह पुग्गलो य पाहणपहुइ-परिणामदंसणा णाउं ।। २६ ।।
वंजणपरिणइविरहा धम्मादीआ हवे अपरिणामा ।
अत्थपरिणाममासिय सव्वे परिणामिणो अत्था ।। २७ ।।
जीवो हु जीवदव्वं एक्कं चिय चेयणाचुया सेसा ।
मुत्तं पुग्गलदव्वं रूवादिविलोयणा ण सेसाणि ।। २८ ।।
सपएस पंच कालं मुत्तूण पएससंचया णेया । अपएसो खलु कालो पएसबंधच्चुदो जम्हा ।। २९
धम्माधम्मागासा एगसरूवा पएसअविओगा । ववहारकाल-पुग्गल-जीवा हु अणेयरूवा ते ।। ३०
आगासमेव खित्तं अवगाहणलक्खणं जदो भणियं । सेसाणि पुणोऽखित्तं अवगाहणलक्खणाभावा ।। ३१
[1]सक्किरिय जीव-पुग्गल गमणागमणाइ-किरियउवलंभा ।
सेसाणि पुण वियाणसु किरियाहीणाणि तदभावा ।। ३२
मुत्ता[2] जीवं कायं णिच्चा सेसा पयासिया समये । वंजणपरिणामचुया इयरे तं परिणय पत्ता ३३

शब्दसे नही कही जा सकती है और क्षण-क्षणमे बदलती है । किन्तु व्यजनपर्याय स्थूल है, शब्द-गोचर हैं अर्थात् शब्दसे कही जा सकती है और चिरस्थायी हैं ।। २५ ।। जीव परिणामयुक्त अर्थात् परिणामी है, क्योकि उसका स्वर्ग, नरक आदि गतियोंमे निःसन्देह गमन पाया जाता है । इसी प्रकार पाषाण, मिट्टी आदि स्थूल पर्यायोंके परिणमन देखे जानेसे पुद्गलको परिणामी जानना चाहिए ।। २६ ।। धर्मादिक अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये चार द्रव्य व्यंजनपर्यायके अभावसे अपरिणामी कहलाते है । किन्तु अर्थपर्यायकी अपेक्षा सभी पदार्थ परिणामी माने जाते है, क्योकि अर्थपर्याय सभी द्रव्योंमे होती हैं ।। २७ ।। एक जीवद्रव्य ही जीवत्व धर्मसे युक्त है, और शेष सभी द्रव्य चेतनासे रहित है । एक पुद्गलद्रव्य ही मूर्त्तिक है, क्योकि, उसीमे ही रूप, रसादिक देखे जाते है । शेष समस्त द्रव्य अमूर्तिक है, क्योकि, उनमे रूपादिक नही देखे जाते हैं ।। २८ ।।

कालद्रव्यको छोडकर शेष पाँच द्रव्य सप्रदेशी जानना चाहिए, क्योंकि उनमें प्रदेशोका संचय पाया जाता है । कालद्रव्य अप्रदेशी है, क्योकि, वह प्रदेशोके बंध या समूहसे रहित है, अर्थात् कालद्रव्यके कालाणु भिन्न-भिन्न ही रहते है ।। २९ ।। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश, ये तीनों द्रव्य एक-स्वरूप है, अर्थात् अपने स्वरूप या आकारको बदलते नही है, क्योंकि इन तीनो द्रव्योके प्रदेश परस्पर अवियुक्त हैं, अर्थात् समस्त लोकाकाशमे व्याप्त हैं । व्यवहारकाल, पुद्गल और जीव, ये तीन द्रव्य अनेकस्वरूप है, अर्थात् वे अनेक रूप धारण करते है ।।३०।। एक आकाश-द्रव्य ही क्षेत्रवान है, क्योंकि, उसका अवगाहन लक्षण कहा गया है । शेष पांच द्रव्य क्षेत्रवान् नही है, क्योंकि उनमे अवगाहन लक्षण नही पाया जाता है ।। ३१ ।। जीव और पुद्गल ये दो क्रिया-वान् हैं, क्योकि इनमे गमन, आगमन आदि क्रियाएँ पाई जाती है । शेष चार द्रव्य क्रिया-रहित है, क्योकि उनमें हलन-चलन आदि क्रियाएँ नही पाई जाती हैं ।। ३२ ।। जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्योंको छोडकर शेष चारो द्रव्योको परमागममे नित्य कहा गया है, क्योकि उनमे व्यजन-पर्याय नही पाई जाती है । जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्यो मे व्यजन-पर्याय पाई जाती है, इसलिए वे

---

१ ध ' सक्किरिया पुणु जीवा पुग्गल गमणाए ' । - २ झ मोत्तू, ब. मोत्तू ।

जीवस्सुवयारकरा कारणभूया हु पंच कायाई। जीवो सत्ता[1]भूओ सो ताणं[2] ण कारणं होई ॥ ३४
कत्ता सुहासुहाणं कम्माणं फल[3]भोयओ जम्हा। जीवो तप्फलभोया भोया सेसा ण कत्तारा[4] ॥ ३५
सव्वगदत्ता सव्वगमायासं णेव सेसगं दव्वं। अप्परिणामादीहि य बोहव्वा ते पयत्तेण ॥ ३६

[5]ताण पवेसो वि तहा णेओ अण्णेण्णमणुववेसेण।
णिय-णियभावं पि सया एगीहुंता वि ण मुयंति ॥ ३७
अण्णोण्णं पविसंता दिंता उग्गासमण्णमण्णोंसि।
मेल्लंता[6] वि य णिच्चं स-सगभावं ण वि चयसि[7] ॥ ३८

आस्रवतत्त्व-वर्णन

मिच्छत्ताविरह-कसाय-जोयहेऊहिं[8] आसवइ कम्मं।
जीवम्हि उवहिमज्झे जह सलिलं छिद्दणावाए। ३९ ❋
अरहंतभत्तियाइसु सुहोवओगेण आसवइ पुण्णं। विवरीएण दु[9] पावं जिणवरिंदेहि ॥ ४०

बधतत्त्व-वर्णन

[10]अण्णोण्णाणुपवेसो जो जीवपएसकम्मखंधाणं।
सो पयडि-ट्ठिदि-अणुभव-पएसदो चउविहो बंधो ॥ ४१ ‡

परिणामी और अनित्य हैं ॥३३॥ पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये पाँचो द्रव्य जीवका उपकार करते है, इसलिए वे कारणभूत है। किन्तु जीव सत्तास्वरूप है, इसलिए वह किसी भी द्रव्यका कारण नही होता है ॥३४॥ जीव शुभ और अशुभ कर्मोका कर्त्ता है, क्योकि वह कर्मोके फलको प्राप्त होता है और इसलिए वह कर्मफलका भोक्ता है। किन्तु शेष द्रव्य न कर्मोके कर्त्ता है और न भोक्ता ही है ॥३५॥ सर्वत्र व्यापक होनेसे आकाशको सर्वगत कहते है। शेष कोई भी द्रव्य सर्वगत नही है। इस प्रकार अपरिणामित्व आदि के द्वारा इन द्रव्योंको प्रयत्नके साथ जानना चाहिए ॥३६॥ यद्यपि ये छहो द्रव्य एक दूसरेमे प्रवेश करके एक ही क्षेत्रमे रहते हैं, तथापि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें प्रवेश नही जानना चाहिए। क्योके, ये सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाही हो करके भी अपने-अपने स्वभावको नही छोडते है ॥३७॥ कहा भी है–छहो द्रव्य परस्परमे प्रवेश करते हुए, एक दूसरेको अवकाश देते हुए और परस्पर मिलते हुए भी अपने-अपने स्वभाव को नही छोडते हैं ॥३८॥ जिस प्रकार समुद्रके भीतर छेदवाली नावमे पानी आता है, उसी प्रकार जीवये मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार कारणों के द्वारा कर्म आस्रवित होता है ॥३९॥ अरहंतभक्ति आदि पुण्यक्रियाओमे शुभोपयोगके होनेसे पुण्यका आस्रव होता है। और विपरीत अशुभोपयोग से पापका आस्रव होता है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेवने कहा है ॥४०। जीवके प्रदेश और कर्मके स्कन्धोंका परस्परमे मिलकर एकमेक होजाना बंध कहलाता है। वह बन्ध प्रकृति, स्थिति,

१ झ- ब. संतय०। २ ब ताण। ३ ब फलयभोयओ। ४ द कत्तारो, प. कत्तार। ५ ध. 'ताणि', प 'णाण'। ६ झ उक्तं। ७ पंचास्ति० गा० ७। ८ झ –हेदूहि। ९ ब. उ। १० ध अण्णुण्णा।

❋ मिथ्यात्वादिचतुष्केन जिनपूजादिना च यत्।
कर्माशुभं शुभ जीवमास्पन्दे स्यात्स आस्रव. ॥१६ —गुण० श्राव०

‡ स्यादन्योऽन्यप्रदेशाना प्रवेशो जीवकर्मणो।
स बन्ध. प्रकृतिस्थित्यनुभावादिस्वभावक ॥

संवरतत्त्व-वर्णन

सम्मत्तेहिं वएहिं य कोहाइकसायणिग्गहगुणेहिं । जोगणिरोहेण तहा कम्मासवसंवरो होइ ।। ४२ ‡

निर्जरातत्त्व-वर्णन

सविवागा अविवागा दुविहा पुण णिज्जरा मुणेयव्वा ।
सव्वेसिं जीवाणं पढमा विदिया तवस्सीणं ।। ४३‡
जह रुद्धम्मि पवेसे सुस्सइ सरपाणियं रविकरेहिं ।
तह आसवे णिरुद्धे तवसा कम्मं मणेयव्वं ।। ४४

मोक्षतत्त्व-वर्णन

णिस्सेसकम्ममोक्खो मोक्खो जिणसासणे समुद्दिट्ठो ।
तम्हि कए जीवोऽयं अणुहवइ अणंतयं सोक्खं । ४५ ❋
णिद्देसं सामित्तं साहणमहियरण-ठिदि-विहाणाणि[1] ।
एएहि सव्वभावा जीवादीया मुणेयव्वा ।। ४६
सत्त वि तच्चाणि मए भणियाणि जिणागमाणुसारेण ।
एयाणि सद्दहंतो सम्माइट्ठी मुणेयव्वो ।। ४७

अनुभव (अनुभाग) और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारका होता है ।। ४१ ।। सम्यग्दर्शन, व्रत और क्रोधादि कषायोके निग्रहरूप गुणोके द्वारा तथा योग-निरोधसे कर्मो का आस्रव रुकता है अर्थात् सवर होता है ।। ४२ ।। सविपाक और अविपाकके भेदसे निर्जरा दो प्रकार की जाननी चाहिए । इनमेसे पहली सविपाक निर्जरा सब ससारी जीवोके होती है, किन्तु दूसरी अविपाक निर्जरा तपस्वी साधुओके होती है । जिस प्रकार नवीन जलका प्रवेश रुक जानेपर सरोवरका पुराना पानी सूर्यकी किरणोंसे सूख जाता है, उसी प्रकार आस्रवके रुक जानेपर सचित कर्म तपके द्वारा नष्ट हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए ।। ४३-४४ ।। समस्त कर्मों के क्षय हो जानेको जिनशासनमे मोक्ष कहा गया है । उस मोक्षके प्राप्त करनेपर यह जीव अनन्त सुखका अनुभव करता है ।। ४५ ।। निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान, इन छह अनुयोगद्वारोसे जीव आदिक सर्व पदार्थ जानना चाहिए ।। ४६ ।। (इनका विशेष परिशिष्टमे देखिये) ये सातो तत्त्व मैंने जिनागमके अनुसार कहे है । इन तत्त्वोका श्रद्धान करनेवाला-जीव सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ।। ४७ ।।

---

१ निर्देश स्वरूपाभिधानम् । स्वामित्वमाधिपत्यम् । साधनमुत्पत्तिकारणम् । अधिकरणमधिष्ठानम् । स्थिति· कालपरिच्छेद । विधान प्रकार ।

‡ सम्यक्त्वव्रतै कोपादिनिग्रहाद्योगरोधत. ।
कर्मास्रवनिरोधो य. सत्सवर स उच्यते ।। १८ ।।

‡ सविपाकाविपाकाथ निर्जरा स्याद् द्विधादिमा ।
ससारे सर्वजीवाना द्वितीया सुतपस्विनाम् ।। १९ ।। —गुण० श्राव०

❋ निर्जरा-सवराभ्या यो विश्वकर्मक्षयो भवेत् ।
स मोक्ष इह विज्ञेयो भव्यैर्ज्ञानसुखात्मक ।। २० ।। —गुण० श्राव०

सम्यक्त्व के आठ अङ्ग

णिस्संका णिक्कंखा[1] णिव्विदिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदियरणं वच्छल्ल पहावणा चेव ॥ ४८ ॥
संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरहा[2] उवसमो भत्ती । [3]वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥ ४९ ॥
पाठान्तर–पूया अवण्णजणणं[4] अरुहाईणं पयत्तेण ॥
इच्चाइगुणा बहवो सम्मत्तविसोहिकारया भणिया ।
जो उज्जमेदि एसु[5] सम्माइट्ठी जिणक्खादो ॥ ५० ॥
संकाइदोसरहिओ णिस्संकाइगुणजुयं परमं । कम्मणिज्जरणहेऊ तं सुद्धं होइ सम्मत्तं ॥ ५१ ॥

अङ्गोंमें प्रसिद्ध होनेवालोंके नाम

रायगिहे णिस्संको चोरो णामेण अंजणो भणिओ । चंपाए णिक्कंखा वणिगसुदा णंतमइणामा ॥ ५२
णिव्विदिगिच्छो राओ उद्दायणु णाम रुद्दवरणयरे । रेवइ महुरा णयरे अमूढदिट्ठी मुणेयव्वा ॥ ५३
ठिदियरणगुणपउत्तो मागहणयरम्हि वारिसेणो दु । हथणापुरम्हि णयरे वच्छल्लं विण्हुणा रइयं ॥ ५४
उवगूहणजुत्तो जिणयत्तो तामलित्तणयरीए । वज्जकुमारेण कथा पहावणा चेव महुराए* ॥ ५७

नि.शका, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, ये सम्यक्त्वके आठ अंग होते हैं ॥ ४८ ॥ सम्यग्दर्शन होनेपर संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण उत्पन्न होते है ॥ ४९ ॥ (पाठान्तरका अर्थ–अर्हन्तादिककी पूजा और गुणस्मरणपूर्वक निर्दोष स्तुति प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये ।) उपर्युक्त आदि अनेक गुण सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनेवाले कहे गये है । जो जीव इन गुणोंकी प्राप्तिमें उद्यम करता है, उसे जिनेन्द्रदेवने सम्यग्दृष्टि कहा है ॥ ५० ॥ जो शकादि दोषोसे रहित है, नि शकादि परम गुणोंसे युक्त है और कर्म-निर्जराका कारण है वह निर्मल सम्यग्दर्शन है ॥ ५१ ॥ राजगृह नगरमे अजन नामक चोर नि.शकित अगमें प्रसिद्ध कहा गया है । चम्पानगरीमे अनन्तमती नामकी वणिककीपुत्री नि कांक्षित अग मे प्रसिद्ध हुई। रुचिवर नगरमे उद्दायन नामक राजा निर्विचिकित्सा अंगमे प्रसिद्ध हुआ । मथुरानगरमे रेवती रानी अमूढदृष्टि अंगमे प्रसिद्ध जानना चाहिये । मागध-नगर (राजगृह) मे वरिषेण नामक राजकुमार स्थितिकरण गुणको प्राप्त हुआ । हस्तिनापुर नामके नगरमें विष्णुकुमार मुनिने वात्सल्य अंग प्रकट किया है । ताम्रलिप्तनगरीमें जिनदत्त सेठ उपगूहन गुणसे युक्त प्रसिद्ध हुआ है और मथुरा नगरीमे वज्रकुमारने प्रभावना अंग प्रकट किया है ॥ ५२–५५ ॥ जो जीव दृढचित्त होकर जीवादिक पदार्थो का श्रद्धान करता हुआ उपर्युक्त इन आठ गुणोंसे युक्त सम्यक्त्व को धारण करता है, वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है ॥ ५६ ॥ सम्यग्दर्शनमे विशुद्ध है बुद्धि जिसकी, ऐसा जो जीव पाँच उदुम्बरफल सहित सातों ही व्यसनोका त्याग करता

---

१ इ झ. 'णिस्संकियणिक्कंखिय' इति पाठ । २ झ. गरुहा । ३ झ ध. प. प्रतिपु गाथोत्तरार्धन्यायं पाठः 'पूया अवण्णजणणं अरुहाईण' । ४ अदोषोद्भावनम् । ५ झ. 'एदे' ।
* झ प्रतौ पाठोऽयमधिक –'अतो गाथाषट्कं भावसंग्रहग्रन्थात् । + भाव सं० गा० २८०-२८३ ।

उंबर-वड-पिप्पल-पिपरीय[1]-संधाण-तरुपसूणाइं[2] ताइं परिवज्जियव्वाइं ॥ ५८
जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि-चोर-परयारं । दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥ ५९★

द्यूतदोष-वर्णन

जूयं खेलंतस्स हु कोहो माया य माण-लोहा[3] य । एए हवंति तिव्वा पावइ पावं तदो बहुगं ॥ ६०
पावेण तेण जर-मरण-वीचिपउरम्मि दुक्खसलिलम्मि । चउगइगमणावत्तम्मि हिंडइ भवसमुद्दम्मि ६१
तत्थ वि दुक्खमणंतं छेयण-भेयण विकत्तणाईणं । पावइ सरणविरहिओ[4] जूयस्य फलेण सो जीवो ६२
ण गणेइ इट्ठमित्तं ण गुरुं ण य मायरं पियरं वा । जूवधो वुज्जाइं कुणइ अकज्जाइंबहुयाइं ॥६३
सजणे य परजणे वा देसे सव्वत्थ होइ णिल्लज्जो । माया वि ण विस्सासं वच्चइ जूयं रमंतस्स ॥ ६४
अग्गि-विस-चोर-सप्पा दुक्खं थोवं कुणंति[5] इहलोए दुक्खं जणेइ जूयं णरस्स भयसयसहस्सेसु ॥ ६५
अक्खेहि णरो रहिओ ण मुणइ सेसिंदिएहिं वेएइ । जूयंधो ण य केण वि जाणइ संपुण्णकरणो वि ॥ ६६
अलियं करेइ सव्हं जंपइ मोसं भणेइ अइदुट्ठं । पासम्मि बहिणि-मायं सिसुं पि हणेइ कोहंधो । ६७
ण य भुंजइ आहारं णिद्दं ण लहेइ रत्ति-दिण्णं ति कत्थ वि ण कुणेइ रइं अत्थइ चिंताउरो[6] णिच्चं॥६८

है, वह दर्शनश्रावक कहा गया है ॥ ५७ ॥ ऊंबर, बड, पीपल, कटूमर और पाकर फल, इन पाचो उदुम्बर फल, तथा सधानक (अचार) और वृक्षोंके फूल ये सब नित्य त्रसजीवोसे ससिक्त अर्थात् भरे हुए रहते है इसलिए इन सवका त्याग करना चाहिए ॥ ५८ ॥ जूआ, शराब, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी, परदार-सेवन, ये सातों व्यसन दुर्गति-गमनके कारणभूत पाप है ॥ ५९ ॥ जूआ खेलनेवाले पुरुषके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारो कषाय तीव्र होती हैं, जिससे जीव अधिक पापको प्राप्त होता है ॥ ६० ॥ उस पापके कारण यह जीव जन्म, जरा मरणरूपी तरगोवाले, दुःख-रूप सलिलसे भरे हुए और चतुर्गति-गमनरूप आवर्तो (भवरों) से सयुक्त ऐसे संसार-समुद्रमे परिभ्रमण करता है ॥ ६१ ॥ उस ससारमें जूआ खेलनेके फलसे यह जीव शरण-रहित होकर छेदन, भेदन, कर्त्तन आदिके अनन्त दुःखको पाता है, ॥ ६२ ॥ जूआ खेलनेसे अन्धा हुआ मनुष्य इष्ट-मित्र, को कुछ नही गिनता है, न गुरुको, न माताको और न पिताको ही कुछ समझता है, किन्तु स्वच्छन्द होकर पापमयी बहुतसे अकार्योको करता है ॥ ६३ ॥ जूआ खेलनेवाला पुरुष स्वजनमे, परजनमे, स्वदेशमे, परदेशमें, सभी जगह निर्लज्ज हो जाता है । जूआ खेलनेवाले का विश्वास उसकी माता तक भी नही करती है ॥ ६४ ॥ इस लोकमें अग्नि, विष, चोर और सर्प तो अल्प दुःख देते है, किन्तु जूआका खेलना मनुष्यके हजारो लाखो भवोंमे दुःखको उत्पन्न करता है ॥ ६५ ॥ आँखोंसे रहित मनुष्य यद्यपि देख नही सकता है, तथापि शेष इन्द्रियोंसे तो जानता है । परन्तु जूआ खेलनेमे अन्धा हुआ मनुष्य सम्पूर्ण इन्द्रियोंवाला हो करके भी किसीके द्वारा कुछ नही जानता है ॥ ६६ ॥ वह झूठी शपथ करता है, झूठ बोलता है, अति दुष्ट वचन कहता है और क्रोधान्ध होकर पासमे खडी हुई बहिन, माता और बालकको भी मारने लगता है ॥ ६७ ॥ जुआरी मनुष्य चिन्तासे न आहार करता है, न रात-दिन नीद लेता है, न कही पर-किसी-भी वस्तुसे प्रेम करता है, किन्तु

---

१ द. पपरीय । २ प सहिद्धाइ । ३ झ 'लोहो' इति पाठ । ४ व विरहिय इति पाठ । ५ ब 'करति' इति पाठ । ६ झ –'वरो' इति पाठ ।

★ द्यूतमद्यमिष वेश्याखेटचौर्यपराङ्गना ।
सप्तैव तानि पापानि व्यसनानि त्यजेत्सुधी ॥ ११४ ॥ गुण श्राव० ।

इच्चेवमाइबहवो दोसे[1] णाऊण जूयरमणम्मि । परिहरियव्वं णिच्चं दंसणगुणमुव्वहंतेण ॥ ६९

मद्यदोष-वर्णन

मज्जेण णरो अवसो कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं । इहलोए परलोएअणुहवइ अणंतयं दुक्खं ॥७०
अइलंघिओ विचिट्ठो पडेइ रत्थाययंगणे[2] मत्तो । पडियस्य सारमेया वयणं विलिहंति जिब्भाए । ७१
उच्चारं पस्सवणं तत्थेव कुणंति तो समुल्लवइ । पडिओ वि सुरा मिट्ठो पुणो वि मे देइ मूढमई ॥ ७२
जं किंचि तस्स दव्वं अजाणमाणस्स हिप्पइ परेहिं । लहिऊण किंचि सण्णं इदो तदो धावइ खलंतो ।७३
जेणज्ज मज्झ दव्वं गहियं दुट्ठेण से जमो कुद्धो । कहिं जाइ सो जिवंतो सीसं छिंदामि खग्गेण । ७४
एवं सो गज्जंतो कुविओ गंतूण मंदिरं णिययं । धित्तूण लउडि सहसा रुट्ठो भंडाइं फोडेइ ॥ ७५
णिययं पि सुयं बहिणिं अणिच्छमाणं वला विधंसेइ । जंपइ अजंणिज्जं ण विजाणइ किं प मयमत्तो॥७६
इय अवराइं बहुसो काऊण बहूणि लज्जणिज्जाणि । अणुबंधइ बहु पावं मज्जस्स वसंगदो संतो । ७७
पावेण तेण बहुसो जाइ-जरा-मरणसावयाइण्णे । पावइ अणंतदुक्खं पडिओ संसारकंतारे ॥ ७८
एवं बहुप्पयारं दोसं णाऊण[3] मज्जपाणम्मि ; मण-वयण-काय-कय-कारिदाणुमोएहिं वज्जिज्जो ॥ ७९

निरन्तर चिन्तातुर रहता है ॥ ६८ ॥ जुआ खेलनेमे उक्त अनेक भयानक दोप जान करके दर्शनगुण को धारण करनेवाले अर्थात् दर्शन प्रतिमायुक्त उत्तम पुरुषको जूआका नित्य ही त्याग करना चाहिए ॥ ६९ ॥ मद्य-पानसे मनुष्य उन्मत्त होकर अनेक निंदनीय कार्योको करता है, और इसीलिए इस लोक तथा परलोकमे अनन्त दु.खो को भोगता है ॥ ७० ॥ मद्यपायी उन्मत्त मनुष्य लोक-मर्यादाका उल्लंघन कर वेसुध होकर रथ्यांगण (चौराहे) मे गिर पडता है और इस प्रकार पडे हुए उसके (लार वहते हुए) मुखको कुत्ते जीभसे चाटने लगते हैं ॥ ७१ ॥ उसी दशामे कुत्ते उसपर उच्चार (टट्टी) और प्रस्रवण (पेशाव) करते हैं । किन्तु वह मूढमति उसका स्वाद लेकर पडे-पडे ही पुन. कहता है कि सुरा (शराव) बहुत मिठी हैं, मुझे पीनेको और दो ॥ ७२ ॥ उस वेसुध पडे हुए मद्यपायीके पास जो कुछ द्रव्य होता है, उसे दूसरे लोग हर ले जाते हैं । पुन. कुछ सज्ञाको प्राप्तकर अर्थात् कुछ होशमें आकर गिरता-पडता इधर-उधर दौडने लगता है ॥ ७३ ॥ और इस प्रकार वकता जाता है कि जिस वदमाशने आज मेरा द्रव्य चुराया है और मुझे क्रुद्ध किया है, उसने यमराजको ही क्रुद्ध किया है. अव वह जीता वचकर कहाँ जायगा, मै तलवार से उसका शिर काटूँगा ॥ ७४ ॥ इस प्रकार कुपित वर गरजता हुआ अपने घर जाकर लकडीको लेकर रुष्ट हो सहसा भांडो (वर्तनो) को फोडने लगता है ॥ ७५ ॥ वह अपने ही पुत्रको, वहिनको, और अन्य भी सवको—जिनको अपनी इच्छाके अनुकूल नही समझता है, वलात् मारने लगता है और नहीं वोलने योग्य वचनोंको वकता है । मद्य-पानसे प्रवल उन्मत्त हुआ वह भले-वुरेको कुछ भी नही जानता है ॥ ७६ ॥ मद्यपानके वशको प्राप्त हुआ वह इन उपर्युक्त कार्योको, तथा और भी अनेक लज्जा-योग्य निर्लज्ज कार्योको करके बहुत पापका वंध करता है ॥ ७७ ॥ उस पापसे वह जन्म, जरा और मरणरूप श्वापदो (सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर जानवरोसे) आकीर्ण अर्थात् भरे हुए संसार-रूपी कान्तार (भयानक वन) मे पडकर अनन्त दु खको पाता है ॥ ७८ ॥ इस तरह मद्यपानमें अनेक प्रकारके दोपोंको जान करके मन, वचन और काय, तथा कृत, कारित और अनुमोदनासे उसका

---

१ झ 'दोपा' इति पाठ । २ व रत्थाइयंगणे । प रत्थाएयगणे । ३ झ. नाऊण ।

मधुदोष-वर्णन

जह मज्जं तह य महू जणयदि पावं णरस्स अइबहुयं । असुइ व्व णिंदणिज्जं वज्जेयव्वं पयत्तेण ॥ ८०

दट्ठूण असणमज्झे पडियं जइ मच्छियं पि णिट्ठिवइ ।
कह मच्छियंडयाणं णिज्जासं[1] णिग्घिणो पिबइ ॥ ८१

भो भो जिब्भिंदियलुद्धयाणमच्छेरयं[2] पलोएह किमि मच्छियणिज्जासं महुं पवित्तं भणंति जदो ॥८२
लोगे वि सुप्पसिद्धं बारहं गामाइ जो डहइ अदओ । तत्तो सो अहिययरो पाविट्ठो जो महुं हणइ॥ ८३
जो अवलेहइ[3] णिच्चं णिरयं[4] सो जाइ[5] णत्थि संदेहो । एवं णाऊण[6] फुडं वज्जेयव्वं महुं तम्हा ॥ ८४

मांसदोष-वर्णन

मंसं अमेज्झसरिसं किमिकुलभरियं दुगंधवीभच्छं । पाएण छिवेउं जं ण तीरए तं कहं भोत्तुं ॥ ८५
मंसासणेण वड्ढइ दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ । जूयं पि रमइ तो तं पि वण्णिए पाउणइ दोसे ॥ ८६

लोइय[7] सत्थम्मि वि वण्णियं जहा गयणगामिणो विप्पा ।
भुवि मंसासणेण पडिया तम्हा ण पउंजए[8] मंसं ॥ ८७

वश्यादोष-वर्णन

कारुय-किराय-चंडाल-डोंब-पारसियाणमुच्छिट्ठं । सो भक्खेइ जो वसइ एयरत्ति पि वेस्साए[9] ॥ ८८

त्याग करना चाहिए ॥७९॥ मद्यपानके समान मधु-सेवन भी मनुष्यके अत्यधिक पापको उत्पन्न करता है । अशुचि (मल-मूत्र वमनादिक) के समान निंदनीय इस मधुका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए ॥ ८० ॥ भोजनके मध्यमे पडी हुई मक्खी को भी देखकर यदि मनुष्य उसे उगल देता है अर्थात् मुँहमे रखे हुए ग्रास को थूक देता है तो आश्चर्य है कि वह मधु-मक्खियोके अंडोके निर्दयतापूर्वक निकाले हुए घृणित रसको अर्थात् मधुको निर्दय या निर्घृण बनकर कैसे पी जाता है ॥ ८१ ॥ भो-भो लोगो, जिन्हेन्द्रिय-लुब्धक (लोलुपी) मनुष्योके आश्चर्य को देखो, कि लोग मक्खियोंके रसस्वरूप इस मधुको कैसे पवित्र कहते है ॥ ८२ ॥ लोकमे भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि जो निर्दयी बारह गाँवोको जलाता है, उससे भी अधिक पापी वह है जो मध-मक्खियोके छत्तेको तोडता है ॥ ८३ ॥ इस प्रकार के पाप-बहुल मधुको जो नित्य चाटता है-खाता है, वह नरकमे जाता है, इसमे कोई सन्देह नहीं है । ऐसा जानकर मधुका त्याग करना चाहिए ॥ ८४ ॥

मास अमेध्य अर्थात् विष्टाके समान है, कृमि अर्थात् छोटे-छोटे कीडोंके समूहसे भरा हुआ है, दुर्गन्धियुक्त है, बीभत्स है और पैरसे भी छूने योग्य नही है, तो फिर भला वह मास खानेके लिए योग्य कैसे हो सकता है ॥ ८५ । मांस खानेसे दर्प बढता है, दर्पसे वह शराब पीने की इच्छा करता है और इसीसे वह जुआ भी खेलता है । इस प्रकार वह प्रायः ऊपर वर्णन किये गये सभी दोषोंको प्राप्त होता है ॥ ८६ ॥ लौकिक शास्त्रमे भी ऐसा वर्णन किया गया हैं कि गगनगामी अर्थात् आकाशमे चलनेवाले भी ब्राह्मण मासके खानेसे पृथ्वीपर गिर पडे । इसलिए मासका उपयोग नहीं करना चाहिए ॥ ८७ ॥ जो कोई भी मनुष्य एक रात भी वेश्याके साथ निवास करता है वह कारु अर्थात् लुहार, चमार, किरात (भील), चडाल, डोब (भंगी) और पारसी आदि नीच लोगोंका

---

१ झ निर्यास निश्चोटनं निबोडनमिति । प निपीलनम् । ध निर्यासम् । २ ण. ध मच्छेयर । ३ आस्वादयति । ४ झ निय । ५ प. जादि । ६ झ. नाऊण । ७ ब. लोइये । ८ इ 'ण वज्जए', भ 'ण पवज्जए' इति पाठ । ९ झ. ट. वेसाए ।

रत्तं णाऊण[1] णरं सव्वस्सं[2] हरइ वंचणसएहिं । काऊण मुयइ पच्छा पुरिसं चम्मट्ठिपरिसेसं ॥ ८९

पभणइ पुरओ एयस्स सामी मोत्तूणं णत्थि[3] मे अण्णो ।
उच्चइ[4] अण्णस्स पुणो करेइ चाडूणि बहुयाणि ॥ ९०

माणी कुलजो सूरो वि कुणइ दासत्तणं पि णोचाणं । वेस्सा[5]कएण बहुगं अवमाणं सहइ कामंधो ॥ ९१
जे मज्जमंसदोसा वेस्सा[6]गमणम्मि होंति ते सव्वे । पावं पि तत्थ हिट्ठं पावइ णियमेण सविसेसं ॥ ९२
पावेण तेण दुक्ख पावइ संसार-सायरे घोरे । तम्हा परिहरियव्वा वेस्सा[7] मण--वयण-काएहिं ॥ ९३

पारद्धिदोष-वर्णन

सम्मत्तस्स पहाणो अणुकंवा वणिओ गुणी जम्हा । पारद्धिरमणसीलो सम्मत्तविराहओ तम्हा ॥ ९४
दट्ठूण मुक्ककेसं पलायमाणं तहा पराहुत्तं । रद[8]धरियतिणं[9] सूरा कयापराहं वि ण हणंति ॥ ९५

णिच्चं पलायमाणो तिण[10]चारी तह णिरवराहो वि ।
कह णिग्घणो हणिज्जइ[11]आरण्णणिवासिणो वि मए ॥ ९६
गो-बंभणित्थिघायं परिहरमाणस्स होइ[12] जह धम्मो ।
सव्वेसिं जीवाणं दयाए[13] ता किं ण सो हुज्जा ॥ ९७

जूठा खाता है । क्योंकि, वेश्या इन सभी नीच लोगोंके साथ समागम करती है ॥ ८८ ॥ वेश्या, मनुष्य को अपने ऊपर आसक्त जानकर सैकडों प्रवंचनाओ से उसका सर्वस्व हर लेती है और पुरुषको अस्थि-चर्म परिशेष करके, अर्थात् जब उसमे हाड और चाम ही अवशेष रह जाता है, तब उसको छोड देती है ॥ ८९ ॥ वह एक पुरुषके सामने कहती है कि तुम्हें छोडकर अर्थात् तुम्हारे सिवाय मेरा कोई स्वामी नही है । इसी प्रकार वह अन्य से भी कहती है और अनेक चाटुकारिया अर्थात् खुशामदी बाते करती है ॥ ९० ॥ मानी, कुलीन और शूरवीर भी मनुष्य वेश्यामे आसक्त होनेसे नीच पुरुषोकी दासता (नौकरी या सेवा) को करता है और इस प्रकार वह कामान्ध होकर वेश्याओ के द्वारा किये गये अनेकों अपमानोको सहन करता है ॥ ९१ ॥ जो दोष मद्य और मासके सेवनमे होते हैं, वे सब दोष वेश्यागमनमे भी होते हैं । इसलिए वह मद्य और मांस सेवनके पापको तो प्राप्त होना ही है, किन्तु वेश्या-सेवनके विशेष अधम पापको भी नियम से प्राप्त होता है ॥ ९२ ॥ वेश्या-सेवन-जनित पापसे यह जीव घोर संसार-सागरमे भयानक दु:खोको प्राप्त होता है, इसलिए मन, वचन और कायसे वेश्याका सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥ ९३ ॥ सम्यग्दर्शनका विराधक होता है ॥ ९४ ॥ जो मुक्त-केश हैं, अर्थात् भयके मारे जिनके रोंगटे (बाल) खडे हुए हैं' ऐसे भागते हुए तथा पराङ्मुख अर्थात् अपनी ओर पीठ किये हुए हैं और दाँतोमे तृण अर्थात् घासको दाबे हुए है, ऐसे अपराधी भी दीन जीवोंको शूरवीर पुरुष नही मारते है ॥ ९५ ॥ भयके कारण नित्य भागनेवाले, घास खानेवाले तथा निरपराधी और वनोंमे रहनेवाले ऐसे भी मृगोंको निर्दयी पुरुष कैसे मारते हैं ? (यह महा आश्चर्य है !) ॥ ९६ ॥ यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्री-घातका परिहार करनेवाले पुरुषको धर्म होता है तो सभी जीवोकी दयासे वह धर्म क्यो नही होगा ? ॥ ९७ ॥ जिस

---

१ झ नाऊण, २ ब. सव्व सहरइ । ३ झ ब. 'णत्थि' स्थाने 'तं ण' इति पाथ । ४ झ वुच्चइ । ५, ६, ७ झ ब वेसा० । ८ झ. दत० । ९ ब तणं । १० ब. तण० । ११ झ ब. हणिज्जा । १२ ब. हवइ । १३ ब. दयायि ।

गो-बंभण-महिलाणं विणिवाए हवइ जह महापावं । तह इयरपाणिघाए वि होइ पावं ण संदेहो ।। ९८
महु-मज्ज-मंससेवी पावइ पावं चिरेण जं घोरं । तं एयदिणे पुरिसो लहेइ पारद्धि रमणेण ।। ९९
संसारम्मि-अणंतं दुक्खं पाउणदि तेण पावेण । तम्हा विवज्जियव्वा पारद्धी देसविरएण ।। १००

चौर्यदोष-वर्णन

परदव्वहरणसीलो इह-परलोए असायबहुलाओ । पाउणइ जायणाओ ण कयावि सुहं पलोएइ ।। १०१
हरिऊण परस्स धणं चोरो परिवेवमाणसव्वंगो । चइऊण णिययगेहं[1] धावइ उप्पहेण संतत्तो[2] ।। १०२

किं केण वि दिट्ठो हं ण वेत्ति हियएण धगधगंतेण ।
ल्हुक्कइ पलाइ[3] पखलइ णिद्दं ण लहेइ भयविट्ठो[4] ।। १०३
ण गणेइ माय-वप्पं गुरु-मित्तं सामिणं तवस्सिं वा ।
पबलेण[5] हरइ छलेण्णं[6] किंचिण्ण किंपि जं तेसिं । १०४

लज्जा तहाभिमाणं जस-सीलविणासमादणासं च । परलोयभयं चोरो अगणंतो साहसं कुणइ ।। १०५
हरमाणो परदव्वं दट्ठूणारक्खिएहिं तो सहसा । रज्जूहिं बंधिऊणं घिप्पइ सो मोरबंधेण ।। १०६
हिंडाविज्जइ टिंटे रत्थासु चढाविऊण खरपुट्ठिं । वित्थारिज्जइ चोरो एसो त्ति जणस्स मज्झम्मि ।।

प्रकार गौ, ब्राह्मण और स्त्रियो के मारनेमे महापाप है, उसी प्रकार अन्य प्राणियोंके घातमे भी महापाप होता है, इसमे कोई सन्देह नही है ।। ९८ ।। चिरकाल तक मधु, मद्य और मांसका सेवन करनेवाला जिस घोर पापको प्राप्त होता है, उस पापको शिकारी पुरुष एक दिन भी शिकार के खेलनेसे प्राप्त होता है ।। ९९ ।। उस शिकार खेलनेके पापसे यह जीव ससारमें अनन्त दु:खको प्राप्त होता है। इसलिए देशविरत श्रावकको शिकारका त्याग करना चाहिए ।।१००।। पराये द्रव्यको हरनेवाला, अर्थात् चोरी करनेवाला मनुष्य इस लोक और परलोक मे असाता-वहुल, अर्थात् प्रचुर दु:खोसे भरी हुई अनेको यातनाओंको पाता है और कभी भी सुखको नहीं देखता है ।।१०१।। पराये धनको हर कर भय-भीत हुआ चोर थर-थर काँपता है और अपने घरको छोडकर संतप्त होता हुआ वह उत्पथ अर्थात् कुमार्गसे इधर-उधर भागता फिरता है ।। १०२ ।। क्या किसीने मुझे देखा है, अथवा नही देखा है, इस प्रकार धक् धक् करते हुए हृदयसे कभी वह चोर लुकता-छिपता है, कभी कही भागता है और इधर-उधर गिरता है तथा भयाविष्ट अर्थात् भयभीत होनेसे नीद नही ले पाता है ।। १०३ ।। चोर अपने माता, पिता, गुरु, मित्र, स्वामी और तपस्वीको भी कुछ नही गिनता है, प्रत्युत जो कुछ भी उनके पास होता है, उसे भी बलात् या छलसे हर लेता है ।। १०४ ।। चोर लज्जा, अभिमान, यश और शीलके विनाशको, आत्माके विनाशको और परलोकके भयको नही गिनता हुआ चोरी करनेका साहस करता है ।। १०५ ।। चोरको पराया द्रव्य हरते हुए देखकर आरक्षक अर्थात् पहरेदार कोटपाल आदिक रस्सियोंसे बांधकर, मोरबंधसे अर्थात् कमरकी ओर हाथ बाँधकर पकड लेते है ।। १०६ ।। और फिर उसे टिंटा अर्थात् जुआखाने या गलियोमे घुमाते हैं और गधेकी पीठ पर चढाकर 'यह चोर है' ऐसा लोगोंके वीचमे घोषित कर उसकी बदनामी फैलाते है ।। १०७ ।। और भी जो कोई मनुष्य दूसरेका धन हरता है, वह इस

---

१ ब. णिययप्पगेहं । २ झ. ब. संतट्ठो । ३ म. पलायमाणो । ४ झ भयघत्थो, ब. भयवच्छो । ५ झ ब. पच्चेलिउ । ६ झ किं घण, ब किं वण ।

अण्णो वि परस्स धणं जो हरइ[1] सो एरिसं फलं लहइ ।
एवं भणिऊण पुणो णिज्जइ पुर-बाहिरे तुरियं ॥१०८

णेत्तुद्धारं अह पाणि-पायगहणं णिसुंभणं अहवा । जीवंतस्स वि सूलावारोहणं कीरइ खलेहिं[2] ॥१०९
एवं पिच्छंता वि हु परदव्वं चोरियाइ गेण्हंति । ण मुणंति किं पि सहियं पेच्छह हो मोह[3]माहप्पं ॥
परलोए वि य चोरी चउगइ-संसार-सायर-निमण्णो । पावइ दुक्खमणंतं तेयं परिवज्जए तम्हा १११

परदारादोष-वर्णन

दट्ठूण परकलत्तं णिव्वुद्धी जो करेइ अहिलासं । णय किं पि तत्थ पावइ पावं एमेव अज्जेइ ११२
णिस्ससइ रुयइ गायइ णिययसिरं हणइ महियले पडइ । परमहिलमलभमाणो असप्पलावं पि जंपेइ ॥

चिंतेइ मं किमिच्छइ ण वेइ सा केण वा उवाएण ।
'अण्णेमि' कहमि कस्स वि ण वेत्ति चिंताउरो सददं ॥११४
ण य कत्थ वि कुणइ रइं मिट्ठं पि य भोयणं ण भुंजेइ ।
णिद्दं अलहमाणो[4] अच्छइ विरहेण संतत्तो ॥११५
लज्जाकुलमज्जायं[5] छंडिऊण मज्जाइभोयणं किच्चा ।
परमहिलाणं चित्तं अमुणंतो पत्थणं कुणइ ॥११६
णेच्छंति जइ वि ताओ उवयारसयाणि कुणइ सो तह वि ।
णिब्भच्छिज्जंतो पुण अप्पाणं झूरइ विलक्खो । ११७

प्रकार फलको पाता है, ऐसा कहकर पुनः उसे तुरन्त नगरके वाहर ले जाते हैं ॥ १०८ ॥ वहाँ ले जाकर खलजन उसकी आंखे निकाल लेते हैं, अथवा हाथ-पैर काट डालते हैं, अथवा जीता हुआ ही उसे शूलीपर चढा देते हैं ॥ १०९ ॥ इस प्रकारके इहलौकिक दुष्फलोंको देखते हुइ भी लोग चोरीसे पराये धनको ग्रहण करते हैं और अपने हितको कुछ भी नही समझते हैं, यह वडे आश्चर्यकी वात है । हे भव्यो, मोहके माहात्म्यको देखो ॥ ११० ॥ परलोकमे भी चोर चतुर्गतिरूप संसार-सागरमे निमग्न होता हुआ अनन्त दुःखको पाता है, इसलिए चोरीका त्याग करना चाहिए ॥ १११ ॥ जो निर्बुद्धि पुरुष परायी स्त्रीको देखकर उसकी अभिलाषा करता है, सो ऐसा करनेपर वह पाता तो कुछ नही है, केवल पापका ही उपार्जन करता है, ॥ ११२ ॥ परस्त्री-लम्पट पुरुष जव अभिलषित पर-महिलाको नही पाता है, तव वह दीर्घ निःश्वास छोडता है रोता है कभी गाता है, कभी अपने शिरको फोडता हैं और कभी भूतल पर गिरता पडता है और असत्प्रलाप भी करता है ॥ ११३ ॥ परस्त्री-लम्पट सोचता है कि वह स्त्री मुझे चाहती है, अथवा नही चाहती ? मै उसे किस उपायसे लाऊँ ? किसीसे कहूं, अथवा नही कहूं ? इस प्रकार निरन्तर चिन्तातुर रहता है ॥ ११४ ॥ वह परस्त्री-लम्पटी कही पर भी रतिको नही प्राप्त करता है, मिष्ट भी भोजनको नही खाता है और कुल-मर्यादाको छोडकर मद्य-मांस आदि निंद्य भोजनको करके परस्त्रियोंके चित्तको नही जानता हुआ उनसे प्रार्थना किया करता है ॥ ११६ ॥ इतने पर भी यदि वे स्त्रियां उसे नही चाहती हैं तो वह उनकी सैकडों खुशामदें करता है । फिर भी उनसे भर्त्सना किये जाने पर विलक्ष अर्थात् लक्ष्य-भ्रष्ट हुआ वह अपने आपको झूरता रहता है ॥ ११७ ॥ यदि वह लम्पटी

---

१ झ हरेइ । २ ब. खिलेहि । ३ ब. मोहस्स । ४ अलभमाणो । ५ इ. -कुलकम्मं, म. ब. ध -कुलक्कमं ।

अह भुंजइ परमहिलं अणिच्छमाणं बला धरेऊणं ।
किं तत्थ हवइ सुक्खं पच्चेल्लिउ पावए दुक्खं ।। ११८
अह कावि पावबहुला असई णिण्णासिऊण णियसीलं ।
सयमेव[1] पच्छियाओ[2] उवरोहवसेण अप्पाणं ।। ११९
जइ देइ तह वि तत्थ सुण्णहर-खंडदेउलयमज्झम्मि[3] ।
सच्चित्ते भयभीओ[4] सोक्खं किं तत्थ पाउणइ ।। १२०
सोऊण किं पि सद्दं सहसा परिवेवमाणसव्वंगो ।
ल्हुक्कइ पलाइ पखलइ चउद्दिसं णियइ भयभीओ ।। १२१
जइ पुण केण वि दीसइ णिज्जइ तो बंधिऊण णिवगेहं ।
चोरस्स णिग्गहं सो तत्थ वि पाउणइ सविसेसं ।। १२२
पेच्छह मोहविणडिओ लोगो दट्ठूण एरिसं दोसं ।
पच्चक्खं तह वि खलो परित्थिमहिलसदि[5] दुच्चित्तो ।। १२३
परलोयम्मि अणंतं दुक्खं पाउणइ इहभवसमुद्दम्मि ।
परयारा परमहिला तम्हा तिविहेण वज्जिज्जा ।। १२४

सप्तव्यसनदोष-वर्णन

रज्जब्भंसं वसणं बारह संवच्छराणि वणवासो । पत्तो तहावमाणं जूएण जुहिट्ठिलो राया ।।१२५
उज्जाणम्मि रमंता तिसाभिभूया जल त्ति णाऊण । पिबिऊण जुण्णमज्जं णट्ठा ते[6] जादवा तेण। १२६
मंसासणेण गिद्धो[7] वगरक्खो एग चक्कणयरम्मि । रज्जाओ पब्भट्ठो अयसेण मुओ गओ णरयं।। १२७

नही चाहनेवाली किसी पर-महिलाको जबर्दस्ती पकडकर भोगता है, तो वैसी दशामें वह उसमे क्या सुख पाता है ? प्रत्युत दुःखको ही पाता है ।। ११८ ।। यदि कोई पापिनी दुराचारिणी अपने शीलको नाश करके उपरोधके वशसे कामी पुरुषके पास स्वयं उपस्थित भी हो जाय, अपने आपको सौंप भी देवे ।। ११९ ।। तो भी उस शून्य गृह या खंडित देवकुल के भीतर रमण करता हुआ वह अपने चित्तमें भय-भीत होनेसे कहाँ पर क्या सुख पा सकता है ? ।। १२० ।। वहाँ पर कुछ भी जरा-सा शब्द सुनकर सहसा थर-थर काँपता हुआ इधर-उधर छिपता है, भागता है, गिरता है और भय-भीत हो चारों दिशाओंको देखता है ।।१२१।। इसपर भी यदि कोई देख लेता है तो वह बांधकर राज-दरबारमे लाया जाता है और वहापर वह चोरसे भी अधिक दडको पाता है ।।१२२।। मोहकी विडम्बनाको देखो कि परस्त्री-मोहसे मोहित हुए खल लोग इस प्रकारके दोषों को प्रत्यक्ष देखकर भी अपने चित्तमे परायी स्त्रीकी अभिलाषा करते है ।।१२३।। परस्त्री-लम्पटी परलोकमे इस ससार-समुद्रके भीतर अनन्त दु.खको पाता है । इसलिए परिगृहीत या अपरिगृहीत परस्त्रियोंको मन वचन कायसे त्याग करना चाहिये ।।१२४।।

जूआ खेलनेसे युधिष्ठिर राजा राज्यसे भ्रष्ट हुए, बारह वर्ष तक वनवासमे रहे तथा अपमानको प्राप्त हुए ।। १२५ ।। उद्यानमें क्रीडा करते हुए प्याससे पीडित होकर यादवोंने पुरानी शराबको 'यह जल है' ऐसा जानकर पिया और उसीसे वे नष्ट हो गये ।। १२६ ।। एकचक्र

---

१ झ सयमेवं । २ ध –प्रस्थिता । ३ झ. मज्झयारम्मि । ४ झ. म भयभीदो । ५ झ ब भो चित्त । ६ झ ब. तो । ७ म. लुद्धो । ८ ब. एय० ।

सव्वत्थ णिवुणबुद्धी वेसासंगेण चारुदत्तो वि । खइऊण धणं पत्तो दुक्खं परदेसगमणं च ॥ १२८
होऊण चक्कवट्टी चउदहरयणाहिओ[1] वि संपत्तो । मरिऊण बंभदत्तो णिरयं पारद्धिरमणेण ॥ १२९
णासावहारदोसेण दंडणं पाविऊण सिरिभूई । मरिऊण अट्टझाणेण हिंडिओ दीहसंसारे ॥ १३०
होऊण खयरणाहो वियक्खणो अद्धचक्कवट्टी वि । मरिऊण गओ[2] णरयं परित्थिहरणेण लंकेसो ॥ १३१
एदे[3] महाणुभावा दोसं एक्केक्क-विसण[4]-सेवाओ । पत्ता जो पुण सत्त वि सेवइ वण्णिज्जए किं सो ॥ १३२
साकेते[5] सेवंतो सत्त वि वसणाइं रुद्दत्तो वि । मरिऊण गओ णिरयं भमिओ पुण दीहसंसारे ॥ १३३

नरकगतिदुःख-वर्णन

सत्तण्हं विसणाणं फलेण संसार-सायरे जीवो । जं पावइ बहुदुक्खं तं संखेवेण वोच्छामि ॥ १३४
अइणिट्ठुरफरुसाइं अइदुग्गंधाइं । असुहावहाइं णिच्चं णिरएसुप्पत्तिठाणाइं ॥ १३५
तो तेसु समुप्पण्णो आहारेऊण पोग्गले असुहे[6] । अंतोमुहुत्तकाले पज्जत्तीओ समाणेइ ॥ १३६
उववायाओ णिवडइ पज्जत्तयओ दडत्ति[7] महिवीढे[8] । अइकक्खडमसहंतो सहसा उप्पडदि पुण पडइ
जइ को वि उसिणणरए मेरुपमाणं खिवेइ लोहंडं । ण वि पावइ धरणिमपत्तं सडिज्ज[11] तं खंडखंडेहिं

नामक नगर मे मांस खानेमें गृद्ध बक राक्षस राज्यपदसे भ्रष्ट हुआ, अपयशसे मरा और नरक गया ॥१२७॥ सर्व विषयोमे निपुण बुद्धि चारुदत्तने भी वेश्याके सगसे धनको खोकर दुःख पाया और परदेशमे जाना पडा ॥ १२८ ॥ चक्रवर्ती होकर और चौदह रत्नोके स्वामित्वको प्राप्त होकर भी ब्रह्मदत्त शिकार खेलनेसे मरकर नरकमे गया ॥ १२९ ॥ न्यासापहार अर्थात् धरोहरको अपहरण करनेके दोषसे दंड पाकर श्रीभूति आर्तध्यानसे मरकर संसार मे दीर्घकाल तक रुलता फिरा ॥१३०॥ विचक्षण, अर्धचक्रवर्ती और विद्याधरोंका स्वामी होकर भी लंकाका स्वामी रावण परस्त्रीके हरणसे मरकर नरकमे गया ॥ १३१ ॥ ऐसे ऐसे महानुभाव एक एक व्यसनके सेवन करने से दुःखको प्राप्त हुए । फिर जो सातो ही व्यसनो को सेवन करता है, उसके दुःखका क्या वर्णन किया जा सकता है ॥ १३२ ॥ साकेत नगरमे रुद्रदत्त सातों ही व्यसनोंको सेवन करके मरकर नरक मे गया और फिर दीर्घकाल तक संसारमे भ्रमता फिरा ॥ १३३ ॥ सातो व्यसनोके फलसे जीव संसार-सागरमे जो भारी दुःख पाता है, उसे मै संक्षेपसे कहता हूँ ॥ १३४ ॥ नरकोंमे नारकियोके उत्पन्न होनेके स्थान अत्यन्त निष्ठुर स्पर्शवाले है, पीप और रुधिर आदिक अति दुर्गन्धित और अशुभ पदार्थ उनमें निरन्तर बहते रहते हैं । उनमे उत्पन्न होकर नारकी जीव अशुभ पुद्गलोको ग्रहण करके अन्तर्मुहूर्त कालमे पर्याप्तियोको सम्पन्न कर लेता है ॥ १३५-१३६ ॥ वह नारकी पर्याप्तियोको पूरा कर उपपादस्थानसे दडेके समान महीपृष्ठपर गिर पडता है । पुन नरकके अति कर्कश धरातलको नही सहन करता हुआ वह सहसा ऊपरको उछलता है और फिर नीचे गिर पडता है ॥ १३७ ॥ यदि कोई उष्णवेदनावाले नरकमे मेरु-प्रमाण लोहेके गोले फेंके, तो वह भूतलको नहीं प्राप्त होकर अन्तरालमे ही बिला जायगा अर्थात् गल जायगा । (नरकोमे ऐसी उष्ण वेदना है)॥ १३८ ॥ यदि

१ ब. –रयणीहिओ । २ ब गमउ । ३ प. एए । ४ झ ब वसण० । ५ प साकेए । ६ ब. असुहो । ७ झ. दड त्ति, उदय त्ति ८ ब. प. महिवट्टे म महीविट्ठे ९ इ विलयम् जत्तत०, झ विलज्जत, विलिज्जतं अंत० । म. विलयं जात्यंत० । मूला राधना गा० १५६३ । १० झ. तेवड, ब. ते वट्ट । ११ झ संडेज्ज, म सडेज्ज । मूलारा. १५६४ ।

तं तारिससीदुण्हं खेत्तसहावेण होइ णिरएसु । विसहइ जावज्जीवं वसणस्स फलेणिमो जीओ ।। १४०
तो तम्हि जायमत्ते सहसा दट्ठूण णारया सव्वे पहरंति सत्ति-मुग्गर[1]-तिसूल-णाराय-खग्गेहिं ।। १४१
तो खंडिय[2]-सव्वंगो करुणपलावं रुवेइ दीणमुहो । पभणंति तओ रुट्ठा किं कंदसि रे दुरायारा ।।१४२
जोव्वणमएण मत्तो लोहकसाएण रंजिओ पुव्वं । गुरुवयणं लंघित्ता जूयं रमियो जं आसि[3] ।। १४३
तस्स फलमुदयमागयमलं हि रुयणेण[4] विसह रे[5] दुट्ठ रोवंतो वि ण छुट्टसि कयावि[6] पुव्वकयकम्मस्स
एवं सोऊण तओ माणसदुक्खं वि[7] से समुप्पण्णं । तो दुविह-दुक्खदड्ढो रोसाइट्ठो इम भणइ । १४५
जइ वा[8] पुव्वम्मि भवे जूयं रमियं मए मदवसेण । तुम्हं[9] को अवराहो कओ बला जेण मं[10] हणह[11]।।
एवं भणिए घित्तूण सुट्ठु रुट्ठेहिं अग्गिकुंडम्मि।पज्जजलम्मि णिहित्तो डज्झइ सो[12] अंगमंगेसु ।१४७
तत्तो णिस्सरमाणं दट्ठूण ज्झसरेहिं[13] अहव कुंतेहिं । पिल्लेऊण रडंत तत्थेव छुहंति अदयाए ।। १४८
हा मुयह मं मा पहरह पुणो वि ण करोमि एरिसं पावं । दंतेहि अंगुलीओ धरेइ करुणं[14] पुणो रुवइ ।।
ण मुयंति तह वि पावा पेच्छइ लीलाए कुणइ जंजीवो[15]।तपावंविलवंतोएयहिं[16]दुक्खेहिंणित्थरइ[17]

कोई उतने ही बडे लोहेके गोलेको शीतवेदनावाले नरकमे फेके, तो वह धरणीतलको नही प्राप्त होकर ही सहसा खड खंड होकर बिखर जायगा ।(नरकोंमे ऐसी शीतवेदना)।। १३९ ।। नरकोंमे इस प्रकारकी सर्दी और गर्मी क्षेत्रके स्वभाव से होती है । सो व्यसनके फलसे यह जीव ऐसी तीव्र शीत-उष्ण वेदनाको यावज्जीवन सहा करता है ।। १४० ।। उस नरकमे जीवके उत्पन्न होनेके साथ ही उसे देखकर सभी नारकी सहसा—एकदम शक्ति, मुद्गर, त्रिशूल, बाण और खड्गसे प्रहार करने लगते हैं ।। १४१ ।। नारकियोके प्रहारसे खडित हो गये हैं सर्व अग जिसके, ऐसा वह नवीन नारकी दीन-मुख होकर करुण प्रलाप करता हुआ रोता है । तब पुराने नारकी उसपर रुष्ट होकर कहते है कि रे दुराचारी, अब क्यों चिल्लाता है ।। १४२ ।। यौवनके मदसे मत्त होकर और लोभकषायसे अनुरंजित होकर पूर्व भवमे तूने गुरुवचनको उल्लघन कर जूआ खेला है ।। १४३ ।। अब उस पापका फल उदय आया है, इसलिए रोनेसे बस कर, और रे दुष्ट, अब उसे सहन कर । रोनेसे भी पूर्व-कृत कर्मके फलसे कभी भी नही छूटेगा ।। १४४ ।। इस प्रकारके दुर्वचन सुननेसे उसके भारी मानसिक दु.ख भी उत्पन्न होता हैं । तब वह शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकारके दु.खसे दग्ध होकर और रोषमे आकर इस प्रकार कहता है ।। १४५ ।। यदि मैने पूर्व भवमे मदके वश होकर जूआ खेला है, तो तुम्हारा क्या अपराध किया है, जिसके कारण जबर्दस्ती तुम मुझे मारते हो ।। १४६ ।। ऐसा कहनेपर अतिरुष्ट हुए वे नारकी उसे पकडकर प्रज्वलित अग्निकुण्डमे डाल देते है, जहा पर वह अग-अगमे अर्थात् सर्वाङ्ग मे जल जाता है ।। १४७ ।। उस अग्निकुण्डसे निकलते हुए उसे देखकर झसरोंसे (शस्त्र-विशेषसे) अथवा भालोंसे छेदकर चिल्लाते हुए उसे निर्दयता-पूर्वक उसी कुण्डमे डाल देते है ।। १४८ । हाय, मुझे छोड दो, मुझ पर मत प्रहार करो, मै ऐसा पाप फिर नही करूँगा, इस प्रकार कहता हुआ वह दांतोंसे अपनी अगुलियां दबाता है और करुण प्रलाप-पूर्वक पुन: रोता है ।। १४९ ।। तो भी वे पापी नारकी उसे नही छोडते है । देखो, जीव जो पाप लीलासे—कुतुहल मात्रसे, करता है, उस पापसे विलाप करते हुए वह उपर्युक्त दु.खोको

---

१ ब मोग्गर— । २ ब. खडय० । ३ इ जं मासि । ४ ब. रुण्णेण । ५ इ. नं, झ ब त० । ६ ब. कयाइ । ७ इ. झ म विसेसमुप्पण्णं । ८ इ ब. या । ९ इ तुम्हे, झ. तोम्हि, व तोहितं । १० इ मह, म. ह । ११ ड. हणह । १२ इ मुद्ध, म मुधा । १३ इ तासे हि, म. ता सही । १४ झ. व कलुणं । १५ इ. जूवो । १६ ब एयह । १७ म णित्थरो ह हो । प णिज्जरइ ।

तत्तो पलाइऊणं कह वि य माएण[1] दड्ढसव्वंगो। गिरिकंदरम्मि सहसा पविसइ सरणं त्ति मण्णंतो॥

तत्थ वि पडंति उवरिं सिलाउ तो ताहिं[2] चुण्णिओ संतो।
गलमाणरुहिरधारो रडिऊण खणं तओ णीइ[3] ॥ १५२

णेरइयाण सरीरं कीरइ जइ तिलपमाणखंडाइ। पारद-रसुव्व लग्गइ अपुण्णकालम्मि ण मरेइ॥ १५३
तत्तो पलायमाणो रुंभइ सो णारएहिं दट्ठूण। पाइज्जइ[4] विलवंतो अय-तंबय[5]-कलयलं[6] तत्तं॥१५४
पच्चारिज्जइ जं ते[7] पीयं मज्जं महुं च पुव्वभवे। तं[8] पावफलं पत्तं पिबेहि अयकलयलं घोरं॥ १५५

कह वि तओ जइ छुट्टो असिपत्तवणम्मि विसइ भयभीओ।
णिवडंति तत्थ[9] पत्ताइं खग्गसरिसाइं अणवरयं॥ १५६
तो तम्हि पत्तपडणेण छिण्णकर-चरण भिण्णपुट्ठि-सिरो।
पगलंतरुहिरधारो कंदंतो सो तओ णीइ[10] ॥ १५७

तुरियं पलायमाणं सहसा धरिऊण णारया कूरा। छित्तूण तस्स मंसं तुंडम्मि छुहंति[11] तस्सेव॥ १५८
भोत्तुं अणिच्छमाणं णियमंसं तो भणंति रे दुट्ठ। अइमिट्ठं भणिऊण भक्खंतो आसि जं पुव्वं। १५९

भोगता है॥ १५०॥ जबर्दस्ती जला दिये गये हैं सर्व अंग जिसके, ऐसा वह नारकी जिस किसी प्रकार उस अग्निकुण्डसे भागकर पर्वतकी गुफामे 'यहां शरण मिलेगा' ऐसा समझता हुआ सहसा प्रवेश करता है॥ १५१॥ किन्तु वहांपर भी उसके ऊपर पत्थरोंकी शिलाए पडती हैं, तब उनसे चूर्ण होता हुआ और जिसके खूनकी धाराएँ वह रही हैं, ऐसा होकर चिल्लाता हुआ क्षणमात्रमे वहासे निकल भागता है॥ १५२॥ नारकियोके शरीरके यदि तिल-तिलके बराबर भी खंड कर दिये जावें, तो भी वह पारेके समान तुरन्त आपसमे मिल जाते है, क्योंकि, अपूर्ण कालमे अर्थात् असमयमे नारकी नही मरता है॥ १५३॥ उस गुफामेंसे निकलकर भागता हुआ देखकर वह नारकियोके द्वारा रोक लिया जाता है और उनके द्वारा उसे जबर्दस्ती तपाया हुआ लोहा ताबा आदिका रस पिलया जाता है॥ १५४॥ वे नारकी उसे याद दिलाते हैं कि पूर्व भवमे तूने मद्य और मधुको पिया है, उस पापका फल प्राप्त हुआ है, अतः अब यह घोर 'अयकलकल' अर्थात् लोहा, तांबा आदिका मिश्रित रस पी॥ १५५॥

यदि किसी प्रकार वहासे छूटा, तो भयभीत हुआ वह असिपत्र वनमे, अर्थात् जिस वनके वृक्षोके पत्ते तलवारके समान तीक्ष्ण होते हैं, उसमे 'यहा शरण मिलेगा' ऐसा समझकर घुसता है। किन्तु वहांपर भी तलवारके समान तेज धारवाले वृक्षोंके पत्ते निरन्तर उसके ऊपर पडते है॥ १५६। जब उस असिपत्रवनमे पत्तोके गिरनेसे उसके हाथ, पैर, पीठ, शिर आदि कट-कटकर अलग हो जाते है, और शरीरसे खूनकी धारा वहने लगती है, तब वह चिल्लाता हुआ वहासे भी भागता है॥ १५७॥ वहांसे जल्दी भागते हुए उसे देखकर क्रूर नारकी सहसा पकडकर और उसका मास काटकर उसीके मुंहमे डालते हैं॥ १५८॥ जब वह अपने मांसको नहीं खाना चाहता है, तब वे नारकी कहते हैं कि, अरे दुष्ट, तू तो पूर्व भवमे परजीवोके मासको बहुत मीठा कहकर खाया

---

१ झ बयमाएण, ब बपमाएण। २ इ तेहिं। ३ म. णियट। ४ ब. णाइज्जइ। म. पविज्जइ। ५ इ अयवय, म. असमवय। ६ कलयल—ताम्र-शीसक-तिल-सर्जरस-गुग्गुल-मिश्रक-लवण-जतु-वज्रलेपाः कथायित्वा मिलिता 'कलकल' इत्युच्यन्ते। मूलारा० गा० १५६९ आशाधरी टीका। ७ ब. म. तो। ८ ब तय। ९ झ वज्झ०। १० इ म. णियइ। ११ इ. छहृति।

तं किं ते विस्सरियं जेण मुहं कुणसि रे पराहुत्तं ।
एव भणिऊण कुसिं छुहिंति तुंडम्मि पज्जलियं ॥ १६०
अइतिव्वदाहसंताविओ तिसावेयणासमभिभूओ ।
किमि-पूइ-रुहिरपुण्णं वइतरणिणइं तओ विसइ ॥ १६१
तत्थ वि पविट्ठमित्तो[1] खारुण्हजलेण दड्ढसव्वंगो ।
णिस्सरइ तओ तुरिओ हाहाकारं पकुव्वंतो ॥ १६२
दट्ठूण णारया णीलमंडवे[2] तत्तलोहपडिमाओ ।
आलिंगाविंति तहिं धरिऊण बला विलवमाणं ॥ १६३
अगणित्ता गुरुवयणं परित्थि-वेसं च आसि सेवंतो ।
एण्हिं तं पावफलं ण सहसि किं रुवसि तं जेण ॥ १६४
पुव्वभवे जं कम्मं पंचिंदियवसगएण जीवेण । हसमाणेण विबद्धं तं किं णित्थरसि[3] रोवंतो ॥ १६५
किकवाय-गिद्ध-वायसरूवं धरिऊण णारया चेव ।
[4]पहरंति वज्जमयतुंड-तिक्खणहरेहिं[5] दयरहिया ॥ १६६
धरिऊण उड्ढजंघं करकच- चक्केहिं केइ फाडंति ।
मुसलेहिं मुग्गरेहिं य चुण्णी चुण्णी कुणंति[6] परे ॥ १६७
जिब्भाछेयण णयणाण फोडणं दंतचूरणं दलणं । मलणं कुणंति खंडंति केई तिलमत्तखंडेहिं ॥ १६८

करता था ॥ १५९ ॥ सो क्या वह तू भूल गया है, जो अब अपना मास खानेसे मुहको मोडता है, ऐसा कहकर जलते हुए कुशको उसके मुखमे डालते है ॥ १६० ॥ तब अति तीव्र दाहसे संतापित होकर और प्यासकी प्रबल वेदनासे परिपीडित हो वह (प्यास बुझानेकी इच्छासे) कृमि, पीप और रुधिरसे परिपूर्ण वैतरणी नदीमे घुसता है ॥ १६१ ॥ उसमे घुसते ही खारे और उष्ण जलसे उसका सारा शरीर जल जाता है, तब वह तुरन्त ही हाहाकार करता हुआ वहासे निकलता है ॥ १६२ ॥

नारकी उसे भागता हुआ देखकर और पकडकर काले लोहेसे बनाये गये नील-मंडपमे ले जाकर विलाप करते हुए उसे जबर्दस्ती तपाई हुई लोहेकी प्रतिमाओसे (पुतलियोसे) आलिंगन कराते हैं ॥ १६३ ॥ और कहते है कि–गुरुजनोके वचनोको कुछ नही गिनकर पूर्वभव मे तूने परस्त्री और वेश्याका सेवन किया है । अब इस समय उस पापके फलको क्यों नही सहता है, जिससे कि रो रहा है ॥ १६४ ॥ पूर्वभवमे पाचो इन्द्रियोके वश होकर हँसते हुए रे पापी जीव, तूने जो कर्म बाधे हैं, सो क्या उन्हे रोते हुए दूर कर सकता है ? ॥ १६५ ॥ वे दया-रहित नारकी जीव ही कृकवाक (कुक्कुट–मुर्गा) गिद्ध, काक, आदिके रूपोंको धारण करके वज्रमय चोचोसे, तीक्ष्ण नखों और दांतो-से उसे नोचते हैं ॥ १६६ ॥ कितने ही नारकी उसे ऊर्ध्वजंघ कर अर्थात् शिर नीचे और जांघें ऊपर कर करकच (करोंत या आरा) और चक्रसे चीर फाड डालते हैं । तथा कितने ही नारकी उसे मूसल और मुद्गरोंसे चूरा-चूरा कर डालते है ॥ १६७ ॥ कितने हो नारकी जीभ काटते है, आंखें फोडते है, दांत तोडते हैं और सारे शरीरका दलन-मलन करते हैं । कितने ही नारकी तिल-प्रमाण खडोंसे उसके टुकडे-टुकडे कर डालते हैं ॥ १६८ ॥ कितने ही नारकी तपाये हुए तीक्ष्ण रेतीले

---

१ ब. सत्तो, प. म मित्ता । २ काललोहघटितमडपे । मूलाराधना गा० १५६९ विजयो. टीका । ३ प. णिरसि, झ ब. णिच्छरसि । ४ प पहणति । ५ इ तिक्खणहि : मूलारा० १५७१ । ६ म. चुण्णीकुव्वति परे णिरया ।

अण्णे कलंववालुय[1] थलम्मि तत्तम्मि पाडिऊण पुणो । लोट्टाविंति रडंतं णिहणंति घसंति भूमीए ।।
असुरा वि कूरपावा तत्थ वि गंतूण पुव्ववेराइं । सुमराविऊण तओ जुद्धं[2] लायंति अण्णोण्ण ।। १७०
सत्तव अहोलोए पुढवीओ तत्थ सयसहस्साइं । णिरयाणं चुलसीई सेढिद-पइण्णयाण हवे ।। १७१

रयणप्पह-सक्करपह-बालुप्पह-पंक-घूम-तमभासा ।
तमतमपहा य पुढवीणं जाण अणुवत्थणामाइं[3] ।। १७२
पढमाए पुढवीए वाससहस्साइं दह जहण्णाऊ ।
समयम्मि वण्णिया सायरोवमं होइ उक्कस्सं[4] ।। १७३
पढमाइ जमुक्कस्सं विदियाइसु साहियं जहण्णं त ।
तिय सत्त दस य सत्तरस दुसहिया बीस तेत्तीसं ।। १७४

सायरसंखा एसा कमेण विदियाइ जाण पुढवोसु । उक्कस्साउपमाणं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि ।। १७५
एत्तियपमाणकालं सारीरं माणसं बहुपयारं । दुक्खं सहेइ तिव्वं वसणस्स फलेणिमो जीवो ।। १७६

तिर्यंचगतिदुःख-वर्णन

तिरियगईए वि तहा थावरकाएसु बहुपयारेसु । अच्छइ अणंतकालं हिंडंतो जोणिलक्खेसु । १७७

कहमवि णिस्सरिऊणं तत्तो वियलिंदिएसु संभवइ ।
तत्थ वि किलिस्समाणो कालमसंखेज्जयं वसइ ।। १७८

मैदानमे डालकर रोते हुए उसे लोट-पोट करते हैं, मारते हैं, और भूमिपर घसीटते हैं ।। १६९ ।।
क्रूर और पापी असुर जातिके देव भी वहा जाकर और पूर्वभवके वैरोकी याद दिलाकर उन नारकियोंको आपसमे लड़वाते हैं ।। १७० ।। अधोलोकमे सात पृथिवियाँ है, उनमे श्रेणीबद्ध, इन्द्रक और प्रकीर्णक नामके चौरासी लाख नरक हैं ।। १७१।। उन पृथिवियोंके रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और तमस्तमप्रभा (महातमप्रभा) ये अन्वर्थ अर्थात् सार्थक नाम जानना चाहिए ।। १७२ । परमागममे प्रथम पृथिवीके नारकियोंकी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी कही गई है, और उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम होती है ।।१७३।। प्रथमादिक पृथिवियोमें जो उत्कृष्ट आयु होती है, कुछ अधिक अर्थात् एक समय अधिक वही द्वितीयादिक पृथिवियोमें जघन्य आयु जानना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान्ने द्वितीयादिक पृथिवियोमें उत्कृष्ट आयुका प्रमाण क्रमसे तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्तरह सागर, बाईस सागर और तेतीस सागर प्रमाण कहा हैं ।। १७४-१७५ ।। व्यसन-सेवनके फलसे यह जीव इतने (उपर्युक्त-प्रमाण) काल तक नरकोंमें अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक तीव्र दु.खको सहन करता हैं ।। १७६ ।।

इसी प्रकार व्यसन-सेवनके फलसे यह जीव तिर्यञ्च गतिकी लाखो योनिवाली बहुत प्रकारकी स्थावरकायकी जातियोंमें अनन्त काल तक भ्रमण करता रहता है ।। १७७ ।। उस स्थावकायमेंसे किसी प्रकार निकलकर विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोमें उत्पन्न होता है, तो वहां भी क्लेश उठाता हुआ असंख्यात काल तक परिभ्रमण करता रहता है । १७८ ।।

---

१ कलववालुय- कदंबप्रसूनाकारा वालुकाचितदु.प्रवेशा. वज्रदलालकृत-खदिरागार-कणप्रकरोपमाना । मूलारा० गा० १५६८ विजयोदया टीका । २ ब जुम्मं । ३ इ. अनुत्तथ०, म अणुवट्ठ० । ४ मुद्रितप्रतौ गाथेयं रिक्ता ।

तो खिल्लविल्लजोएण कह वि पंचिंदिएसु उववण्णो ।
तत्थ वि असंखकालं जोणिसहस्सेसु परिभमइ ॥ १७९
छेयण-भेयण-ताडण-तासण-णिल्लंछणं तहा दमणं ।
णिक्खलण-मलण-दलणं पउलण उक्कत्तणं चेव[1] ॥ १८०
[2]बंधण-भारारोवण लंछण पाणण्णरोहणं सहणं ।
सीउण्ह-भुक्ख-तण्हादिजाण तह पिल्लयविओयं[3] ॥ १८१
§इच्चेवमाइ बहुयं दुक्खं पाउणइ तिरियजोणीए[4] ।
विसणस्स फलेण जदो वसणं परिवज्जए तम्हा ॥ १८२

मनुष्यगतिदुःख-वर्णन

मणुयत्ते[5] वि य जीवा दुक्खं पावंति बहुवियप्पेहिं ।
इट्ठाणिट्ठेसु सया वियोय-संयोयजं तिव्वं ॥ १८३
उप्पण्णपढमसमयम्हि कोई जणणीइ छंडिओ संतो ।
कारणवसेण इत्थं सीउण्ह-भुक्ख-तण्हाउरो मरइ ॥ १८४
बालत्तणे वि जीवो माया-पियरेहि कोवि परिहीणो । उच्छिट्ठं भक्खंतो जीवइ दुक्खेण परगेहे॥१८५

यदि कदाचित् खिल्लविल्ल योगसे★ पंचेन्द्रियोंमे उत्पन्न हो गया, तो वहां भी असंख्यात काल तक हजारों योनियोंमे परिभ्रमण करता रहता है ॥ १७९ ॥ तिर्यञ्च योनिमे छेदन, भेदन, ताडन, त्रासन, निर्लांछन (बधिया करना), दमन, निक्खलन (नाक छेदन), मलन, दलन, प्रज्वलन, उत्कर्त्तन, बंधन, भारारोपण, लांछन (दागना), अन्न-पान-रोधन, तथा शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि बाधाओको सहता है, और पिल्लों (बच्चो) के वियोग-जनित दुखको भोगता है। ॥ १८०—१८१ ॥ इस प्रकार व्यसनके फलसे यह जीव तिर्यञ्च-योनिमे उपर्युक्त अनेक दु.ख पाता है, इसलिए व्यसनका त्याग कर देना चाहिए ॥ १८२ ॥ मनुष्य भवमे भो व्यसनके फलसे ये जीव सदैव बहुत प्रकारसे इष्ट-अनिष्ट पदार्थोमे वियोग-सयोगसे तीव्र दु ख पाते है ॥ १८३ ॥ उत्पन्न होनेके प्रथम समयमे ही कारणवशसे माताके द्वारा छोडे गये कितने ही जीव इस प्रकार शीत, उष्ण, भूख और प्याससे पीडित होकर मर जाते है ॥ १८४ ॥ बालकपनमे ही माता-पितासे रहित कोई जीव

---

१ मूलारा० गा० १५८२ । २ मूलारा० गा० १५८३ । ३ स्तनन्धयवियोगमित्यर्थ । ४ ध० प० जाईए । ५ झ ब मणुयत्तेण । (मणुयत्तणे ।

§ इतः पूर्वं झ ब प्रत्यो इमे गाथेऽधिके उपलभ्यते—

तिरिएहिं खज्जमाणो दुट्ठमणुस्सेहिं हम्ममाणो वि । सव्वत्थ वि संतट्ठो विसहदे भीमं ॥ १ ॥
अण्णोण्ण खज्जता तिरिया पावंति दारुण दुक्ख । माया वि जत्थ भक्खदि अण्णो को तत्थ राखंदि ॥ २ ॥

तिर्यंचोके द्वारा खाया गया, दुष्ट शिकारी लोगोके द्वारा मारा गया और सब ओरसे संत्रस्त होता हुआ भय-जनित भयकर दु ख को सहता है ॥ १ ॥ तिर्यंच परस्परमें एक दूसरेको खाते हुए दारुण दुःख पाते हैं । जिस योनिमे माता भी अपने पुत्रको खा लेती है, वहा दूसरा कौन रक्षा कर सकता है ॥ २ ॥

—स्वामिकार्ति० अनु०, गा० ४१-४२

★ भाडमे भुनते हुए धान्यमें से दैववशात् जैसे कोई एक दाना उछलकर बाहिर आ पडता है उसी प्रकार दैववशात् एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियोमें से कोई एक जीव निकलकर पञ्चेन्द्रियोमें उत्पन्न हो जाता है, तब उसे खिल्लविल्ल योगसे उपन्न होना कहते है ।

पुव्वं दाणं दाऊण को वि सधणो जणस्स जहजोग्गं ।
पच्छा सो धणरहिओ ण लहइ कूरं पि जायंतो ।। १८६
अण्णो उ पावरोएण[1] वाहिओ णयर-वज्झदेसम्मि ।
अच्छइ सहायरहिओ ण लहइ सघरे वि चिट्ठेउं ।। १८७
तिसओ वि भुक्खिओ[2] हं पुत्ता मे देहि[3] पाणमसणं च ।
एवं कूवंतस्स[4] वि ण कोइ वयणं च से देइ ।। १८८
तो रोय-सोयभरिओ सव्वेसिं सव्वहियाउ[5] दाऊण ।
दुक्खेण मरइ पच्छा धिगत्थु मणुयत्तणमसारं ।। १८९
अण्णाणि एवमाईणि जाणि दुक्खाणि मणुयलोयम्मि ।
दीसंति ताणि पावइ वसणस्स फलेणिमो जीवो ।। ११०

देवगतिदुःख-वर्णन

किंचुवसमेण पावस्स कह वि देवत्तणं वि संपत्तो ।
तत्थ वि पावइ दुक्खं विसणज्जियकम्मपागण । १९१
दट्ठूण महड्ढीणं देवाणं ठिइज्जरिद्धिमाहप्पं । अप्पड्ढिओ विसूरइ माणसदुक्खेण डज्झंतो ।। १९२
हा मणुयभवे उप्पज्जिऊण तव-संजमं वि लद्धूण । मायाए जं वि कयं[6] देवदुग्गयं तेण संपत्तो । १९३
कंदप्प-किब्भिसासुर-वाहण-सम्मोह[7]देवजाईसु । जावज्जीवं णिवसइ विसहंतो माणसं दुक्खं ।। १९४

पराये घरमे जूठन खाता हुआ दुःखके साथ जीता है ।। १८५ ।। यदि कोई मनुष्य पूर्वभवमे मनुष्योको यथायोग्य दान देकर इस भवमें धनवान् भी हुआ और पीछे (पाप उदयसे) धन-रहित हो गया. तो मांगनेपर खानेको कूर (भात) तक नहीं पाता है ।। १८६ ।। कोई एक मनुष्य पापरोग अर्थात् कोढसे पीडित होकर नगरसे बाहर किसी एकान्त प्रदेशमें सहाय-रहित होकर अकेला रहता है, वह अपने घरमे भी नहीं रहने पाता ।। १८७ ।। मैं प्यासा हुं और भूखा भी हूं; बच्चो, मुझे अन्न जल दो—खाने-पीनेको दो—इस प्रकार चिल्लाते हुए भी उसको कोई वचनसे भी आश्वासन तक नहीं देता हैं ।। १८८ ।। तब रोग-शोकसे भरा हुआ वह सब लोगोको नाना प्रकारके कष्ट देकरके पीछे स्वयं दुःखसे मरता है । ऐसे असार मनुष्य जीवनको धिक्कार है ।। १८९ ।। इन उपर्युक्त दुःखोंको आदि लेकर जितने भी दुःख मनुष्यलोकमे दिखाई देते हैं, उन सबको व्यसनके फलसे यह जीव पाता है ।। १९० ।। यदि किसी प्रकार पापके कुछ उपशम होनेसे देवपना भी प्राप्त हुआ तो, वहांपर भी व्यसन-सेवनसे उपार्जित कर्मके परिपाकसे दुःख पाता है ।। १९१ ।। देव,पर्यायमें महर्द्धिक देवोंकी अधिक स्थिति-जनित ऋद्धिके माहात्म्यको देखकर अल्प ऋद्धिवाला वह देव मानसिक दुःखसे जलता हुआ, विसूरता (झूरता) रहता है ।। १९२ ।। और सोचा करता है कि हाय, मनुष्य-भवमें भी उत्पन्न होकर और तप-संयमको भी पाकर उसमें मैंने जो मायाचार किया, उसके फलसे मै इस देव-दुर्गतिको प्राप्त हुआ हूँ, अर्थात् नीच जातिका देव हुआ हूँ ।। १९३ ।। कन्दर्प, किल्विषिक, असुर, वाहन, सम्मोहन आदि देवोकी कुजातियोमे इस प्रकार मानसिक दुःख सहता हुआ वह यावज्जीवन निवास करता है ।। १९४ देवगतिमें छह मास आयुके शेष रह जानेपर वस्त्र और आभूषण मैले

१ कुष्टरोगेणेत्यर्थः । २ ब. 'पमुक्खिओ' ३ ब. देह । ४ (कूजंतस्स ?) । ५ ब सवहियाउ । सर्वाहितान् इत्यर्थः । ६ ड. कं कप्पं, झ. वि जं कयं । ७ ड. समोह ।

छम्मासाउयसेसे वत्थाहरणाइं हुंति मलिणाइं। णाऊण चवणकालं अहिययरं रुयइ सोगेण ॥ १९५

हा हा कह णिल्लोए[1] किमिकुलभरियम्मि अइदुगंधम्मि।
णवमासं पुइ-रुहिराउलम्मि गब्भम्मि वसियव्वं ॥ १९६

किं करमि[2] कत्थ वच्चम्मि कस्स साहामि जामि कं सरणं।
ण वि अत्थि एत्थ बंधू जो मे धारेइ णिवडंतं ॥ १९७

वज्जाउहो[3] महप्पा एरावण-वाहणो सुरिंदो वि। जावज्जीवं सो सेविओ वि ण धरेइ मं तहवि ॥ १९८

जइ मे होहिहि मरणं ता होज्जउ किंतु मे समुप्पत्ती।
एगिंदिएसु जाइज्जा णो मणुस्सेसु कइया वि ॥ १९९

अहवा किं कुणइ पुराज्जियम्मि उदयागयम्मि कम्मम्मि।
सक्को वि जदो ण तरइ अप्पाणं रक्खिउं काले ॥ २००

एवं बहुप्पयारं सरणविरहिओ खरं विलवमाणो। एइंदिएसु जायइ मरिऊण तओ णियाणेण ॥ २०१

तत्थ वि अणंतकालं किलिस्समाणो सहेइ बहुदुक्खं।
मिच्छत्तसंसियमई जीवो किं किं दुक्खं[4] ण पाविज्जइ[5] ॥ २०२

पिच्छह[6] दिव्वे भोये जीवो भोत्तूण देवलोयम्मि। एइंदिएसु जायइ धिगत्थु[7] संसारवासस्स ॥ २०३

एवं बहुप्पयारं दुक्खं संसार-सायरे घोरे। जीवो सरण-विहीणो विसणस्स फलेण पाउणइ ॥ २०४

दर्शनप्रतिमा

★पंचुंबरसहियाइं परिहरेइ इय[8] जो सत्त विसणाइं। सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावयो भणिओ ॥

अर्थात् कान्ति-रहित हो जाते हैं, तब वह अपना च्यवन-काल जानकर शोकसे और भी अधिक रोता है ॥ १९५ और कहता है कि हाय हाय, किस प्रकार अब मैं मनुष्य-लोकमे कृमि-कुल-भरित, अति दुर्गन्धित, पीप और खूनसे गर्भमें नौ मास रहूँगा ? ॥ १९६ ॥ मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे कहूँ, किसको प्रसन्न करूँ, किसके शरण जाऊँ यहा पर मेरा कोई भी ऐसा बन्धु नही है, जो यहाँसे गिरते हुए मुझे बचा सके ॥ १९७ ॥ वज्रायुध, महात्मा, ऐरावत हाथीकी सवारी-वाला और यावज्जीवन जिसकी सेवा की है, ऐसा देवोका स्वामी इन्द्र भी मुझे यहाँ नही रख सकता है ॥ १९८ ॥ यदि मेरा मरण हो, तो भले ही हो, किन्तु मेरी उत्पत्ति एकेन्द्रियोमे होवे, पर मनुष्योमे तो कदाचित् भी नही होवे ॥ १९९ ॥ अथवा अब क्या किया जा सकता है, जब कि पूर्वोपार्जित कर्मके उदय आनेपर इन्द्र भी मरण-कालमे अपनी रक्षा करनेके लिए शक्त नही है ॥ २०० ॥ इस प्रकार शरण-रहित होकर वह देव अनेक प्रकारके करुण विलाप करता हुआ निदानके फलसे वहाँसे मरकर एकेन्द्रियोमे उत्पन्न होता है ॥ २०१ ॥ वहाँ पर भी अनन्त काल तक क्लेश पाता हुआ बहुत दु खको सहन करता है। सच बात तो यह है कि मिथ्यात्वसे संसिक्त बुद्धिवाला जीव किस-किस दु खको नही पाता है ॥ २०२ ॥ देखो, देवलोकमे दिव्य भोगोको भोगकर यह जीव एकेन्द्रियोंमे उत्पन्न होता है ऐसे संसार-वासको धिक्कार है ॥ २०३ ॥ इस तरह अनेक प्रकारके दुःखोको घोर ससार-सागरमें यह जीव शरण-रहित होकर अकेला ही व्यसनके फलसे प्राप्त होता है ॥ २०४ ॥ जो सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध-बुद्धि जीव इनपच उदुम्बर सहित सातो व्यसनोका परित्याग

---

१ नृलोके। २ इ॰ करम्मि। ३ वज्रायुधः। ४ ब॰ प्रतौ 'दुक्ख' इति पाठो नास्ति। ५ झ पाविज्जा। प॰ पाविज्ज। ६ प॰ पेच्छह। ७ ब धिगत्थ ८ प ध॰ प्रत्यो इय पदं गाथारम्भेऽस्ति।

★ उदुम्बराणि पञ्चैव सप्त च व्यसनान्यपि। वर्जयेद्य स सागारो भवेद्दार्शनिकाह्वय ॥ १२ ॥ गुण॰श्रा॰

एवं दंसणसावयठाणं पढमं समासओ भणियं । वयसावयगुणठाणं एत्तो विदियं पवक्खामि ॥ २०६

द्वितीय व्रतप्रतिमा-वर्णन

※पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति पुण[1] तिण्णि ।
सिक्खावयाणि चत्तारि जाण विदियम्मि ठाणम्मि ॥ २०७

पाणाइवायविरई सच्चमदत्तस्स वज्जणं चेव । थूलयड बंभचेरं[2] इच्चाए गंथपरिमाणं ॥ २०८
ते तसकाया जीवा पुव्वुद्दिट्ठा ण हिंसियव्वा[3] ते । एइंदिया वि णिक्कारणेण पढमं वयं थूलं ॥ २०९
‡अलियं ण जंपणीयं पाणिवहकरं तु सच्चवयणं पि । रायेण य दोसेण य णेयं विदियं[4] वयं थूलं ॥ २१०
‡पुर-गाम-पट्टणाइसु पडियं णट्ठंचणिहिय वीसरियं परदव्वमगिण्हंतस्स होइ थूलवयं तदियं[5] ॥ २११
★पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीडा सया विवज्जतो। थूलयडबंभयारी जिणेहि भणिओ पवयणम्मि ॥ २१२

जं परिमाणं कीरइ धण-धण्ण-हिरण्ण-कंचणाईणं ।
तं जाण[6] पंचमवयं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥ २१३ (१)

गुणव्रत-वर्णन

पुव्वुत्तर-दक्खिण-पच्चिमासु काऊण जोयणपमाणं
परदो[7] गमणणियत्ती दिसि विदिसि गुणव्वयं पढमं ॥ २१४ (२)

करता है, वह प्रथम प्रतिमाधारी दर्शन-श्रावक कहा गया है ॥ २०५ ॥ इस प्रकार दार्शनिक श्रावकका पहला स्थान सक्षेपसे कहा । अब इससे आगे व्रतिक श्रावकका दूसरा स्थान कहता हूँ ॥२०६॥ द्वितीय स्थानमे, अर्थात् दूसरी प्रतिमामे पाँचों ही अणुव्रत, तीन गुणव्रत, तथा चार शिक्षाव्रत होते है ऐसा जानना चाहिए ॥ २०७ ॥ स्थूल प्राणातिपातविरति, स्थूल सत्य, अदत्त वस्तुका वर्जन स्थूल ब्रह्मचर्य और इच्छानुसार स्थूल परिग्रहका परिमाण ये पांच अणुव्रत होते है ॥ २०८ ॥ जो त्रसजीव पहले बतलाये गये हैं, उन्हे नही मारना चाहिए और निष्कारण णर्थात् बिना प्रयोजन एकेन्द्रिय जीवोको भी नहीं मारना चाहिए, यह पहला स्थूल अहिंसाव्रत है ॥२०९॥ रागसे अथवा द्वेषसे झूठ वचन नही बोलना चाहिए और प्राणियोंका घात करनेवाला सत्य वचन भी नही बोलना चाहिए, यह दूसरा स्थूल सत्यव्रत जानना चाहिए ॥ २१० ॥ पुर, ग्राम, पत्तन, क्षेत्र आदिमे पडा हुआ, खोया हुआ, रखा हुआ, भूला हुआ, अथवा रख करके भूला हुआ पराया द्रव्य नही लेनेवाले जीवके तीसरा स्थूल अचौर्यव्रत होता है ॥ २११ ॥ अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमे स्त्री-सेवन और सदैव अनगक्रीडाका त्याग करने वाले जीवको प्रवचनमें जिनेन्द्र भगवान्ने स्थूल ब्रह्मचारी कहा है ॥ २१२ ॥ धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण आदिका जो परिमाण किया जाता है, वह पंचम अणुव्रत जानना चाहिए, ऐसा उपासकाध्ययनमें कहा गया है ॥ २१३ ॥ पूर्व, उत्तर. दक्षिण और पश्चिम

---

१ ब. तद । (तह ?) २ व बंभचेरो । ३ इ हिंसयव्वा । ४ इ. झ विडय, वियं । ५ ब. तइय । ६ ब. जाणि । ७ ब परओ ।

※ पंचधाणुव्रतं यस्य त्रिविधं च गुणव्रम् । शिक्षाव्रत चतुर्धा स्यात्स. भवेद् व्रतिको यति ॥ १३० ॥
‡ क्रोधादिनापि नो वाच्यं वचोऽसत्य मनीषिणा । सत्य तदपि नो वाच्य यत्स्यात् प्राणिविघातकम् ॥१३४॥
‡ ग्रामे चतुष्पथादौ वा विस्मृतं पतितं धृतम् । परद्रव्यं हिरण्यादि वर्ज्यं स्तेयविवर्जिना ॥ १३५ ॥
★ स्त्रीसेवानंगरमणं य पर्वणि परित्यजत्।स. स्थूलब्रह्मचारी च प्रोक्त प्रवचने जिने ॥१३६ –गुण०श्राव०
(१) धनधान्यहिरण्यादिप्रमाणं यद्विधीयते । ततोऽधिके च दातास्मिन् निवृत्ति सोऽपरिग्रह ॥१३७॥
(२) दिग्देशानर्थदण्डविरति। स्याद् गुणव्रतम् । सा दिगाविरतिया स्याद्दिशानुगमनप्रमा ॥ १४० ॥

वय-भंगकारणं होइ जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण ।
कीरइ गमणणियत्ती तं जाण गुणव्वयं विदियं[1] ।। २१५ (१)
अय-दंड-पास-विक्कय-कूड-तुलामाण-कूरसत्ताणं ।
जं संगहो[2] ण कीरइ तं जाण गुणव्वयं तदियं[3] ।। २१६ (२)

शिक्षाव्रत-वर्णन

जं परिमाणं कीरइ मंडण-तंबोल-गंध-पुप्फाणं। तं भोयविरइ भणियं पढमं सिक्खावयं सुत्ते। २१७ (३)
सगसत्तीए महिला-वत्थाहरणाण जं तु परिमाणं ।
तं परिभोयणिवुत्ती[4] विदियं[5] सिक्खावयं जाण ।। २१८ (४)
अतिहिस्स संविभागो तइयं सिक्खावयं मुणेयव्वं तत्थ वि पंचहियारा णेया सुत्ताणुमग्गेण।। २१९ (५)
पत्तंतर दायारो दाणविहाणं तहेव दायव्वं । दाणस्स फलं णेया पंचहियारा कमेणेदे ।। २२० (६)

दिशाओंमे योजनोंका प्रमाण करके उससे आगे दिशाओ और विदिशाओमे गमन नही करना, यह प्रथम दिग्व्रत नामका गुणव्रत है ।। २१४ ।। जिस देशमे रहते हुए व्रत-भगका कारण उपस्थित हो, उस देशमे नियमसे जो गमननिवृत्ति की जाती है, उसे दूसरा देशव्रत नामका गुणव्रत जानना चाहिए ।। २१५ ।। लोहेके शस्त्र तलवार, कुदाली वगैरहके, तथा दडे और पाश (जाल) आदिके बेचनेका त्याग करना, झूठी तराजू और कूट मान अर्थात् नापने-तोलने आदिके बाँटोको कम नही रखना, तथा बिल्ली, कुत्ता आदि क्रूर प्राणियोका सग्रह नही करना, सो यह तीसरा अनर्थदण्डत्याग नाम, का गुणव्रत जानना चाहिए।। २१६।। मडन अर्थात् शारीरिक शृङ्गार, ताम्बूल, गध और पुष्पादिक-का जो परिमाण किया जाता है, उसे उपासकाध्ययन सूत्रमे भोगविरति नामका प्रथम शिक्षाव्रत कहा गया है ।। २१६ ।। अपनी शक्तिके अनुसार स्त्री-सेवन और वस्त्र-आभूषणोका जो परिमाण किया जाता है, उसे परिभोग-निवृति नामका द्वितीय शिक्षाव्रत जानना चाहिए ।। २१८ ।। अतिथिके सविभागको तीसरा शिक्षाव्रत जानना चाहिए । इस अतिथिसंविभागके पाँच अधिकार उपासका-ध्ययन सूत्रके अनुसार (निम्न प्रकार) जानना चाहिए।। २१९।। पात्रोका भेद, दातार, दान-विधान, दातव्य अर्थात् देने योग्य पदार्थ और दानका फल, ये पाँच अधिकार क्रमसे जानना चाहिए ।।२२०।।

---

१ इ. झ. ब. विइय । २ व सगहे । ३ इ. झ प तइय, ब तियइ । ४ ब णियत्ती । ५ झ. विइयं, ब. वीय ।

(१) यत्र व्रतस्य भग स्याद्देशे तत्र प्रयत्नत । गमनस्य निवृत्तिर्या सा देशविरतिर्मता ।।१४१।।
(२) कूटमानतुला-पास-विष-शस्त्रादिकस्य च । क्रूरप्राणिभृता त्यागस्तत्तृतीय गुणव्रतम् ।।१४२।।
(३) भोगस्य चोपभोगस्य सख्यान पात्रसत्क्रिया ।सल्लेखनेति शिक्षाख्य व्रतमुक्त चतुर्विधम्।।१४३।।
य. सकृद् भुज्यते भोगस्ताम्बूलकुमादिकम् ।
तस्य या क्रियते सख्या भोगसख्यानमुच्यते ।। १४४ ।।—गुण० श्राव०
(४) उपभोगो मुहुर्भोग्यो वस्त्रस्याभरणादिकः ।या यथाशक्तित सख्या सोपभोगप्रमोच्यते।।१४५।।
(५) स्वस्य पुण्यार्थमन्यस्य रत्नत्रसमृद्धये । यद्दीयतेऽत्र तद्दान तत्र पञ्चाधिकारकम् ।। १४६ ।।
(६) पात्र दाता दानविधिर्देय दानफल तथा । अधिकारा भवन्त्येते दाने पञ्च यथाक्रमम् ।।१४ ।।

पात्रभेद-वर्णन

तिविहं मुणेह पत्तं उत्तम-मज्झिम-जहण्णभेएण वय-णियम-संजमधरो उत्तमपत्तं हवे साहू ॥२२१(१

एयारस ठाणठिया मज्झिमपत्तं खु सावया भणिया ।
अविरयसम्माइट्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वं ॥ २२२ (२)
वय-तव-सीलसमग्गो सम्मत्तविवज्जिओ कुपत्तं तु ।
सम्मत्त-सील-वयवज्जिओ अपत्तं हवे जीओ ॥ २२३ (३)

दातार-वर्णन

सद्धा भत्ती तुट्ठी विण्णाणमलुद्धया[1] खमा सत्ती[2]। जत्थेदे सत्त गुणा तं दायारं पसंसंति ॥२२४(४)

दानविधि-वर्णन

पडिगहमुच्चट्ठाणं[3] पादोदयमच्चणं च पणमं च ।
मणन्वयण-कायसुद्धी एसणसुद्धी य दाणविही ॥ २२५ (५)

पत्तं णियघरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा विमग्गित्ता । पडिगहणं कायव्वं णमोत्थु ठाहु त्ति भणिऊण ॥ २२६

णेऊण णिययगेहं णिरवज्जाणु तह उच्चठाणम्मि ।
ठविऊण तओ चलणाण धोवणं होइ कायव्वं ॥ २२७
पाओदयं पवित्तं सिरम्मि काऊण अच्चणं कुज्जा ।
गंधक्खय-कुसुम-णेवज्ज-दीव-धूवेहि य फलेहि ॥ २२८

उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके पात्र जानना चाहिए। उनमे व्रत, नियम और संयमका धारण करनेवाला साधु उत्तम पात्र है ॥ २२१ ॥ ग्यारह प्रतिमा-स्थानोमे स्थित श्रावक मध्यम पात्र कहे गये हैं, और अविरत सम्यग्दृष्टि जीवको जघन्य पात्र जानना चाहिए ॥ २२२ ॥ जो व्रत, तप और शीलसे सम्पन्न है, किन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित है, वह कुपात्र है। सम्यक्त्व, शील और व्रतसे रहित जीव अपात्र है ॥ २२३ ॥

जिस दातारमे श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति,, ये सात गुण होते हैं, ज्ञानी जन उस दातारकी प्रशंसा करते है ॥ २२४ ॥ प्रतिग्रह अर्थात् पडिगाहना—सामने जाकर लेना, उच्चस्थान देना अर्थात् ऊँचे आसन पर बिठाना, पादोदक अर्थात् पैर धोना, अर्चा करना, प्रणाम करना, मन.शुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और एषणा अर्थात् भोजनकी शुद्धि, ये नौ प्रकारकी दानकी विधि हैं ॥ २२५ ॥ पात्रको अपने घरके द्वारपर देखकर, अथवा अन्यत्रसे विमार्गण कर—खोजकर, 'नमस्कार हो, ठहरिए,' ऐसा कहकर प्रतिग्रहण करना चाहिए ॥ २२६ ॥ पुन' अपने

---

१ ब. मलुद्धदया। २ प ध सत्तं। ३ ध. उच्च।

(१) पात्र त्रिधोत्तम चैतन्मध्यमं च जघन्यकम्। सर्वसंयमसयुक्त। साधु स्यात्पात्रमुत्तमम् ॥ १४८ ॥
(२) एकादशप्रकारोऽसौ गृही पात्रमनुत्तमम्। विरत्या रहितं सम्यग्दृष्टिपात्रं जघन्यकम्॥ १४९ ॥
(३) तप शीलव्रतैर्युक्तः कुदृष्टिः स्यात्कुपात्रकम्। अपात्रं व्रतसम्यक्त्वतप.शीलविवर्जितम् ॥ १५० ॥
—गुण० श्रा०

(४) श्रद्धा भक्तिश्च विज्ञान तुष्टिः शक्तिरलुब्धता। क्षमा च यत्र सप्तैते गुणा दाता प्रशस्यते ॥ १५१ ॥
(५) स्थापनोच्चासनपाद्यपूजाप्रणमनैस्तथा। मनोवाक्कायशुद्धया वा शुद्धो दानविधि. स्मृत ॥ १५२ ॥
—गुण० श्रा०

पुप्फंजलिं खिवित्ता पयपुरओ वंदणं तओ कुज्जा। चइऊण अट्ट-रुद्दे मणसुद्धी होइ कायव्वा ॥ २२९
णिट्ठुर-कक्कस वयणाइवज्जणं तं वियाण वचिसुद्धि।सव्वत्थ संपुडंगस्स होइ तह कायसुद्धी वि ।२३०
★चउदसमलपरिसुद्धं जं दाणं सोहिऊण जइणाए ।संजमिजणस्स दिज्जइ सा णेया एसणासुद्धी ॥२३१
दाणसमयम्मि एवं[1] सुत्तणुसारेण णव विहाणाणि।भणियाणि मए एण्हिं दायव्वं वण्णइस्सामि ॥२३२

दातव्य-वर्णन

आहारोसह-सत्थाभयभेओ जं चउव्विहं दाणं। तं वुच्चइ[2] दायव्वं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥ २३३
असणं पाणं खाइमं साइयमिदि चउविहो वराहारो।
पुव्वुत्त-णव-विहाणेहिं तिविहपत्तस्स दायव्वो ॥ २३४
अइवुड्ढ-बाल-मूयंध-बहिर देसंतरीय-रोडाणं[3]।जहजोग्गं दायव्वं करुणादाण त्ति भणिऊण ॥ २३५
उववास-वाहि-परिसम-किलेस[4]परिपीडयं मुणेऊण। पत्थं सरीरजोग्गं भेसजदाणं पि दायव्वं ॥२३६
आगम-सत्थाइं लिहाविऊण दिज्जंति जं जहाजोग्गं।
तं जाण सत्थदाणं जिणवयणज्झावणं च तहा ॥ २३८

घरमे ले जाकर निरवद्य अर्थात् निर्दोष तथा ऊचे स्थानपर बिठाकर, तदनन्तर उनके चरणोको धोना चाहिए ॥ २२७ ॥ पवित्र पादोदकको शिरमे लगाकर पुनः गंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोसे पूजन करना चाहिए ॥ २२८ ॥ तदनन्तर चरणोके सामने पुष्पाजलि क्षेपण कर वंदना करे। तथा, आर्त और रौद्र ध्यान छोडकर मनःशुद्धि करना चाहिए ॥ २२९ ॥ निष्ठुर और कर्कश आदि वचनोके त्याग करनेको वचनशुद्धि जानना चाहिए। सब ओर सपुटित अर्थात् विनीत अग रखनेवाले दातारके कायशुद्धि होती है ॥ २३० ॥ चौदह मल-दोषोसे रहित, यतनासे शोधकर सयमी जनको जो आहारदान दिया जाता है, वह एषणा-शुद्धि जानना चाहिए ॥ २३१ ॥

विशेषार्थ-नख, जंतु, केश, हड्डी, मल, मूत्र, मांस, रुधिर, चर्म, कंद, फल, मूल, बीज और अशुद्ध आहार ये भोजन-सम्बन्धी चौदह दोष होते है। इस प्रकार उपासकाध्ययन सूत्रके अनुसार मैंने दानके समयमे आवश्यक नौ विधानो को कहा। अब दातव्य वस्तुका वर्णन करूँगा॥२३२॥ आहार, औषध, शास्त्र और अभयक भेदसे जो चार प्रकारका दान है, वह दातव्य कहलाता है, ऐसा उपासकाध्ययनमे कहा गया है ॥ २३३ ॥ अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ये चार प्रकारका श्रेष्ठ आहार पूर्वोक्त नवधा भक्तिसे तीन प्रकारके पात्रको देना चाहिए ॥ २३४ ॥ अति वृद्ध, बालक, मूक (गूँगा), अध वधिर (बहिरा) देशान्तरीय (परदेशी) और रोगी दरिद्री जीवोको 'करुणादान दे रहा हूँ' ऐसा कहकर अर्थात् समझकर यथायोग्य आहार आदि देना चाहिए ॥ २३५ ॥ उपवास; व्याधि, परिश्रम और क्लेशसे परिपीडित जीवको जानकर अर्थात् देखकर शरीरके योग्य पथ्यरूप औषधदान भी देना चाहिए ॥२३६॥ जो आगम—शास्त्र लिखाकर यथायोग्य पात्रोको दिये जाते हैं, उसे शास्त्र-दान जानना चाहिए। तथा जिन-वचनोंका अध्यापन कराना—पढाना भी शास्त्रदान है ॥ २३७ ॥

---

१ झ ब. एय। २ इ. वच्चइ,। ३ दरिद्राणाम्। ४ झ पडि०।

† झ ध ब. प्रतिषु गाथेयमधिकोपलभ्यते—

णह-जंतु-रोम-अट्ठी-कण-कुडय-मस-रुहिर-चम्माइं। कंद-फल-मूल-बीया छिण्ण मला चउद्दसा होंति ॥ १ ॥
—मूलाचार ४८४

जं कीरइ परिरक्खा णिच्चं मरण-भयभीरुजीवाणं। तं जाण अभयदाणं सिहामणिं सव्वदाणाणं ॥२३८

दानफल-वर्णन

अण्णाणिणो वि जम्हा कज्जं ण कुणंति णिप्फलारंभं।
तम्हा दाणस्स फलं समासदो वण्णइस्सामि ॥ २३९
जह उत्तमम्मि खित्ते[1] पइण्णमण्णं सुबहुफलं होइ। तह दाणफलं णेयं दिण्णं तिविहस्स पत्तस्स। २४०
जह मज्झिमम्मि खित्ते[2] अप्पफलं होइ वावियं बीयं।
मज्झिमफलं विजाणह कुपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥ २४१
जह ऊसरम्मि खित्ते[3] पइण्णबीयं ण किं पि[4] रुहेइ।
फलवज्जियं वियाणह अपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥ २४२
कम्हि [5]अपत्तविसेसे दिण्णं दाणं दुहावहं होइ। जह विसहरस्स दिण्णं तिव्वविसं जायए खीरं ॥ २४३
मेहावीणं[6] एसा सामण्णपरूवणा मए उत्ता। इण्हि पभणामि फलं समासओ मंदबुद्धीणं । २४४
मिच्छादिट्ठी भद्दो दाणं जो देइ उत्तमं पत्ते। तस्स फलेणुववज्जइ सो उत्तमभोयभूमीसु ॥ २४५
जो मज्झिमम्मि पत्तम्मि देइ दाणं खु वामदिट्ठी वि।
सो मज्झिमासु जीवो उप्पज्जइ भोयभूमीसु ॥ २४६
जो पुण जहण्णपत्तम्मि देइ दाणं तहाविहो वि णरो।
जायइ फलेण जहण्णसु भोयभूमीसु सो जीवो ॥ २४७
जायइ कुपत्तदाणेण वामदिट्ठी कुभोयभूमीसु। अणुमोयणेण तिरिया वि उत्तदुणं जहाजोग्गं ॥ २४८

मरणसे भयभीत जीवोका जो नित्य परिरक्षण किया जाता है, वह सर्व दानोका शिखामणिरूप अभयदान जानना चाहिए ॥ २३८ ॥ चूँकि, अज्ञानीजन भी निष्फल आरम्भवाले कार्यको नही करते हैं, इसलिए मै दानका फल सक्षेपसे वर्णन करूँगा ॥ २३९ ॥ जिस प्रकार उत्तम खेतमे बोया गया अन्न बहुत अधिक फलको देता है, उसी प्रकार त्रिविध पात्रको दिये गये दानका फल जानना चाहिए ॥ २४० ॥ जिस प्रकार मध्यम खेतमे बोया गया बीज अल्प फल देता है, उसी प्रकार कुपात्रमे दिया गया दान मध्यम फलवाला जानना चाहिए ॥ २४१ ॥ जिस प्रकार ऊसर खेतमे बोया गया बीज कुछ भी नही ऊगता है उसी प्रकार कुपात्रमे दिया गया दान भी फल-रहित जानना चाहिए ॥ २४२ ॥ प्रत्युत किसी अपात्रविशेषमे दिया गया दान अत्यन्त दु खका देनेवाला होता है । जैसे विषधर सर्पको दिया गया दूध तीव्रविषरूप हो जाता है ॥ २४३ ॥ मेधावी अर्थात् बुद्धिमान् पुरुषोके लिए मैने यह उपर्युक्त दानके फलका सामान्य प्ररूपण किया है । अब मन्दबुद्धिजनोके लिए सक्षेपसे (किन्तु पहलेकी अपेक्षा विस्तारसे) दानका फल कहता हूँ । २४४ ॥

जो मिथ्यादृष्टि भद्र अर्थात् मन्दकपायी पुरुष उत्तम पात्रमे दान देता है, उसके फलसे वह उत्तम भोगभूमियोमे उत्पन्न होता है ॥ २४५ ॥ जो मिथ्यादृष्टि भी पुरुष मध्यम पात्रमें दान देता है, वह जीव मध्यम भोगभूमियोमे उत्पन्न होता है ॥ २४५ ॥ और जो तथाविध अर्थात् उक्त प्रकार का मिथ्यादृष्टि भी मनुष्य जघन्य पात्रमे दानको देता है, वह जीव उस दानके फलसे जघन्य भोगभूमियोमे उत्पन्न होता है ॥ २४७ ॥ मिथ्यादृष्टि जीव कुपात्रको दान देनेसे कुभोगभूमियोमे उत्पन्न

१, २, ३, झ ब. छित्ते । ४ झ. किंचि रु होइ, ब. किंति विरु होइ । ५ अ. ब. उ पत्त० । ६ प्रतिपु 'मेहाविऊण' इति पाठ ।

बद्धाउगा सुदिट्ठी[1] अणुमोयणेण तिरिया। णियमेणुववज्जंति य ते उत्तमभोगभूमीसु ॥ २४९
तत्थ वि दहप्पयारा कप्पदुमा दिंति उत्तमे भोए। खेत्त[2] सहावेण सया पुव्वज्जियपुण्णसहियाणं ॥२५०
मज्जंग-तूर-भूसण-जोइस-गिह-भायणंग-दीवंगा। वत्थंग-भोयणंगा मालंगा सुरतरू दसहा ॥ २५१
अइसरसमइसुगंधं दिट्ठं[3] चि य जं[4] जणेइ अहिलासं।इंदिय-बलपुट्ठियरं मज्जंगा पाणयं दिंति ॥२५२
तय-वितय घणं सुसिरं वज्जं तूरंगपायवा दिंति। वरमउड-कुंडलाइय-आभरणं भूसणदुमा वि ॥ २५३

ससि-सूरपयासाओ अहियपयासं कुणंति जोइदुमा।
णाणाविहपासाए दिंति सया गिहदुमा दिव्वे ॥ २५४

कच्चोल[5]-कलस-थालाइयाइं भायणदुमा पयच्छंति। उज्जोयं दीवदुमा कुणंति गेहस्स मज्झम्मि ॥
वर-पट्ट-चीण-खोमाइयाइं वत्थाइ दिंति वत्थदुमा।वर-चउविहमाहारं भोयणरुक्खा पयच्छंति।।२५६
वर बहुल[6] परिमलामोयमोइयासामुहाउ मालाओ। मालादुमा पयच्छंति विविहकुसुमेहिं रइयाओ ॥
उक्किट्ठभोयभूमीसु जे णरा उदय-सुज्ज-समतेया। छधणुसहस्सुत्तुंगा हुंति तिपल्लाउगा सव्वे ॥

होता है। दानकी अनुमोदना करनेसे तिर्यञ्च भी यथायोग्य उपर्युक्त स्थानोको प्राप्त करते है. अर्थात् मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च उत्तम पात्र दानकी अनुमोदनासे उत्तम भोगभूमिमे, मध्यम पात्रदानकी अनुमोदनासे मध्यम भोगभूमिमे, जघन्य पात्रदानकी अनुमोदनासे जघन्य भोगभूमिमे जाता है इसी प्रकार कुपात्र और अपात्र दानकी अनुमोदनासे भी तदनुकूल फलको प्राप्त होता है ॥ २४८ ॥

बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि अर्थात् जिसने मिथ्यात्व अवस्थामें पहिले मनुष्यायुको बाँध लिया है, और पीछे सम्यग्दर्शनको उत्पन्न किया है, ऐसे मनुष्य पात्रदान देनेसे और उक्त प्रकारके ही तिर्यञ्च पात्र-दानकी अनुमोदना करनेसे नियमसे वे उत्तम भोगभूमियोमे उत्पन्न होते है ॥ २४९ ॥ उन भोगभूमियोमे दश प्रकारके कल्पवृक्ष होते है, जो पूर्वोपार्जित पुण्य-सयुक्त जीवो को क्षेत्रस्वभावसे सदा ही उत्तम भोगोंको देते है ॥२५०॥ मद्याग, तूर्यांग, भूषणांग, ज्योतिरंग, गृहांग, भाजनांग दीपाग, वस्त्राग, भोजनाग, और मालाग ये दश प्रकारके कल्पवृक्ष होते है ॥ २५१ ॥ अति सरस, अति सुगन्धित, और जो देखने मात्रसे ही अभिलाषाको पैदा करता है, ऐसा इन्द्रिय-बलका पुष्टि कारक पानक (पेय पदार्थ) मद्यांगवृक्ष देते है ॥ २५२ ॥ तूर्याग जातिके कल्पवृक्ष तत, वितत, घन और सुषिर स्वरवाले बाजोको देते है। भूषणाग जातिके कल्पवृक्ष उत्तम मुकुट, कुण्डल आदि आभूषणोंको देते है ॥ २५३ ॥ ज्योतिरग जातिके कल्पवृक्ष चन्द्र और सूर्यके प्रकाशसे भी अधिक प्रकाश को करते है। गृहांग जातिके कल्पवृक्ष सदा नाना प्रकारके दिव्य प्रासादों (भवनो) को देते है ॥२५४॥ भाजनाग जातिके कल्पवृक्ष वाटली, कलश, थाली आदि भाजनोको देते है। दीपांग जातिके कल्पवृक्ष घरके भीतर प्रकाशको किया करते है ॥२५५॥ वस्त्राग जातिके कल्पवृक्ष उत्तम रेशमो, चीनी और कोशे आदिके वस्त्रोंको देते है। भोजनांग जातिके कल्पवृक्ष उत्तम चार प्रकारके आहारको देते है ॥ २५६ ॥ मालाग जातिके कल्पवृक्ष नाना प्रकारके पुष्पोसे रची हुई और प्रवर, बहुल परिमल सुगधसे दिशाओंके मुखोंको सुगंधित करनेवाली मालाओको देते हैं ॥२५७॥ उत्तम भोगभूमियों मे जा मनुष्य उत्पन्न होते है, वे सब उदय होते हुए सूर्यके समान तेजवाले, छह हजार धनुष ऊँचे और तीन पल्यकी आयुवाले होते हैं ॥ २५८ ॥

---

१ इ. सद्दिट्ठी, ब सद्दिट्ठी। २ झ ब. छित्त०। इ छेत०। ३ झ प. दिट्ठविय। ४ झ 'जं' इति पाठो नास्ति। ५ ब कचोल। ६ व वहल।

देहस्सुच्चत्तं मज्झिमासु चत्तारि धणुसहस्साइं । पल्लाणि दुण्णि आऊं पुण्णिदुसमप्पहा पुरिसा ॥
दोधणुसहस्सुत्तुंगा[1] मणुया पल्लाउगा जहण्णासु । उत्तत्तकणयवण्णा[2] हवंति पुण्णाणुभावेण ॥ २६०
जे पुण कुभोयभूमीसु सक्कर-समसायमट्टियाहारा[3] फल-पुप्फहारा केई तत्थ पल्लाउगा सव्वे ॥
जायंति जुयल-जुयला उणवण्णदिणेहिं जोव्वणं तेहिं । समचउरससंठाणा वरवज्जसरीरसंघयणा[4] ॥
बाहत्तरि[5]-कलसहिया चउसट्ठिगुणण्णिया तणुकसाया।बत्तीसलक्खणधरा उज्जमसीला विणीया य ॥
णवमासाउगि सेसे गब्भं धरिऊण सूइ[6]-समयम्हि।सुहमिच्चुणा मरित्ता णियमा देवत्तु पावंति ॥२६४
जे पुण सम्माइट्ठी विरयाविरया वि तिविहपत्तस्स।जायंति दाणफलओ कप्पेसु महड्ढिया देवा।२६५
अच्छरसयमज्झगया तत्थाणुहविऊण विविहसुरसोक्खं । तत्तो चुया समाणा[7] मंडलियाईसु जायंते[8]॥
तत्थ वि बहुप्पयारं मणुयसुहं भुंजिऊण णिव्विघं । विगदभया[9] वेरग्गकारणं किंचि दट्ठूण । २६७
पडिबुद्धिऊण चइऊण णिवसिरिं संजमं च धित्तूण । उप्पाइऊण णाणं केई गच्छंति णिव्वाणं ॥ २६८
अण्णे उ सुदेवत्तं सुमाणुसत्तं पुणो पुणो लहिऊण[10] । सत्तट्ठभवेहि तओ करंति कम्मक्खयं णियमा ।
एवं पत्तविसेसं दाणविहाणं फल च णाऊण । अतिहिस्स संविभागो कायव्वो देसविरदेहिं[11] ॥ २७०

मध्यम भोगभूमियोंमे देहकी ऊंचाई चार हजार धनुष है, दो पल्यकी आयु है, और सभी पुरुष पूर्णचन्द्रके समान प्रभावाले होते हैं ॥ २५९ ॥ जघन्य भोगभूमियोमे पुण्यके प्रभावसे मनुष्य दो हजार धनुष ऊंचे, एक पल्यकी आयुवाले और तपाये गये स्वर्णके समान वर्णवाले होते है ॥२६०॥ जो जीव कुभोगभूमियोमे उत्पन्न होते हैं, उनमेसे कितने ही वहाँपर स्वभावतः उत्पन्न होनेवाली शक्करके समान स्वादिष्ट मिट्टीका आहार करते है, और कितने ही वृक्षोसे उत्पन्न होनेवाले फल-पुष्पोंका आहार करते हैं और ये सभी जीव एक पल्यकी आयुवाले होते हैं ॥ २६१ ॥ भोगभूमिमे जीव युगल-युगलिया उत्पन्न होते है और वे उनचास दिनोंमे यौवन दशाको प्रप्त हो जाते हैं वे सब समचतुरस्र संस्थानवाले और श्रेष्ठ वज्रवृषभशरीरसंहननवाले होते हैं । २६२ ।। वे भोगभूमिया पुरुष जीव वहत्तर कला-सहित और स्त्रियां चौसठ गुणोसे समन्वित, मन्दकषायी, बत्तीस लक्षणोके धारक, उद्यमशील और विनीत होते है ॥ २६३ ॥ नौ मास आयुके शेष रह जानेपर गर्भको धारण करके प्रसूति-समयमें सुख मृत्युसे मरकर नियमसे देवपनेको पाते हैं ॥ २६४ ॥ जो अविरत सम्यग्दृष्टि और देशसयत जीव हैं, वे तीनो प्रकारके पात्रोको दान देनेके फलसे स्वर्गोमें महर्द्धिक देव होते हैं ॥ २६५ ॥ वहांपर सैकडो अप्सराओंके मध्यमे रहकर नाना प्रकारके देव-सुखोको भोगकर आयुके अन्तमे वहासे च्युत होकर मांडलिक राजा आदिकोमे उत्पन्न होते है ॥ २६६ ॥ वहांपर भी नाना प्रकारके मनुष्य-सुखोको निर्विघ्न भोगकर भय-रहित होते हुए वे कोई भी वैराग्यका कारण देखकर प्रतिबुद्धित हो, राज्यलक्ष्मीको छोडकर और संयमको ग्रहण कर कितने ही केवलज्ञानको उत्पन्न कर निर्वाणको प्राप्त होते है और कितने ही जीव सुदेवत्व और सुमानुषत्वको पुन. पुनः प्राप्तकर सात-आठ भवके पश्चात् नियमसे कर्मक्षयको करते हैं ॥२६७–२६९॥ इस प्रकार पात्र की विशेषताको, दानके विधानको और उसके फलको जानकर देशविरती श्रावकोको अतिथिका सविभाग अर्थात् दान अवश्य करना चाहिए ॥ २७० ॥

---

१ द. सहसा तुगा । २ म. उत्तमकचणवण्णा । ३ इ.—मट्टियायारा । ४ म.—सहणणा । ५ इ. बावत्तर, झ ब. बावत्तरि । ६ इ सूय० । ७ द समाण, झ, ममाना । ८ प. जायति । ९ ब. विगदभयाः । १० ब लहिओ । ११ प. विरएहि ।

सल्लेखना-वर्णन

धरिऊण वत्थमेत्तं परिग्गहं छंडिऊण अवसेसं। सगिहे जिणालए वा तिविहाहारस्स वोसरणं । २७१
जं कुणइ गुरुसयासम्मि[1] सम्ममालोइऊण तिविहेण।सल्लेखणं चउत्थं सुत्ते सिक्खावयं भणियं ।। २७२
एवं वारसभेयं वयठाणं वण्णियं मए विदियं[2] सामाइयं तइज्जं[3] ठाणं संखेवओ वोच्छं ।। २७३

सामायिकप्रतिमा

★होऊण सुई चेइयगिहम्मि सगिहे व चेइयहिमुहो। अण्णत्थ सुइपएसे पुव्वमुहो उत्तरमुहो वा ।।२७४
जिणवयण-धम्म-चेइय-परमेट्ठि-जिणालयाण णिच्चंपि। खं वंदण तियालं कीरइ[4] सामाइयं तं खु ।।
काउस्सग्गम्हि ठिओ लाहालाहं च सत्तु-मित्तं च। संजोय-विप्पजोयं तिण-कचण-चंदणं वासिं[5] २७६
जो पस्सइ समभावं मणम्मि धरिऊण पंचणवयारं। वर-अट्ठपाडिहेरेहिं संजुय जिणसरूव च । २७७
सिद्धसरूवं झायइ अहवा झाणुत्तमं ससंवेयं। खणमेक्कमविचलंगो उत्तमसामाइयं तस्स ।। २७८
एवं तइयं ठाणं भणियं सामाइयं समासेण। पोसहविहिं चउत्थं ठाणं एत्तो पवक्खामि ।। २७९

प्रोषधप्रतिमा

उत्तम-मज्झ-जहण्णं[6] तिविहं पोसहविहाणमुद्दिट्ठ।सगसत्तीए मासम्मि चउस्सु पव्वेसु[7] कायव्वं २८०

वस्त्रमात्र परिग्रहको रखकर और अवशिष्ट समस्त परिग्रहको छोडकर अपने ही घरमे अथवा जिनालयमे रहकर जो श्रावक गुरुके समीपमे मन-वचन-कायसे अपनी भले प्रकार आलोचना करके पानके सिवाय शष तीन प्रकारके आहारका त्याग करता है, उसे उपासकाध्ययनसूत्रमे सल्लेखना नामका चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है। २७१—२७२ । इस प्रकार बारह भेदवाले दूसरे व्रत-स्थानका मैने वर्णन किया। अब सामायिक नामके तीसरे स्थानको मै सक्षेपसे कहूँगा।। २७३।।

स्नान आदिसे शुद्ध होकर चैत्यालयमें अथवा अपने ही घरमे प्रतिमाके सन्मुख होकर, अथवा अन्य पवित्र स्थानमे पूर्वमुख या उत्तरमुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्व, पच परमेष्ठी और कृत्रिम-अकृत्रिम जिनालयोकी जो नित्य त्रिकाल वदना की जाती है, वह सामायिक नामका तीसरा प्रतिमास्थान है।।२७४-२७५ जो श्रावक कार्योत्सर्गमे स्थित होकर लाभ-अलाभको शत्रु-मित्रको, इष्टवियोग-अनिष्ट संयोगको, तृण-काचनको, चन्दनको और कुठारको समभावसे देखता है, और मनमे पच नमस्कारमत्रको धारण कर उत्तम अष्ट प्रतिहार्योसे सयुक्त अर्हन्तजिनके स्वरूपको और सिद्ध भगवान्के स्वरूपको ध्यान करता है, अथवा सवेग-सहित अविचल-अग होकर एक क्षण को भी उत्तम ध्यान करता है, उसके उत्तम सामायिक होती है।। २७६—२७८।। इस प्रकार सामायिक नामका तीसरा प्रतिमास्थान सक्षेपसे कहा। अब इससे आगे प्रोषधविधि मामके चौथे प्रतिमास्थानको कहूँगा।। २७९।।

उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारका प्रोषध-विधान कहा गया है। यह श्रावक-

---

१ इ पयासिम्मि। २ इ. विइय, ब वीयं। ३ इ तइयं, म तिदीय। ४ झ करेइ। ५ कुठारं। ६ इ मज्झम-जहणं। ७ प पव्वसु।

★ वैयथ्रच त्रिविध त्यक्त्वा त्यक्त्वाऽऽरम्भपरिग्रहम्। स्नानादिना विशुद्धागशुद्धया सामायिक भजेत्।। १६४।।
गहे जिनालयेऽन्यत्र प्रदेशे वाऽनघे शुची। उपविष्ट स्थिता वापि योग्यकालसमाश्रितम्।। १६५।।
कायोत्सर्गस्थितो भूत्वा ध्यायेत्पचपदी हृदि। गुरून् पञ्चाथवा सिद्धस्वरूप चिन्तयेत्सुधी।। १६७।।
§ मासे चत्वारि पर्वाणि प्रोषधाख्यानि तानि च। यत्तत्रोपोषण प्रोषधोपवासस्तदुच्यते।। १६९।।
—गुण० श्राव०

सत्तमि-तेरसि दिवसम्मि अतिहिजणभोयणावसाणम्मि ।
भोत्तूण भुंजणिज्जं तत्थ वि काऊण मुहसुद्धिं ॥ २८१
पक्खालिऊण वयणं कर-चरणे णियमिऊण तत्थेव । पच्छा जिणिदभवणं गंतूण जिणं णमंसित्ता ॥२८२
गुरुपुरओ किदियम्मं[1] वंदणपुव्वं कमेण काऊणं । गुरुसक्खियमुववासं गहिऊण चउव्विहं विहिणा ॥
वायण-कहाणुपेहण-सिक्खावण-चिंतणोवओगेहिं । णेऊण दिवससेसं अवराण्हियवंदणं किच्चा ।२८४
रयणि समयम्हि ठिच्चा काउस्सग्गेण णिययसत्तीए । पडिलेहिऊण भूमिं अप्पपमाणेण संथारं ॥ २८५
दाऊण किंचि रत्तिं सइऊण[2] जिणालए णियघरे वा । अहवा सयलं रत्तिं काऊस्सग्गेण णेऊण ॥ २८६
पच्चूसे उट्ठित्ता वंदणविहिणा जिणं णमंसित्ता । तह दव्व-भावपुज्जं जिण-सुय-साहूण काऊण ॥ २८७
उत्तविहाणेण तहा दियहं रत्तिं पुणो वि गमिऊण पारणदिवसम्मि पुणो पूयं काऊण पुव्वं व ॥ २८८
गंतूण णिययगेहं अतिहिविभाग च तत्थ काऊण । जो भुंजइ तस्स फुडं पोसहविहि उत्तमं होइ ।२८९*
जह उक्कस्सं तह मज्झिमं वि पोसहविहाणमुद्दिट्ठं । णवर विसेसो सलिलं छंडित्ता[3] वज्जए सेसं ॥
मुणिऊण गुरुवकज्जं सावज्जविवज्जिय णियारंभं । जइ कुणइ तं पि कुज्जा सेसं पुव्वं व णायव्वं ॥

को अपनी शक्तिके अनुसार एक मासके चारो पर्वोमे करना चाहिए ।२८०॥ सप्तमी और त्रयोदशीके दिन अतिथिजनके भोजनके अन्तमें स्वयं भोज्य वस्तुका भोजनकर वहींपर मुख-शुद्धिको करके, मुखको और हाथ-पैरोको धोकर वहाँपर ही उपवास सम्बन्धी नियम करके पश्चात् जिनेन्द्र-भवन जाकर और जिनभगवान्‌को नमस्कार करके गुरुके सामने वन्दनापूर्वक क्रमसे कृतिकर्मको करके, गुरुकी साक्षीसे विधिपूर्वक चारों प्रकारके आहारके त्यागरूप उपवासको ग्रहण कर शास्त्र-वाचन, धर्मकथा-श्रवण-श्रावण, अनुप्रेक्षा-चिन्तन, पठन-पाठन आदिके उपयोग द्वारा दिवस व्यतीत करके तथा आपराह्णिक-वंदना करके, रात्रिके समय अपनी शक्तिके अनुसार कायोत्सर्गसे स्थित होकर, भूमिका प्रतिलेखन (संशोधन) करके, और अपने शरीरके प्रमाण विस्तर लगाकर रात्रिमे कुछ समय तक जिनालय अथवा घरमे सोकर, अथवा सारी रात्रि कायोत्सर्गसे विताकर प्रात काल उठकर वंदनाविधिसे जिन भगवान्‌को नमस्कार कर, तथा देव, शास्त्र और गुरुका द्रव्य वा भावपूजन करके पूर्वोक्त विधानसे उसी प्रकार सारा दिन ओर सारी रात्रिको फिर भी विताकर पारणाके दिन अर्थात् नवमी या पूर्णमासीको पुनः पूर्वके समान पूजन करके तत्पश्चात् अपने घर जाकर और वहाँ अतिथिको आहारदान देकर जो भोजन करता है, उसके निश्चयसे उत्तम प्रोषधविधि होती है ॥ २८१–२८९ ॥ जिस प्रकारका उत्कृष्ट प्रोषध विधान कहा गया है, उसी प्रकारका मध्यम प्रोषध विधान भी जानना चाहिए । केवल विशेषता यह है कि जलको छोडकर शेष तीनों प्रकारके आहारका त्याग करना चाहिए ॥ २९० ॥ जरूरी कार्यको समझकर सावद्य-रहित अपने घरू आरम्भ-

१ ब किरियम्मि । २ ध झ ब. प्रतिषु 'णाऊणं' इति पाठः । ३ ब. छड्डित्ता ।

* उत्तमो मध्यमश्चैव जघन्यश्चेति स त्रिधा । यथाशक्तिविधातव्य. कर्मनिर्मूलनक्षम ॥ १७० ॥
सप्तम्यां च त्रयोदश्या जिनार्चा पात्रसत्क्रियाम् । विधाय विधिवच्चैकभक्त शुद्धवपुस्तत. ॥ १७१ ॥
गुर्वादिसन्निधिं गत्वा चतुराहारवर्जनम् । स्वाकृत्य निखिला रात्रिं नयेच्च सत्कथानकै ॥ १७२ ॥
प्रात. पुन. शुचिर्भूत्वा निर्माप्यार्हत्पूजनम् । सोत्साहस्तदहोरात्रं सद्धयानाध्ययनैर्नयेत् ॥ १७३ ॥
तत्पारणाह्नि निर्माप्य जिनार्चां पात्रसत्क्रियाम् । स्वयं वा चैकभक्त यः कुर्यात्तस्योत्तमो हि स ॥ १७४ ॥
मध्यमोऽपि भवेदेव स त्रिधाहारवर्जनम् । जल मुक्त्वा जघन्यस्त्वेकभक्तादिरनेकधा ॥ १७५ ॥

आयंबिल[1] णिव्वयडी[2] एयट्ठाणं च एयभत्तं वा। जं कीरइ तं णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं ॥ २९२‡
★सिरण्हाणुव्वट्टण-गंध-मल्लकेसाइदेहसंकप्पं। अण्णं पि रागहेउं विवज्जए पोसहदिणम्मि ॥ २९३
एवं चउत्थठाणं विवण्णियं पोसहं समासेण। एत्तो कमेण सेसाणि सुणह संखेवओ वोच्छं ॥ २९४

सचित्तत्यागप्रतिमा

जं वज्जिज्जइ हरियं तुय[3]-पत्त-पवाल-कंद-फल-बीयं।
अप्पासुगं च सलिलं सचित्तणिव्वित्ति तं ठाणं ॥ २९५★

रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा

मण-वयण-काय-कय-[4]कारियाणुमोएहिं मेहुणं णवधा।
दिवसम्मि जो विवज्जइ गुणम्मि सो सावओ छट्ठो ॥ २१६ (१)

ब्रह्मचर्यप्रतिमा

पुव्वुत्तणवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा[5] विवज्जंतो।
इत्थिकहाइणिवित्तो[6] सत्तमगुणबंभयारी सो ॥ २९७ (२)

को यदि करना चाहे, तो उसे भी कर सकता है। किन्तु शेष विधान पूर्वके समान ही जानना चाहिए॥ २९१॥ जो अष्टमी आदि पर्वके दिन आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, अथवा एकभक्तको करता है, उसे जघन्य प्रोषध विधान जानना चाहिए॥ २९२॥ (विशेषार्थ परिशिष्टमें देखो।) प्रोषधके दिन शिरसे स्नान करना, उबटना करना, सुगंधित द्रव्य लगाना, माला पहनना, बालों आदिका सजाना, देहका सस्कार करना, तथा अन्य भी रागके कारणोंको छोड देना चाहिए॥ २९३॥ इस प्रकार प्रोषध नामका चौथा प्रतिमास्थान संक्षेपसे वर्णन किया। अब इससे आगे शेष प्रतिमा-स्थानोंको सक्षेपसे कहूँगा, सो सुनो॥ २९४॥

जहाँपर हरित त्वक् (छाल), पत्र, प्रवाल, कद, फल, बीज, और अप्रासुक जल त्याग किया जाता है, वह सचित्त-विनिवृत्तिवाला पाँचवाँ प्रतिमास्थान है॥ २९५॥ जो मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना, इन नौ प्रकारोसे दिनमे मैथुनका त्याग करता है, वह प्रतिमारूप गुण-स्थानमे छठा श्रावक है, अर्थात् छठी प्रतिमाधारा है॥ २९६॥ जो पूर्वोक्त नौ प्रकारके मैथुनको सर्वदा त्याग करता हुआ स्त्रीकथा आदिसे भी निवृत्त हो जाता है, वह सातवे प्रतिमारूप गुणका

---

१ आयबिल—अम्ल चतुर्थो रस, स एव प्रायेण व्यंजने यत्र भोजने ओदन-कुल्माषा-सक्तुप्रभृतिके तदाचामाम्लम्। आयबिलमपि तिविह उक्किट्ठ-जहण्ण-मज्झिमभेदेहिं। तिविह जं विउलपूवाइ पकप्पए तत्थ ॥१०२॥ मिय-सिंघव-सुंठि मिरीमेही सोवच्चल च विडलवणे। हिंगुसुगंधिसु पाए पकप्पए साइयं वत्थु ॥१०३॥ अभिधानराजेन्द्र। २ ब णिग्वियडी। ३ इ. झ तय०। ४ ब. किरियाणु०। ५ ब. सव्वहा। ६ झ. ब णियत्तो।

‡ स्नानमुद्वर्त्तनं गन्ध माल्य चैव विलेपनम्। यच्चान्यद् रागहेतुः स्याद्वर्ज्यं तत्प्रोषधेऽखिलम् ॥१७६॥
★ मूल फलं च शाकादि पुष्पं बीज करीरकम्। अप्रासुक त्यजेन्नीर सचित्तविरतो गृही ॥ १७८॥
—गुण० श्राव०

(१) स दिवा-ब्रह्मचारी यो दिवा स्त्रीसगम त्यजेत्।
(२) स सदा ब्रह्मचारी य स्त्रीसगं नवधा त्यजेत्॥ १७९॥

आरम्भनिवृत्तप्रतिमा

जं किंचि गिहारंभं बहु थोगं[1] वा सया विवज्जेइ ।
आरंभणियत्तमई सो अट्ठमु सावओ भणिओ ॥ २९८ (१)

परिग्रहत्यागप्रतिमा

मोत्तूण वत्थमेत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं ।
तत्थ वि मुच्छं ण करेइ जाणइ सो सावओ णवमो ॥ २९९ (२)

अनुमतित्यागप्रतिमा

पुट्ठो वाऽपुट्ठो वा णियगेहि परेहिं च सगिहकज्जम्मि ।
अणुमणणं जो ण कुणइ वियाण सो सावओ दसमो ॥ ३०० (३)

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो ।
वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ[2] ॥ ३०१ (४)
★धम्मिल्लाणं चयणं[3] करेइ कत्तरि छुरेण वा पढमो । ठाणाइसु पडिलेहइ[4] उवयरणेण पयडप्पा ॥

धारी ब्रह्मचारी श्रावक है ॥ २९७ ॥ जो कुछ भी थोडा या बहुत गृहसम्बन्धी आरम्भ होता है, उसे जो सदाके लिए त्याग करता है, वह आरम्भसे निवृत्त हुई है बुद्धि जिसकी, ऐसा आरम्भत्यागी आठवाँ श्रावक कहा गया है ॥ २९८ ॥ जो वस्त्रमात्र परिग्रहको रखकर शेष सब परिग्रहको छोड देता है और स्वीकृत वस्त्रमात्र परिग्रहमें भी मूर्च्छा नही करता है, उसे परिग्रहत्यागप्रतिमाधारी नवमा श्रावक जानना चाहिए ॥ २९९ ॥ स्वजनोसे और परजनोसे पूछा गया जो श्रावक अपने गृह-सम्बन्धी कार्यमे अनुमोदना नही करता है, उसे अनुमतित्याग प्रतिमाधारी दसवाँ श्रावक जानना चाहिए ॥ ३०० ॥ ग्यारहवें प्रतिमास्थानमें गया हुआ मनुष्य उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है । उसके दो भेद हैं, प्रथम एक वस्त्रका रखनेवाला और दूसरा कोपीन (लंगोटी) मात्र परिग्रहवाला ॥ ३०१ ॥ प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (जिसे कि क्षुल्लक कहते है) धम्मिल्लोका चयन अर्थात् हजामत, कैंचीसे अथवा उस्तरेसे कराता है । तथा, प्रयत्नशील या सावधान होकर पीछी आदि उपकरणसे स्थान

१ झ० थोव । २ झ० ब बिइओ । ३ ब वयणं । ४ ब० लेहइ मि ।

(१) स स्यादारम्भविरतो विरमेद्योऽखिलादपि ।
पापहेतो सदाऽऽरम्भात्सेवाकृष्यादिकात्सदा ॥ १८० ॥

(२) निर्मूर्च्छं वस्त्रमात्रं यः स्वीकृत्य निखिलं त्यजेत् ।
बाह्यं परिग्रहं स स्याद्विरक्तस्तु परिग्रहात् ॥ १८१ ॥

(३) पृष्टोऽपृष्टोऽपि नो दत्तेऽनमति पापहेतुके ।
ऐहिकाखिलकार्ये योऽनुमतिविरतोऽस्तु स. ॥ १८२ ॥—गुण० श्राव०

(४) गेहादि व्याश्रमं त्यक्त्वा गुर्वन्ते व्रतमाश्रितः । भैक्ष्याशीः यस्तपस्यद्युद्दिष्टविरतो हि सः ॥ १८३ ॥

★ उद्दिष्टविरतो द्वेधा स्यादाद्यो वस्त्रखण्डभाक् । समूर्ध्वजानां । वपन कर्त्तन चैव कारयेत् ॥१८४॥
गच्छेन्नाकारितो भोक्तु कुर्याद्भिक्षा यथाशनम् ।
पाणिपात्रेऽन्यपात्रे वा भजेद्भुक्ति निविष्टवान् ॥ १८५ ॥
भुक्त्वा प्रक्षाल्य पाद (त्र) च गत्वा च गुरुसन्निधिम् ।
चतुर्धान्नपरित्यागं कृत्वाऽऽलोचनमाश्रयेत् ॥ १८६ ॥—गुण० श्रा०

भुंजेइ पाणिपत्तम्मि भायणे वा सइं समुवइट्ठो। उववासं पुण णियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु ॥ ३०३

पक्खालिऊण पत्तं पविसइ चरियाय पंगणे ठिच्चा।
भणिऊण धम्मलाहं जायइ भिक्खं सयं चेव ॥ ३०४

सिग्घं लाहालाहे अदीणवयणो णियत्तिऊण तओ। अण्णमि गिहे वच्चइ दरिसइ मोणेण कायं[1] वा ॥

जइ अद्धवहे[2] कोइ वि भणइ पत्थेइ भोयणं कुणह। भोत्तूण णिययभिक्खं तस्सण्णं भुंजए सेसं ॥ ३०६

अह ण भणइ तो भिक्खं भमेज्ज णियपोट्टपूरणपमाणं।
पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्ज पासुगं सलिलं ॥ ३०७

जं किं पि पडियभिक्खं भुंजिज्जो सोहिऊण जत्तेण। पक्खालिऊण पत्तं गच्छिज्जो गुरुसयासम्मि ॥ ३०८

जइ एवं ण रएज्जो काउंरिसगिहम्मि[3] चरियाए। पविसत्ति एयभिक्खं पवित्तिणियमणं[4] ता कुज्जा॥

गंतूण गुरुसमीवं पच्चक्खाणं चउव्विहं विहिणा। गहिऊण तओ सव्वं आलोचेज्जा पयत्तेण ॥ ३१०★

एमेव होइ बिइओ णवरिविसेसो कुणिज्ज णियमेण।
लोचं धरिज्ज पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तम्मि ॥ ३११ (१)

आदिका प्रतिलेखन अर्थात् सशोधन करता है ॥ ३०२ ॥ पाणि-पात्रमे या थाली आदि भाजनमें (आहार रखकर) एक बार बैठकर भोजन करता है। किन्तु चारों पर्वोमे चतुर्विध आहारको त्यागकर उपवास नियमसे करता है ॥ ३०३ ॥ पात्रको प्रक्षालन करके चर्याके लिए श्रावकके घरमे प्रवेश करता है और आंगनमे ठहरकर 'धर्म-लाभ' स्वयं ही भिक्षा मागता है ॥ ३०४ ॥ भिक्षा-लाभके अलाभमें अर्थात् भिक्षा न मिलनेपर, अदीन-मुख वहाँसे शीघ्र निकलकर दूसरे घरमें जाता है और मौन से अपने शरीरको दिखलाता है ॥ ३०५ ॥ यदि अर्ध-पथमें, अर्थात् मार्गके बीचमे ही कोई श्रावक मिले और प्रार्थना करे कि भोजन कर लीजिए तो पूर्व घरसे प्राप्त अपनी भिक्षाको खाकर, शेष अर्थात् जितना पेट खाली रहे, तत्प्रमाण उस श्रावकके अन्नको खावे ॥ ३०६ ॥ यदि कोई भोजनके लिए न कहे, तो अपने पेटके पूरत करनेके प्रमाण भिक्षा प्राप्त करने तक परिभ्रमण करे, अर्थात् अन्य अन्य श्रावकोंके घर जावे। आवश्यक भिक्षा प्राप्त करनेके पश्चात् किसी एक घरमे जाकर प्रासुक जल माँगे ॥ ३०७ ॥ जो कुछ भी भिक्षा प्राप्त हुई हो, उसे शोधकर भोजन करे और यत्नके साथ अपने पात्रको प्रक्षालनकर गुरुके पासमें जावे ॥ ३०८ ॥ यदि किसीको उक्त विधिसे गोचरी करना न रुचे, तो वह मुनियोंके गोचरी कर जानेके पश्चात् चर्याके लिए प्रवेश करे, अर्थात् एक भिक्षाके नियमवाला उत्कृष्ट श्रावक चर्याके लिए किसी श्रावक जनके घरमे जावे और यदि इस प्रकार भिक्षा न मिले, तो उसे प्रवृत्ति-नियमन करना चाहिए, अर्थात् फिर किसीके घर न जाकर उपवास का नियम कर लेना चाहिए ॥ ३०९ ॥ पश्चात् गुरुके समीप जाकर विधिपूर्वक चतुर्विध (आहारके त्यागरूप) प्रत्याख्यान ग्रहण कर पुन: प्रयत्नके साथ सर्वदोषोकी आलोचना करे ॥ ३१० ॥ इस प्रकार ही अर्थात् प्रथम उत्कृष्ट श्रावकके समान ही द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक होता है, केवल विशेषता यह है कि उसे नियमसे केशोंका लोच करना चाहिए, पीछी रखना चाहिए और पाणिपात्रमे खाना चाहिए ॥ ३११ ॥ दिनमे प्रतिमायोग धारण करना अर्थात् नग्न होकर

---

१ ब॰ कायव्व। २ प अद्धवहे। ३ काउंरिसिगोहणम्मि। ४ ध णियमेणं।

(१) द्वितीयोऽपि भवेदेव स तु कौपीनमात्रवान्। कुर्याल्लोच धरेत्पिच्छ पाणिपात्रेऽशन भजेत्॥१८॥

दिणपडिम-वीरचरिया-तियालजोगेसु णत्थि अहियारो ।
सिद्धंत-रहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं[1] ॥ ३१२ (१)
उद्दिट्ठपिंडविरओ दुवियप्पो सावओ समासेण । एयारसम्मि ठाणे भणिओ सुत्ताणुसारेण ॥ ३१३

रात्रिभोजनदोष-वर्णन

एयारसेसु पढमं वि[2] जदो णिसिभोयणं कुणंतस्स ।
ठाणं ण ठाइ[3] तम्हा णिसिभुत्तिं परिहरे णियमा ॥ ३१४
चम्मट्ठि-कीड-उंदुर[4]-भुयंग-केसाइ असणमज्झम्मि ।
पडियं ण किं पि पस्सइ भुंजइ सव्वं पि णिसिसमये ॥ ३१५
दीउज्जोयं जइ कुणइ तह वि चउरिंदिया अपरिमाणा ।
णिवडंति दिट्ठिराएण मोहिया असणमज्झम्मि ॥ ३१६
इयएरिसमाहारं भुंजंतो आदणासमिह लोए । पाउणइ परभवम्मि चउगइ संसारदुक्खाइं । ३१७
एवं बहुप्पयारं[5] दोसं[6] णिसिभोयणम्मि णाऊण । तिविहेण राइभुत्ती परिहरियव्वा हवे तम्हा ।३१८

श्रावकके अन्य कर्तव्य

विणओ विज्जाविच्चं कायकिलेसो य पुज्जणविहाणं ।
सत्तीए जहजोग्गं कायव्वं देसविरएहिं ॥ ३१९ (२)

दिनभर कायोत्सर्ग करना, वीरचर्या अर्थात् मुनिके समान गोचरी करना, त्रिकाल योग अर्थात् गर्मीमे पर्वतके शिखरपर, बरसातमे वृक्षके नीचे, और सर्दीमे नदीके किनारे ध्यान करना, सिद्धान्त-ग्रन्थोंका अर्थात् केवली, श्रुतकेवली-कथित गणधर, प्रत्येकबुद्ध और अभिन्नदशपूर्वी साधुओसे निर्मित ग्रन्थोंका अध्ययन और रहस्य अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका अध्ययन, इतने कार्योंमें देशविरती श्रावकोका अधिकार नही है ॥ ३१२ ॥ ग्यारहवें प्रतिमास्थानमे उपासकाध्ययन-सूत्रके अनुसार संक्षेपसे मैंने उद्दिष्ट आहारके त्यागी दोनो प्रकारके श्रावकोंका वर्णन किया ॥ ३१३ ॥

चूँकि, रात्रिको भोजन करनेवाला मनुष्यके ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे पहली भी प्रतिमा नही ठहरती है, इसलिए नियमसे रात्रिभोजनका परिहार करना चाहिए ॥ ३१४ ॥ भोजनके मध्य गिरा हुआ चर्म अस्थि, कीट-पतग सर्प और केश आदि रात्रिके समय कुछ भी नही दिखाई देता है, और इसलिए रात्रिभोजी पुरुष सबको खा जाता है ॥ ३१५ ॥ यदि दीपक जलाया जाता है, तो भी पतगे आदि अगणित चतुरिन्द्रिय जीव दृष्टिरागसे मोहित होकर भोजनके मध्य गिरते हैं ॥ ३१६ ॥ इस प्रकारके कीट-पतगयुक्त आहारको खानेवाला पुरुष इस लोकमे अपनी आत्माका या अपने आपका नाश करता है, और परभवमें चतुर्गतिरूप संसारके दुखोंको पाता है ॥ ३१७ ॥ इस प्रकार रात्रिभोजनमे बहुत प्रकारके दोष जान करके मन, वचन, कायसे रात्रि भोजनका परिहार करना चाहिए ॥ ३१८ ॥ देशविरत श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार यथायोग्य विनय, वैयावृत्य, काय-क्लेश और पूजन-विधान करना चाहिए ॥ ॥ ३१९ ॥ दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और

---

१ प. ब विरयाणं । २ ब. पि । ३ ब. वाइ । ४ ब. दुदुर । ५ ध. दुदुर । ध. प्पयारे । ६ ध दोसे ।

(१) वीरचर्या-दिनच्छाया सिद्धान्ते निह्नसंश्रुतो ।
त्रैकालिके योऽप्ययोगेऽप्य विद्यते नाधिकारिता ॥ १८८ ॥—गुण० श्राव०

(२) विनय स्याद्वैयावृत्त्यं कायक्लेशस्तथार्चना । कर्तव्या देशविरतैर्यथाशक्ति यथागमम् ॥ १९० ॥

विनयका वर्णन

दंसण-णाण-चरित्ते तव उवयारम्मि पंचहा विणओ।
पंचमगइगमणत्थं[1] कायव्वो देसविरएण। (१)
णिस्संकिय-संवेगाइ जे गुणा वण्णिया मए[2] पुव्वं।
तेसिमणुपालणं जं वियाण सो दंसणो विणओ ॥ ३२१ (२)
णाणे णाणुवयरणे य णाणवंतम्मि तह य भत्तीए।
जं पडियरणं कीरइ णिच्चं तं णाणविणओ हु ॥ ३२२ (३)
पंचविहं चारित्तं अहियारा जे य वण्णिया तस्स। जं तेसिं बहुमाणं वियाण चारित्तविणओ सो ॥ ३२३
बालो यं बुड्ढो यं संकप्पं वज्जिऊण तवसीण[3]।
जं पणिवायं कीरइ तवविणयं तं वियाणीहि[4] ॥ ३२४ (४)
उवयारिओ वि विणओ मण-वचि-काएण होइ तिवियप्पो।
सो पुण दुविहो भणिओ पच्चक्ख-परोक्खभेएण ॥ ३२५ (५)
जं दुप्परिणामाओ मणं णियत्ताविऊण सुहजोए।
ठाविज्जइ सो विणओ जिणेहि माणस्सिओ भणिओ ॥ ३२६ (६)

उपचारविनय, यह पाँच प्रकारका विनय पंचमगति गमन अर्थात् मोक्ष-प्राप्तिके लिए श्रावकको करना चाहिए ॥ ३२० ॥ निःशंकित, सवेग आदि जो गुण मैंने पहले वर्णन किये हैं, उनके परिपालन को दर्शन-विनय जानना चाहिए ॥ ३२१ ॥ ज्ञानमे, ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदिकमें, तथा ज्ञानवंत पुरुषमे भक्तिके साथ नित्य जो अनुकूल आचरण किया जाता है, वह ज्ञानविनय है ३२२ ॥ परमागममें पांच प्रकारका चरित्र और उसके जो अधिकारी या धारण करनेवाले वर्णन किये गये है, उनके आदर-सत्कारको चरित्रविनय जानना चाहिए ॥ ३२३ ॥ यह बालक है, यह वृद्ध है, इस प्रकारका संकल्प छोडकर तपस्वी जनोका जो प्रणिपात अर्थात् आदरपूर्वक वदन आदि किया जाता है, उसे तप विनय जानना चाहिए ॥ ३२४ ॥ औपचारिक विनय भी मन, वचन, कायके भेदसे तीन प्रकारकी होती है और वह तीनो प्रकारका वियन प्रत्यक्ष, और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है ॥ ३२५ ॥ जो मनको खोटे परिणामोसे हटाकर शुभयोगमे स्थापन किया जाता है अर्थात् लगाया जाता है, उसे जिन भगवान्‌ने मानसिक विनय कहा है ॥ ३२६ ॥

---

१ ध० गमणत्थे। २ इ म० तवस्सीण। ४ झ० प० वियाणेहि।

(१) दर्शनज्ञानचारित्रैस्तपसाऽप्युपचारतः। विनयः पंचधा स स्यात्समस्तगुणभूषण. ॥ १९१ ॥
(२) निःशकित्वादय पूर्वं ये गुणा वर्णिता मया। यत्तेषां पालनं स स्याद्विनयो दर्शनात्मक १९२।
(३) ज्ञाने ज्ञानोपचारे च......................
(४) यहाँका पाठ मुद्रित प्रतिमे नही है और उसकी आदर्शभूत पचायती मन्दिर देहलीकी हस्तलिखित प्रतिमे भी पत्र टूट जानेसे पाठ उपलब्ध नही नही है।—सपादक।
(५) मनोवाक्काय भेदेन... ....। प्रत्यक्षेतरभेदेन सापि स्याद्विविधा पुनः।
(६) दुर्ध्यानात्समाकृष्य शुभध्यानेन धार्यते। मानसं त्वनिश प्रोक्तो मानसो विनयो हि न ॥ १९७ ॥

हिय-मिय पुज्जं[1] सुत्ताणुवीचि अफरसमकक्कसं वयणं ।
संजमिजणम्मि जं चाडुभासणं वाचिओ विणओ ॥ ॥ ३२७ (१)
किरियम्मब्भुट्ठाणं णवणंजलि आसणुवकरणदाणं ।
एते पच्चुग्गमणं च गच्छमाणे अणुव्वजणं । ३२८ (२)
कायाणुरूवमद्दणकरणं कालाणुरूवपडियरणं । संथाणभणियकरणं उवयरणाणं च पडिलिहणं ॥ ३२९
इच्चेवमाइ काइयविणओ रिसि-सावयाण कायव्वो ।
जिणवयणमणुगणंतेण देसविरएण जहजोग्गं ॥ ३३० (३)
इय पच्चक्खो एसो भणिओ गुरुणा विणा वि आणाए ।
अणुवट्टिज्जए जं तं परोक्खविणओ त्ति विण्णेओ ॥ ३३१ (४)
विणएण ससंकुज्जलजसोहधवलियदियंतओ पुरिसो ।
सव्वत्थ हवइ सुहओ तहेव आदिज्जवयणो य ॥ ३३२ (५)
जे केइ वि उवएसा इह-परलोए सुहावहा संति ।
विणएण गुरुजणाणं[2] सव्वे पाउणइ ते पुरिसा ।। ३३३ (६)

हित, मित, पूज्य, शास्त्रानुकूल तथा हृदयपर चोट नही करनेवाले कोमल वचन कहना और संयमी जनोंमे चाटु (नर्म) भाषण करना सो वाचिक विनय है ॥ ३२७ ॥ साधु और श्रावकोका कृतिकर्म अर्थात् वंदना आदि करना, उन्हे देख उठकर खडे होना, नमस्कार करना, अजली जोडना, आसन और उपकरण देना, अपनी तरफ आते देखकर उनके सन्मुख जाना, और जानेपर उनके पीछे-पीछे चलना, उनके शरीरके अनुकूल मर्दन करना, समयके अनुसार अनुकरण या आचरण करना, संस्तर आदि करना, उनके उपकरणोंका प्रतिलेखन करना, इत्यादिक कायिक विनय है। यह कायिक विनय जिनवचनका अनुकरण करनेवाले देशविरती श्रावकको यथायोग्य करना चाहिए ॥ ३२८–३३० ॥ इस प्रकारसे यह तीनों प्रकारका प्रत्यक्ष विनय कहा। गुरुके विना अर्थात् गुरुजनोके नही होनेपर भी उसकी आज्ञाके अनुसार मन, वचन, कायसे जो अनुवर्तन किया जाता है, वह परोक्ष-विनय है, ऐसा जानना चाहिए ॥ ३३१ ॥ विनयसे पुरुष शशांक (चन्द्रमा) के समान उज्वल यशःसमूहसे दिगन्तको धवलित करता है। विनयसे वह सर्वत्र सुभग अर्थात् सब जगह सबका प्रिय होता है और तथैव आदेयवचन होता है, अर्थात् उसके वचन सब जगह आदरपूर्वक ग्रहण किये जाते हैं ॥ ३३२ । जो कोई भी उपदेश इस लोक और परलोकमे जीवोको सुखके देनेवाले होते हैं, उन सबको मनुष्य गुरुजनोंकी विनयसे प्राप्त करते हैं ॥ ३३३ ॥

---

१ ध. पुज्जा । २ प्रतिषु 'गुरुजणाओ' इति पाठः ।

(१) वचो हितं मितं पूज्यमनुवीचिवचोऽपि च । यद्यतिमनुवर्तेत वाचिको विनयोऽस्तु सः ॥ १९८ ॥
(२) गुरुस्तुतिक्रियायुक्ता नमनोच्चासनार्पणम् । सम्मुखो गमनं चैव तथा वाऽनुव्रजक्रिया ॥ १९९ ॥
(३) अंगसवाहनं योग्यप्रतीकारादिनिर्मितिः । विधीयते यतीनां यत्कायिको विनयो हि स ॥ २०० ॥
(४) प्रत्यक्षोऽप्ययमेतस्य परोक्षस्तु विनापि वा । गुरूंस्तदाज्ञयैव स्यात्प्रवृत्तिः धर्मकर्मसु ॥ २०१ ॥
(५) शशांकनिर्मला कीर्त्तिः सौभाग्य भाग्यमेव च । आदेयवचनत्व च भवेद्विनयतः सताम् ॥ २०२ ॥
(६) विनयेन समं किंचिन्नास्ति मित्रं जगत्त्रये । यस्मात्तेनैव विद्यानां रहस्यमुपलभ्यते ॥ २०३ ॥
—गुण० श्राव०

देविंद-चक्कहर-मंडलीयरायाइ जं सुहं लोए । तं सव्वं विणयफलं णिव्वाणसुहं तहा[1] चेव ।। ३३४
सामण्णा वि य विज्जा ण विणयहीणस्स सिद्धिमुवयाइ ।
किं पुण णिव्वुइविज्जा विणयविहीणस्स सिज्झेइ[2] ।। ३३५
सत्तू वि मित्तभावं जम्हा उवयाइ विणयसीलस्स ।
विणओ तिविहेण तओ कायव्वो देसविरएण ३३६ (१)

वैयावृत्त्यका वर्णन

अइबाल-वुड्ढ-रोगाभिभूय-तणुकिलेससत्ताणं । चाउव्वण्णे संघे जहजोग्गं तह मणुण्णाणं ।। ३३७ (२)
कर-चरण-पिट्ठ-सिरसाणं मद्दण-अब्भंग-सेवकिरियाहिं।उव्वत्तण-परियत्तण-पसारणकुंचणाईहिं ३३८
पडिजग्गणेहिं[3] तणुजोय-भत्त-पाणेहिं भेसजेहिं तहा। उच्चराईण विकिंचणेहिं तणुधोवणेहिं।।च३३९
संथारसोहणेहि य विज्जावच्चं सया पयत्तेण । कायव्वं सत्तीए णिव्विदिगिच्छेण भावेण ।। ३४२
णिस्संकिय-संवेगाइय जे गुणा वण्णिया मणो[4] विसया ।
ते होंति पायडा पुण[5] विज्जावच्चं करंतस्स ।। ३४१
देह-तव-णियम-संजम-सील-समाही य अभयदाणं च ।
गइ मइ बलं च दिण्णं विज्जावच्चं करंतेण ।। ३४२ (३)

ससारमे देवेन्द्र, चक्रवर्ती, और माडलिक राजा आदिके जो सुख प्राप्त है, वह सब विनय का ही फल है । और इसी प्रकार मोक्षका सुख पाना भी विनयका ही फल है ।। ३३४ ।। जब साधारण विद्या भी विनय-रहित पुरुषके सिद्धिको प्राप्त नही होती है, तो फिर क्या मुक्तिको प्राप्त करनेवाली विद्या विनय-विहीन पुरुषके सिद्ध हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं सिद्ध हो सकती ।। ३३५ ।। चूँकि, विनयशील मनुष्यका शत्रु भी मित्रभावको प्राप्त हो जाता है, इसलिए श्रावकको मन, वचन, कायसे विनय करना चाहिए ।। ३३६ ।। मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इस चार प्रकारके चतुर्विध सघमें अतिबाल, अतिवृद्ध, रोगसे पीडित अथवा अन्य शारीरिक क्लेश-से सयुक्त जीवोका, तथा मनोज्ञ अर्थात् लोकमे प्रभावशाली साधु या श्रावकोका यथायोग्य हाथ, पैर, पीठ और शिरका दबाना, तेलमर्दन करना, स्नानादि कराना, अग सेकना, उठाना, बैठाना, अग पसारना, सिकोडना, करवट दिलाना, सेवा-शुश्रूषा आदि समयोचित कार्योंके द्वारा, शरीरके योग्य पथ्य अन्न-जल द्वारा, पथा औषधियोंके द्वारा, उच्चार (मल), प्रस्रवण (मूत्र) आदि के दूर करनेसे, शरीरके धोनेसे, और सस्तर (बिछौना) के शोधनेसे सदा प्रयत्नपूर्वक ग्लानि-रहित भावसे शक्तिके अनुसार वैयावृत्य करना चाहिए ।। ३३७–३४० ।। नि शकित आदि और संवेग आदि जो मनोविषयक गुण पहले वर्णन किये गये है, वे सब गुण वैयावृत्य करनेवाले जीवके प्रकट होते है ।। ३४१ ।। वैयावृत्यको करनेवाले श्रावकके द्वारा देह, तप, नियम, सयम और शीलका समाधान, अभय दान तथा गति, मति और बल दिया जाता है ।। ३४२ ।। भावार्थ–साधु जन या श्रावक आदि

---

१ प. तहच्चेव । २ इ. सिज्झेह, झ. सिज्झिहइ, ब. सज्झिहइ । ३ इ. पडित्तग्गा०, ब. पडिज्जग्ग० । ४ ब. मुणे । ५ ध. गुण ।

(१) विद्वेषिणोऽपि मित्रत्व प्रयान्ति विनेयाद्यत । तस्मात्त्रेधा विधातव्यो विनयो देशसंयतैः ।।२०४।।
(२) बालवार्धक्यरोगादिक्लिष्टे सघे चतुर्विधे । वैयावृत्य यथाशक्तिर्विधेय देशसयतैः ।। २०५ ।।
(३) वपुस्तपोबल शील गति-बुद्धि-समाधय । निर्मल नियमादि स्याद्वैयावृत्यकृतार्पणम् ।। २०५ ।।
—गुण० श्रा०

गुणपरिणामो जायइ जिणिंद-आणा य पालिया होइ ।
जिणसमय-तिलयभूओ लब्भइ अयतो वि गुणरासी ।। ३४३
भमइ जए जसकित्ती सज्जणसुइ-हियय-णयण-सुहजणणी ।
अण्णेवि य होंति गुणा विज्जावच्चेण इहलोए ।। ३४४ (१)
परलोए वि सरूवो चिराउसो रोय-सोय-परिहीणो ।
बल-तेय-सत्तजुत्तो जायइ अखिलप्पयाओ वा ।। ३४५
जल्लोसहि-सव्वोसहि-अक्खीणमहाणसाइरिद्धीओ । अणिमाइगुणा य तहा विज्जावच्चेण पाउणइ ॥
किं जंपिएण-बहुणा तिलोहसंखाहकारयमहंतं । तित्थयरणामपुण्णं विज्जावच्चेण अज्जेइ ।। ३४७
तरुणियण-णयण-मणहारिरूव-बल-तेय-सत्तसंपण्णो।जाओ विज्जावच्चं पुव्वं काऊण वसुदेवो ।।३४८
वारवईए[१] विज्जाविच्चं किच्चा असंजदेणावि । तित्थयरणामपुण्णं समज्जियं वासुदेवेण ।। ३४९
एवं णाउण फलं विज्जावच्चस्स परमभत्तीए । णिच्छयजुत्तेण सया कायव्वं देसविरएण ।। ३५०

जब रोग आदिसे पीडित होकर अपने व्रत, संयम आदिके पालनेमें असमर्थ हो जाते हैं, यहाँ तक कि पीडाकी उग्रतासे उनकी गति, मति आदि भी भ्रष्ट होने लगती है और वे मृतप्राय हो जाते हैं, उस समय सावधानीके साथ की गई वैयावृत्ति उनके लिए संजीवनी वटीका काम करती है, वे मरनेसे बच जाते हैं, गति, मति यथापूर्व हो जाती है और वे पुनः अपने व्रत, तप, संयम आदिकी साधनाके योग्य हो जाते हैं, इसलिए ग्रन्थकारने यह ठीक ही कहा है कि जो वैयावृत्त्य करता है, वह रोगी साधु आदिको अभयदान, व्रत-संयम-समाधान और गति-मति प्रदान करता है, यहाँ तक कि वह जीवन-दान तक देता है और इस प्रकार वैयावृत्त्य करनेवाला सातिशय अक्षय पुण्यका भागी होता है। वैयावृत्त्य करनेसे गुण-परिणमन होता है, अर्थात् नवीन सद्गुणोंका प्रादुर्भाव और विकास होता है, जिनेन्द्र-आज्ञाका परिपालन होता है, और अयत्न अर्थात् प्रयत्नके विना भी गुणोका समूह प्राप्त होता है तथा वह जिन-शासनका तिलकभूत प्रभावक व्यक्ति होता है ।। ३४३ ।। सज्जन पुरुषोके श्रोत्र, नयन और हृदयको सुख देनेवाली उसकी यश कीर्ति जगमें फैलती है, तथा अन्य भी बहुतसे गुण वैयावृत्त्यसे इस लोकमें प्राप्त होते हैं ।। ३४४ ।। वैयावृत्त्यके फलसे परलोकमे भी जीव सुरूपवान्, चिरयुष्क, रोग-शोकसे रहित, बल, तेज और सत्त्वसे युक्त तथा पूर्ण प्रतापी होता है ।। ३४५ ।। वैयावृत्त्यसे जल्लौषधि, सर्वौषधि, और अक्षीणमहानस आदि ऋद्धियाँ, तथा अणिमा आदि अष्ट गुण प्राप्त होते हैं ।। ३४६ ।। अधिक कहनेसे क्या, वैयावृत्त्य करनेसे यह जीव तीन लोकमे संक्षोभ अर्थात् हर्ष और आश्चर्यको करानेवाला महान् तीर्थङ्कर नामका पुण्य उपार्जन करता है ।। ३४७ ।। वसुदेवका जीव पूर्वभवमें वैयावृत्त्य कर तरुणीजनोके नयन और मनको हरण करने वाले रूप, बल, तेज और सत्त्वसे सम्पन्न वसुदेव नामका कामदेव हुआ ।। ३४८ ।। द्वारावतीमें व्रत-संयमसे रहित असंयत्त भी वासुदेव श्रीकृष्णने वैयावृत्त्य करके तीर्थंकर नामक पुण्यप्रकृतिका उपार्जन किया ।। ३४९ ।। इस प्रकार वैयावृत्त्यके फलको जानकर दृढ निश्चय होकर परम भक्तिके साथ श्रावकको सदा वैयावृत्त्य करना चाहिए ।। ३५० ।।

---

१ द्वारावत्याम् ।

(१) वैयावृत्यकृत किञ्चिद्दुर्लभं न जगत्त्रये ।
विद्या कीर्ति यशो लक्ष्मी धी सौभाग्यगुणेष्वपि ।। २०७ ।।—गुण० श्रा०

कायक्लेशका वर्णन

आयंबिल णिव्वियडी एयट्ठाणं छट्ठमाइखवणेहिं जं कीरइ तणुतावं कायकिलेसो मुणेयव्वो।३५१ (१)
मेहाविणरा एएण चेव बुज्झंति[1] बुद्धिविहवेण । ण य मंदबुद्धिणो तेण किं पि वोच्छामि सविसेसं ।।

पंचम व्रतका वर्णन

आसाढ कत्तिए फग्गुणे य सियपंचमीए गुरुमूले । गहिऊण विहिं विहिणा पुव्वं काऊण जिणपूजा[2] ।
पडिमासमेक्कखमणेण जाव वासाणि पंच मासा य ।
अविच्छिण्णा[3] कायव्वा मुत्तिसुहं जायमाणेण ।। ३५४
अवसाणे पंच घडाविऊण पडिमाओ जिणवरिंदाणं । तह पंच पोत्थयाणि य लिहाविऊणं ससत्तीए ।।
तेसिं पइट्ठयाले जं किं पि पइट्ठजोग्गमुवयरणं । तं सव्वं कायव्वं पत्तेयं पंच पंच संखाए ।। ३५६
सहिरण्ण पचकलसे पुरओ वित्थरिऊण वत्थमुहे । पक्कण्ण बहुभेय फलाणि विजिहाणि तह चेव ।।
दाणं च जहाजोग्गं दाऊण चउव्विहस्स संघस्स । उज्जवणविही एवं कायव्वा देसविरयेण ।। ३५८
उज्जवणविही ण तरइ काउ जइ को वि अत्थपरिहीणो ।
तो विउणा कायव्वा उववासविही पयत्तेण । ३५९
जइ अतरम्मि कारणवसेण एक्को व दो व उववासा[4] ।
ण कओ तो मूलाओ पुणो वि सा होइ कायव्वा ।। ३६०

आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान (एकाशन), चतुर्थभक्त अर्थात् उपवास, षष्ठ भक्त अर्थात् वेला, अष्टमभक्त अर्थात् तेला आदिके द्वारा जो शरीरको कृश किया जाता है, उसे कायक्लेश जानना चाहिए ।। ३५१ ।। बुद्धिमान् मनुष्य तो इस संक्षिप्त कथनसे ही अपनी बुद्धिके वैभव द्वारा कायक्लेशके विस्तृत स्वरूपको समझ जाते है । किन्तु मन्दबुद्धि जन नही समझ पाते है, इसलिए कायक्लेशका कुछ विस्तृत स्वरुप कहूँगा ।। ३५२ ।। आषाढ, कार्त्तिक या फाल्गुन मासमें शुक्ला पचमीके दिन पहले जिन-पूजनको करके पुन: गुरुके पाद-मूलमे विधिको ग्रहण करके, अर्थात् उपवासका नियम लेकर, प्रतिमास एक क्षमणके द्वारा अर्थात् एक उपवास करके पाँच वर्ष और पाँच मास तक मुक्ति-सुखको चाहनेवाले श्रावकोको अविच्छिन्न अर्थात् विना किसी नागाके लगातर यह पचमीव्रत करना चाहिए ।। ३५३-३५४ ।। व्रत पूर्ण हो जानेपर जिनेन्द्र भगवान्‌की पाँच प्रतिमाएँ बनवाकर, तथा पॉच पोथियो (शास्त्रो) को लिखाकर अपनी शक्तिके अनुसार उनकी प्रतिष्ठाके लिए जो कुछ भी प्रतिष्ठाके योग्य उपकरण आवश्यक हो, वे सब प्रत्येक पाँच पाँचकी सख्यासे बनवाना चाहिए ।। ३५५-३५६ ।। हिरण्य-सुवर्ण सहित अर्थात् जिनके भीतर सोना, चाँदी, माणिक आदि रखे गये है, और जिनके मुख वस्त्रसे बँधे हुए है, ऐसे पाँच कलशोंको जिनेन्द्र-वेदिकाके सामने रखकर, तथैव नानाप्रकारक पकवान और विविध फलोको भी रखकर और चतुर्विध संघको यथायोग्य दान देकर देशविरत श्रावकोंको इस प्रकार व्रत उद्यापन विधि करना चाहिए ।। ३५७-३५८ ।। यदि कोई धन-हीन श्रावक उद्यापनकी विधि करनेके लिए समर्थ न हो, तो उसे विधिपूर्वक यत्नके साथ उपवास-विधि दुगुनी करना चाहिए ।। ३५९ ।। यदि व्रत करते हुए बीचमे

---

१ ब. बुज्झंति । ध जुज्झंति । २ प. पुज्जा । ३ ध अविच्छिण्णा । ४ ध उववासो ।
(१) आचाम्लं निर्विकृत्यैकभक्त-षष्ठाष्टमादिकम् ।
यथाशक्तिश्च क्रियते कायक्लेश स उच्यते ।। २०८ ।।

एस कमो णायव्वो सव्वविहीणं भणिज्जमाणाणं । एवं णाऊण फुडं ण पमाओ होइ कायव्वो ॥ ३६१
पंचमिउववासविहिं किच्चा देविंद-चक्कवट्टित्ते । भोत्तूण दिव्वभाए पच्छा पाउणदि णिव्वाणं । ३६२

रोहिणीव्रत-वर्णन

विहिणा गहिऊण विहिं रोहिणिरिक्खम्मि पंच वासाणि ।
पंच य मासा जाव उ[1] उपवासं तम्मि रिक्खम्मि ॥ ३६३
काऊणुज्जवणं पुण पुव्वविहाणेण होइ कायव्वं । णवरि विसेसो पडिमा कायव्वा वासुपुज्जस्स ॥ ३६४
तस्स फलेणित्थी वा पुरिसो सोयं[2] ण पिच्छइ कया वि ।
भोत्तूण विउलभोए पच्छा पाउणइ णिव्वाणं ॥ ३६५

अश्विनीव्रत-वर्णन

गहिऊणस्सिणिरिक्खम्मि विहिं रिक्खेसु सत्तवीसेसु ।
रिक्खं पडि एक्केक्को उववासो होइ कायव्वो ॥ ३६६
एवं काऊण विहिं सत्तीए जो करेइ उज्जवणं । भुत्तूणब्भुदयसुहं सो पावइ अक्खयं सुक्खं ॥ ३६७

सौख्यसम्पत्तिव्रत-वर्णन

एया पडिवा वीया उ दुण्णि तीया उ तिण्णि चउत्थीओ[3] । चत्तारि पंच य छट्ठीउ छट्ठेव । ३६८
सत्तेव सत्तमीओ अट्ठट्ठम्मिओ य णव य णवमीओ ।
दस दसमीओ य तहा एयारस एयारसीओ य ॥ ३६९

किसी कारणवश एक या दो उपवास न किये जा सके हों, तो मूलसे अर्थात् प्रारम्भ से लेकर पुन. वही उपवास विधि करना चाहिए ॥ ३६० ॥ यह क्रम आगे कहे जाने वाले सभी व्रत-विधानोंका जानना चाहिए, ऐसा भले प्रकार जानकर कभी भी ग्रहण किये गये व्रतमें प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥ ३६१ ॥ श्रावक इस पंचमीव्रत के उपवास-विधानको करके देवेन्द्र और चक्रवर्त्तियोंके दिव्य भोग भोगकर पीछे निर्वाण पदको प्राप्त करता है । ३६२ ॥ रोहिणी नक्षत्रमें विधिपूर्वक व्रत-विधिको ग्रहणकर पाँच वर्ष और पाँच मास तक उसी नक्षत्रमे उपवासको ग्रहणकर, पुन अर्थात् व्रतपूर्ण होनेके पश्चात् पूर्वोक्त विधानसे उसका उद्यापन करना चाहिए । यहाँ केवल विशेषता यह है कि प्रतिमा वासुपूज्य भगवान्‌की बनवाना चाहिए ॥ ३६३–३६४ ॥ इस रोहिणी व्रतके फलसे स्त्री हो, या पुरुष, वह कभी भी शोकको नही देखता है, अर्थात् उसका जीवन रोग-शोक-रहित सुखसे व्यतीत होता है और वह विपुल भोगोंको भोगकर पीछे निर्वाण-सुखको प्राप्त होता है ॥ ३६५ ॥ अश्विनी नक्षत्रमें व्रत-विधि को ग्रहणकर पुन. सत्ताईस नक्षत्रोंमें प्रत्येक अश्विनी नक्षत्रपर एक-एक उपवास करना चाहिए । इस प्रकार अश्विनी व्रतकी विधिको करके जो अपनी शक्तिके अनुसार उद्यापन करता है, वह अभ्युदय अर्थात् स्वर्गके सुखको भोगकर अक्षय मुक्ति-सुखको प्राप्त करता है ॥ ३६६-३६७ ॥ प्रतिपदा आदिक तिथियोमें यथोक्त सख्याके क्रमसे प्रतिपदका एक, द्वितीयाके दो, तृतीयाके तीन, चतुर्थीके चार, पंचमीके पाँच, षष्ठीके छह, सप्तमीके सात, अष्टमीके आठ नवमीके नौ, दशमीके दस एकादशीके ग्यारह, द्वादशीके बारह, त्रयोदशीके

---

१ झ. जाओ । २ सोक । ३ ब चोत्थीओ ।

बारस य बारसीओ तेरह तह तेरसीओ णायव्वा । चोद्दस य चोद्दसीओ पण्णारस पुण्णिमाओ य।।३७०
उववासा कायव्वा जहुत्तसंखाकमेण एयासु । एसा णामेण विहि विण्णेया सुक्खसंपत्ती ।। ३७१
एयस्से संजायइ फलेण अब्भुदयसुक्खसंपत्ती । कमसो मुत्तिसुहस्स वि तम्हा कुज्जाप यत्तेण ।। ३७२

नन्दीश्वरपंक्तिव्रत-वर्णन

काऊण अट्ठ एयंतराणि रइयरणगेसु चत्तारि । दहिमुहसेलेसु पुणो अंजणजिणचेइए छट्ठं ।। ३७३
णंदीसरम्मि दीवे एवं चउसु वि दिसासु कायव्वा । उववासा एस विहि णंदीसरपंति णामेण ।। ३७४
जं किं पि देवलोए महड्ढिदेवाण माणुसाण सुहं । भोत्तूण सिद्धिसोक्खं पाउणइ फलेण एयस्स ।। ३७५

विमानपंक्तिव्रत-वर्णन

एयतरोववासा चत्तारि चउद्दिसासु काऊण । छट्ठं मज्झे एवं तिसट्ठिखुत्तो विहिं कुज्जा ।। ३७६
पट्ठवणे णिट्ठवणे छट्ठं मज्झम्मि अट्ठयं च तहा । एस विही णायव्वा विमाणपंति त्ति णामेण ।। ३७७
फलमेयस्से भोत्तूण देव-मणुएसु इंदियजसुक्खं । पच्छा पावइ मोक्खं थुणिज्जमाणो सुरिंदेहिं ।। ३७८
उद्देसमेत्तमेयं कीरइ अण्णं पि जं ससत्तीए । सुत्तुत्ततवविहाण कायकिलेसु त्ति तं विंति ।। ३७९

जिण-सिद्ध-सूरि-पाठय-साहूणं जं सुयस्स विहवेण ।
कीरइ विविहा पूजा वियाण तं पूजणविहाणं ।। ३८० (१)

तेरह, चतुर्दशीके चौदह और पूर्णमासीके पन्द्रह उपवास करना चाहिए । इस उपवास-विधिका नाम सौख्यसपत्तिव्रत जानना चाहिए । इस व्रत-विधिके फलसे अभ्युदय-सुखकी संप्राप्ति होती है और क्रमसे मुक्तिसुखकी भी प्राप्ति होती । इसलिए प्रयत्नके साथ इस व्रतको करना चाहिए । ।। ३६८–३७२ ।। नन्दीश्वर द्वीपमे एक दिशासम्बन्धी आठ रतिकर पर्वतोमे विद्यमान जिन-विम्ब सम्बन्धी आठ एकान्तर उपवास करके, पुनः चार दधिमुख नामक शैलोमे विद्यमान जिनविम्व सम्बन्धी चार एकान्तर उपवास करके, पुन एक अंजनगिरिस्थ जिनबिम्ब सम्बन्धी षष्ठभक्त अर्थात् एक वेला करे । इस प्रकार चारो ही दिशाओ मे उपवास करना चाहिए । इस उपवास-विधिका नाम नन्दीश्वर पक्ति व्रत है । इस व्रतके फलसे देवलोकमे महर्द्धिक देवोके जो कुछ भी सुख हैं और मनुष्योंके जितने सुख है, उन्हे भोगकर यह जीव सिद्धि-सुखको प्राप्त होता है ।।३७३-३७५।। चारो दिशाओमे स्थित चार श्रेणीबद्ध विमान सम्बन्धी चार एकान्तर उपवास करके, पुन मध्यमे स्थित इन्द्रक विमान सम्बन्धी एक षष्ठभक्त अर्थात् वेला करे । इस प्रकार यह विधि तिरेसठ बार करना चाहिए । प्रस्थापन अर्थात् व्रत-प्रारम्भ करनेके दिन और निष्ठापन अर्थात् व्रत समाप्त होनेके दिन वेला करे, तथा मध्यमें अष्टम भक्त अर्थात्तेला करे । इस उपवास-विधिका नाम विमान-पंक्ति व्रत जानना चाहिए ।। ३७६–३७७ ।। इस व्रत-विधानके फलसे यह जीव देव और मनुष्योमे इन्द्रिय-जनित सुख भोगकर पीछे देवेन्द्रोसे स्तुति किया जाता हुआ मोक्षको पाता है ।। ३७८ ।। व्रतोका यह उद्देशमात्र वर्णन किया गया है । इनके अतिरिक्त अन्य भी सूत्रोक्त तप-विधानको जो अपनी शक्तिके अनुसार करता है, उसे आचार्योने कायक्लेश इस नामसे कहा है ।। ३७९ ।। अर्हन्त जिनेन्द्र, सिद्ध भगवान्, आचार्य, उपाध्याय और साधुओंकी तथा शास्त्रका जो वैभवसे नाना प्रकार की पूजा की जाती है, उसे पूजन-विधान जानना चाहिए ।।३८०। नाम, स्थापना,

---

(१) गुरूणामपि पचाना या यथाभक्ति–शक्तितः । क्रियतेऽनेकधा पूजा सोऽर्चनाविधिरुच्यते ।२११।

णाम-ट्ठवणा-दव्वे खित्ते काले वियाण भावे य ।
छव्विहपूया भणिया समासओ जिणवरिंदेहिं ॥ ३८१ (१)

नामपूजा

उच्चारिऊण णामं अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि ।
पुप्फाणि जं खिविज्जंति वण्णिया[1] णामपूया सा ॥ ३८२ (२)

स्थापना पूजा

सब्भावासब्भावा दुविहा ठवणा जिणेहि पण्णत्ता । सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोवणं पढमा ॥ ३८३
अक्खय-वराडओ वा अमुगो एसो[2] त्ति णिययबुद्धीए ।
संकप्पिऊण वयणं एसा विइया असब्भावा ॥ ३८४ (३)
हुंडावसप्पिणीए विइया ठवणा ण होदि[3] कायव्वा।लोए कुलिंगमइमोहिए जदो होइ संदेहो ३८५(४)
कारावगिंदपडिमा पइट्ठलक्खणविहिं फलं चेव । एदे पंचहियारा णायव्वा पढमठवणाए ॥ ३८६ (५)

कारापक-लक्षण

भागी वच्छल्ल-पहावणा-खमा-सच्च-मद्दवोवेदो । जिणसासण-गुरुभत्तो सुत्ते कारावगो भणिदो।३७८

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा संक्षेपसे छह प्रकारकी पूजा जिनेन्द्रदेवने कही है ॥ ३८१ ॥ अरहन्त आदिका नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेशमे जो पुष्प क्षेपण किये जाते है, वह नाम-पूजा जानना चाहिए ॥ ३८२ ॥ जिन भगवान्ने सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना, यह दो प्रकारकी स्थापना पूजा कही है । आकारवान् वस्तुमें जो अरहन्त आदिके गुणोका आरोपण करना, सो यह पहली सद्भावस्थापना पूजा है । और अक्षत, वराटक (कौडी या कमलगट्टा) आदिमे अपनी बुद्धिसे यह अमुक देवता है ऐसा सकल्प करके उच्चारण करना, सो यह असद्भावस्थापना पूजा जानना चाहिए ॥३८३–३८४॥ हुडावसर्पिणी कालमें दूसरी असद्भावस्थापना पूजा नही करना चाहिए, क्योकि, कुलिंग-मतियोसे मोहित इस लोकमे संदेह हो सकता है ॥ ३८५ ॥ पहली सद्भाव-स्थापना-पूजामे कारापक अर्थात् प्रतिमाको बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा करानेवाला, इन्द्र अर्थात् प्रतिष्ठाचार्य, प्रतिमा, प्रतिष्ठाकी लक्षणविधि, ओर प्रतिष्ठाका फल, ये पाँच अधिकार जानना चाहिए ॥ ३८६ ॥ भाग्यवान्, वात्सल्य, प्रभावना, क्षमा, सत्य और मार्दव गुणसे संयुक्त, जिन अर्थात् देव, शासन अर्थात् शास्त्र और गुरुकी भक्ति करनेवाला प्रतिष्ठाशास्त्रमें कारापक कहा गया है

---

१ ब वाण्णिया । २ इ एसु । ३ य. ध. होई ।

(१) स नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-कालाच्च भावत ।
षोढार्चाविधिरुद्दिष्टो विधेयो देशसंयतैः ॥ २१२ ॥—गुण० श्राव०

(२) नामोच्चारोऽर्हतादीना प्रदेशे परित. शुचौ । य पुष्पाक्षतनिक्षेपा क्रियते नामपूजनम् ॥ २१३ ॥

(३) सद्भावेतरभेदेन स्थापना द्विविधा मता । सद्भावस्थापना भावे साकारे गुणरोपणम् ॥ २१४ ॥
उपलादौ निराकारे शुचौ सकल्पपूर्वकम् । स्थापनं यदसद्भाव स्थापनेति तदुच्यते ॥ २१५ ॥

(४) हूडावसर्पिणीकाले द्वितीया स्थापना बुधैः । न कर्तव्या यतो लोके समूढसंशयो भवेत् ॥ २१६ ॥

(५) निर्मापकेन्द्रप्रतिमा प्रतिष्ठालक्ष्म तत्फलम् । अधिकाराश्च पंचैते सद्भावस्थापने स्मृताः ॥२१७॥
—गुणभूषण श्रावकाचार

इंद्र–लक्षण

देश-कुल-जाइसुद्धो णिरुवम-अंगो विसुद्धसम्मत्तो। पढमाणिओयकुसलो पइट्ठलक्खणविहिविदण्णू॥
सावयगुणोववेदो उवासयज्झयणसत्थथिरबुद्धी। एव गुणो पइट्ठाइरिओ जिणसासणे भणिओ॥ ३८९

प्रतिमा-विधान

★मणि-कणय-रयण-रुप्पय-पित्तल-मुत्ताहलोवलाईहिं।
पडिमालक्खणविहिणा जिणाइपडिमा घडाविज्जा। ३९०

बारह-अंगंगी जा[1] दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा। चोद्दहपुव्वाहरणा ठावेयव्वा य सुयदेवी॥ ३९१
अहवा जिणागमं पुत्थएसु सम्मं लिहाविऊण तओ। सुहतिहि-लग्ग मुहुत्ते आरंभो होइ कायव्वो। ३९२

प्रतिष्ठा-विधान

अट्ठदसहत्थमेत्तं भूमिं संसोहिऊण जइणाए। तस्सुवरि मंडओ पुण कायव्वो तप्पमाणेण॥ ३९३
चउतोरण-चउदारोवसोहिओ विविहवत्थकयभूसो। धुव्वंतधय-वडाओ णाणापुप्फोवहारड्ढो॥३९४
लंबंतकुसुमदामो वंदणमालाहिभूसियदुवारो। दारुवरि उहयकोणेसु पुण्णकलसेहि रमणीओ॥ ३९५
तस्स बहुमज्झदेसे पइट्ठसत्थम्मि वुत्तमाणेण। समचउरंसं पीठ सव्वत्थ समं च काऊण॥ ३९६
चउसु वि दिसासु तोरण-वंदणमालोववेददाराणि। [2]णंदावत्ताणि तहा दिढाणि रइऊण कोणेसु॥३९७
पडिचीणणेत्तपट्टाइएहिं वत्थेहिं बहुविवेहिं तहा उल्लोविऊण उवरिं चंदोवयमणिविहाणेहिं॥ ३९८

॥ ३८७ जो देश, कुल और जातिसे शुद्ध हो, निरुपम अगका धारक हो, विशुद्ध सम्यग्दृष्टि हो, प्रथमानुयोगमे कुशल हो, प्रतिष्ठाकी लक्षण-विधिका जानकर हो, श्रावकके गुणोसे युक्त हो, उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) शास्त्रमे स्थिरबुद्धि हो, इस प्रकारके गुणवाला जिनशासनमे प्रतिष्ठाचार्य कहा गया है॥ ३८८–३८९॥ मणि, स्वर्ण, रत्न, चाँदी, पीतल, मुक्ताफल (मोती) और पाषाण आदिसे प्रतिमाकी लक्षणविधिपूर्वक अरहंत, सिद्ध आदिकी प्रतिमा बनवाना चाहिए ॥३९०॥ जो श्रुतज्ञानके बारह अंग-उपागवाली है, सम्यग्दर्शनरूप तिलकसे विभूषित है, चारित्ररूप वस्त्रकी धारक है, और चौदह पूर्वरूप आभरणोसे मडित है, ऐसी श्रुतदेवी भी स्थापित करना चाहिए॥३९१॥ अथवा जिनागमको पुस्तकोंमे सम्यक् प्रकार लिखाकर तत्पश्चात् शुभ तिथि, शुभ लग्न और शुभ मुहूर्त्तमे प्रतिष्ठाका आरम्भ करना चाहिए॥ ३९२॥ आठ-दस हाथ प्रमाण लम्बी-चौडी भूमिको यतनाके साथ भले प्रकार शुद्ध करके उसके ऊपर तत्प्रमाण मडप बनाना चाहिए। वह मडप चार तोरणोसे और चार द्वारोसे सुशोभित हो, नाना प्रकारके वस्त्रोसे विभूषित हो, जिसपर ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही हो, जो नाना पुष्पोपहारोसे युक्त हो, जिसमे पुष्प-मालाएँ लटक रही हो जिसके दरवाजे वदन-मालाओंसे विभूषित हो, जो द्वारके ऊपर दोनो कोनोंमे जल-परिपूर्ण कलशोसे रमणीक हो। उस मडपके बहुमध्यदेशमे, अर्थात् ठीक बीचोबीच प्रतिष्ठाशास्त्रमे कहे हुए प्रमाणसे समचतुरस्र अर्थात् चौकोण पीठ (चबूतरा) बनाकर और उसे सर्वत्र समान करके, चारो ही दिशाओंमे तोरण और वदनमालाओसे सयुक्त द्वारोंको बनाकर, तथा कोनोमें दृढ मजबूत और स्थिर नद्यावर्त बनाकर, चीनपट्ट (चाइना सिल्क), कोशा नादि नाना प्रकारके

१ ध अंगेगिज्जा। २ झ. वज्जावत्ताणि, म प छत्तावत्ताणि। ध छज्जावत्ताणि।

★ स्वर्णरत्नमणिरौप्यनिर्मित स्फाटिकामलशिलाभव तथा।
उत्थिताम्बुजमहासनागित जैनबिम्बमिह शस्यते बुधै॥ ६९॥—वसुबिन्दुप्रतिष्ठापाठ

संभूसिऊण चंदद्धचंदव्वुव्वुयवरायलाईहिं । मुत्तादामेहिं तहा किंकिणिजालेहिं विविहेहिं ।। ३९९
छत्तेहिं चामरेहिं य दप्पण-भिंगार-तालवट्टेहिं । कलसेहि पुप्फवडिलिय-सुपइट्ठय-दीवणिवहेहिं।।४००
एयं रयणं काऊण तओ अब्भंतरम्मि भागम्मि । रइऊण विविहभंडेहिं वेइयं चउसु कोणेसु ।। ४०१
इंदो तह दायारो पासुयसलिलेण धारणादिण्हे[1] । पक्खालिऊण देहं पच्छा भोत्तूण महुरण्णं ।।४०२
उववासं पुण पोसहविहिणा गहिऊण गुरुसयासम्मि । णव-धवलवत्थभूसो सिरिखंडविलित्तसव्वंगो ।।
आहरण-वासियाईहिं भूसियंगो सगं सबुद्धीए । सक्कोहमिइ वियप्पिय विसेज्ज जागावणि इंदो ४०४
पुव्वुत्तवेइमज्झे लिहेज्ज चुण्णेण पंचवण्णेण[2] । पिहुकण्णियं पइट्ठाकलावविहिणा सुकंदुत्थं[3] ।। ४०५
रंगावलिं च मज्झे ठविज्ज सियवत्थपरिवुडं पीठं । उचिदेसु तह पइट्ठोवयरणदव्वं च ठाणेसु ।। ४०६
एवं काऊण तओ ईसाणदिसाए वेइयं दिव्वं । रइऊण ण्हवणपीठ तिस्से मज्झम्मि ठावेज्जो ।। ४०७
अरुहाईणं पडिमं विहिणा संठाविऊण तस्सुवरिं । धूलीकलसहिसेयं कराविए सुत्तहारेण ।। ४०८
वत्थादियसम्माणं कायव्व होदि तस्स सत्तीए । *पोक्खणविहिं च मगलरवेण कुज्जा तओ कमसो ।।

नेत्राकर्षक वस्त्रोंसे निर्मित चन्द्रकान्तमणि तुल्य चतुष्कोण चँदोवेको तानकर चन्द्र, अर्धचन्द्र, बुद्बुद, वराटक (कौडी) आदिसे तथा मोतियोंकी मालाओसे, नाना प्रकारकी छोटी घण्टियोंके समूहसे, छत्रोसे, चमरोसे, दर्पणोसे, भृङ्गारोसे, तालवृन्तोसे, कलशोसे, पुष्प-पटलोसे, सुप्रतिष्ठक (स्वस्तिक) और दीप-समूहोंसे आभूषित करे । इस प्रकारकी रचना करके पुन. उस चबूतरेके आभ्यन्तर भागमें चारों कोणोंमे विविध भाँडों (बर्तनो) से वेदिका बनाना चाहिए।।३९३-४०१।। धारणाके दिन अर्थात् प्रतिष्ठा करते समय उपवास ग्रहण करनेके पहले इन्द्र (प्रतिष्ठाचार्य)ओर दातार (प्रतिष्ठा-कारापक)प्रासुक जलसे देहको प्रक्षालनकर अर्थात् स्नानकर तत्पश्चात् मधुर अन्नको खाकर, पुन गुरुके पासमे प्रोषधविधिसे उपवासको ग्रहणकर, नवीन, उज्ज्वल श्वेत वस्त्रोंसे विभूषित हो, श्रीखण्ड चन्दनसे सर्व अंगको लिप्तकर, आभरण और वासिका (सुगंधित द्रव्य या चूर्ण आदि)से विभूषित-अंग होकर, अपने आपको अपनी बुद्धिसे मैं इन्द्र हूँ ऐसा सकल्प करके वह इन्द्र (और प्रतिष्ठाकारक) यज्ञावनि अर्थात् प्रतिष्ठामंडपमे प्रवेश करे ।।४०२-४०४।।

प्रतिष्ठा-मडपमे जाकर तत्रस्थ पूर्वोक्त वेदिकाके मध्यमे पच वर्णवाले चूर्णके द्वारा प्रतिष्ठाकलापकी विधिसे पृथु अर्थात् विशाल कर्णिकावाले नील कमलको लिखे और उसमे रगावलिको भरकर उसके मध्यमें श्वेत वस्त्रसे परिवृत पीठ अर्थात् सिंहासन या ठौनाको स्थापित कर तथा प्रतिष्ठामे आवश्यक उपकरण द्रव्य उचित स्थानोंपर रखे । ४०५-४०६।। इस प्रकार उपर्युक्त कार्य करके पुनः ईशान दिशामें एक दिव्य वेदिका रचकर, उसके मध्यमें एक स्नान-पीठ अर्थात् अभिषेकार्थ सिंहासन या चौकी वगैरहको स्थापित करे । और उसके ऊपर विधिपूर्वक अरहंत आदिकी प्रतिमाको स्थापित कर सूत्रधार अर्थात् प्रतिमा बनानेवाले कारीगरके द्वारा धूलिकलशाभिषेक करावे । तत्पश्चात् उस सूत्रधारका अपनी शक्तिके अनुसार वस्त्रदिकमे सन्मान करना चाहिये । तत्पश्चात् क्रमश. प्रोक्षणविधिको मांगलिक वचन गीतादिमे करे ।(धूलीकलशाभिषेक और प्रोक्षणविधिके जाननेके लिए परिशिष्ट देखिए) ।।४०७-४०९। तत्पश्चात् आकर-शुद्धिके

1 इ दियह, झ ध दियहे, ब प दियहो । 2 पंचवर्णचूर्ण-श्वेतमुक्ताचूर्ण, पीत-हरिद्रपीतमणिचूर्ण, हरित-वैडूर्यरत्नचूर्ण, रक्त-माणिक्य-ताम्रमणिचूर्ण, कृष्ण-गारुत्मणिचूर्ण. (वसुबिन्दु प्रतिष्ठापाठ) 3 इ झ ध फ मुकंदुट्ठ, ब मुकदुट्ठं । नीलोत्पलमित्यर्थः ।

तप्पाओग्गुवयरणं अप्पसमीवं णिविसिऊण तओ । आगरसुद्धिं कुज्जा पइट्ठसत्थुत्तमग्गेण ॥ ४१०
एवं काऊण तओ खुहियसमुद्दोव्व गज्जमाणेहिं । वरभेरि-करड-काहल-जय-घंटा-संख-णिवहेहिं ४११
गुलुगुलुगुलंत तविलेहिं कंसतालेहिं झमझमतेहिं। घुम्मंत पडह-मद्दल[1]-हुडुक्कमुक्खेहिं विविहेहिं ४१२
गिज्जंत संधिबंधाइएहिं गेएहिं[2] बहुपयारेहिं । वीणावंसेहिं तहा आणयसद्देहिं रम्मेहिं । ४१३

बहुहाव-भाव-विब्भम-विलास-कर-चरण-तणुवियारेहिं ।
णच्चंत णवरसुब्भिण्ण-णाडएहिं विविहेहिं ॥ ४१४

थोत्तेहिं मंगलेहिं य उच्छाहसएहिं महुरवयणस्स धम्माणुरायरत्तस्स चाउव्वण्णस्स संघस्स ॥ ४१५

भत्तीए पिच्छमाणस्स तओ उच्चाइऊण जिणपडिमं ।
उस्सिय[3] सियायवत्तं सियचामरधुव्वमाण[4] सव्वंगं ॥ ४१६

आरोविऊण सीसे काऊण पयाहिणं जिणगेहस्स । विहिणा ठविज्ज पुव्वुत्तवेइयामज्झपीठम्मि ॥४१७
चिट्ठेज्ज-जिणगुणारोवणं कुणंतो जिणिंदपडिबिंबे ।इट्ठविलग्गस्सुदए चंदणतिलयं तओ दिज्जा ४१८
सव्वावयवेसु पुणो मतण्णासं कुणिज्ज पडिमाए । विविहच्चणं च कुज्जा कुसुमेहिं बहुप्पयारेहिं ४१९

दाऊण मुहपडं धवलवत्थजुयलेण मयणफलसहियं ।
अक्खय-चरु-दीवेहिं य धूवेहिं फलेहिं विविहेहिं ॥ ४२०

बलिवत्तिएहिं जावारएहिं[5] य सिद्धत्थपण्णरुक्खेहिं पुव्वुत्तुवयरणेहि य[6] रएज्ज पुज्जं सविहवेण ४२१

योग्य उपकरणोको अपने समीप रखकर प्रतिष्ठाशास्त्रमे कहे हुए मार्गके अनुसार आकर शुद्धिको करे। (आकरशुद्धिके विशेष स्वरूपको जाननेके लिए परिशिष्ठ देखिए) ।४१०॥ इस प्रकार आकारशुद्धि करके पुन: क्षोभित हुए समुद्रके समान गर्जना करते हुए उत्तमोत्तम भेरी करड, काहल, जयजयकार शब्द, घण्टा और शखोके समूहोसे गुल-गुल शब्द करते हुए तबलोसे, झम-झम शब्द करते हुए कंसतालोसे, घुम-घुम शब्द करते हुए नाना प्रकारके ढोल, मृदग, हुडुक्क आदि मुख्य-मुख्य बाजोसे, सुर-आलाप करते हुए सधिबधादिकोसे अर्थात् सारगी आदिसे, और नाना प्रकारके गीतोसे, सुरम्य वीणा, बाँसुरीसे तथा सुन्दर आणक अर्थात् वाद्यविशेषके शब्दोसे नाना प्रकारके हाव, भाव, विभ्रम, विलास तथा हाथ, पैर और शरीरके विकारोंसे अर्थात् विविध नृत्योसे नाचते हुए नौ रसोंको प्रकट करनेवाले नाना नाटकोंसे, स्तोत्रोसे, मागलिक शब्दोस, तथा उत्साह-शतोंसे अर्थात् परम उत्साहके साथ मधुरभाषी, धर्मानुराग-रक्त और भक्तिसे उत्सवको देखनेवाले चातुर्वर्ण सघके सामने, जिसके ऊपर श्वेत आतपत्र (छत्र) तना है, और श्वेत चामरोके ढोरनेसे व्याप्त है सर्व अग जिसका, ऐसी जिनप्रतिमाको वह प्रतिष्ठाचार्य अपने मस्तकपर रखकर और जिनेन्द्रगृहकी प्रदक्षिणा करके, पूर्वोक्त वेदिकाके मध्य-स्थित सिंहासनपर विधिपूर्वक प्रतिमाको स्थापित कर, जिनेन्द्र-प्रतिबिम्ब अर्थात् जिन-प्रतिमामे जिन-भगवान्‌के गुणोका आरोपण करता हुआ, पुनः इष्ट लग्नके उदयमे अर्थात् शुभ मुहूर्तमे प्रतिमाके चन्दनका तिलक लगावे। पुनः प्रतिमाके सर्व अगोपागोमे मंत्रन्यास करे और विविध प्रकारके पुष्पोसे नाना पूजनोंको करे। तत्पश्चात् मदनफल (मैनफल या मैनार) सहित धवल वस्त्र-युगलसे प्रतिमाके मुखपट देकर अर्थात् वस्त्रसे मुखको आवृत कर, अक्षत, चरु, दीपसे, विविध धूप फलोसे, वलि-वर्तिकाने

---

१ ब॰ मद्दल २ इ॰ गएहिं ब॰ गोएहिं । ३ ड उब्भिय । ४ इ, दोलिमाण॰ । ५ म॰ जुवारेहि । ६ ध प॰ परए ।

रत्ति जग्गिज्ज[1] पुणो तिसट्ठि[2] सलायपुरिससुकहाहिं । संघेण समं पुज्जं पुणो वि कुज्जा पहायम्मि ॥
एवं चत्तारि दिणाणि जाव कुज्जा तिसंझ जिणपूजा ।
★नेत्तुम्मीलणपुज्जं चउत्थण्हवणं तओ कुज्जा ॥ ४२३
एव ण्हवणं काऊण सत्थमग्गेण संघमज्झम्मि । तो वक्खमाणविहिणा जिणपयपूया य कायव्वा ॥ ४२४
गहिऊण सिसिरकर-किरण-णियर-धवलयर-रययभिंगारं ।
मोत्तिय-पवाल-मरगय-सुवण्ण-मणि-खचिय[3] वरकंठं ॥ ४२५
सयवत्त-कुसुम[4] कुवलय-रजपिंजर-सुरहि-विमल-जलभरियं ।
जिणचरण-कमलपुरओ खिविज्जि ओ तिण्णि धाराओ ॥ ४२६
कप्पूर-कुंकुमायरु-तुरुक्कमीसेण चंदणरसेण । वरबहलपरिमलामोयवासियासासमूहेण ॥ ४२७
वासाणुमग्गसंपत्तमुइयमत्तालिरावमुहलेण । सुरमउडघिट्ठचलण[5] भत्तीए समलहिज्ज जिणं । ४२८
ससिकंतखंडविमलेहिं विमलजलसित्त अइ[6] सुयंधेहिं। जिणपडिमपइट्ठयज्जिवसुद्धपुण्णंकुरेहिं व ४२९
वर कमल-सालितंडुलचएहिं । सुछंडिय[7] दीहसयलेहिं ।
मणुय-सुरासुरमहियं पुज्जिज्ज जिणिंदपयजुयलं ॥ ४३०

अर्थात् पूजार्थ निर्मित अगरबत्तियोसे, जावारकोसे, सिद्धार्थ (सरसो) और पर्ण वृक्षोसे तथा पूर्वोक्त उपकरणोसे पूर्ण वैभवके साथ या अपनी शक्तिके अनुसार पूजा रचे ॥४११–४२१॥ पुन सघके साथ तिरेसठ शलाका पुरुषोकी सुकथालापोसे रात्रिको जगे अर्थात् रात्रि जागरण करे और फिर प्रात.काल संघके साथ पूजन करे ॥४२२॥ इस प्रकार चार दिन तक तीनो सध्याओमे जिन-पूजन करे । तत्पश्चात् नेत्रोन्मीलन पूजन और चतुर्थ अभिषेक करे ॥ ४२३ ॥

इस प्रकार शास्त्रके अनुसार सघके मध्यमे जिनाभिषेक करके आगे कही जानेवाली विधिसे जिनेन्द्र भगवान्‌के चरण-कमलोकी पूजा करना चाहिये ॥४२४॥ मोती, प्रवाल, मरकत, सुवर्ण और मणियोसे जटित श्रेष्ठ कण्ठवाले, शतपत्र (रक्त कमल) कुसुम, और कुवलय (नील कमल) के परागसे पिंजरित एवं सुरभित विमल जलसे भरे हुए शिशिरकर (चन्द्रमा) की किरणोके समूहसे भी अति धवल रजत (चाँदी) के भृङ्गार (झारी) को लेकर जिनभगवानके चरण-कमलोके सामने तीन धाराएँ छोडना चाहिए ॥४२५–४२६॥ कपूर, कुंकुम, अगर, तगरसे मिश्रित. सर्वश्रेष्ठ विपुल परिमल (सुगन्ध) के आमोदसे आशासमूह अर्थात् दशों दिशाओको आवासित करनेवाले और सुगन्धिके मार्गके अनुकरणसे आये हुए प्रमुदित एवं मत्त भ्रमरोके शब्दोसे मुखरित, चदनरसके द्वारा, (निरन्तर नमस्कार किये जानेके कारण) सुरोके मुकुटोसे जिनके चरण घिस गये है, ऐसे श्रीजिनेन्द्रको भक्तिसे विलेपन करे ॥ ४२७–४२८ ॥ चन्द्रकान्तामणिके खड समान निर्मल, तथा विमल (स्वच्छ) जलसे धोये हुए और अतिसुगधित, मानो जिनप्रतिमाकी प्रतिष्ठासे उपार्जन किये गये विशुद्ध पुण्यके अंकुर ही हों, ऐसे अखड और लम्वे उत्तम कलमी और शालि-धान्यसे उत्पन्न तन्दुलोके समूहसे, मनुष्य सुर और असुरोके द्वारा पूजित श्रीजिनेन्द्रके चरण-

१ ब. जग्गेज्ज । प. जगोज । २ ब. तेसट्ठि । ३ ब. खचिय । ४ ध. प कमल । ५ म. चरण । ६ झ. मिउ । ७ ब. सुछडिय ।

★ विदध्यात्तन गन्धेन चामीकरशलाकया । चक्षुरुन्मीलनं शक्रः पूरकेन शुभोदये ॥ ४१८ ॥
—वसुबिन्दुप्रतिष्ठापाठ

मालइ-कयंब-कणयारि-चंपयासोय-बउल-तिलएहिं। मंदार-णायचंपय-पउमुप्पल-सिंदुवारेहिं ॥४३१

कणवीर-मल्लियाहिं[1] कचणार-मचकुंद-किंकराएहिं।

सुरवणज[2] जूहिया-पारिजातय[3]-जासवण-टगरेहिं ॥४३२

सोवण्ण-रुप्पि-मेहिय[4] मुत्तादामेहिं बहुवियप्पेहिं। जिणपय-पंकयजुयलं पुज्जिज्ज सुरिंदसयमहियं ॥

दहि-दुद्ध-सप्पिमिस्सेहिं कलमभत्तेहिं बहुप्पयारेहिं। तेवट्ठि विंजणेहिं य बहुविहपक्कण्णभेएहिं॥४३४

रुप्पय-सुवण्ण-कंसाइथालिणिहिएहिं विविहभक्खेहिं। पुज्जं वित्थारिज्जो भत्तीए जिणिंदपयपुरओ॥

दीवेहिं णियपहोहामियक्क[5]तेएहिं धूमरहिएहिं। मंद चलमंदाणिलवसेण णच्चंत अच्चीहिं ॥४३६

घणपडलकम्मणिवहव्व दूर[6]मवसारियंधयारेहिं। जिणचरणकमलपुरओ कुणिज्ज रयणं सुभत्तीए॥

कालायरु-णह-चंदह-कप्पूर[7]सिल्हारसाइदव्वेहिं[8]।

णिप्पणधूमवत्तीहिं[9] परिमलाय[10]त्तियालीहिं ॥४३८

उग्गसिहादेसियसग्ग-मोक्खमग्गेहिं बहलधूमेहिं। धूविज्ज जिणिंदपयारविंदजुयलं सुरिंदणुयं ॥४३९

जंबीर-मोच-दाडिम-कवित्थ[11]-पणस-णालिएरेहिं। हिंताल-ताल-खज्जूर-णिंबु-नारंग-चारेहिं[12] ॥४४०

युगलको पूजे ॥४२९–४३०॥ मालती, कदम्ब, कर्णकार (कनेर), चंपक, अशोक, बकुल, तिलका मन्दार, नागचम्पक, पद्म (लाल कमल) उत्पल (नीलकमल), सिंदुवार (वृक्षविशेष य, निर्गुण्डी), कर्णवीर (कर्नेर), मल्लिका, कचनार, मचकुन्द, किंकरात (अशोकवृक्ष), देवोके नन्दनवनमे उत्पन्न होनेवाले कल्पवृक्ष, जुही पारिजातक, जपाकुसुम, और तगर (आदि उत्तम वृक्षोसे उत्पन्न) पुष्पोसे, तथा सुवर्ण, चाँदीसे निर्मित फूलोसे और नाना प्रकारके मुक्ताफलोकी मालाओके द्वारा, सौ जातिके इन्द्रोसे पूजित जिनेन्द्रके पद-पकज-युगलको पूजे ॥४३१–४३३॥ चाँदी, सोना, और काँसे आदिकी थालियोमे रखे हुए दही, दूध और घीसे मिले हुए नाना प्रकारके चाँवलोके भातसे, तिरेसठ प्रकारके व्यजनोसे, तथा नाना प्रकारकी जातिवाले पकवानोसे और विविध भक्ष्य पदार्थोसे भक्तिके साथ जिनेन्द्र-चरणोके सामने पूजाको विस्तारे अर्थात् नैवेद्यसे पूजन करे। ४३४–४३५॥ अपने प्रभासमूहसे अमित (अगणित) सूर्योके समान तेजवाले, अथवा अपने प्रभापुञ्जसे सूर्यके तेजको भी तिरस्कृत या निराकृत करनेवाले, धूम-रहित, तथा धीरे-धीरे चलती हुई मन्द वायुके वशसे नाचती हुई शिखाओवाले, और मेघ-पटलरूप कर्मसमूहके समान दूर भगाया है अधकारको जिन्होने, ऐसे दीपकोसे परमभक्तिके साथ जिन-चरण-कमलोके आगे पूजनकी रचना करे, अर्थात् दीपसे पूजन करे ॥४३६-४३७। कालागुरु, अम्बर, चन्द्रक, कर्पूर, शिलारस (शिलाजीत) आदि सुगधित द्रव्योसे बनी हुई, जिसकी सुगन्धसे लुब्ध होकर भ्रमर आ रहे है, तथा जिसकी ऊँची शिखा मानो स्वर्ग और मोक्षका मार्ग ही दिखा रही है, और जिसमे से बहुत-सा धुआँ निकल रहा है, ऐसी धूपकी बत्तियोसे देवेन्द्रोसे पूजित श्रीजिनेन्द्रके पादारविन्द-युगलको धूपित करे, अर्थात् उक्त प्रकारकी धूपसे पूजन करे ॥४३८–४३९॥

जबीर (नीबू विशेष), मोच (केला), दाडिम (अनार), कवित्थ (कवीट या कैथा) पनस, नारियल, हिताल, ताल, खजूर, निम्बू, नारगी, अचार (चिरौजी), पूगीफल (सुपारी),

---

१ ध प माल्लया। २ झ ब. ध प सुरपुण्ण। ३ ध प पारियाय। ४ व मेहिय (निवृत्त इत्यर्थ)। ५ निराकृत इत्यर्थ। ६ प ब ध. मुवमा। ७ झ ब, तुरुक्क। ८ झ. ब दिव्वेहिं। ९ प वत्तीहिं। १० इ पत्ति, झ. यट्टि, ब. यड्ढि। ११ ब कपिह। १२ झ वारेहि।

पूईफल-तिंदु-आमलय-जंबु-विल्लाइसुरहिमिट्ठेहिं। जिणपयपुरओ रयणं फलेहि कुज्जा सुपक्केहिं॥

अट्ठविहमंगलाणि य बहुविहपूजोवयरणदव्वाणि।
धूवदहणाइ[1] तहा जिणपूयत्थं[1] वितीरिज्जा॥४४२
एव चलपडिमाए ठवणा भणिया थिराए एमेव।
णवरिविसेसो आगरसुद्धि कुज्जा सुठाणम्मि॥४४३

चित्तपडिलेवपडिमाए दप्पण दाविऊण पडिबिंबे[1]। तिलय दाऊण मुहवत्थं दिज्ज पडिमाए॥

आगरसुद्धि च करेज्ज दप्पणे अह व अण्णपडिमाए।
एत्तियमेत्तविसेसो सेसविही जाण पुव्वं व॥४४५

एवं चिरंतणाणं पि कट्टिमाकट्टिमाण पडिमाणं। जं कीरइ बहुमाणं ठवणापुज्जं हि तं जाण॥४४६
जे पुव्वसमुद्दिट्ठा ठवणापूयाए पंच अहियारा। चत्तारि तेसु भणिया अवसाणे पंचमं भणिओ॥४४७

द्रव्य–पूजा

दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाण दव्वपूजा सा। दव्वेण गंध-सलिलाइपुव्वभणिएण कायव्वा॥(१)
तिविहा दव्वे पूजा सचित्ताचित्तमिस्सभेएण। पच्चक्खजिणाईण सचित्तपूजा[1] जहाजोग्ग॥ ४४९

तेन्दु, आंवला, जामुन, विल्वफल आदि अनेक प्रकारके सुगंधित, मिष्ट और सुपक्व फलोसे जिन-चरणोंके आगे रचना करे अर्थात् पूजन करे ॥४४०–४४१॥ आठ प्रकारके मंगल-द्रव्य और अनेक प्रकारके पूजाके उपकरण द्रव्य, तथा धूप-दहन (धूपायन) आदि जिन-पूजनके लिए वितरण करे। ४४२॥ इस प्रकार चलप्रतिमाकी स्थापना कही गई है, स्थिर या अचल प्रतिमाकी स्थापना भी इसी प्रकार की जाती है। केवल इतनी विशेषता हैं कि आकरशुद्धि स्वस्थानमें ही करे। (भित्ति या विशाल पाषाण और पर्वत आदिपर) चित्रित् अर्थात् उकेरी गई, प्रतिलेपित अर्थात् रंग आदिसे बनाई या छापी गई प्रतिमाका दर्पणमे प्रतिबिम्ब दिखाकर और मस्तकपर तिलक देकर तत्पश्चात् प्रतिमाके मुखवस्त्र देवे। आकरशुद्धि दर्पणमे करे अथवा अन्य प्रतिमामे करे। इतना मात्र ही भेद है, अन्य नही। शेष विधि पूर्वके समान ही जानना चाहिये ॥४४३–४४५॥ इसी प्रकार चिरन्तन अर्थात् पुरातन कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओंका भी जो बहुत सम्मान किया जाता है, अर्थात् पुरानी प्रतिमाओका जीर्णोद्धार, अविनय आदिसे रक्षण, मेला, उत्सव आदि किया जाता है, वह सब स्थापना पूजा जानना चाहिए ॥४४६॥ स्थापना-पूजाके जो पाँच अधिकार पहले (गाथा नं. ३८९ मे) कहे थे उनमेंसे आदिके चार अधिकार तो कह दिये गये है. अवशिष्ट एक पूजाफल नामका जो पचम अधिकार है उसे इस पूजन अधिकारके अन्तमें कहेगे ॥४४७॥ जलादि द्रव्यसे प्रतिमादि द्रव्यकी जो पूजा की जाती है, उसे द्रव्य पूजा जानना चाहिए। वह द्रव्यसे अर्थात् जल-गंध आदि पूर्वमे कहे गये पदार्थ-समूहसे (पूजन-सामग्रीसे) करना चाहिए।.४४८॥ द्रव्य-पूजा, सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारकी है। प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान् और गुरु आदिका यथायोग्य पूजन करना सो सचित्तपूजा है। उनके अर्थात् जिन,

१ झ ब. भूयाणाईहि। २ झ. ब. बिंबो। ४ ब. ध. पुज्जा।

(१) जलगधादिकैर्द्रव्यै पूजन द्रव्यपूजनम्। दव्यस्याप्यथवा पूजा सा तु द्रव्याचना मता॥२१९॥
–गुण श्रा.

तेसिं च सरीराण दव्वसुदस्स वि अचित्तपूजा सा।
जा[1] पुण दोण्ह कीरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा ॥४५० (१)
अहवा आगम-णोआगमाइभेएण बहुविहं दव्वं। णाऊण दव्वपूजा कायव्वा सुत्तमग्गेण ॥४५१

क्षेत्र–पूजा

जिणजम्मण-णिक्खमणे णाणुप्पत्तीए तित्थचिण्हेसु।
णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ॥४५२ (२)

काल–पूजा

गब्भावयार-जम्माहिसेय-णिक्खमण-णाण-णिव्वाण।
जम्हि दिणे संजादं[2] जिणण्हवण तद्दिणे कुज्जा ॥४५३
इक्खुरस-सप्पि-दहि-खीर- गंध-जलपुण्णविविहकलसेहिं।
णिसिजागरणं च संगीय-णाडयाईहिं कायव्व ॥४५४
णंदीसरट्ठदिवसेसु तहा अण्णेसु उचियपव्वेसु।
जं कीरइ जिणमहिम विण्णेया कालपूजा सा ॥४५५ (३)

भाव–पूजा

काऊणाणंतचउट्टयाइगुणकित्तणं जिणाईणं। जं वंदणं तियालं कीरइ भावच्चणं तं खु ॥ ४५६

तीर्थंकर आदिके शरीरकी, और द्रव्यश्रुत अर्थात् कागज आदिपर लिपिबद्ध शास्त्रकी जो पूजा की जाती है, वह अचित्त पूजा है। और जो दोनो का पूजन किया जाता है वह मिश्रपूजा जानना चाहिए ॥४४९–४५०॥ अथवा आगमद्रव्य, नो आगमद्रव्य आदिके भेदसे अनेक प्रकारके द्रव्यनिक्षेप-को जानकर शास्त्र-प्रतिपादित मार्गसे द्रव्यपूजा करना चाहिए ॥४५१॥ जिन भगवान्‌की जन्म-कल्याणभूमि, निष्क्रमणकल्याणभूमि, केवलज्ञानोत्पत्तिस्थान, तीर्थचिन्हस्थान और निषीधिका अर्थात निर्वाण-भूमियोमे पूर्वोक्त विधानसे क्षेत्रपूजा करना चाहिए, अर्थात् यह क्षेत्रपूजा कहलाती हैं ॥४५२॥ जिस दिन तीर्थङ्करोके गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमणकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और निर्वाणकल्याणक हुए है, उस दिन इक्षुरस, घृत, दधि, क्षीर, गंध और जलसे परिपूर्ण विविध अर्थात् अनेक प्रकारके कलशोसे, जिन भगवान्‌का अभिषेक करे तथा संगीत, नाटक आदिके द्वारा जिनगुणगान करते हुए रात्रि-जागरण करना चाहिए। इसी प्रकार नन्दीश्वर पर्वतके आठ दिनोमे तथा अन्य भी उचित पर्वोमे जो जिन-महिमा की जाती है, वह कालपूजा जानना चाहिए ॥४५३–४५५॥ परम भक्तिके साथ जिनेन्द्रभगवान्‌के अनन्तचतुष्टय आदि गुणोका कीर्त्तन करके जो

---

१ ध जो। २ प ध संजाय।

(१) चेतनं वाऽचेतनं वा मिश्रद्रव्यमिति त्रिधा। साक्षाज्जिनादयो द्रव्यं चेतनाख्यं तदुच्यते ॥२२०॥
तद्वपुर्द्रव्यशास्त्रं वाऽचित्तं मिश्रं तु तद्द्वयम्। तस्य पूजनतो द्रव्यपूजनं च त्रिधा मतम् ॥२२१॥
(२) जन्म-निःक्रमणज्ञानोत्पत्तिक्षेत्रे जिनेशिनाम्। निषिध्यास्वपि कर्त्तव्या क्षेत्रे पूजा यथाविधि ॥२२२॥
(३) कल्याणपंचकोत्पत्तिर्यस्मिन्नन्हि जिनेशिनाम्। तदन्हि स्थापना पूजाऽवश्यं कार्या सुभक्तितः ॥२२३
पर्वण्यष्टाह्निकेऽन्यस्मिन्नपि भक्त्या स्वशक्तितः। महामहविधानं यत्तत्कालार्चनमुच्यते ॥२२४॥
–गुण श्रा

पचणमोक्कारपएहिं अहवा जावं कुणिज्ज सत्तीए[1]।
अहवा जिणिंदथोत्तं वियाण भावच्चणं तं पि ॥४५७
पिंडत्थ च पयत्थ रूवत्थ रूववज्जियं अहवा।
ज झाइज्जइ झाणं भावमहं त विणिद्दिट्ठ ॥४५८ (१)

पिंडस्थ–स्थान

सियकिरणविप्फुरंतं अट्ठमहापाडिहेरपरियरिय।
झाइज्जइ ज णियय[2] पिंडत्थ जाण तं झाणं ॥४५९ (२)
अहवा णाहिं च विप्पिऊण[3] मेरु अहोविहायम्मि। झाइज्ज[4] अहोलोय तिरियम्म तिरियए वीए ॥
उड्ढम्मि उड्ढलोयं कप्पविमाणाणि संधपरियते[5]। गेविज्जमया गीव अणुद्दिस हणुपएसम्मि ॥४६१
विजय च वइजयत जयतमवराजिय च सव्वत्थं।
झाइज्ज मुहपएसे णिलाडदेसम्मि सिद्धसिला ॥४६२ (३)
तस्सुवरि सिद्धणिलयं जह सिहर जाण उत्तमगम्मि एव ज णियदेह झाइज्जइ त पि पिंडत्थ ४६३

त्रिकाल वदना की जाती है, उसे निश्चयसे भावपूजा जानना चाहिए ॥४५६॥ अथवा पच णमोकार पदोंके द्वारा अपनी शक्तिके अनुसार जाप करे। अथवा जिनेन्द्रके स्तोत्र अर्थात् गुणगान करनेको भावपूजन जानना चाहिए ॥४५७॥ अथवा पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत रूप जो चार प्रकारका ध्यान किया जाता है, उसे भी भावपूजा कहा गया है ॥४५८॥ श्वेत किरणोसे विस्फुरायमान, और अष्ट महाप्रातिहार्योंसे परिवृत (सयुक्त) जो निजरूप अर्थात् केवली तुल्य आत्मस्वरूपका ध्यान किया जाता है, उसे पिंडस्थ ध्यान जानना चाहिए ॥४५९॥ अथवा,अपने नाभिस्थानमे मेरुपर्वतकी कल्पना करके उसके अधोविभागमे अधोलोकका ध्यान करे। नाभिसे ऊर्ध्वभागमे ऊर्ध्वलोकका चिन्तवन करे? स्कन्धपर्यन्त भागमे कल्पविमानोका, ग्रीवास्थानपर नवग्रैवेयकोका, हनुप्रदेश अर्थात् ठोडीके स्थानपर नव अनुदिशोका, मुखप्रदेशपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धिका ध्यान करे। ललाट देशमे सिद्धशिला, उसके ऊपर उत्तमागमे लोकशिखरके तुल्य सिद्धक्षेत्रको जानना चाहिए। इस प्रकार जो निज देहका ध्यान किया जाता हे, उसे भी पिंडस्थ ध्यान जानना चाहिए ॥४६०–४६३॥ एक अक्षरको आदि लेकर अनेक प्रकारके

---

१ म सुभत्तीए। २ म णियरूव। ३ इ वियप्पेऊण। ४ इ झाइज्जइ। ५ ध. परेग्रत प परियत।

(१) स्मृत्वानन्तगुणोपेत जिन सन्ध्यात्रयेऽर्चयेत्। वन्दना क्रियते भक्त्या तद्भावार्चनमुच्यते।२२५। जाप्य पचपदाना वा स्तवन वा जिनेशिन:। क्रियते यद्यथाशक्तिस्तद्वा भावार्चन मतम् २२६ पिण्डस्थ च पदस्थ च रूपस्थ रूपवर्जितम्। तद्ध्यान ध्यायते यद्वा भावपूजेति सम्मतम्।२२७।

(२) शुद्धस्फटिकसकाश प्रातिहार्याष्टकान्वितम्। यद् ध्यायतेऽर्हतो रूप तद्ध्यान पिण्डसज्ञकम् २२८ अधोभागमधोलोक मध्याश मध्यम जगत्। नाभौ प्रकल्पयेन्मेरु स्वर्गाणा स्कन्धमूर्ध्वत २२९

(३) ग्रैवेयका स्वग्रीवाया हन्वामनुदिशान्यपि। विजयाद्यान्मुख पच सिद्धस्थान ललाटके ॥२३०॥ मूर्ध्नि लोकाग्रमित्येव लोकत्रितयसन्निभम्। चिन्तन यत्स्वदेहस्य पिण्डस्थ तदपि स्मृत।२३१।
–गुण श्राव

पदस्थ-ध्यान

जं झाइज्जइ उच्चारिऊण परमेट्ठिमंतपयममलं।
एयक्खरादि विविहं पयत्थझाणं मुणेयव्वं ॥४६४ (१)
सुण्णं अयारपुरओ झाइज्जो उड्ढरेह-बिंदुजुयं।
पावंधयारमहणं समंतओ फुरियसियतेयं ॥४६५ (२)
अ सि आ उ सा सुवण्णा झायव्वा णंतसत्तिसंपण्णा।
चउपत्तकमलमज्झे पढमाइकमेण णिविसिऊण ॥४६६ (३)
ते चिय वण्णा अट्ठदल पउमकमलाण मज्झदेसेसु।
णिसिऊण सेसपरमेट्ठि अक्खरा चउसु पत्तेसु ॥४६७
रयणत्तय तव-पडिमा-वण्णा णिविसिऊण सेसपत्तेसु।
सिर-वयण-कंठ-हियए णाहिपएसम्मि झायव्वा ॥४६८
अहवा णिलाडदेसे पढम बीयं विसुद्धदेसम्मि।
दाहिणदिसाइ णिविसिऊण सेसकमलाणि झाएज्जो ॥४६९ (४)

पंच परमेष्ठीवाचक पवित्र मंत्रपदोंका उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है, उसे पदस्थ ध्यान जानना चाहिए ॥४६४॥

विशेषार्थ- ओं यह एक अक्षरका मन्त्र है। अर्हं, सिद्ध ये दो अक्षरके मन्त्र हैं। ओं नमः यह तीन अक्षरका मन्त्र है। अरहंत, अर्हं नमः, यह चार अक्षरका मन्त्र है। अ सि आ उ सा यह पाँच अक्षरका मन्त्र है। ओं नमः सिद्धेभ्यः यह छह अक्षरका मन्त्र है। इसी प्रकार ओं ह्री नमः, ओं ह्री अर्हं नमः, ओं ह्री श्री अर्हं नमः, अर्हन्त, सिद्ध, अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो नमः इत्यादि पंचपरमेष्ठी या जिन, तीर्थङ्कर वाचक नामपदोंका ध्यान पदस्थ ध्यानके ही अन्तर्गत है।

पापरूपी अन्धकारका नाश करनेवाला और चारों ओरसे सूर्यके समान स्फुरायमान शुक्ल तेजवाला ऐसा तथा ऊर्ध्वरेफ और बिन्दुसे युक्त अकारपूर्वक, हकारका, अर्थात् अर्हं इस मन्त्रका ध्यान करे। ४६५॥ चार पत्रवाले कमलके भीतर प्रथमादि क्रमसे अनन्त शक्ति-सम्पन्न अ, सि, आ, उ, सा इन सुवर्णोंको स्थापितकर ध्यान करना चाहिए। अर्थात् कमलके मध्यभागस्थ कर्णिकामें अ (अरहंत) को, पूर्व दिशाके पत्रपर सि (सिद्ध) को, दक्षिण दिशाके पत्रपर आ (आचार्य) को, पश्चिम दिशाके पत्रपर उ (उपाध्याय) को और उत्तर दिशाके पत्रपर सा (साधु) को स्थापित कर उनका ध्यान करे ॥४६६॥ पुनः अष्टदलवाले कमलके मध्यदेशमें दिशासम्बन्धी चार पत्रोंपर उन्हीं वर्णोंको स्थापित करके, अथवा पंचपरमेष्ठीके वाचक अन्य अक्षरोंको स्थापित करके तथा विदिशा सम्बन्धी शेष चार पत्रोंपर रत्नत्रय और तपवाचक पदोंके प्रथम वर्णोंको अर्थात् दर्शनका

---

(१) एकाक्षरादिकं मन्त्रमुच्चार्य परमेष्ठिनाम्। क्रमस्य चिन्तनं यत्तत्पदस्थध्यानसंज्ञकम् ॥२३२॥
(२) अकारपूर्वकं शून्यं रेफानुस्वारपूर्वकम्। पापान्धकारनिर्णाशं ध्यातव्यं तु सितप्रभम् ॥२३३॥
(३) चतुर्दलस्य पद्मस्य कर्णिकायदमन्तरम्। पूर्वादिदिक्क्रमान्न्यस्य पदाद्यक्षरपंचकम् ॥२३४॥
—गुण श्राव.

(४) तच्चाष्टपत्रपद्माना तदेवाक्षरपंचकम्। पूर्ववन्न्यस्य दृग्ज्ञानचारित्रतपसामपि ॥२३५॥
विदिक्ष्वाद्यक्षरं न्यस्य ध्यायेन्मूर्ध्नि गले हृदि। नाभौ वक्त्रेऽथवा पूर्वं ललाटे मूर्ध्नि वापरम् ॥
चत्वारि यानि पद्मानि दक्षिणादिदिशास्वपि। विन्यस्य चिन्तयेन्नित्यं पापनाशनहेतवे ॥२३६॥

अट्ठदलकमलमज्झे झाएज्ज णह दुरेहबिंदुजुयं। सिरिपंचणमोक्कारेहिं वलइय पत्तरेहासु[1]। ४७०
णिसिऊण णमो अरहंताण पत्ताइमट्ठवग्गेहिं।
भणिऊण वेढिऊण य मायाबीएण तं तिउण ॥४७१ (२)
आयास-फलिहमणिह-तणुप्पहासलिलणिहिणिब्बुडंत।
णर-सुरतिरीडमणिकिरणसमूहरंजियपयंबुरुहो ॥४७२
वरअट्ठपाडिहेरेहिं परिउट्टो समवसरणमज्झगओ परमप्पाणंतचउट्टयण्णिओ पवणमग्गट्ठो ।४७३ (२)
एरिसओ च्चिय परिवारवज्जिओ खीरजलहिमज्झे वा। वरखीरवण्णकदुत्थ[2] कण्णियामज्झदेसट्ठो ॥
खीरुवहिसलिलधाराहिसेयधवलीकयगसव्वंगो। जं झाइज्जइ इव रूवत्थ जाण तं झाणं ।४७५ (३)

रूपातीत-ध्यान

वण्ण-रस-गंध-फासेहिं वज्जिओ णाण-दसणसरूवो।
जं झाइज्जइ एव त झाणं रूवरहियं ति ॥४७६ (४)

द, ज्ञानका ज्ञा, चारित्रका चा और तपका त इन अक्षरोको क्रमश. स्थापित करके इस प्रकारके अष्ट दलवाले कमलका शिर, मुख, कण्ठ, हृदय और नाभिप्रदेश, इन पाँच स्थानोमे ध्यान करना चाहिए। अथवा प्रथम कमलको ललाट देशमें, द्वितीय कमलको विशुद्धदेश अर्थात् मस्तकपर और शेष कमलोको दक्षिण आदि दिशाओमे स्थापित करके उनका ध्यान करना चाहिए ॥४६७-४६९॥ अष्ट दलवाले कमलके भीतर कर्णिकामे दो रेफ और बिन्दुसे युक्त हकारके अर्थात् 'ह्रँ' पदको स्थापन करके कर्णिकाके बाहर पत्ररेखाओंपर पच णमोकार पदोके द्वारा वलय बनाकर उनमें क्रमश. 'णमो अरहंताण' आदि पाँचो पदोंको स्थापित करके और आठो पत्रोको आठ वर्णोके द्वारा चित्रित करके पुनः उसे मायाबीजके द्वारा तीन बार वेष्टित करके उसका ध्यान करे ॥४७०-४७१॥ आकाश और स्फटिकमणिके समान स्वच्छ एवं निर्मल अपने शरीरकी प्रभारूपी सलिलनिधि (समुद्र) मे निमग्न, मनुष्य और देवोंके मुकुटोंमें लगी हुई मणियोकी किरणोके समूहसे अनुरजित है चरण-कमल जिनके, ऐसे, तथा श्रेष्ठ आठ महाप्रातिहार्योसे परिवृत, समवसरणके मध्यमें स्थित, परम अनन्त चतुष्टयसे समन्वित, पवनमार्गस्थ अर्थात् आकाशमे स्थित, अरहन्त भगवान्-का जो ध्यान किया जाता हैं, वह रूपस्थ ध्यान है। अथवा ऐसे ही अर्थात् उपर्युक्त सर्व शोभासे समन्वित किन्तु समवसरणादि परिवारसे रहित, और क्षीरसागरके मध्यमे स्थित, अथवा उत्तम क्षीरके समान धवल वर्णके कमलकी कर्णिकाके मध्यदेशमे स्थित, क्षीरसागरके जलकी धाराओके अभिषेकसे धवल हो रहा है सर्वांग जिनका ऐसे अरहन्त परमेष्ठीका जो ध्यान किया जाता है, उसे रूपस्थ ध्यान जानना चाहिए ॥४७२-४७५॥

---

१ ब रेहेसु। २ ब खदुट्ट।

(१) मध्येऽष्टपत्रपद्मस्य ख द्विरेफ सबिन्दुकम्। स्वरपचपदावेष्ट्य विन्यस्यास्य दलेषु तु ॥२३८।
भृत्वा वर्गाष्टक पत्र प्रान्ते न्यस्यादिम पदम्। मायाबीजेन सवेष्ट्य ध्येयमेतत्सुशर्मदम् ।२३९।
(२) आकाशस्फटिकाभास प्रातिहार्याष्टकान्वित। सर्वामरै सुमसेव्योऽप्यनन्तगुणलक्षित ।२४०।
नभोमार्गेऽथवोक्तेन वर्जित क्षीरनीरधी। मध्ये शशाकसकाशनीरे जातस्थितो जिन ॥२४१॥
—गुण श्रा
(३) क्षीराम्भोधि क्षीरधाराशुभ्राशेषाङगसङगम। एव यच्चिन्त्यते तत्स्याद् ध्यान रूपस्थनामकम्॥
(४) गन्धवर्णैरसस्पर्शवर्जित बोधदृङमयम्। यच्चिन्त्यतेऽर्हद्रूप तद्ध्यान रूपवर्जितम् ॥२४३॥

अहवा आगम-णोआगमाइ[1]भेएहिं सुत्तमग्गेण । णाऊण भावपुज्जा कायव्वा देसविरएहिं ।।४७७
एसा छव्विहपूजा णिच्च धम्माणुरायरत्तेहिं । जहजोग्गं कायव्वा सव्वेहिं पि देसविरएहिं ।।४७८ (१)
एयारसगधारी जीहसहस्सेण सुरवरिंदो वि । पूजाफल ण सक्कइ णिस्सेसं वण्णिउ जम्हा ।।४७९

तम्हा हं णियसत्तीए थोयवयणेण किं पि वोच्छामि ।
धम्माणुरायरत्तो भवियजणो होइ ज सव्वो[2] ।।४८०
[3]कुत्थुंभरिदलमेत्ते[4] जिणभवणे जो ठवेह जिणपडिम ।
सरिसवमेत्त पि लहेइ सो णरो तित्थयरपुण्ण ।।४८१
जो पुण जिणिंदभवण समुण्णय परिहि-तोरणसमग्ग ।
णिम्मावइ तस्स फलं को सक्कइ वण्णिउं सयलं ।।४८२ (२)

जलधाराणिक्खेवेण पावमलसोहण हवे णियम । चदणलेवेण णरो जावइ सोहग्गसपण्णो ।।४८३

जायइ अक्खयणिहि-रयणसामिओ अक्खएहि अक्खोहो ।
अक्खीणलद्धिजुत्तो अक्खयसोक्ख च पावेइ ।।४८४

कुसुमेहिं कुसेसयवयणु तरुणीजणणयण-कुसुमवरमाला-वलएणच्चियदेहो जयइ कुसुमाउहो चेव ४८५

वर्ण, रस, गध और स्पर्शसे रहित, केवल ज्ञान-दर्शन स्वरूप जो सिद्ध परमेष्ठीका या शुद्ध आत्माका ध्यान किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान है ।।४७६।। अथवा आगमभावपूजा और नोआगमभावपूजा आदिके भेदसे शास्त्रानुसार भावपूजाको जानकर वह श्रावकोको करना चाहिए ।।४७७।। इस प्रकार यह छह प्रकारकी पूजा धर्मानुरागरक्त सर्व देशव्रती श्रावकोंको यथा-योग्य नित्य ही करना चाहिए ।।४७८।। जबकि ग्यारह अगका धारक, देवोमे सर्वश्रेष्ठ इन्द्र भी सहस्र जिव्हाओसे पूजाके समस्त फलको वर्णन करनेके लिए समर्थ नही है, तब मै अपनी शक्तिके अनुसार थोडेसे वचन द्वारा कुछ कहूँगा, जिससे कि सर्व भव्य जन धर्मानुरागमे अनुरक्त हो जावे ।।४७९–४८०।। जो मनुष्य कुन्थुम्भरी (धनिया) के दलमात्र अर्थात् पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमे सरसोके बराबर भी जिनप्रतिमाको स्थापन करता है, वह तीर्थंकर पद पानेके योग्य पुण्यको प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदिसे संयुक्त जिनेन्द्रभवन बनवाता है, उसका समस्त फल वर्णन करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है ।।४८१–४८२।। पूजनके समय नियमसे जिन भगवान्के आगे जलधाराके छोडनेसे पापरूपी मैलका सशोधन होता है । चन्दनरसके लेपसे मनुष्य सौभाग्यसे सम्पन्न होता है ।।४८३।। अक्षतोसे पूजा करनेवाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और चौदह रत्नोका स्वामी चक्रवर्ती होता है, सदा अक्षोभ अर्थात् रोग-शोक-रहित निर्भय रहता है, अक्षीण लब्धिसे सम्पन्न होता है और अन्तमे अक्षय मोक्ष-सुखको पाता है ।।४८४।। पुष्पोसे पूजा करनेवाला मनुष्य कमलके समान सुन्दर मुखवाला, तरुणीजनोंके

---

१ झ ब णोआगमेहिं । २ ध सव्वे । ३ ध कुस्तुवरी दलय । प कुस्तभरिदलमेत्ते ।धंकठूवरि फलमात्रे । ४ धणियादलमात्रे ।

(१) इत्येषा षड्विधा पूजा यथाशक्ति स्वभक्तित । यथाविधिर्विधातव्या प्रयतैर्देशनयतै ।।२४४।।
(२) कुस्तुवरखण्डमात्र यो निर्माप्य जिनालयम् । स्थापयेत्प्रतिमा स स्यात् त्रैलोक्यस्तुतिगोचर. २४५
यस्तु निर्मापयेत्तुङ्ग जिनचैत्य मनोहरम् । वक्तु तस्य फल शक्त कथ सर्वविदोऽखिलम् २४६
–गुण श्राव.

जायइ णिविज्जदाणेण[1] सत्तिगो कति-तेय-संपण्णो। लावण्णजलहिवेलातरंगसंपावियसरीरो ॥४८६
दीवेहिं दीवियासेसजीवदव्वाइतच्चसब्भावो। सब्भावजणियकेवलपईवतेएण होइ णरो ॥४८७

धूवेण सिसिरयरधवलकित्तिधवलिजयत्तओ पुरिसो।
जायइ फलेहिं संपत्तपरमणिव्वाणसोक्खफलो ॥४८८

घंटाहिं घंटसद्दाउलेसु पवरच्छराणमज्झम्मि। सकीडइ सुरसघायसेविओ वरविमाणेसु ॥४८९
छत्तेहिं[2] एयछत्तं भुंजइ पुहवी सवत्तपरिहीणो[3]। चामरदाणेण तहा विज्जिज्जइ चमरणिवहेहिं ४९०
अहिसेयफलेण णरो अहिसिंचिज्जइ सुदंसणस्सुवरिं। खीरोयजलेण सुरिंदप्पमुहदेवेहिं भत्तीए ॥४९१

विजयपडाएहिं णरो संगाममुहेसु विजइओ होइ।
छक्खंडविजयणाहो णिप्पडिवक्खो जसस्सी[4] य ॥४९२

किं जंपिएण बहुणा तीसु वि लोएसु किं पि जं सोक्खं। पूजाफलेण सव्वं पाविज्जइ णत्थि संदेहो ॥
अणुपालिऊण एवं सावयधम्मं तओवसाणम्मि। सल्लेहण च विहिणा काऊण समाहिणा कालं ॥
सोहम्माइसु जायइ कप्पविमाणेसु अच्चुयंतेसु। उववादगिहे कोमलसुयंधसिलसपुडस्सते[5] ॥४९५
अंतोमुहुत्तकालेण तओ पज्जत्तिओ समाणेइ। दिव्वामलदेहधरो जायइ णवजुव्वणो चेव ॥४९६
समचउरससंठाणो रसाइधाऊहिं वज्जियसरीरो। दिणयरसहस्सतेओ णवकुवलयसुरहिणिस्सासो ॥

नयनोसे और पुष्पोंकी उत्तम मालाओके समूहसे समर्चित देहवाला कामदेव होता है ॥४८५॥ नैवेद्यके चढानेसे मनुष्य शक्तिमान् कान्ति और तेजसे सम्पन्न, और सौन्दर्यरूपी समुद्रकी वेला (तट) वर्ती तरंगोंसे संप्लावित शरीरवाला अर्थात् अतिसुन्दर होता है ॥४८६॥ दीपोसे पूजा करनेवाला मनुष्य सद्भावोके योगसे उत्पन्न हुए केवलज्ञानरूपी प्रदीपके तेजसे समस्त जीवद्रव्यादि तत्त्वोंके रहस्यको प्रकाशित करनेवाला अर्थात् केवलज्ञानी होता है ॥४८७॥ धूपसे पूजा करनेवाला मनुष्य चन्द्रमाके समान धवल कीर्तिसे जगत्त्रयको धवल करनेवाला अर्थात् त्रैलोक्यव्यापी यशवाला होता है। फलोसे पूजा करनेवाला मनुष्य परम निर्वाणका सुखरूप फल पानेवाला होता है ॥४८८॥ जिनमन्दिरमे घंटा समर्पण करनेवाला पुरुष घटाओके शब्दसे आकुल अर्थात् व्याप्त, श्रेष्ठ विमानोमे सुर-समूहसे सेवित होकर प्रवर-अप्सराओंके मध्यमे क्रीडा करता है ॥४८९॥ छत्र-प्रदान करनेसे मनुष्य, शत्रुरहित होकर पृथ्वीको एक-छत्र भोगता है। तथा चमरोके दानसे चमरोके समूहो द्वारा परिवीजित किया जाता हैं, अर्थात् उसके ऊपर चमर ढोरे जाते है ॥४९०॥ जिनभगवान्के अभिषेक करनेके फलसे मनुष्य सुदर्शनमेरुके ऊपर क्षीरसागरके जलसे सुरेन्द्र प्रमुख देवोंके द्वारा भक्तिके साथ अभिषिक्त किया जाता है ॥४९१॥ जिन-मन्दिरमे बिजय-पताकाओके देनेसे मनुष्य संग्रामके मध्य विजयी होता है। तथा षट्खंडरूप भारतवर्षका निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है ॥४९२॥ अधिक कहने से क्या लाभ है, तीनो ही लोकोमे जो कुछ भी सुख है, वह सब पूजाके फलसे प्राप्त होता है, इसमे कोई सन्देह नही है ॥४९३॥ इस प्रकार श्रावकधर्मको परिपालन कर और उसके अन्तमे विधिपूर्वक सल्लेखना करके समाधिसे मरण कर अपने पुण्यके अनुसार सौधर्म स्वर्गको आदि लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त कल्पविमानोमे उत्पन्न होता हैं। वहाँके उपपाद-गृहोके कोमल एवं सुगन्धयुक्त शिला-सम्पुटके मध्य मे जन्म में लेकर अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा अपनी छहो पर्याप्तियोको सम्पन्न कर लेता है तथा अन्तर्मुहूर्तके ही भीतर दिव्य निर्मल देहका धारक

---

१ ब णिवेज्ज। २ झ छत्तिहिं। ३ सपत्नपरिहीन। ४ ब जससी। ५ झ प. सपुडस्सतो।

पडिबुज्झिऊण सुत्तुट्ठिओ व्व संखाइमहुरसद्देहिं। दट्ठूण सुरविभूइं विंभियहियओ पलोएइ ।।४९८

किं सुमिणदंसणमिणं ण वेत्ति जा चिट्ठए वियप्पेण ।
आयंति तक्खणं चिय थुइमुहला आयरक्खाई ।।४९९

जय जीव णंद वड्ढाइचारुसद्देहिं सोयरम्मेहिं ।
अच्छरसयाउ वि तओ कुणंति चाडूणि विविहाणि[१] ।।५००

एवं थुणिज्जमाणो[२] सहसा णाऊण ओहिणाणेण । गंतूण ण्हाणगेहं वुगड्डणवाविम्हि ण्हाऊण ।।५०१
आहरणगिहम्मि तओ सोलसहाभूसणं च गहिऊण । पूजोवयरणसहिओ गंतूण जिणालए सहसा।५०२
वरवज्जाविविहमंगलरवेहिं गंधक्खयाइदव्वेहिं । महिऊण जिणवरिंदं थुत्तसहस्सेहिं थुणिऊण।।५०३
गंतूण सभागेहं अणेयसुरसंकुलं परमरम्मं । सिंहासणस्स उवरिं चिट्ठइ देवेहिं थुव्वंतो ।।५०४
उस्सियसियायवत्तो सियचामरधुव्वमाणसव्वंगो । पवरच्छराहिं कीडइ दिव्वट्ठगुणप्पहावेण ।।५०५
दीवेसु सायरेसु य सुरसरितीरेसु[४] सेलसिहरेसु । अक्खलियगमणागमणो देवुज्जाणाइसु रमेइ।।५०६
आसाढ कत्तिए फग्गुणे य णंदीसरट्ठदिवसेसु । विविहं करेइ महिमं णंदीसरचेइय[५]गिहेसु।।५०७
पंचसु मेरुसु तहा विमाणजिणचेइएसु विविहेसु । पंचसु कल्लाणेसु य करेइ बहुवियप्पं ।।५०८

एवं नवयौवनमे युक्त हो जाता है। वह देव समचतुरस्र संस्थानका धारक, रसादि धातुओसे रहित शरीरवाला, सहस्र सूर्योके समान तेजस्वी, नवीन नीलकमलके समान सुगन्धि निःश्वासवाला होता है ४९४–४९७।।

सोकर उठे हुए राजकुमारके समान वह देव शंख आदि बाजोके मधुर शब्दोसे जागकर देव-विभूतिको देखकर और आश्चर्यसे चकितहृदय होकर इधर उधर देखता है। क्या यह स्वप्न दर्शन है, अथवा नही या यह सब वास्तविक है, इस प्रकार विकल्प करता हुआ वह जब तक बैठता है कि उसी क्षण स्तुति करते हुए आत्मरक्षक आदि देव आकर, जय (विजयी हो), जीव (जीते रहो), नन्द (आनन्दको प्राप्त हो), वर्द्धस्व (वृद्धिको प्राप्त हो), इत्यादि श्रोत्र-सुखकर सुन्दर शब्दोसे नाना चाटुकार करते है। तभी सैकडो अप्सराएँ भी आकर उनका अनुकरण करती है।।४९८–५००।। इस प्रकार देव और देवागनाओसे स्तुति किया गया वह देव सहसा उत्पन्न हुए अवधिज्ञानसे अपना सब वृत्तान्त जानकर, स्नानगृहमे जाकर स्नान-वापिकामे स्नान कर तत्पश्चात् आभरणगृहमे जाकर सोलह प्रकारके आभूषण धारण कर पुन पूजनके उपकरण लेकर सहसा या शीघ्र जिनालयमे जाकर उत्तम बाजोसे, तथा विविध प्रकारके मागलिक शब्दोसे और गंध, अक्षत आदि द्रव्योसे जिनेन्द्र भगवान्का पूजन कर, और सहस्रो स्तोत्रोसे स्तुति करके तत्पश्चात् अनेक देवोसे व्याप्त और परम रमणीक सभा-भवनमे जाकर अनेक देवोसे स्तुति किया जाता हुआ, श्वेत छत्र को धारण करता हुआ और श्वेत चमरोसे कम्पमान या रोमाचित है सर्व अग जिसका, ऐसा वह देव सिहासनके ऊपर बैठता है। (वहाँपर वह) उत्तम अप्सराओ के साथ क्रीडा करता है, और अणिमा, महिमा आदि दिव्य आठ गुणोके प्रभावसे द्वीपोमे, समुद्रोमे, गगा आदि नदियोके तीरोपर, शैलोके शिखरोपर, तथा नन्दनवन आदि देवोद्यानोमे अस्खलित (प्रतिबन्ध-रहित) गमनागमन करता हुआ आनन्द करता है।।५०१–५०६।। वह देव आषाढ, कार्त्तिक और फाल्गुन मासमे नन्दीश्वर पर्वके आठ दिनोमे, नन्दीश्वर द्वीपके जिन चैत्यालयोमे जाकर अनेक प्रकारकी पूजा महिमा

१ झ अच्छरस।हआ, ब. अच्छरसमओ । २ ध विविहाण । ३ प. प माणा । ४ इ. सरित्तीसु । ५ प. घरेसु ।

इच्चाइबहुविणोएहि तत्थ विणेऊण सगट्ठिई तत्तो । उव्वट्टिओ समाणो चक्कहराईसु जाएइ ॥५०९
भोत्तूण मणुयसोक्खं पस्सिय वेरग्गकारणं किं चि । मोत्तूण रायलच्छी तण व गहिऊण चारित्तं ॥
काऊण तवं घोरं लद्धीओ तप्फलेण लद्धूण । अट्ठगुणे[1]सरियत्त च किं ण जिज्झइ[2] तवेण जए ॥५११

बुद्धि तवो वि य लद्धी विउव्वणलद्धी तहेव ओसहिया ।
रस-बल-अक्खीणा वि य रिद्धीओ सत्त पण्णत्ता ॥५१२

अणिमा महिमा लघिमा पागम्म वसित्त कामरूवित्तं । ईसत्त पावणं तह अट्ठगुणा वण्णिया समए ॥
एवं काऊण तव पासुयठाणम्मि तह य गंतूण । पलियंक बंधित्ता काउस्सग्गेण वा ठिच्चा ॥ ५१४
जइ खाइयसद्दिट्ठी पुव्व खविया उ सत्त पयडीओ । सुर-णिरय-तिरिक्खाऊ तम्हि भवे णिट्ठिय चेव ।
अह वेदगसद्दिट्ठी पमत्तठाणम्मि अप्पमत्ते वा । खरिऊण धम्मझाण सत्त वि णिट्ठवइ पयडीओ॥५१६
काऊण पमत्तेयरपरियत्त[3]सयाणि खवयपाउग्गो । होऊण अप्पमत्तो विसोहिमाऊरिऊण खण ।५१७
करणं अधापवत्तं पढम पडिवज्जिऊण सुक्क च । जायइ अपुव्वकरणो कसायखवणुज्जओ[4] वीरो ॥
एक्केक्कं ठिदिखडं[5] पाडइ अंतोमुहुत्तकालेण । ठिदिखड[6]पडणकाले अणुभागसयाणि पाडेइ॥५१९

करता है । इसी प्रकार पाँचो मेरुपर्वतोपर, विमानोके जिन चैत्यालयोमें, और अनेको पच कल्याणकोंमे नाना प्रकारकी पूजा करता है । इस प्रकार इन पुण्य-वर्धक और आनन्दकारक नाना विनोदोके द्वारा स्वर्गमे अपनी स्थितिको पूरी करके वहाँसे च्युत होता हुआ वह देव मनुष्यलोकमे चक्रवर्ती आदिकोंमे उत्पन्न होता है ॥५०७–५०९॥ मनुष्य लोकमे मनुष्योके सुखको भोगकर और कुछ वैराग्यका कारण देखकर, राज्यलक्ष्मीको तृणके समान छोडकर, चारित्रको ग्रहण कर, घोर तपको करके और तपके फलसे विक्रियादि लब्धियोको प्राप्त कर अणिमादि आठ गुणोके ऐश्वर्यको प्राप्त होता है । जगमे तपसे क्या नही सिद्ध होता? सभी कुछ सिद्ध होता है । ५१०–५११॥ बुद्धि-ऋद्धि, तपऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, औषधऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि और अक्षीण महानस ऋद्धि-इस प्रकार ये सात ऋद्धियाँ कही गई है ॥५१२॥ अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राकाम्य, वशित्व, कामरूपित्व, ईशत्व, और प्राप्यत्व, ये आठ गुण परमागममे कहे गये है ॥५१३॥ इस प्रकार वह मुनि तपश्चरण करके, तथा प्रासुक स्थानमे जाकर और पर्यंकासन बाँधकर अथवा कायोत्सर्गसे स्थित होकर, यदि वह क्षायिक-सम्यग्दृष्टि हैं, तो उसने पहले ही अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक, इन सात प्रकृतियोका क्षय कर दिया है, अतएव देवायु, नारकायु और तिर्यगायु इन तीनों प्रकृतियोको उसी भवमे नष्ट अर्थात् सत्त्व-व्युच्छिन्न कर चुका है । और यदि वह वेदक, सम्यग्दृष्टि हैं, तो प्रमत्त गुणस्थानमे, अथवा अप्रमत्त गुणस्थानमें धर्मध्यानका आश्रय करके उक्त सातो ही प्रकृतियोका नाश करता है । पुन प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानमे सैकडो परिवर्तनोको करके, क्षपक श्रेणिके प्रायोग्य सातिशय अप्रमत्त संयत क्षणमात्रमे विशोधिको आपूरित करके और प्रथम अधःप्रवृत्तकरणको और शुक्लध्यानको प्राप्त होकर कषायोके क्षपण करनेके लिए उद्यत वह वीर अपूर्वकरण सयत हो जाता है ॥५१४–५१८॥ अपूर्वकरण गुणस्थानमे वह अन्तर्मुहूर्तकाल-के द्वारा एक स्थितिखडको गिराता है । एक स्थितिखंडके पतनकालमें सैकडों अनुभागखण्डोका पतन करता है । इस प्रकार प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिमे विशुद्ध होता हुआ अनिवृत्तिकरण

१ झ घ प गुणी । २ झ सम्भु । घ प मज्ज (साध्यमित्यर्थ) । ३ ब. प परियत्त । ४ ब. प. गज्जिओ । ५ व कड । ६ ब कंड ।

गच्छइ विसुद्धमाणो पडिसमयमणतगुणविसोहीए। अणियट्टिगुण तत्थ वि सोलह पयडीओ पाडेइ५२०
अट्ठ कसाए च तओ णवुंसय तहेव इत्थिवेय च। छण्णोकसाय पुरिस कमेण कोह पि सछुहइ ॥५२१
कोहं माणे माण मायाए त पि छुहइ लोहम्मि। बायरलोह[1] पि तओ कमेण णिट्ठवइ तत्थेव॥५२२
अणुलोह वेदंतो सजायइ सुहुमसपरायो सो। खविऊण सुहुमलोह खीणकसाओ तओ होइ ॥५२३
तत्थेव सुक्कझाणं विदियं पडिवज्जिऊण तो तेण। णिद्दा-पयलाउ दुए दुचरिमसमयम्मि पाडेइ ५२४

णाणतरायदसय दसण चत्तारि चरिमसमयम्मि।
हणिऊण तक्खणे च्चिय सजोगिकेवलिजिणो होइ ॥५२५

तो सो तियालगोयर-अणतगुणपज्जयप्पय वत्थुं। जाणइ पस्सइ जुगव णवकेवलल्द्धिसपण्णो॥५२६
दाणे लाहे भोए परिभोए वीरिए सम्मत्ते। णवकेवललद्धीओ दंसण णाणे चरित्ते य ॥५२७
उक्कस्सं च जहण्ण पज्जाय विहरिऊण सिज्झेइ। सो अकयसमुग्घाओ जस्साउसमाणि कम्माणि॥

गुणस्थानको प्राप्त होता है। वहाँपर पहले सोलह प्रकृतियो को नष्ट करता है ॥५१९–५२०॥

विशेषार्थ वे सोलह प्रकृतियाँ ये है–नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, उद्योत, आतप, एकेन्द्रियजाति, साधारण, सूक्ष्म और स्थावर। इन प्रकृतियोको अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके प्रथम भागमे क्षय करता है। सोलह प्रकृतियोका क्षय करनेके पश्चात् आठ मध्यम कषायोको, नपुसकवेदको, तथा स्त्रीवेदको, हास्यादि छह नोकषायोको और पुरुषवेदको नाश करता है और फिर क्रमसे सज्वलन क्रोधको भी सक्षुभित करता है। पुन सज्वलनक्रोधको सज्वलनमानमे, सज्वलनमानको सज्वलन मायामे और सज्वलन मायाको भी बादर-लोभमे सक्रामित करता हैं। तत्पश्चात् क्रमसे बादर लोभको भी उसी अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमे निष्ठापन करता है, अर्थात् सूक्ष्म लोभरूपसे परिणत करता है ॥५२१–५२२॥ तभी सूक्ष्मलोभका वेदन करनेवाला वह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्त्ती सूक्ष्मसाम्पराय सय . होता है। तत्पश्चात् सूक्ष्म लोभका भी क्षय करके वह क्षीणकषाय नामक बारहवे गुणस्थ नमे जाकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ होता है। वहाँपर ही द्वितीय शुक्कध्यानको प्राप्त करके उसके द्वारा बारहवे गुणस्थानके द्विचरम समयमे निद्रा और प्रचला, इन दो प्रकृतियोको नष्ट करता है। चरम समयमें ज्ञानावरण कर्मकी पॉच, अन्तरायकर्मकी पॉच और दर्शनावरणकी चक्षुदेर्शन आदि चार इन चौदह प्रकृतियोका क्षय करके वह तत्क्षण ही सयोगि-केवली जिन हो जाता है ॥५२३-५२५। तब वह नव केवललब्धियोसे सम्पन्न होकर त्रिकाल-गोचर अनन्त गुण-पर्यायात्मक वस्तुको युगपत् जानता और देखना है। क्षायिकदान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक परिभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक दर्शन (केवल दर्शन), क्षायिक ज्ञान).(केवल ज्ञान),और क्षायिक चारित्र (यथाख्यात चारित्र), ये नव केवललब्धियाँ है ॥५२६–५२७॥ वे सयोगि केवली भगवान् उत्कृष्ट और जघन्य पर्यायि-प्रमाण विहार करके, अर्थात् तेरहवे गुणस्थानका उत्कृष्ट काल–आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्तकम पूर्वकोटी वर्षप्रमाण है और जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण हैं, सो जिस केवलीकी जितनी आयु है, तत्प्रमाण काल तक नाना देशोमें विहार कर और धर्मोमदेश देकर सिद्ध होते हैं। (इनमे कितने ही सयोगिकेवली समुद्घात करते हैं और कितने ही नही करते है।)सो जिस केवलीके आयु कर्मकी

---

[1] झ लोहम्मि। प लोयम्मि।

जस्स ण हु आउसरिसाणि णामागोयाणि वेयणीयं च ।
सो कुणइ समुग्घायं णियमेण जिणो ण सदेहो ।।५२९
छम्मासाउगसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं होज्ज[1] ।
सो कुणइ समुग्घाय इयरो पुण होइ भयणिज्जो ।।५३०
अंतोमुहुत्तसेसाउगम्मि दंड कवाड पयरं च ।
जगपूरणमथ पयरं कवाडदंड णियतणुपमाण च ।।५३१
एव पएसपसरण-संवरणं कुणइ अट्ठसमएहिं । होंहिति जोइचरिमे अघाइकम्माणि सरिसाणि ।।५३२
बायरमण-वचिजोगे रुंभइ तो थूलकायजोगेण । सुहुमेण त पि रुंभइ सुहुमे मण-वयणजोगे य ।।५३३
सो सुहुमकायजोगे वट्टंतो झाइए तइयसुक्क । रुंभित्ता त पि पुणो अजोगिकेवलिजिणो होइ । ५३४
बावत्तरि पयडीओ चउत्थसुक्केण तत्थ घाएइ ।
दुचरिमसमयम्हि तओ तेरस चरिमम्मि णिट्ठवइ ।।५३५
तो तम्मि चेव समये लोयग्गे उड्ढगमणसब्भाओ । संचिट्ठइ असरीरो पवरट्ठगुणप्पओ णिच्च ।।५३६
सम्मत्त णाण दंसण अहेव वीरिय सुहमं अवगहण ।
अगुरुलहुमव्वावाह सिद्धाण वण्णिया गुणट्ठेदे ।।५३७

स्थितिके बरावर शेष नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मकी स्थिति होती है, वे तो समुद्‌घात किये विना ही सिद्ध होते है। किन्तु जिनके नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म आयु के बरावर नही है वे सयोगि-केवली जिन नियमसे समुद्‌घात करते हैं, इसमें कोई सन्देह नही है ।।५२८–५२९ छह मासकी आयु अवशेष रहनेपर जिसके केवलज्ञान उत्पन्न होता हैं, केवली समुद्‌घात करते हैं, इतर केवली भजनीय हैं,अर्थात् समुद्‌घात करते भी हैं और नही भी करते है ।।५३०।। सयोगिकेवली अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण आयुके शेष रह जानेपर (शेष कर्मोंकी स्थितिको समान करनेके लिए) आठ समयोंके द्वारा दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण, पुनः प्रतर कपाट, दड और निज देह-प्रमाण, इस प्रकार आत्म-प्रदेशोंका प्रसारण और संवरण करते है। तब सयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तमें अघातिया कर्म सदृश स्थितिवाले हो जाते है ।।५३१–५३२।। तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें सयोगिकेवली जिनेन्द्र वादरकाययोगसे वादर मनोयोग और वादर वचनयोगका निरोध करते हैं । पुन. सूक्ष्म-काययोगसे सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोगका निरोध करते है। तव सूक्ष्म काययोग मे वर्तमान सयोगि-केवली जिन तृतीय शुक्लध्यानको ध्याते है और उसके द्वारा उस सूक्ष्म काययोग का भी निरोध करके वे चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोगिकेवली जिन हो जाते है ।।५३३–५३४।। उस चौदहवे गुण-स्थानके द्विचरम समयमे चौथे शुक्लध्यानसे वहत्तर प्रकृतियोका घात करता है और अन्तिम समय मे तेरह प्रकृतियोंका नाश करता है। उस ही समयमे ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला यह जीव शरीर-रहित और प्रकृष्ट अष्ट-गुण-सहित होकर नित्यके लिए लोकके अग्र भागपर निवास करने लगता हैं ।।५३५–५३६।। सम्यक्त्व, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरु-

---

१ इ म. णाण ।

■ म और इ प्रतिमें ये दो गाथाए और अधिक पाई जाती है–

मोहक्खएण सम्मं केवलणाणं हणेइ अण्णाण । केवलदंसण दंसण अणतविरिय च अन्तराएण ।।१।।

सुहुम च णामकम्म आउहणणेण हवइ अवगहण । गोय च अगुरुलहुय अव्वावाह च वेयणीय च ।।२।।

ज किं पि सोक्खसारं तिसु वि लोएसु मणुय-देवाण।
तमणतगुणं पि ण एयसमयसिद्धाणुभूयसोक्खसम ।।५३८
सिज्झइ तइयम्मि भवे पचमए कोवि सत्तमठ्ठमए। भुंजिवि सुर-मणुयसुहं पावेइ कमेण सिद्धपय ।।

लघुत्व और अव्याबाधत्व, ये सिद्धोके आठ गुण वर्णन किये गये हैं ।।५३७।। तीनो ही लोकोंमे मनुष्य और देवोके जो कुछ भी उत्तम सुखका सार है, वह अनन्तगुणा हो करके भी एक समयमे सिद्धोके अनुभव किये गये सुखके समान नही है ।।५३८। (उत्तम रीतिसे श्रावकोका आचार पालन करनेवाः ा कोई गृहस्थ) तीसरे भवमे सिद्ध होता है, कोई क्रमसे देव और मनुष्योंके सुखको भोगकर पाँचवे, सातवे या आठवे भवमे सिद्ध पदको प्राप्त करते है ।।५३९।।

प्रशस्ति

आसी ससमय-परसमयविदू सिरिकुंदकुंदसंताणे । भव्वयणकुमुयवणसिसिरयरो सिरिणंदिणामेण ॥

किती जस्सिंदुसुब्भा सयलभुवणमज्झे जहिच्छं भमित्ता,

णिच्चं सा सज्जणाण हियय-वयण-सोए णिवासं करेई ।

जो सिद्धंतंवुरासि सुणयतरणमासेज्ज लीलावतिण्णो,

वण्णेउं को समत्थो सयलगुणगणं से वियड्ढो[1] वि लोए ॥५४१

सिस्सो तस्स जिणिंदसासणरओ सिद्धंतपारगओ, खंती-मद्दव-लाहवाइदसहाधम्मम्मि णिच्चुज्जओ ।
पुण्णेंदुज्जलकित्तिपूरियजओ चारित्तलच्छीहरो, सजाओ णयणंदिणाममुणिणो भव्वासयाणंदओ ॥
सिस्सो तस्स जिणागम-जलणिहिवेलातरंगधोयमणो । संजाओ सयलजए विक्खाओ णेमिचन्दु त्ति ॥
तस्स पसाएण मए आइरियपरंपरागयं सत्थ । वच्छल्लयाए रइयं भवियाणमुवासयज्झयणं ॥५४४
जं किं पि एत्थ भणियं अयाणमाणेण पवयणविरुद्धं । खमिऊण पवयणधारा सोहित्ता तं पयासंतु ५४५
छच्च सया पण्णमुत्तराणि एयस्स गंथपरिमाणं । वसुणंदिणा णिबद्धं वित्थयरियव्वं वियड्ढेहिं ५४६

श्री कुन्दकुन्दाचार्यकी अम्नायमे स्व-समय और पर-समयका ज्ञायक, और भव्यजनरूप कुमुदवनके विकसित करनेके लिए चन्द्र-तुल्य श्रीनन्दि नामक आचार्य हुए ॥५४०॥ जिसकी चन्द्रसे भी शुभ्र कीर्त्ति सकल भुवनके भीतर इच्छानुसार परिभ्रमण कर पुनः वह सज्जनोके हृदय, मुख और श्रोतमे नित्य निवास करती है, जो सुनयरूप नावका आश्रय करके सिद्धान्तरूप समुद्रको लीलामात्रसे पार कर गये, उस श्रीनन्दि आचार्यके सकल गुणगणोको कौन विचक्षण वर्णन करनेके लिए लोकमे समर्थ है? ॥५४१॥ उस श्रीनन्दि आचार्यका शिष्य, जिनेन्द्र-शासनमे रत, सिद्धान्तका पारंगत, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दश प्रकारके धर्ममे नित्य उद्यत, पूर्णचन्द्रके समान उज्ज्वल कीर्त्तिसे जगको पूरित करनेवाला, चारित्ररूपी लक्ष्मीका धारक और भव्य जीवोके हृदयोंको आनंद देनेवाला ऐसा नयनन्दि नामका मुनि हुआ ।.५४२॥ उस नयनन्दिका शिष्य, जिनागम रूप जल-निधिकी वेला-तरगोंसे धुले हुए हृदयवाला नेमिचन्द्र इस नामसे सकल जगत्में विख्यात हुआ ॥५४३॥ उन नेमिचन्द्र आचार्यके प्रसादसे मैने आचार्य-परम्परासे आया हुआ यह उपासकाध्ययन शास्त्र वात्सल्य भावनासे प्रेरित होकर भव्य जीवोंके लिए रचा है ।.५४४॥ अजानकार होनेसे जो कुछ भी इसमें प्रवचन-विरुद्ध कहा गया हो, सो प्रवचनके धारक (जानकार) आचार्य मुझे क्षमाकर और उसे शोधकर प्रकाशित करें ।.५४५॥ वसुनन्दिके द्वारा रचे गये इस ग्रन्थका परिमाण (अनुष्टुप् श्लोकोकी अपेक्षा) पचास अधिक छह सौ अर्थात् छह सो पचास (६५०) है। विचक्षण पुरुषोको इस ग्रन्थका विस्तार करना चाहिए, अथवा जो वात इस ग्रन्थमे सक्षेपसे कही गई हैं, उसे वे लोक विस्तारके साथ प्रतिपादन करें ॥५४६॥

इत्युपासकाध्ययनं वसुनन्दिना कृतमिदं समाप्तम् ।

---

१ इ. सेवियट्टो, म. सेवियंतो । (विदग्ध इत्यर्थ.)

सावयधम्मदोहा

णवकारेप्पिणु पचगुरु दूरिदलियदुहकम्मु । सखेवे पयडक्खरहिं अक्खमि[1] सावयधम्मु ॥१

दुज्जणु सुहियउ होउ जगि सुयण पयासिउ जेण ।
अमिउ विसें वासरु तमहिं[2] जिम मरगउ[3] कच्चेण ॥२

जह[4] समिलहिं सायरगयहिं दुल्लहु जूवह रंधु । तह[5] जीवह भवजलगयह मणुयत्तण सबधु ॥३
सुहु सारउ मणुयत्तणह त सुहु धम्मायत्तु । धम्मु अरे[6] जिय त करहि जं अरहतें[7] वुत्तु ॥४
अरहतु वि दोसहिं रहिउ ज सु[8] वि केवलणाणु । णाणमुणिय कालत्तयहो वयणु वि तासु पमाणु॥५
त पायडु जिणवरवयणु गुरु उवए[9] सें होइ । अंधारइ विणु दीवयें अहव कि पिच्छइ कोइ ॥६
संजमु सील सउच्चु तउ जसु सूरिहिं गुरु सोइ । दाहछेयकसघायखमु उत्तमु कंचणु होइ ॥७
मग्गइ गुरुउवएसियइं णर सिवपट्टणि जंति । त विणु वग्घहं वणयरहं चोरह पिंडि वि पडति ॥८
एयारहविहु त कहिउ रे जिय सावयधम्मु । सत्तिए परिपालतयहं सहलउ माणुस जम्मु ॥९
पंचुंबरह णिवित्ति जसु विसणु[10] ण एक्कु वि होइ । सम्मत्ते सुविसुद्धमइ पढमउ सावउ होइ ॥१०
पचाणुव्वय जो धरइ णिम्मल गुणवय तिण्णि । सिक्खावयइ चयारि जसु सो बीयउ मणि गण्णि ॥

अति दुखदायी कर्मोके दलन करनेवाले पञ्च परमगुरुओको नमस्कार करके मै संक्षेपसे प्राकृत भाषाके शब्दो द्वारा श्रावकके धर्मको कहता हूँ ॥१॥ दुर्जन सुखी होवे, जिसने जगत्मे सुजनको प्रकाशित किया है, जैसे कि विषसे अमृत, अन्धकारसे दिन और काचसे मरकतमणि प्रकाशित होता हैं ॥२॥ जैसे समुद्रमे गिरी हुई समिलाके लिए जुवाका छेद पाना दुर्लभ है, उसी प्रकार भव-जलमे पडे जीवको मनुष्यपनेका सम्बन्ध होना दुर्लभ है॥३॥ मनुष्यपनेका सार सुख है, वह सुख धर्मके अधीन है। धर्म भी वह है जिसे अरहन्त देवने कहा है। अतएव रे जीव, तू उस धर्मका पालन कर॥४॥ अरहन्तदेव भी वे है जो कि राग-द्वेषादि अठारह दोषोसे रहित है और जिनके केवलज्ञान है उस केवलज्ञानके द्वारा त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थोके जाननेवाले उन अरहन्त-देवके वचन भी प्रमाण है ॥५॥ वह जिनवरका वचन गुरुके उपदेशसे प्रकट होता है। अथवा अन्धकारमे दीपकसे बिना क्या कोई कुछ देख सकता है ।६॥ जिस सूरिमे संयम, शील, शौच और तप है, वही गुरु है। दाह, छेदन, कसौटी—कष और घन-घातको सहन करनेवाला सुवर्ण ही उत्तम होता है॥७॥ गुरुके द्वारा उपदिष्ट मार्गसे मनुष्य शिवपुरको जाते है। उसके विना मनुष्य कालरूप व्याघ्र, कषायरूप भील और इन्द्रियरूप चोरोके पिण्डमे पड जाते है॥८॥

हे जीव, वह श्रावकधर्म ग्यारह प्रकारका कहा गया है। शक्तिके अनुसार उसका परिपालन करनेवाले जीवोका मनुष्यजन्म सफल है॥९॥ जिसके पाँच उदुम्वर फलोंका त्याग है, व्यसन एक भी नही है, और सम्यक्त्वके द्वारा जिसकी बुद्धि सुविशुद्ध है, वह प्रथम दर्शन प्रतिमाका धारक श्रावक है॥१०॥ जो अतिचार-रहित निर्मल पाँच अणुव्रतोको और तीन गुणव्रतोंको धारण करता

---

१ द अक्खिय । २ म. तमिण । ३ द मरगय । ४ म जिह । ५ म तिह । ६ अ द अरि । ७ म अरहतइ । ८ म जसु पुणु । ९ म उपएसइ । १० म वसणु ।

चउरट्ठहं दोसह रहिउ पुव्वायरियकमेण। जिणु वदइ सझइ तिहिं सो तिज्जउ णियमेण ॥१२
उभयचउद्दसि अट्ठमिहिं जो पालइ उववासु। सो चउत्थु सावउ भणिउ दुक्कियकम्मविणासु ॥१३
पचमु सावउ[1] जाणि जसु हरियहं णाहि पवित्ति। मणवयकायहिं छट्ठयहिं दिवसहिं णारिणिवित्ति ॥
बभयारि सत्तमु भणिउ अट्ठमु चत्तारभु। मुक्कपरिग्गहु जाणि जिय णवमउ वज्जियडभु[2] ॥१५
अणुमइ देइ ण पुच्छियउ दसमउ जिण-उवइट्ठु। एयारहमउ त दुविहु णउ भुंजइ उद्दिट्ठु[3] ॥१६

एयवत्थु पहिलउ विदिउ कयकोवीणपवित्ति।
कत्तरि-लोयणिहियचिहुर सइ पुणु भोज्ज[4] णिवित्त ॥१७

ए ठाणइ एयारसइं सम्मत्तें मुक्काइ। हुति ण पउमइ सरवरहं विणु पाणिय सुक्काहं ॥१८
अत्तागमतच्चाइयहं ज णिम्मलु सद्धाणु। संकाइयदोसहं रहिउ त सम्मत्तु वियाणु ॥१९
संकाइय अट्ठट्ठ मय परिहरि मूढय[5] तिण्णि। जे छह कहिय अणायदण दसण-मल अवगण्णि ॥२०

मुणि[6] दसणु जिय जेण विणु सावय-गुण ण हु होइ।
जह सामग्गि विवज्जियहं सिज्झइ कज्जु ण कोइ ॥२१

है, एवं जिसके चार शिक्षाव्रत है, उसे अपने मनमे दूसरी व्रत प्रतिमाका धारक श्रावक मानो ॥११॥ जो पूर्वाचार्योके क्रमानुसार बत्तीस दोषोंसे रहित होकर तीनो सध्याओमे जिनदेवकी वन्दना करता है, वह नियमसे तीसरी सामायिक प्रतिमाका धारक श्रावक है ॥१२॥ जो प्रत्येक मासकी दोनो चतुर्दशी और अष्टमीको दुष्कृत कर्मोका विनाश करनेवाला उपवास धारण करता है, वह चौथी प्रोषध प्रतिमाका धारक श्रावक है ॥१३॥ जिसकी हरित सचित्त वस्तुओके भक्षणमे प्रवृत्ति नही है, वह पाँचवी सचित्त त्याग प्रतिमाका धारक श्रावक है। जिसके मन-वचन-कायसे दिनमे स्त्री-सेवनकी निवृत्ति है, वह छठी दिवामैथुनत्याग प्रतिमाका धारक श्रावक है ॥१४॥

स्त्री-सेवनका सर्वथा त्यागी ब्रह्मचारी सातवाँ श्रावक हैं। आरम्भका त्यागी आठवाँ श्रावक है। परिग्रहका त्यागी और दंभसे रहित मनुष्यको हे भव्यजीव, नवमी प्रतिमाका धारक जानो ॥१५॥ जो पूछनेपर भी गृह-कार्योके करनेमे अनुमति नही देता है, उसे जिनदेवने दसवाँ अनुमति-त्यागी श्रावक कहा है। जो उद्दिष्ट भोजन नही करता है, वह उद्दिष्टत्यागी ग्यारहवाँ श्रावक है। वह दो प्रकारका है ॥१६॥ उनमे पहिला एक वस्त्र धारण करता है और दूसरा केवल लंगोटी रखता है। पहिला कैंची (या उस्तरे) से केश दूर करता है और दूसरा केशोंका लोच करता है। ये दोनो ही स्वय भोजन बनानेकी निवृत्ति रखते है ॥१७॥ श्रावकके ये ग्यारह प्रतिमारूप स्थान है। ये स्थान सम्यक्त्वसे रहित जीवोके नही होते हैं। जैसे कि पानीके विना सूखे सरोवरमे कमल नही होते है ॥१८॥

आप्त, आगम और तत्त्वादिकोका जो शंकादि दोषोसे रहित निर्मल श्रद्धान है, उसे ही सम्यक्त्व जानना चाहिए ॥१९॥ शकादिक आठ दोष, आठ मद, तीन मूढता और छह अनायतन ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष कहे गये है, इनका परिहार करना चाहिए ॥२०॥ हे जीव, उसे सम्यग्दर्शन जानो, जिसके बिना श्रावकका कोई भी गुण नही होता हैं। जैसे कि सामग्रीसे रहित पुरुषका कोई कार्य सिद्ध नही होता है ॥२१॥

---

१ म ज उ कच्चासणहं। २ म दभु। ३ व उवइट्ठु। ४ व भोय-। ज्ञ 'किय सहुसगणिवित्ति' इति पाठान्तरम्। ५ म मूढा। ६ व सुय। म सुणि।

मज्जु मंसु महु परिहरहि करि पंचुंबर दूरि। आयह[1] अतरि अट्ठहमि तस उप्पज्जइं भूरि ॥२२
महु आसायउ थोडउ वि णासइ पुण्णु बहुत्तु। वइसाणरहं तिडिक्कड[2] वि काणणु डहइ महतु ॥२३
अणउवइट्ठइ[3] सण्णियइ महुपरिहरियउ होइ। ज कीरइ तं कारियइ एहु अहाणउ लोइ ॥२४
सव्व[4]इ कुसुमइ छडियइ करि पंचुंबर-चाउ।
हुति विमुक्कइ मडणइ जइ मुक्कउ अणुराउ ॥२५
अट्ठइ पालइ मूलगुण पियइ जु गालिउ णीरु। अह चित्तें सुविसुद्धइणा सुज्झइ[5]सव्व सरीरु ॥२६
जेण अगालिउ जल पियउ जाणिज्जइ ण पवाणु। जो तं पियइ अगालिउ सो धीवरहं पहाणु ॥२७
आमिससरिसउ भासियउ सो अधउ जो खाइ। दोहि मुहुत्तहिं उप्परिहिं लोणिउ सम्मुच्छाइ ॥२८
संगे मज्जामिसरयह मइलिज्जइ सम्मत्तु। अजणगिरिसंगे ससिहिं किरणइं काला हुति ॥२९
अच्छउ भोयणु ताह घरि सिट्ठह वयणु ण जुत्तु ताह समउ ज [6]वासियइं मइलिज्जइ सम्मत्तु ॥३०
तामच्छउ तह भंडयहु[7] पक्कासणलित्ताह। हुति ण जोग्गइ सावयहं तह भोयण पत्ताह[8] ॥३१
चम्मट्ठइं पीयइ जलु इ तामच्छउ दूरेण। दसणसुद्धि ण होइ तसु खद्धइ घियतिल्लेण ॥३२

मद्य मास और मधुका परिहार करो, पाँच उदुम्बरफलोको दूर करो। इन आठोके भीतर भारी त्रसजीव उत्पन्न होते है ॥२२॥ थोडा-सा भी खाया हुआ मधु बहुत पुण्यका नाश करता हैं। अग्निका छोटा-सा भी तिलगा महावनोको भी जला देता है ॥२३॥ मधु खानेका दूसरोको उपदेश न देनेसे, तथा अनुमोदना न करनेसे मधुका परिहार होता है। क्योकि जो स्वय करता है और दूसरों से कराता है, वे दोनों समान है,यह कहावत लोकमे प्रसिद्ध है ॥२४॥ सर्व प्रकारके पुष्पोके खानेका त्याग कर, तभी पच उदुम्बरोका त्याग संभव होगा। यदि आभूषण पहिरनेका अनुराग छूट जाय तो आभूषण स्वय ही छूट जाते है ॥२५॥ इस प्रकार जो आठ मूल गुणोको पालता है और जो वस्त्र-गालित जल पीता हैं, तथा जिसका चित्त सुविशुद्ध है, उसका सर्वशरीर शुद्ध है ॥२६॥ जो अगालित जल पीता है, वह जिन आज्ञाको नही जानता है। जो अगालित जलको पीता है, वह धीवरोमे प्रधान है ॥२७॥

दो मुहूर्त्तके ऊपर लोनी (मक्खन) मे सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते है, इसलिए वह मास-सदृश कही गई है। जो उस लोनीको खाता है, वह अन्धा है, अर्थात् हेय-उपादेयके ज्ञानसे रहित है ॥२८। मद्य और मास-सेवनमे निरत पुरुषोके सगसे सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता है। अंजनगिरिके सगसे चन्द्रकी धवल किरणे भी काली हो जाती है ॥२९॥ उन मद्य-माग-भोजियोके घरमे भोजन करना तो दूर रहा, शिष्टजनोको उनके साथ वचन बोलना भी योग्य नही है। जो उन लोगोके साथ निवास करते है, उनका सम्यक्त्व मलिन हो जाता है ॥३०॥उन मद्य-मांस-भोजियोके घरके पकाये हुए भोजनसे लिप्त भाण्ड (वर्तन) तो रहने ही दो, उनके (सूखे) कांसे आदिके पात्रोमे भोजन बनाना या करना भी श्रावकके योग्य नही है ॥३१॥

जो चर्ममे रखे हुए जलको पीता है, वह तो दूर ही रहे, जो चर्ममे रखे घी और तेलको

---

१ द आर्यहिं। २ म तिडिक्किडउ। ३ ब टि. उपदेशेन विना, अनुमोदेन विना। ४ झ सगइ। ५ झ सुच्चइ। ६ झ म जें कारणइ ७ ब टि तेषा मद्यमासरताना पुरुषाणा भाण्डाना भोजन तावदास्ताम्, सा वार्ता तिष्ठतु। कथम्भूताना भाण्डाना पक्वाशनलिप्तानाम्। ८ ब तेषा कास्यादिपात्राणा अपि भोजन न युक्तम्।

रुहिरामिसु चम्मट्ठि सुर पच्चक्खिउ[1] बहु[2] जंतु। अंतराय पालहु भविय दंसणसुद्धिणिमित्तु ॥३३
मूलउ णाली भिसु[3] ल्हसणु तुंबउ करड कलिंगु। सूरणु फुल्लत्थाणयहि, भक्खहि दंसणभंगु ॥३४
अण्णु जि सुललिउ फुल्लियउ, सायहु चलियउ जं जि।
दो दिण वसियउ दहि महिउ ण हु भुंजिज्जइ त जि ॥३५
वे दल मीसिउ दहि महिउ जुत्तु ण सावय होइ। खद्धइ दसण-भंगु पर सम्मत्तु वि मइलेइ ॥३६
तंबोलोसहि जलु मुइवि अत्थम्मिए सूरि। भोग्गासण फल अहिलसइ त किउ दसणदूरि ॥३७
जूए धणहु ण हाणि पर वयहं मि होइ विणासु। लग्गउ कट्ठ ण डहए पर इयरहं डहइ हुयासु॥३८
जइ देखेवउ छंडियउ ता जिय छंडिउ जूउ। अह अग्गिहि उल्हावियइ अवस ण अट्टइ धूउ ॥३९
दय जि मूलु धम्मंघियहु[4] सो उप्पाडिउ तेण। फलदलकुसुमहं कवण कह आमिसु भक्खिउ तेण॥
पिट्ठि[5]-मसु जइ छंडियउ ता जिय छंडिउ मांसु। जह अपथ्यें वारियए वारिउ वाहि पवेसु ॥ ४१
मुहुवि लिहिवि मुत्तइं सुणहु एहु जि मज्जहु दोसु।
मत्तउ बहिणि जि अहिलसइ, ते तहु णरय पवेसु। ४२

भी खाता है, उसके भी सम्यग्दर्शनकी शुद्धि नही होती है ॥३२॥ रुधिर, मांस, चर्म, अस्थि, मदिरा, प्रत्याख्यात (त्यागी) वस्तु और वहुत जन्तुओसे परिपूर्ण वस्तुका सम्यग्दर्शनकी शुद्धिके निमित्त हे भव्य, अन्तराय पालन करना चाहिए। अर्थात् भोजनके समय उक्त वस्तुओके थालीमे आते ही भोजनका त्याग कर देना चाहिए ॥३३॥ कन्दमूल,कमलनाल,कमल-मूल (जड), लहसुन, तुम्बा, करड, कलिंग, सूरण, फूल और अथाना (अचार) इनके भक्षण करनेपर सम्यग्दर्शनका भंग होता हैं ॥३४॥ इसी प्रकार अन्य जो सुले धुने, पुष्पित, अकुरित एव स्वाद-चलित जो-जो पदार्थ है,उन्हे भी नही खाना चाहिए,तथा दो दिनका वासी दही और मही (छांछ) भी नही खाना चाहिए ॥३५॥ द्विदल-मिश्रित दही और मही भी श्रावकके खाने योग्य नही हैं। इनके खानेसे सम्यग्दर्शनका भंग होता है और सम्यक्त्व रहे भी, तो वह मलिन हो जाता है ॥३६॥

ताम्बूल, औषधि और जलको छोडकर जो सूर्यके अस्तंगत होनेपर भोज्य, अशन और फलाहारकी अभिलाषा करते है, वे अपनेसे सम्यग्दर्शनको दूर करते हैं ॥३७॥

जूआ खेलनेसे केवल धनकी ही हानि नही होती, पर व्रतोका भी विनाश होता हैं। काठमें लगी हुई अग्नि केवल उसे ही नही जलाती है, किन्तु दूसरोंको भी जला देती है ॥३८॥ यदि जूआका देखना भी छोड दिया, तो हे जीव, जूआका खेलना छूट गया। जैसे अग्निके बुझा देनेपर अवश्य ही धुआ नही उठता है ॥३९॥

धर्मरूपी वृक्षका मूल दया ही है। जिसने उसे जडमूलसे उखाड डाला, वहाँ पर धर्मरूप-वृक्षके पत्र, फल और पुष्पोकी कथा कहाँ सभव है। ऐसे मनुष्यने तो मांस ही भक्षण कर लिया समझना चाहिए ॥४०॥ जिसने दाल आदिकी पीठीरूप मांस का खाना छोड दिया उस जीवने मास को छोड दिया, ऐसा समझना चाहिए। जैसे अपथ्य-सेवनके निवारणसे व्याधिका प्रवेश निवारण हो जाता हैं ॥४१॥

मदिरा पीनेवाले वेहोश मनुष्यका मुख चाट कर कुत्ता भी मुखमें मूत जाता है, यह मद्य-पानका महा दोष है। मदिरा पानसे उन्मत्त हुआ पुरुष अपनी वहिनकी भी काम-सेवनके लिए

---

१ व. नियमयुक्तवस्तुनियमभगे सति। २ व जन्तोर्वध दृष्टा। ३ व 'भिस' पाठ। टि पद्मिनीकन्दम्। ४ व धर्मांण्ङिपस्य। म पुष्टि। व पिष्टेन निष्पादितम्।

मज्जु मुक्क मुक्कहं मयहं अण्णु जि वेसा मुक्क। जह बाहिहिं विणिवारियहिं वेयण होइ न इक्क ॥
वेसहिं लग्गिवि धणियधणु तुट्टइ बंधउ मित्तु। मुच्चइ णरु सव्वहिं गुणहिं वेसागिह[1] पइसंतु ॥४४
कामकहा परिचत्तियइ जिय दारिय परिचत्त। अह कंदे उप्पाडियइ वेल्लिहिं पत्त समत्त ॥४५
पारद्धउ परणिग्घिउ हणइ णिरारिउ जेण। भयभग्गा मुहगहियतिण णरयहु गच्छइ तेण ॥४६
मुक्क सुणहमंजरपमुह जइ मुक्की पारद्धि। बीयइं रुद्धइ पाणियइ रुद्धीअकुरलद्धि ॥४७
चोरी चोर हणेइ पर बहुय किलेसहु खाणि। देइ अणत्थु कुडुंवहमि गोत्तहु जस-धणहाणि ॥४८
मुक्कहं कूडतुलाइयहं चोरी मुक्की होइ। अहव वणिज्जइ छंडियइ दाणु ण मग्गइ कोइ ॥४९
परतिय वह-वधण ण पर अण्णु वि णरयणिसेणि।
विसकदलि धारइ[2] ण पर करइ वि पाणहं हाणि ॥५०
जइ अहिलासु णिवारियउ ता वारिउ पर-यारु। अह णाइक्कें जित्तइण जित्तउ सयलु खंधारु ॥५१
वसणइं तावच्छतु[4] जिय परिहर वसणासत्त। सुक्कहं संसग्गें हरिय पेक्खहं तरु डज्झंत ॥५२
मूलगुणा इय एत्तडइ हियडइ थक्कइ जासु। धम्मु अहिंसा देउ जिणु रिसि गुरु दंसणु तासु ॥५३
जसु दसणु तसु माणुसहं दोस पणासइ जंति। जहिं पएसि णिवसइ गरुडु तहिं किं विसहर ठंति ५४

अभिलाषा करता है, जिससे कि उसका नरकमे प्रवेश होता है ॥४२॥ जिसने मद्य-पान छोड दिया उसने सभी मद-कारक वस्तुओको छोड दिया। तथा उसने वेश्याका भी त्याग कर दिया समझना चाहिए। जैसे कि व्याधियोके निवारण हो जानेपर एक भी वेदना नही होती है ॥४३॥ वेश्या-सेवनमे लगे हुए धनिक पुरुषका सर्वधन समाप्त हो जाता है, उसके बधु मित्र भी छूट जाते है और वेश्याके घरमे प्रवेश करनेवाला पुरुष सभी गुणोसे विमुक्त हो जाता है ॥४४॥ हे जीव, काम-कथाके परित्यागसे वेश्याका परित्याग भी हो जाता है। जैसे जड-कन्दके उखाड देनेपर वेलिके पत्ते समाप्त हो जाते है, अर्थात् स्वय सुख जाते है ॥४५॥

शिकारी अतिनिर्दयी होता है, जो निरपराध, भयभीत और मुखमे तिनकोको दावे हुए हरिणोको मारता है, इससे वह नरकको जाता है ॥४६॥ यदि शिकार खेलना छोड दिया है, तो कुत्ता, बिल्ली, शिकारी हिंसक प्राणियोको पालना भी छोड। बीजको पानी देना रोक देनेपर अकुरकी उत्पत्तिका अवरोध हो जाता है ॥४७॥

चोरी चोरका हनन करती ही है, पर अन्य भी बहुतसे क्लेशोकी हानि है। वह कुटुम्बका भी अनर्थ करती है और गोत्रके यश एव धनकी भी हानि करती है ॥४८॥ कूट-तुलादिके छोड देनेपर चोरी छूटती है। जैसे कि वाणिज्यके छोड देनेपर कोई दान नही माँगता है ॥४९॥

परस्त्री वध-बन्धन ही नही, अपितु वह नरककी नसेनी भी है। विषवृक्षकी जड मूर्च्छित ही नही करती किन्तु प्राणोकी भी हानि करती है ॥५०॥ यदि काम-अभिलाषाका निवारण कर दिया, तो परदाराका भी त्याग हो गया। जैसे नायकके जीत लेनेपर सकल स्कन्धावार (सैन्य) जीता समझा जाता है ॥५१॥

हे जीव, व्यसनोका सेवन तो दूर रहे, व्यसनोमें आसक्त पुरुषोके संसर्गका भी परिहार कर। देखो—सूखे वृक्षोके संसर्गसे हरे वृक्ष भी जल जाते है। ५२॥

इस प्रकार ये उपर्युक्त मूलगुण जिसके हृदयमे निवास करते है, और जिसका धर्म अहिंसा,

---

१ झ म-घरि। २ जिय। ३ म घारइ। ४ म तावउ छडि। व टि. तावत्तिष्ठन्तु।

दंसणरहिय जि तउ करहिं ताहं वि णिप्फल णिट्ठ ।
विणु बीयइं कणभरणमिय भणु किं खेत्ती दिट्ठ ॥५५
दंसणसुद्धिए सुद्धयहं होइ सयल वयणिट्ठ । अह कप्पडि अणतोरियइ किम लग्गइ मंजिट्ठ ॥५६
दंसणभूमिहिं बाहिरा जिय वय-रुक्ख ण हुंति । विणु वयरुक्खहं सुक्खफल आयासहु ण पडंति॥५७
छुडु[1] दसणु गड्ढायरहु हियडइ णिच्चलु जाउ । वय-पासाउ समाढवउ चचल धणु जिय आउ॥५८
अणुवयगुणसिक्खावयइं ताइं जि बारह हुंति । भुंजाइवि णर-सुर-सुहइं जिउ णिव्वाणहु णिंति॥५९
मणवयकायहिं दयकरहिं जेण ण ढुक्कइ पाउ । उरि सण्णाहें बद्धइण अवस ण लग्गइ घाउ ।। ६०
अलिउ कसायहिं मा चवहिं अलिए गउ वसुराउ ।
जहिं णिविट्ठु साखडु तहं डालहु होइ पपाउ[3] ।।६१
णासइ धणु तसु घरतणउ जो परदव्व हरेइ । गेहि[4] कवेडउ पेसियउ काइ ण काइ करेइ ।६२
मण्णि[5] इच्छिया परमहिल रावणु सीय विणट्ठु । दिट्ठिइ मारइ दिट्ठिविसु ता को जीवइ दट्ठु। ६३
पसुधण-धण्णइं खेत्तियइं करि परिमाणपवित्ति । बलियइं[6] बहुयइ बधणइं दुक्करु तोडहुं जति ।।६४

देव जिन एवं ऋषि गुरु है, उसीके सम्यग्दर्शन है ।।५३।। जिस मनुष्यके सम्यग्दर्शन है, उसके दोष विनाशको प्राप्त हो जाते है। जिस प्रदेशमे गरुड निवास करता है, वहाँ पर क्या विषधर सर्प ठहर सकते है ।।५४।।

जो जीव सम्यग्दर्शनसे रहित होकर तप करते है, उनकी क्रियानिष्ठा निष्फल है। बीजके बिना, कहो कही कण-भारसे झुकी हुई खेती देखी गई है।।५५।। सम्यग्दर्शनकी शुद्धिसे शुद्ध पुरुषोके ही सर्व व्रतोकी निष्ठा होती है। हरडा-फिटकरीके लगाये बिना कपडे पर मंजीठका रग क्या चढ सकता है ।।५६।। हे जीव सम्यग्दर्शनकी भूमिसे बाहिर व्रतरूपी वृक्ष नही होते है और व्रत वृक्षोके बिना सुखरूपी फल आकाशसे नही टपकते है ।।५७।। जब सम्यग्दर्शन हृदयमे गाढ रूपसे निश्चल दृढ हो जावे, तब उस सम्यग्दर्शन रूपी नीवकी भूमि पर व्रतरूपी प्रासादको बनाना शीघ्र आरम्भ करो। हे जीव यह धन और आयु चचल है ।।५८।।

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये श्रावकके बारह व्रत होते है। ये व्रत मनुष्य और देवोके सुखोका उपभोग कराकर जीवको निर्वाण पद तक ले जाते है ।।५९।।मन वचन कायसे दया कर, जिससे कि पाप न ढूके। वक्ष स्थलपर कवच बाँधनेसे अवश्य ही शस्त्रके घाव नही लगते हैं ।।६०।। कषायसे असत्य मत बोल। असत्य से वसुराजा नरक गया। जिस शाखापर उसका खडन करने वाला बैठा है, उस डालीका प्रपात (पतन) होता ही है ।।६१।।जो पर-द्रव्यका हरण करता है, उसके घरका धन भी नष्ट हो जाता है। जिसने अपने घरमे डाकूका प्रवेश कराया है, वह क्या क्या नही करेगा ।।६२।। रावणने परस्त्री सीताकी मनमें इच्छा की, तो वह रावण विनष्ट हो गया। दृष्टिविष सर्प देखने मात्रसे मार डालता है, फिर उसके द्वारा डसे जाने पर तो कौन जी सकता है ।।६३।। पशु-धन, धान्य, खेती आदिमे परिमाण करके प्रवृत्ति कर। बहुत बल (आँटे) वाले बन्धनोका तोडना दुष्कर होता है ।।६४।।

---

१ यदा २ ब टि समारोपयत यूयम्। ३ म पमाउ। ४ ब धाडउ। ५ म म.णइ। ६ ब टि. बलवत्तराणि बहुबन्धनानि तोटने सति दुस्तराणि भवन्ति।

भोगहं करहि पमाणु जिय इंदिय म करि सदप्पु । हुंति ण भल्ला पोसिया दुद्धे काला सप्पु ॥६५
दिसि विदिसिहिं परिमाणु करि जिय बहु जायइ जेण ।
[1] [2]साक्कलियहिं [3]आसागयहिं सजमु पालिउ[3] तेण ॥६६
लोहु लक्ख विसु सणु मयणु दुट्ठभरणु पसुभारु ।
छडि अणत्थह पिडि[4] पडिउ किम तारहहिं[5] संसारु ।.६७
संझहि तिहि सामाइयउ उप्पज्जइ बहु पुण्णु । कालि वरिट्ठइ भति कउ जइ[6] उप्पज्जइ धण्णु॥६८
चिरकयकम्मह खउ करइ पव्वदिणहि उववासु । अहवा सोसइ सर-सलिलु भंति ण गिंभि दिणेसु ॥
पत्तह दिज्जइ दाणु जिय कालि विहाणे तपि ।
अह विहि-विरहिउ बीउ वि फलइ ण किंपि ॥७०
सण्णासेण मरतयह लब्मइ इच्छियलद्धि । इत्थु ण कायउ भंति करि जहि साहसु तहि सिद्धि ॥७१
ए बारह वय जो करइ सो गच्छइ सुरलोइ । सहसणयणु धरणिंदि जहि वण्णइ ताइ विभोइ ।.७२
आउगति सग्गहु चइवि उत्तमवंसह हुति । भुंजिवि हरि-बल-चक्किसुहु पुणु तवयरणु करति ।।७३
उक्किट्ठइं विहि तिहि भवहि भुजिवि सुर-णरसोक्खु ।
जति जहण्णइ धुणियरय भवि सत्तट्ठमि मोक्खु ।।७४

हे जीव, भोगोका भी प्रमाण कर, इन्द्रियोको दर्प-युक्त मत कर । दूधसे पोषण किये गये काले साँप भले नही होते है ॥६५॥ दिशा-विदिशाओमे गमनागमनका प्रमाण कर, क्योकि इनसे जीव-घात होता है । जिसने आशारूपी गजोको साखलोसे बाँधा, उसने सयमका पालन किया । कुछ प्रतियोंमें 'मोक्कलियइं' पाठ है, तदनुसार यह अर्थ होता है कि जिसने आशारूपी गजोको उन्मुक्त छोडा, उसने अपने सयमका निपात कर दिया, इस अर्थमे 'पालिउ' के स्थान पर 'पाडिउ' पाठ समझना चाहिए, क्योकि सस्कृत और प्राकृत भाषामे ड और ल मे व्यत्यय देखा जाता है । ६६॥ लोह, लाख, विष, सन, मैन इनका बेचना, दुष्ट जीवोका पालना और पशुओ पर भार लादना इनको छोड । अनर्थोके समूहमे पडकर संसारको किस प्रकार तरेगा ।।६७।।

तीनो सन्ध्याओमे सामायिक करनेसे बहुत पुण्य उत्पन्न होता है । समय पर वर्षा होनेसे यदि धान्य उत्पन्न हो,तो इसमे भ्राति क्या है ।।६८।। पर्वके दिन किया गया उपवास चिर कालके किये हुए कर्मोका क्षय करता है । अथवा गर्मीके दिनोमे सूर्य सरोवरके जलको सुखा देता है,इसमे कोई भ्रान्ति नही है ।।६९।। हे भव्य जीव, योग्य कालमे योग्य विधानके साथ पात्रोको दान देना चाहिए। क्योंकि विधिसे रहित बोया गया बीज कुछ भी फल नही देता है ।।७०।। सन्याससे मरण करनेवाले श्रावकोको इच्छित ऋद्धि प्राप्त होती है, इसमे कुछ भी भ्रान्ति न करो। क्योकि जहाँ साहस होता है, वहाँ पर अवश्य सिद्धि होती है ।।७१।। जो जीव इन बारह व्रतोका पालन करता है, वह देवलोक जाता है, जहाँ पर सहस्र नयन इन्द्र और धरणेन्द्र भी उसकी विभूतिका वर्णन करते है ।।७२।। आयुषके अन्तमे स्वर्गसे च्युत होकर उत्तम वंशवाले मनुष्योमे उत्पन्न होते है और नारायण, बलभद्र एव चक्रवर्तीके सुख भोगकर पुनः तपश्चरण करते है ।।७३।। वे भव्य

---

१ म मोक्कालयइ । २ ब टि आशा वाछा एव गर्त्त. आशा गजो वा । ३ ब टि. अथवा डलयो रभेद सयम. पातित । ४ ब टि पेटके समूहे ५ झ तारसहि । ६ ख उप्पज्जइ बहु धण्णु । ७ झ-दिणइ ।

संगचाउ जे करहिं जिय ताहं ण वय मज्छति । अह किं लग्गहिं चोरडा जे दूरे णासति ।।७५
एहु धम्मु जो आयराइ बमणु सुद्दु वि कोइ । सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ।।
मज्जु मंसु महु परिहरइ सपइ सावउ सोइ । णीरुक्खइ एरंडवणि किं ण भवाई होइ ।।७७
सावयधम्महिं सयलहमि दाणु पहाणु सुवुत्तु । तं दिज्जइ विणएण सहु बुज्झिवि पत्तु अपत्तु।।७८
उत्तमु पत्तु मुणिंदु जगि मज्झिमु सावउ सिट्ठु । अविरयसम्माइट्ठि जणु पभणिउ पत्तु कणिट्ठु।।७९
पत्तह जिणउवएसियह तीहिंमि देइ जु दाणु । कल्लाणइ पचइं लहिवि भुंजइ सोक्खणिहाणु ।।८०
दंसणरहिय कुपत्त जइ दिण्णइ ताह कुभोउ । खारघडइ अह णिवडियउ णीरु वि खारउ होइ ।।८१
हय-गय-सुणहह दारियह मिच्छादिट्ठिहिं भोय । ते कुपत्तदाणंघिवह फल जाणहु बहुभेय[1] ।।८२

त अपत्तु आगमि भणिउ ण उ वय दसण जासु ।
णिप्फलु दिण्णउ होइ तसु जह ऊसरि वउ[2] सासु ।।८३

हारिउ ते धणु अप्पणउं दिण्णु अपत्तह जेण ।[3]उप्पहि चोरहं अप्पियउ खोज ण पत्तउ केण । ८४
एक्कु वि तारइ भवजलहिं बहु दायार सुपत्तु । सुपरोहण एक्क वि बहुय दीसइ पारहु णितु ।।८५
दाणु [4]कुपत्तहं दोसडइ वोलिज्जइ ण हु भंति । पत्थरु पत्थरणाव कहिं दीसइ उत्तारति ।।८६

जीव उत्कृष्ट रुपसे तो-तीन भवोमें देब-मनुष्योके सुख भोग कर और जघन्य रूपसे सात-आठ भवोमे कर्म-रजको दूर कर मोक्षको जाते है ।।७४।। जो जीव परिग्रहका त्याग करते है,उनके व्रत भग नही होते है । क्या उन सुभटोके पीछे चोर लग सकते है, जो उनकों देखकर दूरसे ही भागते है ।।७५।। जो कोई भी ब्राह्मण या शूद्र इन उपर्युक्त धर्मका आचरण करता है, वह श्रावक है। और क्या श्रावकके शिर पर कोई मणि रहता हे ।।७६। सम्प्रति इस पचकालमे जो मद्य मास और मधुका त्याग करता है, वही श्रायक है । क्या अन्य वृक्षोके रहित एरण्ड-वनमे छाया नही होती है ।।७।। श्रावकके सर्व धर्मोमे दान देना प्रधान धर्म कहा गया है । इसे पात्र-अपात्रका विवेक कर विनयके साथ देना चाहिए।।७८।।जगत्मे उत्तम पात्र मुनीन्द्र और मध्यमपात्र श्रावक कहा गया हैं । अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य कनिष्ठ (जघन्य) पात्र कहा गया है।।७९।।जिनदेवके द्वारा उपदिष्ट उक्त तीनों ही प्रकारके पात्रोंको जो दान देता है, वह पच कल्याणकोको प्राप्त करके सुखके निधान शिव-पदका उपभोग करता है ।।८०।।

सम्यग्दर्शनसे रहित कुपात्रको यदि दान दिया जाता हे, तो उससे कुभोग प्राप्त होते है । जैसे खारे घडेमे डाला हुआ पानी भी खारा हो जाताहै।।८१।। मिथ्यादृष्टिको घोडे,हाथी,कुत्ते और वेश्याओका जो भाग प्राप्त है, वे सब कुपात्रदानरुपी वृक्षके नाना प्रकारके फल जानो ।।८२।।

जिसके व्रत और सम्यग्दर्शन नही है, आगममे उसे अपात्र कहा गया है । उसे दिया गया दान निष्फल होता हे, जैसे कि ऊसर भूमिमें बोया गया धान्य निष्फल जाता है ।।८३।। जिसने अपात्रको दान दिया, उसने अपना धन खोया । उत्पथमें चोरोको अर्पण किया गया धन किसने वापिस खोज पाया है ।।८४।।

एक ही सुपात्र अनेक दातारोंको भवसागरसे पार उतार देता है । एक ही उत्तम जहाज अनेक पुरुषोको पार लगाता हुआ देखा जाता है ।।८५।।कुपात्रको दान देना दोषयुक्त कहा गया

---

१ ब मिथ्यादृष्टीना हयादीना ये भोगा भवन्ति तत्सर्वं कुपात्रदानवृक्षस्य फल ज्ञेयम् । २ म कउ । ३ टि उत्पथे । ४ ब अपत्तह ।

जइ गिहत्थु दाणेण विणु जगि पभणिज्जइ कोइ।
ता गिहत्थु पक्खि वि हवइ जे[1] घरु ताह वि होइ ॥८७
धम्मु करउ जइ होइ धणु इहु दुव्वयणु म बोल्लि।
हक्कारउ जमभडतणउ आवइ अज्जु कि कल्लि। ८८

काइं बहुत्तइं संपयइं जा[2] किवणह घरि होइ। [3]उवहि णीरु खारें भरिउ पाणिउ पियइ ण कोई ॥८९
पत्तह दिण्णउ थोवडउ रे जिय होइ बहुत्तु। वडह बीउ धरिणिहिं पडिउ वित्थरु लेइ महत्तु। ९०
धम्मसरूवें परिणवइ चाउ वि पत्तह दिण्णु। साइयजलु सिप्पिहिं गयउ मुत्तिउ होइ रवण्णु ॥९१
ज दिज्जइ त पावियइ एउ ण वयणु विसुद्धु। गाइ पइण्णइ खडभुसइं कि ण पयच्छइ दुद्धु ॥९२
जो घरि हुतइ धणकणइ मुणिहिं कुभोयणु देइ। जम्मि जम्मि दालिद्दडउ पुट्ठि ण तह छडेइ ॥९३
कहिं भोयण[4] सहुं भिट्टडी दिण्णु कुभोयणु जेण। हुतइ घरि पउरि वविय बबूलइ तेण[5]। ९४
ज जिय दिज्जइ इत्थु भवि तं लब्भइ परलोइ। मूलें सिंचइ तरुवरहं फलु डालहिं पुणु होइ ॥९५
पत्तह दाणइं दिण्णइण मिच्छादिट्ठि वि जंति। उत्तमाइ भोयावणिहि इच्छिउ भोउ लहंति ॥९६
कम्मु ण खत्तिय सेव जहिं ण उ वाणिज्ज पयासु। घरि घरि दसविह[6] कप्पयरु ते पूरहिं अहिलासु ॥
किं किं देइ ण धम्मतरु दाण-सलिल-सिंचतु। जइ मिच्छत्त हुयासणहु रक्खिज्जइ डज्झतु ॥९८
धम्मु करतह होइ धणु इत्थु ण कायउ[7] भंति। जलु कड्ढतह कूवयह अवसइ सिरउ[8] वहंति ९९

है, इसमें भ्रान्ति नहीं है। कहीं पत्थरोंकी नाव पत्थरको पार उतारती देखी गई है ॥८६॥ यदि दानके बिना भी जगत्‌मे कोई मनुष्य गृहस्थ कहा जाय तब तो पक्षी भी गृहस्थ हो जाता है, क्योंकि घोसलारूप घर तो उसके भी होता है ॥८७। 'यदि धन हो जाय तो धर्म करूँ,' ऐसा दुर्वचन मत बोल। क्योंकि यमराजके दूतका हकारा आज आ जाय, कि काल, इसका क्या भरोसा है ॥८८॥ उस बहुत सम्पत्तिसे क्या लाभ, जो कृपणके घरमे होती है। समुद्र खारे पानीसे भरा है, उसका कोई पानी नही पीता है ।८९॥ हे जीव, पात्रको दिया गया थोडा-सा भी दान बहुत होता है। बटका बीज भूमिमे पडकर भारी विस्तार ले लेता है ॥९०॥ पात्रको दिया हुआ दान धर्मस्वरूपमे परिणत होता है। देखो स्वाति नक्षत्रका जल सीपमें जाकर रमणीक मोती बन जाता है॥९१॥ 'जो दिया जाता है, वही प्राप्त होता है' यह वचन विशुद्ध (यथार्थ) नही है। देखो—गायको खल और भुस दिया जाता है, तो क्या वह दूध नही देती है ॥९२॥ जो मनुष्य घरमें धन-धान्यके होते हुए भी मुनिको कुभोजन देता है, दारिद्रय जन्म-जन्ममे उसका पीछा नही छोडता है ॥९३॥ जिसने मुनियोंको कुभोजन दिया है उसे उत्तम भोजनसे भेंट कहाँ हो सकती है। घरमें प्रचुर बीजोंके होते हुए भी उसने बबूल बोये हैं ॥९४॥ हे जीव, जो कुछ इस भवमें दिया जाता है, वही परलोकमें प्राप्त होता है। वृक्षके मूलको सींचनेपर ही डालियोंमे फल लगते हैं। ९५॥ पात्रोंको दान देनेमे मिथ्यादृष्टि भी उत्तमभोगभूमिको जाते हैं और इच्छित भोगोंको पाते हैं ॥९६॥ जिस भोगभूमिमें न खेती और न सेवाकार्य है और न व्यापारका प्रयास ही है। वहांपर घर-घरमे दस प्रकारके कल्पवृक्ष हैं, वे जीवोंकी सब अभिलाषाओंको पूरा करते हैं ॥९७॥ दानरूपी जलसे सींचा गया धर्मरूपी वृक्ष क्या क्या सुफल नही देता है? यदि मिथ्यात्वरूप अग्निके द्वारा उसकी जलनेसे रक्षा की जाय ॥९८॥ धर्म करनेवालोंके धन होता है, इसमें कोई भी भ्रान्ति नहीं है। जैसे कूपसे जलके निकलने-

---

१ त ज०। २ म जइ ३ झ स०वर। ४ व मिहु। ५ यह दोहा 'त' प्रतिमे नहीं है ६ म दस कप्पयर ऊहि। ७ काइमि। ८ म घडति।

धम्महु धणु पर होइ थिरु विग्घइं दिहडिवि जंति।
अह सरवरु अविणइं रहिउ फुट्टिवि जाइ तडत्ति ॥१००

धम्में सुहु पावेण दुहु एउ पसिद्धउ लोइ। तम्हा धम्मु समायरहि जिम हियइच्छिउ होइ ॥१०१
धम्में जाणहि जंति णर पावें जाण वहंति। घरयर गेहोवरि चर्ढाह कूवखणय तलि जंति ॥१०२

धम्में एक्कु वि बहु भरइ सइं भुक्खियउ अहम्मु।
वडु बहुयह छाया करइ तालु सहइ सइं घम्मु ।।१०३

काइं बहुत्तइ जंपियइ ज अप्पहु पडिकूलु। काइ मि परहु ण त करहि एहु जि धम्महु मूलु ॥१०४
सत्थसएण[1] वि जाणियहं[2] धम्मु ण चढइ मणेवि। दिणयरसय जइ उग्गमइ घूयड अंधउ तोवि १०५
पोट्टह लग्गिवि पावमइ करइ परत्तहं[3] दुक्खु। देवल-लग्गिय-खिल्लियइ किण्ण पलोट्टइ मुक्खु[4] ।१०६
छुडु सुविसुद्धिए होइ जिय तणु मणु वय सामग्गि। धम्मु विढप्पइ इत्तियह धणहुँ विलग्गउ अग्गि ।
[5]थुणु वयणे झायहि मणहि जिणु भुवणत्तयवंधु। कार्याह कार उववासु जिय जें खुट्टइ भवसिंधु १०८

होइ वणिज्जु ण पोट्टलिहिं उववासहिं ण उ धम्मु।
एहु अयाणहु[6] पो चवइ जसु कउ भारिउ कम्मु ॥१०९

पोट्टलियहिं मणिमोत्तियहिं धणु कित्तियहिं ण माइ। चोरिहिं भरिउ बलद्दडा तं णाही ज खाइ ॥

पर उसमे स्रोतोसे अवश्य ही जल प्रवाहित होता है, अर्थात् झरोके द्वारा और पानी आ जाता हे ॥९९॥ धर्मसे धन स्थिर होता हैं और विघ्न विघट जाते है। जैसे (पाल-बन्धसे जल सरोवरमें भरा रहता है।) किन्तु पाल-बन्धसे रहित सरोवर तुरन्त फूट जाता हैं (और उसका सारा जल वाहिर निकल जाता है) ॥१००॥ धर्मसे सुख और पापसे दुख होता है, यह बात लोकमे प्रसिद्ध हैं। इसलिए धर्मका आचरण कर, जिससे मनोवाछित पदार्थ प्राप्त हो ॥१०१॥ धर्मसे मनुष्य यान-वाहनोके द्वारा जाते है और पापसे मनुष्य यानोका वहन करते है। घरके बनानेवाले कारीगर घरके ऊपर चढते है और कूप खनन करनेवाले लोग नीचे तल भागकी ओर जाते हैं ॥१०२॥ धर्मसे एक ही पुरुष बहुत लोगोका भरण-पोषण करता हैं और अधर्मी स्वयं भूखा रहता हैं। वटवृक्ष बहुत जनोंपर छाया करता हैं और ताडवृक्ष स्वयं घाम सहता है ॥१०३॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ, जो कार्म अपने लिए प्रतिकूल हो, उसे कभी दूसरोके लिए भी मत करो। यह धर्मका मूल है ॥१०४॥ सैकडों शास्त्रोंके जान लेनेपर भी मिथ्यादृष्टि जीवके मनपर धर्म नही चढता है। यदि सैकडों सूर्य भी उदित हो जायें, तो भी घुग्घू अन्धा ही रहता है॥१०५॥ पापबुद्धि पुरुप पेटके लिए दूसरोंको दु.ख पहुँचाता हैं। मूर्ख मनुष्य देवालयमे लगी हुई खीलोके लिए क्या उसे नही पटकता हैं ॥१०६॥ हे जीव, यदि तन-मन और वचनकी सामग्री विशुद्ध हो, तो इतनेसे ही धर्म वढता हैं। (धर्मके लिए धनकी आवश्यकता नही हैं।) फिर उस धनमें आग लगने दे ॥१०७॥ त्रिभुवनके वन्धु जिनदेवका वचनोंसे स्तवन कर, मनसे ध्यान कर और कायसे उपवास कर, जिससे कि हे जीव, भव-सिन्धु अन्तको प्राप्त हो ।१०८।। पोटलीसे वाणिज्य नही होता और उपवासोसे धर्म नही होता। यह वात तो वही अज्ञानी मनुष्य कहता है जिसने भारी दुष्कर्म किया हैं ॥१०९॥ देखो—मणि-मोतियोकी पोटलियोंमे कितना धन कमाया जा सकता हैं इसका माप (परिमाण)

---

१ झ-सएहिं। २ झ म याणियहिं। ३ व टि. परलोकस्य। ४ व टि. किं मूर्खो ल.नखीलीनिमित्त देवगृह न पातयति? अपि तु पलोट्टइ-पातयति। ५ व म मुणि। ६ व टि अज्ञानी पुमान्।

उववासहो एवकहो फलइ सबोहिय परिवारु । णायदत्तु दिवि देउ हुउ पुणरवि णायकुमारु ॥१११
तें कज्जें जिय तुव भणमि[1] करिउपवासब्भासु[2] । जाम ण देहकुडिल्लियहिं ढुक्कइ मरणहुयासु ११२
धम्मु जि सुद्धउ त जि पर ज किज्जइ काएण[3] । अहवा त धणु इज्जलउ जं आवइ णाएण । ११३
णिद्धणमणुयह कट्ठडा सजमि उण्णय दिति । अह उत्तमपइ जोडिया जिय दोस वि गुण हुति ॥११४
णियमविहूणह णिट्ठडिय[4] जीवह णिप्फल्ल होइ । अणबोल्लिउ किं पावियइ दाम कलत्त रु[5] लोइ ॥११५
जो वय-भायणु सो जि तणु किं किज्जइ इयरेण ।
त सिरु ज जिण मुणि णवइ रेहइ भत्तिभरेण ॥११६
दाणच्चणविहि जे करहिं ते जि सलक्खण हत्थ । जे जिणतित्थह अणुसरहिं पाय वि ते जि पसत्थ ॥
ज सुणति धम्मक्खरइ ते हउं मण्णमि कण्ण । जे जोवहिं जिणवरह मुहु ते पर लोयण धण्ण ॥११८
अवरु वि ज जहिं उवयरइ[6] तं उवयारहिं तित्थु[7] ।
लइ जिय जीविय लाहडउ देहु म करहु[8] णिरत्थु ॥११९
घरु पुरु परियणु धणियधणु बंधव पुत्त सहाइ[9] । जीवे जतें धम्मु पर अण्णु ण सरिसउ जाइ[10] ॥१२०
देहि दाणु वउ[11] किंपि करि मा[12] गोवहि णियसत्ति । ज कड्ढियह वलतयइ तं उव्वरइ ण भंति १२१

नहीं है और जो खाये जाते है, ऐसे बेल भरे बेरोसे वह धन (मूल्य) नही मिलता है ॥११०॥ देखो–एक ही उपवासके फलसे परिवारको सम्बोधित कर नागदत्त स्वर्गमे देव हुआ और वहाँसे आकर फिर भी नागकुमार हुआ ॥१११॥ इसलिए हे जीव, तुझसे कहता हूँ कि तू उपवासकाअभ्यास कर, जबतक कि देहरूपी कुटी (झोपडी) में मरणकी आग प्रवेश नही कर रही है ॥११२॥ धर्म वही विशुद्ध है, जो कि अपने शरीरसे किया जाता है और धन वही उज्ज्वल है, जो कि न्यायसे आता है ॥११३॥ निर्धन मनुष्यके कष्ट संयममें उन्नति देते हैं। देखो–उत्तमपदमे जोडे गये जीवके दोष भी गुण हो जाते है ॥१४॥ नियमसे रहित जीवकी निष्ठा (क्रिया) निष्फल होती है। क्या कोई लोकमे अनबोले दाम और कलत्र (स्त्री) को पाता है। भावार्थ–जैसे लोकव्यवहारमे वस्तुका दाम (मूल्य) बोलनेपर ही मिलता है, और स्त्री भी विवाहके पूर्व वाग्दान हो जानेपर ही प्राप्त होती है, इसी प्रकार पहले व्रतका नियम लेनेपर ही आचरणरूप क्रिया सफल होती है ॥११५॥ जो व्रतका भाजन हो, वही शरीर है, व्रत-रहित अन्य शरीरसे क्या लाभ है। सिर वही शोभता है, जो जिनदेव और निर्ग्रन्थमुनिको भक्ति-भारसे नमस्कार करे ॥११६॥ जो दान और पूजनविधिको करे, वे ही सुलक्षण हाथ है और जो जिनतीर्थोका अनुसरण करे, वे ही प्रशस्त पाँव है ॥११७॥ जो धर्मके अक्षरोको सुनते है, उन्हीको मै कान मानता हूँ और जो जिनवरके मुखको देखते है, वे ही लोचन परमधन्य है ॥११८॥ और भी जो अंग जैसा उपकार कर सके, उससे वैसा ही उपकार कराओ। हे जीव, (इस प्रकारसे तुम) जीवनका लाभ लो, देहको निरर्थक मत करो ॥११९॥

घर, पुर, परिजन, धनिक, धन, बान्धव, पुत्र और सहायक ये कोई भी जीवके परलोक जाते समय साथ नही जाते है, केवल एक धर्म ही साथ जाता हैं ॥१२०॥ इसलिए दान दो, कुछ

---

१ व टि भणमि । झ म पइ भणिउ । २ सयासु । ३ व टि उपवासादिना कायक्लेशेन । ४ म णिट्ठणी । ब निष्ठा क्रिया । ५ म दम्मकलतरु । ६ व उपकरोति । ७ व तत्र उपकारय, उपकारनिमित्तं प्रेरय । ८ झ म लेहु । ९ व सयाइ । १० यह दोहा 'झ' मे नही है । ११ म चउ । १२ म माण ।

जइ जिय सुक्खइ[1] अहिलसइ छंडहि विसय कसाय।
अह विग्घइ अणिवारियइं फमहि कि अज्झवसाय ॥१२२

फरंसिदिउ मा लालि जिय लालिउ एहु जि सत्तु। करिणिहिं लग्गउ हत्थियउ णियलकुसदुहु पत्तु॥

जिब्भिदिउ जिय सवरहि सरस ण भल्ला भक्ख।
[2]गालइं मच्छ चडप्फडिवि मुइबि [3]सहिवि थलदुक्ख ॥१२४
घाणिदिय वढ[4] वसि करहि रक्खहु विसयकसाय[5]।
गधहं लनड सिलिमु वि हुउ कजइ विच्छाय। १२५

रूवहिं उप्परि रइ म करि णयण णियारहि जंत। रूवासत्त पयगडा पेक्खहिं दीवि पडत ॥१२६
मण गच्छहो मणमोहणहं जिय गेयह अहिलासु। गेयरसें हिअकण्णडा पत्ता हरिण विणासु ॥१२७
[6]एक्कु वि इदिउ मोक्कलउ पावइ दुक्खसयाइं। जसु पुणु पचवि मोक्कला सु पुच्छिज्जइ काइं।१२८
ढिल्लउ होहि म इदियहं पचहं विण्णि णिवारि। इक्क णिवारहि जीहडिय[7]अवर[8]पराइय णारि॥
[9]खंचहि गुरुवयणंकुसहिं मिल्लि[10]म ढिल्लउ तेम। जह मोडइ मणहत्थियउ संजमभरतरु जेम॥१३०
परिहरि कोहु खमाइ करि मुच्चहि कोहमलेण। ण्हाणे सुज्झइ भति कउ छिनउ चडालेण ।।१३१
मउयत्तणु जिय मणि धरहि माणु पणासइ जेण। अहवा तिमिरु ण ठाहरइ सुरहु गयणि ठिएण।१३२

व्रत भी करो, अपनी शक्तिको मत छिपाओ। इस वलते (जलते) हुए शरीररुपी घरमेंसे जो काढ़ लोगे, वही बचेगा, इसमे भ्रान्ति नही हैं ॥१२१॥ हे जीव, यदि तू सुख चाहता हैं, तो विषय और कषाय छोड़ दे। विघ्नोके निवारण किए विना क्या अध्यवसाय फलीभूत्त हो सकता है॥१२२॥ हे जीव,स्पर्शन-इन्द्रियका लालन मत कर,लालन करनेसे यह शत्रु वन जाती है। देखो—करिणी (हथिनी) मे आसक्त हुआ हाथी सांकल और अकुशके दु खको पाता है॥१२३॥ हे जीव,जिव्हा-इन्द्रियका सवरण कर, सरस भक्षण भला नही होता हैं। देखो—लोहेकी कीली (बसी)से विंधी हुई मछली तड़फड़ाकर और जमीनके दु.ख सहकर मरती हैं॥ १२४॥ हे मूढ, घ्राण-इन्द्रियको वशमे कर और विषय-कषायसे अपनी रक्षा कर। देखो—सुगन्धका लम्पटी भौरा कमलमे बन्द होकर मरणको प्राप्त होता है ॥१२५॥ रूपके ऊपर रति मत कर,रूपपर जाते हुए नयनोको भी रोक। दीपकमे गिरते हुए रूपासक्त पतङ्गोंको देख ॥१२६॥ हे जीव, मन-मोहक गीतोके सुननेकी अभिलाषाको मत प्राप्त हो। देखो—गीतरसके श्रवणमे आसक्त हरिण विनाशको प्राप्त होते है ॥१२७॥ (देखो—ये सव उपर्युक्त जीव) एक-एक इन्द्रियके वशगत होकर सैकडो दुखोको पाते है। और जिसकी पांचों ही इन्द्रियाँ स्वच्छन्द है,अर्थात् जो पाँचोके ही विषयोमे आसक्त हे,उसके दु.खोंका तो पूछना ही क्या है ॥१२८॥ पाँचो ही इन्द्रियोके विषयोमे ढीला मत हो। उनमे भी मुख्यरूपसे दो इन्द्रियोका तो निवारण कर ही। एक तो जिव्हा इन्द्रियका निवारण कर और दूसरी परायी स्त्रीका निवारण कर स्पर्शन-इन्द्रियको वशमे कर॥१२९॥ गुरुके वचनरुपी अकुशसे मनरूपी गजका निवारण कर, उसे ढीला मत छोड,जिससे कि संयमभार वाला यह वृक्ष सुरक्षित रह सके ॥१३०॥ क्षमाके द्वारा क्रोधका परिहार कर क्रोधरुपी मैलसे मुक्त हो। चाण्डालसे छुआ हुआ मनुष्य स्नानसे शुद्ध होता है, इसमे क्या भ्रान्ति है ॥१३१॥ हे जीव, मृदुताको मनमे धारण

१ म सुक्खह। २ लोहकण्टकेन। ३ म मुड विसहइ। ४ म वड। व टि मूढ। ५ व पमाय।
६ एक्कहि। ७ जीहडी। ८ म अण्ण। ९ व मनो निवारय। १० म मेल्लि।

माया मिल्लहि थोडिय वि दूसइ चरिउ विसुद्धु । कंजियबिंदुवि[1] वित्तुडइ सुद्धुवि गुलियउ दुद्धु ॥
लोहु मिल्लि चउगइसलिलु हलुवउ जायइ जेम । लोह-मुक्कु सायरु तरइ पेक्खि[2] परोहण तेम १३४
मो जि[3] छिज्जें[4] दुब्बलउ होइ इयरु[5] परिवारु । हलुवउ उग्घाडंतयहु अहव णिरग्गलु वारु ॥१३५
मिच्छत्तें णरु मोहियउ पाउ वि धम्मु मुणेइ । भंति कवणु धत्तूरियउ डलु वि सुवण्णु भणेइ ॥१३६

जइ अच्छहि[6] सतोसु करि जिय सोक्खह विउलाह[7] ।
अहवा णदु वि को करइ रवि मिल्लिवि कमलाह ॥१३७
मणुयहु विणयविवज्जियहं गुण सयलवि णासंति ।
अह सरवरि विणु पाणियइं केम रहंत ॥१३८

विज्जावच्चें[8] विरहियउ वय-णियरो वि ण ठाइ । सुक्कसरहु किं हंसउलु जंतउ धरणइं जाइ ॥१३९
सज्झाएँ णाणहु पसरु रुज्झइ इंदियगाउ[9] । पच्चूसे सूरुग्गमणि घूयडकुलु णिच्छाउ[10] ॥१४०
गुणवंतह सहु संगु करि भल्लिम पावहि जम सुवणसुपत्त विवज्जियउ वरतरु वुच्चइ केम ॥१४१
[11]सत्तु वि महुरइ उवसमइ सयलवि जिय वसि हुंति । [12]वयणइं कक्कस पोसियइं पुरिसहुहोइणकित्ति

भोयणु [13]मउणें जो क इ सरसइ सिज्झइ तासु ।
अहवा [14]वसइ समुद्दि जिय लच्छि म करहु[15] णिवासु ॥१४३

कर, जिससे कि मानका विनाश हो। अथवा सूर्यके गगनमे स्थित रहनेपर अन्धकार नही ठहर सकता है ॥१३२॥ मायाको छोड, जो थोडी भी विशुद्ध चारित्रको दूषित कर देती है। काजीके एक बिन्दु भी गुडयुक्त शुद्ध दूधको भी फाड देती है ॥१३३॥ लोभको छोड, जिससे चतुर्गतिरूपी जल (पार करनेके लिए तू) हलका हो जाय। देख, लोह-मुक्त (काठ की) नाव जैसे सागरको तर जाती है ॥१३४॥ मोहके क्षय होनेपर राग-द्वेषादिरूप अन्य परिवार स्वय ही दुर्बल हो जाता है। अथवा अर्गला (साकल) रहित द्वार उघाडनेमे हलका होता ही है ॥१३५॥ मिथ्यात्वसे मोहित मनुष्य पापको भी धर्म मानता है। यदि धत्तूरेसे उन्मत्त पुरुष डले (पत्थरके टुकडे) को भी सोना कहे तो इसमें क्या भ्रान्ति है ॥१३६॥ हे जीव, यदि विपुल सुखकी इच्छा है, तो तू सन्तोषको धारण कर। अथवा सूर्यको छोडकर कमलोका आनन्द और कौन कर सकता है ॥१३७॥ विनयसे रहित मनुष्यके समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। अथवा सरोवरमे पानीके बिना कमल कैसे रह सकते है ॥१३८॥ वैयावृत्यसे रहित व्रतोका समूह भी नही ठहरता है। सूखे सरोवरमे जाता हुआ हंसोंका समुदाय क्या रोका जा सकता है ॥१३९॥ स्वाध्यायसे ज्ञानका प्रसार होता है और इन्द्रियोका समुदाय (विषयोमे जानेसे) रोका जाता हे। प्रत्यूषकालमे सूर्यके उदय होनेपर घूकोका समुदाय निस्तेज हो जाता है ॥१४०॥ गुणवन्तोके साथ सगति कर, जिससे कि भलाई पावे। सुमनो, और सुपत्रोसे रहित वृक्ष श्रेष्ठ कैसे कहा जा सकता है ॥१४१॥ मधुर वचन बोलनेसे शत्रु भी शान्त हो जाता है और सभी जीव वशमे हो जाते है। कर्कश वचनोके बोलनेपर पुरुषकी कीर्ति नही होती है॥१४२॥ जो पुरुष मौनसे भोजन करता है, उसे सरस्वती सिद्ध होती है। अथवा समुद्रमें लक्ष्मी भी निवास

---

१ म बिंदुइ । २ ब पिक्खि । ३ झ म णु । ४ म छिज्जउ । झ छिज्जइ । ५ ब टि. इतरद् राग-द्वेषादिकम् । ६ म इच्छहि । ब टि यदि तिष्ठति सन्तोष कृत्वा । ७ ब टि. विपुलानि विस्तीर्णानि सौख्यानि भवन्ति । ब विज्जाविच्चे । ९ ब इन्द्रियग्रामो निरुध्यते । १० निस्तेजो भवति । ११ ब सत्तु वि महुरइ जपियइ । १२ म झ चाइ कवित्ते पो.सइ । १३ ब मोणि । १४ ब अह ववसाइ समुद्दि । टि. समुद्र-व्यवसायेन । झ साय । १५ ब करउ ।

विसय कसाय-वसण-णिवहु अण्णु वि मिच्छाभाउ ।
पिसुणत्तणु कक्कसवयाणु मिल्लहि सयलु अणाउ ॥१४४

अण्णाएं आवति जिय आवइ[1] धरण ण[2] जाइ । उम्मग्गें चल्लंतयह कंटउ भज्जइ पाइ ॥१४५
परिहरि पुत्तु वि अप्पणउ जसु अण्णायपवित्ति । अप्पणियइ मरइ कुसियारउ ण उ भति ॥
अण्णाए बलियह वि खउ किं दुब्बलहं ण जाइ । जहि वाए वच्चति गय तहि किं पूणी[3] ठाइ ॥१४७
अण्णाएं दालिद्दियह रे जिय दुहु आवग्गु । लक्कडियह त्रिणु खोडयह मग्गु सचिक्खलु दुग्गु ॥१४८
अण्णाएं दालिद्दियहं ओहट्टइ णिव्वाहु । लुंगउ[4] पायपसारणइं फिट्टइ[5] को संदेहु ॥१४९
ता अच्छउ जिय पिसुणमइ सगु जि ताह विरुध्दु सप्पह सगें कट्टियउ चदणु पिक्खु सुयधु ॥१५०
विहडावइ ण हु संघडइ पिसुणु परायउ णेहु । टालइ रय[6] ण उत्तिडउ उंदरु को सदेह ॥१५१
धम्में विणु जे सुक्खडा तुट्टा गया वियार । तरुवर खडिवि खुडिय ते फल एक्कु जि वार ॥१५२
सुहियउ हुवउ ण कोवि इह रे जिय णरु पावेण । कद्दमि ताडिउ उट्ठियउ गिंदुउ दिट्ठउ केण ॥१५३
[7]रे जिय पुव्वि[8]ण धम्मु किउ एवहिं करि मताव ।
मति कवण विणु णावियइं खडहडि[9] णिवडइ णाव ॥१५४

करती है, सो हे जीव, वह भी मौनरूप स्वमुद्रावाले तुझमे निवास करे। भावार्थ-प्राकृत 'समुद्दि' पदका सस्कृतरूप 'समुद्रे' और 'स्वमुद्रे' दोनों होते है। यत. लक्ष्मी समुद्रमे निवास करती है,यह प्रसिद्धि है, अत वह समुद्रावाले मौनभोजी पुरुषमे भी रहे, ऐसा अभिप्राय ग्रन्थकारने आशीर्वाद-रूपसे प्रकट किया है ॥१४३॥ विषय,कषाय, व्यसन-समूह, पिशुनता, कर्कश वचन, सकल अन्याय और अन्य सर्व मिथ्याभाव इनको भी छोड देना चाहिए ॥१४४॥ हे जीव, अन्यायसे आपत्तियाँ आती है, फिर उन्हे रोका नही जा सकता। उन्मार्गपर चलनेवालोका पांव काँटेसे भग्न होता है ॥१४५॥ जिसकी अन्यायमे प्रवृत्ति हो, ऐसे अपने पुत्रका भी परिहार कर। देखो—कुशियारा कीडा अपनी ही लारसे मरता है, इसमे कोई भ्रान्ति नही है ॥१४६॥

अन्यायसे वलवानोका भी क्षय हो जाता हैं, फिर क्या दुर्बलोका क्षय नही होगा? जिस वायुके वेगसे हाथी भी उड जाते हैं, वहा क्या रुईकी पोनी ठहर सकती है ॥१४७॥ रे जीव, अन्यायसे दरिद्रियोका दु.ख और वढता है। लकडीके खोडो (डूडो) के विना वर्षा ऋतुमे मार्ग कीचडमय और दुर्गम हो जाता है। (इसी प्रकार न्यायके खोडे लगाये विना दरिद्री पुरुषोकी दशा और भी दु खमय हो जाती है।) ॥१४८॥ अन्यायसे दरिद्री पुरुषोका निर्वाह दूर हट जाता हैं। लुगी पावोके पसारनेसे फटती ही है, इसमें क्या सन्देह हैं ॥१४९॥ इसलिए हे जीव, पिशुनमति (चुगलखोर) मनुष्यको दूर ही रहने दे, उसका संग भी बुरा होता है। देखो—सांपके संगसे सुगन्धी चन्दन वृक्ष भी काट दिया जाता है ॥१५०॥ पिशुन पुरुष पराये स्नेहको तोडता ही है, जोडता नही। देखो—उदर (चूहा) विलमेसे रज निकालता ही है, उसे भरता नही, इसमें क्या सन्देह है ॥१५१॥ धर्मके विना जो सुख भोग है, उन्हे टूटा गया विचार। जो वृक्षको काटकर फल तोडे जाते है, वे एक ही वार प्राप्त होते है ॥१५२॥ रे जीव, यहाँ पापसे कोई मनुष्य सुखी नही हुआ। कीचडमे मारी गई गेद उठती हुई किसीने देखी है ॥१५३॥ रे जीव, पूर्व भवमें धर्म नही

---

१ व टि आपद २ व निषेद्धु न शक्यते। ३ म नूणी। ४ व लगाउ। ५ म-फाटइ। ६ फट्टइ। ७ व अरि। ८ म पुव्व। ९ व खरहडि।

जेण सुदेउ सुणरु हवसि सो पइ कियउ ण धम्मु ।
विण्णिवि छेत्ते वारियहिं इकु पाणिउ अरु धम्मु ।।१५५

अभयदाणु भयभीरुयहं जीवहं दिण्णु ण आसि । वार वार मरणहिं डरसि केम चिराउसु होसि ।।
विज्जावच्चु ण पइ कियउ दिण्णु ण ओसहदाणु । एवहिं वाहिहिं पीडियउ कदिम होहि अयाणु ।।
सघह दिण्णु ण चउविहह भत्तिए भोयणदाणु । रे जिय काइं चडफडहि दूरीकयणिव्वाणु ।।१५८

पोत्थय दिण्ण ण मुणिवरहं विहिय ण सत्थह पुज्ज ।
मइ पडियउ कइत्तु गुणु चाहहि केम णिलज्ज ।। १५९
पाउ करहि सुहु अहिलसहि परसिविणे वि ण होइ ।
माडिइ णिबइ वाइयइ अब कि चक्खइ कोइ ।।१६०

गुरुआरभहिं णरयगइ तिव्वकसाय हवंति । इक छिद्दिय पाहणभरिय बुड्डइ णाव ण भंति ।।१६१
कूडतुलामाणाइयहि हरि-करि-खर-विसमेसु । जो णच्चइ णडु पेक्खणउ सो गिण्हइ बहुवेसु।।१६२
हलुवारभहिं मणुयगइ मदकसायहिं होइ । छुडु सावउ धणु वाहुडइ लाहउ पुणरवि होइ ।।१६३
सम्मत्तें सावयवयहिं उप्पज्जइ सुरराउ । जोग[2]वणिट्ठिउ छडियइ सो वारइ वि ण जाउ ।।१६४

किया,ऐसा सन्ताप कर । यदि नाविकके विना नाव खड्ढेमे जा गिरे, तो इसमे कौनसी भ्राति है ।।१५४।। जिससे तू उत्तम देव और उत्तम मनुष्य होता, उस धर्मको तूने नही किया । देख—एक छत्रसे धारण करनेसे एक पानी और दूसरा घाम ये दोनो ही निवारण किये जाते है ।।१५५।। भय-भीत जीवोको तून कभी अभयदान नही दिया । अब वार-बार मरनेसे डरता हूं। चिरायुष्क कैसे हो सकता है ।।१५६।। तूने पहिले कभी साधुजनोंकी वैयावृत्त्य भी नही की और ओषधिदान भी नही दिया । अब इन व्याधियोसे पीडित हो कर अजान बनकर आक्रन्दन करते हो ।।१५७।। चतुर्विध सघको तूने भक्तिसे भोजनदान नही दिया । अब रे जीव, निर्वाणको दूर करके क्या तड़फडाता है ।।१५८।। मुनिवरोंको न पुस्तकोंका दान दिया और न शास्त्रोकी पूजा ही की । अब हे निर्लज्ज, बुद्धि, पाडित्य और कवित्व गुण किस प्रकार चाहता है ।।१५९।। पाप करता है और सुख चाहता है, पर यह स्वप्नमे भी नही होगा । माडी (घर) मे नीम बोनेपर क्या कोई आम चख सकता हैं ।।१६०।। भारी आरम्भ और तीव्र कषायसे नरक गति होती है । पाषाणोंसे भरी नाव एक ही छेदसे डूब जाती है, इसमे भ्रान्ति नही ।।१६१।। कूट तुला, कूट मान आदिसे सिह,हाथी गधा, विषधारक प्राणी और मेढा आदि पशुओमे उत्पन्न होता है ।। जो नट नाटकये नाचता है, वह बहुत वेष धारण करता है ।।१६२।। लघु आरम्भ और मन्दकषायसे मनुष्यगति प्राप्त होती है। व्यापारमे लगा श्रावकका धन शीघ्र वापिस लौटता है और फिर भी लाभ होता है ।।१६३।। सम्यक्त्वसे और श्रावकके व्रतोसे मनुष्य देवगतिमें देवराज उत्पन्न होता है । जो बीज योग्य अवनीमे बोया गया और समय पर सीचा गया,यह उत्पन्न होनेसे रोका नही जा सकता है।।१६४।।

---

१ झ मायइ । म माइणिवें । झ टि० वाटिकायाम् । २ झ गवणिट्ठिउ । म गविणिट्ठिउ । झ० टि० गगने सहस्थित पुरुष पश्चात्यक्त स द्वारे वि म जाउ मा गच्छतु । अपि तु यात्येव त्यक्त । पर उद्धार-पर्यन्त याति । यथा गृहश्रावकयोर्मध्ये मुनिर्मोक्ष गतस्तर्हि श्रावक स्वर्गं किं न याति, अपि तु यात्येव इति इति भाव (?) परन्तु यह अर्थ मूल दोहेके उत्तरार्धसे नही निकलता है । जो अर्थ ऊपर किया गया है, वह 'झ' प्रतिके टब्बेके आधारसे किया है । –सम्पादक

धम्में जं ज अहिलसइ तं तं लहइ अनेसु। पावें पावइ पावियउ दालिद्दु वि सकिलेसु ॥१६५
धम्में हरि हल चक्कवइ कुलयरु जायइ कोइ। भुवणत्तयवंदियचलणु कुवि तित्थंकरु होइ ॥१६६
जासु जणणि सग्गागमणि पिच्छइ सिविणय-पंति। पह तेएं संभावियइ सूरुग्गमणु णं भंत्ति ॥ १६७

जो जम्मुच्छवि ण्हावियउ अमियघडहिं सक्केण।
किम ण्हाविज्जइ अतुलबलु जिणु अहवाऽसक्केण ॥१६८

सुरसायरि जसु णिक्कमणि घल्लइ चिहुर सुरिंदु। अह उत्तमकज्जहं हवइ ठाउ जि खीरसमुद्दु ॥
णाणुग्गमि जसु समवसरणि पत्तामरसंघाउ। होइ कमलमउलियमसलु सूरुग्गमणि तलाउ ॥१७०
जसु पत्तुत्तमराइयउ विलुलंतो वि असोउ। [1]अइदूरुज्झियपरियणहं किम उप्पज्जइ सोउ ॥१७१
वारिउ तिमिरु जिणेसरहं भामंडलु अइदित्तु। हयतमु होइ सुहावणउ इत्थु ण काइं विचित्तु ॥१७२

माहउ [2]सरणु सिलीमुहउ कुसुमासणि थिप्पंति।
सुमणस अलियविवज्जिया जिणचलणहं णिवडंति ॥१७३

धवलु वि सुरमउडंकियउ सिंहासणु बहु रेइ। अह वा सुरमणिमंडियउ जिणवर आसणु होइ। १७४
सद्दमिसिण दुंदुहि रडइ छंडहु जीवहं खेरि[3]। हक्कारइ णर तिरिय सुर एरिस होइ स भेरि ॥१७५

जीव धर्मसे जो जो अभिलाषा करता है, वह सबको पाता है। पापी जीव पापसे दरिद्रता भी पाता हैं और क्लेश युक्त भी रहता हैं ॥१६५॥ धर्मसे कोई हरि, हलधर, चक्रवर्ती और कुलकर होता हैं और कोई भुवनत्रयसे वन्दित चरणवाला तीर्थंकर भी होता है ॥१६६॥ जिसकी माता स्वर्गसे आगमनके समय स्वप्नोकी पंक्ति देखती है। सूर्योदयकी संभावना होनेपर पथ (मार्ग) उसके तेजसे प्रकाशित हो जाता हैं,इसमें भ्रान्ति नही है ॥१६७॥ जो तीर्थकर जन्मोत्सवके समय शक्रके द्वारा अमृत घटोंसे नहलाये जाते हैं। अथवा अतुलवली जिनदेव क्या अशक्त पुरुपके द्वारा नहलाये जा सकते हैं॥१६८॥ निष्क्रमण कल्याणकके समय जिनके केशोंको सुरेन्द्र क्षोर सागरमे डालते है। अथवा उत्तम कार्योका स्थान भी क्षीर सागर ही हैं ॥१६९॥ केवलज्ञानके उदय होनेपर जिसके समवशरणमे देवोंका समुदाय प्राप्त होता है। जैसे सूर्यके उदय होनेपर तालाव भ्रमर-सवेष्टित विकसित कमलवाला हो जाता हैं ॥१७०॥

उन तीर्थंकरके ऊपर उत्तम पत्रोसे विराजित अशोक वृक्ष लहलहाता है। (अशोक यह सूचित करता है कि) जिन्होंने परिजनोको वहुत दूरसे परित्याग कर दिया,उन्हेंशोक कैसे उत्पन्न हो सकता है ॥१७१॥ जिस जिनेश्वरका अज्ञान-अन्धकार दूर हो गया, उनका भामण्डल अतिदीप्त, अन्धकार-नाशक और सुहावना होता है, तो इसमे कोई विचित्र वात नही है ॥१७२॥ माधव अर्थात् वसन्त ऋतु है शरण जिनके ऐसे भौरे तो कुसुमोके आसन पर बैठ कर तृप्त होते हैं। किन्तु अलि (भौरोंसे) विवर्जित सुमनस (पुष्प) एव अलीक (असत्य) रहित सुमनस (देव) जिनदेवके चरणों पर पडते है। समवशरणमे होनेवाली पुष्पवृष्टिको लक्ष्यमे रखकर ग्रन्थकारने उक्त श्लेप-वाक्य लिखा है ॥१७३॥ धवल ओर देवोंके मुकुटोसे अंकित जिनदेवका सिंहासन वहुत शोभायुक्त होता है। अथवा जिनवरका आसन देव-मणियोसे मंडित होता ही है ॥१७४॥ शब्दके मिपसे दुंदुभि यह शब्द करती है कि जीवोंके प्रति वैरभाव छोडो। वह भेरी इस प्रकार मनुष्य, तिर्यंच और

---

१ ब टि अति दूरे त्यक्तपरिजनस्य शोक कथमुत्पद्यते। २ ब टि माधवो वसन्त शरण स्यात्। ३ वैरम्।

चामर ससहरकरधवल जसु चउसट्ठि पडंति । हरिसिय जिणपासट्ठिया अह सच्चामर हुंति।।१७६
छत्तइं छण[1]ससिपडुरइ सुरणर णाय धरंति । विसहर सुरचक्किहिं महिय जिणपुंडरिय[2]हवंति ।।

झुणि अक्खियपुण्णहल जीवासासणि[3] जासु ।
अमियसरिस हियमहुर गिर अह व ण वल्लह कासु ।।१७८

एह विहुइ जिणेस हं हुव धम्मे एवहु । वणसइ णयणाणंदयरि होइ वसन्तें मड ।।१७९
एवविहु जो जिणु गहइ वंछिउ सिज्झइ तासु । बीजे अहवा सिंचियइ खेत्तिय होइ ण कासु।।१८०
जो जिणु ण्हावइ घय-पयहिं सुरहिं ण्हाविज्जइ सोइ । सो पावइ जो ज करइ एहु पसिद्धउ लोइ ।
गधोएण जि जिणवरहं ण्हाविय पुण्णु बहुत्तु । तेलह बिंदु वि विमलजलि को वारइ पसरंतु । १८२
जलधारा जिणपयगयउ रयह पणासइ णामु । ससहरकिरणकरालियह तिमिरहु कित्तिउ थामु।।१८३
जो चच्चइ जिणु चँदणइ होइ सुरहि तसु देहु । तिल्लें जह दीवहं गयइ उज्जोइज्जइ गेहु।। १८४
जिणु अच्चइ जो अक्खयहिं तसु वरवंसय मूइ । अह विहियइ सुयपचमिहिं होइ वि चक्किविहूइ ।।
खुट्टइ भोउ ण तसु गहइ जो कुसुमहिं जिणणाहु । अह सरवरि णइसारिणए पाणि उ होइ अगाहु।।

देवोको हक्कारती है ।।१७५।। उन तीर्थंकर देवके ऊपर चन्द्रकिरणोके समान धवल चौसठ चमर ढुलते है । (वे मानो यह कह रहे है कि) जो हर्षित होकर जिनदेवके पास स्थित होते है, वे सच्चामर अर्थात् सच्चे देव हो जाते हैं ।।१७६।। पूर्णमासीके चन्द्र तुल्य तीन श्वेत छत्रोको जिन भगवान्के ऊपर देव, मनुष्य और नाग धारण करते है । (वे मानो यह प्रकट करने है कि भगवानके ऊपर छत्र ताननेवाले पुरुष) धरणेन्द्र, इन्द्र और चक्रवर्तीसे पूजित जिन पुण्डरीक तीर्थंकर परमदेव होते है।।१७७।। जिनकी दिव्यध्वनि (पुण्य पापके) सम्पूर्ण फलोको कहनेवाली और जीवोको आश्वासन देनेवाली होती है । अथवा अमृतके सदृश और हृदयको मधुर लगनेवाली वाणी किसे प्यारी नही लगती है ।।१७८।। जिनेश्वरदेवकी इस प्रकारकी विभूति धर्मसे ही होती है । नयनोंका आनन्द करनेवाली वनश्री वसन्तसे ही मण्डित होती है।।१७९।।इस प्रकारके जिनदेवकी जो पूजा करता है, उसका वाछित अर्थ सिद्ध होता है । अथवा बीजके सीचने पर किसकी खेती अच्छी नही होती है ।।१८०।। जो जिनदेवको घी और दूधसे नहलाता है, वह देवोके द्वारा नहलाया जाता है। 'जो जैसा करता है, वह वैसा पाता है' यह उक्ति लोकमे प्रसिद्ध ही है।।१८१।।सुगन्धित जलके द्वारा जिनवरको नहलानेसे बहुत पुण्य होता है । तेलकी एक बिन्दुको भी निर्मल जलमें फैलनेसे कौन रोक सकता है ।।१८२।।

जिनदेवके चरणो पर छोडी गई जलधारा पाप-रजका नाम तक नष्ट कर देती है । चद्र-किरणोसे करालित (विनष्ट) तिमिरका कितना सामर्थ्य है ।। १८३।। जो जिनदेवकी चन्दनसे पूजा करता है, उसका शरीर सुगन्धित होता है । जसे कि दीपकमे डाले गये तेलसे घर प्रकाशित होता है ।।१८४।। जो अक्षतोसे जिनदेवको पूजता है, उसका उत्तम वशमे जन्म होता है और श्रुत-पचमीके पूजा-विधानसे चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त होती है ।।१८५।। जो पुष्पोसे जिननाथकी पूजा करता है, उसके भोग कभी कम नही पडते । जैसे सरोवरमे नदीकी सारिणी (नहर) के द्वारा

---

१ पूर्णमाचन्द्रवत् । २ ब टि धरणेन्द्र-इन्द्र-चक्रिमहिता जिनपुण्डरीकास्तीर्थंकरपरमदेवा भवन्ति । ३ ब कथितसम्पूर्णफला जीवानामाश्वासिनी स्यात् ।

णेवज्जइ दिण्णइ जिणहु जिय दालिद्दहु णासु ।
दुरिउ ण ढुक्कइ तहु णरहु लच्छिहु[1] होइ ण णासु ॥१८७

दीवइ दिण्णइं जिणवरहं मोहहु होइ ण ठाउ । अह उववासहिं रोहिणिहिं सोउ वि पलयहु जाउ ॥
धूवउ खेवइ जिणवरहं तसु पसरइ सोहग्गु । इत्थु म कायउ भंति करि तें पडिबद्धउ सग्गु ॥१८९
देइ जिणिंदह जो फलइ तसु इच्छियइं फलंति । भोयधरह गय रुक्खडा सयल मणोरह दिंति १९०
जिणपयगयकुसुमंजलिहिं उत्तमसिय मजोउ । सरगयरविकिरणावलिए णलिणिहिं लच्छिम होइ १९१
जिणपडिमइं कारावियइ ससारहं उतारु । गमणट्ठियह तरडउ वि अह व ण पावइ पारु ॥१९२
जिणभवणइ काराविअइ लब्भइ सग्गि विमाणु । अह टिक्कइ आराइणइं[2] होइ समीहिइ[3] ठाणु॥

जो धवलावइ जिणभवणु तसु जसु कहिमि ण माइ ।
ससिकरणियरु सरयमिलिउ जगु धवलणहं वसाइ ॥१९४

जो पइठावइ जिणवरह तसु पसरइ जगि कित्ति । उवहिवेल छणससिगुणइ को वारइ पसरंति ॥
आरत्तिउ दिण्णउ जिणह उज्जोयइ सम्मत्तु । भुवणुब्भासइ सुरगिरिहिं सूरु पयाहिण[4] दितु ॥१९६

तिलयइं दिण्णइ जिणभवणि[5] ५ जणि अणुराउ ण माइ ।
चंदकंति चदहं मिलिउ पाणिय दिण्ण ण ठाइ ॥१९७

चंदोवइं दिण्णइ जिणह मणिमंडियइ विसाल । अह संबंधा[6] ससहरहं गहतारायणमाल ॥१९८

अगाध पानी हो जाता हैं ॥१८६॥ हे जीव, जिनदेवको नैवेद्य चढानेसे दारिद्र्यका नाश हो जाता है । उस मनुष्यके पास पाप नही ढूकता और लक्ष्मीका भी नाश नही होता है ॥१८७॥ जिनवरको दीप चढानेसे मोहको स्थान नही मिलता । तथा रोहिणीव्रतके उपवाससे शोक भी प्रलयको प्राप्त हो जाता है ॥१८८॥ जो जिनवरके आगे धूप खेता है, उसका सौभाग्य फैलता है और उसने स्वर्ग-को बाँध लिया,इसमे कुछ भी भ्रांति मत कर ॥१८९॥ जो जिनेन्द्रको फल चढाता है,उसको यथेच्छ फल प्राप्त होते है । भोगभूमिके कल्पवृक्ष उसके सब मनोरथोको पूरा करते हैं ॥१९०॥ जिनदेवके चरणोपर चढाई गई पुष्पाजलिसे उत्तम लक्ष्मीका संयोग होता हैं। देखो–सरोवरमे गई हुई सूर्यकी किरणावलीसे कमलिनियोमें लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥१९१॥ जिनप्रतिमा करानेसे जीव संसारके पार उतरता है । अथवा गमनके उद्यत पुरुषोंको जहाज क्या पार नही पहुँचाता है? पहुँचाता ही है ॥१९२॥ जिन-भवनको वनवानेसे मनुष्योको स्वर्गमे विमान प्राप्त होता है। तथा जिनभवनकी टीक (छाप) और आरास (पलस्तर) करनेसे समीहित स्थानकी प्राप्ति होती है ॥१९३॥ जो जिन-भवनको सफेदी कराकर धवल करता है उसका यश कही भी नही समाता । शरद्-ऋतुसे मिली हुई किरणोका समूह समस्त जगत्को धवलित कर देतो है ॥१९४॥ जो मनुष्य जिनवरकी प्रतिष्ठा करता है, उसकी कीर्त्ति जगत्मे फैलती है । पूर्णमासीके चन्द्रके गुणोसे प्रसार-को प्राप्त होती हुई समुद्रकी वेलाको कौन रोक सकता है ॥१९५॥ जो जिनदेवकी आरती करता है, उसके सम्यक्त्वका उद्योत होता हैं। सुरगिरि (सुमेरु) की प्रदक्षिणा देता हुआ सूर्य समस्त भुवनको प्रकाशित करता है ॥१९६॥ जिन भवनपर तिलक देनेसे अर्थात् शिखर पर कलशा चढानेसे जगत्मे उसका अनुराग नही समाता जैसे चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमाकी किरणोसे मिलकर पानी देनेसे नही रुकता है। १९७॥ जिन भगवान्को चढाये हुए मणि-मडित विशाल चन्दोवा (ऐसे प्रतीत होते

---

१ म लच्छिहि । २ म आराणह । ३ म समाहिहि । ४ म पयाहि ण । ५ म जिगवरह ।
६ व सवधी ।

भव्वुच्छाहणि पावहरि जिणहरि घंट रसंति । कुमुयाणंदणि तमहरणि छणजामिणि ण हु भंति १९९
चिंध[1]चमर-छत्तइ जिणह दिण्णइ लब्भइ रज्जु । अह पारोहहिं णिग्गयहिं वडु वित्थरइ ण चोज्जु॥

जिणहरि लिहियइ मंडियइं लच्छि समीहिय होइ ।
पुण्णु महंतउ तासु फलु कहिवि कि[2]सक्कइ कोइ ॥२०१

जंबूदीउ समोसरणु णदीसर लोयाणि । जिणवरभवणि लिहावियइं सयलहं दुक्खह हाणि ॥२०२
दिण्णइ वत्थ सुअज्जियह दिव्वंबर लब्भंति । पाणिउ पेसिउ पउमिणिहिं पउमइ देइ ण भंति ॥
सारभइं ण्हवणाइयह जे सावज्ज भणंति । दंसणु तेहिं विणासियउ इत्थु ण कायउ भंति ॥२०४
पुग्गलु जीवें सहु गणिय[3]जो इच्छइ धणचाउ । इणि[4]सम्मत्ते तसु तणइ किन सम्मत्तु वि जाउ॥
सम्मत्त विणु वय वि गय वयहं गयह गउ धम्मु । धम्मे जंते सुक्खु गउ तें विणु णिप्फलु जम्मु२०६
पुण्णरासि ण्हवणाइयइ पाउ लहुवि[5]किउ तेण । विसकणियइ बहु उवहिजल णउ दूसिज्जइ जेण॥

तें सम्मत्तु महारयणु हिययचलि थिरु बंधि ।
तें सहु जहिं जहिं जाहि जिय तहिं तहिं पावहि सिद्धि ॥२०८

दाणच्चणविहि जो करइ इच्छिय भोयणिबंधु । विक्कइ सुमणि वराडियइ सो जाणहु जाच्चंधु ।

है) जैसे ग्रह और तारागणकी माला चन्द्रमासे सम्बद्ध हुई हो ॥१९८॥ जिनमन्दिरमे बजताहुआ घंटा भव्यजनोंका उत्साह-वर्धक एव पाप-हारक होता है। पूर्णचन्द्रवालि रात्रि कुमुदोको आनन्द देनेवाली और अन्धकारको हरनेवाली होती है॥१९९॥ जिनभगवान्को ध्वजा, चमर और छत्र चढानेसे राज्य प्राप्त होना हे । यदि प्रारोहो (जटाओ)के निकलनेसे वटवृक्ष विस्तृत हो तो कोई आश्चर्य नही है ।२००॥

जिनमन्दिरमे माडने लिखनेसे मनोवाछित लक्ष्मी प्राप्त होती है, और महापुण्य होता है। उसके फलको कहतेके लिए कोई भी समर्थ नही है।२०१॥ जम्बूद्वीप, समवशरण, नन्दीश्वरद्वीप और तीन लोकोंकी रचनाको जिनेद्रभवनमे लिखवानेमे सकल दुखोकी हानि होती हे।२०२॥ सुआर्यिकाओको वस्त्रदेनेसे दिव्य वस्त्र प्राप्त होते हैं। कमलिनियोको पानी देनेपर वे कमलोको देती है, इसमें भ्रान्ति नही है । २०३॥ जो अभिषेकादिके समारम्भको सावद्य (पापयुक्त) कहते है, उन्होने सम्यग्दर्शनका विनाश कर दिया, इसमे कोई भ्रान्ति नही है॥२०४॥ जो पुद्गलको जीवके साथ गिनकर (मानकर) धनके त्यागकी इच्छा करता है, उसके इस प्रकारसे सम्यक्त्व माननेपर क्या उसके सम्यक्त्व उत्पन्न हु गया ? भावार्थ— जो जीव और पुद्गलकी एकता मानकर धनत्यागकी इच्छा करता है, वह मिथ्यादृष्टि ही है, उसके धनत्यागसे कोई भी लाभ नही है ॥ २०५॥ सम्यक्त्वके विना व्रत भी गये । व्रतोके जानेसे धर्म गया और धर्मके जानेसे सुख भी गया । फिर उसके विना मनुष्यजन्म निष्फल है ॥२०६॥ पुण्यकी राशिवाले अभिषेकादि कार्यमें अभिषेक करनेवालेके द्वारा यदि अल्प पाप भी किया गया, तो विषकी एक कणिकासे समुद्रका सर्व जल दूषित नही हो सकता ॥२०७॥ अतएव सम्यक्त्वरूपी महारत्नको हृदयरुप अचलमे स्थिर बाँध । उसके साथ हे जीव, तू जहा जहाँ जायगा, तहा-तहाँ-सिद्धि पायगा ॥२०८॥ जो मनुष्य भोग-प्राप्तिकी इच्छासे दान और पूजन-विधान करता है, वह उत्तममणिको कौडियोमे बेचता है, उसे जन्मान्ध जानो ॥२०९॥

१ ब चिंधइ चमरइ छत्तइ वि । २ म ण । ३ ब टि य पुमान् पुद्गल. (न्य) जीवेन सह ऐक्यं मन्यते स बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिरेव । तस्य धनत्यागेन न किमपि । ४ ब ईदृशेन सम्यक्त्वेन । ब लहुविकउ ।

तें कम्मक्खउ मग्गि जिय णिम्मल बोहिसमाहि । ण्हवणदाणपूजाइयइ जें सासयपइ जाहि ।।२१०
पुण्णु पाउ जसु मणि ण समु तसु दुत्तरु भवसिंधु ।
कणय-लोहणियलइ जियहु किं ण कुणंहि पय बंधु ।।२११
ण हु विग्गासिय कमलदलु ससरु स बिंदु सरेहु । वछिज्जइ इय कप्पयरु कामिउ को सदेहु ।। १२
हियकमलेणि ससहरधवल सुद्धफलिहसंकास । भविया[1]पडिम जिणेसरहुं तोडइ चउगइपास ।।२१३
जासु हियइ अ सि आ उ सा पाउ ण ढुक्कइ ताहु । अह दावाणलु कि करइ पाणियगहिरठियाहं ।।
जिय मतइ सत्तक्खरइ[2]दुरियइं दूर हु जति । अह सोहहं गुंजारियइ हरिणउलइ कहिं ठंति २१५
विण्णिसयइ अ सि आ उ सा जं वासरि फलु दिति ।
इक्कसएण वि त णि फलु सत्तक्खरइ ण भति ।।२१६
गरुड[3]सहावइ परिणवइ रे जिय जाव हि मंति । ताव हि णरु विसघेरियउ[4]उट्ठावइ ण हु भंति ।।
जिण गुण देइ अचेयणु वि वंदिउ णिंदिउ दोसु ।
इउ णियभावहु तणउ फलु जिणहु ण रोसु ण तोसु ।।२१८
मणुयत्तणु दुल्लहु लहिवि भोयहु पेरिउ जेण । इंधणकज्जें कप्पयहु मूलहो खडिउ तेण ।।२१९
दुल्लहु लहिवि णरत्तयणु विसयहं तोसिउ जण । पट्टोल्लइ[5]तग्गय थियहु सुरयणु फोडिउ[6]तेण २२०

इसलिए हे जीव, अभिषेक, दान, पूजादिसे कर्मोका क्षय, निर्मल बोधि और समाधि की माँग कर जिससे शाश्वत पदपर जा सको।।२१०।। जिसके मनमें पुण्य और पाप समान नही है, उसे भवसिंधु पार करना कठिण है। सोने और लोहे की बेडी क्या जीवके पाद-बन्धनको नही करती है ।।२११।। कमलकी कर्णिकाकी परिधिमे अकारादि सोलह स्वरोंका, कर्णिकाके मध्यमे रेफ और विन्दुसहित हकारका, अर्थात् 'हं' पदका और कमलके आठो पत्रोंपर कवर्गादि आठ वर्गोके अक्षरोका विकास न करके, अर्थात् ध्यान न करके जो इस लोकके मनोरथ पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्षकी इच्छा करता हे, वह कामी है, इसमे क्या सन्देह है ।।२१२।। हृदयकलममे ध्यान की गई चन्द्रके समान धवल और स्फटिकके समान शुद्ध जिनेश्वरकी प्रतिमा चतुर्गतिके पाशको तोडती है ।।२१३।। जिसकें हृदयमे 'अ सि आ उ सा' विद्यमान है, अर्थात् जो निरंतर इस पंचाक्षरी मन्त्रका जप करता है, उसके पास पाप नही ढूंकते हैं। जैसे गहरे पानीमे बैठे हुए जीवोका दावानल क्या कर सकता है ।।२१४।। हे जीव, 'णमो अरहताण' इस सात अक्षरोके मन्त्रसे सर्व पाप दूर भागते है । अथवा सिंहकी गुञ्जारमे हरिण-कुल कही ठहर सकता हैं।।२१५।। 'अ सि आ उ सा' इस पचाक्षरी मन्त्रका प्रतिदिन दो सौ जप जो फल देता है, वही फल 'णमो अरहताणं' इस सप्ताक्षरी मन्त्रको एक सौ जप देता हे, इसमे भ्रान्ति नही है ।।२१६।। हे जीव, जव मन्त्र-वेत्ता गरुडस्वभावसे परिणत होता हे, तव वह उसीसमय विषसे मूच्छित मनुष्यको उठा देता हैं, इसमे भ्रान्ति नही हे ।।२१७।। वदना की गई अचेतन भी जिन-प्रतिमा गुणको और निन्दा की गई दोषको देती है यह अपने भावोंका ही फल है । जिनभगवान्के तो न रोष है और न तोष ।।२१८।। दुर्लभ मनुष्यपना पाकर जिसने उसे भोगोमे लगाया उसने ईंधनके लिए कल्पवृक्षको जड-मूलसे काट डाला ।।२१९।। दुर्लभ नर जन्म पाकर जिसने विषयोमे सन्तोष माना, उसने तागा (धागा) के लिए पट (वस्त्र) को फाडा

---

१ म भाइय । २ व टि णमो अरहंताण । ३ म गरुडह भावइ । ४ म- घारियउ । ५ म ज पट्टोलय । ६ व टि हीरदवरकनिमित्त सुरत्न स पुमान् स्फोटति ।

दुल्लहु लहि मणुयत्तणउ भोयह पेरिउ जेण । लोहक्कज्जि दुत्तरतरणि णाव वियारिय तेण ॥२२१
दुण्णि सयइं विसुत्तरइं पढियइं सिवगइ दिंति । धम्मधेणु सदोहयह वर ।उ दिंति ण भंति ॥२२२
णयसुरसेहरमणिकिरणपाणिय पयपोमाइ । 'सघह जाह समुल्लसहिं ते जिण दिंतु सुहाइ ॥२२३
दंसणु णाणु-चरित्तु तउ रिसि गुरु जिणवर देउ ।
बोहिसमाहिए सहु मरणु भवि हुज्जउ एउ ॥२२४

इय सावयधम्मदोहा समत्ता ।

और रजके लिए चिन्तामणि रत्नको फोडा, ऐसा समझना चाहिए ॥२२०॥ दुर्लभ मनुष्य जन्मको पाकर जो भोगोमे प्रेरित रहा, उसने लोहाके लिए दुस्तर तरणि अर्थात् उत्तम नावको तोड डाला ॥२२१॥ ये उपर्युक्त दो सौ बीस दोहे पढनेपर शिवगति देते है । धर्मरूपी कामधेनु उत्तम प्रकारसे दुहनेवाले लोगोको वर श्रेष्ठ पय (दूध पक्षान्तरमे पद) देती है, इसमे भ्रान्ति नही है ॥२२२॥ नमस्कार करते हुए देवोके मुकुटोकी मणियोकी किरणोसे जिनके चरणकमल प्रकाशमान है और जो चतुर्विध सघको उल्लासके करनेवाले है, ऐसे वे जिनदेव सुखको देवे ॥२२३॥ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, ऋषि-गुरु, जिनवर-देव और बोधि-समाधि-सहित मरण, ये मुझे भव-भवमे प्राप्त होवे ॥२२४॥

इति श्रीश्रावकधर्म दोहा समाप्त ।

---

१ ब ।ट सघस्य उल्लास कुर्वन्ति ।

परिशिष्ट

कुछ प्रतियोमे कुछ दोहे अधिक पाये जाते है जो कि प्रक्षिप्त प्रतीत होते है,क्योकि गन्थ-कर्ताने अपने दोहोकी सख्या- जिनमे कि श्रावक धर्मका वर्णन किया गया है, २२० ही कही है। पर विषयकी समानताके कारण उन अधिक पाये जानेवाले दोहोको यहाँपर दिया जा रहा है

दोहाङ्क २२ और २३ के मध्य 'भ' प्रतिमें—

मज्जहु तिजहु भव्वयणु जेण मई विवरीय । हीणकुलेसु य जोय कहिं तस थावर उवजति ।।१
परिहर मांस हु अरि जिय पचेंहि णासी पसेहि । तस्सु वि थावर धाइही सम्मोच्छिय बहु होइ ।।२

अर्थ— हे भव्यजनो, मद्यको तजो, इसके पीनेसे बुद्धि विपरीत हो जाती है। यह हीन कुलोके योग्य कही है। उसमें त्रस और स्थावर जीव उत्पन्न होते है ।।१।। अरे जीव, मासका परिहार कर, वह पचेन्द्रिय जीवोंके नाशसे प्रसूत होता है और फिर भी उसमे बहुत त्रस और स्थावर सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते है ।।२।।

दोहाङ्क २८ और २९ के मध्य 'क' प्रतिमे—

चउ ए इंदिय विण्णि छह अट्ठह तिण्णि हवंति । वह चउरिंदिय जीवडा बारह पच हवंति ।।३

दोहाङ्क ७६ और ७७ के मध्य 'भ' प्रतिमे—

भरहे पचमकालहिं ण स्सेणी महव्वयधारी । अत्थि अणुव्वयधारी कोट्टिहिं लक्खेसु कोई ।।४

अर्थ—भरतक्षेत्रमे इस पञ्चमकालमें श्रेणीपर चढनेवाले उपशमक या क्षपक महाव्रतधारी नही होते है। केवल महाव्रतधारी करोडोंमे कोई और अणुव्रतधारी लाखोमे कोई विरला होता है ।।४।।

दोहाङ्क १८१ और १८२ के मध्य 'क' प्रतिमे—

जिणु ण्हावइ उत्तमरसहिं सक्कर-अम्मभवेहिं । सो नरु जम्मोवहि तरहि इत्थु म भति करेहि ।।५
जो घियकचनवण्णडइ जिणु ण्हावइ घरि भाउ । सो दुग्गइ गइ अवहरइ जम्मि ण ढुक्कइ पाउ ।।६
दुद्धें जिणवरु जो ण्हवइ मुत्ताहलधवलेण । सो ससारि ण सभवइ मुच्चइ पावमलेण ।।७
दुद्धझडाअग्गि उत्तरइ दडवड दहिउ पडति (०तु) भविवहं मुच्चइ कलिमलहं जिण दिट्ठउ विसहतु ।।८
सव्वोसहि जिण ण्हाहियइ कलिमलरोय गलंति । मणवछियसय संभवहिं मुणिगण एम भणति ।।९

अर्थ—जो जिनभगवान्को शक्कर और आमके उत्तम रसोसे नहलाता है, वह मनुष्य ससार-सागरके पार उतरता है, इसमे भ्रान्ति मत करों ।।५।। जो कंचनवर्णघृतसे जिनभगवान्को उत्तम-भावोसे नहलाता है, वह खोटी गतिको दूर करता है और जन्मभर उसे पाप ढूकता नही है ।।६।। जो मुक्ताफलके समान दूधसे जिनवरको नहलाता है, वह फिर ससारमें उत्पन्न नही होता और पापमलसे मुक्त हो जाता है ।।७।। दूधकी धाराके पश्चात् जिनभगवान्पर धडाधड पडता हुआ दही भव्यजनोको कलिमलसे मुक्त कर देता है।।८।। सर्वोपधिके द्वारा जिनभगवान्को नहलानेसे

भव्योंके कलि-मलरोग गल जाते है और मनोवाछित सैकडों पदार्थ प्राप्त होते है, ऐसा मुनिजन कहते है ॥९॥

दोहाङ्क २०६ और २०७ के मध्य 'अ' प्रतिमे–

पारमइ ण्हवणाइयइं जे सावय जि भणंति । दसण तेहं विणासियउ एत्थु ण कावउ भंति ॥ १०

अर्थ– जो जिनभगवान्‌के अभिषेक करनेमे सावद्यदोषको कहते है, उनका सम्यग्दर्शन विनष्ट हो जाता है, इसमे कुछ भी भ्रान्ति नही है ॥१०॥

दोहाङ्क २२३ और २२४ के मध्यमे–

जो जिण सासणि भासियउ सो मइं कहियउ सारु । जो पालेसइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु ॥ ११
एहु धम्मु जो आचरइं चउवण्णह मह कोइ । सो णरु णारी भव्वयणु सुरयइ पावइ सोइ ॥ १२
काइ बहुलइ झंखियइं तालू सूखइ जेण । यहु परमक्खरू चेर लइ कम्मक्खउ हुइ तेण ॥ १३
भव्वय लग्गा सुवयण सुग्गइ गच्छइ जेण । जहु दिट्ठिवउ भवगयह कणिउ ण किव्वउ तेण॥ १४

अर्थ– जो जिनशासनमे कहा है, वही श्रावकधर्मका सार मैने कहा है। जो भावोसे इसे पालेगा, वह संसार-सागरको तैरकर पार हो जायगा ॥११॥ इस श्रावक धर्मको चारो वर्णोमेंसे जो कोई भी भव्य नर-नारी जन आचरण करेगे, वे देवगतिको पावेग ॥१२॥ बहुत कहनेसे क्या, जिससे कि तालू सूखे। यही परम अक्षरको चिरकाल तक धारण करो, जिससे कि कर्मक्षय होवे ॥१३॥ जिससे भव्यजीव सुगतिको प्राप्त होते है, वे ही सुवचन है। जिनसे भवगतिको देखना पडे ऐसे वचन नही कहना चाहिए ॥१४॥

दोहाङ्क २२४ के पश्चात् 'क' प्रतिमे–

इय दोहावद्धवयधम्म देवसेणें उवदिट्ठु । लहु अक्खर मत्ताहीणओ पय सयण खमतु ॥१५

अर्थ–इस प्रकार देवसेनने इस दोहाबद्ध श्रावकव्रतधर्मका उपदेश दिया। इसमे लघु अक्षर मात्रसे हीन जो पद हो, उन्हे सज्जन क्षमा करे ॥१५॥

झ प्रतिमे दोहाङ्क ९४ नही है। वस्तुतः वह मूलका नही होना चाहिए, तभी ग्रन्थकारका २२० दोहोंके द्वारा श्रावकधर्मके प्रतिपादनका कथन ठीक बैठता है। मुद्रित प्रतिके अनुरोधने इसे यहाँपर दिया गया है।